बृहदारण्यकवार्तिकसारः

[भाषानुवादसहितः]

प्रमेयपरीक्षान्तो भागः

प्रकाशनस्थानम्—

अच्युतग्रन्थमाला-कार्यालयः,

काशी ।



श्रीमद्विद्यारणस्वामिविरचितः

बृहदारण्यकवार्तिकसारः

[प्रमेयपरीक्षान्तो भागः]

श्रीजो०म०गोयनका-संस्कृतमहाविद्यालयाध्यक्षमहामहोपाध्याय-
पण्डितप्रवरश्रीहरिहरकृपालुद्विवेदिविरचितेन भाषानुवादेन

समेतः

श्रीजो०म०गोयनकासंस्कृतमहाविद्यालयभूतपूर्वाध्यक्षेण पं०श्रीचण्डीप्रसादशुक्लशास्त्रिणा
श्रीमदच्युतग्रन्थमाला-विश्वनाथपुस्तकालयाध्यक्षेण पं०श्रीश्रीकृष्णपन्तशास्त्रिणा च

सम्पादितः

प्रकाशनस्थानम्—

अच्युतग्रन्थमाला-कार्यालयः,

काशी ।

प्रथमावृत्ति १०००] संवत् १९९७ [मूल्यम्—२॥)

प्रकाशक—
श्रेष्ठिप्रवर श्रीगौरीशङ्कर गोयनका
अच्युतग्रन्थमाला-कार्यालय, काशी

मुद्रक
ना० रा० सोमण
श्रीलक्ष्मीनारायण प्रेस, काशी

* श्रीः *

भूमिका

सम्पूर्ण भवव्याधियोंकी एकमात्र महौषधि जीवब्रह्मैक्य-ज्ञान उपनिषदोंसे ही प्राप्त हो सकता है, यह निर्विवाद है। प्रस्तुत ग्रन्थके विषय और प्रयोजनका निर्देश करते हुए ग्रन्थकारने भी स्पष्ट शब्दोंमें कहा है—

'संसारकारणाविद्याध्वंसकृज्ज्ञानसिद्धये ।
प्रारब्धेयं प्रयत्नेन वेदान्तोपनिषत् परा ॥'

यहांपर यह जिज्ञासा होना स्वाभाविक है कि 'उपनिषत्' शब्दका अर्थ क्या है ? इस विषयमें भी ग्रन्थकार मौन नहीं हैं। वे कहते हैं—'उपनिषत्' शब्दका अर्थ ब्रह्मैक्यविज्ञान ही है, क्योंकि 'उपनिषत्' शब्दका अवयवार्थ विज्ञानमें ही घटता है। उपनिषत्-शब्दमें उप, नि, सद् और क्विप् ये चार अवयव हैं। उपका अर्थ सामीप्य, निका निश्चय, सद्‌का विशरण, गति और अवसादन तथा क्विप्‌का कर्ता है। सबका निष्कर्ष यह निकला कि 'शुद्धं त्वमर्थं जीवम् उपोपलक्षितं प्रत्यञ्चं ब्रह्म निश्चयेन नीत्वा—तत्स्वरूपं ग्राहयित्वा—सकार्यां समूलां च अविद्यां शिथिलयति नाशयति या सा उपनिषत्' अर्थात् शुद्ध जीवको सामीप्योपलक्षित ब्रह्मके पास पहुँचाकर—ब्रह्मस्वरूपका बोध कराकर—सकार्य और समूल अविद्याका जो विनाश करती है, वह उपनिषत् (ब्रह्मविद्या) है। विद्या और अविद्याका प्रकाश और तमकी नाईं परस्पर विरोध सर्वविदित ही है। विरोधी होनेसे विद्या अविद्याको निवृत्त कर देती है। अविद्याकी निवृत्ति होनेपर उसके कार्य संसारकी स्वतः निवृत्ति हो जाती है। उक्त रीतिसे उपनिषत्‌का मुख्य अर्थ यद्यपि ब्रह्मविद्या ही है, तथापि उक्त विद्याकी प्राप्तिका उपाय होनेसे ग्रन्थ भी गौणीवृत्तिसे उपनिषत् कहा जाता है, जैसे 'जीवनं लाङ्गलम्' यहांपर कृषकके जीवनका साधन हल जीवन कहा जाता है * इत्यादि।

---

* देखिये ग्रन्थका उपोद्घात—'अत्रोपनिषच्छब्दो ब्रह्मविद्यैकगोचरः ।
तच्छब्दावयवार्थस्य विद्यायामेव संभवात् ॥
उपोपसर्गः सामीप्ये तत्प्रतीचि समाप्यते ।
सामीप्यतारतम्यस्य विश्रान्तेः स्वात्मनीक्षणात् ॥

यों तो पूर्वोक्त रीतिसे सभी उपनिषत् ब्रह्मज्ञानप्राप्तिके साधन हैं, पर बृहदारण्यकोपनिषत्का स्थान अध्यात्मदृष्टिसे बहुत ऊँचा है। श्रीसुरेश्वराचार्यजीने बृहदारण्यकशब्दका निर्वचन करते हुए कहा है—

'अरण्याध्ययनाच्चैतदारण्यकमितीर्यते।
बृहत्त्वाद् ग्रन्थतोऽर्थाच्च बृहदारण्यकं मतम्॥'

अन्य उपनिषदोंसे विपुलाकार होनेके कारण यह ग्रन्थतः बृहत् है और अखण्ड ब्रह्मका प्रतिपादक होनेके कारण इसमें ब्रह्मज्ञानके अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग सैकड़ों साधनोंका वर्णन है, इसलिए यह अर्थतः भी बृहत् है एवं अरण्यमें नियमपूर्वक इसका अध्ययन होनेके कारण इसे बृहदारण्यक कहते हैं †।

बृहदारण्यकोपनिषत्पर भगवान् श्रीशङ्कराचार्यजीने विशद भाष्यका निर्माणकर मुमुक्षुओंका जो उपकार किया, वह वर्णनातीत है। भगवान् श्रीशङ्कराचार्यजीके बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यकी निरवद्यता और महत्ताकी श्रीसुरेश्वराचार्यजीने इस प्रकार मुक्तकण्ठसे प्रशंसा की है—

'यां काण्वोपनिषच्छलेन सकलाम्नायार्थसंशोधिनीम्,
सञ्चक्रुर्गुरवोऽनुवृत्तगुरवो वृत्तिं सतां शान्तये।
अर्थाविष्करणं कुतार्किककृताशङ्कासमुच्छित्तये
तस्या न्यायसमाश्रितेन वचसा प्रक्रम्यते लेशतः॥'

उक्त विशद भाष्यार्थमें भी मन्दमति और अतीक्ष्णमति लोगोंकी विपरीत बुद्धि हो सकती है। उक्त बुद्धिका निरास करनेके लिए भाष्यके अर्थविस्तारकी अपेक्षा हुई। उस आवश्यकताकी पूर्तिके लिए श्रीसुरेश्वराचार्यजीने भाष्यमें जिस विषयका सूक्ष्मरूपसे प्रतिपादन हुआ था, जिसका नहीं हुआ था और जो मन्दमतियोंको

त्रिविधस्य सदर्थस्य निशब्दोऽपि विशेषणम्।
उपनीयेयमात्मानं ब्रह्मापास्तद्वयं यतः॥
निहन्त्यविद्यां तज्जं च तस्मादुपनिषद् भवेत्।
प्रवृत्तिहेतून्निःशेषांस्तन्मूलोच्छेदकत्वतः॥
यतोऽवसादयेद् विद्या तस्मादुपनिषद् भवेत्।
यथोक्तविद्याहेतुत्वाद् ग्रन्थोऽपि तदभेदतः॥
भवेदुपनिषन्नामा लाङ्गलं जीवनं यथा।'

† उपनिषदन्तरेभ्यो ग्रन्थाधिक्याद् ग्रन्थतोऽस्य बृहत्त्वमर्थतस्त्वखण्डस्य ब्रह्मणोऽत्र प्रतिपाद्यत्वात् तज्ज्ञानहेतूनां चाऽन्तरङ्गबहिरङ्गाणां भूयसां प्रतिपादनात्, अतो बृहत्त्वादारण्यकत्वाच्च बृहदारण्यकम्। (देखिये आनन्दगिरिकृतशास्त्रप्रकाशिका व्याख्या)

आपाततः पुनरुक्त-सा प्रतीत होता था, उन सबका यथायोग्य विचारपूर्वक समाधान करते हुए सर्वाङ्गपूर्ण विस्तृत वार्तिककी * रचना की।

बृहदारण्यकभाष्यवार्तिक अतिविस्तृत है, इस घोर कलिकालमें अल्पायु जीवोंके लिए इतने विस्तृत ग्रन्थसागरके अवलोडन द्वारा ज्ञानरत्नके अन्वेषणमें कठिनाईका अनुभव कर महामहिमशाली श्रीविद्यारण्यमुनिने श्रीसुरेश्वराचार्यकी सूक्तियोंमें यत्र तत्र बिखरे हुए रत्नोंका एकत्र संग्रह करनेकी इच्छासे बृहदारण्यक-भाष्यवार्तिकसारका निर्माण किया। यद्यपि वार्तिककी अपेक्षा यह ग्रन्थ अति लघु है, तथापि ग्रन्थकारने वार्तिकमें प्रतिपादित सम्पूर्ण विषयोंका इसमें असाधारण कौशलसे समावेश किया है। भाषानुवादके साथ इसका प्रथम खण्ड वेदान्तप्रेमी महानुभावोंके सन्मुख उपस्थित करते हमें बड़ी प्रसन्नता हो रही है। इसका दूसरा खण्ड भी, भगवान्की कृपासे, शीघ्र ही प्रकाशित होगा, ऐसी हमें आशा है।

गङ्गातीरनिवासी ब्रह्मविद्वरिष्ठ (अब ब्रह्मीभूत) श्रीअच्युतमुनिजी महाराजकी, जिनकी पुण्य स्मृतिमें दानवीर श्रीमान् सेठ गौरीशङ्कर गोयनकाजीने इस ग्रन्थ-मालाकी स्थापना की है, हार्दिक इच्छा थी कि अच्युतग्रन्थमामालामें बृहदारण्यक-वार्तिकसार ऐसे प्रमेयप्रचुर उत्तम ग्रन्थका भाषानुवादके साथ प्रकाशन कर लोकोपकार किया जाय। इसी सदिच्छासे प्रेरित होकर उन्होंने प्रथमाध्यायके सम्पूर्ण चतुर्थ ब्राह्मणका स्वयं अनुवाद कर उसे हमारे पास बहुत पहले भेज दिया था। वार्धक्यके कारण स्वास्थ्यवैषम्यसे वे सम्पूर्ण ग्रन्थका अनुवाद न कर सके। तदुपरान्त हमने श्रीजोखीराममटरूमलगोयनका-संस्कृतमहाविद्यालयके प्रधानाध्यापक (प्रिन्सिपल) महामहोपाध्याय सर्वतन्त्रस्वतन्त्र पण्डितप्रवर श्रीहरिहरकृपालु द्विवेदीजीसे उक्त ग्रन्थका अनुवाद करनेकी प्रार्थना की। हमारी प्रार्थनाको स्वीकार कर महामहोपाध्यायजीने पूर्वोक्त अनूदित अंशको छोड़कर सम्पूर्ण ग्रन्थका भाषानुवाद करनेकी कृपा की है। उनका यह विशद और विस्तृत भाषानुवाद जिज्ञासुओंके लिए कितना उपयोगी और सुन्दर हुआ है, इस विषयमें अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं है, केवल यही कह देना पर्याप्त है—

'नहि कस्तूरिकामोदः शपथेन विभाव्यते ।'

वार्तिकका लक्षण है—* उक्तानुक्तद्विरुक्तादिचिन्ता यत्र प्रवर्तते ।
तं ग्रन्थं वार्तिकं प्राहुर्वार्तिकज्ञा मनीषिणः ॥

अन्तमें हम श्रद्धेयतम श्रीमहामहोपाध्यायजी को, उनकी सुन्दर कृतिके लिए, शतशः हार्दिक धन्यवाद देते हैं और अच्युततादात्म्यापन्न श्रीअच्युतमुनिजीसे प्रणामपूर्वक प्रार्थना करते हैं कि आपके सत्संकल्पानुसार यथाशक्ति सुन्दरताके साथ प्रकाशित इस ग्रन्थरत्नके प्रकाशनसे आप प्रसन्न हों। इति शम्।

काशी,
अक्षय नवमी १९९७

विद्वज्जनानुचर
श्रीकृष्णपन्त

—o—

बृहदारण्यकवार्तिकसारके प्रमेयान्त भागकी विषयसूची

अधिकारिपरीक्षा [१—१७३]

सम्बन्धपरीक्षा [१७४–२१९]

प्रामाण्यपरीक्षा [२२०–४८८]

प्रमेयपरीक्षा [४८९–५८८]

प्रमेयान्त भागकी विषयसूची समाप्त

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

बृहदारण्यकवार्तिकसार

[भाषानुवादसहित]

प्रथम अध्याय

वागीशाद्याः सुमनसः सर्वार्थानामुपक्रमे ।
यं नत्वा कृतकृत्याः स्युस्तं नमामि गजाननम् ॥
श्रीमत्सुरेश्वराचार्यपादाब्जभ्रमरा इमे ।
वार्त्तिकेक्षुरसं पीत्वा तृप्यन्त्वात्मानुभूतितः ॥ १ ॥

विधयेऽखिललोकानां निधये सर्वसंविदाम् ।
मुक्तये ज्ञानिनां नित्यम् नमोऽस्तु त्रिपुरारये ॥१॥
यदविद्यावशं भाति विश्वमुच्चावचं चिरम् ।
तं स्वनाथं जगन्नाथं विश्वनाथमहं भजे ॥२॥
प्रणम्य मातापितरौ भक्त्या च परया गुरून् ।
व्याख्या वार्तिकसारस्य भाषया क्रियते मया ॥३॥

सदाचार-परम्परा एवं उससे अनुमित श्रुति द्वारा यह सकल आस्तिक जनोंका अभिमत सिद्धान्त है कि ग्रन्थके आरम्भमें मङ्गल करना परम आवश्यक है, अन्यथा बीचमें विघ्न उपस्थित होनेसे समाप्तिमें सन्देह होता है ।

शङ्का—नास्तिक-ग्रन्थोंमें मङ्गलाचरणके विना भी समाप्ति देखी जाती है तथा कतिपय आस्तिक-ग्रन्थोंमें मङ्गलाचरण रहनेपर भी समाप्ति नहीं देखी जाती, इसलिए समाप्ति न होनेपर बीचमें अवश्य विघ्न हुआ होगा, यह ज्ञान अनिवार्य होता है । अतः मङ्गल विघ्नविनाश तथा विघ्नविनाश द्वारा समाप्तिका कारण ही

नहीं हो सकता। कारण वही कहा जाता है, जिसके अभावमें कार्य न हो तथा अस्तित्वमें कार्य अवश्य हो। प्रकृतमें मङ्गल रहनेपर भी समाप्ति न होने और न रहनेपर भी समाप्ति होनेसे अन्वय-व्यतिरेक व्यभिचार है। अतः मङ्गलमें विघ्नध्वंस तथा समाप्तिकारणताका अभाव ही निश्चित होता है। अतः मङ्गलाचरण व्यर्थ है।

समाधान—जहांपर मङ्गल न रहनेपर भी समाप्ति दृष्टिगोचर होती है, वहींपर जन्मान्तरीय मङ्गलकी कल्पना की जाती है, क्योंकि जन्मान्तरीय शुभ और अशुभ कर्मोंका जन्मान्तरमें भी फल होता है, यह निर्विवाद है। और जहांपर मङ्गल रहने-पर भी समाप्ति नहीं है, वहां विघ्नबाहुल्य अथवा विघ्नप्राबल्यकी कल्पना की जाती है। अग्निसे काष्ठ भस्म होता है यह निर्विवाद है, किन्तु स्वल्प अग्निसे आर्द्र तथा बृहत् काष्ठके भस्म न होनेपर भी उनके कार्य-कारणभावमें कोई बाधा नहीं आती। अन्यथा दाहके लिए अग्निके आनयनमें किसीकी प्रवृत्ति ही न होगी।

शङ्का—यदि विघ्नाभावपूर्वक ग्रन्थसमाप्तिकी कामनासे मङ्गलाचरण आवश्यक है, तो मङ्गल भले ही किया जाय। पर ग्रन्थमें उसे लिखनेकी क्या आवश्यकता है?

समाधान—शिष्यशिक्षाके लिए उसे ग्रन्थमें लिखना आवश्यक है। अन्यथा ग्रन्थमें मङ्गलाचरण न देखकर शिष्यगण भी मङ्गलाचरणसे विरत हो जायँगे, यह पहला प्रयोजन हुआ, दूसरा प्रयोजन है—ग्रन्थका प्रचुरमात्रामें प्रचार और तीसरा प्रयोजन है—अध्येता जनोंके श्रमकी सफलता, चिरजीवित्व आदि। इसमें प्रमाण है—'मङ्गलादीनि शास्त्राणि प्रथन्ते' इत्यादि महाभाष्य।

अतः वार्तिकसारकार इष्टदेवतानमस्काररूप मङ्गल करते हैं—

वागीश बृहस्पति और ब्रह्माको कहते हैं। बृहस्पति या ब्रह्मा आदि देवगण सब कार्योंके आरम्भमें जिसको नमस्कार कर सफलमनोरथ हुए हैं, मैं भी अपने कार्यकी सिद्धिके लिए ग्रन्थके आरम्भमें उन गणेशजीको नमस्कार करता हूँ *।

बृहदारण्यकभाष्यवार्तिककार श्रीमत्सुरेश्वराचार्यके चरणकमलानुरागी शम, दम, आदि साधनसम्पन्न सज्जन इक्षुरसोपम वार्त्तिकके अर्थका आस्वाद कर आत्मानुभवरूप मोक्षसे तृप्त हों ॥ १ ॥

[तात्पर्य यह है कि यद्यपि वार्तिककारने तत्त्वज्ञानपिपासुओंके लिए वार्त्तिक ग्रन्थका निर्माण किया है, किन्तु उसके इक्षुदण्डके समान कठिन होनेसे साधारण-बुद्धिवाले जिज्ञासु जनोंको वार्त्तिकका रसास्वाद नहीं हो सकता। जैसे दयामय परमात्माने मधुर रसके प्रेमियोंके लिए इक्षुदण्डकी सृष्टि की, किन्तु साधनके बिना

निजपदभक्तजनानामजलिखितशिरोलिपिं प्रमार्ष्टि ।
*हंसपदं दत्त्वा यः शंसतु तं राममाद्राद्वाणी * ॥ १ ॥*

असमर्थ बालक और वृद्ध उसके रसका स्वाद नहीं ले सकते । उनके लिए इक्षु (ईख) को पेरनेके लिए कोल्हू आदि यन्त्रकी अत्यन्त आवश्यकता होती है । उसी प्रकार वार्त्तिक गम्भीराशय होनेसे अति कठिन है। स्फुट व्याख्याके विना साधारण विद्वानोंको हृदयङ्गम नहीं हो सकता, अतः वे इस रससे वञ्चित रह जाते किन्तु अब इस वार्तिकसार द्वारा चिर-अभिलषित मधुररसामृत पान कर सदाके लिए वे परितृप्त हों । अपूर्वग्रन्थरचनाकी अपेक्षा उसी वार्त्तिकका संक्षिप्त एवं सरल वार्तिकसार नामका ग्रन्थ बनाना ही श्रेयस्कर है। मनुष्योंमें शास्त्रके अर्थको समझनेकी शक्ति उत्तरोत्तर परिक्षीण हो रही है। अतः समयानुसार सरल व्याख्याकी ही आवश्यकता है। जिस तरह शीघ्रगति-शक्तिके ह्रास्से रेलगाड़ीकी आवश्यकता हुई, उसी तरह अब भाषा व्याख्याकी आवश्यकता हो गई है । अतः मेरा भी प्रयत्न सार्थक है । अनधिकारियोंसे रसकी रक्षा करनेके लिए ईखको जिस तरह ईश्वरने कठिन बनाया, उसी तरह वार्त्तिककारने भी अमृतकी रक्षा करनेके लिए कठिन पद्यमय वार्त्तिक बनाया । कारण कण्टकावरोध या छरदिवालीके विना सुगन्ध और सरस पुष्प-फलमय वाटिकाकी रक्षा नहीं हो सकती] ।

जो परमहंसपदको अर्थात् जीवन-मुक्तिको प्रदानकर अपने भक्तोंके ललाटकी अमिट अज्ञतासूचक ब्रह्म-दुर्लिपि मिटाते हैं, मेरी वाणी उन भक्तवत्सल श्रीरामजीका सदा गुणानुवाद किया करे ॥१॥

[भावार्थ यह है कि जो विद्वान् हैं, वे व्याख्यान द्वारा वार्त्तिकसारका मनन कर मोक्ष प्राप्त कर लेंगे, इससे उनका उद्धार तो हो सकता है, किन्तु जो जड़बुद्धि हैं, जिनके ललाटमें जड़तासूचक ब्रह्माकी लिपि मौजूद है, उनके उद्धारका क्या उपाय है ? यदि कुछ नहीं, तो परमात्माकी सर्वशक्ति तथा परम दयालुता भी सीमाबद्ध हो जायगी । वास्तवमें वे दोनों निस्सीम हैं, इसलिए उनके लिए उपायान्तरकी सूचना मङ्गल द्वारा प्रगट करते हैं। रामनामोच्चारण भक्ति-प्रासादका प्रथम सोपान है । यद्यपि भक्तिस्वरूपमें विद्वानोंका विविध मतभेद है, जिसका विचार स्वतन्त्ररूपसे अलग हो सकता है, तथापि यहांपर केवल सिद्धान्तरूपसे

* पहले वार्तिकसारकी टीकाका भी भाषानुवाद प्रकाशित करनेका विचार था, परन्तु ग्रन्थकी विपुलताकी ओर ध्यान देते हुए वह विचार त्याग देना पड़ा । प्रकृतमें अत्यन्त उपयुक्त केवल टीकाके मङ्गल श्लोकोंका अनुवाद दिया जाता है । सम्पादक ।

संक्षेपमें तैलधारावदविच्छिन्न भगवत्स्वरूपस्मरणात्मक ज्ञान भक्ति है, यह मानकर विचार करते हैं। जो प्रज्ञारूप साधनसे रहित हैं, उनके लिए रामनामोच्चारण ही परम्परासे मुक्तिसाधन है। रामनामोच्चारण किस तरह तत्त्वज्ञानोत्पादक होता है, यह विषय भी विस्तृत होनेसे अलग ही विचार करने योग्य है, परन्तु फलतः पुराणोंका परिशीलन करनेवाले महानुभावोंसे यह बात छिपी नहीं है कि अध्यात्मशास्त्रशिरोभूषण जटिल विषयोंका प्रतिपादन करनेवाले योगवाशिष्ठ आदि ग्रन्थोंके रचयिता जीवन्मुक्त महर्षि वाल्मीकि मुनिकी प्रथम अवस्था क्या थी, और किन साधनोंसे चरमावस्था प्राप्त हुई ? आश्चर्य है कि उनको राम और मरा शब्दके स्वरूपका विवेक भी न था, फिर भी मरा शब्द ही सतत उच्चारण करनेसे रामशब्द हो गया। इसीसे उनको परमहंसपदकी प्राप्ति हुई; ऐसे कितने ही उदाहरण शास्त्रोंमें भरे पड़े हैं। जो पशु, पक्षी आदि शास्त्ररूप साधनोंके अधिकारी नहीं हैं, उनको भी रामनामसे ही ज्ञान तथा सद्गतिकी प्राप्ति हुई है। ज्ञानके विना भक्तिसे भी मोक्ष मिल जाता है, क्योंकि 'यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते' इत्यादि गीतावचनोंसे मुक्तिके दो साधन सिद्ध हैं—ज्ञान और योग—भक्ति। अतः अज्ञानियोंको भक्ति द्वारा ही मोक्ष होता है इत्यादि कहना ठीक नहीं है, कारण कि 'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' इत्यादि श्रुतियोंसे यह निर्विवाद सिद्ध है कि आत्मज्ञानके विना मुक्ति नहीं हो सकती। यदि अन्य उपायसे मुक्ति मानी जाय तो स्वर्गविशेषरूप ही वह होगी। जैसे यागादिकर्मजन्य होनेसे स्वर्गादि अनित्य और सातिशय हैं, वैसे ही भक्तिरूप उपासनाक्रियाजन्य होनेसे मुक्ति भी अनित्य और सातिशय होगी, तो स्वर्गविशेष ही मोक्ष हो जायगा। परन्तु शास्त्रोंमें मोक्षका स्वरूप नित्य और निरतिशय बतलाया गया है। यदि नामोच्चारण द्वारा भक्तिसे ही मोक्ष हो सकता, तो वाल्मीकि तत्त्वज्ञानी कैसे होते और मोक्षार्थियोंके लिए अध्यात्मशास्त्रोंका प्रणयन तथा उपदेश क्यों करते ? अतः रामनामोच्चारणसे अनेक जन्मार्जित विविध दुरित नष्ट हो जाते हैं। ये ही दुरित ज्ञानोत्पत्तिमें प्रतिबन्धक हैं। चित्तके शुद्ध होनेपर स्वल्पोपदेशसे भी तत्त्वज्ञानोत्पत्ति हो जाती है। लिखा है कि 'ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात् पापस्य कर्मणः'। तुलसीदासजीने भी कहा है—

'राम-नाम बिन सुनहु खगेशा। मिटहिं न जीवन केर कलेशा ॥'

गीतामें भी पृथक् साधननिरासके लिए लिखा है—

यतो जगत्समुद्भूतिसम्भूतिपरिभूतयः ।
तं वन्दे राममात्मानं चिदानन्दघनं गुरुम् ॥ २ ॥

'सांख्ययोगौ पृथग् बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥' इत्यादि ।

अब विवक्षित रामशब्दार्थका परिचय करानेके लिए कहते हैं—यतो जगदित्यादि ।

जिससे संसारकी उत्पत्ति, स्थिति और संहार होता है । उसी चिदानन्दघन, गुरुस्वरूप अपनी आत्मासे अभिन्न रामजीकी वन्दना करता हूँ ॥२॥

[तात्पर्य यह है कि 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति, यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति, तद्विजिज्ञास्व, तद् ब्रह्म' इत्यादि श्रुति और श्रुतिमूलक 'जन्माद्यस्य यतः' इस सूत्र द्वारा तटस्थ लक्षणसे लक्षित तथा 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि श्रुतियों द्वारा स्वरूपलक्षणसे लक्षित जो समस्तोपाध्यनवच्छिन्न अपेत-ब्रह्मक्षत्रादिभेद, चिदानन्दैकरस उदासीन अकर्तृभोक्तृ आत्मतत्त्व ही रामशब्दार्थ है, उसीके श्रवण, मनन और उपासना द्वारा साक्षात्कार करनेसे अविद्याविनाश-पूर्वक स्वतःसिद्ध आत्मस्वरूपाविर्भावरूप नित्यसुखात्मरूप मोक्ष प्राप्त होता है । यदि शङ्का हो कि सगुण श्रीरामचन्द्रजीके भजनसे मुक्ति नहीं हो सकती क्योंकि निर्गुणकी उपासनासे ही मुक्ति होती है, यह सुना जाता है, तो यह शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि वाल्मीकि, तुलसीदास, सूरदास आदि महानुभावों ने मुक्तिके लिए अयोध्या-धिपति श्रीरामचन्द्रजीका गुणगान, भजन स्वयं किया तथा मुमुक्षु जनोंको वैसा ही उपदेश दिया है । इसलिए अधिकारीके भेदसे दोनों उपासनाएँ सार्थक हैं, जिनका चित्त जन्मान्तरीय सगुणोपासनासे परिशुद्ध—संस्कृत है, उनके लिए सगुणोपासनाकी आवश्यकता नहीं है । जैसे सनत्कुमार, वामदेव प्रभृति जिनका चित्त रजस्तमोगुणात्मक होनेसे अशुद्ध है, उनके चित्तको परिशुद्ध करानेके लिए निष्काम नित्य-नैमित्तिककर्मानुष्ठान तथा उनमें असमर्थ जिज्ञासुओंके लिए रामनामोच्चारण ही परम साधन है । यद्यपि साधनावस्थामें उपास्योपासकरूपसे भेदज्ञान आवश्यक है । फिर भी ज्यों ज्यों श्रद्धा, भक्ति पुरःसर नामोच्चारण आदि उपासना उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है, त्यों त्यों उपास्योपासकके परस्पर अभेदकी

भावना भी दृढ़तर होती जाती है, जब चरमावस्थामें 'तत्त्वमसि' 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा श्रोता मन्ता' इत्यादि और 'अहं ब्रह्मास्मि' 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्'इत्यादि-श्रुतिसे बोधित अद्वैतात्मानुभव दृढ़तर होता है, उस अवस्थाके तात्पर्यसे 'आत्मा-नम्' यह विशेषण कहा है। यदि यह कहें कि इस दशामें भी वृत्तिरूपसे अविद्या विद्यमान है, तो फिर अद्वैत आत्माका अनुभव कैसे ? और वृत्तिकी निर्गम-दशामें तो प्रकाशकके संबन्धके अभावसे प्रकाश ही नहीं हो सकता, अप्रकाशित जीव और ब्रह्मका अभेद पुरुषार्थ नहीं हो सकता है तो इसका, उत्तर देते हैं—सच्चिदा-नन्दघनम्। तात्पर्य यह है कि आत्माके चैतन्यस्वरूप होनेसे वह स्वयंप्रकाश है; अतः उसके प्रकाशके लिए प्रकाशान्तरकी आवश्यकता ही नहीं है, इस विषयका अधिक विस्तार आत्मस्वरूपके निरूपणके समय विशेषरूपसे करेंगे। यदि फिर सन्देह हो कि ज्ञानके प्रकाशात्मक होनेपर भी वह सुखात्मक तो है नहीं, वैसे ही दुःख-निवृत्तिस्वरूप भी वह नहीं है, तब वह पुरुषार्थ कैसे हो सकता है ? क्योंकि संसारमें सुखप्राप्ति और दुःखनिवृत्ति—दो ही पुरुषों द्वारा अर्थ्यमान पुरुषार्थ है। 'सुखं मे स्यात् दुःखं माभूत्'(मुझे सुख हो और दुःख न हो।) इसी प्रकारकी इच्छा सारे संसारी-जीवोंमें विद्यमान है, इसीके लिए तत्-तत् सुखके साधन विषयविशेषमें इच्छा तथा प्रवृत्ति होती है, अतः इस सन्देहके निरासार्थ 'आनन्द' यह विशेषण कहा है अर्थात् यह प्रकाश आनन्दस्वरूप है। 'सुखस्यानन्तरं दुःखं दुःस्यानन्तरं सुखम्' इस लौकिक वाक्यके अनुसार लौकिक सुखके अनन्तर जैसे दुःख होता है वैसे ही मोक्षसुखके उत्तर भी दुःख हो सकता है, अतः 'घन' यह भी विशेषण दिया है। विषयसुखके उपभोगावस्थामें विषयाधीन होनेसे स्वल्प दुःखसे मिश्रित ही वह रहता है, तथा विषयकी अनित्यता होनेसे तदधीन सुख भी विनाशी ही होता है एवं इन्द्रियादि साधनाधीन होनेसे इन्द्रियशक्तिवैकल्यसे भी पूर्णसुखका विकास नहीं होता है, प्रकृतमें आनन्दके नित्यात्मस्वरूप होनेसे दुःखके गन्धका भी संभव नहीं है। सैन्धवघनकी तरह मोक्ष सर्वात्मना आनन्द ही है। 'गुरुम्' कहनेका तात्पर्य यह है कि लौकिक ज्ञान तथा आनन्द ये दोनों अचेतनस्वरूप ही हैं। यदि इस आनन्दका स्वरूप आत्मा है, तो वह भी अचेतन हुआ, और अद्वैत होनेसे भासकान्तर संबन्ध है ही नहीं, अभासमान आनन्द पुरुषार्थ नहीं है, अतः 'गुरुम्—शासितारम्' 'एतस्य शासने सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः', 'पश्य-

येनोद्धृतो वार्तिकाब्धेः सारो विबुधतुष्टिदः ।
अविद्यातज्जतापघ्नं विद्यारण्यगुरुं भजे ॥ ३ ॥

त्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः' इत्यादि श्रुतिसे आत्माके साधननिरपेक्ष स्वयंप्रकाशानन्दस्वरूप होनेसे उसमें किसी प्रकारके सन्देहका सम्भव नहीं है ।

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥
शिवे रुष्टे गुरुस्त्राता गुरौ रुष्टे न कश्चन ।
गुरुरेव परब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥

इत्यादि स्मृति-वाक्योंसे तथा 'नमो गुरुभ्यः' इस प्रकार पृथक् साक्षात् गुरुके प्रति नमस्कारबोधक भाष्यकारके प्रयोगसे परम्परया गुरुके नमस्कारके सिद्ध होनेपर भी आदरातिशयके सूचनके लिए पृथक् नमस्कार करना अत्यावश्यक है। इस कारणसे साक्षात् गुरु श्रीविद्यारण्यस्वामीको नमस्कार करनेके लिए **'येनोद्धृतो'** इत्यादि श्लोक कहते हैं। विबुधशब्द श्लिष्ट है अर्थात् वह विद्वान् तथा देवता दोनोंका वाचक है। तुष्टिशब्दके तृप्ति एवं सन्तोष दो अर्थ हैं। 'वार्तिकाब्धि' यह उपमित समास है—वार्तिकम् अब्धिरिव इति वार्तिकाब्धिः । अविद्या और तज्जन्य दुःखको निवृत्त करनेवाले पूर्व पद्यमें कहे हुए परमात्मरूप गुरुका सादृश्य साक्षात् विद्यागुरुमें बोधन करनेके लिए 'येनोद्धृतो' यह वाक्य है] ।

जैसे परमगुरु परमात्माने समुद्रको मथकर देवताओंको सदा तृप्त करनेवाले समुद्रके सारभूत अमृतका उद्धार किया है वैसे ही जिन साक्षात् गुरुजीने वार्तिकरूपी समुद्रको मथकर विद्वानोंके परम सन्तोषप्रद वार्तिकसाररूप अमृतका उद्धार किया है, उन महानुभाव परमदयालु परमात्मस्वरूप पूज्यपाद श्रीविद्यारण्यस्वामीका मैं भजन करता हूँ ॥ ३ ॥

तात्पर्य यह है कि 'न वा अरे पुत्रस्य कामाय पुत्रः प्रियो भवति, आत्मनस्तु कामाय पुत्रः प्रियो भवति' इत्यादि श्रुतिसे तथा 'उमा कहै यह जग कै रीति । स्वारथ लाग करै सब प्रीति ॥' इस प्रकारके महात्मा श्रीतुलसीदासजीके वचनसे तथा सकल लोकोंके अनुभवसे उपकार्य्योपकारकभावके बिना किसीकी किसीमें प्रीति नहीं होती, यह निर्विवाद सिद्ध विषय है। यह दूसरी बात है कि कोई पहिलेके ही उपकारको लेकर प्रीति करता है, और कोई भविष्य उपकारको

मनमें रखकर प्रीति करता है। द्वितीयकी अपेक्षा पहला श्रेष्ठ है। शास्त्रमें सकामोपासनासे निष्कामोपासना श्रेष्ठ मानी गई है। उपकार भी दो प्रकारका होता है—एक प्रत्युपकारसे साक्षेप और दूसरा उससे निरपेक्ष। पहला पशु, पक्षी आदि सकललोकसाधारण है और दूसरा परमेश्वर अथवा बड़े-बड़े ईश्वरभावप्राप्त महात्माओंमें ही होता है; इसीका नाम परमदयालुता भी है। यह सात्त्विक-लोगोंमें ही होती है; रजस्तमोदूषित चित्तवालोंमें नहीं होती। प्रथमचरणसे सुख-प्रदान द्वारा उपकारकबुद्धिसे प्रेमातिशय सूचित किया गया है, और द्वितीयचरणसे दुःखनिवृत्ति द्वारा। यह कह चुके हैं कि संसारमें मुख्य दो ही प्रयोजन हैं, तीसरा नहीं। उनमें पहला सुखप्राप्ति और दूसरा दुःखनिवृत्ति है। दोनोंका मूल कारण साक्षात् या परम्परया परमात्मोपासना ही है।

यद्यपि साक्षात् प्रतिकूलवेदनीय होनेसे केवल दुःख ही जिहासित है और उसकी निवृत्ति द्वारा गुरुमें परमोपकारकत्वका लाभ हो ही जाता है, अतः अनुपयुक्त अविद्यानिवर्त्तकत्वका कथन निष्प्रयोजन है, तथापि कारणकी निवृत्तिके बिना कार्यकी आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं होती, क्योंकि मूलके रहनेपर कालान्तरमें फिर कार्योत्पत्ति हो सकती है। दृष्ट उपायकी अपेक्षा आत्मज्ञानरूप उपायमें यही तो विशेष है। इसके बिना तो दोनों तुल्य हो जाते हैं, फिर सुकर दृष्टोपायको छोड़कर गुरुतर अनेकजन्मायाससाध्य आत्मज्ञानरूप उपायमें किसीकी प्रवृत्ति ही नहीं होगी। एक प्रसिद्ध कहावत है कि—'अर्के चेन्मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत्' अर्थात् पास ही में यदि मधु मिल जाय, तो मधुके लिए पर्वतमें कौन जायगा? अर्थात् असल बात यह है कि विद्या अविद्याकी ही नाशिका है अविद्या ही के साथ विद्याका साक्षात् विरोध है। दुःखकारणीभूत अविद्याके निवृत्त होनेसे तत्कार्य दुःखकी निवृत्ति स्वतः हो जाती है, अतः समूल दुःखनिवृत्तिके सूचनके लिए अविद्या और तज्ज इन दोनोंका निर्देश किया गया है।

पूर्व श्लोकमें परमगुरुकी वन्दना की है इस श्लोकमें साक्षात्गुरुका भजन करता हूँ यह लिखा है। 'भजे' यह 'भज् सेवायाम्' इस धातुका रूप है। 'भजे' इसका अर्थ है सेवा करता हूँ। यद्यपि सेवा कई प्रकारकी होती है तथापि स्थूलरूपसे सेवा तीन प्रकारकी होती है—कायिक, वाचिक और मानसिक। इनके भी अवान्तर अनेक भेद हैं जिनका स्वतन्त्ररूपसे विचार किया जायगा। किन्तु सामान्यरूपसे शरीर, मन तथा वाणीसे प्रतिकूल आचरण न कर सदा अनुकूल आचरण करना ही सेवा

पूर्वाचार्याल्लोकवन्द्यान्नत्वाऽऽनन्दगिरीयतः ।
व्याख्या वार्तिकसारस्य लघु संगृह्य लिख्यते ॥ ४ ॥

है । यह सेवा गुरुके रहने तथा न रहनेपर भी हो सकती है, किन्तु प्रकारान्तरकी सेवा विद्यमानदशामें ही हो सकती है । यहां 'भजे' इस रूप-निर्देशसे सेवामें वर्तमानताकी प्रतीति होती है । अतः गुरुसंमत ही अर्थ इस व्याख्यामें प्रकाशित किया जायगा, तद्विरुद्ध नहीं । जैसे ग्रन्थान्तरकी टीकाएँ मूलकारके अभिप्रायको उलट-पुलट कर स्वाभिप्रेत अर्थकी सृष्टि करती हैं, वैसे यह टीका नहीं करती, इस भावको अभिव्यक्त करनेके लिए 'भजे' पदका उपादान किया है] ।

भाष्यकारने पहिले पूर्वाचार्योंकी वन्दना की है । इसलिए पूर्वाचार्योंकी भी वन्दना करते हैं—'पूर्वाचार्यान् लोकवन्द्यान्' इत्यादिसे ।

पूज्य पूर्वाचार्योंको नमस्कार कर, आनन्दगिरिकी व्याख्यासे अभिप्रेत अर्थका सङ्ग्रह कर वार्त्तिकसारकी लघु व्याख्या लिखता हूँ ॥४॥

[यहाँपर यह प्रश्न होता है कि भाष्यकारने तो प्रथम पूर्वाचार्योंका अभिवादन करके पश्चात् साक्षात् गुरुका अभिवादन किया है और वार्तिक-सारके व्याख्याकारने ईश्वरवन्दनाके अनन्तर पहिले साक्षात् गुरुकी वन्दना कर पश्चात् पूर्वाचार्योंकी वन्दना की है, ऐसा करनेका क्या अभिप्राय है ? इसका उत्तर देते हैं कि यदि एक कालमें पारम्परिक गुरु और साक्षात् गुरु दोनोंका अभिवादन प्राप्त हो, तो प्रथम किसका अभिवादन करना चाहिए ? ऐसा प्रश्न उठनेपर दोनोंका एक समयमें तो अभिवादन हो नहीं सकता, अतः क्रमकी आवश्यकता है । ऐसी परिस्थितिमें नियत क्रम न होनेसे स्वेच्छासे दोनों प्रकार हो सकते हैं; किन्तु धर्मशास्त्रका वचन तथा शिष्टाचार यह है कि प्रथम साक्षात् गुरुका अभिवादन करना चाहिए, पश्चात् परमगुरुका अभिवादन करना चाहिए । अतएव श्राद्धमें पितृपूजनपूर्वक ही पितामहादिका पूजन होता है । यदि शास्त्रमें क्रम नियत है, तो भाष्यकारने व्युत्क्रम क्यों किया ? भाष्यकारका अभिप्राय यह है कि विधि और निषेध कर्म-परायण मनुष्योंके लिए हैं, ज्ञानियोंके लिए नहीं । इसीलिए भगवान् भाष्यकारने 'अविद्यावद्विषयाणि प्रत्यक्षादिप्रमाणानि शास्त्राणि च' ऐसा अध्यासभाष्यमें कहा है । भाष्यकार ज्ञानी थे, उनके लिए विधि और निषेध नहीं हैं; अतः वे

चाहे जैसा लिखें पर दूसरेका वैसा करना ठीक नहीं है। इसलिए साक्षाद्गुरुनमस्कारपूर्वक ही परम्परागुरुका जो नमस्कार किया है, वह उचित ही है।

स्वकीय व्याख्यानमें दृढ़ विश्वासोत्पत्तिके लिए लिखते हैं—'आनन्दगिरीयतः' इत्यादि। भाव यह है कि जबतक प्रमाणोंमें संवाद नहीं होता है, तबतक प्रमेयका निश्चय नहीं होता। कारण कि विषयके निश्चयमें विषयग्राहक प्रमाणके प्रामाण्यका निश्चय कारण है। सम्भव है कि स्वयं वक्ताने कल्पना कर ऐसा लिखा हो। शब्द स्वयम् अदुष्ट होनेपर भी वक्ताके दोषसे दूषित होकर मिथ्या अर्थका भी बोधक होता है। भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा, करणापाटव और उच्चारणदोष वक्ता पुरुषमें अनिवार्य होते हैं, इसीसे वेदको अपौरुषेय माना है, अन्यथा पुरुषदोषोंकी संभावनासे वेद भी अप्रामाणिक हो जायगा, इस शङ्काकी निवृत्तिके लिए लिखते हैं कि हम आनन्दगिरिव्याख्यासे सङ्ग्रह कर लिखते हैं। इस तरह प्रमाणसंवाद होनेसे स्वकल्पित सन्देह निवृत्त होता है और प्रामाणिकत्व निश्चय होनेसे जिज्ञासुओंकी श्रद्धापूर्वक प्रकृत ग्रन्थमें प्रवृत्ति होती है। यदि आनन्दगिरिव्याख्यासे ही सङ्ग्रह-कर लिखना है, तो उक्त व्याख्यान है ही, फिर इस नवीन ग्रन्थकी आवश्यकता ही क्या है, अतः 'लघु' पद कहा अर्थात् यह ग्रन्थ संक्षिप्त है। लघुका 'लिख्यते'के साथ सम्बन्ध करनेसे लेखमें लघुत्व प्रतीत होता है।

शास्त्रकारोंकी शास्त्ररचनामें दो प्रकारसे प्रवृत्ति होती है—विस्तृतको संक्षिप्त करनेके लिए और संक्षिप्तको विस्तृत करनेके लिए, इसी प्रकारको समास और व्यास भी कहते हैं। योग्यता और समय आदिके अनुसार श्रोता दो प्रकारके होते हैं, एक संक्षेपसे शुश्रूषु होते हैं और दूसरे विस्तारसे शुश्रूषु होते हैं। इसलिए अधिकारीके अनुसार ही शास्त्र होना चाहिए। विस्तारके जिज्ञासुओंके लिए आनन्दगिरिव्याख्या हुई है। किन्तु संक्षिप्तके जिज्ञासुओंके लिए यह लघु व्याख्या की गई है। जिनकी इस व्याख्या तृप्ति न हो, वे विशेषज्ञानके लिए आनन्दगिरिव्याख्या देखें, यह भी प्रयोजन है। अथवा यदि लघुका संबन्ध 'संगृह्य' के साथ करें, तो थोड़ा संग्रह अर्थात् कहीं-कहीं आनन्दगिरिव्याख्याका सङ्ग्रह है; इससे उस व्याख्यासे प्रकृतग्रन्थ गतार्थ है, इस शङ्काका अवसर ही नहीं आता। स्थालीपुलाकन्यायसे संवादद्वारा प्रामाण्य भी समर्थित हो जाता है।]

संक्षिप्त-जिज्ञासुओंके लिए यह ग्रन्थ है सही; किन्तु महिमाशाली महात्माओंसे

मणयो मणितत्त्वज्ञैः सञ्चितास्तत्र केचन ।
बालिशेन समानीताः किं न ग्राह्यास्तदर्थिना ॥ ५ ॥

प्रणीत ग्रन्थोंके रहते आपके ग्रन्थमें उनकी प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती, क्योंकि आपकी अपेक्षा उक्त महात्माओंमें लोगोंका अधिक विश्वास है, अतः उनके द्वारा प्रणीत ग्रन्थोंमें ही श्रद्धापूर्वक प्रवृत्ति होगी। इसलिए अनुपादेय होनेसे इसकी रचना व्यर्थ है? इस आशंकाकी निवृत्तिके लिए लिखते हैं—'मणयो' इत्यादि।

मणितत्वज्ञोंने—खरे-खोटेकी पहिचान करनेवाले जौहरियोंने—जहांपर मणियोंका सञ्चय कर रक्खा है, वहांपर यदि कोई बालिश अर्थात् मणितत्त्वानभिज्ञ क़ीमती मणि लेकर जाय, तो ग्रहणेच्छा होनेपर भी क्या जौहरी इसलिए नहीं ग्रहण करेगा कि ले आनेवाला मूर्ख है? प्रापकके गुण या दोषसे प्राप्य वस्तु हेय या उपादेय नहीं होती। गुणग्राही विद्वज्जन गुणके ग्रहणमें लोलुप होते हैं। वक्ताके गुण और दोषकी अपेक्षा नहीं रखते। इसीलिए कहा है—'ननु वक्तृविशेषनिस्पृहा गुणगृह्या वचने विपश्चितः', 'बालादपि सुभाषितं ग्राह्यम्' इत्यादि। अर्थात् गुणग्राही विद्वान् वक्तृविशेषकी इच्छा न कर केवल विषयगुणका अवश्य ही ग्रहण करते हैं, इस दृढ़ विश्वाससे इस ग्रन्थरचनामें मेरी भी प्रवृत्ति हुई है। आशा है, गुणग्राही सज्जन इसमें अवश्य प्रवृत्त होंगे ॥ ५ ॥

सर्वस्यैव हि शास्त्रस्य कर्मणो वाऽपि कस्यचित् ।
यावत्प्रयोजनं नोक्तं तावत् तत् केन गृह्यते ॥
सिद्धार्थं ज्ञातसंबन्धं श्रोतुं श्रोता प्रवर्त्तते ।
शास्त्रादौ तेन वक्तव्यः संबन्धः सप्रयोजनः ॥

इस भट्टपादकी उक्तिसे तथा सकल शास्त्रकारोंका यह सिद्धान्त है कि मङ्गलाचरणोत्तर सर्वप्रथम अनुबन्धचतुष्टयका निर्देश अवश्य करना चाहिए, इस नियमसे अनुबन्धचतुष्टयका निर्देश कर देना परम आवश्यक है। अधिकारी, प्रयोजन, विषय और संबन्ध ये ही चार अनुबन्ध हैं। इनका लक्षण है—प्रवृत्तिप्रयोजकज्ञानविषयत्व अर्थात् जिनका ज्ञान शास्त्रप्रवृत्तिमें कारण है, वे ही अनुबन्ध हैं। जब तक अपनेको अधिकारी नहीं समझता, तब तक कोई किसी कर्म या किसी शास्त्रके अध्ययनमें प्रवृत्त नहीं होता। यदि शङ्का हो कि ग्रन्थाध्ययनमें

संसारकारणाविद्याध्वंसकृज्ज्ञानलब्धये ।
प्रारब्धेयं प्रयत्नेन वेदान्तोपनिषत्परा ॥ २ ॥

किसीकी प्रवृत्ति ही न हुई, तो ग्रन्थकी रचना ही व्यर्थ है, क्योंकि ग्रन्थ तो परार्थ है; स्वार्थ नहीं। कीर्ति आदि स्वार्थ भी तभी हो सकता है जब कि अध्ययनाध्यापन द्वारा ग्रन्थका प्रचुर प्रचार हो। अतः उक्त शङ्काके परिहारके लिए प्रथम श्लोकके प्रथम पादके—'पादाब्जभ्रमरा इमे' इस पादके 'इमे' इस पदसे अधिकारीकी सूचना दी गई है। 'इमे' यह सर्वनाम बुद्धिस्थका परामर्शक है। बुद्धिस्थ है—नित्यानित्य-वस्तुविवेक, ऐहिक तथा पारलौकिक फलसे वैराग्य, शम, दम आदि साधन-सम्पत्ति और मुमुक्षत्व, इस प्रकारके चार साधनोंसे सम्पन्न पुरुष तथा 'पादाब्जभ्रमराः' इस पदसे गुरुवचनमें श्रद्धाविश्वासादिपूर्वक शुश्रूषा, अवधान आदि विशेष।

'संसारकारण' इस द्वितीय श्लोकसे प्रयोजन और विषयकी सूचना दी गई है। [संसारः घटीयन्त्रवदविच्छिन्नजन्ममरणप्रवाहः तत्कारणमविद्या—आत्मयथार्थाननुभवः, तन्नाशकं ज्ञानमात्मयथार्थानुभवः तत्प्राप्तये इयं उपनिषदर्थतात्पर्य-निरूपणपरा प्रयत्नेन वेदान्तोपनिषत् प्रारब्धा] अर्थात् संसारकी कारणीभूत अविद्याका विनाश करनेमें समर्थ आत्मतत्त्वज्ञानकी प्राप्तिके लिए, बड़े श्रमसे उपनिषद् अर्थके तात्पर्यके निर्वचनके लिए इस वेदान्तोपनिषत्का प्रारम्भ किया गया है। यद्यपि 'आरभ्यते' यह कहना चाहिए, क्योंकि आरम्भमें अभी वर्तमानकालता है, अतीतकालता नहीं, तथापि बुद्धिमें संग्रह कर चुके हैं, इस तात्पर्यसे अतीत कालका सूचन करनेके लिए 'प्रारब्धा' ऐसा कहा। प्रकृत ग्रन्थके अभ्याससे जन्य आत्माके यथार्थ अनुभवसे अभिव्यक्त पूर्वश्लोकस्थ तृप्तिशब्दसे सूचित नित्य निरतिशय स्वस्वरूप ब्रह्मसुखरूप प्रयोजन ही अज्ञातावस्थामें विषय है। 'यमधिकृत्य प्रवर्तते तत्प्रयोजनम्' इस न्याय-सूत्रके अनुसार ब्रह्मस्वरूप नित्य सुखकी अभिलाषासे अध्यात्मशास्त्रमें पुरुषकी प्रवृत्ति होती है, अतः वही नित्यसुख ज्ञातावस्थामें प्रयोजन है। जीव और ब्रह्मका अभेदरूप ब्रह्मात्मैकत्व विषय है। संबन्धका निर्देश ग्रन्थकारने नहीं किया है, कारण कि बिना कहे भी ज्ञान और फलका उपायोपेयभावसम्बन्ध स्वयं ज्ञात हो जाता है और शास्त्र एवं विषयका प्रतिपाद्यप्रतिपादकभाव संबन्ध स्वयं ज्ञात होता है, इस प्रकार अनुबन्धचतुष्टयनिर्देशपुरःसर ग्रन्थारम्भ भी समर्थित हुआ ॥ २ ॥

अत्र चोपनिषच्छब्दो ब्रह्मविद्यैकगोचरः ।
तच्छब्दावयवार्थस्य विद्यायामेव सम्भवात् ॥ ३ ॥
उपोपसर्गः सामीप्ये तत्प्रतीचि समाप्यते ।
सामीप्यतारतम्यस्य विश्रान्तेः स्वात्मनीक्षणात् ॥ ४ ॥

उपनिषत्शब्दका अर्थ है—ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञान । अतः प्रकृतमें ग्रन्थतात्पर्यसे 'उपनिषत् प्रारभ्यते' (उपनिषत्का आरम्भ किया जाता है) यह प्रयोग उचित नहीं है और ज्ञान तथा ग्रन्थ दोनों उपनिषत्शब्दके अर्थ हैं, ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि 'एकार्थत्वे संभवति अनेकार्थत्वकल्पना अन्याय्या' इस न्यायसे एकार्थक ही उपनिषत्शब्द है, अनेकार्थक नहीं है । 'उपनिषदं भो ब्रूहि' इत्यादि प्रयोग ब्रह्मविद्यामें देखा जाता है । अनादि कालसे जिस अर्थमें जिस शब्दका प्रयोग पाया जाता है, वही उस शब्दका मुख्य अर्थ होता है । आधुनिक ग्रन्थमें 'उपनिषत्' शब्दका प्रयोग अनुचित है, इस तात्पर्यसे लिखते हैं—'अत्र च' इत्यादि ।

यह कहना युक्ति-युक्त है कि उपनिषत्शब्द ब्रह्मविद्याका बोधक है, क्योंकि उपनिषत्शब्दके निर्वचनसे उसका अवयवार्थ ब्रह्मविद्यामें ही सङ्गत होता है । जैसे 'बृंहयति' इस निर्वचनसे बृंहणकर्तृत्व ब्रह्मचैतन्यमें है, अतः ब्रह्मचैतन्य ही ब्रह्मशब्दार्थ है वैसे ही प्रकृतमें शक्तिग्रहका उपाय व्यवहार है और विवरण भी है—'वाक्यस्य शेषाद् विवृतेर्वदन्ति' इत्यादि ॥३॥

उपनिषत्शब्दका अवयवार्थ दिखलाते हैं—'उपोपसर्गः' इत्यादिसे । उपनिषत् शब्दमें चार अवयव हैं—उप, नि, सत् और क्विप्, अन्तिम लुप्त है और तीन विद्यमान हैं । उपका अर्थ है—सामीप्य, निशब्दका अर्थ है निश्चय, सद्धातुका अर्थ है विशरण, गति और अवसादन और क्विप्प्रत्ययका अर्थ है कर्ता । [अतः शुद्ध जीवमुपशब्दार्थसामीप्योपलक्षितं ब्रह्म निश्चितं नीत्वा—तत्स्वरूपं ग्राहयित्वा—सकार्यां समूलां चाऽविद्यां शिथिलयति—नाशयति—या सा उपनिषत्, इस प्रकारकी व्युत्पत्तिसे शुद्ध जीवको सामीप्योपलक्षित ब्रह्मके पास ले जाकर अर्थात् ब्रह्म-स्वरूपका बोध कराकर समूल अविद्याका जो विनाश करती है उसे उपनिषत् कहते हैं] विद्या और अविद्याका परस्पर विरोध होनेसे विद्या अविद्याकी निवर्त्तिका है । और अविद्याकी निवृत्ति होनेसे तत्कार्य संसारकी स्वतः निवृत्ति हो जाती है ।

त्रिविधस्य सदर्थस्य निशब्दोऽपि विशेषणम् ।
उपनीयेममात्मानं ब्रह्माऽपास्तद्वयं यतः ॥ ५ ॥

इस श्लोकका तात्पर्यार्थ यह है कि सामीप्य दो प्रकारका होता है—सातिशय और निरतिशय । जैसे बाह्य विषयोंकी अपेक्षा आत्माके समीप शरीर है, उसकी अपेक्षा इन्द्रियाँ समीप हैं, और उनकी अपेक्षा मन समीप है । परन्तु इनका सामीप्य सातिशय है । निरतिशय सामीप्य है आत्मस्वरूपका, क्योंकि जाग्रत् अवस्थामें शरीरेन्द्रियादिका सम्बन्ध रहनेसे शरीरेन्द्रियादि समीप हैं । स्वप्नावस्थामें मनका सम्बन्ध रहनेसे मनका सामीप्य अन्तरङ्ग है । सुषुप्त्यवस्थामें मनका सम्बन्ध भी नहीं रहता, पर स्वरूपभूत आनन्द वहाँ भी रहता है, क्योंकि जागनेपर 'सुखमहमस्वाप्सम्' इत्यादि परामर्श होता है और आत्मा जब कुछ देखना या सुनना चाहता है तब पहले अन्तरङ्ग मनको प्रेरित करता है । मन इन्द्रियोंको प्रेरित करता है, इन्द्रियाँ स्वस्वविषयमें प्रवृत्त होती हैं । इस कारणसे मनसम्बन्धपर्यन्त सामीप्य सातिशय है । प्रकृतमें निरतिशय सामीप्य विवक्षित है, मुख्यार्थकी संभवदशामें गौणार्थका ग्रहण अनुचित है । इस तात्पर्यसे लिखते हैं—'सामीप्य तारतम्यस्य' इत्यादि ।

सामीप्यकाष्ठाकी समाप्ति निरतिशय सामीप्यमें ही होती है, निरतिशय सामीप्य स्वरूप ही में होता है, अन्यत्र नहीं । यद्यपि अद्वितीयावस्थामें सामीप्यादि धर्म भी नहीं रहते हैं । इसलिए सामीप्योपलक्षित स्वरूप विवक्षित है । उपलक्षण वह है जो कभी लक्ष्यमें विद्यमान रहकर अविद्यमानावस्थामें भी इतर-व्यावर्तक हो । जैसे 'कमण्डलुपाणिश्छात्रः' यहाँपर कमण्डलु उपलक्षण है, सदा छात्रके हाथमें नहीं रहता, वैसे ही संसारदशामें काल्पनिक-धर्मधर्मिभाव ब्रह्ममें है ही; अतः सामीप्य भी काल्पनिक ब्रह्ममें है । परमार्थ-दशामें काल्पनिक सामीप्यके न रहनेपर भी ब्रह्मस्वरूपको तदुपलक्षित कहनेमें कोई बाधा नहीं है ॥४॥

सद्‌धातुका अर्थ विशरण, गति और अवसादन है । उपसर्ग धात्वर्थका द्योतक होता है, अतः उपसर्गके अर्थका पहले धात्वर्थमें ही अन्वय होता है । 'पूर्वं धातुरुपसर्गेण युज्यते पश्चात् साधनेन' ऐसा शाब्दिकोंका सम्प्रदाय है । इसीके अनुसार लिखते हैं—'त्रिविधस्य' इत्यादि ।

निहन्त्यविद्यां तज्जं च तस्मादुपनिषद्भवेत् ।
निहत्यानर्थमूलं साऽविद्यां प्रत्यक्तया परम् ॥ ६ ॥
गमयत्यस्तसम्भेदमतो वोपनिषद्भवेत् ।
प्रवृत्तिहेतून्निश्शेषांस्तन्मूलोच्छेदकत्वतः ॥ ७ ॥

निशब्दार्थ निश्चय—गति, विशरण और अवसादनरूप त्रिविध सदर्थमें—विशेषण है। उसके द्वारा निशब्द भी विशेषण है, क्योंकि विशेषणताप्रयोजकत्वरूप विशेषणत्व निशब्दमें भी है। अतः निश्चित गति, निश्चित विशरण, निश्चित अवसादन यह अर्थ हुआ। निशब्दार्थविशेषित त्रिविध धात्वर्थमें उपशब्द भी स्वार्थ द्वारा विशेषण है। दो उपसर्गोंके अर्थ एक कालमें धात्वर्थमें विशेषण नहीं हो सकते, क्योंकि एक उद्देश्यमें अनेकका विधान करनेसे विधिभेदकी प्राप्ति होती है। किन्तु 'विशेष्ये विशेषणं तत्रापि विशेषणम्' इस न्यायसे निशब्दार्थ-विशेषित सदर्थमें उपशब्दार्थ विशेषण है [ऐसी परिस्थितिमें 'जीवस्य सामीप्यो-लक्षितब्रह्मस्वरूपनिश्चितप्राप्तिः, ततः अविद्याशैथिल्यं ततस्तदवसाद एतत्सर्वं या करोति सा विद्या' यहांपर यह निष्कर्ष निकला कि पहले 'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते' इस गीतावाक्यके अनुसार ब्रह्मस्वरूपप्राप्ति, तदनन्तर अविद्या-शैथिल्य और उसके बाद अविद्याका अवसाद यह सब जो करती है वह विद्या है।] पर यह अर्थ ठीक नहीं है, क्योंकि जबतक अविद्या समूल निवृत्त न हो जायगी तबतक व्यवधायक अविद्या रहनेसे स्वरूप-प्राप्ति कैसे हो सकती है? गतिका फल प्राप्ति है, गतिका अर्थ प्राप्ति नहीं है। गत्युपसर्जनप्राप्तिके गत्यर्थ होनेपर भी मुख्य गत्यर्थका भान नहीं होता, क्योंकि धातुपाठमें गतिका प्रधानतया निर्देश है। ब्रह्मस्वरूपता जीवमें नित्य प्राप्त है। अतः गतिपूर्वक प्राप्ति नहीं कह सकते, इन शङ्काओंकी निवृत्तिके लिए दूसरा अर्थ करते हैं—'निहत्य' इत्यादिसे ॥ ५,६ ॥

जो अनर्थमूल अविद्याका समूल नाशकर चैतन्यस्वरूपाभिन्न परब्रह्म-स्वरूपताको प्राप्त कराती है अथवा बोध कराती है, [जो गत्यर्थ होते हैं वे बुद्ध्यर्थक भी होते हैं, ऐसा नियम है] वह विद्या ही उपनिषत् शब्दका अर्थ है ग्रन्थ उपनिषत्शब्दका अर्थ नहीं है। एवंच ग्रन्थतात्पर्यसे उपनिषत्का प्रयोग ठीक नहीं है। यह कथन ठीक ही है कि विद्या उत्पन्न

होगी तो समूल और सकार्य अविद्याका नाश करेगी, किन्तु विद्योत्पत्ति होना ही कठिन है, क्योंकि रागादिदोषदूषित उन्मत्त मन सांसारिक विविध हेय और उपादेय विषयभोगोंकी लोलुपतासे उचितानुचित कर्ममें इन्द्रियोंकी प्रेरणा करता हुआ शुभ और अशुभ फल देनेवाले विहित तथा निषिद्ध कर्मोंके अनुष्ठान द्वारा संसार-शृंखलासे पुरुषको जकड़ता ही रहेगा फिर विद्योत्पत्तिकी आशा करना दुराशामात्र है ? इस शङ्काकी निवृत्तिके लिए लिखते हैं—'प्रवृत्ति' इत्यादि ।

[यह भाव है कि 'दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः' इस न्यायसूत्रके अनुसार मिथ्याज्ञान ही संसारका कारण है, क्योंकि मिथ्याज्ञानसे राग, द्वेष, मोह आदि दोष होते हैं। जैसे शरीरात्मज्ञानसे शरीरानुकूल विषयको आत्मानुकूल समझकर उसमें प्रवृत्ति होती है, यदि वह विहित है, तो धर्म होगा यदि निषिद्ध है तो कलञ्जभक्षण आदिके सदृश अधर्म होगा। ये धर्म और अधर्म सुवर्ण और लोहेकी शृंखलाके सदृश वन्धन ही हैं। इसीको कहते हैं प्रवृत्ति। 'प्रवर्त्तनालक्षणा दोषाः' इस सूत्रसे रागादि धर्माधर्मात्मक प्रवृत्तिके कारण हैं। इन्हींको भोगनेके लिए जन्म होता है। जन्म होनेपर फिर ये होते हैं। इस तरह घटीयन्त्रके समान इनका प्रवाह विच्छिन्न नहीं होता, इसीसे संसार अनादि कहलाता है। जन्म होनेपर दुःख अवश्य ही होगा, अतः आत्यन्तिक दुःखका उच्छेद हो ही नहीं सकता, इस आक्षेपके निराकरणके लिए 'दुःखजन्म०' इत्यादि सूत्र है।

संक्षेपसे इसका तात्पर्य यह है—मिथ्याज्ञान ही परम्परासे संसारका कारण है। यदि मिथ्याज्ञानकी निवृत्ति हो जाय, तो संसारकी भी अवश्य ही निवृत्ति हो जायगी, क्योंकि कारणकी निवृत्ति होनेपर कार्यकी अनुवृत्ति नहीं हो सकती। वह्निके न रहनेसे धूम भी नहीं रह सकता। यदि धूमका हटाना अभीष्ट तो पहले आग हटानी होगी।

अब यह विचार करना चाहिए कि मिथ्याज्ञान नष्ट हो सकता है या नहीं ? मिथ्याज्ञान यदि जन्य है तो अवश्य विनाशी है। उसे जन्य तो सभी मानते ही हैं, किन्तु नाशके उपायके न होनेपर अथवा अज्ञात होनेपर वह नष्ट नहीं हो सकता। ये पक्ष नहीं हो सकते, कारण कि शास्त्रकारोंने तत्त्वज्ञान को मिथ्याज्ञानका नाशक वतलाया है।

यतोऽवसादयेद्विद्या तस्मादुपनिषद्भवेत् ।
यथोक्तविद्याहेतुत्वाद्ग्रन्थोऽपि तदभेदतः ॥ ८ ॥

तत्त्वज्ञान कैसे होगा और क्या है? इस विषयमें विप्रतिपत्ति है, किन्तु तत्त्वज्ञानसे मिथ्या ज्ञान नष्ट होता है और मिथ्याज्ञानके नष्ट होनेसे सांसारिक दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति होती है, इसमें किसीको विप्रतिपत्ति नहीं है। सोलह पदार्थोंका ज्ञान तत्त्वज्ञान है, ऐसा नैयायिक मत है। पच्चीस पदार्थोंका ज्ञान तत्त्वज्ञान है, ऐसा सांख्य कहते हैं। पुरुष सहित सांख्योक्त पदार्थोंका ज्ञान तत्त्वज्ञान है, ऐसा योगी कहते हैं। अद्वितीय ब्रह्मका ज्ञान ही तत्त्वज्ञान है, ऐसा अद्वैतवादी कहते हैं, शून्य ही तत्त्व है, यह बौद्ध कहते हैं एवं जीवाजीवाख्य दो तत्त्व हैं, ऐसा आर्हत कहते हैं। प्रकृत शास्त्राभिमत तत्त्वज्ञानोत्पत्तिका प्रकार इस शास्त्रमें बतलाया जायगा, किन्तु चित्तका तत्त्वज्ञानोत्पत्तिके योग्य होना आवश्यक है, अन्यथा ग्रन्थोक्त उपायसे भी तत्त्वज्ञान न होगा। यही कारण है कि कितने ही लोग उपनिषत्का अध्ययन करते हैं, पर अनधिकारी होनेसे फल कुछ नहीं होता, इसी वास्ते पहले अधिकारीके स्वरूपका निर्देश किया गया है। ऐहिक और पारलौकिक भोगोंमें विराग भी चार साधनोंके अन्तर्गत है, यह कठिन होनेपर भी निरुपाय नहीं है। इसका उपाय है नित्यानित्यविवेक। संक्षेपसे नित्य सत्य ब्रह्म है और अनित्य शरीरेन्द्रियादि प्रपञ्चमात्र है। जो नित्य है, वही सुख है और जो अनित्य है वही दुःख है, यह विवेक ईश्वरार्पण बुद्धिसे नित्य नैमित्तिक कर्मानुष्ठानसे ही होता है, चाहे वह इस जन्मका हो अथवा जन्मान्तरका हो, इस विषयका प्रतिपादन साधनचतुष्टयनिरूपणके समय विशेषरूपसे करेंगे।

सारांश यह है कि परिशुद्धचित्त अधिकारी पुरुषको ग्रन्थाभ्यासजन्य आत्मैकत्वरूप तत्त्वज्ञान अवश्य होगा वही प्रवृत्त्यादिके मूलभूत रागादि दोषसहित अविद्याका नाश कर स्वाभिन्न ब्रह्मरूप मोक्षकी प्राप्ति करावेगा, इस तात्पर्यसे 'गमयति' कहा। 'गमयति' का तात्पर्य है--बोधयति-प्रकाशयति—साक्षात्कारयति, क्योंकि 'यत् साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म' ऐसी श्रुति है।]

अब पूर्वोक्त शङ्काका समाधान करते हैं—'यतोऽवसादयेत्' इत्यादिसे। उपनिषत्शब्दका मुख्य अर्थ ब्रह्मविद्या ही है, किन्तु ग्रन्थ उसका उपाय है, इस वास्ते 'तादर्थ्यात्तच्छब्दः' इस न्यायसे यह ग्रन्थ भी उपनिषत् कहलाता है॥ ८ ॥

इसमें दृष्टान्त देते हैं—'लाङ्गलं जीवनम्' इत्यादि।

अर्थात् कृषकका जीवन हल है, हल तो वस्तुतः जीवन नहीं है, किन्तु जीवनका

भवेदुपनिपन्नामा लाङ्गलं जीवनं यथा।
ऐकात्म्यविषयान्नान्यो वेदान्तवचसां यतः ॥ ९ ॥

साधन है, अतः लक्षणासे हल भी जीवन कहलाता है। 'अन्नं वै प्राणाः' यह वैदिक दृष्टान्त भी है, अन्नके प्राणसाधन होनेसे 'अन्नं वै प्राणाः' यह कहा गया है।

शङ्का—अवसादन और शैथिल्यकरण दोनोंको कहनेका प्रकृतमें क्या प्रयोजन है। यास्कमुनिने संसारकी छः अवस्थाएँ बतलाई हैं—जिसको षड्भावोर्मि भी कहते हैं। यथा 'उत्पद्यते, अस्ति, वर्द्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते अथ विनश्यति'। (अपक्षय है—अवयवशैथिल्यरूप तदनन्तर विनाश होता है) इस वचनसे तथा सर्वलोकानुभवसे यह क्रम सिद्ध होता है कि अवयवशैथिल्यके अनन्तर सबका विनाश होता है। अतः अर्थसिद्ध अवयवशैथिल्यका निर्देश करनेमें क्या अभिप्राय है?

यह तो कोई नियम नहीं है, कि जिस धातुके जितने अर्थ हैं उन सबकी एक ही कालमें उस धातुके प्रयोग-से प्रतीति होती ही है। यदि ऐसा माने, तो 'मन्दते' इस प्रयोगसे एक कालमें स्तुति, मोद, मद, स्वप्न, कान्ति और गतिकी प्रतीति होनी चाहिए। केवल स्तुतिके तात्पर्यसे 'मन्दते' यह प्रयोग ही नहीं होगा, बल्कि एक समयमें उतने अर्थोंके एककर्तृक न होनेसे इस तरहके धातुओंके प्रयोगका असम्भव ही हो जायगा और एकवाक्यताकी हानि हो जायगी।

समाधान—अवयवशैथिल्य कहनेका प्रयोजन यह है कि तत्त्वज्ञानी दो प्रकारके होते हैं—एक जीवन्मुक्त दूसरे परममुक्त। जीवन्मुक्तमें कार्यरूपसे अविद्या बनी रहती है, अन्यथा उसकी भिक्षादिमें भी प्रवृत्ति न होगी। तत्त्वज्ञान उत्पन्न होनेपर भी वह समूल और सकार्य अविद्याका निवर्तक नहीं हुआ, इस कारण विद्यामें अविद्या-निवर्त्तकत्व नहीं सिद्ध होगा। तब अविद्यानिवर्त्तक विद्याप्राप्तिके लिए अध्यात्म-शास्त्रश्रवणादिमें भी किसीकी प्रवृत्ति न होगी, इसलिए विद्याके दो कार्य बतलाते हैं—एक अविद्याशैथिल्य और दूसरा अविद्यानाश। प्रारब्धकर्मनाशसहित विद्या अविद्याकी निवर्त्तिका है और प्रारब्धकर्मसहित विद्या अविद्याकी शैथिल्यस-म्पादिका है। जीवन्मुक्तमें नाशप्रतिबन्धकप्रारब्धकर्मसहित विद्यासे अविद्याका नाश न होनेपर भी नाशप्रागवस्थारूप अवयवशैथिल्य अवश्य होता है।

प्रश्न—'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चाऽस्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥' इस श्रुतिसे तथा 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन!'

इस गीतावाक्यसे यदि तत्त्वज्ञानमें सर्वकर्मनाशकत्व स्पष्ट प्रतीत होता है, तो फिर प्रारब्धकर्मका नाश क्यों नहीं हुआ ?

उत्तर—'तस्य तावदेव चिरं यावन्नविमोक्ष्ये अथ संपत्स्ये' इत्यादि श्रुतिसे तथा 'नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि' इत्यादि स्मृतिवाक्योंसे पूर्वोक्त वचनोंका विरोध-परिहारके लिए प्रारब्धकर्मातिरिक्त कर्मनाशकत्वमें ही पूर्वोक्त वचनोंका तात्पर्य मानना चाहिए। अथवा चरम ज्ञानमें ही कर्मनाशकत्व है। उसके पूर्व ज्ञानोंमें अविद्याशैथिल्यजनकत्व ही है, नाशकत्व नहीं है। चरम ज्ञानके तात्पर्यसे 'भिद्यते' इत्यादि वाक्य है। पूर्व ज्ञानके तात्पर्यसे ही 'तस्य तावदेव' इत्यादि वाक्य है। इस तरह विषयका भेद होनेसे दोनों वचनोंमें परस्पर विरोध निवृत्त हो जाता है।

प्रश्न—अच्छा, तो पूर्वोक्तवचनोंके विरोधका परिहार तो संसारदशामें कर्मोंका भोगसे नाश्यत्व और मोक्षदशामें कर्मोंका ज्ञानसे नाश्यत्व माननेपर भी हो सकता है, फिर मध्यमें जीवन्मुक्तिदशा माननेकी क्या आवश्यकता है ?

उत्तर—यदि जीवन्मुक्ति न मानी जाय, तो तत्त्वज्ञानोत्पादक शास्त्रोंका निर्माण ही असंभव हो जायगा, क्योंकि यदि तत्त्वज्ञानोत्पत्तिके समयमें ही शरीर-पात हो जाय, तो शरीर और इन्द्रियके अभावसे शास्त्रका कैसे निर्माण होगा और जिज्ञासुओंको साक्षात् भी उपदेश नहीं मिल सकेगा। अतः जीवन्मुक्तिदशा अवश्य माननी चाहिए। जीवन्मुक्तिदशामें यदि विद्या किसी तरह प्राप्त हुई है तो शारीरिक, वाचिक और मानसिक कर्मों द्वारा पुण्य तथा पापके उदय होनेपर विहित और निषिद्ध कर्मोंमें प्रवृत्ति और निवृत्तिसे रागादि सब दोष चित्तमें अवश्य उत्पन्न होंगे, ऐसी परिस्थितिमें 'निर्दुष्ट चित्तमें विद्या उत्पन्न होती है दुष्ट चित्तमें नहीं' यह सिद्धान्त ही असंगत हो जायगा। विवेकवैराग्यादिसे चित्तभूमि परितप्त मरुभूमिके सदृश हो जाती है। उसमें जो पुण्य और पाप उत्पन्न होते हैं वे भूँजे हुए बीजके तरह भोगाङ्कुर-जननमें असमर्थ होते हैं। जो जन्मारम्भक पुण्य और पाप होते हैं, वे ही बन्धक होनेसे दोष हैं। रागाद्यात्मक बुद्धि द्वारा जो कर्म किए जाते हैं, उन्हींसे पुण्यादि फल उत्पन्न होते हैं और जो अनाभोगात्मक बुद्धिसे किए जाते हैं, वे वन्ध्य वृक्षके समान निष्फल होते हैं। प्रवृत्त्यादि द्वारा रागादिका अनुमान करना भी ठीक नहीं है, क्योंकि रागादिके विना भी लोकानुवृत्तीच्छासे कर्मानुष्ठान होता है। जैसे भगवान् श्रीकृष्ण-चन्द्रजीने गीतामें कहा है—यद्यपि मुझे कर्मफलकी इच्छा नहीं है, तथापि यदि मैं कर्मका त्याग कर दूँ तो जनता भी कर्मका त्याग कर देगी और नष्ट हो जायगी,

इसलिए मैं कर्म करता हूँ। ज्ञानी भी फलकी इच्छा न रहनेपर भी ऐसे ही कर्म करता है। और 'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये' इत्यादि श्रुतिसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि तत्त्वज्ञानोत्तर विदेहकैवल्यमें देहपातमात्रका ही विलम्ब है। यदि देह रहते तत्त्वज्ञान ही नहीं होता, तो 'तावदेव चिरं' यह कहना सर्वथा असंगत हो जायगा। इतिहास और पुराणोंमें जीवन्मुक्तकी कथाएँ वहुत हैं, अतः जीवन्मुक्तोंमें अविद्याका शैथिल्यमात्र तत्त्वज्ञानसे होता है, नाश नहीं होता। सर्वात्मना अविद्याका नाश विदेहदशामें ही होता है। रागादिनाश ही अविद्याशैथिल्य है, इसलिए जीवन्मुक्तिदशामें रागादिके सद्भावका सन्देह भी करना अनुचित है।

अच्छा तो ब्रह्मविद्या अविद्याको शिथिल करती है, अविद्यानाश करती है और शोधित आत्माको सामीप्योपलक्षित स्वस्वरूप ब्रह्मकी प्राप्ति कराती है यह उपषित् शव्दका अर्थ सिद्ध हुआ। परन्तु यह अर्थ ठीक नहीं है, क्योंकि इससे यह भी प्रतीत होता है कि ब्रह्मविद्यासे किसीकी अविद्या शिथिलमात्र होती है, किसीकी नष्ट होती है और किसीको ब्रह्मस्वरूप मोक्षकी प्राप्ति होती है। तथा अनेक अर्थ होनेसे वाक्य-भेद भी होता है। 'सकृदुच्चरितः शव्दः सकृदेवार्थं वोधयति' इस न्यायसे एक वार उच्चरित उपनिषत्शव्दसे तीनों अर्थ प्रतीत नहीं हो सकते, इसलिए तीनों अर्थोंकी प्रतीतिके लिए तन्त्र या तीन वार उपनिषत्शव्दका उच्चारण करना पड़ेगा और अनेकार्थक भी हो जायगा इत्यादि दोष होगा एवं अभिलषित अर्थकी सिद्धि भी न होगी। उपनिषत् शव्दका अभिमत अर्थ यह है कि विद्या समूल अविद्याको शिथिल कर, प्रारव्ध कर्मसे होनेवाले भोगानन्तर उसको नष्ट कर स्वस्वरूपाभिन्न मोक्षका सात्क्षाकार कराती है, इसलिए परस्पर विशेष्यविशेषणभावापन्नसदर्थत्रयका एक ही वाक्यार्थ मानना ठीक है। वह इस प्रकार होता है—विद्या समूल सकार्य अविद्याको शिथिल करके अन्तमें उसका विनाश कर स्वाभिन्न ब्रह्मस्वरूप मोक्षकी अभिव्यक्ति कराती है।

अव यह शङ्का होती है कि उपनिषत्से जो ब्रह्मात्मैकत्वज्ञान होगा, जिसको कि समूल अविद्याका निवर्त्तक मानते हैं, वह प्रामाणिक नहीं है। कारण कि प्रत्यक्षादि प्रमाणों से द्वैत प्रमित है, इसलिए अद्वितीयत्वरूप विषय ही वाधित है। जैसे 'मत्कर्णकुहरं प्रविश्य सिंहो गर्जति' यह वाक्य विषयवाधसे अप्रामाणिक है, वैसे ही 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्य भी अभेदके वाधित होनेसे अप्रामाणिक हैं। अप्रामाणिकवाक्यजन्य ज्ञानसे अविद्याकी निवृत्ति कैसे हो सकती है? प्रत्युत अविद्यासे विद्याकी ही निवृत्ति हो सकती है, क्योंकि

अविद्या अनादि कालसे चली आ रही है, अतः दृढ़मूला है। अचिरोत्पन्न अद्वैतज्ञान अप्ररूढ़मूल होनेसे दुर्बल है, तथा प्रत्यक्षादि अनेक प्रमाण भेदज्ञानके सहायक हैं, विद्याका सहायक केवल अद्वैताम्नायमात्र है। प्रत्यक्षादिप्रमाणके साथ विरोधके परिहारके लिए श्रुतिका द्वितीय अर्थ माना गया है। यद्यपि 'आदित्यो यूपः' 'यजमानः प्रस्तरः' इत्यादि वाक्योंसे आदित्याभिन्न यूप, यजमानाभिन्न प्रस्तर यह अर्थ शक्तिसे प्रतीत होता है तथापि प्रत्यक्षादिसे आदित्यका भेद यूपमें और यजमानका भेद प्रस्तरमें सिद्ध होनेसे अभेद बाधित है। इसलिए जैसे आदित्यादि पदकी सदृशमें लक्षणा कर 'आदित्यके सदृश यूप है' इत्यादि अर्थ किया जाता है, वैसे ही प्रकृतमें प्रत्यक्षादिके विरोधसे विषयके बाधित होनेसे श्रुतिका अर्थान्तर ही करना चाहिए, अभेद अर्थ नहीं करना चाहिए। अतएव 'निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति' इस श्रुतिसे अज्ञानादिकी निवृत्तिदशामें जीव और परमात्माका परमसाम्य हो जाता है, क्योंकि वे दोनों चैतन्यस्वरूप हैं। अज्ञानादि ही भेदक हैं उनकी निवृत्ति होनेपर जीव ब्रह्मके सदृश हो जाता है। और 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' यह श्रुति भी इसी अर्थकी पुष्टि करती है अथवा 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्यजन्य अभेदज्ञान सम्पद्रूप हैं। अपकृष्ट अवलम्बनमें उसके रूपका तिरस्कार कर उत्कृष्ट वस्तुके अभेदका ध्यान करना सम्पद्रूप ज्ञान है। ध्यानमें आलम्बनको अप्रधान कर प्राधान्येन उत्कृष्ट वस्तुके अभेदका ही ध्यान करना चाहिए। जिस तरह अपनी वृत्तिके बदौलत मन अनन्त हैं और विश्वेदेवा भी अनन्त हैं, अतः अनन्तत्वसादृश्यसे मनमें विश्वेदेवाका अभेदारोप कर प्राधान्येन चिन्तन करनेसे अनन्तलोकरूप फल-प्राप्ति होती है, इसी तरह ब्रह्मभिन्न जीवमें चेतनत्वसादृश्यसे ब्रह्माभेदका आरोप कर चिन्तन करनेसे मोक्षरूप फलकी प्राप्ति हो सकती है। अथवा 'आदित्यो ब्रह्मेत्युपासीत' इस श्रुतिसे ब्रह्मभिन्न आदित्यकी ब्रह्मबुद्धिसे जो उपासना विहित है वह अध्यास है। अध्यास और सम्पद्में इतना ही अन्तर है कि सम्पद्में आरोप्यमाणका प्राधान्येन चिन्तन किया जाता है और अध्यासमें आलम्बनका प्राधान्येन चिन्तन किया जाता है। 'अतस्मिन् शास्त्रतस्तद्बुद्धिः' अर्थात् तद्भिन्नमें तद्बुद्धि शास्त्र द्वारा करना दोनोंमें समान होनेसे दोनों ज्ञान मिथ्या हैं। अथवा 'वायुर्वाव संवर्गः' इत्यादि वायु प्रलयकालमें पृथिव्यादिको अपनेमें लीन करता है, अतः 'संवृङ्क्ते इति संवर्गः' तथा 'प्राणो वाव संवर्गः' सुषुप्ति-

लभ्यते विषयः कश्चित्तस्मात्तद्धीस्तमोपनुत् ।
सा चात्मोत्पत्तितो नाऽन्यद् ध्वान्तध्वस्तावपेक्षते ॥ १० ॥

कालमें वागादि इन्द्रियाँ प्राणमें लीन हो जाती हैं, अतः प्राण भी संवर्ग कहा जाता है। संवरणक्रियाके योगसे जैसे संवर्गरूपसे वायु तथा प्राण दोनोंका ध्यान होता है, वैसे ही 'बृंहयतीति ब्रह्म' इस व्युत्पत्तिसे बृंहणक्रियाकर्तृत्व जीव और ब्रह्म दोनोंमें है, इस कारण जीवका ध्यान भी ब्रह्मरूपसे किया जाता है। इस पक्षमें जीवमें ब्रह्मशब्दका प्रयोग गौण है। इस कारण 'तत्त्वमसि', 'अहं ब्रह्मास्मि' 'एकमेवाद्वितीयम्' इत्यादि वाक्यजन्य ज्ञान अप्रामाणिक है। भेदग्राही प्रत्यक्षादि प्रमाणोंके विरोधसे अभेदरूप जो वेदान्तविषय है, वह बाधित है; इसलिए जब वेदान्तवाक्यजन्य ज्ञान ही अप्रमाण है, तब इसके लिए ग्रन्थ बनाना सर्वथा असंगत है। इस शङ्काकी निवृत्तिके लिए लिखते हैं—'ऐकात्म्यविषयात्' इत्यादि ।

'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' इत्यादि श्रुतियोंसे उपदिष्ट ऐकात्म्य ही वेदान्तका विषय है, दूसरा कोई विषय नहीं है; अतः अद्वैतात्मज्ञान अज्ञानका निवर्तक है। वह अद्वैतात्मज्ञान अज्ञान-निवृत्तिके लिए अपनी उत्पत्तिके अतिरिक्त अन्य साधन की अपेक्षा नहीं करता ॥९।१०॥

[अर्थात् 'अप्राप्ते शास्त्रमर्थवत्' इस प्राचीनोंकी उक्तिसे तथा 'अज्ञातार्थज्ञापकत्वं प्रामाण्यम्' लक्षणसे भी यह निश्चय होता है कि प्रमाणान्तरसे अप्राप्त ब्रह्मात्मैकत्व ही वेदान्तवाक्योंका विषय है, दूसरा नहीं ।

'उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम् ।
अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये ॥'

इस श्लोकमें निर्दिष्ट उपक्रम और उपसंहारके ऐक्य आदिसे भी ज्ञात होता है कि उक्तार्थमें ही उक्त वाक्योंका तात्पर्य है, अन्यत्र नहीं है। तथाहि—'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' 'एकमेवा द्वितीयम्' इससे उपक्रम करके 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम् तत्सत्यं स आत्मा' यह उपसंहार किया गया है, 'तत्त्वमसि' इसके नौ बारका कथन अभ्यास है। बृहदारण्यकमें भी 'ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्' यह उपक्रम है 'अयमात्मा ब्रह्म' यह अभ्यास है, 'पूर्णमदः पूर्णमिदम्' यह उपसंहार है, 'स एष नेति नेत्यात्मा' यह अभ्यास है और 'तस्मात्तत्सर्वमभवत्' यह फल है। ऐतरेयकमें भी 'आत्मा वा इदमेक एव' यह उपक्रम है, 'स एतमेव पुरुषं ब्रह्मततमपश्यत्' यह परामर्श है, 'प्रज्ञानं ब्रह्म' यह उपसंहार है। आथर्वण उप-

निषत्में भी 'कस्मिन् भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातम्' यह उपक्रम है, 'ब्रह्मैवेदम्' यह उपसंहार है। तैत्तिरीय-उपनिषत्में 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' 'यो वेदनिहितं गुहायाम्' यह उपक्रम है और 'यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एकः' यह परामर्श है। 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्' यह उपसंहार है और 'सोऽश्नुते सर्वान् कामान्' आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति' यह फल है। सर्वत्र आत्मैकत्व अपूर्व है।

इस प्रकार उपक्रम और उपसंहारके ऐक्य आदिसे सब उपनिषदोंका तात्पर्य आत्मैकत्वमें ही निश्चित होता है, क्योंकि 'तात्पर्यार्थे शब्दः प्रमाणम्' यह सब विद्वानोंका सिद्धान्त है। अतः सदृशादि अर्थ माननेपर ये उपनिषद्वाक्य व्यर्थ ही हो जायँगे। गौणार्थक भी तभी हो सकेंगे जब कहीं मुख्यार्थक हों। इसी तरह संपदादिरूप अर्थमें तात्पर्य माननेपर 'तत्त्वमसि' 'अहं ब्रह्मास्मि' 'अयमात्मा ब्रह्म' इत्यादि वाक्योंसे प्रतीयमान ब्रह्मात्मैकत्वका त्याग करनेसे स्वाभाविकाभेदान्वयबोधकत्वका भी त्याग करना पड़ेगा। रह गया प्रत्यक्षादिके विरोधका परिहार। यह तो अनेक प्रकारसे हो सकता है, उनमें प्रथम परिहार यह है कि जीव और ब्रह्मके भेदका तो प्रत्यक्ष ही नहीं हो सकता, कारण कि जीवके असली स्वरूपका ही प्रत्यक्ष यदि नहीं है तो ब्रह्मप्रत्यक्षकी बातका तो क्या पूछना है। सम्बन्धियोंके प्रत्यक्ष न होनेपर भेदका प्रत्यक्ष नहीं होता है। यदि कहिए कि 'अहं सुखी' 'अहं दुःखी' इत्यादि मानस प्रत्यक्ष सर्वजनसिद्ध है तो 'अहं गौरः' 'अहं कृशः' ऐसी प्रतीति शरीरमें भी है, अतः यह प्रत्यक्ष ही अप्रामाणिक है। इस तरह, शरीर, इन्द्रिय और मन इनसे अतिरिक्त सकलसंसारधर्मातीत आत्माका प्रत्यक्ष यदि नहीं हुआ तो फिर विरोध कैसा? यदि यह शङ्का हो कि आत्मैकत्व तब हो सकता है जब घट, पट आदि दृश्य पदार्थ भी न हों, किन्तु यह नहीं कह सकते, क्योंकि घट, पट आदि प्रत्यक्षसिद्ध हैं। यह भी ठीक नहीं है, कारण कि प्रत्यक्षमात्रसे पदार्थकी सत्ता नहीं सिद्ध होती। प्रत्यक्ष तो शुक्ति-रजतका भी होता है, इस कारण शुक्ति-रजतकी सत्ता तो नहीं मानी जाती। जैसे शुक्ति-रजत-ज्ञानका तो 'नेदं रजतम्' इस ज्ञानसे बाध होता है, इसलिए वह मिथ्या माना जाता है। यदि वास्तविक सत्ता होती तो रजतज्ञानका बाध ही नहीं होता वैसे ही 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' 'नेह नानास्ति किञ्चन' इत्यादि वाक्योंसे प्रपञ्चका भी तो बाध है, इसलिए प्रपञ्चकी भी सत्ता पारमार्थिक नहीं हो सकती।

प्रत्यग्विविदिषासिद्ध्यै वेदानुवचनादयः ।
ब्रह्मावाप्त्यै तु तत्त्यागस्त्यागेनैक इति श्रुतेः ॥ ११ ॥

परीक्षितप्रमाण्य प्रत्यक्ष अति दुष्ट है अतएव उस प्रत्यक्षका गृहीतप्रामाण्यक आगमज्ञानसे बाध होना अनिवार्य है। विशेष बातें विरोधके परिहारके समय लिखी जायँगी। सारांश यह निकला कि ब्रह्मैकत्व जो वेदान्तवाक्योंका विषय है वह वास्तविक है, इसलिए तद्विषयक आगम प्रमाण है वह उत्पन्न होते ही समूल अविद्याकी निवृत्ति कर देता है। यद्यपि अविद्या प्ररूढमूला है विद्या सद्यः उत्पन्न होनेसे अप्ररूढमूला है; फिर भी अप्रमासे प्रमा बलवती होती है यह सब विद्वानोंका सिद्धान्त है। यहां तक कि बाह्य—बौद्ध लोग भी यह कहते हैं कि 'निरुपद्रवभूतार्थस्वभावस्य विपर्ययैः न बाधोऽयत्नवत्त्वेऽपि बुद्धेस्तत्पक्षपाततः' तत्त्वज्ञानका मिथ्याज्ञानसे यत्न न करनेपर भी बाध नहीं हो सकता। कारण कि बुद्धिका पक्षपात तत्त्व ही में होता है, अतत्त्वमें नहीं होता, अतः ब्रह्मात्मैकत्वविषयक धी प्रमा है, इसलिए तदर्थ वेदान्तविचारके आवश्यक होनेसे ग्रन्थारम्भ भी आवश्यक ही है। आत्मैकत्वातिरिक्त वेदान्तका विषय ही नहीं है, इसलिए वेदान्तप्रामाण्यकी रक्षाके लिए वेदान्तविचारको ब्रह्मात्मैकत्वविषयक अवश्य मानना चाहिए। केवल विषयके अबाधित होनेसे ज्ञानके प्रामाण्यकी रक्षा नहीं हो सकती, क्योंकि निष्प्रयोजनवत्त्व भी अप्रामाण्यका प्रयोजक है, इसलिए कहते हैं—'तद्धीस्तमोपनुत्' अर्थात् आत्मैकत्वज्ञान तमका—अज्ञानका—निवर्त्तक है। अज्ञानके निवृत्त होनेसे स्वतःसिद्ध आत्मस्वरूपानन्दरूप मोक्ष परमप्रयोजन अभिव्यक्त होता है जिससे मनुष्य कृतकृत्य हो जाता है।]

अब यह शङ्का होती है कि यद्यपि वेदान्तवाक्योंसे ब्रह्मात्मैकत्वबुद्धि हो सकती है तो भी केवल तादृश बुद्धि ही अविद्याकी निवर्त्तिका नहीं हो सकती। अन्यथा उपनिषद् ग्रन्थका अध्ययन करनेवाले जितने हैं, उन सबकी अविद्या निवृत्त हो जायगी, परन्तु ऐसा देखा नहीं जाता; इस कारण कर्मसहकृत विद्या अविद्याकी निवर्त्तिका है। अतः अविद्यानिवृत्ति केवल ब्रह्मविद्याका फल नहीं हो सकती। अच्छा तो कर्मको सहकारी कारण आप मानते हैं पर विद्याका फल क्या है? ब्रह्मस्वरूप साक्षात्कार तो फल हो नहीं सकता,

क्योंकि ब्रह्मस्वरूपसाक्षात्कार नित्य है और फल होता है अनित्य। यद्यपि उत्पाद्य तथा विकार्य ये दोनों फल अनित्य हैं और संस्कार्य तथा प्राप्य नित्यानित्य साधारण हैं तथापि संस्कार्य वही होता है जिसमें क्रियाजन्य अतिशय हो सके। जैसे कि प्रोक्षणरूप संस्कारका आधार होनेसे व्रीहि संस्कार्य कर्म हैं। ब्रह्मके निर्धर्मक होनेसे कोई भी अतिशय उसमें नहीं हो सकता तथा वह प्राप्य कर्म भी नहीं हो सकता, क्योंकि अप्राप्त ग्रामादि गति द्वारा प्राप्त होते हैं अतः वे प्राप्य कर्म हैं। ब्रह्म तो नित्यप्राप्त होनेसे प्राप्य कर्म नहीं हो सकता। इससे अतिरिक्त और कोई कर्म-प्रकार है ही नहीं। ठीक है, यदि ब्रह्मसाक्षात्कार ब्रह्मस्वरूप होता तो वह फल नहीं हो सकता, किन्तु ऐसा नहीं है। जैसे घटसाक्षात्कार घटातिरिक्त है वैसे ही ब्रह्मसाक्षात्कार भी ब्रह्मातिरिक्त है, अतः वह फल हो सकता है। यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि घट तो जड है अर्थात् पराधीनप्रकाश है अतः घटको अपने प्रकाशके लिए अन्य प्रकाशकी अपेक्षा होती है, परन्तु ब्रह्म तो अपराधीनप्रकाश होनेसे स्वयंप्रकाश है, अतएव ब्रह्मप्रकाश ब्रह्मस्वरूप होनेसे नित्य है, कार्य नहीं है; अतः फल भी नहीं है। यदि ब्रह्मसाक्षात्कारको ब्रह्मस्वरूपातिरिक्त भावनाप्रकर्षजन्य प्रातिभज्ञानस्वरूप मानें, तो जैसे कामिनीकी भावनाके प्रकर्षसे जन्य कामिनीका साक्षात्कार अप्रामाणिक होता है, वैसे ही भावना-प्रकर्षजन्य प्रातिभज्ञान भी प्रामाणिक नहीं हो सकता, कर्म किसका सहकारी कारण होगा ?

और यह भी विचार आवश्यक है कि ब्रह्मभावना क्या है ? यदि ब्रह्मज्ञानमात्र है, तो सकृत् ब्रह्मज्ञानसे किसीकी अविद्या निवृत्त ही नहीं होती, अतः सहकारीकारणकी चर्चा ही व्यर्थ है। यदि ब्रह्मविषयक शाब्दज्ञानसन्तति ब्रह्मभावना है, तो संशयसाधारण ज्ञानमात्राभ्याससे वस्तुस्वरूपका साक्षात्कार नहीं होता। 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' यह संशयात्मक निरन्तराभ्यस्यमान ज्ञान 'यह स्थाणु है' अथवा 'यह पुरुष है' इन दोनों कोटियोंमें किसी भी कोटिका निर्णायक नहीं होता, इसलिए निर्विचिकित्स ब्रह्मविषयकशब्दज्ञानसन्तति ही ब्रह्मभावना है, यह मानना चाहिए। इस भावनासे ब्रह्मविषयक साक्षात्कार होता है, उस साक्षात्कारसे अविद्याकी निवृत्ति होती है, यही कहना युक्ति-युक्त है, क्योंकि प्रत्यक्षात्मक भ्रमकी प्रत्यक्षात्मक प्रमाणसे ही निवृत्ति होती है। अपरोक्षदिग्भ्रम तो आप्तोक्ति द्वारा परोक्ष ज्ञान होनेपर भी निवृत्त नहीं होता। एवं बाँसमें सर्पका

भ्रम भी परोक्षज्ञानसे निवृत्त नहीं होता, इसलिए 'दशमस्त्वमसि' इत्यादि वाक्यसे प्रत्यक्ष ज्ञान माना गया है। अतः जब तक त्वंपदार्थका ब्रह्मपदार्थके साथ अभेद रूपसे अर्थात् परिशोधित त्वंपदार्थका ब्रह्मस्वरूपात्मकत्वरूपसे साक्षात्कार न होगा, तब तक जीवमें सांसारिक दुःख, शोक और मोहादिकी निवृत्ति न होगी।

अब आप स्वयं विचार कर सकते हैं कि अविद्यानिवर्त्तक ब्रह्मात्मैकत्वसाक्षात्कार कर्मका फल हो सकता है या नहीं? कर्म अप्रमाणात्मक है, अतः साक्षात्कार कर्मका फल नहीं हो सकता। यह साक्षात्कार अन्तःकरणवृत्तिविशेष है, ब्रह्मस्वरूप नहीं है, अतः यही फल है, इसीको चरम तत्त्वज्ञान कहते हैं, यही समस्त प्रपञ्चका निवर्त्तक है, इसकी निवृत्ति स्वतः होती है। जैसे पङ्किल जलमें निर्मली डाल देनेसे वह पङ्कको नीचे बैठा देती है और स्वयं भी नीचे बैठ जाती है वैसे ही यह ज्ञान संसारोपादान अविद्याको नष्ट करता हुआ स्वयं भी नष्ट हो जाता है। अविद्यानिवृत्तिके लिए विद्या कर्मकी अपेक्षा नहीं करती, यह अनुमानसे भी सिद्ध है।

'ब्रह्मात्मैकत्वधीः अन्यापेक्षा न, तत्त्वधीत्वात्, शुक्तितत्त्वधीवत्' अर्थात् जैसे शुक्तितत्त्वज्ञान रजत और उसके अज्ञानकी निवृत्तिके लिए अन्य ज्ञानकी अपेक्षा नहीं करता, वैसे ही उक्त विद्या भी प्रपञ्च और उसके उपादान अविद्याकी निवृत्तिके लिए अन्यकी अपेक्षा नहीं करती। इस विचार द्वारा यह सिद्ध हुआ कि मोक्षप्राप्तिका साधन केवल विद्या ही है। कर्म सहकारी कारण भी नहीं है।

अब शङ्का यह होती है कि कर्मको मोक्षसाधन ज्ञानकी उत्पत्तिका कारण तो अवश्य मानना चाहिए, क्योंकि श्रुतिमें लिखा है 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसानाशकेन' इत्यादि यद्यपि 'प्रत्ययार्थः प्रधानम्' इस न्यायसे यज्ञादिके साधनभावका सम्बन्ध प्रधानीभूत विविदिषा ही में होना चाहिए तथापि 'असिना जिघांसति' इत्यादि प्रयोगसे हिंसासाधनत्वका सम्बन्ध तलवारमें ही प्रतीत होता है, इच्छामें नहीं, वाक्य द्वारा जिस पदार्थका जिस पदार्थमें सम्बन्ध प्रतीत होता है, उस पदार्थका उसी पदार्थके साथ सम्बन्ध करना चाहिए। कर्मसंज्ञा द्वारा भी ब्रह्मवेदनमें ही आर्थ प्राधान्य है, क्योंकि कर्ताके इष्टतमकी कर्मसंज्ञा होती है। तथा 'विद्यां चा विद्यां च यस्तद्वेदोभयं स ह अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते' इसमें अविद्यासे वर्णाश्रमकर्म विवक्षित हैं, मृत्युका अर्थ है ज्ञानोत्पत्तिप्रतिबन्धक पूर्वकर्म तीर्त्वा—अपोह्य अर्थात् नित्यानुष्ठित निरभिसन्धि

न कर्मणा न प्रजया न धनेनाऽमृता जनाः ।
त्यागेनैकेऽमृतत्वं त आनशुः शुद्धबुद्धयः ॥ १२ ॥

वर्णाश्रमानुकूल नित्य नैमित्तिक कर्म द्वारा मृत्युका—ज्ञानोत्पत्तिप्रतिबन्धक प्राचीन कर्मका—निरास कर विद्या द्वारा अमृत ब्रह्म अर्थात् मोक्ष प्राप्त करता है और भी लिखा है—

'कषायपक्तिः कर्माणि ज्ञानन्तु परमागतिः ।
कषाये कर्मभिः पक्वे ततो ज्ञानं प्रवर्तते ॥'

कषायके—राग-द्वेषके—नाशमें निमित्त है कर्म, इसलिए वे कर्म कषायपक्ति कहे गये हैं। 'धर्मेण पापमपनुदति' इस वचनका भी उक्तार्थ में ही तात्पर्य है। पाप ज्ञानोत्पत्तिका प्रतिबन्धक है यह 'एष एवासाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषते' इस श्रुतिसे स्पष्ट ज्ञात होता है। पापकी निवृत्ति नित्य नैमित्तिक वर्णाश्रम-कर्मानुष्ठानजन्य पुण्यसे ही होती है, क्योंकि 'धर्मेण पापमपनुदति' ऐसी श्रुति है। 'महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः' इत्यादिसे भी यही अर्थ सिद्ध होता है। 'धर्मात्सुखं च ज्ञानं च' यह स्मृति भी है। इसका अर्थ स्पष्ट ही है। अतः निरभिसन्धि बुद्धिसे जो वर्णाश्रमकर्म किए जाते हैं, उन्हींसे यदि ब्रह्मज्ञानोत्पत्ति हो सकती है, तो फिर इसके लिए ग्रन्थकी रचना व्यर्थ है। इस शङ्काकी निवृत्तिके लिए लिखते हैं—'प्रत्यग्-विविदिषासिद्ध्यै' इत्यादि।

'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसानाशकेन' इत्यादि श्रुतिसे यागादि निखिल कर्म प्रत्यक्—प्रतीपमञ्चति—आत्मानं जानाति, अनिर्वचनीय-शरीरेन्द्रियाद्यपेक्षया प्रतिकूलं सत्त्वेन निर्वचनीयमञ्चति इति प्रत्यक्—आत्मा, तस्य विविदिषा प्रत्यग्विविदिषा, सिद्धिः—उत्पत्तिः अर्थात् आत्मज्ञानेच्छोत्पत्तिके लिए कर्मादिकी अपेक्षा है आत्मज्ञानोत्पत्तिके लिए नहीं, अतः कर्म ज्ञानोत्पत्तिमें कारण न होनेसे परम्परया भी कारण नहीं है। यागादि निखिल कर्म विविदिषार्थ हैं—ब्रह्मज्ञानेच्छार्थ हैं, ब्रह्मज्ञानार्थ नहीं हैं; ब्रह्मज्ञानार्थ तो त्याग ही श्रुत है, क्योंकि 'त्यागेनैकेऽमृतत्वमानशुः' ऐसी श्रुति है। कर्मसे धनसे प्रजासे अर्थात् पुत्रादि सन्ततिसे कोई भी मनुष्य मुक्त नहीं हुआ, किन्तु परिशुद्धचित्त पुरुष त्याग ही से अनेक मुक्त हुए हैं, इससे मुक्तिका त्याग ज्ञान ही है, कर्म नहीं है ॥११॥१२॥

[भावार्थ यह है कि ज्ञानोत्पत्तिमें कर्म कारण नहीं हो सकता, अन्यथा

अप्रमाणभूत कर्मसे जन्य ज्ञान प्रमात्मक नहीं होगा। प्रमाज्ञान प्रमाणजन्य ही होता है। कर्मानुष्ठानके विना भी व्युत्पन्न पुरुषको पदार्थोपस्थितिघटित शाब्द-सामग्री रहनेसे शाब्दबोध होता ही है, अन्यथा नास्तिकोंको शाब्दबोध ही न होगा। नास्तिक-ग्रन्थोंके देखनेसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि हमारे ग्रन्थोंका भी अर्थज्ञान उनको उतना ही होता है जितना कि हम लोगोंको; अन्यथा वे लोग खण्डन ही कैसे कर सकते? यह बात दूसरी है कि हम लोगोंको अपने ग्रन्थोंमें प्रामाण्यग्रह होनेसे श्रद्धा आदि होते हैं उनको प्रामाण्य-ग्रह न होनेसे वे नहीं होते, किन्तु बोधमें कोई अन्तर नहीं है।

और यदि शाब्दबोधमें कर्म कारण होगा तो बड़ी आपत्ति यह उपस्थित होगी कि जब तक विधि और निषेध वाक्योंका यथार्थ ज्ञान न होगा, तब तक विहित कर्मोंका अनुष्ठान तथा निषिद्ध कर्मोंका त्याग ही न हो सकेगा। विहित और निषिद्ध वाक्योंका अर्थज्ञान होनेसे कर्मानुष्ठान और कर्मानुष्ठान होनेपर उन वाक्योंका अर्थज्ञान इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष भी होगा। अन्योन्याश्रय होनेसे कार्यकारणभाव ही नष्ट हो जायगा।

यदि कहें कि कर्मकाण्डके वाक्योंके अर्थज्ञानमें कर्म कारण नहीं हैं, किन्तु उपनिषद्वाक्योंके अर्थज्ञानमें ही कर्म कारण हैं, तो इसमें विनिगमक क्या है? सांसारिक सुख-दुःखादिविशिष्ट जीवका सर्वज्ञ सर्वशक्तिसम्पन्न ब्रह्मके साथ अभेद असम्भव है; अतः योग्यता-ज्ञान न होनेसे 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्योंसे जीव और ब्रह्मका अभेदविषयक बोध शीघ्र नहीं होता। कर्मानुष्ठानजन्य पुण्यसे जब पापकी निवृत्ति हो जाती है, तब चित्त परिशुद्ध हो जाता है, चित्तके शुद्ध होनेसे श्रद्धाभक्तिपूर्वक योग्यता-ज्ञानोत्पत्ति होती है और जीव तथा ब्रह्मका अभेदविषयक बोध होता है, यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि योग्यताज्ञान जब प्रमाणजन्य होगा, तभी प्रामाणिक होनेसे प्रमात्मक शब्दबोधमें कारण होगा, क्योंकि प्रामाणिक योग्यताज्ञान ही शाब्दप्रमामें कारण होता है। अन्यथा 'वह्निना सिञ्चति' इस वाक्यसे भी अप्रामाणिक योग्यताज्ञानसे प्रमात्मक बोध होने लगेगा।

अथवा कर्म भी अतिरिक्त प्रमाण है, यह स्वीकार करना पड़ेगा। इन दोनों पक्षोंमें किसी पक्षको भी मानना ठीक नहीं है, क्योंकि 'तस्मात् यज्ञेन विविदिषन्ति' इत्यादि वाक्यमें श्रुत यागादिसाधनभावका सम्बन्ध ब्रह्मज्ञानमें नहीं है, किन्तु प्रधानभूत ब्रह्मविविदिषा—ब्रह्मेच्छामें ही है, ज्ञानसे भी इच्छा शब्दतः प्रधान है।

जैसे 'राजपुत्रमानय' इस वाक्यसे राजपुत्र ही का आनयनक्रियामें अन्वय होता है। यद्यपि पुत्रकी अपेक्षासे अर्थतः प्रधान राजा है फिर भी शब्दतः प्राधान्य पुत्र हीमें है, वैसे ही यहां समझना चाहिए। याग आदि कर्मोंसे पुण्य होता है, पुण्यसे पापकी निवृत्ति होती है इसके द्वारा पुरुषका चित्त संस्कृत होता है। श्रुतिमें लिखा है—'स ह वा आत्मयाजी यो वेद इदं मेऽनेनाङ्गं संस्क्रियते इदं मेऽनेनाङ्गमुपधीयते' अर्थात् यागादि पुण्य कर्म करनेसे पापकी निवृत्ति होती है, तदनन्तर ब्रह्मज्ञानकी इच्छा होती है, तदुपरान्त तत्त्वज्ञान होता है, इस क्रमसे 'ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यति निष्कलं ध्यायमानः' ध्यान मानसीक्रिया होनेसे पुरुषतन्त्र है। इच्छा करनेपर ध्यान हो सकता है, न करनेपर नहीं हो सकता, अतः 'ध्यायमानः' यह कहा है। ध्यान होनेसे तत्कारण इच्छा होती है विशुद्ध सत्त्वध्यानजनक इच्छाकी उत्पत्तिमें कारण है। इच्छा होनेसे ध्यान करता है और उसके बाद संस्कृत मनसे निष्कल अद्वैत ब्रह्मको देखता है, क्योंकि 'मनसैवानुद्रष्टव्यम्' ऐसी श्रुति है।

सारांश यह है कि नित्यकर्मानुष्ठानसे धर्मोत्पत्ति होती है, अनन्तर पापकी निवृत्ति होती है। पाप ही अनित्य अशुचि दुःखमें नित्य शुचि सुखात्मक भ्रमको पैदाकर चित्तको मलिन करता है। पापकी निवृत्ति होनेपर जब प्रत्यक्ष तथा उपपत्तिके द्वार खुल जाते हैं, तब प्रत्यक्ष तथा उपपत्तिसे संसार अनित्य अशुचि दुःखात्मक है, यह अवश्य निश्चय होता है, इस कारण संसारसे वैराग्य होता है। तदनन्तर संसारको त्याग देनेकी इच्छा होती है। उसके बाद पुरुष संसार त्यागनेका उपाय खोजता है। खोज करनेपर यह सुनता है कि आत्माका यथार्थज्ञान ही इसका उपाय है, दूसरा नहीं है, क्योंकि 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' इत्यादि श्रुति है। आत्माकी जिज्ञासा करनेके बाद श्रवणादि द्वारा आत्माको जान लेता है। इस तरह परम्परया यागादि कर्म ज्ञानोत्पत्तिमें कारण हैं इसी बातको भगवद्गीता भी कहती है—

'आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते॥'

अर्थात् आत्मज्ञानेच्छाका कारण कर्म है। तबतक कर्मानुष्ठान आवश्यक है जबतक ज्ञान न हो, ज्ञानोत्पत्तिके बाद कर्म करनेका अधिकार ही नहीं रहता, किन्तु कर्मत्यागपूर्वक केवल शम, दम आदि साधनयुक्त पुरुषका मुक्तिकी

कारण ज्ञाननिष्ठामें ही अधिकार है। जिन महानुभावोंका चित्त पूर्वजन्मकृत कर्मसे परिशुद्ध है, उनको इस जन्ममें कर्मानुष्ठानकी आवश्यकता ही नहीं है। चित्तके शुद्ध होनेसे संसारमें आते ही संसारके असली स्वरूपका ज्ञान उनको हो जाता है, उसीसे वैराग्य होता है और ब्रह्मजिज्ञासा उत्पन्न हो जाती है, उनको कर्म करनेकी आवश्यकता ही नहीं रहती, उन्हीं पुरुषरत्नोंको लक्ष्यकर श्रुति कहती है—'यदि वा इतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्'। इन महाजनोंको ऋणकी निवृत्तिके लिए भी कर्म करनेकी आवश्यकता नहीं है। इनको ऋण होता ही नहीं, क्योंकि 'जायमानो ह वै' इत्यादि श्रुतिका तात्पर्य है—'गृहस्थः संपद्यमानः'। अन्यथा ब्रह्मवादियोंको ऋण होता तो ब्रह्मचर्याश्रमसे ही संन्यासाश्रममें आ सकता है, यह कहना असंगत हो जाता, क्योंकि 'ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्' इस स्मृतिके अनुसार जबतक पुरुष देवऋण पितृऋण, और ऋषिऋण इन तीनों ऋणों चुका न दे, तब तक वह मोक्षाधिकारी नहीं हो सकता। इन तीनों ऋणोंको चुकानेके लिए गृहस्थाश्रममें भी आनेकी आवश्यकता है। अध्ययनसे ऋषि-ऋणकी निवृत्ति होती है, पर देवऋणकी निवृत्ति तो यागादि कर्मानुष्ठानसे ही होती है, यागाद्यनुष्ठान दारपरिग्रहके विना नहीं हो सकता। कारण कि पत्नीकर्तृक आज्यावेक्षण विहित है। होमार्थ घृतका निरीक्षण पत्नीको करना चाहिए। यदि पत्नी न रहेगी तो आज्यसंस्कार ही नहीं होगा। असंस्कृत आज्यसे याग करनेसे फल यदि न होगा तो याग ही व्यर्थ है। तथा पितृऋणकी निवृत्ति संतानोत्पत्तिसे होती है, इसके लिए दारपरिग्रह आवश्यक ही है और यज्ञो-पवीतसंस्कारसे पहिले किसी वैदिक विधि-निषेध कर्मका अधिकार भी नहीं रहता, इसलिए उत्पद्यमान त्रैवर्णिक बालक ऋणी हैं, यह कहना ठीक नहीं है। अध्ययनादिमें ऋणशब्दके प्रयोगका तात्पर्य यह है कि ऋण जैसे अवश्य चुकाना पड़ता है, वैसे ही योग्यता होनेपर अध्ययनादि अवश्य कर्तव्य है। जन्मसमयसे ही योग्यता नहीं होती, किन्तु उपनयनोत्तर होती है, अतः जायमानका उत्पद्यमान, यह अर्थ ठीक नहीं है। यहांपर ऋणशब्दका गौण प्रयोग है, ब्रह्मचर्याश्रमसे भी संन्यास हो सकता है। यदि जन्मान्तरीयकर्मानुष्ठानसे चित्त पूर्ण परिशुद्ध हुआ हो। इसलिए 'यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्' यह श्रुति साधनचतुष्टयसम्पत्ति होनेपर आश्रमकर्मोंकी अपेक्षा नहीं बतलाती, किन्तु जिस दिन पूर्ण वैराग्य हो जाय उसी दिन संन्यासी हो जाय—यह बोधन करती है। यहां पर संन्यासका तात्पर्य

नन्वभ्युदयवत्साध्या मुक्तिरप्राप्तरूपतः ।
सिषाधयिषया चाऽतोऽधिकारी न बुभुत्सया ॥ १३ ॥

आजकलके संन्यासमें नहीं है, किन्तु मोक्षाधिकारमें है। मोक्षाधिकारी होनेपर कर्माधिकार समाप्त हो जाता है, इसलिए श्रुति कहती है—'त्यागेनैकेऽमृतत्व मानशुः' अर्थात् मोक्ष त्याग हीसे होता है, कर्मादिसे नहीं। गीताके भगवद्-वाक्यसे भी यही सिद्ध होता है—

'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोचयिष्यामि मा शुचः'
'अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।' इत्यादि

सब धर्मोंका त्यागकर अद्वितीयात्मचिन्तनसे समूल संसारदुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति हो जायगी, शोक मत करो इत्यादि। यह निष्कर्ष निकला कि कर्म चित्तशुद्धि द्वारा विविदिषाका कारण है, मोक्षसाधन ज्ञानका कारण नहीं है।]

'नन्वभ्युदयवत्साध्या' इत्यादि।

'मोक्षः कर्मसाध्यः, शास्त्रीयफलत्वात्, स्वर्गवत्' अर्थात् मुक्ति कर्मसाध्य है, शास्त्रीयफल होनेसे स्वर्गकी तरह इस अनुमानसे कर्मसाध्यत्वकी आशङ्का करते हैं। अभ्युदय—स्वर्गादि जैसे अप्राप्त है वह कर्मद्वारा ही प्राप्त होता है वैसेही मोक्ष भी अप्राप्त है अतएव इसकी भी प्राप्ति कर्मसे ही हो सकती है अन्यथा नहीं। सिषाधयिषया—उत्पिपादयिषया अर्थात् कर्मानुष्ठान द्वारा मोक्ष उत्पन्न होता है, ऐसी इच्छावाला मनुष्य मोक्षाधिकारी है न कि बुभुत्सया—ज्ञानेच्छया अर्थात् मुक्त्यभिव्यक्तिकी इच्छासे ॥ १३ ॥

[शङ्का—जैसे स्वर्गादि फल शास्त्रीय होनेसे कार्य है, उसी तरह मोक्ष भी शास्त्रीय फल होनेसे कार्य ही है, नित्य नहीं। कार्य व्यापारके विना नहीं होता, इस कारण मोक्ष भी स्वर्ग-सा जन्य ही है, नित्य नहीं।

यदि कहिए कि मोक्ष शास्त्रीय फल होनेपर भी अकार्य है, तो क्या हानि है? हानि यह है कि जो पुरुष जिस कर्मको अपना कार्य समझता है, वही पुरुष उस कर्मका अधिकारी कहलाता है। मोक्षके अकार्य होनेसे, उसके अधिकारीका लाभ नहीं होगा। अधिकारीके विना मोक्षशास्त्र व्यर्थ हो जायँगे, यह अधिकारीके विवेचनके समय कह चुके हैं। केवल शास्त्र ही में

यह बात नहीं है, किन्तु लोकमें भी ऐसा ही नियम है। जो गृहनिर्माण आदि कार्यको अपना कर्तव्य समझता है, वही गृहनिर्माणकार्यका अधिकारी है। शास्त्र भी लोकन्यायानुसारी है, अन्यथा नहीं। जो पुरुष अभ्युदय-फल तथा तत्साधन नियोग—पुण्य—दोनोंको अपना कर्तव्य समझता है, वही अभ्युदयार्थ यागादि कर्मोंका अधिकारी अपनेको समझ कर यागाद्यनुष्ठान करता है। नित्य कर्मका अधिकारी वह है, जो नियोग ही को अपना कर्तव्य समझता है, क्योंकि उसका फल स्वर्गादि नहीं है, इसीसे नित्य कर्मानुष्ठानजन्य पुण्यको पण्डापूर्व कहते हैं। उस पुण्यसे सुख-दुःखादिरूप फल नहीं होता, अतः नपुंसक पुरुषके सदृश होनेसे वह अपूर्व पण्ड कहलाता है। 'क्लीवः पण्डो नपुंसके' ऐसा कोष है।

इससे यह निश्चित हुआ कि शास्त्रीय फलप्राप्ति कर्माधीन है, इसलिए स्वर्गके समान मुक्ति भी कर्मजन्य ही है, अन्यथा नहीं। केवल अनुमानसे ही यह नहीं कहते, किन्तु श्रुतिसे भी यही अर्थ सिद्ध होता है—'तज्जलानिति शान्त उपासीत' 'स क्रतुं कुर्वीत' विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत' 'आदित्यो ब्रह्मेत्युपासीत' 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इत्यादि श्रुतियोंमें मोक्षफलप्राप्तिके लिए आत्मज्ञानकी विधि भी देखते हैं।

समाधान—यदि मुक्ति कर्मजन्य मानी जाय तो जिस तरह साधनतारतम्यसे स्वर्गादिफल सातिशय तथा अनित्य है, उसी तरह मुक्ति भी सातिशय और अनित्य हो जायगी, तथा स्वर्ग और मुक्तिरूप फलके अधिकारियोंमें वैलक्षण्यरूप फल भी न रहेगा, क्योंकि अनित्य और सातिशय फलकी कामना दोनोंमें समान है, तो फिर कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड तथा पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसाका भेद भी असङ्गत हो जायगा, क्योंकि अधिकारी और फलके भेदसे ही इनका भेद है। जब दोनोंके फल और अधिकारियोंमें वैलक्षण्य ही नहीं है तो शास्त्रभेद भी असङ्गत ही है और श्रुतियोंमें ज्ञान तथा कर्मका स्वरूप श्रेय और प्रेय भेदसे दो प्रकारका बतलाया गया है। मोक्षका साधन ज्ञान जो स्वर्गके साधन कर्मसे विलक्षण है वह श्रेय कहलाता है और स्वर्गसाधन कर्म अर्थात् मोक्ष-साधनसे जो भिन्न है वह प्रेय कहलाता है। प्रायः श्रेय और प्रेय इन दोनोंके साधन ज्ञान और कर्म क्रमसे उत्तरमीमांसा और पूर्वमीमांसाके विषय हैं, क्योंकि ये ही दोनों क्रमसे पुरुषको स्वर्गापर्गमें बांधते हैं, 'विसिनोति बध्नाति इति विषयः' इस व्युत्पतिसे दोनों विषय हैं। इन दोनोंमें जो अपवर्गसाधन ज्ञानका

मैवं साध्याऽप्यसौ मुक्तिः स्वर्गवन्नैव जन्यते ।
किन्त्वभिव्यज्यते बोधात् प्रदीपेन घटो यथा ॥ १४ ॥

श्रवण,मनन आदिसे संचय करता है, वह नित्य मोक्षरूप फल पाता है और जो स्वर्गादिके लिए कर्मोंका अनुष्ठान करता है, वह सातिशय अनित्य स्वर्गादिरूप फल पाता है। आत्मज्ञानशून्य होनेसे नित्य मोक्षफलसे वञ्चित रहता है। और 'परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन' इत्यादि श्रुति भी है। इसका तात्पर्य यह है कि ऐहिक पशु, पुत्र आदि फल और पारलौकिक स्वर्गादि फल कर्मजन्य होनेसे कृषि आदिकी तरह अनित्य हैं, यह अनुमान कर अधिकारी पुरुष निश्चय कर ले कि नित्य फल मोक्ष अनित्य कर्मादि द्वारा प्राप्त नहीं हो सकता। अतः अनित्य फल तथा उनके साधनसे विरक्त होकर, उपनिषद्वाक्योंसे मोक्षका साधन ज्ञान ही है, दूसरा नहीं, यह जानकर समित्पाणि होकर गुरुके पास जाय। व्युत्पन्न होनेपर भी अपने-आप विचार करनेसे ज्ञानप्राप्ति नहीं होती है; क्योंकि लिखा है— 'आचार्यवान् पुरुषो वेद' अर्थात् आचार्य द्वारा शिक्षा मिलनेपर ही आत्मज्ञान होता है, अन्यथा नहीं। समित्पाणिका यह तात्पर्य है कि 'रिक्तहस्तस्तु नोपेयाद् राजानं देवतं गुरुम्' (राजा, देवता तथा गुरुके पास खाली हाथ नहीं जाना चाहिए) कुछ उपहार लेकर ही जाना चाहिए। उपहार योग्यतानुसार ही होना चाहिए। यद्यपि विरक्त श्रोत्रिय गुरुके योग्य उपहार तो हो ही नहीं सकता, तथापि निषेधपालनके लिए लकड़ी, जो सर्वत्र सुलभ है, लेकर जाना चाहिए। गुरु अधीतवेद (जिसने साङ्गवेदाध्ययन किया हो) तथा ब्रह्मज्ञानी होना चाहिए। आजकलकी तरह नहीं। वस्तुतः आजकल ज्ञानप्राप्तिके उद्देश्यसे तो गुरु किए नहीं जाते, किये जाते हैं केवल दीक्षाग्रहणके लिए ही, इसलिए वह विद्वान् ही होना चाहिए, इसकी कोई आवश्यकता नहीं है।]

फिर भी यह शङ्का होती है कि मुक्ति भी स्वर्गके समान साध्य ही है, क्योंकि जैसे अप्राप्त स्वर्गकी प्राप्ति यागादि कर्मोंसे होती है, वैसे ही अप्राप्त मोक्षकी प्राप्ति ज्ञानसे होती है, इसलिए साध्य दोनों हैं, साधनभूत ज्ञान और कर्ममें भले ही भेद हो।

अच्छा, अब यह बतलाइए कि मोक्षकी अप्राप्ति आप वास्तविक समझते हैं या भ्रांतिसे अप्राप्ति समझते हैं। मोक्षकी अप्राप्ति वास्तविक है, यह तो आप ही कह सकते हैं, हम ऐसा नहीं कह सकते। द्वितीय पक्षमें अनुत्पन्नकी उत्पत्ति अभिमत है या अप्राप्तिभ्रमका नाश? पहला पक्ष तो ठीक नहीं है; कारण कि

तमोमात्रान्तरायत्वात्तमसो विद्यया हतेः ।
व्यज्यमानैव सा साध्येत्युपचारात् प्रयुज्यते ॥ १५ ॥

मुक्ति आत्मस्वरूप होनेसे नित्य है, अतः वह कार्य नहीं हो सकती। इसलिए अनुत्पन्नकी उत्पत्ति कहना तो नहीं बनता। इसलिए अप्राप्तिभ्रमका ध्वंस ही कह सकते हैं। जैसे किसी पुरुषके गलेमें माला विद्यमान है, किन्तु उसे वह कहीं खो गई, ऐसा भ्रम हो गया, अतः उसकी प्राप्तिके लिए वह इधर-उधर उसका अन्वेषण करता है। जब किसी दयालु पुरुषको यह ज्ञात होता है कि यह पुरुष भ्रान्तिसे दुःख पा रहा है, तब वह पूछता है—क्यों भाई, क्या खोजते हो? क्यों दुःखी हो? वह कहता है—भगवन्, मेरी सोनेकी माला खो गई है, इसीलिए मैं दुःखी हूँ और उसीको खोज रहा हूँ। तब कृपालु कहते हैं क्यों घबराते हो देखो न, माला तो तुम्हारे गलेमें ही है; यह सुननेपर उसकी भ्रान्ति निवृत्त हो जाती है और माला मिल गई, यह समझ कर वह परम सन्तुष्ट हो जाता है, वैसे ही 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्य द्वारा जब अपनेको शुद्ध ब्रह्मस्वरूप समझ लेता है, तब सांसारिक विविध क्लेशोंसे छुटकारा पा जाता है। स्वर्गसे मुक्तिमें यही विशेष है कि स्वर्ग सातिशय तथा अनित्य है और मुक्ति निरतिशय और नित्य है। इसीसे इनके साधन—ज्ञान और कर्म—भिन्न-भिन्न कहे गए हैं ॥१४॥

इसी तात्पर्यसे कहते हैं—'**तमोमात्रान्तरायत्वात्**' इत्यादि।

तमोमात्र—अज्ञानमात्र ही अन्तराय—मुक्तिमें बाधक है। विद्यासे आवरक अज्ञानकी निवृत्ति होनेसे मुक्तिकी अभिव्यक्ति होती है। इस कारण मुक्तिमें भी औपचारिक साध्यत्वका प्रयोग होता है।

औचारिकवृत्ति गौणीवृत्ति कहलाती है। गुण-सादृश्यसे अन्यके वाचक शब्दका अन्यत्र प्रयोग होता है। जैसे 'सिंहो देवदत्तः' यद्यपि देवदत्त सिंह नहीं है, तथापि सिंहसदृश क्रूर तथा सूर है, इस तात्पर्यसे सिंहसमवेतक्रौर्यादिसदृश क्रौर्यादिका बोधन करानेके लिए औपचारिक सिंहशब्दका प्रयोग देवदत्त आदि मनुष्यमें भी देखा जाता है। जैसे घटादि कार्य कारणव्यापारसे पहले दृष्टिगोचर नहीं होता, किन्तु कारणव्यापारके अनन्तर ही दृष्टिगोचर होता है, अतः कार्य कहलाता है, वैसे ही मुक्ति भी आत्मज्ञानसे पहले नहीं प्रतीत होती, आत्मज्ञानोत्तर प्रतीत होती है। इसलिए कार्यसादृश्यसे उपचारवृत्तिसे उसे कार्य कहते हैं ॥१५॥

चिकित्सयेव सम्प्राप्यं स्वास्थ्यं रोगार्दितस्य तु ।
आत्माविद्याहतेर्बोधात् तत्कैवल्यमवाप्यते ॥ १६ ॥
ब्रह्म वा इदमग्रेऽभूत्तदात्मानमवेत्पुनः ।
अहं ब्रह्मेति तस्मात्तत्सर्वमासीदिति श्रुतिः ॥ १७ ॥
यो ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवत्येप इति श्रुतिः ।
सुषुप्तनरवच्छ्रुत्या बोध्यते प्रेर्यते न तु ॥ १८ ॥
प्रेर्यतेऽभ्युदये कर्त्ता नृतन्त्रे विधिवाक्यतः ।
किमत्र विधिना कार्यमनृतन्त्रे चिदात्मनि ॥ १९ ॥

इसी अर्थको स्फुट करनेके लिए कहते हैं—'चिकित्सयेव' इत्यादि ।

जिस तरह रोगदशामें रोगीका स्वास्थ्य अभिभूत होनेसे ठीक नहीं है, ऐसा लोग कहते हैं, किन्तु चिकित्सा करनेपर जब अभिभावक रोग निवृत्त हो जाता है तब लोग कहते हैं—स्वास्थ्यका लाभ हुआ । परन्तु अलब्धस्वास्थ्यका लाभ नहीं हुआ, पूर्व भी स्वास्थ्य था, उसीकी रोगनिवृत्तिसे अभिव्यक्ति हुई । उसी तरह अज्ञान-निवृत्तिसे मुक्तिकी अभिव्यक्ति होती है ॥१६॥

मुक्तिके आत्मस्वरूप होनेसे वह नित्य प्राप्त ही है, इसमें प्रमाण कहते हैं—'ब्रह्म वा' इत्यादिसे । 'ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्' (सृष्टिके पूर्वमें यह जगत् केवल ब्रह्मरूप ही था) 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' (ब्रह्म होकर ही ब्रह्मको प्राप्त होता है) 'तदात्मानमवेत्' (अपने स्वरूपभूत आत्माको पहिचाने) 'अहं ब्रह्मास्मि' (मैं ब्रह्म हूँ) 'तत् सर्वमासीत्' (सब ब्रह्म ही था) इत्यादि श्रुतियाँ तथा 'यो ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' (ब्रह्मको जाननेवाला ब्रह्म ही हो जाता है) इत्यादि श्रुतियाँ मुक्तिको स्वयंप्राप्त नित्य आत्मस्वरूप ही बतलाती हैं, परन्तु विशेष यह है कि जैसे सुषुप्त पुरुष पार्श्वस्थित पुरुष द्वारा हाथसे हिलाकर जगाया जाता है, प्रेरित नहीं किया जाता, वैसे ही 'तत्त्वमसि' आदि श्रुतियोंसे जीवात्माको अपने स्वरूपकी अवगति कराई जाती है, अर्थात् तुम संसारी जीव नहीं हो, किन्तु साक्षात् ब्रह्मस्वरूप ही हो, इस प्रकार उसको ज्ञान कराया जाता है, कोई अपूर्व कार्य नहीं कराया जाता है, यह भाव है ॥१७, १८॥

शङ्का—जैसे 'स्वर्गकामो यजेत' (स्वर्गकी अभिलाषा करनेवाला यज्ञ करे) इत्यादि श्रुतियोंसे स्वर्गसाधन यज्ञका विधान किया जाता है, वैसे ही 'प्रज्ञां कुर्वीत'

जिज्ञासोरधिकारोऽतो न सिपाधयिषोरिति ।
सुस्थमेतदथैतस्य दार्ढ्यायैच मतान्तरम् ॥ २० ॥
पर आहात्मनः स्वास्थ्यं श्रेयो यद्यभिवाञ्छसि ।
कर्मभ्य एव तत्सिद्धयेच्छ्रुतत्वात् कर्मणः श्रुतौ ॥ २१ ॥

इत्यादि श्रुतियोंसे प्रज्ञाका अर्थात् ब्रह्मज्ञानका विधान किया जाता है, ऐसी अवस्थामें ब्रह्मज्ञानका विधान नहीं है, यह कैसे कह सकते हैं ?

उत्तर—यह ठीक है, परन्तु कर्मोंके पुरुषतन्त्र होनेके कारण उनका अनुष्ठान या विधान हो सकता है, परन्तु ज्ञान तो पुरुषतन्त्र नहीं है, अतः उसका विधान नहीं हो सकता, इसलिए यद्यपि 'प्रज्ञां कुर्वीत' इस प्रकार विधि श्रुत है, तथापि वह विधि ब्रह्मज्ञानमें प्रयोजक पदार्थविवेकके लिए है, न कि ब्रह्मज्ञानके लिए । इसीको 'प्रेर्यतेऽभ्युदये' इत्यादिसे कहते हैं—

श्लोकका तात्पर्य यह है कि अपुरुषतन्त्र अभ्युदयमें अर्थात् पुरुषाधीन स्वर्गादि अभ्युदय फलके लिए विधिवाक्यसे पुरुष प्रेरित किया जाता है, पुरुषतन्त्र चिदात्मामें विधिका क्या प्रयोजन है ? अर्थात् उसमें विधिकी सम्भावना हो ही नहीं सकती ॥ १९ ॥

आत्मज्ञानकी जब विधि है ही नहीं, तो यही फलित होता है कि वेदान्तमें तत्त्वजिज्ञासुका ही अधिकार है सिपाधयिषुका नहीं, यद्यपि यह विषय निश्चित है, तथापि इस विषयकी अधिक दृढ़ताके लिए निम्नलिखित ग्रन्थसे मतान्तर भी कहते हैं ॥ २० ॥

'नष्टाश्वदग्धरथवत्' न्यायसे अर्थात् जैसे अपने-अपने रथको लेकर युद्धमें गये हुए दो योद्धा रथियोंमें से एकके घोड़े और दूसरेका रथ नष्ट हो गया । दोनों गतिशून्य हो गये । सामनेसे शत्रुका भय है । ऐसी अवस्थामें जिसके पास घोड़े हैं उसको रथकी आवश्यकता है और जिसके पास रथ है उसको घोड़ोंकी आवश्यकता है । वे दोनों योद्धा आपसमें एकमत होकर एकके घोड़े और दूसरेके रथसे अपना काम कर लेते हैं । और दोनों रथी हो जाते हैं और युद्धमें विजय पाते हैं, इसी तरह प्रकृतमें नित्य कर्मोंके बोधक वाक्योंकी मोक्षफलबोधक वाक्योंके साथ एकवाक्यता होनेपर दोनों वाक्य अनुष्ठेयार्थके प्रकाशक होनेसे सार्थक हो जाते हैं, इसलिए मोक्षको जन्य ही

न च कर्मातिरेकेण मुक्त्यभ्युदयसाधनम् ।
निषेधविधिमात्रत्वाद्वेदार्थस्येह सर्वतः ॥ २२ ॥
वचसामक्रियार्थानां विधिनैवैकवाक्यताम् ।
जैमिनिर्न्यायदृक्चाह नाऽतः स्वार्थे प्रमाणता ॥ २३ ॥

मानना उचित है, नित्य नहीं । स्वाध्यस्वरूप श्रेयकी अर्थात् कैवल्यकी यदि इच्छा हो, तो वह कैवल्य भी कर्मसे ही सिद्ध होगा, उसकी प्राप्तिके लिए दूसरा उपाय नहीं है, क्योंकि श्रुतियोंमें तथा स्मृतियोंमें पुरुषार्थका साधन कर्म ही श्रुत है, दूसरा नहीं ॥२१॥

कर्मसे अतिरिक्त ज्ञानादि कोई भी उपाय मुक्ति तथा स्वर्गके साधन नहीं हैं, कारण कि सम्पूर्ण वेद विधि-निषेधात्मक है अर्थात् कर्तव्यार्थ और अकर्तव्यार्थका बोधक है । और ये ही दो पुरुषार्थके साधन हैं । सिद्ध अर्थका कहीं विधान नहीं है, क्योंकि वह पुरुषार्थका साधन नहीं है ।

श्रुतियोंमें और स्मृतियोंमें जहां कहीं देखिए सब जगह सुखप्राप्ति और दुःख-निवृत्तिका साधन कर्म ही माना गया है । पुरुषार्थके साधन ज्ञानादिका विधान कहीं भी नहीं है । 'तरति शोकमात्मवित्' इत्यादि वाक्योंसे आत्मज्ञान भी पुरुषार्थका साधन है, ऐसा प्रतीत होता है, पर पूर्वोक्त रीतिसे वह विधेय नहीं है । श्रुति और स्मृतिमें कर्मके सिवा पुरुषार्थके अन्य साधनका विधान न होनेपर भी कर्मातिरिक्त पुरुषार्थके साधनका विधान ही नहीं है, यह निर्णय करना ठीक नहीं है; क्योंकि बौद्धागमोंमें भी श्रेयःसाधनका विधान है ही । हाँ, ठीक कहते हो, है, पर वह वैदिकसंप्रदायवालोंको मान्य नहीं है । श्रुति आदिसे विहित कर्म ही पारलौकिक पुरुषार्थके साधन हैं, बौद्धादि शास्त्रोक्त कर्म पुरुषार्थके साधन नहीं हैं, यह इनका परम सिद्धान्त है और विचारपूर्वक देखनेसे भी यह निर्णय होना स्वाभाविक है कि सम्पूर्ण वेद विधिनिषेधतच्छेषपरक ही है, उसमें कहींपर भी विधेयकर्मातिरिक्त पुरुषार्थसाधनका निरूपण नहीं है ॥२२॥

यदि नहीं है, तो 'परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान्' इत्यादि पूर्वोक्त श्रुतियां कर्मातिरिक्त पुरुषार्थसाधनभूत ज्ञानका निरूपण करती हैं, यह पहले दिखला चुके हैं, उनकी क्या गति होगी ? यह गति होगी कि उनको अर्थवादवाक्य मानकर, विधि-निषेध-बोधक वाक्यके साथ उनकी एकवाक्यता कर उन्हें सार्थक मानना

होगा, जैसी और अर्थवादवाक्योंकी गति है, वैसी ही इनकी भी गति होगी। जैमिनि आचार्यने यह स्पष्ट कहा है—

'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्' (सम्पूर्ण वेद फलके हेतु कर्तव्यार्थ-का ही बोधक है, जिन वाक्योंका कर्तव्य अर्थ नहीं है, वे अप्रमाण हैं) इस प्रतिज्ञासे सब अर्थवाद वाक्य अप्रमाण हो जायँगे, जैसे 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता' 'सोऽरोदीत्' इत्यादि हैं। इनका अर्थ कर्तव्याकर्तव्य कुछ नहीं है, 'वायु शीघ्रगामिनी देवता है', 'वह रोया' इत्यादि सिद्धार्थ वस्तु ही इनका अर्थ है। इसी बातको स्पष्ट करनेके लिए 'वचसाम०' इत्यादि श्लोक कहते हैं।

अर्थवादवाक्योंका अर्थात् अकर्तव्यार्थबोधक वाक्योंका विधिवाक्योंके—कर्तव्यार्थ बोधक वाक्योंके—साथ एकवाक्यता जैमिनि आचार्यने कही है, इस कारण अर्थवादवाक्य स्वार्थमें प्रमाण नहीं है।

यदि ये अर्थवाद सर्वथा अप्रामाण होते, तो फलवदर्थक वाक्यके अध्ययनका विधान करनेवाली 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस श्रुतिसे अर्थवादवाक्योंका अध्ययन ही विहित न होता, क्योंकि इन वाक्योंके अर्थका कुछ फल ही नहीं है, फल तो कर्तव्य अर्थका ही हो सकता है। वह तो है ही नहीं; किन्तु अध्ययन तो विहित है, इस पूर्वपक्षकी निवृत्तिके लिए फिर कहा—**विधिनैवैकवाक्यताम्**।

यद्यपि इन वाक्योंका साक्षात् कर्तव्यार्थ नहीं है, तो भी कर्तव्यार्थबोधक विधि-निषेधवाक्योंके साथ एकवाक्यता कर इनका भी परम्परया कर्तव्य अर्थ होता है। जैसे 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता' यह वाक्य पुरुषार्थसाधनबोधक विधि वाक्यकी अपेक्षा करता है, अन्यथा स्वाध्यायाध्ययनका विधान ही असंगत हो जायगा, वैसे ही 'वायव्यं श्वेतं पशुमालभेत्' यह वाक्य स्वविधेय वायव्य-यागकी स्तुतिकी अपेक्षा करता है। आलस्य आदिसे जो पुरुष वायव्य यागमें प्रवृत्त नहीं होता, उसकी प्रवृत्ति होनेके लिए स्तुतिकी अपेक्षा है, यदि उसको यह मालूम हो जाय कि वायव्य यागका फल अतिशीघ्र तथा अवश्य प्राप्त होता है, तो आलस्य आदिका त्यागकर वह अवश्य वायव्य यागमें प्रवृत्त होगा; अतः विधिवाक्य स्तावकवाक्यकी अपेक्षा करता है और स्तावकवाक्य फलबोधक विधिवाक्यकी अपेक्षा करता है, इस तरह परस्पर सापेक्ष होनेसे प्रकरणसे दोनोंका परस्पर सम्बन्ध होता है। उभयाकाङ्क्षा प्रकरण कहलाती है। एकवाक्यतासे यह अर्थ होता है कि जिस तरह वायुदेवता शीघ्रगामिनी है, उसी तरह शीघ्र फलप्रद भी है। इसलिए वायव्य याग अवश्य अनुष्ठेय है।

इसी तरह 'सोऽरोदीत्' इस निन्दावाक्यको प्रतिषेधबोधक वाक्यकी अपेक्षा

है, क्योंकि किसी पदार्थकी निन्दा निरर्थक नहीं की जाती। परिवर्जनके लिए निन्दाकी आवश्यकता होती है। निन्दासे तो कुछ पुरुषार्थ हो नहीं सकता। परिवर्जनसे अनिष्टनिवृत्ति हो सकती है, इसलिए 'सोऽरोदीत्' यह निन्दावाक्य 'बर्हिषि रजतं न देयम्' इस बर्हिसे—कुशसे—उपलक्षित यागमें रजतदानप्रतिषेधबोधक वाक्यकी अपेक्षा करता है। 'बर्हिषि रजतं न देयम्' इस निषेधवाक्यको निन्दा-बोधक वाक्यकी अपेक्षा है। अनिन्दित निषिद्ध नहीं हो सकता। इसलिए पूर्वोक्त 'नष्टाश्वदग्धरथवत्' न्यायसे दोनोंका परस्पर सम्बन्ध होता है। एक-वाक्यतासे उनका यह अर्थ होता है—चूंकि रजत रोदनप्रभव अश्रुजन्य है, इस कारण यागमें रजत दक्षिणा नहीं देनी चाहिए। अन्यथा—यागमें रजत देनेसे—वर्षके भीतर दाताके घरमें अवश्य रोदन होता है। इसलिए उक्त यागमें रजत नहीं देना चाहिए।

इस तरह सिद्धार्थबोधक वेदान्तवाक्योंका यागाङ्ग कर्तृदेवताके स्वरूपके निरूपण द्वारा यागबोधक वाक्यके साथ एकवाक्यता कर कर्तव्यार्थबोधक होनेसे प्रामाण्य हो सकता है; अन्यथा नहीं। यदि कहिए कि 'वायुर्वै' इत्यादि वाक्य कर्मप्रकरणमें पठित हैं, इसलिए उनकी विधिवाक्यके साथ एकवाक्यता हो सकती है। वेदान्तवाक्य तो भिन्न प्रकरणमें पठित हैं, अतः इनकी कर्मविधिके साथ एकवाक्यता विवक्षित नहीं है। यदि विवक्षित होती, तो पूर्वोक्त अर्थवादके समान इनका भी कर्मप्रकरणमें ही पाठ उचित होता; फिर प्रकरणान्तरमें पाठ क्यों किया? यह शङ्का हो सकती है। यदि प्रकरणान्तरके भयसे वेदान्तवाक्योंका कर्मविधिबोधक वाक्यके साथ एकवाक्यता न मानी जाय, तो फलशून्य वेदान्तवाक्यका अध्ययन ही व्यर्थ हो जायगा, क्योंकि धर्मशास्त्रमें भी लिखा है—'न कुर्यात् निष्फलं कर्म'। इसलिए—सर्वथा वैयर्थ्यपरिहारके लिए एकवाक्यता ही श्रेष्ठ है। परस्पर सम्बन्ध होनेसे प्रकरणान्तर भी नहीं कह सकते। विभिन्न वाक्य माननेपर वाक्यभेद हो जायगा। एकवाक्यता होनेपर वाक्यभेद मानना अनुचित है।

यदि कहिए कि अर्थवाद तो निष्फल है, अतः वह फललाभके लिए विधि-वाक्यकी अपेक्षा करता है, वेदान्तवाक्योंका तो नित्य मोक्ष फल है इस परिस्थितिमें वे अनित्य तथा सातिशय फलबोधक कर्मविधिवाक्योंकी अपेक्षा ही क्यों करेंगे? यह कहना तभी ठीक होता जब कि वेदान्तका नित्य मोक्ष फल होता। नित्य मोक्ष तो कोई पदार्थ ही प्रमाणसिद्ध नहीं है, अतः वह वेदान्तका फल कैसे हो सकता है?

कर्मापेक्षाऽपि नानित्या मुक्तिर्जन्यत्ववर्जनात् ।
शिष्यते केवलं स्वास्थ्यमस्वास्थ्यस्य चिकित्सने ॥ २४ ॥
निषिद्धकाम्ययोस्त्यागात् कर्मणोर्नित्यकर्मणः ।
करणात् प्रत्यवायस्य हतेश्चास्य चिकित्सनम् ॥ २५ ॥

हाँ, यदि कर्मविधिके साथ वेदान्तवाक्यकी एकवाक्यता मानिए, तो स्वर्गविशेषात्मक अनित्य मोक्ष फल भी हो सकता है । कर्मविधिके साथ एकवाक्यता माननेपर मोक्ष नित्य क्यों नहीं हो सकता? इसलिए नहीं हो सकता कि कर्मजन्यत्व और अनित्यत्वकी व्याप्ति निश्चित है—जो कर्मजन्य होता है वह अनित्य होता है, जैसे कृष्यादि । यदि मोक्ष कर्मजन्य है, तो वह कृष्यादिके समान अवश्य ही अनित्य है ऐसा कहें, तो यह भी ठीक नहीं है जो कर्मजन्य होता है, वह अनित्य होता है, ऐसा माननेपर श्रुतिविरोध होगा 'न हास्य कर्म क्षीयते' इस श्रुतिसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि कर्मजन्यमात्र अनित्य नहीं है कोई कर्मजन्य भी नित्य होता है, इसलिए मुक्ति कर्मजन्य होनेपर भी नित्य हो सकती है ॥ २३ ॥

मोक्ष कर्मजन्य होनेपर भी अनित्य नहीं है । अस्वास्थ्यकी चिकित्सासे पूर्वसिद्ध स्वास्थ्यकी अभिव्यक्तिकी तरह रोगसदृश अज्ञान की निवृत्ति होनेपर पूर्वसिद्ध आनन्दरूप स्वरूप अभिव्यक्त होता है, ऐसा माननेमें कोई दोष नहीं है ।

दोष यह है कि 'न हास्य कर्म क्षीयते' यह श्रुति उपासनाकी स्तुतिपरक है, कर्मजन्य फलकी नित्यताका प्रतिपादन नहीं करती है । 'अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः' इत्यादिके समान जिस अर्थमें जिस वाक्यका तात्पर्य होता है, उसीमें वह प्रमाण होता है, अन्यत्र नहीं, इसलिए कर्मजन्यत्व और अनित्यत्वकी व्याप्ति निश्चित है, अतः मोक्ष यदि कर्मजन्य होगा तो अविनश्वर न होगा । यदि ऐसा ही है, तो यह कहना भी अनुचित ही है कि मोक्षका कोई साधन ही नहीं है । अवश्य ऐसा कहना अनुचित है, क्योंकि 'मोक्षः ससाधनः, पुरुषार्थत्वात्, स्वर्गवत्' इस अनुमानसे मोक्षका कोई साधन अवश्य सिद्ध हो सकता है । परिशेष और वेदान्तप्रसिद्धिसे आत्मज्ञान ही उसका साधन है, यह विशेष निश्चय होता है । परिशेषका स्वरूप है—'प्रसक्तप्रतिषेधेऽन्यत्राप्रसङ्गाच्छिष्यमाणे संप्रत्ययः' । प्रकृतमें मोक्षसाधनके लिए ज्ञान और कर्म दोनों ही प्रसक्त हैं, कर्मका निषेध होनेपर ज्ञान ही शेष रहा, इसलिए ज्ञान ही मुक्तिका साधन है, ऐसा मानना

काम्यकर्मपरित्यागाद्देवादित्वं न ढौकते ।
निषिद्धस्य निरस्तत्वान्नारकीं नैत्यधोगतिम् ॥ २६ ॥
नित्यानुष्ठानतश्चेमं प्रत्यवायो न संस्पृशेत् ।
आगामिजन्मनोऽसत्त्वे निर्विघ्नं स्वास्थ्यमिष्यताम् ॥ २७ ॥
शरीरारम्भकं कर्म भोगेन क्षीयते ततः ।
विनाऽप्येकात्मसम्बोधान्मुक्तिः सिद्धाऽन्तरात्मनः ॥ २८ ॥

चाहिए और 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' इत्यादि वेदान्त-प्रसिद्धि भी है। अतः मुक्ति यद्यपि नित्य है, तो भी वह प्रतिबन्धक अज्ञानकी निवृत्तिके लिए ज्ञानकी अपेक्षा करती ही है, यह कथन भी ठीक नहीं है, कारण कि परिशेषसे ज्ञान साधन है, यह तब कह सकते हैं जब कि कर्ममें साधनताका बाध हो। परन्तु बाध तो है नहीं, क्योंकि कर्मजन्य होनेपर भी मुक्ति नित्य हो सकती है, ऐसा कहते हैं—'निषिद्धकाम्ययोः' इत्यादि ।

निषिद्ध सुरापान आदि तथा काम्य सोमयाग आदि कर्मका त्याग करनेसे नित्यकर्म सन्ध्यावन्दनादि करनेसे प्रत्यवायरूप पापकी उत्पत्ति न होनेसे मुक्ति हो जायगी ॥ २४—२७ ॥

पूर्वजन्मोपार्जित शुभ और अशुभ कर्मोंसे शरीरका आरम्भ होता है। शरीरमें अहंमाभिमानी जीव भोक्ता है। यदि दैवात् वह मुमुक्षु हो, तो उसे निषिद्ध कर्मोंके त्यागसे नरकादि दुःखभोग करानेवाली योनि नहीं हो सकती, स्वर्गादि काम्य कर्मोंका त्याग करनेसे स्वर्गके लिए स्वर्गीय शरीर न होगा और नित्यकर्मानुष्ठानसे प्रत्यवायकी निवृत्ति होगी। वर्तमान शरीरारम्भक कर्मोंका भोगसे नाश होनेपर देहावसानके बाद फिर शरीर होनेका कोई कारण नहीं है। शरीरके बिना दुःख नहीं हो सकता, अतः आत्यन्तिक दुःखोच्छेद अनायास ही सिद्ध हो जायगा। ऐकात्म्य-ज्ञानकी अपेक्षा नहीं होगी, ज्ञानोत्पत्तिप्रतिबन्धक कर्मोंके अभावसे ज्ञानोत्पत्ति होती है। उसीसे मोक्ष होता है। यह भी नहीं कह सकते कि देहसम्बन्ध ही बन्धन है, देहसम्बन्ध कर्मनिमित्तक है। कर्मकी निवृत्ति होनेसे देहसम्बन्ध निवृत्त हो जाता है और देहसम्बन्धके निवृत्त होनेसे दुःखसम्बन्ध निवृत्त हो जाता है, क्योंकि 'निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः' ऐसा न्याय है, अतः आत्यन्तिक दुःखनिवृत्तिरूप मोक्षको कर्मजन्य ही मानना उचित है, ज्ञानजन्य मानना ठीक नहीं है।

स्वात्मनः कर्मशेषत्वे तद्धियः कर्मशेषता ।
अर्थवादो भवेत् सर्वमात्मज्ञानफलं श्रुतम् ॥ २९ ॥

ऐसा माननेपर श्रुतिविरोध होगा, क्योंकि श्रुतिमें ज्ञान ही मोक्षसाधन है, ऐसा कहा गया है। 'तरति शोकमात्मवित्' 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' 'निचाय्य तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते' इत्यादि—श्रुतार्थका त्यागकर अश्रुतार्थकी कल्पना अनुचित भी है ॥२८॥

'स्वात्मनः कर्मशेषत्वे' इत्यादि। आत्मा कर्मशेष है, अतः आत्मज्ञान भी कर्मशेष ही है । इसलिए सब ज्ञानफल अर्थवाद है और अर्थवादका स्वार्थमें प्रामाण्य नहीं है, यह कह चुके हैं । अतः श्रुतिमें जो आत्मज्ञानका फल है, वह अर्थवाद है । 'द्रव्यसंस्कारकर्मसु परार्थत्वात् फलश्रुतिरर्थवादः स्यात्' यह जैमिनिका सूत्र है । इसका भावार्थ यह है कि 'यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोति' । इत्यादि वाक्योंसे जुह्वादिके प्रकृतिस्वरूप पर्ण द्रव्यकी अपापश्लोकश्रवणरूप पुरुषार्थके लिए विधि है ।

यद्यपि 'न शृणोति' यह वर्तमानार्थक होनेसे विधायक नहीं हो सकता, दूसरा तो कोई विधायक पद है नहीं, तो भी जिस तरह 'आरोग्यकामः पथ्यमश्नाति' इस वाक्यसे आरोग्य और पथ्याशनमें साध्यसाधनभावकी प्रतीति होती है, उसी तरह पर्णमयी जुहू और पापश्लोकश्रवणाभावमें भी साध्यसाधनभावकी प्रतीति होती है, इसलिए पुरुषार्थकी विधि है, ऐसा पूर्वपक्ष होनेपर सिद्धान्त करते हैं कि लौकिक साध्यसाधनभाव प्रत्यक्षादि प्रमाणसे आरोग्य और पथ्य अशनमें प्रमित हैं, अतः साध्यसाधनभावबोधक पदके बिना भी वाक्यसे वह प्रतीत हो सकता है । प्रकृतमें साध्यसाधनभाव केवल शास्त्रसे समधिगम्य है; किन्तु तद्बोधक शास्त्र है नहीं, इसलिए विधि नहीं है, अर्थवाद है । इसी तरह 'यदङ्क्ते चक्षुरेव भ्रातृव्यस्य वृङ्क्ते' यह संस्कारविधि है । 'यत् प्रयाजा अनुयाजा इज्यन्ते वर्म वा एतद् यज्ञस्य क्रियते' यह कर्मोदाहरण है । ये सब अर्थवाद हैं । इन वाक्योंका जिस तरह विधिमें तात्पर्य नहीं है, उसी तरह 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' 'तरति शोकमात्मवित्' इत्यादि वाक्योंसे आत्मज्ञानका फल मोक्ष है, इस अर्थमें—तात्पर्य्य ही नहीं है, अतः श्रुतिसे आत्मज्ञानमें साधनत्व ही प्रतीत नहीं होता । पूर्वोक्तानुमानसे मोक्ष ससाधन है, इसलिए कर्म ही को उसका साधन माननेमें श्रुतिविरोध नहीं है, इस तात्पर्यसे लिखते हैं 'स्वात्मनः कर्मशेषत्वे' इत्यादि ॥२९॥

स्वरूपेऽवस्थितिर्मुक्तिरात्मनः सा च साधनात् ।
सिध्यतीति वदन् पूर्ववादी कस्मान्न लज्जते ॥ ३० ॥

जैसे पर्णादि द्रव्य क्रतुसम्बन्धी जुहू द्वारा कर्माङ्ग है, अतः पर्णताकी पाप-श्लोकश्रवणाभावरूप फलश्रुति अर्थवाद है, वैसे ही कर्मसम्बन्धी अर्थात् कर्माङ्ग पुरुषज्ञान भी पुरुष द्वारा कर्माङ्ग है; उसमें फलश्रुति अर्थवाद है। सभी आत्मज्ञानके फल—अविद्यानिवृत्ति और मोक्षप्राप्त्यादिरूप—अर्थवाद हैं, वास्तविक नहीं हैं।

शङ्का—पुरोडाशादि द्रव्य यागसंपादक होनेसे यागाङ्ग हैं। द्रव्य और देवता दो ही यागके स्वरूप हैं। आत्मा तो यागफलका भोक्ता है। साक्षात् यागाङ्ग नहीं है, अतः यागके अङ्गभूत आत्माका संस्कारक ज्ञानरूप फल अर्थवाद है, यह कहना ठीक नहीं है।

उत्तर—पुरोडाशादिकी भाँति आत्मा साक्षात् कर्माङ्ग न सही, किन्तु जुहू द्वारा जैसे पर्णमयीत्व यागाङ्ग है, वैसे ही कर्मकर्तृ पुरुष भी कर्तृतया कर्मशेष है, अतः तत्संस्कारक ज्ञानरूप फल भी अर्थवाद ही है। जुहू और क्रतुका संवन्ध अव्यभिचरित है; क्रतुसे अन्यत्र जुहूका संवन्ध ही नहीं है। क्रतुसंवन्धी होमसाधन ही जुहू कहलाता है। पुरुषका यागके साथ अव्यभिचरित संबन्ध नहीं है। जो याग नहीं करते वे भी तो पुरुष हैं, इस विशेषपर दृष्टि न देकर यह पूर्वपक्ष किया है। अथवा सम्बन्धमात्र विवक्षित है, अव्यभिचरित संबन्ध नहीं। अथवा यागकर्त्ता पुरुषका यागके साथ सम्बन्ध अव्यभिचरित है, अर्थवाद सर्वत्र विधिशेष ही दृष्ट है। 'वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः' इस विधिका शेष 'वायुर्वै' यह अर्थवाद है। प्रकृतमें ज्ञानके पूर्वोक्त रीतिसे वस्तुतन्त्र होनेसे यदि उसमें विधि ही नहीं है, तो फिर श्रुति अर्थवाद कैसे हो सकती है? जैसे प्रोक्षण संस्कारक होनेसे विधिशेष है, वैसे ही प्राशस्त्यबोधन द्वारा विधिशेष न होनेपर भी संस्कारक होनेसे उसके विधिशेष होनेमें कोई बाधा नहीं है।

मुक्ति कर्मजन्य है, इसकी उपपत्ति जो आपने की है वह ठीक नहीं है, क्योंकि एक ही जन्मके पुण्य और पापोंसे यदि शरीरारम्भ होता, तो यह कह सकते कि पूर्व अदृष्टोंकी निवृत्ति भोगसे हो जायगी, काम्य कर्म नहीं करेंगे, इसलिए स्वर्गीय शरीर न होगा और नित्यकर्मानुष्ठानसे प्रत्यवाय भी नहीं होगा। भोगसे वर्तमान शरीरारम्भक कर्मोंकी निवृत्ति होनेके कारण शरीरके निवृत्त होनेसे ही मुक्ति हो जायगी। यदि ऐसा कहें, तो यह भी ठीक

नहीं है, कारण कि अनेक जन्मोंके पुण्य और पापोंको भोगनेके लिए अगणित शरीर धारण करने पड़ेंगे। उन शरीरोंसे रागद्वेषादिमूलक प्रवृत्ति द्वारा कितने पुण्य और पाप होंगे, इनकी संख्या नहीं हो सकती। इसी कारण योगी लोग अनेक शरीर धारण करते हैं। जिससे अनेक जन्मोंके भोगयोग्य कर्मोंका एक ही जन्ममें अनेक शरीर द्वारा भोग हो जाय। अतः भोगसे निश्शेष कर्म-नाशकी आशा नहीं है और सामग्रीके वैलक्षण्यसे कार्यका वैलक्षण्य होता है, यह लोक तथा शास्त्रसे सिद्ध नियम है। अविवेकपूर्वक कर्मानुष्ठान स्वर्गाद्यभ्युदयका हेतु है एवं विवेकपूर्वक ज्ञान मोक्षसाधन है। यदि यह सर्वसंमत मार्ग है, तो अनित्य स्वर्गादि और नित्य मोक्ष ये दोनों विलक्षण कार्य कर्मसे कैसे हो सकते हैं? यदि मुक्तिको भी अनित्य ही मानें, तो ऐसा हो सकता है। पर मुक्ति नित्य है, यह आपको भी मान्य है; अन्यथा उसे भी स्वर्गविशेषरूप ही कहना पड़ेगा। ऐसी परिस्थितिमें इन दोनोंमें जो प्रसिद्ध भेद है, वह असंगत हो जायगा इत्यादि दोष अनिवार्य होगा। और आपने भी मुक्तिको नित्य मानकर यह कहा है कि जैसे रोगी पुरुषके स्वास्थ्यके रोगादिसे अभिभूत होनेपर वह अस्वस्थ कहलाता है, औषध सेवनादि क्रियासे रोगका नाश होनेपर उसे पूर्व स्वास्थ्यका लाभ होता है, अपूर्व स्वास्थ्योत्पत्ति नहीं होती। उसमें कर्म द्वारा स्वरूपाभिभव होता है, भोगादिसे कर्मनाश होता है और उससे पूर्व आत्मस्वरूपकी अभिव्यक्ति होती है इत्यादि।]

आत्माकी अपने स्वरूपमें अवस्थिति मुक्ति है, वह स्वरूपावस्थिति साधनसे होती है, यह कहता हुआ वादी क्यों नहीं लजाता? कारण कि इससे यह प्रतीत होता है कि संसारदशामें आत्मा स्वरूपमें अवस्थित नहीं है, इसलिए स्वस्वरूपमें हेतु द्वारा अवस्थित होनेकी चेष्टा करता है; यदि यह सत्य है, तो वह आत्मस्वरूप ही नहीं हो सकता।

जो हेतुसापेक्ष है, वह आगन्तुक और अनित्य है। आत्मस्वरूप नित्य है, यह सब श्रुति, स्मृति आदि प्रमाणोंसे सिद्ध है। तथा अनुमानसे भी यह सिद्ध है—'यत् कर्मानुष्ठानेन उपस्थापितं तन्न आत्मस्वरूपम्, आगन्तुकत्वात्, धर्मादिवत्' अर्थात् जो स्वरूप कर्मानुष्ठानसे प्राप्त होता है, वह आगन्तुक होता है, धर्मादिवत् आत्मस्वरूप नहीं होता। इसी बातको—'स्वरूपे' इत्यादिसे कहते हैं। स्वरूपे—स्वस्वरूपे अवस्थितिः अर्थात् अपने-अपने स्वरूपमें जो अवस्थिति है, वह स्वस्वरूपाभिव्यक्ति अर्थात् मोक्ष है, वह आत्मस्वरूपावस्थिति कर्मानुष्ठानादि कारण द्वारा होती है, ऐसा कहनेवाला क्यों नहीं लजाता, लज्जाका कारण यह है कि स्वयं वह अपने वाक्यका अर्थ नहीं समझता।

तत्रात्मा किं स्वरूपे प्राङ् न तस्थावुत तस्थिवान् ।
आद्ये तन्न स्वरूपं स्यादात्मनः सर्वदाऽसतः ॥ ३१ ॥
अथावस्थित एवाऽयं किमर्थं हेतुमार्गणम् ।
स्थितत्वहेत्वपेक्षायामनिर्मोक्षः प्रसज्यते ॥ ३२ ॥
विषयाभ्यासजास्वास्थ्यनुत्त्यर्थं हेतुमार्गणम् ।
इति चेद्विषयाभ्यासो निर्हेतुर्वाऽथ हेतुमान् ॥ ३३ ॥

आगन्तुक नित्य नहीं होता, यह जाननेपर 'आगन्तुक नित्य होता है' ऐसा कोई समझदार कह नहीं सकता, ऐसा कहनेमें स्वयं लज्जा होती है। पर पूर्वपक्षी ऐसा कहनेपर भी नहीं लजाता। इसका कारण क्या है? अर्थात् उसकी मूर्खता है॥३०॥

इसीको समझानेके लिए पूर्वपक्ष करते हैं—'तत्रात्मा किं स्वरूपे' इत्यादिसे। मुक्तिसे पहले अर्थात् संसारदशामें आत्मा अपने स्वरूपमें स्थित नहीं था या था? यदि नहीं था, तो जो सर्वदा नहीं है अर्थात् आगन्तुक है वह आत्मस्वरूप ही नहीं हो सकता।

[अर्थात् आत्मा अपने स्वरूपावस्थितिसे पहले है या नहीं? यदि नहीं है, तो वह आत्मस्वरूप ही नहीं हो सकता, कारण कि वह स्वरूप आगन्तुक—अनित्य है। आत्माका स्वरूप नित्य है। नित्य अनित्यात्मक कैसे हो सकता है? नित्य वही है जो सदा रहता है। जो सदा न नहीं रहता वह आत्मस्वरूप नहीं हो सकता।] ॥३१॥

यदि—द्वितीय पक्ष—'था' यह—कहें, तो कारण खोजनेकी क्या आवश्यकता है? यदि स्थितिके लिए कारणकी आवश्यकता है, तो मुक्ति हो ही नहीं सकती। प्रथम पक्ष मानकर अर्थात् मुक्तिसे पहले आत्मा अपने स्वरूपमें स्थित नहीं था, यह मानकर यदि कहें, तो कर्मानुष्ठानादि व्यर्थ होंगे; क्योंकि अप्राप्त की प्राप्तिके लिए ही अनुष्ठान किया जाता है, प्राप्त की प्राप्तिके लिए नहीं। जिस तरह वर्तमान घटकी उत्पत्तिके लिए कोई चेष्टा नहीं करता उसी तरह यदि मोक्ष भी वर्तमान हो, तो उसके लिए चेष्टा करना व्यर्थ होगा। यदि कहिए कि उत्पत्तिके लिए नहीं, किन्तु स्थितिके लिए चेष्टाकी आवश्यकता है, तो कभी भी मुक्ति नहीं होगी; क्योंकि शरीर की निवृत्तिके विना मोक्षका होना असम्भव है, और शरीरके निवृत्त होनेपर उसकी स्थितिके लिए व्यापार ही नहीं हो सकता, इस कारण मोक्षका होना ही दुर्घट है ॥ ३२ ॥

यदि कहिए कि मुक्तिके लिए कर्मानुष्ठान की आवश्यकता नहीं है, किन्तु

न मुक्तिराधे हेतुश्च धर्मादिरथवेतरः ।
नेतरो दुर्निरूपत्वाद्धर्माधर्मौ च चिन्तय ॥ ३४ ॥

विविध विषयोंके अनुभवसे जो दुःख होता है उसकी निवृत्तिके लिए कर्मानुष्ठानकी आवश्यकता है, तो इसके निराकरणके लिए कहते हैं—'विषयाभ्यास' इत्यादि ।

विषयाभ्याससे जायमान जो अस्वास्थ्य—स्वरूपानन्दाभिभावक सांसारिक दुःखानुभव, उसकी निवृत्तिके लिए कारणकी खोज है, तो यह बतलाइये कि विषयाभ्यास सहेतुक है; अथवा निर्हेतुक ? ॥ ३३ ॥

यदि निर्हेतुक है, तो कभी मुक्ति नहीं हो सकती है, क्योंकि निर्हेतुक दो ही कहलाते हैं—जो नित्य है अथवा जो अत्यन्तासत्—आकाशकुसुम आदि । इन दोनोंकी जिस तरह निवृत्ति नहीं हो सकती उसी तरह विषयाभ्यास भी यदि निर्हेतुक है, तो उसे अन्त्यन्तासत् कह नहीं सकते, क्योंकि वह किसीका कारण नहीं हो सकता । कारणता सत्ताघटित होती है । अतः वह नित्य ही हो सकता है। आत्माके समान नित्यकी निवृत्ति नहीं हो सकती । जिसकी उत्पत्ति तथा नाश नहीं होता वही नित्य है, कारणका नाश ही कार्यका नाशक होता है। यदि कारण नहीं रहता, तो तन्नाशरूप उपायके न होनेसे कार्यका भी नाश नहीं होता । यदि द्वितीय पक्षसे सहेतुक मानिए, तो धर्मादि हेतु है अथवा अन्य कोई ? इस तात्पर्यसे कहते हैं—'न मुक्तिः' इत्यादि ।

प्रथम पक्षमें अर्थात् विषयसम्बन्धके सहेतुकत्वपक्षमें मुक्ति नहीं हो सकती, क्योंकि उसका कारण नित्यस्वरूप अथवा अन्त्यन्तासत्स्वरूप ही हो सकता है। अन्त्यन्तासत् तो कारण किसी तरह नहीं है, अतः नित्यस्वरूप ही कहना होगा । यदि नित्यका नाश ही नहीं होगा, तो मुक्ति कैसे होगी ? यदि कारणके विना ही अकस्माद् उत्पन्न होती है, ऐसा मानिए; तो भी मुक्ति नहीं हो सकती । जो कारणसापेक्ष है उसकी तो उत्पत्ति कारणके नष्ट होनेसे नहीं हो सकती, किन्तु जो कारणके विना उत्पन्न होता है उसकी अकस्मात् उत्पत्ति तो रुक नहीं सकती और मुक्तिदशामें विषयाभ्यास होता ही नहीं । यदि विषयाभ्यास उत्पन्न हो जायगा, तो मुक्ति नहीं हुई, यही मानना पड़ेगा । इसलिए धर्माधर्मादि-हेतुक ही कहिएगा, क्योंकि दूसरा तो कोई उपाय कह नहीं सकते ? अनुभव तथा शब्दादि प्रमाणोंसे दूसरा उपाय तो दुर्निरूप है, अतः वह नहीं कहा जा सकता है, इसलिए धर्मादि ही कारण हो सकता है, इसका भी विचार कीजिए ॥३४॥

किमसङ्गस्वभावस्य विषयैः सङ्गतिं बलात् ।
कुरुतः कर्तृरूपस्य सङ्गयोग्यस्य वा वद ॥ ३५ ॥
भल्लातकाङ्कवद्वस्त्रे बलात्कर्तुं न शक्यते ।
न हि व्योम घटीकर्तुं कुशलोऽपीह शक्नुयात् ॥ ३६ ॥

'किमसङ्गस्य' इत्यादि। 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' इत्यादि श्रुतियोंसे आत्मा असङ्ग है, यह मानकर विचार कीजिए । आत्मामें विषयासङ्गत्वकी योग्यता है या नहीं ?

यदि द्वितीय पक्षका आश्रयण कीजिए, तो जिसमें जिसकी योग्यता ही नहीं है, उसमें किसी भी उपायसे कार्योत्पत्ति नहीं हो सकती, अतः धर्माधर्मादि बलात्—जबर्दस्ती—भी आत्मामें विषयसम्बन्ध—विषयाभ्यास—नहीं उत्पन्न कर सकता । अगर कर्तृत्वरूप विषयाभ्यासकी योग्यता है, तो मुक्तिकी आशा ही छोड़ देनी होगी ॥३५॥

'भल्लातकाङ्क' इत्यादि। वास्तविक अकलङ्क वस्त्रमें ['वीरवृक्षोऽरुष्करोऽग्निमुखी भल्लातकी त्रिषु' इत्यमरः।] भल्लातकफलके संसर्गसे जैसे कलङ्क उत्पन्न होता है, वैसे ही वस्तुतः विषयसङ्गशून्य आत्मामें धर्माधर्म द्वारा विषयानुभवजन्य दुःखादिरूप कलङ्क होता है, यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि जिस पदार्थमें जिस कार्यकी शक्ति नहीं है, उस पदार्थसे वह कार्य नहीं हो सकता । विश्वकर्माके सदृश भी कारीगर (शिल्पी) आकाशको घट नहीं बना सकता । जैसे मिट्टीको घट कुम्हार बना सकता है, वैसे आकाशका घट नहीं बना सकता, क्योंकि मिट्टीमें सूक्ष्मरूपसे घट है, इसलिए कारकव्यापारसे वह अभिव्यक्त होता है । मुद्गरपातादिसे जब वह मिट्टीमें लीन हो जाता है, तब 'नष्ट हुआ' ऐसा कहा जाता है। अत्यन्तासत्की न कोई उत्पत्ति कर सकता है और न अत्यन्त विनाश ही। इसी तात्पर्यसे गीतामें कहा है—'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः' इत्यादि । अनुभव भी है—वायु सबको शीत करता है, पर अग्निको शीत नहीं कर सकता । अग्निमें शैत्यकी शक्ति ही नहीं है । उसी तरह धर्माधर्म अन्यत्र पदार्थोंको उत्पन्न कर सकता है, क्योंकि अदृष्ट सब कार्यका मूल है; किन्तु आत्मामें दुःखादिका वास्तविक उत्पादन नहीं कर सकता, क्योंकि स्वभावसे विपरीत धर्मकी उत्पत्ति सैकड़ों हेतुओंसे भी नहीं हो सकती है । और यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि कोई आकाशको घट नहीं बना सकता ॥३६॥

आत्मा कर्त्रादिरूपश्चेन्मा काङ्क्षीस्तर्हि मुक्तताम् ।
नहि स्वभावो भावानां व्यावर्तेतौष्ण्यवद्रवेः ॥ ३७ ॥
न तु कर्तृत्वभोक्तृत्वकार्यमेवात्मसंसृतिः ।
न तु तच्छक्तिरित्यात्मा मुक्तः स्याच्छक्त्यवस्थितौ ॥ ३८ ॥

यदि द्वितीय पक्ष कहिए कि आत्मामें कर्तृत्वरूपयोग्यता है, तो मुक्तिकी इच्छा मत कीजिए, यह भी कह चुके हैं ।

क्योंकि पदार्थोंके स्वभावोंकी निवृत्ति नहीं होती । रविमें औष्ण्य अर्थात् गर्मीकी निवृत्ति कभी कहीं नहीं देखी गई है । ऊष्माके निवृत्त होनेसे तो रवि ही नष्ट हो जायगा, निःस्वभाव हो जायगा ॥ ३७ ॥

[तात्पर्य यह है कि जो निःस्वभाव है, वह आकाशके फूलकी तरह अत्यन्तासत् है, यह कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि विशेष कारणसे स्वभावकी प्रच्युति भी कहीं-कहीं देखी गई है । जिस तरह मणि, मन्त्र, औषध और जल आदिसे अग्निमें उष्णभावकी निवृत्ति होती है, पर अग्निका नाश नहीं होता, उसी तरह आत्मज्ञानसे आत्मस्वभाव कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि अनर्थमूलकी निवृत्ति हो सकती है और अग्निकी तरह आत्मा भी सुखदुःखादि वैषयिक अनर्थसे शून्य रह सकता है, यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि मणि, मन्त्र आदि द्वारा अग्निमें गर्मीका नाश नहीं होता; किन्तु दाह, फोड़ा आदि कार्योंकी केवल उत्पत्ति नहीं होती है । उष्णता रहती है, इसीसे जिसके हाथमें जड़ीका लेप है उसीका हाथ अथवा और कोई अंग, जहांपर लेप हुआ है, नहीं जलता और दूसरोंका जिनमें जड़ीका सम्बन्ध नहीं है उनका हाथ जलता ही है । मन्त्रमें यह विलक्षण शक्ति देखी गई है । जिसके उद्देश्यसे और जब तकके लिए दाह न होनेका संकल्प कर मन्त्र पढ़ा गया हो, उस वस्तुका तब तक दाह न होगा, किन्तु वस्त्वन्तरका—दूसरी वस्तुका—उसी कालमें और उसी वस्तुका कालान्तरमें अवश्य दाह होगा । यदि अग्निकी स्वभावभूत उष्णता नष्ट हो जाती, तो दाह कैसे होता ? प्रतिबन्धकके न रहनेपर सर्वानुभवसिद्ध है कि आगन्तुक कोई कारणान्तर भी नहीं देख पड़ता, जिससे यह भी कह सकें कि पूर्व उष्णताका नाश तो अवश्य हो गया, किन्तु नवीन उष्णता उत्पन्न हो गई है । इसकी शक्ति विलक्षण है । किसीका नाश, दाह, फोड़ा आदि कार्य करती है, किसीका नहीं । यदि अग्निस्वरूपको ही उत्पादक मानें, तो प्रतिबन्धदशामें

नैवं शक्तेरवस्थाने तत्कार्यस्याऽनिवारणात् ।
शक्तिस्वरूपहाने तु शक्तिमद्वस्तुनिह्नुतिः ॥ ३९ ॥

भी अग्निस्वरूप है। प्रतिबन्धकी अदशामें भी वही स्वरूप है। यदि स्वरूपमें वैलक्षण्य नहीं है, तो फिर कार्यशक्तिमें वैलक्षण्य कहांसे आवेगा ? प्रतिबन्धकमें शक्तिनाशकत्वरूप प्रतिबन्धकत्वका ही व्यवहार होता है, शक्त्युत्पादकत्वरूप करणत्वका व्यवहार नहीं होता, इत्यादि संक्षेपसे कहा गया है। इससे यह सारांश निकला कि पदार्थके स्वभावका नाश पदार्थके रहते नहीं होता, इस कारणसे कर्तृत्व आदि यदि आत्मस्वरूप होंगे, तो उनकी निवृत्ति न होगी, फिर मुक्तिकी संभावना ही क्या ॥ ३७ ॥

कर्तृत्वभोक्तृत्वरूप कार्य ही संसार है, कर्तृत्वादि निरूपित शक्ति संसार नहीं है, अतः मुक्तिदशामें कर्तृत्वादिरूप कार्य ही नष्ट होते हैं, तन्निरूपित शक्ति रहती है, क्योंकि शक्तिस्वभाव ही आत्मा है; इस शङ्कापर कहते हैं— 'न तु कर्तृत्वे' इत्यादि ॥३८॥

शक्तिस्वभाव होनेपर मुक्त हो सकता है, इस पक्षमें दोष कहते हैं— 'नैवं शक्तेः' इत्यादि।

शक्तिके रहनेपर कर्तृत्वादिकार्यकी निवृत्ति नहीं होती, और शक्तिके नाश होनेपर तो शक्तिमद्वस्तुका भी नाश अवश्य हो जाता है।

तात्पर्य यह है कि शक्ति, शक्तिमान् तथा शक्तिशक्य—कार्य—इनका परस्पर भेद है या अभेद ? यदि भेद कहें, तो जैसे गौ और घोड़ेका परस्पर भेद प्रतीत होता है, वैसे ही यह शक्ति है, ये उसके कार्य कर्तृत्वादि हैं, ऐसा प्रत्यक्ष होना चाहिए; किन्तु शक्ति और शक्यका भेद प्रत्यक्ष नहीं होता। यदि कहिए कि गौ और घोड़े दोनों प्रत्यक्षके योग्य हैं, इसलिए इनके भेदका प्रत्यक्ष होता है, परन्तु शक्ति प्रत्यक्षकी योग्य नहीं है, इसलिए शक्ति और शक्यका भेद प्रत्यक्ष नहीं होता, तो उसके प्रत्यक्ष न होनेपर घटशक्तिका घटके साथ शक्तिशक्यभाव ही नहीं होगा। जैसे गौका अश्वके साथ शक्य-शक्तिभाव नहीं है, वैसे ही स्वशक्तिके साथ भी शक्यशक्तिभाव नहीं रहेगा, अत्यन्त भेदके होनेपर शक्तिशक्यभाव सम्बन्ध नहीं होता, अन्यथा गौका अश्वके साथ भी शक्यशक्तिभाव संबन्ध हो जायगा। यदि कहिए कि भेद

अथ कार्यानभिव्यक्तिर्निमित्तासम्भवान्न तत्।
धर्मादेः शक्तिरूपेण सम्भवः केन वार्यते ॥ ४० ॥

होनेपर भी शक्यशक्तिका कार्यकारणभाव सम्बन्ध है, इसलिए शक्यशक्तिभाव होता है, गौ और अश्वका कार्यकारणभाव सम्बन्ध नहीं है, अतः शक्यशक्तिभाव भी नहीं है, तो यह भी कथन ठीक नहीं है, क्योंकि अत्यन्त भेद रहनेपर अश्व और महिषका जैसे कार्यकारणभाव नहीं होता, वैसे ही शक्यशक्तिका भी कार्यकारणभाव नहीं होगा। और अभेद माननेपर भी कार्यकारणभाव नहीं हो सकता, क्योंकि पूर्ववर्त्ती कारण होता है। और स्वयं स्वका पूर्ववर्ती नहीं हो सकता, क्योंकि स्वोत्पत्तिक्षणसे पहले स्वकी स्थितिका संभव नहीं है। स्वयं कारणतापक्षमें यह भी दोष है कि 'अकुर्वत्' (जो कुछ नहीं कर रहा है, वह) भी कारण कहलावेगा है और जो नहीं कर रहा है (वह भी कार्य कहलावेगा अर्थात् शक्तिसे अभिन्न होनेके कारण शक्ति जैसे शक्तिका कारण नहीं है, वैसे ही अभेद होनेसे कार्यका भी कारण नहीं हो सकेगी। अत्यन्ताभेद होनेसे कार्यकारणभाव बन ही नहीं सकता। और यह भी दोष होगा कि कार्यका नाश होनेपर कार्यसे अभिन्न शक्ति भी नष्ट हो जायगी। शक्तिका नाश होनेपर हानि क्या है? जब कार्य आगे इष्ट ही नहीं है, तो शक्ति रहे या न रहे कुछ फल तो है नहीं? यह शङ्का युक्त नहीं है, क्योंकि यदि शक्तिका नाश हो, तो शक्तिमान्का—कारणका—भी नाश हो जायगा। जैसे कार्यसे शक्तिका अभेद होनेपर कार्यके नाशसे शक्तिनाशका प्रसंग होता है, वैसे ही शक्तिसे शक्तिमान्का भी अभेद है। अतः शक्तिके नाशसे शक्तिमान्का भी नाश अवश्य प्रसक्त होगा। सारांश यह है कि कार्यनाश होनेपर कार्याभिन्न शक्तिका नाश होगा, शक्ति आत्मस्वभाव है। स्वभावकी, जब तक आश्रय रहेगा तब तक, अनुवृत्ति होती है। स्वभावके नष्ट होनेपर आत्मा निःस्वभाव हो जायगा। निःस्वभावका तात्पर्य यह है कि अभाव अर्थात् आत्माका अभाव होनेसे मुक्ति फल ही किसके लिए होगा? आत्माको शक्तिस्वभाव या कार्यस्वभाव माननेपर ये दोष हैं, अतः इन दोनों पक्षोंका त्यागकर पक्षान्तरका आश्रयण करते हैं ॥३९॥

शक्ति तथा उसके कार्यका नाश मुक्ति नहीं है, किन्तु कार्यकी अनभिव्यक्ति मुक्ति है। कार्यकी अनभिव्यक्ति सुषुप्तिकालमें भी होती है, क्या वह भी मुक्ति है?

तस्मात् कर्तृस्वभावस्य दुर्लभा मुक्तिरात्मनः ।
साधनं च निषिद्धादिवर्जनं दुःशकं तथा ॥ ४१ ॥

नहीं, क्योंकि सुषुप्तिकालमें यद्यपि कार्य अनभिव्यक्त है, किन्तु कारण धर्माधर्मादि रहता है, इसलिए फिर कार्याभिव्यक्ति हो जाती है, अतः आत्यन्तिक अनभिव्यक्ति नहीं होती, इसलिए वह मुक्ति नहीं है। मुक्तिकालमें अदृष्टका नाश होनेपर फिर कार्यकी अभिव्यक्ति नहीं होगी, इस पक्षमें भी दूषण देते हैं—'धर्मादेः' इति। शक्तिरूपसे अदृष्ट मोक्षकालमें भी रहता ही है, तो फिर कार्याभिव्यक्ति क्यों नहीं होगी? कार्य और शक्तिके आत्मस्वभाव होनेसे इन दोनोंका नाश तो होता नहीं। कार्याभिव्यक्तिकी सामग्री रहनेपर कार्याभिव्यक्ति रुकती नहीं। यदि यह कहिए कि हेतु और फल दोनों अव्यक्तस्वरूप हैं, इसलिए इनका सम्बन्ध ही नहीं है, अतः मुक्तिकालमें शक्तिके रहनेपर भी कार्याभिव्यक्ति नहीं होती। तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि धर्माधर्मादिका जैसे समवाय सम्बन्ध है, एवं शक्तिका जैसे आत्माके साथ समवाय सम्बन्ध है वैसे ही कर्तृत्वादिके साथ यदि समवाय सम्बन्ध है, तो फिर मुक्तिदशामें कार्याभिव्यक्ति क्यों नहीं होगी? जैसे संसारदशामें आत्मा है, उसमें समवायसम्बन्धसे अदृष्ट है और कर्तृत्वादि शक्ति है, इसलिए संसारानुभव होता है वैसे ही मुक्तिदशामें भी यदि आत्मा है, धर्मादि है और कर्तृत्वादिशक्ति है, तो संसारानुभव क्यों न होगा, अतः कर्तृत्वादिशक्तिके रहनेपर मुक्तिकी आशा रखना व्यर्थ है। यदि सामग्रीके बिना कर्तृत्वादि मानें, तो भी मुक्ति नहीं हो सकती, क्योंकि सामग्रीके अधीन होनेपर तो कदाचित् सामग्रीकी निवृत्ति होनेसे कर्तृत्वादिकी निवृत्ति भी हो सकती है, जैसे गर्मीमें जाड़ेकी सामग्री नहीं रहती तो जाड़ा भी नहीं रहता अर्थात् जाड़ेकी भी निवृत्ति हो जाती है। यदि कारणके बिना कर्तृत्वादि रहेगा, तो उसकी निवृत्ति नहीं हो सकेगी, जैसे कि आत्माकी निवृत्ति कभी नहीं होती, क्योंकि आत्माका कोई कारण नहीं है। और यह भी दोष होगा कि कर्तृत्वादिकी उत्पत्ति भी नहीं होगी, क्योंकि कारणके बिना किसीकी उत्पत्ति नहीं होती; अन्यथा आत्माकी भी उत्पत्ति माननी पड़ेगी ॥ ४० ॥

इसी पूर्वोक्त आशयसे कहते हैं—'तस्मात्' इत्यादि। यदि आत्मा कर्तृस्वभाव है, तो मुक्ति दुर्लभ ही है। यदि कहिए कि संसारके कारण निषिद्धका अकर्मके अनुष्ठानके त्यागनेसे शरीरारम्भ ही न होगा, तो संसारनिवृत्ति ही हो जायगी

सूक्ष्मापराधसंदृष्टेरतियत्नवतामपि ।
निषिद्धकाम्ये निःशेषे वर्जयेन्निपुणोऽपि कः ॥ ४२ ॥

फिर तत्त्वज्ञानरूप उपायकी आवश्यकता नहीं है तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि निषिद्धके—अकर्मके—अनुष्ठानका त्याग बड़े-बड़े विद्वानोंसे भी नहीं हो सका और न हो सकता है, साधारण मनुष्यकी तो बात ही क्या है ? ॥४१॥

इसी अभिप्रायसे लिखते हैं 'सूक्ष्मा०' इत्यादि। बड़े-बड़े ज्ञानियोंसे भी सूक्ष्म अपराध हो ही जाता है। संपूर्ण निषिद्ध और काम्य कर्मोंका त्याग प्रयत्न करनेपर भी कोई नहीं कर सकता।

शङ्का—निःशेष काम्य और निषिद्ध कर्मोंका त्याग कोई नहीं कर सकता, यह हम लोगोंका कहना ठीक नहीं है, कारण कि इतनी बड़ी पृथिवी तथा अतिमहान् काल है। शायद किसी कालमें किसी स्थलमें ऐसा मनुष्य हो या हो सके जो निःशेष निषिद्ध और काम्य कर्म का त्याग कर सके। हम लोग सर्वज्ञ तो हैं ही नहीं, जो यह निश्चय कर लें कि कोई ऐसा हो ही नहीं सकता। और निर्मूल कल्पना किसी कामकी नहीं होती।

उत्तर—हां! ठीक है, विश्वमें ऐसा कोई हो ही नहीं सकता, इस हमारी कल्पनामें कोई प्रमाण नहीं है, परन्तु ऐसा कोई हो सकता है, इस कल्पनामें भी तो कोई प्रमाण नहीं है, अतः इसमें सन्देह होता है। सन्देहसे भी प्रवृत्ति नहीं होती, थोड़े श्रमसे सिद्ध होनेवाले कार्यमें, उपायमें सन्देह होनेपर भी परीक्षा तथा मनोविनोदके लिए, प्रवृत्ति हो भी सकती है; किन्तु अन्तमें यदि अनेकजन्मायाससाध्य गुरुतर कार्योंमें सन्देह हो, तो प्रवृत्ति हो ही नहीं सकती। जिस उपायमें किसीकी प्रवृत्ति न हो, उस उपायका उपदेश बाहुसे समुद्र तैरनेके उपदेशकी तरह व्यर्थ है। यदि कहिए कि निःशेष निषिद्धकाम्यवर्जन मुक्तिका साधन है या नहीं ? यह संशय तो होता है। संशयमें कोटिद्वय अर्थात् साधनत्व और तदभावका बोध अवश्य होता है। कहीं रहनेपर अन्यत्र संशय होता है। जो कहीं नहीं है उसका संशय भी नहीं होता। खपुष्प है अथवा नहीं ? यह संशय कहीं किसीको कभी नहीं होता। इसलिए किसी निष्पाप पुरुषमें उक्त कर्मत्याग ही मोक्षसाधन है। यह संशयानुरोधसे मानना पड़ेगा। यद्यपि अमुक पुरुष ऐसा है, यह विशेषरूपसे नहीं कह सकते; फिर

मुमुक्षुः काम्यपापे द्वे वर्जयेदिति चोदना।
नाऽस्ति वेदे क्वचिद्येन वचनात्तत्प्रकल्प्यते ॥ ४३ ॥

भी पुरुषरत्न ऐसा कोई हो सकता है, जिसकी मुक्ति त्याग ही से हो सकती है। ज्ञानकी आवश्यकता नहीं है, ऐसा माननेमें कोई दोष नहीं, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि दोष यह है कि प्रत्यक्ष संशयमें यह नियम हो सकता है कि कहीं प्रसिद्धका ही संशय होता है, अप्रसिद्धका नहीं; किन्तु शाब्दसंशयमें यह नियम नहीं है। शाब्दज्ञान तो अत्यन्तासत्‌का भी होता है। 'अत्यन्तासत्यपि ह्यर्थे ज्ञानं शब्दः करोति हि' यह न्याय है। इसी कारणसे—विमतं क्वचित्सिद्धम् संशयकोटित्वात्, संमतवत्—यह अनुमान भी ठीक नहीं है, क्योंकि अनुमान निश्चायक होता है; संशायक नहीं होता है।

और अनुमानसे सिद्ध होनेपर वह संशयका विषय नहीं हो सकता। 'संदेहविषयो निश्चयविषयः' यह कहना अयुक्त है, इसको व्याघात कहते हैं। लौकिक फल कृषि आदि कर्म सन्दिग्ध होनेपर भी उपदेशयोग्य हैं, पर मोक्ष-साधन निश्चित ही उपदेशयोग्य है, सन्दिग्ध नहीं।

यदि शङ्का करें कि पारलौकिक फलके लिए सन्दिग्ध कर्मका उपदेश नहीं है, तो तप्तशिलारोहणादिसे भी मुक्ति होती है, ऐसा बौद्धादि शास्त्रोंमें उपदेश कैसे हुआ? सो ठीक नहीं है, क्योंकि तप्तशिलारोहण मुक्तिसाधन है, यह तो श्रुत्यादिप्रमाणसे सिद्ध नहीं है; अतः यह उपदेश अप्रामाणिक है। प्रामाणिक लोगोंका ऐसा उपदेश नहीं हो सकता। जो जिस कार्यको करनेमें समर्थ है, वही उस कार्यमें अधिकारी है असमर्थ नहीं। यह सामर्थ्यरूप शक्ति आख्यात—लिङ् द्वारा प्रतीत होती है। और ऐसा कहीं विधिवाक्य नहीं देखते कि 'मोक्षकामः काम्यादि वर्जयेत्'। यदि ऐसा वाक्य होता, तो यह कल्पना कर सकते कि मनुष्यमें भी ऐसी शक्ति हो सकती है; अन्यथा मनुष्योंके लिए यह उपदेश ही व्यर्थ हो जायगा ॥ ४२ ॥

मुमुक्षु—मोक्षार्थी—काम्य—स्वर्गादिफलक यागादि—और पाप—सुरापानादि—निषिद्ध कर्म—इन दोनोंका त्याग करे, ऐसा कहीं वेदमें वचन नहीं है। अगर होता, तो यह कल्पना भी कर सकते कि मनुष्यमें निःशेष कर्मत्यागकी शक्ति हो सकती है, अन्यथा यह वाक्य ही व्यर्थ हो जायगा।

काम्यादिवर्जनं चैतत्स्वकपोलप्रकल्पितम् ।
अतः प्रामादिकात् काम्यान्निषिद्धाच्च पुनर्जनिः ॥ ४४ ॥

यद्यपि 'मोक्षार्थी काम्यादि वर्जयेत्' ऐसी प्रत्यक्ष श्रुति नहीं है, तथापि—

'मोक्षार्थी न प्रवर्त्तेत तत्र काम्यनिषिद्धयोः ।
नित्यनैमित्तिके कुर्यात् प्रत्यवायजिहासया ॥'

इस स्मृतिवाक्यसे उक्तार्थक श्रुतिका अनुमान हो सकता है। जैसे 'अष्टका कर्तव्या' इस स्मृतिवाक्यसे श्रुतिका अनुमान होता है। अन्यथा धर्म अतीन्द्रिय है, इसलिए पौरुषेयवाक्य स्वतः धर्ममें प्रमाण नहीं हो सकता। इस सन्देहसे यदि अष्टकानुष्ठान ही नहीं होगा, तो तद्बोधक स्मृति भी अप्रमाण हो जायगी। इस लिए स्मृतिप्रामाण्याधिकरणमें लिखा है—'विरोधे ह्यनपेक्षं स्यादसति ह्यनुमानं स्यात्'। यदि प्रत्यक्ष श्रुतिसे विरुद्ध स्मृतिवाक्य हो, तो वह अनपेक्ष है, अर्थात् अप्रमाण ही है। जैसे 'औदुम्बुरी सर्वा वेष्टयितव्या' यह स्मृतिवाक्य है 'औदुम्बरीं स्पृष्ट्वा उद्गायेत्' यह श्रुति है। यदि उदुम्बरकी शाखा सम्पूर्ण रक्त वस्त्रसे वेष्टित कर देंगे, तो उद्गानके समय उसका स्पर्श नहीं हो सकेगा, अतः सर्ववेष्टनकी प्रतिपादिका स्मृति प्रत्यक्षश्रुतिसे विरुद्ध है, अतः यह स्मृति सर्ववेष्टनश्रुतिका अनुमान नहीं करा सकती। विरोध न रहनेपर अनुमान होता है। जैसे कि अष्टकाविधायक स्मृतिसे श्रुतिका अनुमान होता है। क्योंकि स्मार्तवाक्य पौरुषेय है, अतः वह धर्ममें साक्षात् प्रमाण नहीं हो सकता। उसी तरह उक्त स्मृतिसे श्रुतिका अनुमान कर अनुमित श्रुतिमूलक स्मृति है यह कह सकते हैं। स्मृतिमूलक मदुक्त वाक्य प्रमाण हो सकता है, यदि प्रत्यक्ष श्रुतिविरोध न होता। 'निचाय्य तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते, तमेव विदित्वा अतिमृत्यु-मेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' इत्यादि प्रत्यक्षश्रुतिसे विरुद्ध उक्त स्मृति है। अतः अनपेक्ष है, अतः तन्मूलक आपका वाक्य भी अप्रमाण ही है। 'आचाराच्च स्मृतिं ज्ञात्वा स्मृतेश्च श्रुतिकल्पनम्' इत्यादि स्मृतिवाक्य प्रत्यक्षश्रुतिविरुद्धातिरिक्त विषयक है जैसे कि होलिकोत्सवादि ॥४३॥

इस तात्पर्यसे कहते हैं—'**काम्यादिवर्जनम्**' इत्यादि।

'मुमुक्षुः काम्यादि वर्जयेत्' इस वाक्यका मूल आपकी कल्पना ही है, अर्थात् उक्त कल्पनामें कोई श्रुति प्रमाण नहीं है, इसलिए निषिद्ध और

अथाऽपराधो यस्याऽस्ति जायतामेष यस्य तु ।
नाऽपराधो मुच्यतेऽसाविति चेद्वर्धतां भवान् ॥ ४५ ॥
सापराधत्वतो मुक्तिः सन्दिग्धैव प्रसज्यते ।
द्विजातीनां खरादेस्तु त्वदुक्त्या स्यादसंशयम् ॥ ४६ ॥

काम्यका वर्जन अशक्य है, इस अवस्थामें प्रमादसे, काम्यसे और निषिद्धाचरणसे पुनर्जन्म ही होगा, उसका निवारण हो ही नहीं सकता ॥ ४४ ॥

साधारण पुरुष निषिद्धादिके आचरणसे जन्मान्तरका ग्रहण भले ही करे, परन्तु जिस विशिष्ट पुरुषके अपराध नष्ट हो चुके हैं, उसको मुक्ति हो सकती है, क्योंकि—

'यान्यतोऽन्यानि जन्मानि तेषु नूनं कृतं भवेत् ।
यत्कृत्यं पुरुषेणेह नाऽन्यथा ब्रह्मणि स्थितिः ॥'

(जिस पुरुषकी ब्रह्ममें स्थिति अर्थात् आत्मैकत्वबुद्धि हो गई है, उस पुरुषने—वर्तमान जंन्मसे अन्य जो पूर्व जन्म हो चुके हैं, उनमें निश्चित शुभ कर्मोंका अनुष्ठान किया है। अन्यथा ब्रह्ममें उसकी स्थिति न होती) इस अर्थमें उक्त वचन प्रमाण है, इसलिए कहते हैं—'अथापराधो' इत्यादि ।

जो पुरुष प्रमाद आदिसे मुमुक्षु होनेपर भी काम्यादि कर्मका अनुष्ठानरूप अपराध कर लेता है, उसकी मुक्ति भले ही न हो; किन्तु जिसने ऐसा अपराध नहीं किया है, उसकी मुक्ति ज्ञानके बिना भी हो जाती है, यदि ऐसा कहते हो, तो तुम्हारा कल्याण हो परन्तु ऐसा कौन हो सकता है कि जिससे प्रमादादि दोष कभी न हुए हों, क्योंकि भ्रमप्रमाद, विप्रलिप्सा और करणापाटव ये दोष तो पुरुषमें रहते ही हैं। इन दोषोंसे सर्वथा शून्य तो कोई हो ही नहीं सकता, अतः सब को अपनेमें सापराधत्व की शङ्का रहती ही है। और सापराधकी मुक्ति तो संदिग्ध ही रही ॥ ४५ ॥

ठीक है, सापराधकी मुक्ति तो सन्दिग्ध ही रही, किन्तु मनुष्यमात्रमें अपराधकी शङ्का तो रहेगी ही, अतः मुक्तिमें असंदिग्ध अधिकार आपके मतसे गर्दभादिको ही हो सकता है, क्योंकि प्रमादादिसे काम्यकर्मानुष्ठान वे नहीं कर

नित्यस्य फलमिष्टं चेदुपात्तदुरितक्षयः ।
तथाऽपि काम्यपुण्यानां क्षयो नाऽदुरितत्वतः ॥ ४७ ॥
उपपातकमल्पं चेत् क्षीयतां नित्यकर्मणा ।
अनन्तदेहहेतूनां हत्यादीनां कुतः क्षयः ॥ ४८ ॥

सकते, तात्पर्य यह है कि किसीकी मुक्ति नहीं होगी। प्रकृतमें गर्दभादिका निर्देश उपहासार्थ है ॥ ४६ ॥

यदि नित्यकर्मानुष्ठानका फल पूर्वजन्मार्जित दुरितक्षय मानते हो, तो भी पूर्वजन्ममें किये हुए सुकृतका नाश तो नहीं हो सकता; क्योंकि सुकृत तो दुरित नहीं है ॥ ४७ ॥

नित्यकर्मके अनुष्ठानसे पूर्व पापका नाश हो, परन्तु सब पापोंका नाश नहीं हो सकता, कई दुःशरीरके आरम्भके कारण जो ब्रह्महत्यादि पाप हैं, उनकी निवृत्ति उक्त कर्मसे नहीं हो सकती, कारण स्मृतियोंमें ऐसा लिखा है कि ब्रह्महत्यापाप अनेक जन्म तथा अनेक शरीरसे भोगना पड़ता है, क्योंकि इस विषयमें—

'श्वसूकरखरोष्ट्राणां गोजाविमृगपक्षिणाम् ।
चाण्डालपुल्कसानां च ब्रह्महा योनिमृच्छति ॥'

इत्यादि वचन प्रमाण हैं, अतः इन पापोंकी निवृत्ति नित्यकर्मानुष्ठानसे नहीं होगी, इसलिए मुक्तिकी आशा नहीं करनी चाहिए, सुकृत और दुष्कृतके जो लक्षण आपने किये हैं, वे ठीक नहीं हैं। यदि विहित ही सुकृत हो, तो 'श्येनेनाभिचरन् यजेत' इस श्रुतिवाक्यसे विहित श्येनयाग भी है, अतः वह भी सुकृत हो जायगा। यदि कहें कि श्येन विहित नहीं है, क्योंकि विधि इष्टसाधनकी होती है, अनिष्टसाधनकी नहीं, उक्त याग नरकनिपतनादि बलवदनिष्टका साधन है। यद्यपि कर्त्ताको तत्कालमें शत्रुवध इष्ट है, अतः तत्साधन श्येनयाग भी इष्ट है, अतः उसकी विधिकी शङ्का हो सकती है, तथापि बलवदनिष्टसे रहित इष्ट प्रकृतमें विवक्षित है, श्येनयाग बलवदनिष्टसे विशिष्ट है, रहित नहीं है, अतः श्येनयागमें विधि नहीं हो सकती। यदि विधि नहीं है, तो 'श्येनेनाभिचरन् यजेत' इस वाक्यका क्या अर्थ है? अर्थ यह है कि शत्रुमें जिसका प्रबल द्वेष है, शत्रुकी हिंसा करना चाहता है, उसके लिए उपायका प्रदर्शन

कराया गया है अर्थात् श्येनयाग भी शत्रुवधका साधन है। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि श्येनयाग अवश्य करना चाहिए। जैसे कि सोमयागादिके विषयमें कहा जाता है कि सोम स्वर्गका साधन है। यदि स्वर्गकी इच्छा हो, तो सोम अवश्य करना चाहिए; वैसे ही श्येन अवश्य करना चाहिए, इसमें तात्पर्य नहीं है। जब श्येनकी विधि ही नहीं है, तो 'विहितत्वं सुकृतत्वम्' अर्थात् सुकृतका विहितत्व लक्षण ठीक है, इसलिए नित्य-कर्मजन्य पुण्यसे पूर्वसंचित पाप ही की निवृत्ति होगी। सुकृत बना ही रहेगा, उसका नाश ज्ञान या भोगसे होगा। यदि ज्ञान नहीं है, तो भोग ही नाशक होगा। भोगके लिए शरीर आदि आवश्यक हैं, अतः वर्तमान देहके अवसानके अनन्तर नित्यकर्मशील मुमुक्षुकी मुक्ति हो जायगी, यह दरिद्र मनोरथके सदृश है। यदि नित्यकर्मके अनुष्ठानसे जन्मान्तरीय सुकृतका नाश नहीं होगा, तो ज्ञानसे भी मुक्ति नहीं हो सकती। सुकृत भोगनेके लिए शरीरान्तर आवश्यक है। नहीं, जब नित्य कर्मके अनुष्ठानसे मुमुक्षुका चित्त शुद्ध हो जायगा; तब 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्यसे आत्मैकत्वज्ञान होगा, और वही सब कर्मोंका अर्थात् पुण्य और पापका नाशक होकर मुक्तिदायक होगा।

'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन।'

'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चाऽस्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥'

इत्यादि वचन भी इसी अर्थको पुष्ट करते हैं। अच्छा, तो यहाँ तकके विचारसे यह सिद्ध हुआ कि कर्मके नाशके बाद ही कैवल्य होगा, और सत्त्वकी शुद्धि होनेपर ज्ञान होगा, सत्त्वकी शुद्धि कर्मके अनुष्ठानसे होगी, इस-लिए यदि कर्मकी भी आवश्यकता है, तो ज्ञान मुक्तिका साधन है, कर्म नहीं, इसका क्या तात्पर्य है? इसका यह तात्पर्य है कि मोक्षका साधन साक्षात् ज्ञान ही है, कर्म नहीं। कर्म ब्रह्मविविदिषाका अर्थात् ब्रह्मज्ञानेच्छाका साधन है; इसमें प्रमाण 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति' इत्यादि श्रुतिवाक्य ही है।

इसका निर्णय विशेषरूपसे कर चुके हैं, इसलिए इस विषयमें विशेष कहनेकी आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता इसके निरूपणकी है कि इच्छा ज्ञानके सदृश पुरुषतन्त्र नहीं है, किन्तु विषयतन्त्र है। विधि पुरुषतन्त्रमें होती है, जो कर्तुम-कर्तुमन्यथाकर्तुं शक्य है; जैसे कि यागादि क्रिया। अतः इच्छा विधिकी नहीं हो

सकती। आहार्य ज्ञानकी तरह आहार्य इच्छा निष्प्रयोजन है, अतः यागादि कर्म विविदिषाके भी साधन नहीं हो सकते। इसका समाधान पूर्वमें कह चुके हैं। वे चित्तशुद्धि द्वारा परम्परया पुरुषके संस्कारक हैं, अतः उनका विविदिषामें उपयोग है। 'यज्ञेन विविदिषन्ति' इत्यादि श्रुतिवाक्य है। फिर इसमें शङ्का होती है कि कर्म संस्कार द्वारा ज्ञानका हेतु है, यह माननेपर जब तक ज्ञान न हो, तब तक कर्मानुष्ठान नहीं छोड़ना चाहिए, यदि ऐसा है; तो कर्म करनेपर तत्तत्फलभोगके लिए शरीरका होना अनिवार्य होगा। ऐसी दशामें मुक्ति कैसे होगी?

इसका उत्तर देते हैं कि फलेच्छासे कर्म करनेपर तत्-तत् फल होता है जो तपके द्वारा शुद्धचित्त हैं और वेदान्तका अध्ययन तथा तद्द्वारा कर्मोंका फल अनित्य तथा दुःखमिश्रित है, ऐसा जिन्होंने निश्चय कर लिया है, उन्हें कर्मफलोंमें वैराग्य हो जाता है। वे केवल चित्तशुद्धिके लिए ही कर्म करते हैं, अतः उनको उनका फल नहीं होता, इसीसे निष्काम कर्म करनेकी विधि है।

'तस्मात्त्वं कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय'
'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।'

इत्यादि वाक्य इस अर्थमें प्रमाण हैं।

जो जन्मान्तरीय निष्काम कर्मसे शुद्धचित्त हैं, उनको वर्तमान जन्ममें कर्म करनेकी आवश्यकता नहीं है। उन्हींके लिए यह श्रुतिवाक्य है—'यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्'।

प्रश्न—जो प्रथम कर्ममें अश्रद्धा कर संन्यासका ग्रहण करते हैं, पीछे उनकी कर्ममें श्रद्धा हुई, ऐसे संन्यासीको कर्म करनेकी आवश्यकता है या नहीं? यदि नहीं है, तो उनकी चितशुद्धि कैसे होगी? यदि है, तो संन्यास ही त्यागना होगा; क्योंकि संन्यासमें काम्यादि कर्म नहीं हैं।

उत्तर—उनको इन कर्मोंमें अधिकार नहीं है। जैसे युवावस्थामें वैराग्य हो गया और संन्यासका ग्रहण कर लिया, फिर ढली अवस्थामें विषयाभिलाषकी इच्छा हुई, तो उनको गार्हस्थ्यमें अधिकार नहीं है, वैसे ही कर्म करनेका भी अधिकार नहीं है, जन्मान्तरमें संस्कारानुसार कर्म कर सकते हैं। जन्मान्तरीय कर्मका अनुष्ठान जन्मान्तरीय ज्ञानका उपकारक होता है; इसमें दृष्टान्त वामदेव तथा गार्गी और मैत्रेयी हैं। वामदेवजीको गर्भ ही में ज्ञान हो गया था, 'तद्धैतत्पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदे अहं मनुरभवम्' इत्यादि

पापं पुण्यकृतां नेदृङ् नाऽस्ति स्वर्गावरोहिणाम् ।
श्वशूकरादिजन्मोक्तेर्विप्रक्षत्रादिजन्मवत् ॥ ४९ ॥
रमणीयतराचारा विप्रक्षत्रादियोनयः ।
कपूयचरणाः श्वादियोनयः स्युरिति श्रुतिः ॥ ५० ॥

गर्भावस्थामें क्या कोई श्रौत या स्मार्त कर्म कर सकता है ? मैत्रैयी और गार्गी स्त्री हैं, अतः इनको वर्तमान जन्ममें स्वतन्त्ररूपसे कहां श्रौत और स्मार्त कर्मोंका अधिकार है। गार्गी तो आजन्म ब्रह्मचारिणी रही फिर भी वह ब्रह्मज्ञानवती थी, इसलिए इन लोगोंके ज्ञानका उपकार जन्मान्तरीय कर्मोंसे हुआ, यह मानना पड़ेगा।

इसका भी विचार करना आवश्यक है कि क्या एक जन्मके ही पुण्य-पाप शरीरारम्भक होते हैं अथवा अनेक जन्मके ? प्रथम पक्ष तो पूर्वोक्त स्मृतिसे विरुद्ध है, क्योंकि ब्रह्महत्या करनेवालेके लिए क्रमशः अनेक दुर्योनियाँ बतलाई गई हैं। यह कल्पना भी प्रामाणिक नहीं है कि प्रायणमें अर्थात् मृत्युकालमें ब्रह्महत्यातिरिक्त सब पूर्व कर्म अभिव्यक्त हो जाते हैं, अतः निःशेष पूर्व कर्मोंसे शरीरका आरम्भ होता है। केवल स्मृतिके प्रामाण्यसे ब्रह्महत्यादि ही अनेक शरीरारम्भक होते हैं। मनुष्यमात्र ब्रह्मघ्न होता ही है, इसमें तो कुछ प्रमाण नहीं है। जो ब्रह्मघ्न नहीं है, नित्यकर्मसे संचित दुरितोंके नष्ट होनेपर, उसकी मुक्ति होती है, यह भी प्रमाणशून्य है। इसमें कोई प्रमाण नहीं है कि सब कर्मोंसे एक ही जन्म होता है, प्रत्युत इसके विपरीत प्रमाण है। नित्यादि कर्मानुष्ठानशीलको पूर्व पाप रहता ही नहीं है, इसीसे धर्मानुष्ठानसे स्वर्ग होता है, यह ठीक नहीं, इसी तात्पर्यसे कहते हैं—**'पापम्'** इत्यादि।

धर्माचरणशीलको अनेक शरीरोंका आरम्भक पाप नहीं लगता है, यह ठीक नहीं है, यदि ऐसा होता है, तो स्वर्ग भोगनेके बाद जब फिर मृत्युलोकमें जन्म लेता है, तो किस योनिमें आता है, इस सन्देहकी निवृत्तिके लिए श्रुति कहती है—

'ये रमणीयचरणास्ते रमणीयां योनिमापद्यन्ते ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वा। ये कपूयचरणास्ते कपूयां योनिमापद्यन्ते श्वयोनिं वा शूकरयोनिं वा चाण्डालयोनिं वा'।

इस वचनमें स्पष्ट कहा गया है कि अनेक जन्मके पुण्य-पापोंसे वर्तमान शरीर

नित्यकर्मभिरप्यस्ति स्वर्गः काम्याग्निहोत्रवत् ।
आपस्तम्बेन तत्प्रोक्तमाम्रवृक्षनिदर्शनात् ॥ ५१ ॥
फलार्थे निर्मिते त्वाम्रे छायागन्धाववारितौ ।
तथा वर्णाश्रमाचारादनुगच्छेत् त्रिविष्टपम् ॥ ५२ ॥

बनता है। यदि स्वर्गोपभोगसमयमें भी पाप रहता है, तो दुःख अवश्य होगा, फिर दुःखासम्भिन्न सुखस्वरूप स्वर्ग ही कैसे होगा ? पापके रहनेपर दुःख अवश्य ही होता है, यह नियम नहीं है। नियम यह है कि फलपाकोन्मुख अर्थात् जो पुण्य या पाप फल देनेके लिए अभिव्यक्त होता है, उसीका फल भोगविषय होता है। जो अनभिव्यक्त अवस्थामें रहता है; उसका उस समय भोग नहीं हो सकता। दोनोंका एक समयमें परिपाक नहीं होता; कारण कि दोनोंके फल सुख-दुःख परस्पर विरोधी हैं। विरोधी दो भावोंका एक कालमें एक देशमें अवस्थान विरुद्ध है; अतः देश, काल, निमित्त आदि भेदसे भिन्न कालमें पुण्य-पापकी अभिव्यक्ति मानी जाती है। पर बीजरूपसे स्थिति अवश्य रहती है। अन्यथा पूर्वोदाहृत श्रुतिवाक्य असंगत हो जायगा ॥ ४९,५० ॥

जो मुमुक्षु नित्य कर्म करते हैं, उनका अकरणनिमित्त प्रत्यवायके परिहारके सिवा शरीरान्तरका आरम्भ फल नहीं होता है, यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि स्मृतिसे यह भी निश्चित है कि फलान्तर भी अवश्य होता है। आपस्तम्बस्मृतिमें लिखा है—'आम्रे फलार्थे निर्मिते छायागन्धावनूत्पद्येते' इत्यादि। अर्थात् फलके लिए आम लगानेपर छाया और गन्ध भी उत्पन्न होते ही हैं। चाहे उसका छाया और गन्धमें तात्पर्य न हो, पर उसकी उत्पत्ति अनिवार्य है। इस तरह प्रत्यवायकी निवृत्तिके उद्देश्यसे किए हुए कर्मोंसे अर्थादि भी उत्पन्न होते हैं। यदि अर्थादि भी उत्पन्न होगा, तो काम्य हो जायगा, फिर उसे नित्य कर्म कैसे कह सकते हैं ? काम्यकर्म करनेपर यदि फल न हो, तो कर्म विगुण समझा जाता है अर्थात् उससे धर्म हुआ ही नहीं। और नित्य कर्मसे यदि अर्थादि न भी हो, तो कर्म विगुण होता नहीं, क्योंकि अर्थाद्युत्पत्ति तो प्रधान फल नहीं है, प्रतिबन्ध या निमित्तान्तराभावसे अर्थादि नहीं भी हो सकता है ॥ ५१ ॥

फलके लिए लगाये गये आमसे जैसे छाया और गन्धकी अवश्य प्राप्ति होती है, वैसे ही नित्य कर्म करनेसे स्वर्ग अवश्य होता है ॥ ५२ ॥

निषिद्धकाम्यनित्यानि पूर्वजन्मसु चाऽत्र च ।
कृतानि सन्त्यनन्तानि स्वास्थ्यं तत्रात्मनः कुतः ॥ ५३ ॥
ऐकात्म्यज्ञानतः कर्मक्षयं चेदात्थ तर्हि ते ।
निर्विघ्ना मुक्तिरस्त्वद्य ममेव हि न संशयः ॥ ५४ ॥
तेन निःसारतां बुध्वा कर्मणां वेदतत्त्ववित् ।
ऐकात्म्यज्ञानमन्वेति कर्मत्यागपुरःसरम् ॥ ५५ ॥

तात्पर्य यह है कि पहले यह दिखला चुके हैं कि कर्मसे मुक्ति होगी या नहीं, इसमें संशय है, कारण कि नित्यकर्मके अनुष्ठानसे प्रत्यवाय निवृत्त होगा, काम्य और निषिद्धके वर्जनसे शरीराम्भक कर्म उत्पन्न ही नहीं होगा । प्रारब्ध-कर्मके भोगसे निवृत्त होनेपर शरीरपातानन्तर मुक्ति हो जायगी, किन्तु इस सिद्धान्तमें यह भारी अड़चन है कि अनेक जन्मोंके कर्मोंसे शरीरका आरम्भ होता है, केवल एक जन्मके कर्मोंसे नहीं । इस अनादि संसारशृङ्खलामें न मालूम कितने ही जन्मोंके कर्म अभी अनारब्धभोग हैं, जिनको भोगना होगा । इस निश्चयमें कुछ प्रमाण नहीं कि वर्तमान शरीरके बाद अवश्य मुक्ति होगी । अब यह कहते हैं कि नित्य कर्मका केवल प्रत्यवायनिवृत्ति ही फल नहीं है, किन्तु पूर्वोक्त आपस्तम्बस्मृतिसे यह ज्ञात होता है कि नित्य कर्मोंका फल स्वर्गादि भी है तब तो दृढ़ निश्चय यही होता है कि उक्त रीतिसे कर्म द्वारा मुक्ति कभी नहीं हो सकती । इस भावसे लिखते हैं—'निषिद्धकाम्य' इत्यादि ।

इस जन्म तथा जन्मान्तरमें कृत नित्य, काम्य और निषिद्ध कर्म अनन्त हैं, जिनकी गणना नहीं हो सकती । अतः उनके भोगनेके लिए शरीरका धारण करना आवश्यक है, तब स्वास्थ्य (आत्माकी मुक्ति) कैसे होगा ? ॥५३॥

यदि कहो कि ऐकात्म्यज्ञानसे मुक्ति होती है, तो इसपर कहते हैं—'ऐकात्म्यज्ञानतः' इत्यादि ।

नित्यकर्मके अनुष्ठान तथा भोगसे निश्शेष कर्मनाश होता है, इस पक्षका त्याग कर ऐकात्म्यज्ञान ही से सकल कर्मनाश मानकर यदि मेरी तरह मुक्ति चाहो, तो बेखटके मुक्ति होगी, इसमें सन्देह नहीं ॥५४॥

'तेन निःसारताम्' इत्यादि ।

वेदवित् विद्वान् कर्मको निःसार समझ कर उसका त्याग कर देता है और

कर्मत्यागी बनकर ऐकात्म्यज्ञान ही का श्रवण, मनन आदिसे अनुसरण करता है, अर्थात् आत्मज्ञान ही मुक्तिका साधन है, दूसरा नहीं।

[भाव यह है कि कर्म द्वारा मुक्ति माननेमें भारी अड़चन एक यह है कि जिस उपाय द्वारा जिस वस्तुकी सिद्धि श्रुति बतलाती है, उसमें उस उपायानुष्ठानकी शक्ति है या नहीं? यदि नहीं है, तो उपायोपदेश ही व्यर्थ है। शक्तको उपायोपदेश करना चाहिए, जो उपाय द्वारा फल प्राप्त कर सके; अशक्तको नहीं, क्योंकि जब वह उपायानुष्ठान ही नहीं कर सकता, तब उसके प्रति उपायोपदेश समुद्रतरणवत् व्यर्थ है।

यदि कहिए कि 'है' तो शक्ति यावद्द्रव्यस्वभाव है अर्थात् जब तक आश्रय रहेगा तब तक शक्ति भी रहेगी। शक्ति आश्रयका स्वभाव है। जब तक अग्नि रहती है, तब तक दाहप्रकाशस्वभाव रहता है। शक्तिके रहनेपर तत्कार्य अवश्य होगा। कार्यके बिना भी शक्ति है, इसमें कुछ प्रमाण नहीं है। अन्यथा जलमें भी दाहप्रकाशशक्ति है, किन्तु कार्य नहीं होता, इस आक्षेपका क्या उत्तर होगा? अतः शक्तिकी कार्यदशामें भी शक्ति माननी पड़ेगी। यदि शक्तिका सद्भाव स्वीकार करते हो, तो शक्तिकार्य भी अवश्य ही होगा, क्योंकि कारणके रहनेपर कार्योत्पत्ति दुर्निवार है। अन्यथा कार्यकारणभाव ही नहीं सिद्ध होगा।

यदि ऐसा नियम हो कि कार्यारम्भके बिना शक्ति सिद्ध नहीं हो सकती, तो शक्तिकी स्थितिके लिए कार्य आवश्यक हो; किन्तु ऐसा नियम नहीं है, क्योंकि घटोपत्तिके बिना भी दण्ड रहता है? हां दण्ड रहता है, परन्तु दण्डत्वरूपसे—घटकारणत्वरूपसे—ही कारणताज्ञान कार्यताज्ञानसापेक्ष है। जब तक अमुक इसका कार्य है, यह प्रत्यक्ष न हो, तब तक इसका यह कारण है, ऐसा निश्चय नहीं हो सकता, और शक्तिकी अपेक्षा दण्डमें यह विशेष है कि दण्ड प्रत्यक्षसिद्ध है और शक्ति कार्यानुमेय ही है। कार्यदर्शनके बिना शक्ति सिद्ध नहीं हो सकती। वास्तविक कार्यकारणभाव सामग्री और कार्यमें है, दण्डादिमें तो स्वरूपयोग्यतारूप कारणता है। शक्तिकी तरह सामग्री भी प्रत्यक्ष नहीं है, अतः सामग्रीसे कार्यकी सिद्धि होती है। इसलिए कार्य और कारण ये दोनों पदार्थ परस्परसापेक्षसिद्धिक हैं अर्थात् एकके बिना दूसरेकी सिद्धि नहीं होती, अतः

यत्तूक्तं कर्मशेषत्वमात्मतज्ज्ञानयोर्न तत् ।
न तावदात्मा तच्छेषोऽनुवृत्तेर्लोकमोक्षयोः ॥ ५६ ॥

मुक्तिसमयमें यदि शक्ति रहेगी, तो कार्य अवश्य होगा, इस परिस्थितिमें मुक्ति कैसे होगी? कर्तृत्वशक्तिके रहनेपर कार्यप्रवाहका विच्छेद नहीं हो सकता।

यहां तकके विचारसे यह निष्कर्ष निकला कि कतिपय विहिताकारण, निषिद्ध देशादिसेवनरूप सूक्ष्मापराध प्रमादादिवश अवश्यंभावी हैं और जन्मान्तरके कर्मोंकी संभावना भी हुई है, तो आपके कहनेके अनुसार नित्य कर्मानुयायियोंकी मुक्ति सन्दिग्ध ही है, बल्कि पूर्वोक्त रीतिसे कर्मानधिकारी गर्दभादि ही मुक्तिके अधिकारी हो सकते हैं। यदि एक ही जन्मका कर्म शरीरारम्भक हो, तो भी पूर्वोक्त स्मृति प्रमाण नहीं हो सकती, इसलिए यदि प्राणिमात्र मुक्तिके अधिकारी नहीं है, तो उपदेश सर्वथा व्यर्थ ही है। और 'तरति शोकमात्मवित्' इत्यादि श्रुतिसिद्ध ज्ञानका फल मुक्ति है, यह भी असंगत हो जायगा। यदि कहिए कि ऐसी श्रुतियाँ अर्थवाद हैं, अर्थात् उनका तात्पर्य मुक्तिसाधन ज्ञान है, इस अर्थमें नहीं है, आत्मा कर्माङ्ग है, अतः ज्ञान भी कर्माङ्ग ही है, स्वतन्त्रफलक नहीं है, यह कह चुके हैं] ॥ ५५ ॥

आत्मा यागका कर्ता है, अतः वह यागाङ्ग है, इसलिए आत्मज्ञान भी तद् द्वारा यागाङ्ग ही है, यदि ऐसा कहो तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि आत्मा यागाङ्ग नहीं है, अतः आत्मज्ञान भी यागाङ्ग नहीं है, कारण कि लौकिक तथा वैदिक सब कार्योंका वह कर्त्ता है, केवल यागका ही नहीं, इसलिए वह यागाङ्ग नहीं है।

[अभिप्राय यह है कि लौकिक आत्मज्ञानको कर्माङ्ग मानते हो या वैदिक? लौकिक आत्मज्ञान तो कर्माङ्ग नहीं है, क्योंकि आत्मज्ञानके निर्णयके लिए पहले आत्मपदार्थका निर्णय आवश्यक है। आत्मा देहको मानते हो या अन्तःकरणविशिष्टको या वेदान्तवेद्य अशनायाद्यतीतको? यदि देहको आत्मा मानो, तो देहात्मज्ञान कर्माङ्ग नहीं हो सकता है, क्योंकि देह तो स्वर्गमें जाता नहीं, फिर पारलौकिक फल किसको होगा? यदि कर्मजन्यफलभोक्ता अपनेको न समझेगा, तो कर्म करेगा ही क्यों? यदि द्वितीय पक्ष मानो, तो आत्मा लौकिक-वैदिकसाधारण कर्मका कर्त्ता है, इसलिए यागाङ्ग नहीं है, अनन्यसाधारण

ज्ञानं कस्यात्मनोऽत्र स्यादिह कर्तृपरात्मसु ।
देहात्मधीर्भोगहेतुर्वैदिकं कर्म न स्पृशेत् ॥ ५७ ॥
देहान्तराभिसम्बन्धी न चाऽत्मास्तीति जानतः ।
विवेकिनो न युक्तेयं प्रवृत्तिः पारलौकिकी ॥ ५८ ॥

यागोपकारी यागाङ्ग कहलाता है। जैसे जुहू यागातिरिक्त कर्मका उपकारक न होकर यागोपकारक है, अतः पर्णता यागाव्यभिचरित जुहू द्वारा कर्माङ्ग है; इसलिए पापश्लोकश्रवणाभावश्रुति अर्थवाद है। प्रकृतमें आत्माका यागके साथ अव्यभिचरित सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि उसका लौकिक कर्मके साथ भी सम्बन्ध है; अतः उसका ज्ञान भी कर्माङ्ग नहीं है। यदि तृतीय पक्ष मानो, तो अशनायाद्यतीत आत्मा यागाधिकारी हो ही नहीं सकता, फिर उसे यागकर्तृ तथा यागाङ्ग मानना तो अत्यन्त असंगत है] ॥ ५६ ॥

प्रथम पक्षके तात्पर्यसे कहते हैं—'ज्ञानं कस्यात्मनोऽत्र स्यात्' इत्यादि। कर्तृपरातमपक्षमें ये दो विकल्प हैं—देह आत्मा है या अन्तःकरणविशिष्ट ? प्रथम पक्षमें कहते हैं कि देहात्मबुद्धि भोगहेतु है, वैदिक कर्मका तो स्पर्श भी न करेगी। देहको आत्मा माननेवाला वैदिक पारलौकिक कर्म क्यों करेगा। देह तो परलोक जायगा नहीं। उसका यही सिद्धान्त रहेगा—

यावज्जीवं सुखं जीवेदृणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ॥

अर्थात् जब तक जीता है आनन्दपूर्वक जीवन व्यतीत करे, ऋण करके भी घी पिया करे। ऋण न चुकानेपर परलोकमें दुःख होगा इसकी चिन्ता नहीं। देह तो यहीं भस्म हो जायगा, फिर परलोकका क्या भय ? अतएव ऋण न चुकानेपर उसका जन्मान्तरमें सेवक होना पड़ेगा, यह भी भय व्यर्थ है। जब वहां जाना ही नहीं, तब वहांसे फिर आनेकी क्या शङ्का ? ॥ ५७ ॥

द्वितीय पक्षके अभिप्रायसे कहते हैं—'देहान्तराभिसम्बन्धी' इत्यादि।

आत्मा देहान्तरसम्बन्धी है, यह जब तक न जानेगा, तब तक पारलौकिक कर्ममें प्रवृत्ति नहीं हो सकती; इसलिए देहातिरिक्त आत्मविवेकी ही यागाधिकारी है; परन्तु यह आत्मज्ञान वेदान्तियोंको अभिप्रेत नहीं है; किन्तु कर्तृत्वभोक्तृत्वादिशून्य, अपेतब्रह्मक्षत्रादिभेद और समस्तोपाधिशून्य चिदानन्दैकरस आत्मा अभिप्रेत है ॥ ५८ ॥

बाढं कर्त्रात्मधीः कर्महेतुश्चेदस्तु तावता ।
किमायातं कर्मघातिपरब्रह्मात्मवेदने ॥ ५९ ॥
वर्णाश्रमवयोवस्थाध्यासं कर्मोपजीवति ।
वर्णाश्रमादि हन्त्येतत् परब्रह्मात्मवेदनम् ॥ ६० ॥

उसे ही कहते हैं—'बाढं कर्त्रात्मधीः' इत्यादिसे ।

यदि कहो कि द्वितीय पक्षाभिप्रेत अन्तःकरणविशिष्ट आत्मा कर्ता है, तो यह भी ठीक है, क्योंकि अन्तःकरणविशिष्ट आत्माके कर्माङ्ग होनेपर भी कर्मके घातक परब्रह्मात्मवेदनमें क्या हानि हुई ? अर्थात् वह तो कर्माङ्ग नहीं है, प्रत्युत कर्मविरोधी है, इसीलिए वह कर्मघाती कहा गया है, कर्मघाती कर्मोपकारक नहीं हो सकता । प्रमाण द्वारा अङ्गाङ्गीभावका निर्णय होता है । आत्मज्ञान कर्माङ्ग है, इसमें क्या प्रमाण है ? श्रुति है अथवा दूसरा कोई प्रमाण ? श्रुति प्रमाण तो नहीं है, क्योंकि 'य एवं विद्वान् यजते' इत्यादि श्रुतिवाक्य हेत्वादिज्ञानका अनुवाद कर केवल उसीके यागाङ्गत्वका विधान करता है, आत्मज्ञानके कर्माङ्गत्वका विधान नहीं करता है, क्योंकि यह श्रुति कर्मप्रकरणस्थ है । आत्मप्रकरणस्थ नहीं है; अतः उक्त वाक्य प्राकरणिक अर्थका विधायक है, अप्राकरणिक अर्थका विधायक नहीं है । द्वितीय विकल्पके आश्रयणमें यदि अर्थापत्ति अभिप्रेत है अर्थात् देहभिन्न आत्मविज्ञानके विना पारलौकिक फलमें प्रवृत्ति नहीं हो सकती; इसलिए पारलौकिक फलके साधनमें प्रवृत्तिकी अन्यथानुपपत्तिरूप अर्थापत्ति प्रमाण है; तो वह अर्थापत्ति अन्तःकरणविशिष्ट आत्मविषया है ? या केवल आत्मविषया ? प्रथम पक्षमें विशिष्टके कल्पित होनेसे वह शुद्ध आत्मविषयक नहीं हैं, अतः उसके कर्माङ्ग होनेपर भी शुद्ध आत्मज्ञान कर्माङ्ग नहीं है; दूसरे पक्षमें अज्ञानविशिष्ट ही कर्माधिकारी होता है, शुद्धात्मज्ञानी मुक्तके समान अधिकारी ही नहीं है ॥ ५९ ॥

इसमें प्रमाण कहते हैं— 'वर्णाश्रम' इत्यादिसे ।

'ब्राह्मणो यजेत' 'गृहस्थः सदृशीं भार्यां विन्देत' 'जातपुत्रः कृष्णकेशोऽग्नीनादधीत' इत्यादि विधिवाक्य वर्णाश्रमावस्थाध्यासविशिष्ट पुरुषके उद्देश्यसे तत्तत्कर्मके विधायक हैं । इसलिए अध्यासविशिष्ट आत्मज्ञान ही कर्माङ्ग हो सकता है, परब्रह्मात्मवेदन तो पूर्वोक्ताध्यासका निवर्त्तक है, उपकारक नहीं है, कर्तृत्वादि आत्मामें कल्पित हैं, सत्य नहीं हैं, अतः उनके ज्ञानसे निवृत्त होनेमें कोई आपत्ति नहीं है ।

कर्तृभोक्त्रादिरूपत्वं प्रत्यगज्ञानहेतुजम् ।
ज्ञाते प्रतीचि तद्रूपमपैति स्वाप्नरूपवत् ॥ ६१ ॥

मोक्ष आत्मस्वरूपावस्थानस्वरूप है। आत्मज्ञानसे अज्ञानके निवृत्त होनेपर वह स्वयंसिद्ध हो जाता है; उसमें साधनान्तरकी आवश्यकता नहीं है।

यहांपर यह शङ्का होती है कि 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' इत्यादि श्रुतियोंसे जब आत्माकी असङ्गता सिद्ध है, तब उसमें कर्तृत्वादिका सङ्ग कैसे है ? यदि वह सङ्ग अज्ञाननिमित्तक है, तो शङ्का होती है कि अज्ञानका आत्माके साथ सङ्ग कैसे ? यदि निमित्तसे हो सकता तो उसमें भी निमित्तान्तरकी अपेक्षा होनेसे अनवस्था दोष होगा। और यदि अनिमित्तक मानें तो अविद्या की निवृत्तिसे; कर्तृत्वादिकी निवृत्ति कैसे होगी ? क्योंकि निमित्तकी निवृत्तिसे नैमित्तिककी निवृत्ति होती है, जब कर्तृत्वादिके साथ अविद्याका निमित्तनैमित्तिकभाव सम्बन्ध ही नहीं है तो अविद्याकी निवृत्ति होनेपर भी कर्तृत्वादिकी निवृत्ति नहीं हो सकती।

उत्तर—सादिमें निमित्तनैमित्तिकभावकी अपेक्षा होती है, अनादिमें नहीं अविद्याध्यास आत्मामें अनादि है। इसलिए निमित्तान्तरकी आवश्यकता नहीं है अथवा स्वपरसाधारण अविद्या ही निमित्त है, कर्तृत्वादि कल्पित हैं वास्तविक नहीं हैं, इसमें प्रमाण है अनुमान—कर्तृत्वाद्यनात्मा अविद्याधीनः, कार्यत्वात्, रज्जुसर्पवत्। अनात्मस्वरूप साक्षिवेद्य है, अतः साक्षिसम्बन्धके विना साक्षिवेद्यत्वानुपपत्तिरूप अर्थापत्ति भी प्रमाण है ॥६०॥

इसपर कहते हैं—'कर्तृभोक्त्रादि०' इत्यादिसे।

कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि सकल अनात्म पदार्थ प्रत्यग् आत्माके अज्ञानरूप हेतुसे उत्पन्न अर्थात् स्वात्म यथार्थाज्ञानहेतुक हैं, अतः आत्मयथार्थज्ञान होनेपर [ज्ञाते प्रतीचि] स्वाप्निक दृश्यके समान सब निवृत्त हो जाते हैं ॥६१॥

यह शङ्का होती है कि आत्मा चेतन होनेसे वास्तविक कर्ता-भोक्ता हो सकता है, फिर कर्तृत्व-भोक्तृत्वको कल्पित माननेकी क्या आवश्यकता है ?

उत्तर—असल बात यह है कि आत्मा असंग है, स्वतः कर्ता-भोक्ता नहीं है, किन्तु कर्महेतुके सम्बन्धसे आत्मामें भी कर्महेतुत्वकी प्रतीति होती है, कर्मके हेतु हैं— पुण्य और पाप। 'पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा पापः पापेन' इत्यादि श्रुतिसे पूर्व पुण्य उत्तर पुण्य कर्ममें निमित्त हैं एवं पाप भी पापकर्ममें निमित्त हैं। कर्मफल-भोग राग द्वारा कर्ममें कारण है। अनुपभुक्तमें राग नहीं होता। रागके विना

दारपुत्रधनादीनि कर्मसाधनतां ययुः ।
यानि तान्यपयान्तीति किमु वक्तव्यमात्मनः ॥ ६२ ॥
देहतद्बाह्यरूपं यद्विशेषणमुदीयते ।
प्रतीचो निर्विशेषस्य तदज्ञानं विना नहि ॥ ६३ ॥
चोरोऽसौ मामभिप्रैतीत्येवं चोरविशेषणम् ।
स्थाणौ सम्भावयत्यज्ञो न त्वभिज्ञस्तमो विना ॥६४॥

उसके साधनमें प्रवृत्ति नहीं हो सकती, तथा कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रियसे विकल अन्ध, पङ्गु आदिका यागमें अधिकार ही नहीं है । 'यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं स्यात्तां मनसा ध्यायेत्' इत्यादि श्रुतिसे मन भी निमित्त है । देहके बिना इन्द्रियादि व्यापार नहीं हो सकते । इसलिए 'ब्राह्मणो यजेत' इत्यादि श्रुतिसे इन्द्रियाश्रयशरीर विशिष्ट ब्राह्मणत्वादि जातिमान् पुरुष ही तत्-तत् कर्मोंका अधिकारी है । स्त्री, पुत्र, धनादि भी निमित्त हैं । स्त्री, पुत्र और धनसे युक्त पुरुषका अग्न्याधानादिमें अधिकार है; अतः इन कर्माधिकार निमित्तोंके संगके बिना स्वतः असंग आत्मामें कर्तृत्वादि सम्बन्ध कहां ?

इसे कहते हैं—'दारपुत्रधनादीनि' इत्यादिसे ।

स्त्री, पुत्र, धनादि कर्मसाधन हैं, इनका सम्बन्ध आत्मामें वास्तविक न होनेसे यदि ये आत्मयथार्थज्ञानसे निवृत्त हो जाते हैं, तो एतन्निमित्तक कर्तृत्वादि सम्बन्ध भी निवृत्त हो जाता है, इसमें कहना ही क्या है ? ॥ ६२ ॥

देह और उससे भिन्न प्रत्यगात्मामें जो विशेषणरूपसे प्रतीत होते हैं, वे अज्ञानके बिना नहीं हो सकते ॥ ६३ ॥

तात्पर्य यह है कि यदि आत्मा स्वतः कर्माधिकारी नहीं है, तो पूर्वोक्त हेतु द्वारा भी कैसे अधिकारी होगा ? यदि अग्नि स्वतः शीतस्वभाव नहीं है, तो वायुके सम्बन्धसे भी वह जलादिके समान शीत नहीं हो सकती । यद्यपि निर्विशेष आत्मामें स्वतः कर्तृत्वादि शक्ति नहीं है; फिर भी द्वैतवादी लोग पूर्वोक्त साधनविशिष्टमें कर्तृत्वादिको वास्तविक मानते हैं । स्वतः अप्रकाशशील घटादि प्रदीपद्वारा प्रकाशित होता ही है, घटमें प्रकाशसम्बन्ध स्वाभाविक नहीं है, किन्तु प्रदीपनिमित्तक है । प्रदीपके निवृत्त होनेपर घटमें प्रकाशसम्बन्ध भी निवृत्त हो जाता है, यह विचारशील अवश्य कहेंगे । और इसपर दृष्टि अवश्य दीजिये कि अन्य पदार्थ अन्यमें—स्वभिन्नमें—विशेषण तथा अन्यका—स्वभिन्नका—वास्तविक

करोम्यन्धो द्विजो बालो दग्धश्छिन्नोऽहमित्यपि ।
नाविद्यामन्तरेणैतैः प्रत्यगात्मा विशिष्यते ॥ ६५ ॥

स्वरूप हो सकता है या नहीं ? नहीं हो सकता है, यही कहना उचित है, क्योंकि गऊ और महिष एक दूसरेसे भिन्न हैं; इसलिए न तो गऊ महिषकी विशेषण ही हो सकती है, और न स्वरूप ही हो सकती है। यदि अन्य अन्यका कहींपर विशेषण या स्वरूप देखा जाय, तो उसे अज्ञानप्रयुक्त ही हुआ समझना चाहिए, अन्यथा वैसा हो नहीं सकता, इस भावसे कहते हैं—'चोरोऽसौ' इत्यादिसे ।

मन्दान्धकारमें सामने स्थाणुको देखकर यह चोर है और मेरे सामने आ रहा है, इस प्रकार अज्ञानवश स्थाणु चोरमें विशेषणरूपसे प्रतीत होता है, वास्तविक नहीं । जो वस्तुतः स्थाणुको जानता है, वह ऐसी कल्पना नहीं करता, इसलिए यह मानना आवश्यक है कि अज्ञानसे ही स्थाणु पुरुषमें विशेषण होता है, अन्यथा नहीं ।

शङ्का—अज्ञानके विना भी दूसरा दूसरेमें विशेषणरूपसे देखा जाता है, जैसे 'दण्डी पुरुषः' 'राजाश्वः' इत्यादि ।

उत्तर—हां, देखा जाता है; किन्तु आपने हमारा अभिप्राय नहीं समझा । हमारा अभिप्राय यह है कि विशेषणविशेष्यभाव दो प्रकारका होता है, एक भेदग्रहपूर्वक और दूसरा भेदाग्रहपूर्वक । 'दण्डी पुरुषः' इत्यादि स्थलमें जो विशेषणविशेष्यभाव है, वह भेदग्रहपूर्वक है, वह अज्ञानके विना भी होता है। द्वितीयमें—भेदाग्रहपूर्वक विशेषणविशेष्यभावमें—अज्ञानके विना अन्य वस्तु अन्य वस्तुमें विशेषण नहीं हो सकती । 'गौरोऽहं' 'कृशोऽहम्' इत्यादि स्थलमें भी गौर और कृशादिका आत्माके साथ जो विशेषणविशेष्यभाव प्रतीत होता है, वह भेदाग्रहपूर्वक है, अर्थात् यद्यपि आत्मा और शरीरका भेदभान नहीं है, तो भी विशेषणविशेष्यभाव है, अतः यह भी अज्ञाननिमित्तक है। इसी तरह 'चौरोऽयम्' इत्यादि स्थलमें भी अज्ञाननिमित्तक विशेषणविशेष्यभाव है। भेदज्ञान होनेपर उक्त विशेषणविशेष्यभावकी भी निवृत्ति हो जाती है ॥६४॥

मैं अन्ध हूँ, बालक हूँ, द्विज हूँ, दग्ध हूँ, छिन्न हूँ, मैं करता हूँ, इत्यादिसे अन्धादिकी आत्मामें जो विशेषणरूपसे प्रतीति होती है, वह अज्ञान ही से होती है। आत्माका यथार्थज्ञान होनेपर ये विशेषणभावसे प्रतीत नहीं हो सकते ॥६५॥

इयमेवात्मनोऽविद्या कर्माधिकृतिकारणम् ।
अधिक्रियन्ते येनैते बृहस्पतिसवादिषु ॥ ६६ ॥
सर्वकर्मसमुच्छेदि ज्ञानं वेदान्तमानजम् ।
तन्मूलाज्ञानघातित्वान्नोऽस्य कर्माङ्गता ततः ॥ ६७ ॥

जिनका परस्पर भेद नहीं ज्ञात है, ऐसे स्थाणु-चोरकी तरह शरीरादि और आत्माका विशेषणविशेष्यभाव अविद्यानिमित्तक ही सही, परन्तु प्रकृत धर्माचरणमें विशेष क्या हुआ ? इसे कहते हैं—'इयमेवात्मनोऽविद्या' इत्यादिसे ।

यह अविद्या अर्थात् अविद्याधीन विशेषणविशेष्यभाव कर्मसम्बन्ध-निमित्तक ब्राह्मणत्वाभिमानका हेतु होनेसे कर्माधिकारका हेतु है, 'ब्राह्मणो वैश्वदेवेन यजेत' इत्यादि श्रुतिसे विहित वैश्वदेव आदि यागोंका ब्राह्मणत्वाभिमानी पुरुष अर्थात् 'मैं ब्राह्मण हूँ' इस प्रकार अपनेको ब्राह्मण समझनेवाला पुरुष ही कर्ता प्रतीत होता है । ब्राह्मणत्वके अभिमानके अविद्या-प्रयुक्त होनेसे उक्त उन-उन बृहस्पतिसव आदि यज्ञोंका अविद्यावान् पुरुष ही अधिकारी है ॥ ६६ ॥

शुद्धात्मज्ञानं कर्माङ्गम्, आत्मज्ञानत्वात्, इतरात्मज्ञानवत्, अर्थात् शुद्ध आत्माका परिज्ञान कर्मका अङ्ग है, आत्माका ज्ञान होनेसे, अन्य आत्मज्ञानके समान, इस अनुमानसे शुद्ध आत्माके परिज्ञानकी भी कर्मोंके अङ्गरूपसे प्रतीति होती है । इस शङ्कापर कहते हैं—'सर्वकर्म' इत्यादिसे । 'एकमेवाद्वितीयम्' इत्यादि वेदान्त-वाक्योंसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान, कर्मोंकी मूलभूत अविद्याका निवर्तक होनेसे, सब कर्मोंका नाशक है, अतः यह ज्ञान कर्मका अङ्ग नहीं हो सकता ।

शङ्का—शुद्ध आत्माका ज्ञान सब कर्मोंका नाशक है ? इसमें क्या प्रमाण है ?

समाधान—श्रुति, स्मृति आदि तथा अनेक तत्त्वदर्शी विद्वानोंका अनुभव ही उक्त अर्थमें प्रमाण है ।

उनमें 'क्षीयन्ते चाऽस्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे' यह श्रुति है और 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन' इत्यादि स्मृति है । इन विविध श्रुत्यादि प्रमाणोंसे यह निश्चित होता है कि उत्पन्न हुआ निरतिशयानन्दैक-रसस्वरूप अद्वैत ब्रह्मज्ञान सम्पूर्ण अविद्यादि क्लेशोंको और उनके निदानभूत अज्ञान

यच्चोक्तमर्थवादत्वं ब्रह्मज्ञानफलस्य तत्।
अभ्युपैम्यर्थवादत्वं वचसोऽन्यपरत्वतः ॥ ६८ ॥

एवं तन्मूलक सारे द्वैत-प्रपञ्चको नष्ट करता है। यदि द्वैताभाव होनेसे साध्य-साधनभाव ही नहीं रहता, तो कर्माङ्ग कैसे होगा ?

शङ्का—अच्छा, तो यह बतलाइए कि तत्त्वज्ञान उत्पन्न होकर अज्ञान आदिका नाशक होता है अथवा अनुत्पन्न होकर नाशक होता है ? यदि प्रथम पक्षका अङ्गीकार किया जाय, तो ज्ञान और अज्ञानका परस्पर विरोध होनेसे जबतक अज्ञान रहेगा, तबतक ज्ञानकी उत्पत्ति ही नहीं हो सकती, और यदि यह न माना जाय, तो उनका विरोध ही होगा। द्वितीय पक्षका स्वीकार करनेपर जब ज्ञान उत्पन्न ही नहीं हुआ, तो ज्ञान अज्ञानका निवर्तक कैसे हो सकता है ? यदि असत् ज्ञान अज्ञानका निवर्तक हो, तो संसारमें स्थित सभी पुरुषोंका अज्ञान निवृत्त हो जाना चाहिए।

समाधान—चित्तके विमल होनेपर ज्ञानकी उत्पत्ति होती है और उससे अज्ञानकी निवृत्ति होती है। जैसे कि प्रदीपका आलोक उत्पन्न होकर ही अन्धकारको नष्ट करता है, यह लोकमें आप स्वयं अनुभव करते ही हैं, फिर इस विषयमें अधिक कहनेकी क्या आवश्यकता है ? इससे यह सिद्ध हुआ कि शुद्ध आत्माका परिज्ञान कर्मोंके प्रति अङ्गभूत नहीं है। इस परिस्थितिमें अर्थात् आत्मज्ञानके अन्य शेष न होनेमें आत्मज्ञानके फलकी—ब्रह्मभावकी—बोधक श्रुतियाँ अर्थवाद नहीं हो सकतीं ॥ ६७ ॥

यद्यपि विचारसे आत्मज्ञानके फलकी बोधक श्रुतियाँ अर्थवाद नहीं हैं, यह निर्णय कर चुके हैं, तथापि आपके आग्रहसे अभ्युपेत्यवादका अङ्गीकार करके यदि अर्थवाद माना जाय, तो भी समाधान हो सकता है, इसे कहते हैं—'यच्चोक्तम्' इत्यादिसे।

जो आपने कहा है कि ब्रह्मज्ञानके फलका प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियाँ अर्थवाद हैं। यद्यपि वह मेरा सिद्धान्त नहीं है, तथापि उनके अन्यपरक—ब्रह्मात्मैक्यपरक—होनेसे आग्रहवश उनको अर्थवाद मान भी लें, तो कोई हानि नहीं है ॥६८॥

यहाँपर यह प्रश्न होता है कि क्या वह भूतार्थवाद है या गुणवाद है ?

विरोधानुपलम्भेनापापश्लोकश्रुतेरिव ।
नैवाभूतार्थवादत्वं किन्तु भूतार्थवादता ॥ ६९ ॥

(वाच्य अर्थके साथ यदि अन्य किसी प्रमाणका विरोध न हो, तो उस अर्थवादको भूतार्थवाद कहते हैं, अन्यथा वह गुणवाद कहा जाता है) इसी भावसे कहते हैं—'विरोधानुपलम्भेन' इत्यादिसे ।

विरोधके न होनेसे वह अपापश्लोक श्रुतिके समान अभूतार्थवाद नहीं है, किन्तु, भूतार्थवाद ही है, भूतार्थवादका स्वार्थमें भी तात्पर्य रहता है। सारांश यह है कि 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म', 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' इत्यादि ब्रह्मस्वरूपके निरूपणके लिए प्रवृत्त श्रुतियाँ प्रधान हैं और 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' 'तरति शोकमात्मवित्' इत्यादि गौण हैं, क्योंकि गुणप्रधानभावके बिना एक वाक्यका दूसरे वाक्यके साथ मिलकर वाक्यैकवाक्यतासे एक अर्थका बोधन नहीं हो सकता । इसलिए गुणत्वरूप अन्य शेष होनेपर भी वह स्वार्थमें प्रमाण होता ही है, गुणवादके समान अप्रमाण नहीं होता । जैसे कि 'यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोति' इस वाक्यका, जुहू द्वारा कर्मशेष होनेपर भी अपापश्लोकश्रवणरूप फलमें तात्पर्य नहीं है, किन्तु जुहूके अङ्गत्वमें है । पर्णताका फल पापश्लोक-श्रवणाभाव नहीं है। प्रकृतमें 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' इत्यादि आत्मज्ञानफलकी बोधक श्रुति प्रधानभूत पूर्वोक्त 'सत्यं ज्ञानमनन्तम्' इत्यादि वाक्यकी अपेक्षा गौण होनेपर भी ब्रह्मज्ञानके फलांशमें प्रमाण ही है—ब्रह्मज्ञानसे ब्रह्मस्वरूपप्राप्तिरूप फल होता है, अन्य उपायसे नहीं ।

'यस्य पर्णमयी' इत्यादि वाक्य तो पर्णतामें जुह्वङ्गत्वका बोधन करके सार्थक हो जाता है, इसलिए काम्य अर्थका बोधक नहीं है। यदि वाक्यका दोनोंमें तात्पर्य मानें, तो वाक्यभेद हो जायगा, अतः फलका श्रवण केवल स्तुतिमात्र है, भूतार्थवाद नहीं है। 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' इत्यादि वाक्यका यदि ब्रह्मभावरूप फलमें तात्पर्य न होगा, तो यह वाक्य ही व्यर्थ हो जायगा। इसलिए यह पर्णताके समान केवल स्तुतिमात्रफलक नहीं है, किन्तु भूतार्थवाद—सत्यार्थवाद—है, अतः स्वार्थमें प्रमाण है। जैसे दर्शपूर्णमासप्रकरणमें पठित 'दर्शपूर्णमासाविज्येते' इस प्रकारका अर्थवाद वाक्य 'दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत' इत्यादिका वाक्यशेष होनेपर भी भूतार्थवाद ही है। वैसे ही ब्रह्मज्ञानके फलकी

कुतो विरोधः शङ्क्येत प्रत्यक्षे ब्रह्मधीफले ।
ब्रह्मत्वमात्मनो दृष्ट्वा नोत्तरेत्संसृतिं कथम् ॥ ७० ॥

बोधक उक्त श्रुति भी भूतार्थवाद ही है, अन्यथा ज्ञानके अनुभूयमान श्रौतफलके साथ विरोध होगा ।

शङ्का—'दर्शपूर्णमासाभ्याम्' इत्यादि वाक्यसे दर्श आदिका विधान है, अतः 'स्वर्गाय' इत्यादि वाक्य अनुवादक हो सकता है, अन्य प्रमाणसे प्रसिद्ध अर्थका पुनः कथन अनुवाद है, प्रकृतमें ब्रह्मभावापत्तिरूप अर्थ अन्य किसी प्रमाणसे प्रसिद्ध नहीं है, इसलिए 'ब्रह्म वेद' इत्यादि अनुवाद कैसे हो सकता है ?

समाधान—यद्यपि अन्य वाक्यसे ब्रह्मभावापत्तिरूप फल प्रसिद्ध नहीं है, तथापि विद्वानोंके प्रत्यक्ष अनुभवसे उसकी प्रसिद्धि है; शब्दप्रमाणसे प्रसिद्धि अनुवादमें अपेक्षित है, प्रमाणान्तरसे प्रसिद्धि नहीं, यह नहीं है । इसीसे 'अग्नि-र्हिमस्य भेषजम्' यह वाक्य प्रत्यक्षप्रसिद्ध अर्थका बोधक होनेसे अनुवादक माना गया है ।

निचोड़ अर्थ यह निकला कि शुद्ध आत्माका विज्ञान मुक्तिका कारण है, वह कर्मविधिका स्पर्श भी नहीं करता, अतः कर्मशेष नहीं है । कर्म-विधि अभ्युदयमें कारण है और आत्मज्ञान मुक्तिका कारण है । इसीसे ज्ञानकाण्ड, कर्मकाण्ड, पूर्वमीमांसा, उत्तरमीमांसा आदिकी भिन्नता और अधिकारीका भेद भी उचित प्रतीत होता है । कर्तृत्व आदि अभिमानसे कर्मानुष्ठान होता है । श्रवण आदिमें मुमुक्षुकी प्रवृत्ति अभिमानरहित है, इसीसे मुमुक्षुको कर्मोंकी अभिलाषा नहीं होती है, और कर्म मुक्तिके विरोधी भी हैं ।

'धर्मरज्ज्वा व्रजेदूर्ध्वं पापरज्ज्वा व्रजेदधः' ।

अर्थात् धर्मरूप रस्सीसे स्वर्गको जाता है और पापरूप रस्सीसे नरकमें जाता है, इत्यादि स्मृतियोंसे कर्मोंका फल बन्धन ही है और मुमुक्षु चाहता है—बन्धनसे मुक्ति । इस परिस्थितिमें वह अपने अभीष्ट फलके साथ विरोध रखनेवाले कर्मोंका अनुष्ठान करेगा ही क्यों ? अर्थात् नहीं करेगा, प्रत्युत उनका त्यागकर श्रवण, मनन आदिमें ही प्रवृत्त होगा ॥६८,६९॥

श्रवण आदि करता हुआ मुमुक्षु बीच-बीचमें यदि कर्मोंका अनुष्ठान करे, तो क्या अनुपपत्ति है ? इस शङ्काके परिहारके लिए कहते हैं—'कुतो विरोधः' इत्यादिसे ।

ब्रह्मज्ञानियोंमें भी सांसारिक कर्तृत्व आदि धर्मोंका अभिमान देखा जाता है, अतः मुमुक्षु भी यथावकाश कर्म कर सकते हैं, इसमें विरोध ही क्या है? ब्रह्मज्ञानका ब्रह्मात्मदर्शनरूप फल प्रत्यक्ष है, अतः वह संसारके पार क्यों नहीं उतरेगा? ॥७०॥

[आशय यह है कि प्रवृत्तिके प्रति राग आदि मल ही कारण हैं, श्रवण आदिसे विवेक, वैराग्य आदि भावना द्वारा राग आदि मलोंके निःशेष निवृत्त हो जानेपर जब चित्त शुद्ध हो जाता है, तब उन राग आदिकी सम्भावना नहीं रहती, फिर कर्ममें मुमुक्षुकी प्रवृत्ति कैसे हो सकती है? पूर्वाभ्यासवश कर्म करनेकी इच्छा उसे हो सकती है, यह भी शङ्का ठीक नहीं है, कारण कि किसीको अपने गाँवपर जानेकी इच्छा हुई, किन्तु ग्राम-प्राप्तिके मार्ग दो हैं—एक मार्ग तो ऐसा है, जिसमें खाने पीनेका सामान स्थान-स्थान पर मिलता है, किनारे-किनारे मनोरम फल-पुष्पोंसे भरपूर वृक्ष-वाटिका लगी है, हिंस्र जन्तु तथा चोरोंका बिलकुल भय नहीं है, सब तरहसे सुगम एवं सीधा है। और दूसरा मार्ग ठीक इससे विपरीत है अर्थात् जहाँ तहाँ अनेक घातुक प्राणियोंसे मार्ग भरपूर है।

अब आपसे पूछा जाता है कि इन दो मार्गोंमें से दूरदर्शी विद्वान् किस मार्गका आश्रयण करेगा? मेरा तो दृढ़ विश्वास है—आप यही कहेंगे कि प्रथम मार्गका ही विद्वान् आश्रयण करेगा।

और प्रकृतमें इस विषयपर भी विचार कर लेना अत्यन्त उपयुक्त है कि क्या विद्वान् स्वतः अपनेको कर्माधिकारी समझता है या अनात्मवस्तुके सम्बन्धसे? उसमें भी अनात्मवस्तुका सम्बन्ध स्वाभाविक है या अविद्यानिमित्तक? असङ्ग आत्मामें अनात्मवस्तुका सम्बन्ध स्वाभाविक तो हो नहीं सकता, अतः आविद्यिक कहना होगा, परन्तु यह कैसे हो सकता है, क्योंकि अविद्याके निवृत्त हो जानेपर तन्मूलक कर्तृत्व आदि धर्मोंके भी निवृत्त हो जानेसे—'सब धर्मोंसे शून्य तथा निष्क्रिय मैं हूँ, कारण कि व्यापक आत्मामें क्रिया नहीं रह सकती' ऐसा जो अपनेको मानता है, भला वह कैसे कर्म कर सकता है?

और यह भी विचारना चाहिए कि वह विद्वान् कर्ममें किस लिए प्रवृत्त होगा? क्या स्वर्ग आदि फलके लिए या मुक्तिके लिए या मुक्तिसाधन ज्ञानके लिए? प्रथम पक्ष तो ठीक नहीं है, क्योंकि जब वैराग्य आदिकी भावनासे

ऐहिक और आमुष्मिक फलमें रागकी निवृत्तिसे जिसका चित्त शुद्ध हो गया है, उसको फिर स्वर्ग आदिमें राग होगा ही कहाँसे। द्वितीय पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि मुक्ति तो स्वकीय आत्मरूप होनेसे नित्य प्राप्त ही है, अप्राप्त वस्तुमें क्रियाकारकभावकी अपेक्षा होती है, नित्य-प्राप्तमें नहीं होती। तृतीय पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि ज्ञानसे यदि वृत्तिरूप साक्षात्कार अभीष्ट है, तो वह प्रत्ययैकतानतारूप ध्यानसे ही होता है, अतः उसके लिए कर्मकी आवश्यकता नहीं है।

तात्पर्य तो यह है कि मुक्ति नित्य है, जन्य नहीं। जन्य और उत्पाद्य फलके लिए कर्मोंकी अपेक्षा होती है, नित्य फलके लिए नहीं। स्वर्ग आदिके लिए विद्वान् भी कर्म करेगा, यह तो सम्भव ही नहीं है, क्योंकि 'कर्मणा बध्यते जन्तुः' इत्यादि स्मृति-वाक्योंसे कर्मोंमें मोक्षविरोधिता जानकर उनमें मुमुक्षु प्रवृत्त ही कैसे हो सकता है? अल्पज्ञ मूर्ख पुरुष भी पूर्वमें जानेकी इच्छासे पश्चिमकी तरफ नहीं जाता, तो फिर विद्वान् विपरीत कर्म कैसे करेगा? यदि करे, तो उसे विद्वान् ही नहीं कहना चाहिए।

और यह अनेक बार कह चुके हैं कि अविद्यावान् ही कर्माधिकारी है, विद्यासे सविलास अविद्याकी निवृत्ति हो जानेसे कार्य करनेकी सामग्री ही विद्वान्में नहीं है, तो वह कर्म कैसे करेगा? यह भी प्रसिद्ध है कि अविवेकपूर्वक ही कर्ममें पुरुषोंकी प्रवृत्ति होती है। विद्यावान् पुरुषमें अविवेककी सम्भावना नहीं हो सकती, फिर उसकी कर्ममें प्रवृत्ति कैसे होगी?।

शङ्का—कृतकृत्य विद्वान् भी मनोविनोदके लिए कर्म कर सकता है। जैसे यद्यपि परब्रह्म परमात्मा आप्तकाम है, तथापि क्रीड़ार्थ जगत्की रचना करता है।

समाधान—यह आपकी शङ्का ठीक नहीं है, कारण कि परमात्मा तो स्वतः शक्तिमान् है, अतः वह सृज्यमान प्राणियोंके अदृष्टसे सृष्टि करता है अर्थात् समस्त ब्रह्माण्डको उत्पन्न करता है, और विद्वान् तो उपकरणरहित है, अतः सर्वथा असमर्थ है।

शङ्का—तत्त्वके ज्ञानसे सम्पूर्ण प्राक्तन अज्ञानोंका नाश होनेपर भी पुनः उत्पन्न अन्य अज्ञानसे विद्वान् कर्म कर सकता है।

समाधान—यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि तत्त्वज्ञानसे सम्पूर्ण अज्ञानकी निवृत्ति होनेपर आत्मा कूटस्थ हो जाता है, अतः वह स्वयं अज्ञानोत्पत्तिका

उत्तीर्य संसृतिं भूयः कर्तृत्वादीन्न वीक्षते।
रोगादिवदनर्थत्वात् कर्तृत्वादिजिहासतः ॥ ७१ ॥

कारण हो नहीं सकता। अद्वितीय होनेसे अन्य हेतुकी सम्भावना भी नहीं हो सकती, और अनिमित्त कार्यकी उत्पत्ति व्याघात आदि दोषसे नहीं होती, इससे अज्ञानान्तर द्वारा भी शङ्का ठीक नहीं है। और

'अविद्यावद्विषयाणि प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि शास्त्राणि च।'

'किमिच्छिन् कस्य कमाय शरीरमनुसंज्वरेत्।'

'यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।'

इत्यादि शास्त्रोंसे भी विद्वानोंका कर्माधिकार निषिद्ध किया गया है, अतः विरक्त तथा जिसने सब कर्मोंका परित्याग किया है वही पुरुष मोक्षका अधिकारी है और इससे विपरीत पुरुष कर्मानुष्ठानका अधिकारी है, ऐसा सभी शास्त्रोंका निष्कर्ष है।

शङ्का—यदि अज्ञानसे युक्त पुरुष ही कर्मोंका अधिकारी है, तो सुषुप्ति-दशामें भी अज्ञान रहता है, इसलिए क्या उस दशामें भी शास्त्रसिद्ध कर्मोंका अधिकारी पुरुष हो सकता है?

समाधान—नहीं, नहीं हो सकता है, क्योंकि अज्ञानसे अज्ञानमूलक शरीरेन्द्रियादिका अभिमान लेना चाहिए, यह तात्पर्य है। सुषुप्ति-दशामें उक्त अहङ्कार नहीं है, अतः उस दशामें कर्माधिकार हो ही नहीं सकता।]

यदि शङ्का हो कि मुमुक्षुको भी प्रारब्ध कर्मसे शरीर आदिका अभिमान तो रहता ही है; अतः उसका भी कर्माधिकार अनिवार्य ही होगा, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि मुमुक्षु पुरुष देहाभिमानको मिथ्या समझता है, अतएव तादृश अभिमानसे साध्य कर्ममें श्रद्धा-शून्य पुरुष प्रवृत्त ही नहीं होगा। श्रद्धा कर्मानुष्ठानमें कारण है। 'अश्रद्धया हुतं दत्तम्' इत्यादि शास्त्रसे श्रद्धारहित पुरुष कर्माधिकारी नहीं हो सकता। और जीवन्मुक्तमें तो शरीरादिका भान रहनेपर भी उसका अभिमान नहीं रहता है। इससे उनके कर्माधिकारकी सम्भावना ही नहीं है। अविद्या, अविद्याकार्य कर्तृत्व आदिका विद्याके साथ विरोध है, विद्वान्के लिए कर्तृत्वादि और तन्मूल अविद्या, ये दोनों जिहासित हैं, उपादेय नहीं हैं, इसी अभिप्रायसे कहते हैं—'उत्तीर्य संसृतिं भूयः' इत्यादि से।

विद्वान् संसारको पार करने फिर कर्तृत्व आदि धर्मोंको नहीं देखता है। इससे

कर्तृत्वादिस्वभावस्य दृश्यत्वात्तु दृगात्मनि ।
अविद्याकल्पितत्वं स्याद् दृगात्मा तु न दृश्यते ॥७२॥

क्या उस समय उसमें दर्शनसामर्थ्य ही नहीं रहती ? नहीं, यह बात नहीं है, किन्तु बात यह है कि 'स्वनिष्ठतया तदानीं न पश्यति' अर्थात् जैसे रोगी पुरुषको रोग जिहासित है। औषधके उपचारसे रोगके निवृत्त होनेपर फिर उस रोगको वह रोगी अपनेमें अनुभव नहीं करता, वैसे ही कर्तृत्व आदि धर्म भी रोगके समान अनिष्टके ही हेतु हैं, अतः विद्वान्को वे जिहासित हैं। तत्त्वज्ञानसे जब कर्तृत्वादि धर्मोंकी निवृत्ति हो जाती है तब कर्तृत्व आदि धर्मोंका अपनेमें वह अनुभव नहीं करता, इसलिए मुक्त पुरुषको कर्माधिकार नहीं रहता है, यह निचोड़ अर्थ है ॥ ७१ ॥

शङ्का—कर्तृत्व आदि आत्माके स्वभाव हैं, अतः वे जिहासित नहीं हो सकते। वे आत्मस्वभाव हैं, इसमें अनुमान ही प्रमाण है। वह इस प्रकार होता है—कर्तृत्वादिः आत्मस्वभावः, तत्र प्रतीयमानत्वात्, चैतन्यवत् । इसपर कहते हैं—'कर्तृत्वादि' इत्यादिसे ।

कर्तृत्व आदि स्वभाव दृश्य होनेसे आत्मामें कल्पित ही हैं, सत्य नहीं हैं। द्रष्टारूप आत्मा तो दृश्य नहीं हो सकता है। और यह अनुमानप्रमाणसे भी सिद्ध है कि आत्मामें कर्तृत्व आदि कल्पित हैं। अनुमानका स्वरूप यह है—कर्तृत्वादिस्वभावः आत्मनि कल्पितः, दृश्यत्वात्, शुक्तिरूप्यवत् । प्रकृतमें दृश्यत्व चैतन्यविषयत्वरूप ही विवक्षित है, अतः चैतन्यकी विषयता चैतन्यसे भिन्नमें ही रहेगी चैतन्यमें नहीं, इसलिए आत्मामें व्यभिचार नहीं है।

'द्रष्टारमरे केन विजानीयात्'
'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'

'अद्रेश्यम्' इत्यादि प्रमाणोंसे चैतन्यकी विषयता चैतन्यमें नहीं रहती है, यह ब्रह्मवादियोंका सिद्धान्त है ॥ ७२ ॥

कर्तृत्व आदि आत्माके धर्म नहीं हैं, इसमें जो अनुमान किया गया है, वह ठीक नहीं है, क्योंकि 'अहं कर्ता' इत्यादि प्रत्यक्षप्रमाण उक्त अनुमानका बाधक है। जैसे अग्निः अनुष्णः, कृतकत्वात्, घटवत्, इत्यादि अनुमान 'वह्निः उष्णः' इस प्रत्यक्षप्रमाणसे बाधित है, अतः उक्त अनुमानसे वह्निमें

प्रमाता साक्षिणा दृश्यो मातुर्मानं प्रजायते ।
मानेन मीयते मेयं साक्षिदृश्यं त्रयं ततः ॥७३॥

उष्णत्वाभावका साधन नहीं हो सकता, किन्तु प्रत्यक्ष-प्रमाणके अनुसार वह्निमें उष्णत्वका ही अङ्गीकार किया जाता है, वैसे ही प्रत्यक्षप्रमाणके अनुसार आत्मामें वस्तुतः कर्तृत्व आदि धर्मोंकी सत्ता ही माननी चाहिए, इस शङ्काकी निवृत्तिके लिए कहते हैं—'प्रमाता' इत्यादिसे ।

प्रमाता साक्षीसे दृश्य है और वही प्रमाता साक्षिदृश्य प्रमाणसे साक्षिदृश्य प्रमेयको प्रमित करता है, इसलिए प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय, ये तीनों साक्षिदृश्य हैं । साक्षी साक्षीसे दृश्य नहीं है, क्योंकि अपनेमें अपनी विषयता नहीं रह सकती । विषयता एक प्रकारका सम्बन्ध है, और वह सम्बन्ध भिन्नमें होता है, अभिन्नमें नहीं होता ।

तात्पर्य यह है कि विद्वानोंके अनुभवसे, श्रुतियोंसे तथा तथोक्त अनुमानसे यह सिद्ध है कि आत्मा अकर्तृस्वरूप ही है, कर्तृस्वरूप नहीं है । विद्वानोंके अनुभवमें विप्रतिपत्ति है, अतः उसके उभयवादिसिद्ध प्रमाण न होनेके कारण यदि उसे प्रकृतार्थका साधक न मानो, तो मोक्षका एक तरहसे उच्छेद ही हो जायगा, क्योंकि कर्तृत्वादिके आत्मस्वभाव होनेपर उनकी निवृत्ति किसी प्रकारसे भी नहीं हो सकेगी । यदि स्वभावकी भी निवृत्ति मानी जाय, तो आत्माकी भी निवृत्ति प्रसक्त होगी, क्योंकि पदार्थके स्वभावकी निवृत्ति होनेपर पदार्थ ही नहीं रह सकता, फिर मुक्ति किसकी होगी ?

शङ्का—यदि आत्माकी मुक्ति न हो, तो भले ही न हो; क्योंकि चार्वाकको यह अभीष्ट ही है । चार्वाकके मतमें आत्मा नित्य नहीं है, जैसे अग्निमें दाह, पाक आदि विकार हैं, वैसे ही आत्मामें भी जन्म, मरण आदि विकार हैं, अतः इस मतमें आत्माका विनाश ही मुक्ति है, उससे भिन्न मुक्ति नहीं है । जन्म, मरण आदि विकार तो देहके धर्म हैं, आत्माके धर्म नहीं हैं, यदि ऐसा कोई कहे, तो उसका यह कथन भी अज्ञानमूलक ही समझना चाहिए, क्योंकि चारों ओर खोजनेपर भी देहभिन्न आत्मा कहींपर भी नज़रमें नहीं आता है, और आत्माकी जो प्रतीति होती है, वह देहमें ही होती है, अन्यत्र नहीं । तुष्यतु दुर्जनन्यायसे यदि आत्माको देहसे अतिरिक्त मान भी लिया

जाय, तो भी प्रश्न यह होता है कि वह भोक्ता है या नहीं ? प्रथम पक्षमें उसकी विकारिता अनिवार्य है, उसके विकारी होनेपर उसकी अनित्यताका निवारण इन्द्र भी नहीं कर सकता। द्वितीय पक्षमें भोग्यमात्र ही जगत् रहा, अथवा यों कहिए कि भोक्ताके न रहनेसे भोग्य भी नहीं कहा जा सकता, किन्तु स्वरूपसे जगत् कहा जायगा, लेकिन सच पूछिये, तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि सर्ग ही व्यर्थ हो जायगा। अतः आत्मा अनित्य है, यह चार्वाकोंका कथन ठीक नहीं है; कारण कि विकार अनित्यत्वसे व्याप्त है। यदि आत्मामें विकार होगा, तो उसमें अनित्यत्व भी अवश्य रहेगा, यह ठीक है, परन्तु आत्मामें विकार रहता ही नहीं है। जो कि आत्मामें जन्मादि विकार प्रतीत होता है, वह आत्माका नहीं है, किन्तु शरीरका है। आत्मामें जब अनित्यत्व ही नहीं रहता है, तब उसका व्याप्य विकार भी नहीं रह सकता। आगे चलकर विस्तारसे आत्मामें नित्यत्वका साधन करेंगे, और जितने विकार होते हैं, वे सब-के-सब भूत, भौतिक आदि कार्योंमें रहते हैं, आत्मामें नहीं रहते। आत्मा तो केवल साक्षी है।

शङ्का—भले ही जन्मादि विकार आत्मामें न हों, परन्तु भोक्तृत्व आदि विकार जो कि चेतन-धर्म हैं, वे आत्मामें तो रह सकते हैं ?

समाधान—यह आपकी शङ्का ठीक है, परन्तु पहले भोगपदार्थ क्या है, इसका विचार करना आवश्यक है। सुख, दुःख आदिका अनुभव अथवा तन्निमित्त विषयका अनुभव भोग कहलाता है, और इसीका सम्बन्ध ही आत्मामें भोक्तृत्व है। लेकिन यह क्रियाके विना नहीं हो सकता, आखिर बात यह है कि आत्मा स्वयंप्रकाश है, अतः अपने स्वरूपका अनुभव आप ही कर लेता है, इसमें दूसरेकी आवश्यकता नहीं है। विषय आदिका अनुभव अन्तःकरणके द्वारा करता है, अतः यह अवश्य मानना होगा कि आत्मामें भोक्तृत्व बुद्धि आदिके सम्बन्धसे है, स्वतः नहीं।

'आत्मेन्द्रियादिसंयुक्तो भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः।
अविक्रियस्य भोक्तृत्वं स्यादहंबुद्धिविभ्रमात् ॥'

इत्यादि अनेक प्रकारके शास्त्रप्रमाणोंसे वास्तविक भोक्तृत्व बुद्ध्यादिमें है और आत्मामें वह कल्पित ही है।

और यह बात भी जानने लायक है कि जो वस्तु प्रागभावकी प्रतियोगी होती है उसीमें विकार रहता है, जैसे अग्नि, घट आदि अनित्य पदार्थोंमें।

आत्मा प्रागभावका प्रतियोगी नहीं है, अतः उसमें विकारकी शङ्का ही नहीं हो सकती। अन्य मतावलम्बी जिन परमाणु आदिको नित्य मानते हैं, वे भी अपने मतमें अर्थात् वेदान्तीके मतमें प्रागभावके प्रतियोगी ही हैं, क्योंकि 'अतोऽन्यदार्तम्' इस श्रुतिसे आत्मातिरिक्त सभी पदार्थ अनित्य सूचित होते हैं।

शङ्का—आत्मा प्रागभावका प्रतियोगी नहीं है, इसमें क्या प्रमाण है ?

समाधान—पहले तो यही प्रमाण कहते हैं कि उसके प्रतियोगित्वमें ही कोई प्रमाण नहीं है! और आत्मा अपने प्रागभावका स्वयं प्रत्यक्ष नहीं कर सकता, क्योंकि प्रतियोगीके समयमें प्रागभावका अस्तित्व ही नहीं रहता, अतः जब एक कालमें ग्राह्य-ग्राहक नहीं हैं, तो आत्मासे प्रागभावका ग्रह कैसे हो सकता है। अन्य आत्मासे भी प्रागभावका प्रत्यक्ष तभी हो सकता है, जब कि आत्माका भेद हो, परन्तु 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' 'नान्योऽतोऽस्ति श्रोता' इत्यादि श्रुतियोंसे आत्मा एक ही है अनेक नहीं। स्वकीयानुमानसे भी स्वप्रागभाव सिद्ध नहीं हो सकता। साध्यसाधनका व्याप्तिग्रह नहीं है, बल्कि 'विमतः कालः, आत्मसत्त्वावान्, कालत्वात्, सम्मतवत्', इस अनुमानसे कालमात्रमें आत्मसत्ता ही सिद्ध होती है, प्रागभाव सिद्ध नहीं होता। 'आत्मा विक्रियावान्, आविर्भावतिरोभाववत्त्वात्, अग्न्यादिवत्', इस अनुमानसे भी आत्मामें विकार सिद्ध नहीं हो सकता। अग्न्यादि सावयव पदार्थ हैं, अतएव जन्य हैं, कारणके सद्भाव और असद्भावसे आविर्भाव और तिरोभाव होते हैं। आत्मा नित्य तथा निरंश है, अतः उसके आविर्भाव और तिरोभाव नहीं हो सकते। और दूसरी बात यह भी है कि तुम आविर्भाव और तिरोभावको आत्मामें कल्पित मानते हो या वास्तविक ? प्रथम पक्ष इष्ट ही है, क्योंकि हम भी आविर्भाव और तिरोभाव आत्मामें कल्पित मानते ही हैं। द्वितीय पक्षमें शुक्ति-रजत, गन्धर्व-नगर आदिमें व्यभिचार है। रजतादि भी आविर्भूत और तिरोभूत प्रतीत होते हैं फिर भी इनकी पारमार्थिक सत्ता नहीं है। इसी तरह साध्य विक्रियावत्त्व भी कल्पित मानते हो या वास्तविक ? इस विकल्पका भी पूर्व दोषसे ही खण्डन समझिए, यदि आत्मामें विकार नहीं है, तो विकार प्रतीत क्यों होता है ? प्रतीत होनेका कारण यह है कि वास्तविक आत्मामें कर्तृत्वादि धर्म नहीं हैं। अज्ञानवश कर्तृत्वादिका भान होता है। आत्माका यथार्थ ज्ञान होनेपर कर्तृत्वादि धर्मोंका भान नहीं होता। कर्तृत्व आदि धर्म चैतन्यके समान वास्तविक आत्मधर्म हैं, यह कहना भी ठीक

मातृस्थं मेयगं मानं प्रतीचि त्रयसाक्षिणि ।
न व्यापारयितुं शक्यं वन्हिं दग्धुमिवोल्मुकम् ॥७४॥

नहीं है, क्योंकि चैतन्य तो आत्मस्वभाव है और कर्तृत्वादि चैतन्याधीन हैं, अतः दोनों समान नहीं हो सकते ॥ ७३ ॥

यदि यह कहिए कि कर्तृत्व आदि आत्मधर्म हैं कि नहीं ? यदि प्रथम पक्ष मानिए, तो वह युक्त नहीं है, क्योंकि 'कर्तृत्वादिर्नात्मधर्मः, दृश्यत्वात्, घटादिवत्', इस अनुमानसे दृश्यमान वस्तुमात्र अनात्मधर्म ही सिद्ध होता है । द्वितीय पक्षमें साधक ही नहीं कह सकते, आत्मधर्मसाधक प्रमाणके विना आत्मधर्म कैसे माना जाय ? यदि कहिए कि 'अहं कर्ता' इत्यादि प्रतीति ही कर्तृत्वादिसाधिका है, अतएव 'कर्तृत्वादि आत्मधर्म नहीं हैं' यह अनुमान उक्त प्रत्यक्ष प्रतीतिसे विरुद्ध है यह अयुक्त है, क्योंकि 'अहम्' इस प्रत्यक्षको प्रमातृकर्तृक मानते हैं या साक्षिकर्तृक ? प्रथम पक्षमें उक्त प्रमाता तो साक्षीका विषय है अतः प्रमातृकर्तृक क्रिया साक्षीका कर्म नहीं हो सकता, जैसे अग्नि स्वदाह्य उल्मुक (लुआठी) अङ्गारका दाह्य नहीं है, इसीको कहते हैं— 'मातृस्थम्' इत्यादिसे ।

अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्यमें रहनेवाला तथा पट आदि पराक् (बाह्य) विषयोंका अवलम्बन करनेवाला मान अर्थात् अन्तःकरणवृत्तिविशेषका प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय, इन तीनोंके साक्षीभूत प्रत्यगात्मामें व्यापार नहीं कर सकते, अर्थात् प्रमाणका विषय साक्षी नहीं हो सकता है । जैसे अग्निसे दग्ध होनेवाला उल्मुक वह्निको दग्ध नहीं कर सकता, वैसे ही साक्षीसे प्रकाशित होनेवाले प्रमाता आदि साक्षीका प्रकाश नहीं कर सकते, प्रकृतमें जैसे वह्नि और उल्मुकका दाह्यदाहकभाव संसर्ग है, वैसे ही साक्षी और प्रमाता आदिका प्रकाश्य-प्रकाशकभाव संसर्ग है, यह समझना चाहिए ।

साक्षी स्वतः किसी विकारसे युक्त नहीं है, अतः वह प्रमाका कर्ता नहीं हो सकता, यही कारण है कि 'कर्तृत्व आदि वस्तुतः आत्माके धर्म नहीं हैं', इस अनुमानमें 'अहं कर्ता' इत्यादि कर्तृत्वावगाही प्रत्यक्ष बाधक नहीं हो सकता है ।

शङ्का—प्रमाता आदिका साक्षी द्रष्टा है या नहीं ? यदि प्रथम पक्ष माना जाय, तो वह भी—साक्षी भी—किसी अन्य साक्षीसे दृश्य है, ऐसा अनुमान हो सकता अर्थात् साक्षी साक्षीसे वेद्य है, द्रष्टा होनेसे, प्रमातृवत्; यह अनुमान

पराथसंहतानात्मभोग्यकर्त्रादिबोधिना ।
मानेन तद्विरुद्धोऽर्थः साक्ष्ययं मीयते कथम् ॥ ७५ ॥

हो सकता है। इस परिस्थितिमें साक्षीमें भी वास्तविक कर्तृत्व आदि धर्मोंकी सिद्धि हो सकती है, तो कर्तृत्व आदि आत्मधर्म नहीं हैं, यह पूर्वोक्त अनुमान बाधित हो जायगा। द्वितीय पक्षका अवलम्बन करनेसे 'साक्षी अचेतनः, अद्रष्टृत्वात्, घटादिवत्' इस अनुमान द्वारा साक्षी अचेतन ही सिद्ध होगा, अतः उसमें साक्षित्वकी ही अनुपपत्ति होगी।

समाधान—जितने घट आदि बाह्य पदार्थ हैं, उनका चेतनके बिना प्रकाश नहीं हो सकता, इसलिए उनमें साक्ष्यत्व है और चिदात्मामें साक्षित्व है। चिदात्मामें, जो कि स्वयं प्रकाश है, साक्ष्यत्व नहीं बन सकता, क्योंकि वह आप ही अन्यका और अपना साक्षी है। उसके लिए अन्य साक्षीकी अपेक्षा नहीं है, यदि साक्षीकी अपेक्षा करेगा, तो वह खुद ही जड़ हो जायगा। अजड़ होनेपर साक्षीकी उसे अपेक्षा नहीं रहती। चेतनका अभेद होनेसे अन्य साक्षी है ही नहीं, अतएव वह आदित्यके समान स्वस्वरूपका आप ही प्रकाशक है।

फिर भी शङ्का होती है कि 'आत्मा मात्रादिग्राहकग्राह्यः, मात्राद्यविलक्षणत्वात्' जो जिससे विलक्षण होता है, वह उसके मानका विषय नहीं होता, जैसे आकाश घटसे विलक्षण है, अतः वह घटविषयक मानका विषय नहीं होता। प्रमाता आदिसे साक्षी विलक्षण है, इसमें 'साक्षी विलक्षणः, अपरार्थत्वात्, यन्नैवं तन्नैवं यथा प्रमात्रादि' यह अनुमान प्रमाण है, साक्षी परार्थ है, इसमें 'विमतं परार्थम्, संहतत्वात्, शयनासनादिवत्' यह अनुमान प्रमाण है, इसीको बतलाते हैं—'परार्थसंहता' इत्यादिसे।

दूसरोंके लिए संहत भोग्यभूत प्रमाता आदि अनात्मपदार्थोंके बोधक मानसे (प्रत्ययसे) प्रमाण आदिसे विलक्षण साक्षीका ग्रहण कैसे हो सकता है? अर्थात् पराग्विषयक प्रमाण प्रत्यग्विषयक नहीं हो सकता। पराक् अनात्मा है और प्रत्यक् है आत्मा ॥ ७५ ॥

यदि आत्मा साक्षी है, तो उसका साक्ष्यके साथ कोई सम्बन्ध बतलाना चाहिए, सम्बन्धके बिना साक्षी नहीं हो सकता। और सम्बन्ध होनेसे वह असङ्ग नहीं हो सकता, इसपर कहते हैं—'साक्षिसाक्ष्या०' इत्यादिसे।

साक्षिसाक्ष्याभिसम्बन्धः साक्षिवस्तुनि कल्पितः ।
साक्ष्यापेक्ष्यं न साक्षित्वं केवलानुभवात्मनि ॥ ७६ ॥

साक्षिसाक्ष्यका संवन्ध केवल अनुभवस्वरूप साक्षीरूप आत्मामें अविद्यासे कल्पित है, वास्तविक नहीं है अथवा जैसे प्रकाश्यस्वरूप घटादिके साथ संवन्धके विना भी सूर्यमें प्रकाशत्व है। अतः 'सविता प्रकाशते' इस व्यवहारमें प्रकाशकी अपेक्षा नहीं है, क्योंकि 'प्रकाशते' यह अकर्मक धातु है। इसलिए यहाँ कर्मकी अपेक्षा नहीं है। यदि 'प्रकाशयति' होता, तो किं प्रकाशयति ? अर्थात् किसका प्रकाश करता है, यह अपेक्षा हो सकती, किन्तु 'प्रकाशते' होनेसे प्रकाश्य कर्मकी नियमतः अपेक्षा नहीं होती; इसी तरह 'साक्षी केवलो निर्गुणश्चेतिता च' इत्यादि श्रुतिसे आत्मा चेतन होनेसे साक्षी है, इसमें साक्ष्य सम्बन्धकी आवश्यकता नहीं है।

यदि गुरुत्वादिके समान प्रकाशकत्वादिको भी नित्यसापेक्ष ही मानें, तो व्यवहारदशामें साक्ष्यसंवन्धको भी अविद्यानिमित्तक कह सकते हैं; इससे उसके असङ्गत्वमें हानि नहीं है। यदि वास्तविक धर्मसम्बन्ध मानें, तो असंगत्वकी हानि होगी। काल्पनिक धर्मसे नहीं होगी। मरुमरीचिकामें जलकी कल्पनासे मरुभूमि आर्द्र नहीं होती, अतएव भाष्यकारने कहा है—'यत्र यदध्यासः तत्कृतेन गुणेन दोषण वाणुमात्रेण स न सम्बद्ध्यते'। वस्तुतः कल्पना तो पुरुषधर्म है, वस्तुधर्म नहीं है, अतः पुरुषकी कल्पनासे वस्तुमें क्या विशेष हो सकता है, अर्थात् कुछ नहीं। यदि साक्षीमें वास्तविक धर्मसंवन्ध होगा, तो वह भी संहत होनेसे परार्थ हो जायगा, इससे वह साक्षी ही नहीं हो सकता। इसीलिए श्रुतिमें 'केवल' शब्द कहा गया है। 'केवल' शब्दका तात्पर्य है कि निरंश ही सांश और संहत कहलाता है। निर्गुण अर्थात् निधर्म है अर्थात् आत्मामें कोई वास्तविक धर्म नहीं रहता है। आत्माका साक्षित्वसाधक केवल चैतन्य ही है, इससे वह 'चेतिता' कहा गया है ॥ ७६ ॥

शङ्का—नैयायिकाभिमत इच्छा, द्वेष, धर्म, अधर्म आदि तो आत्मधर्म हो सकते हैं, देखिए—'इच्छादयः क्वचिदाश्रिताः, गुणत्वात्, रूपादिवत्' इस अनुमानसे इच्छादिमें द्रव्यसमवेतत्वकी सिद्धि होनेपर वे पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाशके विशेष गुण नहीं हो सकते; क्योंकि ऐसा माननेसे बहिरिन्द्रियसे उनका प्रत्यक्ष प्रसक्त होगा, परन्तु ऐसा होता नहीं। एवं इच्छादि दिक्, काल,

मनके भी गुण नहीं हो सकते, कारण कि इनमें विशेष गुण नहीं रहता है, अतः परिशेषसे आत्मगुण ही उन्हें मानना चाहिए। इच्छा आदिके आत्मगुण होनेपर कर्तृत्वादि भी आत्मधर्म हो सकते हैं, क्योंकि 'इच्छन् करोमि' इस प्रतीतिसे इच्छा और कर्तृत्वका समानाधिकरण्य एक ही वस्तुमें प्रतीत होता है।

सामाधान—यह कहना ठीक नहीं है, देखिए—क्या इच्छादिको आप स्वतन्त्र मानते हैं? या परतन्त्र? प्रथम पक्षमें हेत्वसिद्धि दोष होगा, क्योंकि यदि वे स्वतन्त्र हैं तो गुण कैसे हो सकते हैं, क्योंकि गुण धर्मिपरतन्त्र होते हैं। द्वितीय पक्षमें आश्रयके ज्ञानके सिवा गुणका ज्ञान ही नहीं हो सकता, अतः धर्मीका निश्चय होनेपर अमुक धर्मीमें वे समवेत हैं, यह निश्चय होगा; तदनन्तर इच्छादिमें गुणत्वका निश्चय होगा, पहले नहीं होगा। और इच्छादि जड़ हैं, अतः वे स्वतः अपने आश्रयके साधक नहीं हो सकते। यदि उन्हें आत्मस्वरूप माना जाय, तो आत्मासे वे दृश्य नहीं होंगे, और इस परिस्थितिमें उन्हें रूपादिके समान गुण मानना भी अनुचित होगा। और 'इच्छादयः अष्टद्रव्यातिरिक्तद्रव्याश्रिताः, तेषु असम्भावितत्वे सति गुणत्वात्, शब्दवत्' यह अनुमान भी श्रुतिविरोधसे असंगत है, क्योंकि 'कामः सङ्कल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव' इस श्रुतिसे इच्छादि मनोधर्म ही प्रतीत होते हैं, अतः उनको आत्मधर्म माननेसे उक्त श्रुतिके साथ स्पष्ट ही विरोध होगा। और यह विचारिए कि इच्छादि कार्य हैं? या नित्य हैं? नित्य कहिएगा तो नित्यकी निवृत्ति नहीं होती; इसलिए इच्छादि सदा आत्मामें रहेंगे, फिर मुक्ति कभी न होगी और मुक्तिसाधनोपदेशपरक वेदान्तादि शास्त्र भी व्यर्थ हो जायँगे। प्रथम पक्षमें इच्छादिका कारण है या नहीं? यदि नहीं है, तो बिना कारणके खपुष्पके समान कभी होंगे ही नहीं अर्थात् इच्छादि नित्य असत् ही रहेंगे अथवा आत्माके समान उनका नित्य सद्भाव ही रहेगा। नित्यपक्षमें कभी मुक्ति नहीं होगी। नित्यासद्भावपक्षमें बन्ध ही नहीं होगा। प्रथम पक्षमें क्या इच्छादि ही अपने कारण हैं या दूसरा कोई अथवा इच्छादि और दूसरा ये दोनों मिलकर करण हैं? पहले पक्षमें आत्माश्रय है, क्योंकि स्वके प्रति स्व कारण नहीं हो सकता, कारण सिद्ध रहता है और कार्य असिद्ध रहता है; एक समयमें एक ही पदार्थमें सिद्धत्व और असिद्धत्व नहीं बन सकता। असिद्ध इच्छादिको कारण मानें, तो मोक्षकालमें भी इच्छा उत्पन्न हो जायगी, क्योंकि इच्छाकी असिद्धि तो वहाँ भी है। द्वितीय पक्षमें इच्छादिसे भिन्न हेत्वन्तर दृष्ट ही

इच्छाद्वेषादयोऽप्येते न चिदात्मनि सम्मताः ।
कामः सङ्कल्प इत्येवं मनोधर्मत्वसंश्रवात् ॥ ७७ ॥

नहीं है । अगर कोई दृष्ट है, ऐसा कहो और उसे कादाचित्क मानो, तो फिर कारणान्तरकी अपेक्षा होनेसे अनवस्थादोष होगा । यदि उसे सदातन मानो, तो सदा इच्छा होती ही रहेगी और मुक्तिका असंभव हो जायगा । तृतीय पक्षमें दूसरा कारण अचेतन है या चेतन ? प्रथम पक्षमें इच्छाजनकत्व उसका स्वभाव है या अस्वभाव ? प्रथम पक्षमें मोक्ष ही नहीं होगा । द्वितीय पक्षमें कभी भी वह इच्छाजनक नहीं होगा, क्योंकि जिसका जो स्वभाव नहीं है, उससे वह नहीं हो सकता । जैसे आकाशमें घटोत्पादकत्व स्वभाव नहीं है; अतः उससे घट नहीं हो सकता, इससे आत्मामें इच्छादि अविद्याकल्पित ही हो सकते हैं, वास्तविक नहीं; इस तात्पर्यसे कहते हैं—'इच्छाद्वेषादयः' इत्यादिसे ।

इच्छा, द्वेष आदि धर्म आत्मामें वास्तविक नहीं है; क्योंकि 'कामः संकल्पः' इत्यादि श्रुतिसे वे मनोधर्म ही सुने गये हैं, अतः वही मानना चाहिए । और यह भी दोष है कि इच्छादि आत्मासे भिन्न हैं या अभिन्न हैं ? यदि भिन्न हैं, तो गाय और अश्वके समान उनका धर्मधर्मिभाव नहीं बन सकेगा । अभिन्न होनेपर भी यही दोष होगा । गौका गौके साथ धर्मधर्मिभाव जैसे नहीं हो सकता है, वैसे ही इच्छा और आत्माका अभेद होनेपर उनका परस्पर धर्मधर्मिभाव नहीं बन सकेगा । भिन्नाभिन्न मानना तो अत्यन्त अनुचित है, क्योंकि भेदका भेदाभावरूप अभेदसे सदा विरोध ही है । अन्यथा भावाभावका विरोध ही सिद्ध नहीं होगा । और सर्वत्र भावाभावमूलक ही विरोध माना जाता है । आकाशकुसुमके समान तुच्छ भी नहीं कह सकते, क्योंकि आकाशकुसुमका प्रत्यक्ष नहीं होता है और इच्छा तो प्रत्यक्षसिद्ध है । इसलिए इन विचारोंसे यही सिद्ध होता है कि यद्यपि इच्छादि अपरोक्षसिद्ध हैं, तो वे भी आकाशनीलिमाके सदृश अनिर्वचनीय और आविद्यिक ही हैं ॥ ७७ ॥

और इच्छाको उभयहेतुक माननेपर द्वितीय कारण यदि चेतन हो, तो वह जीव है या पर अथवा दोनों ? यदि जीव है, तो वह अनर्थरूपसे इच्छादिको अपने आप जानता है या नहीं ? प्रथम पक्षके अभिप्रायसे कहते हैं—'आत्मनश्चेदमी' इत्यादिसे ।

आत्मनश्चेदमी सर्वेऽनर्थं कुर्यात् स्वयं कथम् ।
आत्मा जानन्यथा शत्रोस्तथा तस्मादनात्मवान् ॥ ७८ ॥

इच्छादि आत्मामें अनर्थ करते हैं, यह जानता हुआ जीव अनर्थके हेतु इच्छादिको क्यों करेगा ? यह तो किसी विचारशीलका कर्तव्य नहीं कि स्वयं ही शत्रुकी नाईं स्वात्मामें अनिष्ट सामग्रीका संचय करे, इसलिए इच्छादि अनात्मपदार्थ हैं, यही पक्ष ठीक है। यदि इच्छादिमें अनर्थहेतुत्व जीवको विदित नहीं है, तो स्पष्ट ही इच्छादिमें अज्ञानकार्यत्व है; इसलिए इच्छादि आत्मासे उत्पन्न नहीं होते हैं, किन्तु अज्ञानसे उत्पन्न होते हैं, यही मानना शास्त्र और युक्तिसे युक्त है।

यदि यह कहिए कि पर सर्वज्ञ है, अतः यह जानता है कि मुक्तमें इच्छा आदिकी उत्पत्तिमें प्रतिवन्धक मुक्तिका उपाय है, इसलिए इच्छादिका वह उत्पादन नहीं करता है, तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि मुक्तिका उपाय ज्ञान है या कर्म ? दोनों ही उस अवस्थामें नहीं हैं, तो प्रतिवन्धक कहांसे होगा ? यदि कहिए कि लौकिक दुःखनिवृत्तिके समान मुक्ति भी आत्यन्तिक दुःखनिवृत्तिरूप नहीं है, किन्तु 'निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति' इत्यादि श्रुति द्वारा मुक्त और पर इन दोनोंका साम्य है, इसलिए मुक्त परप्रेरित इच्छादि अनर्थका परिहार करेगा। तो यह भी आश्वासन ठीक नहीं है; क्योंकि मुक्त अवस्थामें परिहारके उपाय शरीरेन्द्रियादि नहीं हैं, अतः परिहारसाधनके अभावमें परिहार कैसे कर सकता है ? उस समय शरीरेन्द्रियादि माने जायँ, तो संसारी ही हो जायगा, मुक्त नहीं होगा। तो क्या आप ईश्वरके भी शरीरेन्द्रियादि मानते हैं ? यदि नहीं तो उत्पादन कैसे करेगा ? यदि शरीरादिके विना भी ईश्वर उत्पादन कर सकता है, तो मुक्त भी वैसे ही परिहार कर सकेगा, इसमें आश्चर्य ही क्या है ? आश्चर्य यह है कि ईश्वर मायावी है और मुक्त वैसा नहीं है।

यदि यह मानिए कि केवल जीव या केवल ईश्वर इच्छाका उत्पादक नहीं है, किन्तु दोनों मिलकर उत्पादक हैं, इसलिए मुक्तिदशामें इच्छादि उत्पन्न नहीं होते। यद्यपि जीवके मुक्त होनेसे इच्छादि उसके अनुकूल नहीं हैं, तथापि उसकी संसारदशामें वे अनुकूल हैं, इसलिए उत्पन्न होते हैं ?

यह भी ठीक नहीं है, जैसे केवल परजन्यत्वपक्षमें मुक्ति नहीं हो सकती,

अविद्ययाऽऽत्मधर्मत्वे दोषः कश्चिन्न विद्यते ।
तद्धजनस्य संसिद्धेर्वेदान्तरात्मबोधनात् ॥ ७९ ॥

वैसे ही उभयजन्यत्वपक्षमें भी मुक्ति नहीं होगी, क्योंकि ईश्वर स्वतन्त्र तथा सर्वशक्तिसम्पन्न है, अतः मुक्तको अनुकूल वनाकर इच्छादिका उत्पादन कर सकता है।

यदि कहिए कि मुक्तके उद्देश्यसे यही ईश्वरकी इच्छा है कि मुक्तको कभी दुःख न हो, इसलिए उनमें अनर्थोत्पादन नहीं करता, इससे मुक्तिमें दोष नहीं है? तो दूसरेकी इच्छाका निश्चय आप कैसे कर सकते हैं। शायद ईश्वरकी ऐसी इच्छा ही न हुई, तो मुक्ति ही नहीं हो सकती ॥ ७८ ॥

हमारे (वेदान्तियोंके) मतमें तो कर्तृत्वादि अविद्यानिमित्तक हैं, परनिमित्तक नहीं हैं, अतः विद्यासे जब अविद्याकी निवृत्ति हो जायगी, तो 'कारणाभावात् कार्याभावः' इस न्यायसे मुक्तात्मामें अनर्थोत्पत्ति हो ही नहीं सकती, इस अभिप्रायसे कहते हैं—'अविद्ययाऽऽत्मधर्मत्वे' इत्यादिसे ।

इच्छादि अनर्थ आत्मामें अविद्यासे ही हैं, अर्थात् आविद्यिक धर्म हैं, वास्तविक नहीं, यह हमारा मत है, इसमें कोई दोष नहीं है। वेदान्त द्वारा आत्मबोध होनेपर इच्छादि अनर्थका परिहार होता है। अविद्याका परिहार तो मोक्षदशामें भी है, इसलिए उस दशामें अनर्थोत्पत्तिकी संभावना नहीं है ।

अच्छा तो यह बतलाइए कि अविद्यानिवर्त्तक अविद्या है, अथवा अविद्याकार्य, या आत्मा आहोस्वित् दूसरा कोई? प्रथम पक्ष युक्त नहीं है, क्योंकि अविद्याकी निवृत्ति अविद्यासे कहिए, तो स्वव्याघात दोष होगा, क्योंकि स्व यदि स्वका निवर्त्तक होगा तो स्वोत्पत्ति ही न हो सकेगी। द्वितीय पक्ष भी असंगत है, क्योंकि कार्य स्वोपादानका निवर्त्तक नहीं होता; अन्यथा स्वस्थिति ही नहीं होगी। तन्तुकी निवृत्ति यदि पटसे हो जाय, तो पट कहाँ रहेगा, इसलिए कार्य कारणका निवर्तक नहीं होता। तृतीय पक्षमें दोष यह है कि यदि आत्मा निवर्त्तक होगा, तो अविद्याका उपलम्भ ही नहीं होगा, अर्थात् अविद्याकी सत्ता ही सिद्ध न हो सकेगी। चतुर्थ पक्षमें कोई प्रमाण ही नहीं है अर्थात् दूसरा कोई निवर्तक है, इसमें कुछ प्रमाण नहीं है ।

इसका उत्तर देते हैं—आत्मबोधनात्, अर्थात् स्वयंप्रकाश आत्मा

परागर्थप्रमेयेषु या फलत्वेन सम्मता ।
संवित्सैवेह मेयोऽर्थो वेदान्तोक्तिप्रमाणतः ॥ ८० ॥

स्वयंसिद्ध है । साधनचतुष्टयसम्पन्न श्रवणमननाधिकारी पुरुषको वेदान्त-वाक्यसे जो अन्तःकरणमें वृत्तिविशेष ब्रह्मात्मैक्य बोध होता है, उसमें अभिव्यक्त ज्ञानस्वरूप आत्मा सकार्य स्वाविद्याको निवृत्त कर सुस्थ हो जाता है । यदि कहिए कि स्वरूपभूत आत्मज्ञान यदि अविद्याका निवर्तक नहीं है, तो ज्ञानाभिव्यक्त स्वरूप कैसे निवर्तक होगा ? इसका उत्तर यह है—सूर्यके किरणसे तूल (रुई) भस्म नहीं होती, किन्तु चकमक पत्थर या सूर्यकान्तमणि में सूर्यकिरण अभिव्यक्त होकर तूलको भस्म कर देती है; उसी तरह यद्यपि केवल आत्माका स्वरूप अविद्याका निवर्तक नहीं है, अर्थात् साधक है, तथापि तादृशान्तःकरणवृत्तिविशेषमें प्रतिफलित—अभि व्यक्त—होकर अविद्याका नाशक होता है, यह माननेमें कोई आपत्ति नहीं है ।

अच्छा तो अविद्याकी निवृत्ति आत्मासे अतिरिक्त है या आत्मस्वरूप है ? यदि अतिरिक्त है, तो अनात्मस्वरूप अनर्थ ही है, अतः निवृत्तिरूप अनर्थ मोक्ष नहीं हुआ । यदि आत्मस्वरूप है, तो आत्मा अविद्यानिवृत्तिका उपाय नहीं हो सकता, क्योंकि उपायोपेयभाव भेद रहनेपर ही होता है, अभेद होनेसे नहीं होता । और यदि वह आत्मस्वरूप है तो सिद्ध ही है, साध्य नहीं है, अतः आत्मज्ञान अविद्याका निवर्त्तक है; इसका कुछ अर्थ ही नहीं हुआ । नहीं, अर्थ यह है कि यद्यपि अविद्यानिवृत्ति आत्मा-तिरिक्त नहीं है, तो भी अविद्याविरोध्याकारत्वेन वह उपाय है और अविद्यानिवृत्त्यात्मना उपेय है । एक ही में अपेक्षाभेदसे और आकारभेदसे दोनोंका समावेश हो सकता है ॥७९॥

घटपटादि पराग्विषयक जो संवित् होती है; जिसको प्रमाणका फल मानते हो, वह वस्तुतः फल नहीं है; फल जन्य होता है; संवित् नित्य है; परन्तु प्रमाणप्रवृत्तिके अनन्तर प्रकाश होनेसे उसे फल कहते हैं, वही संवित् वस्तुतः वेदान्तप्रमाणका तात्पर्यवृत्तिसे प्रमेय है; वही आत्मा है; इसी तात्पर्यसे कहते हैं—'परागर्थ०' इत्यादिसे ॥

घट, पटादि परागर्थविषयक ज्ञान 'घटज्ञान उत्पन्न हुआ, पटज्ञान नष्ट हुआ, इत्यादि व्यवहारसे अनित्य है; तथा घटज्ञानसे यह ज्ञान भिन्न है एवं घटज्ञानजनक सामग्री और पटज्ञानजनक सामग्री भी भिन्न हैं; अतः वह नित्यात्मस्वरूप कैसे हो सकता है ? इसका उत्तर यह है कि वृत्तिके उत्पाद और नाशसे वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्यमें

अबोधकत्वान्नो मात्वं स्यादितोऽन्यार्थकल्पने ।
वेदान्तानामतो ध्यानविध्याद्यर्थो न कल्प्यताम् ॥ ८१ ॥

भी उपत्ति और नाशकी प्रतीति होती है; वस्तुतः ज्ञान नित्य है, उसमें उत्पत्ति और विनाशकी प्रतीति औपाधिक है; जैसे 'घटाकाशो जातः, नष्टः' इत्यादि प्रतीतिसे आकाशमें भी औपाधिक उत्पत्ति और विनाशकी प्रतीति होती है; वैसे ही वृत्तिगत उत्पादविनाशका आरोप कर ज्ञानमें वैसी प्रतीति होती है। प्रत्यक्षादि प्रमाण परागर्थ-विषयक हैं, यह मानकर तत्फलभूत अखण्ड संवित् वेदान्तकी प्रमेय है; यह कहा गया है, वस्तुतः प्रत्यक्षादि परागर्थविषयक ही नहीं होते, अन्यथा निखिलद्वैताभावोपलक्षित ब्रह्ममें वेदान्त प्रमाण ही नहीं होंगे ॥८०॥

यदि द्वैतको प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे सिद्ध मानेंगे, तो वेदान्तवाक्यसे द्वैताभावविषयक बोध ही नहीं होगा, तो अबोधकत्वलक्षण अप्रामाण्य होगा, इसीको कहते हैं—'अबोधकत्वात्' इत्यादिसे ।

इससे—अद्वितीय ब्रह्मसे—अतिरिक्त द्वैतकल्पना करनेपर अर्थात् द्वैतमें प्रत्यक्षादि प्रमाण है; यह माननेपर प्रत्यक्षादिविरोधसे 'एकमेवाद्वितीयम्' इत्यादि वेदान्तवाक्यमें अबोधकत्वलक्षण अप्रामाण्य हो जायगा; अतः ब्रह्मातिरिक्त द्वैत है नहीं, किन्तु कल्पित तत्तदुपाधिविशिष्ट ब्रह्म प्रत्यक्षादिविषय है और निरुपाधि ब्रह्म वेदान्तविषय है, यही मानना उचित है । इसीसे ध्यानादिविध्यर्थ वेदान्त है, यह कल्पना नहीं हो सकती। यदि वेदान्तप्रमाणसे अद्वैत ब्रह्मको ही परमार्थ सत्य मानते हो, तो कर्मकाण्ड अप्रमाण ही हो जायगा, क्योंकि क्रियाकारकादि भेदके विना तो कर्म हो नहीं सकता। भेदाभावरूप अभेद माननेसे कर्तृ, कर्म, साधन और फल यदि सब अभिन्न ही हैं तो कर्म ही कैसे हो सकेगा है, अतः कर्मकाण्ड अप्रमाण हो जायगा। वेदान्तियोंके लिए यह अनिष्ट नहीं है, ऐसा नहीं कह सकते, वेदान्तमें भी अप्रामाण्याशङ्का होगी। कर्मकाण्ड जैसे वेद हैं, वैसे ही वेदान्त भी वेद हैं। यदि वेदैकदेश कर्मकाण्ड वेदान्तविरोधसे अप्रमाण हो जाय, तो कर्मकाण्डविरोधसे वेदान्त ही अप्रमाण क्यों न होगा; विशेष तो कोई है नहीं। वस्तुतः कर्मकाण्डके समान प्रत्यक्षादि प्रमाण भी विरोधी हैं, इसलिए 'भूयसामनुग्रहो न्यायः' इस न्यायसे वेदान्ताप्रामाण्य ही मानना ठीक है। इसलिए वेदान्तियोंको कर्मकाण्डका अप्रामाण्य इष्ट नहीं है, अन्यथा वेदान्तप्रामाण्यमें विश्वास न होगा, इस तात्पर्यसे कहते हैं—'नन्वेवमपि' इत्यादिसे।

नन्वेवमपि मानत्वव्याघातः स्यात् क्रियाविधेः ।
अद्वयात्मनि सम्बुद्धे कर्मानुच्छित्त्यसम्भवात् ॥ ८२ ॥
नैतदेवं यतो शेषमानानामपि मानता ।
आपरात्मावबोधात् स्याद्बोधात्पूर्वमबाधनात् ॥ ८३ ॥
ऊर्ध्वं त्विष्टममानत्वमैकात्म्यमतिबाधनात् ।
मानान्यपि च बाध्यन्ते मानेन प्रबलेन हि ॥ ८४ ॥

वेदान्तवाक्य द्वारा अद्वितीयात्माके ज्ञात होनेके बाद उक्त प्रामाण्यके अनुरोधसे अद्वितीय ब्रह्म ही सत्य अर्थ है, इसका स्वीकार करनेपर क्रियाविधिपरक कर्मकाण्डका प्रामाण्य ही नष्ट हो जायगा, अतः वेदान्तमें भी विश्वास नहीं रह सकता, क्योंकि दृष्ट अर्थके अनुकूल ही अदृष्ट अर्थ भी माना जाता है, दृष्टविरुद्ध नहीं, इससे कर्मकाण्डकी प्रामाण्यरक्षाके लिए द्वैत मानना ही ठीक है क्योंकि प्रत्यक्षादिके प्रामाण्यकी रक्षा इसीसे हो सकती है, अन्यथा नहीं ॥८२॥

प्रत्यक्षादि तथा कर्मकाण्डमें तात्त्विक प्रामाण्यका भङ्ग होगा, यह शङ्का है अथवा व्यावहारिक प्रामाण्यका भङ्ग होगा, यह शङ्का है ? यदि तात्त्विक प्रामाण्यके भङ्गकी आपत्ति हो, तो वह इष्ट ही है। द्वितीयके विषयमें कहते हैं—'नैतदेवम्' इत्यादिसे ।

आत्मज्ञानसे पहले विषयका बाध नहीं है, इसलिए सब प्रमाणोंमें प्रमाणता है, आत्मज्ञानोत्तर सब अनात्म पदार्थोंकी निवृत्ति हो जानेसे विध्यादिमें प्रामाण्य इष्ट नहीं है ॥८३॥

इसीको सविस्तर कहते हैं—'उर्ध्वम्' इत्यादिसे ।

ब्रह्मज्ञानोत्तर ब्रह्मात्मैकत्वबुद्धिसे प्रपञ्चका बाध होनेपर प्रमाणोंमें अप्रमाण्य इष्ट ही है । प्रमाण भी प्रबल प्रमाणसे बाधित होता है, इसलिए प्रमाणोंमें परस्पर बाध्य-बाधकभाव नहीं होता, यह कहना व्यर्थ है । विद्वान् भी तो जब तक शरीर रहता है तब तक प्रमाणोंसे व्यवहार करता ही है, अतः कैसे कहते हैं कि ज्ञानके बाद विध्यादि प्रमाण नहीं हैं ? हां, वह व्यवहार करता है, परन्तु प्रत्यक्षादि वास्तविक प्रमाण हैं, यह जानकर नहीं, किन्तु पूर्ववासनानुवृत्तिवश उसका व्यवहार होता है ॥८४॥

श्येनादिविधिबाधः स्यादहिंसाविधिना यथा ।
तथैवैकात्म्यमानेन द्वैतमानं प्रबाध्यताम् ॥ ८५ ॥
श्येनाहिंसाविधी एतौ दृष्टादृष्टार्थभेदतः ।
व्यवस्थितौ तयोरेकमबाध्यममतं यदि ॥ ८६ ॥
तर्ह्यद्वैतद्वैतमाने तत्त्वातत्त्वार्थगोचरे ।
उभयोर्व्यवतिष्ठेतां नरयोर्मुक्तबद्धयोः ॥ ८७ ॥

'ऐक्यज्ञानं मानबाधकं न, मानत्वात्, मानान्तरवत्' इस अनुमानसे जैसे प्रत्यक्षादि मान अनुमानादि मानका बाधक नहीं है, वैसे ही आत्मज्ञान भी मानका बाधक नहीं हो सकता, इस शङ्काकी निवृत्तिके लिए कहते हैं—'श्येनादि' इत्यादिसे ।

जैसे 'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि' इस अहिंसाविधिसे 'श्येनेनाभिचरन् यजेत' इस हिंसाविधिका बाध होता है, वैसे ही ब्रह्मात्मैक्यज्ञानप्रमाणसे द्वैतविषयक प्रत्यक्षादि प्रमाणका भी बाध होता है, अतः उक्त अनुमान व्यभिचारी होनेसे मान्य नहीं है ॥८५॥

शत्रुपर क्रोधसे जिस पुरुषका चित्त अपने वशमें नहीं है, वह अवश्य शत्रुकी हिंसा करना चाहता है, अतः उसके लिए ही श्येनादि याग शत्रुवधके उपायरूपसे प्रदर्शित किया गया है, और जिसका चित्त शत्रुपर द्वेष होनेपर भी अपने वशमें है अर्थात् जो शत्रुवधका परिणाम नरकनिपात आदि समझकर हिंसा नहीं करना चाहता, उसके प्रति अदृष्टार्थ 'मा हिंस्यात्' इत्यादि श्रुतिसे अहिंसाविधि है, अतः दोनों वाक्योंके व्यवस्थिताधिकारिपरक होनेसे उनका परस्पर बाध्य-बाधकभाव ही नहीं होता, इसीको कहते हैं—'श्येना' इत्यादिसे ।

श्येन और अहिंसाविधि ये दोनों उक्त अधिकारिपुरुषके भेदसे व्यवस्थित हैं, हिंसाविधि दृष्टार्थक है और अहिंसाविधि अदृष्टार्थक है, इसलिए इन दोनोंमें एक बाधक और अपर बाध्य नहीं है, अतः प्रमाणोंमें परस्पर बाध्यबाधक होनेका दृष्टान्त नहीं हो सकता, अतः ऐक्यज्ञानसे द्वैतविषयक प्रमाणोंका बाध नहीं बन सकता ॥८६॥

इसपर कहते हैं—'तर्ह्यद्वैत' इत्यादिसे ।

बद्ध पुरुषके लिए अतत्त्वार्थविषयक प्रत्यक्षादि प्रमाण और मुक्त पुरुषके

कर्माण्यतो विधीयन्तामविवेकिनरं प्रति ।
न तु विध्वस्तसकलकर्महेतुं बुधं प्रति ॥ ८८ ॥

लिए तत्त्वार्थगोचर अद्वैतज्ञान ये दोनों ही व्यवस्थित हैं, इसलिए कर्मकाण्डमें व्यावहारिक प्रामाण्य है, तात्त्विक नहीं है ।

'विमतं कर्मकाण्डप्रामाण्यं तात्त्विकम्, मानत्वात्, आत्मैक्यज्ञानवत्' इस अनुमानसे कर्मकाण्डका प्रामाण्य भी तात्त्विक ही है, व्यावहारिक नहीं है, यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि अज्ञानके साथ कर्महेतु वर्ण, आश्रम और शरीर आदिके अभिमानका नाश होनेपर विद्वान्‌के प्रति कर्मका विधान नहीं हो सकता है ॥८७॥

उक्तानुमानमें मानत्वरूपहेतु तत्त्वावेदकत्वरूप है या व्यवहारिकत्वरूप है ? प्रथम पक्षमें साध्याविशिष्ट होनेसे साध्यसम हेतुदोष है, जैसे अनुमानसे पहले पक्षमें साध्य अप्रसिद्ध है, अतएव हेतु द्वारा साध्य है, वैसे ही यदि हेतु भी पक्षमें अप्रसिद्ध हो, तो साध्यवत् हेतु भी साध्य ही कहलाता है, अतः हेतुको सिद्ध करनेके लिए हेत्वन्तरकी अपेक्षा होगी, क्योंकि जब तक हेतु न होगा तब तक साधन नहीं हो सकता । यदि हेतु और साध्य दोनों साध्य ही रहें, तो साध्यसम हेत्वाभास हेतुदोष है, दुष्ट हेतुसे साध्य नहीं सिद्ध होता । द्वितीय पक्षमें स्वाप्निक बोधमें व्यभिचार है, इसलिए अनुमान द्वारा भी विध्यादिमें तात्त्विक प्रामाण्य सिद्ध नहीं हो सकता, इसे कहते हैं— 'कर्माण्यतो' इत्यादिसे ।

अविवेकी, शरीराद्यभिमानी तथा अज्ञानी पुरुषके प्रति कर्मोंका विधान है, अतः कर्मकाण्डमें व्यावहारिक प्रामाण्य ही है । आत्मविद्याके उदय द्वारा जिनका अज्ञानके साथ कर्मके प्रति हेतुभूत शरीराद्यभिमान निवृत्त हो गया है, ऐसे विद्वान्‌के प्रति कर्मोंका विधान नहीं है । विद्वान् कर्मके अधिकारी नहीं हैं, क्योंकि ऐक्यप्रमासे सम्पूर्ण साध्यसाधनफलभेद ही जब विद्वान्‌का निवृत्त हो गया है, तो वह कर्मोंमें प्रवृत्त होगा कैसे ?

यदि कहिए कि विद्वान्‌के प्रति कर्मविधि न सही, परन्तु विविदिषावान्‌के प्रति तो 'यज्ञेन विविदिषन्ति' इत्यादि श्रुतिसे कर्मका विधान हो सकता है, इसलिए वेदान्तकी तरह विध्यादिमें भी तात्त्विक प्रामाण्य मानना उचित है, तो यह भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि विवेक, वैराग्य और विविदिषा आदिसे युक्त पुरुष कर्मसंन्यासपूर्वक श्रवण मननादिका अधिकारी है, यही

सम्यग्विमृदिताशेषध्वान्तस्य च न पूर्ववत् ।
अज्ञानादि पुनः कर्तुं शक्यते हेत्वसम्भवात् ॥ ८९ ॥
सर्वकर्मनिरासेऽतो ऽधिकारः स्याविवेकिनः ।
बुभुत्सोरपि संसिद्धो बुद्धत्वपदवाञ्छनात् ॥९०॥

आत्मयथार्थज्ञानका हेतु है, अतः कर्मप्रवृत्ति प्रतिकूल होनेसे पूर्वोक्ताधिकारीका कभी भी उसमें अधिकार नहीं है, इसलिए अविवेकीके प्रति कर्माधिकार है, अतः कर्मकाण्डमें व्यावहारिक ही प्रामाण्य है, तात्त्विक नहीं ॥८८॥

'सम्यग्विमृदिता' इत्यादि ।

समीचीन आत्मज्ञानसे जिनका सम्पूर्ण अज्ञान नष्ट हो गया है, वे पहलेकी तरह अज्ञानादिप्रयुक्त कर्म नहीं कर सकते । कर्मका मूल अज्ञान है, अज्ञानका विरोधी तत्त्वज्ञान है । जब तत्त्वज्ञान होनेपर निःशेष अज्ञानकी निवृत्ति होती है, तो कर्म कैसे हो सकता है ॥८९॥

यदि कहिए कि जब तक अपना ज्ञान न होगा तब तक विवेकी भी कर्म नहीं त्यागता, ज्ञान होनेपर ही त्याग करता है, पहले नहीं; क्योंकि 'यज्ञो दानं तपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्' ऐसा स्मृतियोंमें लिखा है, अतः ज्ञानीको न सही, परन्तु विविदिषुका तो कर्माधिकार है ही, इसपर कहते हैं—
'सर्वकर्मनिरासे' इत्यादिसे ।

विवेकी विविदिषुको भी सब कर्मोंके त्याग ही में अधिकार है, अर्थात् जब तक विविदिषा उत्पन्न न हो, तब तक कर्माधिकार है । कर्म विविदिषाका कारण है । विविदिषाके उत्पन्न होनेपर आत्मज्ञानकी ही कामना होती है, सो तो कर्मसंन्यासपूर्वक श्रवणादिसे ही होगा, इसलिए प्रयोजनाभावसे कर्मत्याग ही उचित है, कर्त्रादिकारकव्यवहार ही कर्म कहलाता है, अतः कर्त्रादिकारकका व्यवहार रहनेपर आत्मजिज्ञासा नहीं होगी । अगर होगी भी, तो शुद्ध वस्तुके दर्शन करनेमें समर्थ नहीं हो सकती । कर्ममें ही चित्त लगा रहेगा, यह किया, वह करना बाकी है इत्यादि । इसलिए विवेकोत्पत्ति ही कर्मकी सीमा है, विवेक हो जानेपर कर्मका त्याग ही श्रेयस्कर है । गीतामें भी यही उपदेश दिया है—

'आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥'

कारकव्यवहारे हि शुद्धं वस्तु न वीक्ष्यते ।
शुद्धे वस्तुनि सिद्धे तु कारकव्यापृतिर्न हि ॥९१॥
कारकाकारकधियोर्नैकदैकत्र वस्तुनि ।
विरोधात्सम्भवोऽस्तीह प्रकाशतमसोरिव ॥९२॥
अविरोधः क्रमेण स्यात् स्थितिगत्योरिवेति चेत् ।
नात्मज्ञानस्य कूटस्थवस्तुतन्त्रत्वहेतुतः ॥ ९३ ॥

'यज्ञो दानं तपः कर्म' इत्यादि उक्त वाक्य नित्यकर्मस्तुतिपरक है ॥९०॥

जब निष्प्रपञ्चतत्त्वविषयक विवेक हो गया तब कर्मका निमित्त अभिमान ही शिथिल हो गया, इसलिए कर्माधिकार नहीं हो सकता, इसीको कहते हैं— 'कारकव्यवहारे' इत्यादिसे ।

कारकव्यवहार और कर्मव्यवहारके रहनेपर पुरुष शुद्ध वस्तुको—आत्मतत्त्वको—नहीं देख सकता, शुद्ध वस्तु देखनेपर अर्थात् आत्मज्ञान होनेपर अज्ञानका नाश होता है, फिर कारकव्यापार या कर्म रहते ही नहीं ॥९१॥

और यह भी प्रश्न है कि विवेकीको कारक (कर्म) और अकारककी (आत्माकी) बुद्धि है या नहीं ? कर्म करनेके लिए कारकज्ञान आवश्यक है, इसलिए दोनों ज्ञान एक समयमें हैं या क्रमशः हैं ? पहले पक्षमें कहते हैं— 'कारकाकारक' इत्यादिसे ।

एक समयमें एक वस्तुके विषयमें कारक और अकारकका ज्ञान प्रकाश और अन्धकारके सदृश परस्पर विरुद्ध होनेसे नहीं हो सकता । जैसे एक ही स्थलमें एक समयमें प्रकाश और अन्धकार नहीं रहते, वैसे ही एक ही आत्मामें एक समयमें कारकत्व (कर्तृत्व) और अकारकत्व ये दोनों ज्ञान नहीं हो सकते ॥९२॥

जब तक स्वात्मामें कर्तृत्वज्ञान न होगा तब तक हम कर्ता हैं, ऐसा नहीं समझेगा, प्रत्युत वेदान्त द्वारा उसे यह निश्चय हुआ है कि हम अकर्ता हैं, अतः कर्माधिकारी न होनेसे कर्म नहीं कर सकता । द्वितीय पक्षसे अर्थात् क्रमशः, इस पक्षमें कहते हैं—'अविरोधः क्रमेण स्यात्' इत्यादिसे ।

स्थिति और गतिनिवृत्ति ये दोनों क्रमशः गति, निवृत्ति और स्थिति स्वरूप हैं, पर भावाभावात्म होनेसे विरुद्ध हैं । फिर भी जैसे क्रमसे पूर्व गति पश्चात् स्थिति या पूर्व स्थिति पश्चात् गति दोनों कालभेदसे एक ही देवदत्तादिमें रहते हैं वैसे ही कालभेदसे आत्मामें कर्तृत्व और अकर्तृत्व रहनेमें

नौष्ण्यात्मको मितो वन्हिः क्रमशोऽक्रमशो ऽथवा ।
वस्तुतः शीततामेति कर्तृतन्त्रं तथा भवेत् ॥ ९४ ॥

आपत्ति नहीं है? यह ठीक है, किन्तु यह तो कहिए कि पहले कारकत्वज्ञान पश्चात् अकारकत्वज्ञान यह क्रम विवक्षित है या पहले अकर्तृत्वज्ञान पश्चात् कर्तृत्वज्ञान यह क्रम अभीष्ट है? प्रथम पक्ष तो मानते हैं, क्योंकि संसारदशामें अज्ञानवश अपनेको कर्ता मानता ही है और विवेकादि साधनसंपन्न होनेपर अकर्ता समझता है, यह तो ठीक ही है, किन्तु द्वितीय पक्षमें अकर्ता आत्मा है, यह निश्चय विवेकादिसम्पन्न पुरुषको ही होगा, दूसरेको नहीं; क्योंकि विवेकी होनेपर मोक्षाधिकारी है, कर्माधिकारी नहीं, क्रमसे—प्रथम अकर्ता पश्चात् कर्ता इस क्रमसे—आत्मामें कर्तृत्वाकर्तृत्वज्ञान नहीं हो सकता, स्थिति और गति तो पुरुषतन्त्र याने पुरुषाधीन हैं, पुरुषेच्छासे स्थितिपूर्वक गति और गतिपूर्वक स्थिति ये दोनों होते हैं। चाहे ठहरके जाय या जाकर ठहरे, पर ज्ञान तो वस्तु-तन्त्र अर्थात् वस्त्वधीन है, जैसी वस्तु रहेगी, वैसा ही ज्ञान होगा, अन्यथा नहीं। जब वेदान्तप्रमाण द्वारा आत्मा कूटस्थ अविकारी नित्य है, यह निश्चय हो गया तब कर्तृत्वादिविकारशून्य होनेसे, उसमें कर्तृत्वादिज्ञान कैसे हो सकेगा? कर्तृत्वादिज्ञानोत्पादक अज्ञानादि पूर्वके समान तो हैं नहीं, क्योंकि उनका तत्त्वज्ञानसे समूल नाश हो गया है ॥९३॥

फिर भी आत्मा अकारक है, यह निश्चय होनेपर कल्पित कारकत्वका ज्ञान होगा या अकल्पित कारकत्वका? आद्य पक्षमें कल्पिताधिकारी जो वस्तुतः अनधि-कारी है, वह भी कर्माधिकारी हो जायगा, परन्तु ऐसा होता नहीं, क्योंकि वास्तविक अधिकारी विशेषण विवक्षित है। कल्पित ब्राह्मणादि यागाधिकारी नहीं हैं, किन्तु वास्तविक, इस द्वितीय पक्षके अभिप्रायसे कहते हैं—'नौष्ण्यात्मको' इत्यादिसे।

जैसे उष्णस्वभाव अग्नि क्रमसे—कालभेदसे—या अक्रम—एक कालमें—भी शीत-स्वभाव नहीं होती, कारण उष्णत्व या शीतत्व वस्तुतन्त्र हैं, वैसे ही कर्तृत्वादि वस्तुतन्त्र हैं अतः आत्मामें कभी वास्तविक नहीं रहते, किन्तु कल्पित ही रहते हैं, वास्तविक तो अकर्तृत्व ही है। 'अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' इत्यादि वाक्यप्रमाणसे षोडशिग्रहणाग्रहणके सदृश कर्मवाक्यके प्रामाण्यसे आत्मामें कर्तृत्व और वेदान्तवाक्यके प्रामाण्यसे अकर्तृत्व ये दोनों धर्म मानने

भेदाभेदावुपाश्रित्य यो ऽप्याह ज्ञानकर्मणोः ।
एकाधिकारं, सोऽप्यत्र विरुद्धत्वं कथं नुदेत् ॥ ९५ ॥

चाहिएँ, अन्यथा—अकर्तृत्व ही माननेपर—कर्तृत्वबोधक कर्मवाक्य अप्रमाण हो जायँगे, यह विचार ठीक नहीं है षोडशिग्रहण पुरुषतन्त्र है, ग्रहण करना न करना पुरुषकी इच्छापर निर्भर है, इसलिए जिसकी इच्छा हो वह ग्रहण करे, जिसकी इच्छा न हो वह ग्रहण न करे, फलमें उभयथा हानि नहीं है, इसीसे उसे विकल्प कहा जाता है। प्रकृतमें कर्तृत्वादि वस्तुतन्त्र हैं, इसलिए विकल्प नहीं हो सकता। विकल्प माननेपर वस्तु विरुद्धधर्मविशिष्ट होनी चाहिए, परन्तु वह हो नहीं सकती। अग्नि शीत और गरम उभयस्वभाव नहीं देखी गई है ॥९५॥

भास्करके मतानुयायी ब्रह्ममें भेदाभेद दोनों मानते हैं, अतः उनके मतसे कर्तृत्वाकर्तृत्व दोनों आत्मामें पारमार्थिक धर्म हो सकते हैं ? इस पर कहते हैं—'भेदाभेद' इत्यादिसे।

भेदाभेद मानकर एक पुरुषके भी ज्ञान और कर्ममें अधिकार है, यह जो कहा गया है, सो भी ठीक नहीं है क्योंकि कर्तृत्वाकर्तृत्वका विरोध कैसे हटेगा ? जब तक विरोध दूर न हो सके तब तक दोनों धर्म एक धर्मीमें नहीं रह सकते, अतः यह मत भी ठीक नहीं है। भास्करका यह मत है कि 'एतस्मादात्मनः आकाशः संभूत आकाशाद् वायुरित्यादि और 'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च, तत्तेजोऽसृजत' इत्यादि श्रुतियोंसे एवं 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति इत्यादि श्रुति और अथातो ब्रह्मजिज्ञासा 'प्रकृतिश्च'इत्यादि वेदान्तसूत्रोंसे तथा 'अहं सर्वस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा' इत्यादि स्मृतियोंसे एक विज्ञानसे सर्वविज्ञानकी प्रतिज्ञाका समर्थन द्वारा यह निश्चय किया है कि ब्रह्म जगत्का उपादान तथा निमित्त दोनों कारण है, ब्रह्म नित्य है, किन्तु कूटस्थ नित्य नहीं है, परिणामी नित्य है, जिसके परिणाम होनेपर भी 'तदेवेदम्' अर्थात् (वही यह है) यह बुद्धि नष्ट नहीं होती, वह परिणामी नित्य कहलाता है।

जैसे सुवर्णका कुण्डलरूपसे परिणाम होता है, किन्तु यह वही सुवर्ण है, इस बुद्धिका नाश नहीं होता, इसलिए सुवर्णादि परिणामी नित्य हैं, वैसे ही ब्रह्मका जगद्रूपसे परिणाम होनेपर भी ब्रह्मबुद्धि नष्ट नहीं होती, अतः ब्रह्म परिणामी

अतश्चाज्ञानकर्मादिधर्मशून्यमविक्रियम् ।
अक्रियाकारकं वाञ्छन्नानन्दं श्रुतिमानतः॥ ९६ ॥

नित्य है। अप्रच्युतस्वभाव होनेसे वह अकारकबुद्धिका भी विषय है। और परिणामभेदसे अनेकविध होनेके कारण कारकबुद्धिका भी विषय है, अतएव भेदनिमित्तक होनेपर भी कर्मकाण्ड प्रमाण ही है, परिणामापेक्षासे भेद पारमार्थिक ही है, स्वभावाप्रच्युत्यपेक्षासे कूटस्थ तथा अद्वितीय भी कह सकते हैं।

इसीसे भेदाभेदका प्रतिपादन करनेवाले द्वैताद्वैततियोंके मतमें भी प्रामाण्य अक्षुण्ण रहता है और अभेदांश लेकर एकके विज्ञानसे सर्वके विज्ञानकी प्रतिज्ञा भी समर्थित हो जाती है, इत्यादि पूर्वपक्ष भी हो सकता है। इसका निराकरण करते हैं—विरुद्धत्वं कथं नुदेत्। आपका कहना तो ठीक है, किन्तु इस मतमें असल बाधक विरोध है। उसके परिहारका उपाय तो है नहीं, जहाँ भेद रहता है, वहाँ अभेद नहीं रहता। जो महिषादि गउसे भिन्न है उस महिषादिमें गवाभेद नहीं रहता, अन्यथा विरोध ही संसारसे सदाके लिए कूंच कर जायगा। अतः एकमें भी अनेक बुद्धि होगी, इसलिए भिन्नत्व और अभिन्नत्व वस्तुतन्त्र है, बुद्धितन्त्र नहीं, अतः वास्तवमें भेदाभेद एकमें नहीं रह सकता। हां, एकको पारमार्थिक और दूसरेको कल्पित माने, तो विरोध नहीं, यदि भेद वास्तविक माने तो वस्तुतन्त्र होनेसे भेदबुद्धि प्रमाण होगी और भेदप्रमाके होनेपर अभेदबुद्धि उत्पन्न होगी नहीं। यदि अभेद पारमार्थिक होगा तो, उसके वस्तुतन्त्र होनेसे अभेदबुद्धि ही प्रामाणिक होगी, तो विरोधसे भेदबुद्धि न होगी, इसलिए चाहे भिन्न ही मानिए या अभिन्न ही मानिए, दोनोंका एकमें होना बनता नहीं, यदि एकमें भिन्नाभिन्नत्व वास्तव नहीं, अर्थात् एकमें भिन्नाभिन्नत्वबुद्धि यदि अप्रमाण है, तो कोई क्षति नहीं है।

यदि प्रामाणिक कहिए, तो उक्त विरोधका परिहार नहीं हो सकता। आत्मामें भिन्नाभिन्नत्वबुद्धि कल्पित है, तो अभिन्नत्वबुद्धि पारमार्थिक और भिन्नत्वबुद्धि कल्पितभेदविषयक होनेसे अप्रामाणिक है, यहीं मानना उचित है। व्यावहारिक होनेसे व्यवहारदशामें अपेक्षित है, अभेदके पारमार्थिक होनेसे परमार्थ मुक्तिदशामें वह अपेक्षित है। आत्मा सदा एकरस है, 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' इस श्रुतिमें, एक एव अद्वितीय, ये तीन विशेषण हैं, इनके प्रयोजन प्रदर्शनके समय यह विशेषरूपसे कहेंगे कि आत्मामें भेदाभेद नहीं बन सकता।

तद्विरुद्धफले ग्राह्यसाधनेऽनेककारके।
कथं कर्मणि तज्ज्ञानन्मनो दध्याद्बुसन्नपि ॥ ९७ ॥

आतपक्लान्त—धूपसे पीड़ित—पथिकको दूरस्थ सघन वृक्षोंमें एकत्वका भान अज्ञानसे होता है। वास्तविक तत्त्व नानात्व ही है। इसी तरह सांसारिक विविधक्लेश-विकल मनुष्यको नाना आत्माओंमें एकत्वका भान अज्ञानसे होता है। वास्तविक नानात्व ही तत्त्व है, यह दलील ठीक नहीं है, क्योंकि 'आत्मा एकरस है' यह श्रुति-प्रमाणसे सिद्ध है, अतः सिद्धान्त प्रामाणिक है।

प्रपञ्च परमार्थ सत् नहीं है, किन्तु ब्रह्ममें अज्ञानसे कल्पित है, इसे भी विशेषरूपसे अव्याकृत प्रक्रियाके निरूपणके समयमें कहेंगे। यदि आप ऐकात्म्यको वेदान्तका विषय कहते हैं, तो बतलाइए, इसमें प्रमाण क्या है प्रत्यक्ष या आगम या दोनों? प्रत्यक्ष तो परस्पर व्यावृत्ताकार वस्तुओंका अवगाहन करता है। पटादि घटादि व्यावृत्ताकार हैं, इसीसे घट देखनेपर यह संशय नहीं होता कि यह घट है अथवा पट? यदि पटव्यावृत्त घट और घटव्यावृत्त पट प्रतीत होता है, तो ऐसी अवस्थामें नानात्व ही प्रत्यक्षविषय है, ऐकात्म्य नहीं है।

आगम भी उक्त अर्थमें प्रमाण नहीं है। प्रत्यक्षानुसार ही आगमका अर्थ प्रामाणिक माना जाता है, अतएव 'यजमानः प्रस्तरः' इत्यादि वाक्योंका यजमानसदृश यह अर्थ किया जाता है। प्रत्यक्षविरुद्ध यजमानाभेदका प्रस्तरमें आगम द्वारा बोध नहीं माना जाता। जब प्रत्यक्ष और आगम पृथक्-पृथक् ऐकात्म्यमें प्रमाण नहीं हैं तब दोनों मिलकर प्रमाण हैं यह तीसरा पक्ष भी नहीं बन सकता, क्योंकि किसीका मत है कि अज्ञानाश्रय ही अज्ञात कहलाता है। प्रपञ्च अज्ञात नहीं है, इसीसे अमेय है; आत्मामें आरोपित है। यहांपर यह प्रश्न होता है कि ब्रह्ममें प्रपञ्चका भेद है या अभेद? प्रथम पक्षमें यदि प्रपञ्च ब्रह्मसे भिन्न है, तो वस्तुका परिच्छेद होनेसे अपरिच्छिन्न ब्रह्मस्वरूप ही नहीं सिद्ध हो सकता। अभेद पक्षमें भी प्रपञ्च ब्रह्माभिन्न है या ब्रह्म प्रपञ्चाभिन्न है? प्रथम पक्षमें प्रपञ्च यदि ब्रह्मरूप है, तो ब्रह्मके परमार्थ सत् होनेसे तदभिन्न प्रपञ्च भी परमार्थ सत् ही होगा, ऐसी अवस्थामें ब्रह्मवत् प्रपञ्च भी ज्ञाननिवर्त्य नहीं हो सकता, अतः विद्या ही व्यर्थ है। द्वितीय पक्षमें प्रपञ्चके सदृश ब्रह्म भी अनेकरस हो जायगा।

यदि संसार ब्रह्मसे भिन्न है, यह मानें, तो विद्या सार्थक होगी, व्यर्थ नहीं होगी;

वारिपथ्याशनोपेतं सर्वानर्थविवर्जितम् ।
मार्गं त्यक्त्वा सुधीः को वा यियासत्यतथाविधे ॥ ९८ ॥

किन्तु ब्रह्ममें वस्तुपरिच्छेद होनेसे ब्रह्म ही अब्रह्म हो जायगा, यह दोष भी नहीं कह सकते, कारण कि संसार कल्पित है वास्तविक नहीं है, अकल्पित कहलाता है कल्पित नहीं। संसारान्तर्गत कर्मादि कल्पित हैं, अतः जिज्ञासुको कर्माधिकार नहीं है।

'अतश्चाऽज्ञान०' इत्यादि। अज्ञान और कर्म आदि धर्मोंसे शून्य, कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि विक्रियाओंसे रहित, अक्रिय, अकारक एवं सकल द्वैतके अभावसे उपलक्षित आत्माके स्वरूपमोक्षकी कामनासे (मोक्षसे) विरुद्ध फल अर्थात् ऐहिकामुष्मिकाभ्युदयरूप फल देनेवाले अतएव अव्ययात्मकफलसे विरुद्धफलवाले तथा शरीरेन्द्रियादि और द्रव्यदेवतादिसे साध्य कर्तृकर्मकरणाद्यनेककारकात्मक कर्ममें जानकार विवेकी कौतुकसे मनोविनोदके लिए भी चित्त धारण नहीं करता अर्थात् उसका चित्त उसमें नहीं लग सकता। [यह श्लोकयुग्म है, पूर्वश्लोकमें प्रधान क्रिया नहीं है, उत्तरश्लोकमें है। दोनोंमें प्रधान क्रिया एक ही है, अतः पृथक् क्रियार्थ बोध नहीं है। जिनका एक साथ ही वाक्यार्थ बोध होता है, ऐसे दो श्लोकोंको युग्म कहते हैं] ॥९६, ९७॥

समीचीन सुकरोपाय मिलनेपर बुद्धिमान् मनुष्य दुष्कर संन्दिग्धोपायका आश्रयण नहीं करता, इसमें लौकिक दृष्टान्तके साथ कहते हैं—'वारिपथ्याशनोपेतम्' इत्यादिसे।

प्रसंगवश इसका अर्थ पहले कह चुके हैं। यहां फिर संयोगवश कथित अर्थका स्मरण करा देते हैं। अर्थ तो बिलकुल स्पष्ट है। जलभोजनादि सुलभ मार्गका त्यागकर बुद्धिमान् दुर्लभ जलादि, संदिग्ध मार्गमें जानेकी इच्छा नहीं करता। यदि यह कहिए कि 'कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः' इत्यादि स्मृतिवाक्यसे कर्ममें मुक्तिकारणता यदि प्रतीत होती है, तो कर्म मुक्तिविरुद्धफलक है, यह कहना ही ठीक नहीं है। इसलिए जिज्ञासु भी कर्मका अधिकारी ही है ॥९८॥

'विरक्तस्य तु' इत्यादि। ऐहिकामुष्मिकफलविरक्त जिज्ञासुको ज्ञानसे अतिरिक्त कर्मादिकी अपेक्षा ही नहीं है, क्योंकि कर्मकी अपेक्षा साध्यमें—कर्मसाध्यमें—

विरक्तस्य तु जिज्ञासोर्ज्ञानान्यन्नपेक्षणम् ।
कर्मापेक्षा हि साध्येऽर्थे सिद्धेऽर्थे न तदर्थकम् ॥ ९९ ॥
ऐकात्म्यमेव तन्मेयं तस्यैवाऽप्रतिबोधतः ।
बुद्धो भेदो न तन्मेयो भेदाभेदौ तु दुःशकौ ॥१००॥

होती है, सिद्ध मोक्षरूप अर्थमें नहीं होती। साध्य घटादिमें कर्मापेक्षा है, सिद्ध घटकी अभिव्यक्तिके लिए दण्डादिकी अपेक्षा नहीं होती, किन्तु प्रदीपकी ही अपेक्षा होती है ॥ ९९ ॥

आत्मज्ञान मुक्तिका हेतु है, यह माननेपर भी अद्वैतात्मज्ञान ही मुक्तिसाधन है, यह स्वीकार नहीं हो सकता; अन्यथा कर्माधिकार न हो सकेगा। आत्मज्ञानका तात्पर्य तटस्थ ईश्वरज्ञानमें है, इस शङ्काकी निवृत्तिके लिए कहते हैं—'ऐकात्म्यमेव' इत्यादिसे ।

ऐकात्म्य ही जिज्ञासुके लिए मेय अर्थात् प्रमेय है, क्योंकि वही प्रमाणान्तरसे सर्वथा अज्ञात है, और भेद अर्थात् द्वैतप्रपञ्च तो प्रत्यक्षादि प्रमाणसे ज्ञात ही है; अतः ज्ञातज्ञापनपरक वाक्यका अनुवाद होनेसे वह प्रमाण नहीं हो सकता। 'अप्राप्ते शास्त्रमर्थवत्' इस न्यायसे प्रमाणान्तरसे प्रसिद्ध अर्थके बोधक जो शब्द हैं, वे अनुवादकमात्र हैं, भेद और अभेद दोनों तो पूर्वोक्त रीतिसे असम्भव ही हैं, अतः भेद और अभेदमें तात्पर्य मानना असङ्गत ही है ॥१००॥

अच्छा तो इसका विचार कीजिये—अविद्या किसमें है, ब्रह्ममें है या जीवमें है अथवा स्वतन्त्र है ? प्रथम पक्षमें ज्ञानस्वभाव सर्वज्ञ ब्रह्ममें तद्विपरीतस्वभाव अज्ञान सूर्यमें अन्धकारके समान कैसे रह सकता है ? द्वितीय पक्षमें अविद्याके विना जीवभाव ही नहीं बन सकता, क्योंकि अविद्योपाधिक ही जीव है। अविद्या होनेपर जीवभाव और जीवभाव होनेपर अविद्या इस अन्योन्याश्रय दोषसे जीवमें भी अविद्या नहीं रह सकती। और यदि ब्रह्ममें अविद्या न मानें, तो जीवमें अविद्या है, यह कहना भी नहीं बनता, कारण कि जीव तो ब्रह्मसे अभिन्न ही है, ब्रह्मसे भिन्न नहीं है, ऐसी अवस्थामें ब्रह्ममें अविद्या नहीं है यह माननेपर ब्रह्माभिन्नमें अविद्या है, यह कैसे कहा जायगा ? तृतीय पक्षमें ब्रह्मकी तरह अविद्या भी ज्ञाननिवर्त्य नहीं हो सकती। ज्ञान स्वतन्त्र पदार्थका नाशक नहीं है, इसलिए विद्या ही निरर्थक हो जायगी। ठीक है,

नन्वविद्यावदिष्टं चेद् ब्रह्म दोषो महानयम् ।
निरविद्ये च विद्याया आनर्थक्यं प्रसज्यते ॥ १०१ ॥
मैवं नभःस्थसूर्यस्य समेघामेघते इव ।
सविद्यनिरविद्यत्वे किं न स्तो दृष्टिभेदतः ॥ १०२ ॥
अविचाराद् घनच्छन्नो निर्घनस्तु विचारतः ।
अतत्त्वतत्त्वदृष्टिभ्यां ब्रह्मापि द्विविधं तथा ॥ १०३ ॥

अविद्या स्वतन्त्र नहीं है, जीवाश्रित भी नहीं है, किन्तु ब्रह्माश्रित है । ज्ञान-स्वभाव ब्रह्ममें तद्विपरीतस्वभाव अविद्या कैसे रह सकती है ? यह शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि अविद्यासम्बन्ध ब्रह्ममें यदि तात्त्विक मानें, तो विरोध होगा, क्योंकि विरुद्ध दो धर्म एक धर्मीमें नहीं रह सकते । यदि एकको तात्त्विक और दूसरेको अतात्त्विक मानें, तो कोई विरोध नहीं है । वास्तविक अन्धकारकी स्थिति सूर्यमें नहीं रह सकती, किन्तु काल्पनिक अन्धकारकी स्थिति सूर्यमें विरुद्ध नहीं है । उल्लूकी सूर्यमें अन्धकार-कल्पना है ही, अतः जैसे सूर्यके वास्तविक प्रकाशस्वरूप होनेपर भी उल्लू आदिसे कल्पित अन्धकारके उसमें रहनेमें विरोध नहीं है, वैसे ही स्वयंप्रकाश ब्रह्मस्वरूपमें कल्पित अविद्याकी स्थिति विरुद्ध नहीं है । इसी आशयसे कहते हैं—'**नन्वविद्या०**' इत्यादिसे ।

यदि ब्रह्म अविद्यावत् इष्ट हो अर्थात् ब्रह्माश्रिता अविद्या मानें, तो बड़ा दोष है—व्याघात । ज्ञानस्वभाव सर्वज्ञ ब्रह्ममें सूर्यमें अन्धकारकी स्थितिके सदृश अविद्याकी स्थिति हो नहीं सकती । यदि ब्रह्ममें अविद्या नहीं है, तो जीव भी तो ब्रह्माभिन्न है, अतः उसमें भी अविद्या नहीं रह सकती । तृतीय पक्ष (स्वतन्त्र) अविद्या है, यह माननेपर अविद्याके ब्रह्मवत् ज्ञाननिवर्त्य न होनेसे विद्या निरर्थक हो जायगी ॥१०१॥

'**मैवं नभःस्थ०**' इत्यादि । काल्पनिक अविद्यासम्बन्ध माननेमें दोष नहीं है—जैसे आकाशस्थ सूर्यमें समेघत्व (मेघसहितत्व) और निर्मेघत्व (मेघर-हितत्व) ये दोनों कल्पनाएँ होती हैं, वैसे ही साविद्यत्व और निरविद्यत्व बुद्धिभेदसे ब्रह्ममें क्यों नहीं हो सकते ? जैसे सूर्यमें निर्मेघता वास्तविक है और समेघता कल्पित है, वैसे ही ब्रह्ममें निरविद्यत्व पारमार्थिक और साविद्यत्व काल्पनिक है ॥ १०२ ॥

अस्याविद्येत्यविद्यायामेवासित्वा प्रकल्प्यते ।
ब्रह्मद्वारा त्वविद्येयं न कथञ्चन युज्यते ॥ १०४ ॥
न जानाम्यहमित्येषाऽनुभूतिः सर्वसम्मता ।
तत्राऽविद्याचिदात्मानौ तत्सम्बन्धश्च भान्त्यमी ॥ १०५ ॥

इसी अर्थको स्पष्ट करनेके लिए कहते हैं—'अविचारात्' इत्यादि।

अविवेकसे सूर्य मेघाच्छन्न प्रतीत होता है वस्तुतः मेघसे बहुत दूर सूर्य है। मेघका सूर्यके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, पर लोकदृष्टिसे मेघसे आवृत-सा प्रतीत होताहै, परन्तु विचार करनेसे मेघशून्य ही सूर्य सिद्ध होता है। उसी प्रकार अविवेकसे ब्रह्ममें अविद्याकी प्रतीति होती है विवेक करनेपर तो वास्तविक अविद्याशून्य ही ब्रह्म सिद्ध होता है ॥१०३॥

अविद्यामें कोई प्रमाण है या नहीं? यदि है, तो प्रमाणजन्यज्ञान-विषय होनेसे वह प्रामाणिक ठहरी, अतः प्रमाणजन्य ज्ञानसे उसकी निवृत्ति न होगी। द्वितीय पक्षमें प्रमाणाभावसे अविद्याकी सिद्धि नहीं हो सकती, इस शङ्काका उत्तर यह है कि अविद्या प्रमाणविषय नहीं है, किन्तु साक्षि-वेद्य है, जिसकी सिद्धि आगे करेंगे। किन्तु यहाँपर 'अस्याविद्या' इत्यादिसे कहते हैं कि अविद्या में ही रहकर अर्थात् अविद्वान् होकर ही ब्रह्मकी अविद्याकी (ब्रह्माविद्यासम्बन्धकी) कल्पना होती है। ब्रह्मदृष्टिसे—ब्रह्मीभूतदृष्टिसे—अर्थात् ब्रह्मस्वरूपसाक्षात्कारात्मक दृष्टिसे तो अविद्याका सम्बन्ध किसी तरह ब्रह्ममें सिद्ध नहीं हो सकता, यही युक्तियुक्त है ॥ १०४ ॥

अविद्यामें साक्षी प्रमाण है, इसे कहते हैं—'अहं न जानामि' यह प्रतीति सर्वसंमत है, इसका विषय क्या है यह विचारना आवश्यक है। यदि 'न जानामि' इस प्रतीतिको ज्ञानाभावावगाहिनी मानें अर्थात् ज्ञानाभाव इसका विषय है, यह मानें, तो ठीक नहीं है, कारण कि प्रतियोगी और अधिकरण इन दोनोंके ज्ञानके विना अभावका ज्ञान नहीं होता। अभावके ज्ञानमें प्रतियोगी तथा अधिकरणका ज्ञान कारण है, इसलिए ज्ञान तथा आत्म-ज्ञान न होनेपर 'न जानामि' यह प्रतीति ही नहीं हो सकती। यदि आत्मामें दोनों ज्ञान हैं, तो ज्ञानसामान्याभावकी प्रतीति ही नहीं हो सकती। सामान्याभावका प्रतियोगीके साथ विरोध होनेसे एक ही अधिकरणमें एक ही समयमें ज्ञान और ज्ञानाभाव दोनों प्रतीत नहीं हो सकते, इसलिए अज्ञान-

अविचाराद्भासमाना विचाद्विनिवर्तते ।
अविद्येयं चिदात्मा तु भात्येवाऽसौ निरन्तरम् ॥ १०६ ॥

विषयक ही 'न जानामि' यह प्रतीति है, यही कह सकते हैं, अतः अज्ञान साक्षिवेद्य है, यह मानते हैं। इस प्रतीतिमें तीनका भान है—आत्मा (चिदात्मा), अविद्या और चिदात्मा और अविद्याका सम्बन्ध अर्थात् 'अहं न जानामि' मुझमें अज्ञान है 'मयि ज्ञानं नास्ति' इसका मुझमें ज्ञानाभाव है, यह अर्थ नहीं हो सकता, क्योंकि मुझमें ज्ञानाभाव है, यह भी तो ज्ञान ही है। इस ज्ञानके रहनेपर ज्ञानसामान्याभाव तो नहीं रह सकता। सामान्याभावका प्रतियोगितावच्छेदकविशिष्ट प्रतियोगीके साथ विरोध है, इसलिए 'मुझमें अज्ञान है' यही उक्त प्रतीतियोंका विषय है।

शङ्का—आपके मतसे भी तो ज्ञान और अज्ञानका विरोध है ही, अन्यथा ज्ञानसे अज्ञानकी निवृत्ति ही नहीं होगी। फिर जैसे ज्ञान और तद्भावका विरोध है, वैसे ही ज्ञान और अज्ञानका विरोध समान ही है, तो ज्ञानाधिकरणमें ज्ञानाभावके समान अज्ञानकी प्रतीति भी कैसे होगी ?

समाधान—ज्ञान और अज्ञानके विरोधमें विशेष यह है कि अज्ञानका विरोध प्रमाणजन्य ज्ञानके साथ है। साक्षिज्ञान प्रमाणजन्य नहीं है, इसलिए भ्रमप्रमासाधारण साक्षि-चैतन्यात्मक अनुभवका विषय अज्ञान होता है 'ज्ञाततयाऽज्ञाततया वा सर्वं वस्तु साक्षिचैतन्यस्य विषयः' यह सिद्धान्त है ॥ १०५ ॥

यदि अविद्या साक्षिविषय है, तो चिदात्माके सदृश अविद्याको भी सत्य ही मानना चाहिए, ऐसी शङ्का उपस्थित होनेपर कहते हैं—'अविचारात्' इत्यादिसे।

यदि अविद्या सत्य होती तो विचारके बाद भी चैतन्यके समान निवृत्त न होती। विचारके बाद निवृत्त होनेसे चैतन्यके सदृश वह पारमार्थिक नहीं है, किन्तु अविद्या और तत्सम्बन्ध ये दोनों विचारबाधित होनेसे परमार्थ सत्य नहीं हैं। चिदात्मा तो विचारसे पहले और विचारके बाद भी भासमान ही रहता है, कभी निवृत्त नहीं होता, इसलिए परमार्थ सत्य है ॥ १०६ ॥

यदि अविद्या सत्य नहीं है, किन्तु कल्पित है यह सत्य है; तो अविद्याकी निवृत्तिके लिए प्रयत्न करना ही व्यर्थ है। एक तो कल्पित पदार्थसे कुछ अनिष्टकी प्राप्ति या इष्टका लाभ कुछ नहीं होता, इसलिए हेय या उपादेय नहीं हो सकती,

अविद्या त्वविचारेण भासते, तन्निरूपणे।
अविद्वान्वाऽथ विद्वान्वा नोभावप्यत्र शक्नुतः॥ १०७॥
अविद्यावानविद्यात्वं न निरूपयितुं क्षमः।
ब्रह्मबोधात् पुरा तस्या वस्तुत्वेनैव भासनात्॥ १०८॥

किन्तु उपेक्ष्य ही है। दूसरा कारण यह भी है कि कल्पित तो सदा रहता नहीं। यदि वह सदा रहे तो कल्पित ही कैसे ? इसलिए प्रयत्नके विना भी कादाचित्क होनेसे वह स्वयं निवृत्त हो ही जायगी। फिर उसके लिए विशेष प्रयासकी क्या आवश्यकता है ? ठीक कहते हैं, किन्तु अविद्या कल्पित है, यह कोई जान नहीं सकता, यह कहते हैं—'अविद्या त्व०' इत्यादिसे।

अविचारके साथ अविद्याका भान होता है, इसलिए अविद्याके निरूपणमें अविद्वान् तथा विद्वान् दोनों असमर्थ हैं। ब्रह्ममें अविद्या तथा उसके सम्बन्धको अविद्वान् जान सकता है या विद्वान् इस प्रश्नका यही उत्तर हो सकता है कि दोनों नहीं जान सकते, कारण कि ब्रह्मज्ञानके विना ब्रह्ममें अविद्या और उसके सम्बन्धका ज्ञान कैसे हो सकता है ? आश्रयज्ञानके विना आश्रितज्ञान नहीं होता। सम्बन्धज्ञान दो सम्बन्धियोंके ज्ञानके अधीन है, अतएव नित्य साकांक्ष है। पुरुषज्ञानके विना पुरुषमें दण्ड तथा तत्संयोगरूप सम्बन्ध ये दोनों नहीं जाने जा सकते। द्वितीय पक्षमें 'यत्र वा अस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्' इत्यादि श्रुतिके अनुरोधसे आत्मज्ञानके होनेपर सम्पूर्ण द्वैतकी निवृत्ति हो जाती है। केवल चिदात्मा ही अवशिष्ट रह जाता है, तो प्रमातृ, प्रमाण, प्रमेय आदि भेदसापेक्ष प्रमाणजन्य ज्ञान कैसे हो सकता है ? इसलिए विद्वान् भी अविद्याका निरूपण नहीं कर सकता॥१०७॥

इसी अर्थको स्पष्ट करनेके लिए दोनोंकी अशक्ति क्रमसे कहते हैं— 'अविद्यावान्' इत्यादिसे।

आश्रयरूप ब्रह्मके ज्ञानके विना अविद्वान् अविद्याका साक्षात्कार नहीं कर सकता, क्योंकि जबतक आश्रय ब्रह्मका ज्ञान ही नहीं हुआ तबतक आश्रितका ज्ञान उक्त रीतिसे कैसे होगा ? बल्कि ब्रह्मज्ञानसे प्रथम अविद्याकी वस्तुरूपसे ही प्रतीति होती है, अवस्तु (कल्पित) रूपसे प्रतीति नहीं होती॥ १०८॥

अच्छा, तो ब्रह्मरूप आश्रयज्ञान होनेसे ब्रह्मवेत्ताको तो अविद्याका साक्षात्कार हो सकता है फिर विद्वान् कैसे असमर्थ है ? ऐसी शङ्का उपस्थित होनेपर

न निरूपयते विद्वान्विद्याद्दष्ट्यैव बाधनात् ।
वेद्यं ब्रह्मैव विद्यायां भासते बाध्यते तु सा ॥ १०९ ॥
निद्राया नहि निद्रात्वं निद्राणेन निरूप्यते ।
अनिद्राणोऽप्यपश्यंस्तां न निरूपयितुं क्षमः ॥ ११० ॥
अथ बुध्वाऽनुभूतां तामनिद्राणः परामृशेत् ।
परामृशत्वविद्यां च बोधादूर्ध्वं बुधस्तथा ॥ १११ ॥

विद्वान्‌की असमर्थताको प्रकट करनेके लिए कहते हैं—'न निरूपयते' इत्यादिसे ।

आत्मैक्यज्ञानरूप विद्यासे अविद्याका बाध हो जाता है, ऐसी अवस्थामें अविद्यारूप विषय नहीं है, फिर साक्षात्कार कैसे होगा ? विद्यमानविषयक ही प्रत्यक्ष होता है, अविद्यमानविषयक प्रत्यक्ष नहीं होता। अविद्या उपलक्षण है, प्रमाणादिभेदमात्रकी उक्त रीतिसे निवृत्ति हो जाती है, इस अर्थको सूचित करनेके लिए कहते हैं—'वेद्यं ब्रह्मैव'। ब्रह्म ही अवशिष्ट रहता है और द्वैतमात्र कल्पित होनेसे विद्या होनेपर बाधित हो जाता है। जब प्रमाणादिभेद ही नहीं है, तो कौन किससे क्या प्रमित करे ? ॥१०९॥

इसी अर्थमें अनुरूप दृष्टान्त देते हैं—'निद्राया नहि' इत्यादिसे ।

निद्राशब्दका स्वप्नमें तात्पर्य है। स्वप्न देखनेवाले पुरुषको यह भान नहीं होता कि हम स्वप्न देख रहे हैं अर्थात् उसे स्वप्नमें स्वप्नत्वका साक्षात्कार नहीं होता, बल्कि स्वप्नमें सत्यत्वका ही उसे भान होता है। इसीसे स्वाप्निक सुख-दुःखका भान होता है । यदि स्वप्नदशामें कदाचित् स्वप्नत्वका साक्षात्कार हो जाता है, तो सुखदुःखानुभवसे हर्ष और विषाद नहीं होते। और जागरावस्था भी हो जाती है जागनेपर स्वप्न ही निवृत्त हो जाता है; इस वास्ते साक्षात्कार नहीं होता। जैसे सुप्त या जाग्रत् कोई भी पुरुष स्वप्नत्वका साक्षात्कार नहीं कर सकता वैसे ही अविद्वान् अथवा विद्वान् कोई अविद्याके कल्पितत्वका साक्षात्कार करनेमें समर्थ नहीं हो सकता ॥११०॥

निद्रित पुरुषको निद्राकालमें कल्पितत्वका ज्ञान नहीं होता, किन्तु जागनेपर दृष्टार्थका बाध देखकर कल्पितत्वका भान होता है इस तात्पर्यसे कहते हैं—'अथ बुध्वाऽनुभूतां' इत्यादिसे ।

जागा हुआ पुरुष स्वाप्निक पदार्थके अनुभवका यदि स्मरण करता है, तो तत्त्वज्ञानोत्तर विद्वान् भी अविद्याका परामर्श करे ॥१११॥

अविद्याब्रह्मसम्बन्धमविद्यादृष्टिकल्पितम् ।
परामृशत्यतः सिद्धमस्याविद्येत्युदीरितम् ॥ ११२ ॥
अविद्यावृत्तवीक्षायां ब्रह्मसम्बन्धतेत्यपि ।
ब्रह्मवृत्तपरीक्षायां नासौ ब्रह्मस्पृगिष्यते ॥ ११३ ॥

अनुभवके विना स्मरण नहीं होता, अतः स्मरणसे पूर्वावस्थामें अनुभूत अविद्या सिद्ध होती है। तथा अविद्यानुभव और अविद्यानुभवका परामर्श दोनों होनेसे दोंनो सिद्ध होते हैं। अविचारदशामें कल्पित पदार्थका स्मरण होता है, इसलिए अविद्या और ब्रह्मका सम्बन्ध कल्पित ही है। यही कहते हैं—'अविद्याब्रह्म०' इत्यादिसे।

अविद्यादृष्टिसे कल्पित ब्रह्म और अविद्याके सम्बन्धका परामर्श करता है, इसलिए ब्रह्मका अविद्यासम्बन्ध अज्ञानकल्पित है, सत्य नहीं है, यह पूर्व कथन सिद्ध हुआ ॥११२॥

'अविद्यावृत्त' इत्यादि। अविद्याव्यवहारदशामें (अविचारदशामें) अविद्या और ब्रह्मका सम्बन्ध कहा गया है। अविद्याके समान अविद्यासम्बन्ध भी ब्रह्ममें अज्ञानकल्पित ही है, पारमार्थिक नहीं है। ब्रह्मज्ञानावस्थामें विचारदृष्टिसे अविद्यासम्बन्ध ब्रह्मका स्पर्श करता है, यह भी दृष्ट नहीं है अर्थात् परमार्थदशामें अविद्याका ब्रह्मके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। अविद्या ही जब विद्यासे नष्ट हो गई तब अविद्याका सम्बन्ध कहाँ?

भेदाभेदवादी मायावादीके मतके साथ स्वमतकी तुलना कर यह कहते हैं कि आपके (मायावादीके) मतमें अविद्याकी कल्पना और अविद्यामें संसारकारणत्वकी कल्पना करनी पड़ती है। हमारे मतमें संसार और ब्रह्म ये दोनों क्लृप्त ही हैं। ब्रह्मसे संसारका भेदाभेद भी इष्ट ही है, इसलिए भेदाभेद मानना ही ठीक है।

किन्तु विचार करनेपर भेदाभेद पक्षमें ही अधिक कल्पना करनी पड़ती है—जगद् और ब्रह्मका भेदाभेद, सत्य बन्धका ध्वंस, शुभाशुभ कर्मफल, नित्य कैवल्य इत्यादि अनेक कल्पनाएँ आवश्यक हैं। यदि कहिए, ये सब प्रमाणसिद्ध हैं, इनका स्वीकार करनेमें गौरव दोष नहीं है, क्योंकि 'प्रमाणवन्त्यदृष्टानि कल्प्यानि सुबहून्यपि' इत्यादि वचनोंसे अनेक प्रामाणिक पदार्थोंके माननेपर भी गौरव दोष नहीं होता। तो ठीक है, किन्तु भेदाभेद तो

परस्पर विरुद्ध होनेसे प्रामाणिक नहीं है, अतः 'न कल्प्यो निष्प्रमाणकः' इस न्यायसे भेदाभेद उपादेय नहीं है। किसी भी प्रमाणसे एक हीमें एकका भेदाभेद नहीं सिद्ध होता। और यदि संसार अनादि भावस्वरूप है, तो ब्रह्मके समान निवृत्त नहीं हो सकेगा, क्योंकि 'संसारो न ध्वंसप्रतियोगी, अनादिवस्तुत्वात्, आत्मवत्' इस अनुमानसे संसार सदातन हो जायगा। तुम मोक्षको कर्मफल मानते हो, सो भी श्रुतिविरुद्ध है, क्योंकि श्रुतियोंसे मोक्ष ज्ञानका फल है, यह सिद्ध है। कर्मफल माननेपर भी मोक्षको नित्य मानते हो, सो भी 'यत्कृतकं तदनित्यम्' इस व्याप्तिमूलक अनुमान तथा 'नास्त्यकृतः कृतेन' इत्यादि आगमसे विरुद्ध है। इस तरह आपके मतमें भी तो अनेक कल्पनाएँ करनी पड़ती हैं, अविद्यामें अनादित्व, वन्धकत्व, विद्यानिवर्त्यत्व इत्यादि, अतः अनेक कल्पनाएँ दोनों मतमें एक-सी ही हैं, इसलिए यह दोष हमारे मतमें अक्षम्य नहीं है।

'यश्चोभयोः समो दोषः परिहारस्तयोः समः ।
नैकस्तत्रानुयोक्तव्यस्तादृगर्थविचारणे ॥'

अर्थात् जो दोष दोनों मतोंमें समान है तथा उसका परिहार भी समान ही है, ऐसे दोषका उद्भावन एक दूसरेके मतमें न करे।

इस वचनसे अनेक कल्पनाएँ दोनोंमें समान हैं, इसलिए मेरे मतमें यह विशेषरूपसे दोष नहीं हो सकता।

अविद्यामें अनादित्व, अनिर्वाच्यत्व, वन्धकत्व, विद्यानिवर्त्यत्व आदि श्रुतिस्मृतिसिद्ध हैं कल्प्य नहीं हैं, जो श्रुत्यादि प्रमाणसे सिद्ध नहीं हैं, किन्तु आवश्यकतानुसार मानने पड़ते हैं वे कल्प्य कहे जाते हैं।

'अनादिमायया सुप्तो यदा जीवः प्रबुद्ध्यते'।
'प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि'

इत्यादि वचनोंसे मायामें अनादित्व सिद्ध है, 'नासदासीद् नो सदासीत्' 'आसीदिदं तमोभूतम्' इत्यादि वचनोंसे मायामें अनिर्वाच्यत्व, 'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्', 'माया ह्येषा मया सृष्टा यन्मां पश्यसि', 'भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः', 'मायामेतान्तरन्ति ते' इत्यादि वचनोंसे मायामें वन्धकत्व और ज्ञाननिवर्त्यत्व प्रसिद्ध ही है कल्प्य नहीं है। अविद्याको कल्प्य नहीं कह सकते, क्योंकि वह नित्यानुभवसिद्ध है—'अहमज्ञः' इत्यादि प्रत्यक्षानुभवसिद्ध है, यह पूर्वमें कह चुके हैं ॥११३॥

तत्त्वमस्यादिवाक्योत्थसम्यग्धीजन्ममात्रतः ।
अविद्या सह कार्येण नासीदस्ति भविष्यति ॥ ११४ ॥
अतः प्रमाणतोऽशक्याऽविद्याऽस्येति परीक्षितुम् ।
कीदृशी वा कुतो वेति ब्रह्मदृष्ट्या कथञ्चन ॥ ११५ ॥

अविद्या और उसका सम्बन्ध ब्रह्ममें अध्यस्त है, इसीसे कहते हैं— 'तत्त्वमस्यादि' इत्यादिसे ।

'तत्त्वमसि' आदि वाक्यजन्य जीवब्रह्माभेदविषयक समीचीन ज्ञानोत्पत्तिमात्रसे कार्यके साथ अविद्या न थी, न है और न होगी इत्यादि त्रैकालिक निषेध सिद्ध होता है । यद्यपि अविद्यादशामें अविद्याका त्रैकालिक निषेध नहीं हो सकता, क्योंकि उसकी कभी अपरोक्ष प्रतीति होती है, तथापि पारमार्थिक आकारसे त्रैकालिक निषेध विवक्षित है । अविद्या अपने समयमें भी वास्तविकरूपसे नहीं रहती, अतएव अनिर्वचनीय कहलाती है। सत्त्व या असत्त्व रूपसे जिसका निर्वचन न हो सके, वही अनिर्वचनीय है ॥११४॥

मुक्तिकालोऽविद्यास्पर्शी, कालत्वात्, पूर्वकालवत्, अर्थात् मुक्तिकालमें भी अविद्याका सम्बन्ध रहता है, काल होनेसे, पूर्वकालके समान, इस अनुमानसे मुक्तिकालमें भी अविद्याका सम्बन्ध रहता है, इसकी निवृत्तिके लिए कहते हैं— अतः प्रमाणतो०' इत्यादिसे ।

तत्त्वमस्यादिवाक्योत्थ आत्मैकत्वविद्याका उदय होनेपर कार्यके साथ अविद्याकी त्रैकालिक सत्ता (भूत, भविष्य और वर्तमानकालिक सत्ता) नहीं रहती, इसलिए यदि अविद्याकी सत्तामें कोई प्रमाण नहीं दे सकते, तो मुक्त पुरुषमें अविद्यासम्बन्ध है, यह कहना सर्वथा असङ्गत ही है । ब्रह्मज्ञान होनेपर अविद्या कैसी है अथवा कहाँसे आई है इत्यादि परीक्षाका सम्भव नहीं है । यदि ब्रह्मसंसृष्टाकारसे अविद्या मेय है, तो स्वरूपसे भी मेय हो सकती है, क्योंकि ब्रह्माश्रित विद्यासे ही प्रपञ्चका भान होता है । अविद्योपहितचैतन्यमें यदि प्रपञ्चका अध्यास मानते हो, तो प्रमाणसे परीक्षाके अयोग्य वह क्यों है ? किंरूपा अविद्या है और क्यों ब्रह्ममें है, इस जिज्ञासाकी निवृत्तिके लिए प्रमाणान्तरकी खोज नहीं करनी चाहिए, क्योंकि प्रमाणान्तरके बिना ही स्वक्रियानुभवसे अविद्या सिद्ध है अर्थात् उक्त बुभुत्सानिवृत्ति यदि स्वानुभवसे ही सिद्ध होती है तो उसके लिए प्रमाणान्तरकी क्या अपेक्षा ? ॥ ११५ ॥

वस्तुनोऽन्यत्र मानानां व्यापृतिर्नहि युज्यते ।
अविद्या च न वस्त्विष्टं मानयोगासहिष्णुतः ॥ ११६ ॥
अविद्याया अविद्यात्वमिदमेवाऽत्र लक्षणम् ।
मानयोगासहिष्णुत्वमसाधारणमिष्यते ॥ ११७ ॥
मानेन ब्रह्मवीक्षायामविद्यागन्धवर्जनात् ।
ब्रह्मद्वारेति सुष्ठूक्तं नोक्तदोषद्वयं ततः ॥ ११८ ॥

यदि अविद्याके अप्रामाणिकत्वमें प्रमाणान्तरके विना सन्तोष न हो, तो स्वानुभवातिरिक्त अनुमान प्रमाण देनेके लिए कहते हैं— **'वस्तुनोऽन्यत्र'** इत्यादिसे ।

वस्तुसे अन्यत्र अर्थात् अवस्तुमें प्रमाणोंका व्यापार नहीं होता । जैसे शुक्ति-रूप्य आदि अवस्तु है, अतः उनमें कोई प्रमाण नहीं ही है वैसे ही अविद्या भी अवस्तु है, अत एव उसमें भी कोई प्रमाण नहीं हो सकता । प्रमाणा-सहिष्णुत्व—प्रमाणको सहन न करना—ही अवस्तुत्व है ॥ ११६ ॥

विमतं मानयोग्यम्, शास्त्रार्थत्वात्, ब्रह्मवत्, अर्थात् विमत (अवस्तु) प्रमाणयोग्य है, शास्त्रप्रतिपाद्य होने, ब्रह्मके समान इस अनुमानसे अविद्यामें भी प्रमाणप्रवृत्ति योग्यता हो सकती है । उक्त अनुमानमें हेतुकी असिद्धि दिखलाते हैं— **'अविद्याया'** इत्यादिसे ।

अविद्यामें अविद्यात्व क्या है ? मानयोगासहिष्णुत्व अर्थात् प्रमाणा-विषयत्व ही अविद्याका असाधारण लक्षण है ? यदि अविद्या प्रमाणगोचर होगी, तो उसका यह असाधारण लक्षण ही नहीं होगा । जैसे शशशृङ्ग आदि अवस्तुभूत पदार्थ प्रमाणविषय नहीं हैं, वैसे ही अविद्यामें अविद्यात्व भी अवस्तु है, अतः प्रमाणविषय नहीं है । ब्रह्ममें अविद्याशून्यत्व वास्तविक है ॥ ११७ ॥

'मानेन' इत्यादि । 'तत्त्वमसि' इत्यादि प्रमाणसे जन्य ब्रह्मात्मैकत्वबुद्धिदशामें अविद्या लेशमात्रसे भी नहीं रहती, इसलिए ब्रह्ममें निरविद्यत्व ठीक ही कहा गया है, अतः ब्रह्ममें अवस्थाभेदसे तथा ज्ञानभेदसे साविद्यत्व और निरविद्यत्व दोनों रहते हैं, इसलिए पूर्वोक्त दोनों दोष नहीं होंगे । बद्ध और मुक्त पुरुषके भेदसे साविद्यत्व और निरविद्यत्वकी उपपत्ति होती है । आत्मैकत्वज्ञान होनेपर अविद्याका

ध्वंस होता है, यह माननेपर भी अद्वैत आत्माकी सिद्धि नहीं हो सकती, अविद्या-ध्वंस ही दूसरा पदार्थ है, यही अद्वैतमें बाधक होगा ? नहीं, ध्वंस अतिरिक्त पदार्थ नहीं है, वह ब्रह्मस्वरूप ही है। अभाव अधिकरणात्मक होता है, यही युक्तियुक्त है। इसीसे प्राचीन आचार्योंका कहना है—'भावान्तरमभावो हि' इत्यादि ॥११८॥

[अब यहाँपर यह शङ्का होती है कि आत्मैकत्वको वेदान्तका प्रमेय मानना ठीक नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्षादिप्रमाणसे द्वैत ही सिद्ध होता है। कर्मकाण्ड द्रव्यदेवताकर्तृकरणादिसापेक्ष है, क्योंकि द्वैतके विना कर्मानुष्ठान नहीं हो सकता। और अनुष्ठान न होनेपर तद्बोधक वेदभाग अप्रमाण हो जायगा, इसलिए द्वैत मानना अत्यावश्यक है। द्वैत सर्वलोकशास्त्रप्रसिद्ध है, और इससे विरुद्ध अद्वैत अप्रसिद्ध है। प्रसिद्धके अनुरोधसे अप्रसिद्धका त्याग करना ही श्रेष्ठ है। सर्वलोकप्रसिद्धिके बलपर आप आत्मैकत्वका त्याग करनेपर तुले हैं सो आप यह बतलाइये कि प्रसिद्धि प्रत्यक्षादि प्रमाणके अन्तर्गत है या इनसे अतिरिक्त प्रमाणान्तर है ? प्रथम पक्षमें ज्योतिषशास्त्रके विरोधसे वितस्तिपरिमित चन्द्रमण्डल-ग्राही प्रत्यक्षके समान सम्भावित दोषसे नित्य निर्दुष्ट तत्त्वमस्यादिवाक्यजन्य ज्ञानसे प्रत्यक्षादि बाध्य है, अतः वह मिथ्या है यह निश्चय हो जानेपर व्यावहारिक प्रामाण्य ही प्रत्यक्षादिमें है तात्त्विक नहीं है, यह विचारसे सिद्ध हो चुका है। फिर लोकप्रसिद्धिके बलपर आक्षेप करना वृथा है। द्वितीयपक्षमें 'इह वटे यक्षः' इस प्रसिद्धिकी तरह निर्मूल प्रसिद्धि प्रमाण ही नहीं हो सकती। प्रसिद्धि दो प्रकारकी होती है—एक प्रत्यक्षादिमूलक और दूसरी निर्मूल। प्रथम तो प्रत्यक्षादिके अन्तर्गत होनेसे प्रमाण है और दूसरी अमूलक होनेसे अप्रमाण है। उसके अनुरोधसे अद्वैतागमसे सिद्ध ऐकात्म्यका त्याग नहीं हो सकता। सारांश यह है कि इस संसारमें यह अर्थ प्रत्यक्षसिद्ध है, यह अर्थ अनुमानसिद्ध है, यही अर्थ सर्वथा स्वीकार करने योग्य है, यह अभिमान लोगोंका है, सो प्रत्यक्षादि अद्वैता-गमसे मिथ्या सिद्ध हो चुका है। जैसे शुक्तिमें रजतज्ञान प्रत्यक्ष है, किन्तु 'यह शुक्ति है' इस समीचीन ज्ञानसे बाधित होनेपर वह रजतसत्ताका साधक नहीं होता, वैसे ही द्वैतग्राही प्रत्यक्ष 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' इत्यादि श्रुतिसे बाधित होनेसे अर्थका साधक नहीं है। इस श्रुतिमें नामधेय यह उपलक्षण है। रूपका भी 'नामरूपे व्याकरवाणि' इस सृष्ट्यारम्भक श्रुतिमें पहले नाम है पश्चाद् रूप है, इसलिए नामधेयशब्दसे नामरूपात्मक जगत्

एवं चाऽज्ञातमैकात्म्यं सुस्थाऽतोऽस्यैव मेयता ।
प्रत्यक्षं द्वैतबोध्यत्र दौर्बल्यान्न विरुध्यते ॥११९॥

अभिप्रेत है, सो जगत् 'वाचैव केवलमारभ्यते न तत्त्वतः' नामधेयात्मक अखिल विकार वागारम्भमात्र है, सत्य नहीं है । जैसे मृत्तिका कार्य—घट, शराव आदि मृत्तिकासे अतिरिक्त—नहीं हैं फिर भी शब्दभेद और रूपभेद प्रतीत होता है किन्तु वह भ्रम है वैसे ही ब्रह्मकार्य जगत् ब्रह्मातिरिक्त तथा ब्रह्मविलक्षण प्रतीत होता है परन्तु वस्तुतः अतिरिक्त नहीं है (विलक्षण नहीं है) । जैसे आदि और अन्तमें मृत्तिका ही केवल उपलब्ध होती है मध्यमें कुछ समयतक विलक्षण घट, शराव आदि प्रतीत होते हैं, मृत्तिकासे घटादि अभिव्यक्त होकर कुछ समयतक मृत्तिकामें प्रतीत होकर फिर उसीमें लीन हो जाते हैं वैसे ही जगत् ब्रह्मसे अभिव्यक्त होकर नियत समयतक ब्रह्ममें प्रतीत होकर फिर उसीमें लीन हो जाता है । इसलिए यदि जगत् पारमार्थिक नहीं है, तो तद्विषयक प्रत्यक्षादि प्रमाण पारमार्थिक है, इसकी क्या सम्भावना ? यदि यह कहिए कि 'श्रौतमात्मज्ञानं न प्रत्यक्षबाधकम्, अप्रत्यक्षत्वाद्, अनुमानवत्', इस अनुमानसे आत्म-ज्ञान प्रत्यक्षका बाधक नहीं हो सकता, इसलिए प्रत्यक्षादिसिद्ध बन्धका आगमज्ञानसे बाध नहीं हो सकता, तो यह बतलाइए कि आत्म-ज्ञान प्रत्यक्ष क्यों नहीं है ? क्या सन्निहितार्थबोधक नहीं है अथवा प्रत्यक्षार्थबोधक नहीं है किं वा प्रत्यक्षत्वका अधिकरण नहीं है अर्थात् प्रत्यक्षत्वधर्म उसमें नहीं है अथवा निरपेक्ष नहीं है ? प्रथम पक्षमें अनुमेयकी अपेक्षासे प्रत्यक्षविषय अर्थ जैसे सन्निहित है वैसे ही वेदान्तवाक्यजन्य बोध सबसे ज्यादा सन्निहित आत्माको विषय करता है और पूर्वोक्तरीतिसे सन्निहित तारतम्य आत्मामें विश्रान्त है, यह दिखला चुके हैं । आत्मा ही में बोध है और वही बोधका विषय है, इसलिए ऐकात्म्यज्ञान अतिसन्निहितात्मविषयक होनेसे प्रत्यक्षात्मक है, अप्रत्यक्षात्मक नहीं, इसलिए द्वैतबुद्धिके बाधक न होनेसे आपत्ति नहीं है । इससे जो यह आपत्ति थी कि प्रत्यक्ष-विरुद्ध अद्वैत परोक्षसिद्ध कैसे ग्राह्य हो सकता है तो वह तो ज्यों-की-त्यों रही, क्योंकि 'ग्रावाणः प्लवन्ते' इत्यादि वाक्यजन्य परोक्षात्मक ज्ञानका 'ग्रावाणो न तरन्ति' एतदर्थक प्रत्यक्षसे बाध होनेसे उक्त ज्ञान जैसे अप्रमाण है वैसे ही द्वैतविषयक प्रत्यक्षसे बाध होनेसे ऐकात्म्यबोधक उक्त वाक्य अप्रमाण है ।]

उक्त शङ्काके निराकरणके लिए द्वैतप्रत्यक्षकी अपेक्षासे उक्त वाक्यार्थज्ञान प्रबल है यह दिखलाते हैं—'एवं चाऽज्ञात०' इत्यादिसे ।

आसन्नत्वादाश्रयत्वाद्वैशद्याच्चात्मवस्तुनः ॥
तद्बोधिशास्त्रं प्रत्यक्षात् प्रबलं द्वैतबोधिनः ॥१२०॥
प्रत्यक्षं तद्यथाऽऽसन्नं परोक्षार्थावबोधिनः ॥
सर्वप्रत्यक्तमे तद्वद्बोधो वाक्योत्थ आत्मनि ॥१२१॥

ऐकात्म्य प्रमाणान्तरसे अप्राप्त है, अतः यही वेदान्तवाक्यका प्रमेय सुस्थिर है। अज्ञातज्ञापक ही प्रमाण है, द्वैतग्राही प्रत्यक्ष दुर्बल है, इसलिए विरोधी नहीं है। संभावित दोष दौर्बल्यका कारण है एवं निर्दोषत्व प्राबल्यका कारण है। उक्त रीतिसे प्रत्यक्ष दुर्बल है और वेदान्तवाक्य प्रबल हैं, अतः समबल न होनेसे प्रत्यक्ष बाधक नहीं है, किन्तु 'बलवता दुर्बलं बाध्यते' इस न्यायसे वेदान्त ही प्रत्यक्षका बाधक है ॥ ११९ ॥

अब आगमज्ञान प्रत्यक्ष नहीं है, इससे जो विकल्प किये गये हैं, उनमें प्रथम पक्षमें आगमज्ञान भी प्रत्यक्ष ही है परोक्ष नहीं, यह कहते हैं—'आसन्नत्वात्' इत्यादिसे। प्रत्यक्ष अनुमान आदिकी अपेक्षा प्रबल है, इसमें बीज यह है कि अनुमेय अर्थकी अपेक्षा प्रत्यक्ष सन्निहितविषयक होता है। दूरस्थ पदार्थका प्रत्यक्ष नहीं होता। जहां तक चक्षुरादि सम्बन्ध हो सकता है, वहीं तक प्रत्यक्ष होता है अनुमान दूरस्थका भी होता है अतः दूरस्थ पदार्थविषयक अनुमानसे सन्निहितार्थबोधक प्रत्यक्ष प्रबल है अर्थात् प्राबल्यप्रयोजक सन्निहितार्थविषयकत्व ही है। यदि प्रत्यक्ष सन्निहितविषयक होनेसे प्रमाण है, तो प्रत्यक्षादिविषय घटादिकी अपेक्षासे अतिसन्निहित आत्मा है तद्विषयक श्रौतज्ञानको प्रत्यक्षसे भी प्रबल मानना चाहिए।

श्लोकार्थ—आत्मवस्तु आसन्न, आश्रय तथा अतिविशद है, अतः तद्बोधक शास्त्र (वेदान्त) अनासन्नादि द्वैतार्थग्राही प्रत्यक्षसे भी प्रबल है ॥१२०॥

प्रथम आसन्न हेतुके स्पष्टीकरणके लिए कहते हैं—'प्रत्यक्षं तद्यथाऽऽसन्नम्' इत्यादिसे। जैसे दूरस्थपदार्थविषयक अनुमानादि की अपेक्षा सन्निहित-विषयक प्रत्यक्ष प्रबल होता है वैसे ही वेदान्तवाक्यजन्य ज्ञान अतिसंन्निहित आत्मविषयक होनेसे सबसे प्रबल है, अतः द्वैतग्राही प्रत्यक्षादिका बाधक है, उससे बाध्य नहीं है ॥१२१॥

द्वितीय तृतीय विकल्पाभिप्रायसे कहते हैं—'आत्मानं सत्यमाश्रित्य' इत्यादिसे। अभिप्राय यह है कि प्रत्यक्ष भी स्वयंसिद्ध नहीं है, कारण कि

आत्मानं सत्यमाश्रित्य मिथ्याद्वैतं प्रसिध्यति ॥
आत्मानुभववैशद्याज्जडार्थो विशदीभवेत् ॥१२२॥

जडात्मक अन्तःकरणकी विषयाकार वृत्तिको प्रत्यक्ष कहते हैं। जड मनका परिणाम होनेसे वृत्ति भी जड़ ही है, अतः स्वयंसिद्ध नहीं है। यदि कहिये, प्रमाणान्तर भी तो जड़ ही है फिर उसकी सिद्धिके लिए प्रमाणान्तरकी अपेक्षा होनेसे अनवस्था दोष होगा, इसलिए वृत्ति ही न मानें तो विषयसाधक न होनेसे विषयसिद्धि ही न होगी, अतः स्वयंप्रकाश आत्मासे वृत्ति और वृत्ति द्वारा बाह्यपदार्थकी सिद्धि मानी जाती है, इसलिए प्रत्यक्षादि प्रमाणसिद्धिका मूल स्वयंप्रकाशानुभवस्वरूप आत्मा ही है। जैसे अन्तःकरणवृत्तिमें मूल प्रमाण आत्मा है वैसे ही यदि आत्मानुभवमें मूल प्रमाणकी अपेक्षा होगी तो अनवस्था दोष हो जायगा। अतः सकल पदार्थोंकी सिद्धिके मूल अनुभवरूप आत्माकी सिद्धि दूसरेसे नहीं हो सकती, इसलिए वह स्वयमपरोक्षस्वभाव है यही मानना उचित है, तो वेदान्तवाक्य अपरोक्षार्थका बोधक नहीं है, इस कारण प्रत्यक्षसे बाधित हो जायगा; यह शङ्का भी नहीं कर सकते, क्योंकि अपरोक्षत्वानधिकरणत्व तृतीय विकल्पमें यह समाधान है कि प्रत्यक्षमें स्वतः अपरोक्षत्व नहीं है, क्योंकि वृत्तिविशेषरूप प्रत्यक्ष स्वयं जड़ है। यदि नित्यापरोक्षात्मानुभवके सम्बन्धसे प्रत्यक्षमें अपरोक्षत्व आता है, तो आत्मविषयक वेदान्तवाक्यजन्य ज्ञानमें भी अपरोक्ष आत्माका सम्बन्ध होनेसे वह भी अपरोक्ष क्यों नहीं होगा ? चतुर्थ कल्प भी निरपेक्षत्वरहित ठीक नहीं है, क्योंकि वेदमें स्वतःप्रामाण्य पूर्वमीमांसा तथा उत्तरमीमांसामें सिद्धान्तरूपसे माना ही गया है, इसलिए सापेक्षत्वेन अप्रमाण नहीं कह सकते।

श्लोकार्थ—जैसे व्यावहारिक सत्य इदमादिमें ही रजतारोप होता है वैसे ही सत्यात्मा अधिष्ठानमें ही जगत्का आरोप होता है। आत्मानुभववैशद्यसे—आत्मस्फुरणसे अर्थात् घटाद्यवच्छिन्न चैतन्यकी स्फूर्तिसे घटादिकी स्फूर्ति होती है। चक्षु और विषयके संयोगसे जब विषयाकार अन्तःकरणकी वृत्ति होती है तब उस वृत्तिसे विषयावरक चिन्निष्ठाज्ञानकी निवृत्ति होती है। अतः अनावृत अपरोक्ष चैतन्यमें विषयका तादात्म्याध्यास होनेसे विषय भी अपरोक्ष होता है इस कारण वेदान्तवाक्यजन्य ज्ञान अपरोक्षात्मविषयक होनेसे अपरोक्ष है। अतः सबसे प्रबल है अद्वैतात्मज्ञान अनपेक्ष प्रत्यक्षात्मक होनेसे सब प्रमाणोंसे प्रबल प्रमाण है, अतः अज्ञानमूलक प्रपञ्चग्राही प्रत्यक्षादिका बाधक है। अज्ञान और तन्मूलक प्रपञ्च बाध्य है, इसलिए उक्त-

अतः प्रबलमानेन ब्रह्मतत्त्वेऽवबोधिते ।
विद्याफलस्य प्रत्यक्षान्नाऽस्याऽभूतार्थवादता ॥ १२३ ॥
ननु निर्धूतशोकादि फलं यत् श्रूयते श्रुतौ ।
आत्मविद्यास्तुतिर्ह्येषा विद्यायां पुम्प्रवृत्तये ॥ १२४ ॥
मनोराज्यसमं मन्ये सर्वमेतत्कृतं फलम् ।
न प्रत्येमि यतः साक्षात्प्रत्यक्षं ज्ञानतः फलम् ॥ १२५ ॥

ज्ञान प्रपञ्चको निवृत्तकर मुक्तिका साधन होता है, इस तात्पर्यसे कहते हैं— 'अतः' इत्यादिसे ।

'तत्त्वमसि' आदि वेदान्तवाक्यरूप प्रबल प्रमाणसे ब्रह्मतत्त्वके (अद्वितीयात्माके) ज्ञात होनेपर विद्याका ब्रह्मात्मभावरूप फल (मोक्ष) आत्मज्ञानियोंके अनुभवसे सिद्ध है, अतः वेदान्तवाक्य अभूतार्थवाद—असत्यार्थवाद—नहीं हो सकते। 'ग्रावाणस्तरन्ति' इत्यादि वाक्योंकी बराबरी करनेवाले वाक्य प्रत्यक्षादिसे बाधित होनेके कारण भूतार्थवाद नहीं कहलाते हैं, किन्तु प्रत्यक्षादिके बाधक होनेसे अभूतार्थवाद ही कहलाते हैं, इसलिए वे स्वार्थमें प्रमाण नहीं हैं। परन्तु 'तरति शोकमात्मवित्' इत्यादि वाक्य तो भूतार्थवाद ही है, क्योंकि ज्ञानका फल मोक्ष विद्वान्के अनुभवसे सिद्ध है, यह भाव है ।

अतएव साधनचतुष्टयसम्पन्न विवेकी मोक्षका अधिकारी है और अविवेकी अभ्युदयके हेतु कर्मका अधिकारी है, इस प्रकार अधिकारीका भेद होनेसे पूर्वोत्तर काण्डका भेद, अभ्युदय एवं अपवर्गरूप फलका भेद और कर्म तथा ज्ञानरूप साधनका भेद भी सङ्गत होता है ॥१२३॥

'तरति शोकमात्मवित्' इत्यादि श्रुति विद्याकी स्ताविका होनेसे विद्याफलमें प्रमाण नहीं हो सकती, इस शङ्काकी निवृत्तिके लिए कहते हैं—'ननु' इत्यादिसे ।

आत्मज्ञानका शोकादिनिवृत्तिरूप फल जो श्रुतियोंमें सुना जाता है, वह आत्मज्ञानमें पुरुषकी प्रवृत्तिके लिए स्तुतिमात्र है अर्थात् मोक्ष आत्मज्ञानका फल है, इस अर्थमें उक्त वाक्य प्रमाण नहीं है, किन्तु उक्त ज्ञानमें पुरुषकी प्रवृत्तिके लिए स्तुतिवाक्य है ॥१२४॥

विद्याका फल मोक्ष है, यह आत्मज्ञानियोंके प्रत्यक्ष प्रमाणसे सिद्ध है, अतः उक्त श्रुति स्तुतिपरक नहीं हो सकती, किन्तु वास्तविक अर्थकी प्रतिपादिका है, इस वेदान्तसिद्धान्तकी खण्डके लिए कहते हैं—'मनोराज्ये' इत्यादिसे ।

अत्रोच्यते फलं त्विष्टं गम्यमानं प्रमाणतः ।
त्यक्त्वा कल्पयसे कस्मादनिष्टामश्रुतां स्तुतिम् ॥ १२६ ॥

स्वप्नस्थानादिसञ्चारिविज्ञानमयनामकः ।
धीस्थचैतन्यबिम्बोऽयं सदा शोचतु मुह्यतु ॥ १२७ ॥

आत्मज्ञानका फल शोकनिवृत्ति है, इसमें प्रमाण है—विद्वानोंका अनुभवात्मक प्रत्यक्ष । यहाँपर आप विद्वानोंके अनुभवसे अपने अनुभवका निर्देश करते हैं या वामदेव आदि मुक्त महापुरुषोंके अनुभवका निर्देश करते हैं? प्रथम पक्षमें तो हमारा विश्वास ही नहीं है, क्योंकि आपका ऐसा प्रत्यक्ष आपके मनोराज्यके समान है । भाव यह है कि मनोरथसे कल्पित है, सत्य नहीं है, क्योंकि आपके सदृश हम भी तो विद्वान हैं, किन्तु ज्ञानका फल मोक्ष है, यह प्रत्यक्ष हमको नहीं होता तो आप ही को ऐसा प्रत्यक्ष क्यों होता है, यदि होता है तो स्पष्ट आपके मनोराज्यके समान है, अतः यह प्रमाण नहीं हो सकता । द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि उन महापुरुषोंके अनुभवका परिज्ञान हमारे सदृश आपको भी नहीं हो सकता, यह निर्विवाद है ॥१२५॥

अच्छा तो 'तरति शोकमात्मवित्' इस श्रुतिसे यह अर्थ स्पष्ट प्रतीत होता है कि आत्मज्ञानका शोकनिवृत्ति फल है, फिर भी आप इस अर्थका त्याग करते हैं, इसमें क्या कारण है, क्या यह इष्ट नहीं है, इसलिए फल ही नहीं हो सकता या वाक्यान्तरसे यह प्रमित ही नहीं है? प्रथम पक्षके निराकरणके लिए कहते हैं—'अत्रोच्यते' इत्यादिसे ।

संसारके प्राणी-मात्रकी यह इच्छा रहती है कि हमको सुख हो और दुःख न हो, अतः सुखके समान दुःखनिवृत्ति भी इष्ट होनेसे अवश्य फल है । अतः 'तरति शोकम्' इत्यादि प्रमाणसे प्रतीयमान दुःखनिवृत्तिरूप इष्ट फलका त्यागकर अश्रुत अनिष्ट स्तुतिफलकी कल्पना क्यों करते हो ॥१२६॥

वेदान्तवाक्यसे आत्मज्ञान होनेपर भी 'अहं दुःखी' यही अनुभव होता है, इसलिए अनुभवविरुद्ध दुःखनिवृत्ति उक्त ज्ञानका फल नहीं हो सकता, किन्तु स्तुति अर्थ हो सकता है, इस शंकाकी निवृत्तिके लिए कहते हैं—'स्वप्नस्थानादि' इत्यादि से ।

बहुशोऽसङ्गवचसा निःसङ्गत्वं ब्रुवाणया।
श्रुत्यैव शोकमोहादि बिम्बात्मनि निवारितम् ॥ १२८ ॥
अहं दुःखीतिधीर्मूढं शोचन्तं प्रतिबिम्बितम्।
चिदाभासं प्रगृह्णातु किमायातं चिदात्मनि ॥ १२९ ॥

उक्त श्रुति तथा प्रत्यक्ष दोनों प्रमाण भिन्नविषयक हैं, अतः उनका परस्पर विरोध ही नहीं है तो बाध्यबाधकभावकी कथा ही कैसे हो सकती है? कर्तृत्वादिधर्मशून्य केवल चैतन्यरूप आत्मविषयक श्रुति है और कर्तृत्व आदि धर्मसे युक्त तथा जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्तिरूप तीन अवस्थाओंमें गमन करनेवाला अतएव आगमापायी उक्त स्थानत्रयका अभिमानी अहं प्रतीतिका विषय बुद्धिस्थ चैतन्यबिम्बविषयक प्रत्यक्ष है, अतः अपने अपने विषयमें दोनों व्यवस्थित हैं, इसलिए विरोध न होनेसे बाध्यबाधकभाव नहीं है। अतः श्रुतिविषयसे भिन्न प्रत्यक्षका विषय विशिष्ट आत्मा चाहे शोक करे या मोह करे, परन्तु जाग्रत् आदिके साथ सम्बन्ध न रखनेवाला वेदान्तवेद्य आत्मा अवस्थात्रयाद्यधीन दुःखका अनुभव कभी नहीं करता, अतः प्रत्यक्ष और आगमके विरोधका समाधान श्रुतिने ही कर दिया है, इसलिए दोनोंमें परस्पर विरोधकी शंका ही नहीं है ॥ १२७ ॥

इसी अर्थके स्पष्टीकरणार्थ कहते हैं—'बहुशोऽसङ्गवचसा' इत्यादि।

'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' इत्यादि श्रुतिने अनेक बार असंगत्वके प्रतिपादनसे बिम्बात्मामें अर्थात् शुद्धात्मामें शोक, मोह आदि सांसारिक धर्मोंका निवारण किया है अथवा 'आत्मा निस्संग है', यह कहनेवाली असंगत्वश्रुतिने शुद्धात्मामें शोक, मोह आदिका बार बार निराकरण किया है ॥ १२८ ॥

यदि आत्मामें दुःख, मोह आदि नहीं है, तो 'अहं दुःखी' यह प्रतीति कैसे होती है, इसके समर्थनके लिए कहते हैं—'अहं दुःखी' इत्यादिसे। 'अहं दुःखी' इत्याकारक बुद्धि अहमाकारवृत्तिप्रतिबिम्बित मूढ एवं शोकशील चिदाभासको विषय करती है, अतः उससे भिन्न चिदात्मामें क्या आया? वृत्तिप्रतिबिम्बित चिदाभास है, वास्तविक आत्मा नहीं है। अतः उसके सुखी या दुःखी होनेपर भी वास्तविक आत्मामें दुःखादिका गन्ध भी नहीं होता, वेदान्तवेद्य आत्मा चित् है आभास नहीं है, वह आभास प्रत्यक्षादिका विषय है, अतएव मिथ्या है ॥१२९॥

आभासगतशोकादि स्वात्मन्यारोप्यते यदि ।
आरोपोऽपोद्यते श्रुत्या निःसङ्गत्वादिबोधनात् ॥ १३० ॥
चित्स्वरूपचिदाभासौ वाक्याहम्बुद्धिगोचरौ ।
अदुःखिदुःखिनौ भूत्वाऽनुभूयेते यथायथम् ॥ १३१ ॥

यदि यह कहिए कि 'अहम्' इस प्रतीतिसे पृथक् शुद्धात्माकी प्रतीति तो है नहीं और अहंप्रतीतिके विषयमें ही दुःखादिका ज्ञान होता है, तो शुद्धात्मामें भी दुःखादिका भान मानना चाहिए, अन्यथा प्रमाणाभावसे शुद्धात्माकी सिद्धि ही नहीं होगी, इसलिए कहते हैं—'आभासगत०' इत्यादिसे ।

चिदाभासगत दुःख, मोह आदिका चिदात्मामें आरोप करते हैं. इसी कारणसे निःसङ्गत्वबोधन द्वारा श्रुति उनका निराकरण करती है। भाव यह है कि आत्मामें शोकादि प्रसक्त हैं या नहीं ? यदि प्रसक्त हैं, तो किससे ? अहमादि प्रतीति तो चिदाभासविषयक है, शुद्धात्मविषयक नहीं है। यदि प्रसक्त नहीं है तो प्रतिषेध व्यर्थ है, इसीको अप्रसक्तप्रतिषेध कहते हैं, सो दोष है, ठीक है ? 'अहम्' आदि प्रतीति शुद्धात्मामें आरोपित शोकादिका ग्रहण करती है, जैसे 'नीलं नभः' यह प्रतीति आकाशमें आरोपित नीलिमाका ग्रहण करती है, वैसे ही उक्त प्रतीति शुद्ध आत्मामें आरोपित शोकादिका ग्रहण करती है, इसलिए जैसे नीलिमा आकाशका वास्तविक धर्म नहीं है वैसे ही शोकादि आत्माके धर्म नहीं हैं ॥ १३० ॥

भिन्नविषयक होनेसे प्रत्यक्ष और श्रुति दोनों व्यवस्थित हैं अर्थात् दोनोंमें परस्पर विरोध नहीं है, यह प्रथम निरूपण कर चुके हैं, उसीका उपसंहार करते हैं—'चित्स्वरूप०' इत्यादिसे ।

वेदान्तवाक्यका गोचर (विषय) अदुःखी चिदात्मा है और अहंबुद्धिका विषय दुःखी चिदाभास है, इस प्रकार वाक्य और प्रत्यक्षके विषय तथा क्रम भिन्न भिन्न हैं और विद्वानोंके अनुभवसे सिद्ध हैं ॥१३१॥

आत्मज्ञानसे पहले जैसी संपूर्ण दुःखोंकी चिदाभासमें अनुवृत्ति होती है, वैसी ही आत्मज्ञानोत्तर दुःखोंकी अनुवृत्ति नहीं होती, किन्तु कतिपय दुःखोंकी अनुवृत्ति ही होती है, इस विषयको समझानेके लिए कहते हैं—'बोधात्' इत्यादिसे ।

आत्मज्ञानसे पूर्व दो प्रकारके दुःख हैं एक बुद्धिस्वभावसे होनेवाला और

बोधात्प्राग्द्विविधं दुःखमेकं बुद्धिस्वभावजम् ।
रोगावमानदारिद्र्यपुत्रहान्यादिरूपकम् ॥ १३२ ॥
अपरं त्वीदृशे दुःखे मग्नोऽहं बहुजन्मसु ।
इत उद्धर्त्तुमात्मानं न शक्नोमीति मोहजम् ॥ १३३ ॥

दूसरा रोग, अपमान, द्रारिद्र्य, पुत्रहानि आदिरूप। अन्तरङ्ग शरीरादिगत रोगादि तथा बहिरङ्ग बाह्यविषयनिमित्तक अपमान दारिद्र्यादि दुःखसे तदाकार मनोवृत्ति होनेसे मनोगत हो जाते हैं, मनमें आत्माका तादात्म्याध्यास होनेसे, मनोगत धर्म आत्मधर्मतया प्रतीत होते हैं, इसीसे आत्मा तत्तद् दुःखसे दुःखी होता है, जैसे अनभिज्ञ पुरुष मलिन दर्पणमें मलिन मुख देखकर वास्तविक मुखगत मालिन्य समझ कर शोक करता है कि मेरा मुख मलिन हो गया। वस्तुतः मालिन्य दर्पण गत है, मुखगत नहीं है, यह समझकर विवेकी मालिन्य देखकर भी कुछ शोक नहीं करता, इसी प्रकार अविवेकी पुरुष मनोगत दुःखादिको आत्मगत मानकर दुःखी होता है, विवेकी भी अविवेकीकी तरह दुःखादि देखता तो है, पर ये आत्मवृत्ति नहीं हैं, ऐसा निश्चय कर कुछ भी दुःख या परिताप नहीं करता। शरीरादि दुःख मनोके द्वारा ही आत्मामें प्रतीत होते हैं अन्यथा नहीं होते, अतएव सुषुप्तिदशामें जब मनस्तादात्म्याध्यास निवृत्त हो जाता है, तो शरीरादिमें पूर्ववत् वर्त्तमान रोगादिका आत्मामें कुछ भी भान नहीं होता, इससे स्पष्ट होता है कि चिदात्मामें वास्तविक शोकादि नहीं हैं, किन्तु आरोपित हैं, अतएव ये दुःख बुद्धिस्वभावजन्य हैं, बुद्धिका स्वभाव है—विषयाकार परिणाम होना और उक्त परिणामको पुरुषमें दिखलाना। पुरुष अज्ञानवश उस परिणामको वास्तविक आत्मगत समझकर तदनुरूप सुखी या दुःखी होता है ॥ १३२ ॥

दूसरा दुःख कहते हैं—'अपरं तु' इत्यादिसे।

यह दुःख मोहजन्य है अर्थात् मोहसे उत्पन्न होता है, अनेक जन्मोंसे इस भयङ्कर दुखराशिमें मग्न मैं इस दुःखराशिसे अपना उद्धार नहीं कर सकता यह मोहजन्य है, दूसरे दुःखसे वेदान्तशास्त्रमें उपदिष्ट उपाय द्वारा अपना उद्धार हो सकता है, किन्तु मोहसे उसको यही भान होता है कि इसके उद्धारका उपाय ही नहीं है ॥ १३३ ॥

तत्राद्यं कर्मजत्वेन नश्येद्भोगादृते नहि।
द्वितीयं भ्रमजं तत्त्वबोधादेव निवर्तते ॥१३४॥
हर्षशोकौ विभ्रमोत्थौ कर्मोत्थसुखदुःखयोः।
बोधहेयौ हर्षशोकौ भोक्तव्ये तु सुखेतरे ॥१३५॥
दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहातीति वचः प्रमा ॥ १३६ ॥

इन पूर्वोक्त बुद्धिस्वभावज और मोहज दुःखोंमें पहला दुःख बुद्धिस्वभावज कर्मजन्य होनेसे भोग ही से निवृत्त होता है, अन्यथा नहीं। और द्वितीय मोहज दुःख तत्त्वज्ञानसे निवृत्त होता है, क्योंकि भ्रान्तिसे दुःख हो रहा है, क्योंकि तत्त्वज्ञानसे भ्रान्तिके निवृत्त होनेपर तन्निमित्तक दुःख भी निवृत्त हो ही जाता है, 'निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः' इस न्यायसे। यद्यपि कर्मजन्य सुख-दुःख ज्ञानी तथा अज्ञानीको समानरूपसे ही भोगने पड़ते हैं, भोगके सिवा दूसरा उपाय नहीं है, तथापि ज्ञानी प्रारब्धकर्माधीन सुखादिभोगके समयमें सुखसे हर्ष और दुःखसे शोक—नहीं करता अर्थात् सुखमें अतिहर्ष नहीं करता और दुःखमें शोक नहीं करता। यद्यपि यह अवश्य भोक्तव्य है, तथापि मिथ्या समझकर हर्ष शोक नहीं करता है। मिथ्या लाभ और मिथ्या हानिसे क्या हर्ष और शोक हो सकते हैं? और अज्ञानी इन हानि लाभोंको वास्तविक समझकर सुखसे मोहात्मक हर्ष और दुःखसे रोदनाद्यात्मक शोकको प्राप्त होता है ॥ १३४ ॥

द्विविध सुख-दुःखके निरूपणका प्रयोजन कहते हैं—'**हर्षशोकौ**' इत्यादिसे। विभ्रमजन्य तथा कर्मजन्य सुख-दुःखोंके फलभूत हर्ष और शोक बोधसे हेय हैं अर्थात् मिथ्या मानकर मद और रोदनादि न करना चाहिए। सुख और दुःख यथाप्राप्त भोक्तव्य ही हैं, अर्थात् शान्तचित्तसे प्राप्त सुख-दुःखोंका उपभोग करना चाहिए, वही उपदेश भगवद्गीतामें भी है ॥ १३५ ॥

उसे कहते हैं—'**दुःखेष्वनुद्विग्न०**' इत्यादिसे।

आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक त्रिविध दुःखोंसे जिसका चित्त व्याकुल न हो, वह विवेकी है और अविवेकी दुःखप्राप्तिके समय हम

धीरत्वं बुद्धतत्त्वस्य तत्त्वानुस्मृतिसन्ततेः ।
पुनरप्युदियाद्भ्रान्तेर्वासनाविस्मृतिक्षणे ॥ १३७ ॥
पुनः संस्मृतिहेयाऽसावित्थं धीरैर्बुधैः सदा ।
फलेऽनुभूयमाने त्वं कथमेतन्निरस्यसि ॥ १३८ ॥

बड़े पापी हैं, हमें धिक्कार हैं, कौन हमारा दुःख निवृत्त कर सकता है आदि अनुतापात्मक भ्रान्तिस्वरूप तामसचित्तवृत्तिविशेष उद्वेग करता है, यदि पाप करनेके समय ऐसी बुद्धि हो, तो पापकर्ममें प्रवृत्ति न होनेसे सप्रयोजन हो, किन्तु भोगसमयमें ऐसी बुद्धि होनेपर क्या उपकार है, वह बुद्धि अविवेकीको ही होती हैं, विवेकीको नहीं होती। तथा त्रिविध सत्त्वपरिणाम-रूप सुखमें 'विगतस्पृहः' अर्थात् आगामी और तज्जातीय सुखकी स्पृहासे रहित हो। स्पृहा भी तामसवृत्ति ही है। तज्जातीयसुखकारण धर्मानुष्ठानके विना ही तादृश सुखकी इच्छा करता है, हर्षात्मकवृत्तिको स्पृहा कहते हैं, यह भी अविवेकीको ही होती है। जैसे कारणके रहनेपर कार्य नहीं होता, इस प्रकार व्यर्थ आकांक्षा-रूप उद्वेग विवेकी पुरुषको नहीं होता, वैसे ही कारणके न रहनेपर भी कार्य होता है इस प्रकार स्पृहा—तृष्णात्मिका आकांक्षा—वृथा नहीं होती, प्रारब्ध-कर्मानुरूप उपस्थित सुख अथवा दुःख, यह अवश्य भोक्तव्य है, इस बुद्धिसे भोगता है, उसमें हर्ष और विषाद नहीं करता, हर्ष और शोकके त्यागमें धीरता हेतु है, इस तात्पर्यसे 'धीरो जहाति' ऐसा श्लोक कहा है ॥ १३६ ॥

निरन्तर तत्त्वके अनुसंधानसे धीरता होती है, निरन्तर तत्त्वानुसंधान न करनेपर तत्त्वविस्मरण कालमें धैर्यके न रहनेसे भ्रान्तिसे फिर हर्ष, शोक आदि वासना हो जाती है, इसे कहते हैं—'धीरत्वम्' इत्यादिसे।

तत्त्वज्ञानी निरन्तर तत्त्वानुसंधान ही में तत्पर रहता है, यदि विषयान्तरका भी अनुसंधान करे, तो सम्भव है कि भ्रान्तिवश फिर हर्षादि वासनाके उद्बुद्ध हो जानेसे हर्षादि हो जायँगे, इसलिए ज्ञानी तत्त्वानुसन्धानमें परायण ही रहता है ॥ १३७॥

यदि भ्रान्त्यादिके वश हर्षादि वासना कदाचित् उद्बुद्ध हो जाय, तो तत्त्वा-नुस्मरणसे उसे निवृत्त कर देना चाहिए, ऐसा कहते हैं—'पुनः संस्मृति०' इत्यादिसे।

शोक, मोह आदिकी निवृत्ति आत्मज्ञानका फल है, इसमें तत्त्वमस्यादिवाक्य और विद्वदनुभव ये दोनों प्रमाण हैं, फिर इसका निरास कैसे हो सकता है?

श्रुतादपि न चेद्वाक्याज्जायेत फलवन्मतिः ॥
शङ्क्येतैवं जायते तु धीः शास्त्रादधिकारिणः ॥ १३९ ॥

शङ्का—यदि तत्त्वमस्यादिवाक्यसे उक्त ज्ञान होता है, तो हम लोगोंको वह क्यों नहीं होता।

समाधान—असंस्कृतचित्त अनधिकारी पुरुषको यदि उक्त वाक्यसे उक्त ज्ञान न हो, तो क्या अधिकारीको भी उक्त ज्ञान नहीं हो, ऐसा कहना उचित है ? बधिर अनधिकारी यदि गान नहीं सुनता है, तो क्या अबधिर अधिकारी भी नहीं सुनता ? अधिकारीके लिए प्रमितिका जनक वेद है, यह सिद्धान्त है।

और आपने जो यह कहा है कि विद्वानोंका अनुभव भी उक्त अर्थमें प्रमाण नहीं है, कारण कि विद्वानोंका अनुभव ऐसा ही होता है, इसमें कोई प्रमाण नहीं है। यदि वैसा अनुभव होता, तो हम लोगोंको भी होता, वैसा नहीं होता, इसलिए वैसा नहीं है, आपका यह आक्षेप अनुचित है, क्योंकि वह अनुभव आपके प्रत्यक्षयोग्य नहीं है, और अयोग्यानुपलब्धि अभाव-साधक नहीं होती। यहाँ योग्यानुपलब्धि नहीं है, इसलिए तादृशज्ञान ही होता, यह आपका मनोरथमात्र है। योगियोंको भी तादृश अनुभव नहीं हो सकता, ऐसा कहनेका तात्पर्य यह है कि यदि तत्त्वमस्यादि वाक्य तथाविध बोधका हेतु होता, तो ज्ञानियोंके सदृश हम लोगोंको भी वैसा बोध होता, हम-लोगोंको उक्त वाक्यसे तादृश बोध न होनेसे किसीको उक्त वाक्य द्वारा तादृश बोध नही होता, यही निश्चय होता है, इसका उत्तर तो दे चुके हैं कि जिनका चित्त शुद्ध तथा संस्कृत है, उनको तादृश बोध होता है, और जिनका चित्त अशुद्ध तथा असंस्कृत है उनको नहीं होता ॥ १३८ ॥

उक्त समाधान हो सकता, यदि तादृशानुभव अधिकारीकी योग्यतामें सापेक्ष होता, किन्तु प्रमेय ही ऐसा है जो मानका विषय नहीं है, अतः तत्त्वमस्यादि वाक्यसे तादृश बोध किसीको नहीं होता, इस शङ्काकी निवृत्तिके लिए कहते हैं—'श्रुतादपि' इत्यादिसे।

फलसे—शोकादिसंसारनिवृत्तिसे—युक्त मति अर्थात् आत्मैकत्वज्ञान यदि उक्त वाक्यसे किसीको श्रुत न होता, तो यह कह सकते कि तादृश ज्ञान किसीको होता ही नहीं, इसलिए मेय ही मानयोग्य नहीं, किन्तु ऐसा

नित्यमुक्तत्वविज्ञानं वाक्याद्भवति नाऽन्यतः ।
वाक्यार्थस्यापि च ज्ञानं पदार्थस्मृतिपूर्वकम् ॥१४०॥
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां पदार्थः स्मार्यते ध्रुवम् ।
सम्यक्स्मृतपदार्थस्तु वाक्येऽधिक्रियते पुमान् ॥१४१॥

नहीं कह सकते हैं । अधिकारियोंको शास्त्रसे—तत्त्वमस्यादि वाक्यसे—शोकादिका निवर्त्तक आत्मज्ञान होता ही है, अतः विषय मानयोग्य है, किन्तु अधिकारी और अनधिकारीके भेदसे उक्त वाक्यसे उक्त ज्ञानके उत्पाद और अनुत्पाद होते हैं, यही ठीक है । मानान्तरयोग्य नहीं है, यह मानना ठीक ही है, यदि उक्त वाक्य तादृशज्ञानजननमें समर्थ है, तो उक्त वाक्यका श्रवण होनेपर सबको तादृश ज्ञान होना चाहिए । और होता नहीं है, इसलिए तादृशज्ञानजननसामर्थ्य ही उक्त वाक्यमें नहीं है ॥ १३९ ॥

यद्यपि उक्त शङ्काकी निवृत्ति अधिकारीके भेदके बोधन द्वारा कर दी गई है, फिर भी स्पष्टीकरणार्थ कहते हैं—'नित्यमुक्तत्व' इत्यादिसे । 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यसे ही नित्यमुक्तत्वका विज्ञान होता है, दूसरे प्रमाणसे नहीं होता, पदार्थस्मृति वाक्यार्थबोधमें कारण है । अनधिकारीको पदार्थस्मृति ही नहीं होती, इसलिए बोध नहीं होता है ॥ १४० ॥

पदार्थस्मृतिमें पदार्थसम्बन्धका ज्ञान हेतु है, वह यदि अनधिकारीको है, तो पदार्थोपस्थिति क्यों नहीं होती, इसलिए कहते हैं—'अन्वय' इत्यादिसे ।

अन्वय और व्यतिरेकसे पदार्थकी स्मृति होती है । जिसको अन्वय-व्यतिरेक द्वारा समीचीन पदार्थोंपस्थिति होती है, उसी अधिकारी पुरुषको पदार्थोंकी उपस्थिति और उसके द्वारा तथाविध बोध होता है, दूसरेको नहीं होता ।

तात्पर्य यह है कि जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—इन तीनों अवस्थाओंमें जिसकी अनुवृत्ति हो, वह आत्मा है और जिसकी व्यावृत्ति हो, वह अनात्मा है । जाग्रत् और स्वप्नमें कर्तृत्वादिधर्मविशिष्ट चिदाभास तथा साक्षी—इन दोनोंकी अनुवृत्ति होती है, परन्तु सुषुप्ति अवस्थामें उक्तधर्मविशिष्ट चिदाभासकी अनुवृत्ति नहीं होती, किन्तु व्यावृत्ति होती है और साक्षीकी अनुवृत्ति उक्तावस्थामें भी है, अतएव जागने पर यह स्मरण होता है कि 'मैं सुखपूर्वक सोया मैंने कुछ भी नहीं जाना कि क्या होता था' इस अन्वय और व्यतिरेक द्वारा जिनको शुद्धात्मामें त्वंपदका सम्बन्ध

युष्मदस्मद्विभागज्ञे स्यादर्थवदिदं वचः ।
अनभिज्ञेऽनर्थकं स्याद्बधिरेष्विव गायनम् ॥१४२॥

गृहीत है तथा 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' इत्यादि श्रुति द्वारा शुद्धचिन्मात्रमें तत्पदका सम्बन्ध गृहीत है, उनको 'तत्त्वमसि' वाक्यके श्रवणसे तत्त्वंपदके द्वारा शुद्ध चैतन्यमात्रकी उपस्थिति होनेसे अभेदका बोध होता है, वे ही उक्त ज्ञानके अधिकारी हैं ॥१४१॥

और जिनको उक्त अन्वय-व्यतिरेक द्वारा शुद्धमें उक्त पदद्वयका सम्बन्ध ही न ज्ञात हो, उनको तादृश पदार्थोपस्थिति न होनेसे तादृश बोध नहीं होता, अतएव वे उक्त ज्ञानके अनधिकारी हैं, इसी अर्थको अति स्पष्ट करनेके लिए कहते हैं—'युष्मदस्मद्' इत्यादिसे ।

वास्तविक तत् और त्वं पदार्थोंके अभिज्ञके प्रति 'तत्त्वमसि' यह वाक्य जीवब्रह्माभेद-बोधन द्वारा सार्थक है और उक्त पदार्थद्वयानभिज्ञके प्रति तो उक्त वाक्य अनर्थक ही है। जैसे वधिरके लिए गायन अनर्थक है। इस विषयमें प्राचीनोंका मत है कि अल्पज्ञत्वादिविशिष्ट त्वंपदार्थ है और सर्वज्ञत्वादिविशिष्ट चैतन्य तत् पदार्थ है, इन दोनों पदार्थोंका अभेद नहीं हो सकता, कारण कि विशिष्टोंका अभेद होनेपर विशेषणोंका भी अभेद होना आवश्यक है। परस्परविरुद्ध किञ्चिद्ज्ञत्व और सर्वज्ञत्वका अभेद बाधित है, अतः विशिष्ट तत् और त्वं पदार्थका भी शक्तिज्ञानसे अभेदका बोध असम्भव है, इसलिए विशेषणभागका—सर्वज्ञत्वादि और किञ्चिद्ज्ञत्वादिका—त्याग कर केवल चैतन्यमात्रकी भागत्यागलक्षणासे उपस्थिति तथा अभेदान्वयबोध होता है, लेकिन यह प्रकार ठीक नहीं है, क्योंकि पदद्वयसे उक्त लक्षणा द्वारा चैतन्यमात्रोपस्थिति होनेपर उक्त बोध हो ही नहीं सकता, कारण कि अभेदान्वयबोधमें विरूपोपस्थिति कारण है, जैसे 'नीलो घटः' यहांपर नीलत्व—घटत्व—प्रकारक धर्मिविशेष्यक उपस्थिति है, इसलिए अभेदान्वयबोध होता है, 'घटो घटः' यहाँपर विशेष्यकी सरूपोपस्थिति है, इसलिए तादृश बोध नहीं होता, अतः उक्त लक्षणा द्वारा सरूपोपस्थिति होनेसे शाब्दबोध ही नहीं होगा। अतः 'सोऽयं देवदत्तः' इस प्रत्यभिज्ञावाक्यका जैसे व्यक्तिके ऐक्यमें तात्पर्य है, अतएव विशेषणांश-देशकालका त्याग करते हैं, वैसे ही जीवब्रह्माभेदतात्पर्यक 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यमें भी तत् और त्वं पदकी लक्षणा मानते हैं।

शोधितत्वंपदार्थज्ञः साक्षादेव प्रपद्यते ।
वाक्याददूतमात्मानं दशमस्त्वमसीतिवत् ॥ १४३ ॥

वेदान्तवाक्यं न वस्तुमात्रे प्रमाणम्, वाक्यत्वात्, विधिवाक्यवत्, इस अनुमानसे 'सदेव' इत्यादिसिद्धार्थबोधक वेदान्तमें फिर अप्रामाण्यकी शङ्का हो सकती है। उसकी निवृत्तिके लिए प्रथम यह विकल्प करना चाहिए कि अप्रामाण्यका मतलब प्रमानुत्पादकत्वमें है या दुष्टसामग्रीजन्यत्वमें है या प्रमाणान्तरसे विषयके बाधमें अथवा अपरोक्षज्ञानजनकत्वाभावमें है ? इनमें प्रथम पक्ष तो अनुभवसे विरोध होनेके कारण हेय है, क्योंकि व्युत्पन्न अधिकारीको उक्त वाक्यसे उक्त अर्थका बोध अनुभवसिद्ध है। अपौरुपेय वेदमें दुष्ट सामग्रीकी संभावना ही नहीं है, इसलिए द्वितीय पक्ष भी असंगत है। तृतीय पक्षमें मानान्तरसे प्रत्यक्षादि विवक्षित है, सो तो विशिष्टविषयक है और वेदान्तवाक्य अद्वितीयात्मविषयक है। इस तरह सभी प्रमाण स्व-स्वविषयमें व्यवस्थित हैं, अतः प्रमाणान्तरके साथ आगमका विरोध ही नहीं है, यह पूर्वमें कहा जा चुका है। प्रमाण प्रमेयके अनुसार ज्ञान उत्पन्न करता है, अन्यथा वह अप्रमाण ही हो जायगा; अतः यदि विषय परोक्ष है, तो ज्ञान भी परोक्ष ही होगा, अपरोक्ष नहीं होगा और यदि वह अपरोक्ष होगा, तो ज्ञान भी अपरोक्ष ही होगा, इस विषयकी व्यवस्था आगे कहेंगे। प्रकृतमें 'यत् साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म' इत्यादि श्रुतिवाक्यसे आत्मा अपरोक्षस्वरूप है, अतः तद्विषयक वाक्यजन्य ज्ञान भी अपरोक्षात्मक ही है ॥१४२॥

साक्षात्कारात्मक ज्ञान वाक्यसे भी होता है, इसे दृष्टान्तप्रदर्शनपूर्वक कहते हैं—'**शोधितत्वंपदार्थज्ञः**' इत्यादिसे।

पूर्वोक्त अन्वय और व्यतिरेकसे शोधित त्वंपदार्थका ज्ञाता साक्षात्—प्रमाणव्यापारके बिना ही—अद्वितीय आत्मतत्त्वको प्रत्यक्ष जान लेता है, अर्थात् 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यजन्य प्रत्यक्षात्मक ज्ञानका विषय आत्मा होता है। 'दशमस्त्वमसि' इस वाक्यसे जन्य प्रत्यक्षात्मक ज्ञानका विषय दसवां पुरुष होता है। अपरोक्ष भ्रमकी निवृत्ति अपरोक्ष यथार्थ ज्ञानसे होती है, परोक्ष ज्ञानसे नहीं होती। यदि वाक्यसे परोक्ष ही ज्ञान होगा, तो नवत्वभ्रमकी निवृत्ति नहीं होगी ॥ १४३ ॥

अब शङ्का यह होती है कि अज्ञातज्ञापक प्रमाण कहलाता है। यदि

नवसङ्ख्याहृतज्ञानो दशमो विभ्रमाद्यथा ।
न वेत्ति दशमोऽस्मीति वीक्षमाणोऽपि तान्नव ॥ १४४ ॥
अपविद्धद्वयोऽप्येवं तत्त्वमस्यादिना विना ।
वेत्ति नैकलमात्मानं प्रत्यङ्मोहाप्रबाधतः ॥ १४५ ॥

आत्मा अपरोक्षज्ञानात्मक होनेसे सदा ज्ञात ही है, तो फिर वेद प्रमाण कैसे हो सकता है अर्थात् उसका ज्ञापक वेद ज्ञातका ज्ञापक होनेसे प्रमाण नहीं हो सकता, इस शङ्काकी निवृत्तिके लिए कहते हैं—'नवसंख्या' इत्यादि ।

वस्तुतः दसवाँ बालक मैत्रका पुत्र चैत्र मैं हूँ, इस प्रकार प्रत्यक्षसे अपनेको जानता हुआ अपनेसे भिन्न नौ लड़कोंकी गणनासे अपनेको भूलकर नौ ही देखता है । 'दशमस्त्वमसि' इस वाक्यसे 'दशमोऽहमस्मि' (दसवाँ मैं हूँ) यह ज्ञान होता है । उक्त वाक्यके श्रवणके बिना 'दसवाँ मैं हूँ' इस तत्त्वज्ञानका प्रतिबन्धक अज्ञान है, इसलिए उक्त तत्त्वज्ञान नहीं होता । उक्त वाक्य द्वारा यथार्थ 'दसवाँ मैं हूँ' इस अपरोक्ष ज्ञानसे प्रतिबन्धक अज्ञानकी निवृत्ति होनेपर 'दसवाँ मैं हूँ' यह तत्त्वज्ञान होता है । यदि उक्त वाक्यसे परोक्षात्मक ज्ञान होता, तो भी अपरोक्षभ्रमकी निवृत्ति न होती तथा अपरोक्ष दिगादिभ्रम अनुमान और आप्तोपदेशसे निवृत्त नहीं होता, यह असकृत् अनुभूत है । इसी तरह सामान्यतः आत्मज्ञान होनेपर भी विशेषरूपसे—ब्रह्मात्मरूपसे अज्ञात होनेसे 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्य द्वारा विशेषरूपसे ब्रह्मात्मरूपसे आत्मज्ञान होता है, अतः उक्त वाक्य, अज्ञातका ज्ञापक होनेसे, आत्मामें प्रमाण है ॥ १४४ ॥

यदि यह कहिये कि 'दशमस्त्वमसि' इत्यादि स्थलमें स्वविषयक ज्ञान न होनेसे अज्ञातत्व स्वमें है प्रकृतमें आत्मा तो स्वयंप्रकाश है, अतः उसे अज्ञात नहीं कह सकते, किन्तु ज्ञात कह सकते हैं, अतः वेद प्रमाण नहीं हो सकता, इस शङ्काकी निवृत्तिके लिए कहते हैं—'अपविद्ध' इत्यादि ।

प्रत्यक् आत्माका मोह—अभाव और भावसे विलक्षण अज्ञान—संसारका निदान है और वह अनिर्वचनीय है, ज्ञानाभावरूप नहीं है । वह अज्ञान आत्माको ही विषय और आश्रयण करता है अर्थात् आत्मनिष्ठ और आत्मविषयक अज्ञान ही विद्यानिवर्त्य होनेसे मोह है । 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यजन्य अद्वितीयात्म-साक्षात्कारके बिना उक्त मोहकी निवृत्ति नहीं होती और मोहनिवृत्तिके बिना

दशमस्त्वमसीत्यस्माद्दशमत्वं निजात्मनि ।
साक्षात्करोति ब्रह्मत्वमेवं वाक्याच्चिदात्मनि ॥ १४६ ॥
बुभुत्सोच्छेदिनैवास्य सदसीत्यादिना दृढा ।
प्रतीचि प्रतिपत्तिः स्यात्प्रत्यगज्ञानबाधतः ॥ १४७ ॥

वस्तुतः द्वितीयसम्बन्धसे रहित होनेपर भी अपनेको एक और अद्वितीय नहीं समझता। दृष्टान्तमें जैसे वास्तविक दसवां होनेपर भी 'दशमस्त्वमसि' इस वाक्यके विना अपनेको दसवां नहीं समझता, कारण कि 'दसवाँ मैं हूँ' इस तत्त्वज्ञानका प्रतिबन्धक अज्ञान वर्तमान है। उक्त वाक्यजन्य तत्त्वसाक्षात्कारसे जब उक्त प्रतिबन्धक अज्ञानकी निवृत्ति होती है, तब 'दसवाँ मैं हूँ' यह निश्चय होता है वैसे ही वस्तुतः 'अपविद्धम्' अर्थात् [अपगतं द्वयं द्वितीयं यस्मात्' इस व्युत्पत्तिसे] वस्तुतः स्वयं द्वितीयशून्य होनेपर भी उक्त मोहवश अपनेको यथार्थरूपसे नहीं जानता। 'तत्त्वमसि' आदि वाक्य द्वारा तादृश साक्षात्कार होनेपर उक्त मोहकी निवृत्तिसे अद्वितीय आत्माका अवगम होता है। उक्त अज्ञानमें 'अहमज्ञः' 'अहं मां न जानामि' इत्यादि प्रतीति ही प्रमाण है। पूर्वोक्त रीतिसे ज्ञानाभावविषयक यह प्रतीति नहीं हो सकती है ॥१४५॥

उक्त अर्थको ही स्पष्ट करनेके लिए फिर कहते हैं—'दशमस्त्वमसि' इत्यादि।

'दशमस्त्वमसि' इस वाक्यसे जैसे बालक अपनेमें दशमत्वका साक्षात्कार करता है, वैसे ही मुमुक्षु भी 'तत्त्वमसि' इस वाक्यसे अपनेमें ब्रह्मत्वका साक्षात्कार करता है ॥१४६॥

अज्ञात ही जिज्ञासित होता है, ज्ञात जिज्ञासाका विषय नहीं होता। आत्मा स्वयं अपरोक्षात्मक होनेसे ज्ञात ही है, अज्ञात नहीं है, अतः जिज्ञासाका विषय न होनेसे शाब्दबोधका विषय नहीं हो सकता, इस शङ्काकी निवृत्तिके लिए कहते हैं—'बुभुत्सोच्छेदिनैवाऽस्य' इत्यादि।

जिस रूपसे जो ज्ञात है उस रूपसे वह बुभुत्सित नहीं हो सकता, किन्तु जिस रूपसे ज्ञात नहीं है, उस रूपसे बुभुत्सित होता ही है। आत्मा अपरोक्ष चित्स्वभाव होनेसे ज्ञात होनेपर भी सदानन्दत्व आदिसे अज्ञात है। यद्यपि साङ्ग-

अमात्वशङ्काऽसद्भावान्मान्तरैश्चाविरोधतः ।
सदसीत्यादिवाक्येभ्यः प्रमा स्फुटतरा भवेत् ॥ १४८ ॥
वाक्याधिकारहेतौ च पदार्थप्रतिशोधने ।
सन्न्यास उपकारीति प्राहतुर्हि श्रुतिस्मृती ॥ १४९ ॥

वेदाध्ययनसे आपाततः सदानन्दरूपसे भी ज्ञात ही है, तथापि विशेषरूपसे ज्ञान होनेके लिए जिज्ञासित होनेसे जिज्ञासानिवर्तक वाक्यसे अबाधित असंदिग्ध बोध होता है। अत्र शङ्का यह होती है कि सदादिवाक्य ज्ञात आत्माको विषय करता है अथवा अज्ञात आत्माको ? प्रथम पक्षमें अज्ञातका ज्ञापक न होनेसे वह प्रमाण ही नहीं हो सकता। द्वितीय पक्षमें अज्ञान भी तादृश वाक्यका विषय हो जायगा। विशेषणज्ञानके बिना उस विशेषणसे विशिष्टका ज्ञान नहीं होता। दण्डिज्ञानविषयता दण्डमें रहकर ही दण्डविशिष्ट पुरुषमें रहती है, अन्यथा नहीं। इस तरह अज्ञान भी यदि उक्त ज्ञानका विषय होगा, तो उससे अज्ञानकी निवृत्ति न होगी। अज्ञानतत्कार्याविषयक आत्मज्ञान ही अज्ञानका निवर्तक होता है अन्यथा घटादिज्ञानसे भी अज्ञानकी निवृत्ति हो जायगी है, ऐसी अवस्थामें वेदान्त ही व्यर्थ हो जायगा। ठीक है, अज्ञानोपलक्षित आत्मा उक्त ज्ञानका विषय है, इसलिए वाक्यजन्यज्ञानविषयता अज्ञानमें नहीं है, किन्तु आत्मामें ही है, अतः उक्त दोष नहीं हो सकता। सदानन्दत्व आदिसे जो बुभुत्सा उसके निवर्त्तक सदानन्दादि वाक्यसे आत्मज्ञानबोधन द्वारा शुद्धात्मामें सदानन्दाद्वितीयात्मविषयक प्रतीति अति दृढ़ होती है, यह श्लोकका भावार्थ है ॥१४७॥

सदानन्दादि वाक्य अबाधित और असंदिग्ध अर्थका बोधक होनेसे प्रमाण ही है। इसीका उपसंहार करते हैं—'अमात्वशङ्का' इत्यादिसे।

नित्य अपौरुषेय वाक्यमें दोषादि समवधानकी तो शङ्का भी नहीं हो सकती, और प्रमाणान्तरके बाधकी भी सम्भावना नहीं है, इसलिए असंदिग्ध अबाधितार्थ प्रमा उक्त वाक्यसे दृढ़ होती है ॥ १४८ ॥

जिसने पदार्थका शोधन कर लिया हो ऐसे जिज्ञासुको वाक्यार्थका ज्ञानमें अधिकार होता है, ऐसा कहनेसे संन्यासमें ज्ञानाङ्गत्वकी सर्वथा उपेक्षा ही सूचित होती है। यदि ऐसा ही है, तो 'त्यागेनैके' इत्यादि वचन द्वारा त्यागसे ही ब्रह्मप्राप्ति होती है, यह पूर्व प्रतिज्ञा असंगत हो जायगी, इसलिए कहते हैं–'वाक्याधिकार' इत्यादि।

त्याग एव हि सर्वेषां मोक्षसाधनमुत्तमम् ।
त्यजतैव हि तज्ज्ञेयं त्यक्तुः प्रत्यक्परं पदम् ॥ १५० ॥
मुक्तेश्च बिभ्यतो देवा मोहेनाऽपिदधुर्नरान् ।
ततस्ते कर्मसद्युक्ताः प्रवर्त्तन्ते विचक्षणाः ॥ १५१ ॥

वाक्याधिकारका कारण जो तत्त्वंपदार्थका परिशोधन—उसमें संन्यास उपकारी है, यही श्रुति और स्मृतियोंने कहा है ॥१४९॥

त्यागसे ही मुक्ति होती है, इसमें श्रुति प्रमाण देते हैं—'त्याग एव हि' इत्यादि ।

मोक्षशब्दसे मोक्षसाधन ज्ञान विवक्षित है । साधनोंमें त्याग ही उत्तम साधन है । उत्तमका तात्पर्य संनिकृष्टमें है । त्याग सन्निकृष्ट साधन है । कर्म सन्निकृष्ट साधन नहीं है । त्याग ही क्यों सन्निकृष्ट साधन है, इसमें हेतु यह है कि कर्मानुष्ठाता क्रियादिसम्बन्धसे शून्य आत्माकी भावना नहीं कर सकता, अन्यथा कर्मानुष्ठान ही नहीं होगा; अतएव उसका त्याग ही मोक्षहेतु (ज्ञानसाधन) है और श्रुतियाँ भी ऐसा ही कहती हैं—'शान्तो दान्त उपरतः' इत्यादि । उपरतका अभिप्राय नित्य और नैमित्तिक कर्मोंके अनुष्ठानसे उपरममें है । अर्थात् नित्यनैमित्तिककर्मत्यागपुरस्सर शान्त-दान्त होकर अपनी आत्माको देखे । ज्ञानसाधन शम दमादिसमभिव्याहृत उपरति भी ज्ञानसाधन ही है । कर्मानुष्ठान फलजनक होता है, इसलिए कर्मानुष्ठानको योग कहते हैं । योग प्रवृत्तिलक्षण कहलाता है, इससे धर्मात्मक प्रवृत्ति होती है । प्रवृत्ति रागादिपूर्वक होती है, यह अति स्फुट है । रागादि ही चित्तदोष है । वही शुभाशुभमें पुरुषको प्रवृत्त कराकर संसार-वन्धका मूल होता है, इसलिए इसका त्याग ही संन्यास है । जो ज्ञानसाधन है । उस संन्याससे मुमुक्षु क्रियाफलसम्बन्धशून्य आत्माकी भावना कर सकता है । दूसरे पदका अर्थ त्यागी पुरुष ही स्वात्मस्वरूप परम पदको जान सकता है, दूसरा कर्मशील नहीं ॥१५०॥

यदि मुक्तिसाधन ज्ञानका हेतु संन्यास है, तो मुक्तिके उद्देश्यसे सभी संन्यासी क्यों नहीं हो जाते इस शंकाकी निवृत्तिके लिए कहते हैं—'मुक्तेश्च बिभ्यतो देवा' इत्यादि ।

देवगण मनुष्यको पशुवत् समझते हैं । पशु जैसे पुरुषके हितके साधन हैं

अतः संन्यस्य सर्वाणि कर्माण्यात्मावबोधतः ।
हत्वाऽविद्यां धियैवेयात्तद्विष्णोः परम पदम् ॥ १५२ ॥

और पुरुषप्रदत्त भक्ष्यसे सन्तुष्ट होकर पुरुषेच्छाके अनुसार उसके हितसाधनमें लगे रहते हैं वैसे ही मनुष्य भी देवदत्त वस्तुसे सन्तुष्ट होकर यागादि कर्म द्वारा देवताओंके हितसाधनमें प्रवृत्त रहते हैं, इसलिए मनुष्य देवताके पशु हैं' ऐसा ही श्रुतियोंमें भी कहा गया है—'यथा पशुरेवं स देवानाम्' इति । इसलिए देवताओंने 'मनुष्य यदि ज्ञानी होकर मुक्त हो जायँगे, तो हमारे पशु न रहेंगे, इस भयसे मोह द्वारा मनुष्योंको 'अहं कर्ता' 'अहं भोक्ता' इत्यादि भावनासे आच्छादित कर दिया है । इस कारण देवपशुत्वका त्याग न कर विवेकशून्य होकर सांसारिक विविधफल साधनोंमें प्रवृत्त रहते हैं ।

श्लोकका अर्थ—मुक्तिसे भीत होकर देवताओं ने मनुष्योंको मोहसे आच्छादित कर दिया है इसीसे आत्मविवेकशून्य अनात्मविषयके विद्वान् बड़े उद्योगसे कर्ममें ही प्रवृत्त रहते हैं, संन्यासकी ओर दृष्टि ही नहीं देते ॥१५१॥

इसपर ध्यान देना चाहिये कि मनुष्योंकी कर्ममें प्रवृत्ति देवमायानिमित्तक है, इसलिए देवताओंकी उपासना आदिसे प्राप्त हुई है मोक्षकी अभिलाषा जिसको ऐसा विवेकी, सव कर्म अविवेकपूर्वक होते हैं, अत एव उनका त्याग कर, आत्मज्ञानके लिए श्रवण, मननादि निरन्तर श्रद्धापूर्वक करे । श्रवणादिके परिपाकसे जव आत्मसाक्षात्कार होगा, तव तत्त्व साक्षात्कारसे सम्पूर्ण दुःखोंके मूल अज्ञानका नाश होगा, किन्तु प्रारब्धकर्मभोग प्रतिवन्धक है, अतः सञ्चित क्रियमाण कर्मोंका नाश होनेपर भी प्रारब्ध कर्मवश शरीरपात नहीं होता 'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये अथ सम्पत्स्ये' इस श्रुतिसे ज्ञान द्वारा सकल अज्ञाननाशमें प्रारब्ध कर्म प्रतिवन्धक है, अतः जव तक प्रारब्ध देहानुवृत्ति और सूक्ष्म अज्ञानानुवृत्ति रहेगी प्रारब्धके साथ देहावसान होनेपर ज्ञानी अनवच्छिन्न ज्ञानानन्दैक रसरूप परम पदको प्राप्त हो जायगा, इस विस्तृत अर्थको कहते हैं—'अतः संन्यस्य' इत्यादिसे ।

मोक्षसाधनभूत ज्ञानकी उत्पत्तिमें कर्म विरोधी हैं, अतः सव कर्मोंका संन्यास (त्याग) कर आत्मावबोधसे—अद्वितीयात्मज्ञानसे—सकलसंसारनिदान अविद्याका नाश कर ज्ञानी व्यापकात्मरूप मोक्ष प्राप्त करता है ॥१५२॥

इति भाल्लविशाखायां श्रुतिवाक्यमधीयते ॥
सर्वकर्मनिरासेन तस्मादात्मधियो जनिः ॥ १५३ ॥
प्रवृत्तिलक्षणो योगो ज्ञानं सन्न्यासलक्षणम् ॥
तस्माज्ज्ञानं पुरस्कृत्य सन्न्यसेदिह बुद्धिमान् ॥ १५४ ॥
इत्येवमादिवाक्यानि नानास्मृतिषु कोटिशः ॥
ज्ञानाय विदधत्युच्चैः सन्न्यासं सर्वकर्मणाम् ॥ १५५ ॥
यदुक्तं पूर्वपक्षादौ श्रुतत्वात्कर्मणः श्रुतौ ॥
विमुक्तिहेतुः कर्मेति तत्रेदमभिधीयते ॥ १५६ ॥

यह अपनी कल्पना नहीं है, किन्तु भाल्लविशाखामें भी ऐसा ही लिखा है, यह कहते हैं—'इति' इत्यादिसे ।

संन्यास ही मोक्षके साधन ज्ञानका हेतु है, ऐसा भाल्लविशाखामें लिखा है; अतः सब कर्मोंके त्यागपूर्वक श्रवण आदिसे आत्मज्ञानकी उत्पत्ति होती है ॥१५३॥

केवल श्रुतिवाक्यमें ही, ऐसा लिखा है, सो नहीं किन्तु स्मृतिमें भी ऐसा ही है, यह कहते हैं—'प्रवृत्तिलक्षणो' इत्यादिसे ।

कर्म—प्रवृत्तिरूप योग—स्वर्गादि फलमें उपयोगी है, ज्ञानमें उपयोगी नहीं है, क्योंकि वह रागादिके जनन द्वारा चित्तका दूषक है, यह पहले कह चुके हैं। ज्ञान कर्मसंन्यासलक्षण [हेतुक] है, क्योंकि नित्य-नैमित्तिक कर्मोंके त्यागके बिना आत्मज्ञान नहीं होता, इसलिए बुद्धिमान् ज्ञानके लिए कर्मका संन्यास अवश्य करे ॥ १५४ ॥

केवल एक ही स्मृतिवाक्य नहीं है, किन्तु अनेक हैं, ऐसा कहते हैं—'इत्येवमादि०' इत्यादिसे ।

इस तरह अनेक स्मृतियोंमें करोड़ों वाक्य हैं, जो ज्ञानके लिए सभी कर्मोंके संन्यासका विधान करते हैं ॥ १५५ ॥

इस तरह अपना मत सिद्ध कर, दूसरे पक्षवालोंसे कहे गये दोषोंका अनुवाद कर उनका खण्डन करते हैं—'यदुक्तम्' इत्यादिसे ।

प्रथम पूर्वपक्षमें जो यह कहा गया है कि सर्वत्र श्रुति और स्मृतियोंमें कर्म ही मोक्षका साधन श्रुत है, इस विषयमें हमें यह कहना है कि क्या कर्म साक्षात्

केन चोक्तं क्रिया मुक्तौ साधनत्वं न गच्छति ॥
तमेतमिति नाश्रौषीः संस्कारा इति च स्मृतिम् ॥ १५७ ॥
चित्ते विविदिषोत्पत्तौ रागादेर्वा विनाशने ॥
कर्माऽपक्षीयते न्यासे ज्ञानकाले न गच्छति ॥ १५८ ॥

मोक्षके साधन हैं या परम्परासे ? प्रथम पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि श्रुति तथा स्मृतिमें कहींपर भी कर्म साक्षात् मोक्षके साधन नहीं कहे गये हैं। परम्परासे तो हम भी उन्हें मोक्षका साधन मानते ही हैं, परम्परासे भी कर्म मोक्षके कारण नहीं हैं, ऐसा किसने कहा है ? ॥ १५६ ॥

इसी अर्थको कहते हैं—**'केन चोक्तम्'** इत्यादिसे।

किसने कहा है कि कर्म मुक्तिके साधन ही नहीं हैं ? 'तमेतम्' इत्यादि श्रुति और 'यस्य चत्वारिंशत् संस्काराः' यह स्मृति क्या तुमने नहीं सुनी है ? 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति' इत्यादि श्रुतिसे विविदिषोत्पादन द्वारा कर्म परम्परासे मुक्तिमें कारण ही है तथा चित्तसंस्कारकत्वरूपसे ब्रह्मज्ञानोत्पत्तिमें कर्म कारण है, यह स्मृतिसे भी सिद्ध ही है। गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, अन्नप्राशन, चूड़ाकरण, उपनयन, चारों वेदोंका व्रत, समावर्तन, विवाह, पञ्चयज्ञानुष्ठान, अर्थात् देवयज्ञ, पितृयज्ञ, मनुष्ययज्ञ, भूतयज्ञ और ब्रह्मयज्ञका अनुष्ठान; अष्टका, पार्वण, श्राद्ध, श्रावणी (उपाकरण), आग्रहायणी (उत्सर्जन), प्रौष्ठपदी, चैत्री आश्वयुजी (चैत्र और आश्विनमें होनेवाली नवसस्येष्टि) ये सात पाकयज्ञ; अग्न्याधान, अग्निहोत्र, दर्श-पूर्णमास, आग्रायणेष्टि, चतुर्मासमें विहित व्रत-नियम (यज्ञ), निरूढपशुबन्ध और सौत्रामणि ये सात हविर्यज्ञ, अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र और अप्तोर्याम ये सात सोमयज्ञ—इन चालीस संस्कारोंसे संस्कृत ब्राह्मण सायुज्यको प्राप्त होता है, इस स्मृतिसे चित्तसंस्काररूपसे कर्म ज्ञानाङ्ग है, यह मानते ही हैं ॥ १५७ ॥

कर्मानुष्ठानका उपयोग चित्तशुद्धिमें ही है, ज्ञानोत्पत्तिमें नहीं है, अतः कर्मका त्याग ही ज्ञानसाधन है, इसे कहते हैं—**'चित्ते विविदिषोत्पत्तौ'** इत्यादिसे।

चित्तमें विविदिषाको उत्पन्न कर तथा चित्तगत रागादि दोषोंका नाश कर नित्यनैमित्तिककर्मानुष्ठान क्षीण हो जाता है, अतएव त्याग ही ज्ञानकालमें अनुवृत्त हो सकता है, कर्म अनुवृत्त नहीं होता ॥ १५८ ॥

यच्चोक्तं कर्मणो नाऽन्यन्मुक्त्यभ्युदयसाधनम् ॥
अस्तीति, तदसद्यस्मात्त्यागज्ञाने स्फुटं श्रुते ॥ १५९ ॥
निषेधविधिमात्रत्वं कर्मकाण्डस्य युज्यते ॥
न युक्तं ब्रह्मकाण्डस्य तत्र ब्रह्मावबोधनात् ॥ १६० ॥
वचसामक्रियार्थानां जैमिनिर्विधिशेषताम् ॥
यत्प्राह तत्कर्मकाण्डे ज्ञेयं तद्विषयत्वतः ॥ १६१ ॥

श्रुति और स्मृतिमें कर्मसे अतिरिक्त पुरुषार्थका साधन श्रुत नहीं है, इस पूर्वोक्त आक्षेपके परिहारके लिए कहते हैं—'यच्चोक्तम्' इत्यादि।

जो यह कहा गया है कि श्रुति और स्मृतिमें कहीं भी कर्मसे अतिरिक्त मुक्तिरूप अभ्युदयका साधन श्रुत नहीं है, वह असंगत है, क्योंकि संन्यास और ज्ञान मोक्षके साधन हैं, यह 'त्यागेनैकेनामृतत्वमानशुः' इत्यादि श्रुतिमें स्पष्ट ही श्रुत है ॥१५९॥

कर्मकाण्डगत अक्रियार्थक वाक्योंमें पुमर्थताके (पुरुषार्थसाधनताके) लिए विधि और निषेधकी शेषता—अङ्गता—का स्वीकार करनेपर भी स्वयं पुरुषार्थस्वरूप ब्रह्मके बोधक वाक्योंमें विधि और निषेधकी शेषता नहीं मानते, यह कहते हैं—'निषेधविधिमात्रत्वम्' इत्यादिसे। इसका अर्थ पीछे कर चुके हैं ॥१६०॥

इसी तरह 'आनर्थक्यमतदर्थानाम्' यह जैमिनि आचार्य्यका वचन भी कर्मकाण्डोक्तश्रुतिपरक है, अर्थात् कर्मकाण्डमें उक्त अक्रियापरक वाक्योंमें अप्रामाण्यकी आशंका करके उनके प्रामाण्यकी उपपत्तिके लिए विधिके साथ एकवाक्यता करके कर्तव्यार्थके बोधक होनेसे प्रामाण्यकी उपपत्ति की है, इसीका स्पष्टीकरण करते हैं—'वचसाम्' इत्यादिसे।

अक्रियार्थक वाक्योंको जैमिनि आचार्यने जो विधि और निषेधका शेष कहा है, वह कर्मकाण्डघटित वाक्योंके तात्पर्यसे कहा है ब्रह्मबोधक वाक्योंके तात्पर्यसे नहीं कहा है।

उन विधि और निषेध वाक्योंके साथ एकवाक्यता न माननेपर भी पुरुषार्थ-स्वरूप—आनन्दघन ब्रह्मस्वरूपमें तात्पर्य होनेसे वेदान्तवाक्य स्वयं प्रमाण हैं, विधिनिषेधशेष नहीं हैं; ॥१६१॥

किंच, यदि सभी वस्तुबोधक वाक्य विधिके अङ्ग होते, तो सर्वज्ञ वेदव्यास-जीका 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इस सूत्रका आरम्भ ही नहीं होता क्योंकि 'अथातो धर्मजिज्ञासा' यह जैमिनि आचार्यका सूत्र है, इसीसे वेदान्तवाक्योंका भी विचार प्रतिज्ञात ही हो जाता, फिर वेदान्तवाक्योंके विचारके लिए पृथक् प्रतिज्ञाकी क्या

अथातो ब्रह्मजिज्ञासेत्येवं व्यासेन कीर्त्तनात् ॥
धर्ममात्रस्य जिज्ञासाविषयो जैमिनेर्मतः ॥ १६२ ॥

आवश्यकता थी ? इसपर कहते हैं—'अथातो' इत्यादिसे।

'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इस पृथक् व्याससूत्रसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि 'अथातो धर्मजिज्ञासा' यह जैमिनिसूत्र धर्ममात्रविषयक है, ब्रह्मविषयक नहीं है, अर्थात् उक्त सूत्रसे धर्मोपयोगी कर्मकाण्डपठित वेदमात्रके विचारकी प्रतिज्ञा की गई है, इसलिए प्रामाण्य और अप्रामाण्यकी शंका और उसका समाधान भी तद्विषयक ही है, वेदान्तविषयक नहीं है।

भाव यह है कि 'अथातो धर्मजिज्ञासा' इस सूत्रमें धर्म वेदार्थ माना गया है, धर्मकी तरह ब्रह्म भी वेदार्थ है। वेदशब्दसे कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड-पठित संहितासे लेकर उपनिषत् तक सम्पूर्ण वेद विवक्षित है। जिस तरह वेदैकदेश अर्थात् कर्मकाण्डपठित वेदका अर्थ धर्म है, उसी तरह उसका एक देश उपनिषत्का अर्थ ब्रह्म भी धर्म है; अतः संपूर्ण वेदार्थके विचारकी प्रतिज्ञा जैमिनि आचार्यने की है और वेदार्थका लक्षण किया है—'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' 'चोदना—क्रियायाः प्रवर्त्तकं वचनम्' अर्थात् क्रियामें प्रेरक वाक्यको चोदना कहते हैं, जैसे 'यह करो' इत्यादि। इस तरह कर्मके सदृश ब्रह्ममें भी विधिका स्पर्श प्रतीत होता है।

तात्पर्य यह है कि साङ्ग वेदके अध्ययनके पश्चात् प्रतीयमान अर्थ बाधित है या अबाधित ? इस सन्देहकी निवृत्तिके लिए न्यायसे अर्थनिर्णयकी अपेक्षा होती है। उसीके लिए 'अथातो धर्मजिज्ञासा' इस सूत्रसे न्यायपूर्वक वेदमात्रके विचारकी प्रतिज्ञा की गई है। इससे अध्यापनमें विधि, उपनयनमें अध्यापनकी अङ्गता, अध्ययनमें अध्यापनविधिप्रयुक्तता और स्वतन्त्राधिकार—ये चार अर्थ प्राप्त होते हैं। वेदार्थके विचारके उपायभूत न्यायनिरूपणपरक मीमांसाशास्त्रका आरम्भ करना चाहिए, या नहीं ? यह सन्देह होता है, अध्ययन अध्यापनविधिप्रयुक्त है; अध्यापनसे आचार्यत्वरूप फल अध्यापकमें हो ही जायगा, इसलिए अध्ययन अक्षरराशिमात्रग्रहणपरक है। अर्थसहित अध्ययनपरक नहीं है। इसलिए अर्थनिर्णयके लिए मीमांसाशास्त्रके आरम्भकी आवश्यकता नहीं है, यह पूर्वपक्ष है।

यद्यपि अध्ययन अध्यापनविधिप्रयुक्त है, तथापि अध्ययनका फल पुरुषान्तरसमवेत आचार्यत्व नहीं है, किन्तु अन्तरङ्ग अर्थज्ञान ही है; इसलिए अध्ययन

अर्थनिर्णयफलकाध्ययनपरक है; अर्थनिर्णय मीमांसाके विना नहीं हो सकता, इसलिए मीमांसाशास्त्रका आरम्भ करना चाहिए, यह उत्तरपक्ष है ।

इस प्रकार विचार करनेसे वेदार्थमात्रके विचारके लिए मीमांसाशास्त्रका आरम्भ है; अतएव धर्मके सदृश ब्रह्म भी वेदार्थ होनेसे विचार्यरूपसे प्रतिज्ञाका विषय है, इस कारण पूर्वोक्त ब्रह्मविषयक प्रामाण्य और अप्रामाण्यकी शङ्का और उसके समाधानके लिए वेदान्तशास्त्रका आरम्भ भी है, ऐसा मानना ठीक नहीं, क्योंकि सूत्रमें धर्मशब्दका उपादान है, इससे धर्मविषयक वेदभागका विचार करनेके लिए तादृश प्रतिज्ञा की गई है, अन्यथा 'अथातो वेदार्थजिज्ञासा' ऐसा सूत्र होना चाहिए था।

धर्मशब्दका तात्पर्य वेदार्थमें है, यह कह चुके हैं, इसलिए वेदार्थजिज्ञासा या धर्मजिज्ञासा—इन दोनोंका अर्थ एक ही है, अतः यह आक्षेप व्यर्थ है कि सूत्र ऐसा होना चाहिए था। नहीं, व्यर्थ नहीं है, क्योंकि 'गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसम्प्रत्ययः' इस न्यायसे धर्मशब्दका वेदार्थ गौण अर्थ है; धर्म मुख्य अर्थ है, दोनोंका जहां सम्भव है, वहां मुख्यार्थ ही का ग्रहण होता है; गौणार्थका ग्रहण नहीं होता, इसलिए धर्मशब्द कर्मपरक है ।

शङ्का—यदि कर्मकाण्डमें उक्त वेदार्थ ही जिज्ञास्य है, तो कर्मकाण्डमात्र प्रतिपादक वेदके अध्ययनके बाद ही उक्त जिज्ञासा होनी चाहिए, सम्पूर्ण वेदाध्ययनानन्तरकी अपेक्षा ही क्यों है, पर ऐसा नहीं है, सम्पूर्ण वेदके अध्ययनके बाद जिज्ञासा होनेसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि वेदार्थमात्रकी जिज्ञासा प्रकृतमें विवक्षित है ।

समाधान—कर्म और ज्ञान इन दोनोंके अधिकारी पुरुष अध्ययनके अधिकारी हैं, अतः सम्पूर्ण वेदाध्ययनके बाद स्वर्गादिकी कामनावाले धर्मविचारमें और मोक्षकी कामनावाले ब्रह्मजिज्ञासामें प्रवृत्त होते हैं, धर्मरूप विशेषके वाचकधर्म शब्दसे वेदार्थैकदेश ही जैमिनिको विवक्षित है, उपनिषद्भाग विवक्षित नहीं है ।

शङ्का—यदि यह कहिए कि चोदनासूत्रमें 'तद्विजिज्ञासस्व' इत्यादि श्रुतिके प्रमाणसे ब्रह्ममें भी जिज्ञासाकर्मत्वका सम्बन्ध होनेसे वह भी क्रियाविधिशेष ही है, अतएव 'वेदार्थो विषयः स किं सिद्धस्वरूपः किं वा कार्यरूप एवेति' ऐसा संशय किया है । यदि धर्म ही जिज्ञास्य होता, तो वह तो कार्य ही है, सिद्धरूप तो है नहीं, फिर 'सिद्धरूपः किं वा कार्यरूपः यह संशय नहीं बन सकता, और तादृश संशयके अनन्तर 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि वाक्य सिद्धार्थक

कहा गया है। यद्यपि जिज्ञासादिका कर्म होनेसे वह साध्यार्थक भी हो सकता है, तथापि जिज्ञासादि कर्मकी अस्फूर्त्तिदशामें वह सिद्धार्थक कहा गया है।

सिद्धार्थक शब्दोंमें भी 'दिष्ट्या वर्द्धसे देवदत्त ! पुत्रस्ते जातः' इत्यादि श्रवणके अनन्तर मुखविकाश आदि लिङ्गसे हर्षानुमान होता है, और हर्षका कारण परिशेषसे पुत्रजन्म ही ज्ञात होता है, उसकी प्रतीति उक्त वाक्यसे ही होती है, इसलिए सिद्धार्थक शब्दोंमें भी शक्तिग्रह होता है, तथा शाब्दबोध भी होता ही है, अतः सिद्धरूप भी वेदार्थ होता है, यह पूर्वपक्ष करके व्यवहार ही से अव्युत्पन्न बालकको पहले शब्दशक्तिग्रह होता है, और व्यवहार प्रायः कार्यार्थमें ही होता है, सिद्धार्थमें नहीं।

पुत्रजन्मादि वाक्यमें पुत्रजन्म ही हर्षका हेतु है यह निश्चय नहीं हो सकता, क्योंकि प्रियासुखप्रसवादि भी हर्षके हेतु हो सकते हैं, इसलिए व्यवहार ही मुख्यतया शक्तिग्राहक माना जाता है, व्यवहार कार्यार्थक ही का होता है। आवाप और उद्वापके पश्चात् विशेषमें शक्तिग्रह होता है, और वाक्यार्थबोध शक्तिग्रहानुसारी होता है, इसलिए वेदान्तके भी विधिका शेष होनेसे अर्थात् कार्यपरक होनेसे कार्य्यरूप ही वेदार्थ है, यह सिद्धान्त किया है।

समाधान—'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' चोदना क्रियामें प्रवर्त्तक वाक्य कहलाता है, 'यद्गम्योऽर्थः श्रेयस्करः' अर्थपदसे अनर्थफलक श्येनादिकी व्यावृत्ति होती है, इससे विधिप्रतिपाद्य श्रेयस्कर अर्थ धर्म कहलाता है, यह अर्थ निकलता है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि वेदार्थैकदेशका ही श्रुत्यर्थ द्वारा स्वरूप और प्रमाण बतलाया है। अन्यथा यदि संपूर्ण वेदार्थ जिज्ञासित होता तो 'वेदप्रमाणको वेदार्थः' ऐसा कहते, जिससे 'सत्यं ज्ञानम्' इत्यादि श्रुतिका तथा वेदार्थसे ब्रह्मका भी ग्रहण हो जाता। किन्तु ऐसा तो कहा नहीं है, अतः वेदार्थैकदेश धर्म ही जिज्ञासित है, ब्रह्म नहीं।

कर्ममीमांसाका विषय ब्रह्म नहीं है, किन्तु उसके विषय धर्मसे विपरीत है, इसलिए वह ब्रह्मका निषेध करेगी, इस प्रकार यदि शंका हो, तो इसका उत्तर यों देना चाहिए कि क्या मीमांसासे न्यायसमुदाय विवक्षित है या सूत्रसमुदाय अथवा तदनुग्राह्य कर्मविधि ? आद्य और द्वितीय पक्षके अप्रमाणस्वरूप होनेसे प्रमाणभूत वेदार्थका बाधक नहीं हो सकता, क्योंकि अप्रमाणसे प्रमाणका बाध दृष्टचर नहीं है, ब्रह्मविपरीत धर्ममें प्रमाणानुग्राहक न्यायका तात्पर्य है, उदासीन होनेसे ब्रह्ममें असंभावना

विधिभक्तेन वेदान्ते किमर्थो विधिरुच्यताम् ।
पुमर्थत्वं तु मेयस्य स्वाभाव्यान्न विधेर्बलात् ॥ १६३ ॥
विज्ञानमानन्दमिति ह्यात्मैवेति श्रुतिस्तथा ।
पुमर्थस्यैव वेदान्तमेयत्वं प्रत्यपादयत् ॥ १६४ ॥
अथोत्पन्नस्य बोधस्य संसारक्लेशबुद्धिभिः ।
यदन्यथात्वं तद्धेयं विधानेन तदप्यसत् ॥ १६५ ॥

बुद्धिका भी उत्पादक नहीं है। तृतीय पक्षमें कर्मविधि स्वार्थमें प्रमाण है, अतः वेदान्तप्रमाणके विषय ब्रह्मका निराकरण नहीं कर सकती। यदि ऐसा न माना जाय, तो प्रत्यक्षादि प्रमाणका भी निराकरण कर देगी। भिन्न विषयमें व्यवस्थित होनेसे विरोध नहीं है, यह समाधान तो प्रकृतमें भी लागू है और विधि स्वविषयके विधानमें ही समर्थ होती है; दूसरेके निषेधमें नहीं, कारण कि विधि और निषेध इन दोनोंका विधान क्रमशः विवक्षित है या एक समयमें? शब्द, बुद्धि और कर्म इनका विरम्य व्यापार ही नहीं होता; यह सर्वतन्त्रसिद्धान्त है, अतः प्रथम पक्ष तो बन नहीं सकता। द्वितीय पक्षमें एक प्रमाणमें विधि और निषेध दोनोंकी उपलब्धि ही नहीं है, अतः अक्रमसे भी दोनोंका बोध नहीं हो सकता ॥१६२॥

आत्मज्ञानकी विधिमें कुछ प्रयोजन भी नहीं है, इसको सिद्ध करनेके लिए कहते हैं—'विधिभक्तेन' इत्यादिसे।

वेदान्तप्रमेय ब्रह्ममें पुरुषार्थत्व हो, इसलिए विधिकी अपेक्षा है अथवा वेदान्त द्वारा उत्पन्न ब्रह्मात्मज्ञान विरोधी वृत्तियोंसे अन्यथा न हो, इसलिए किं वा अविद्यानिवृत्तिके लिए आहोस्वित् विद्याफलकी सिद्धिके लिए? इनमें प्रथम पक्षका निराकरण करते हैं—पुमर्थत्वमिति। वेदान्तका प्रमेय ब्रह्म स्वयं पुरुषार्थ है, विधिके बलसे वह पुरुषार्थ नहीं है, अतः विधिभक्त मीमांसक वेदान्तमें किस प्रयोजनके लिए विधि कहते हैं, अर्थात् प्रयोजनाभावसे विधि नहीं माननी चाहिए ॥१६३॥

ज्ञान और आनन्द स्वरूप होनेसे ब्रह्म स्वयं पुरुषार्थ है, यह कहते हैं—'विज्ञानमानन्दम्' इत्यादिसे।

विज्ञान और आनन्द स्वरूप आत्मा ही ब्रह्म तथा वेदान्तप्रमेय है, 'सत्यं ज्ञानमानन्दं ब्रह्म, स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो' इत्यादि श्रुति पुरुषार्थ-स्वरूप आत्मा वेदान्तप्रमेय है; इसे स्पष्ट ही कहती है ॥१६४॥

द्वितीय पक्षके निराकरणके लिए कहते हैं—'अथोत्पन्नस्य' इत्यादि से।

तज्ज्ञानं यस्य सञ्जातं जातमेवाऽस्य नाऽन्यथा ।
गर्भस्थस्याऽपि हि सतो वामदेवस्य तद्यथा ॥ १६६ ॥
अविद्याया निरासार्थं विधिरित्यप्यसङ्गतम् ।
उत्पन्ना चेत्तत्त्वविद्या नाविद्यां न निरस्यति ॥ १६७ ॥
दृष्टो ह्यविद्याविध्वंसो व्याधभावनयाऽन्विते ।
राजसूनौ स्मृतिप्राप्ते व्याधभावनिवर्त्तनात् ॥ १६८ ॥

'तद्धैतत्पश्यन् ऋषिर्वामदेवः प्रतिपेदे अहं मनुरभवम्' इत्यादि श्रुतिके अनुसार मूत्र, पुरीष आदि दोषोंसे दूषित गर्भाशयमें सोये हुये वामदेवजीको पूर्वजन्ममें किये श्रवण, मनन आदिसे संस्कृतचित्त होनेसे समीचीन आत्मज्ञान उत्पन्न हुआ और वह विरोधी वृत्तियोंसे बाधित भी न हुआ; क्योंकि समीचीन ज्ञान मिथ्या वुद्धिसे वाधित नहीं हो सकता, 'वुद्धेस्तत्पक्षपाततः' इस न्यायसे बुद्धिका तत्त्वमें ही अधिक पक्षपात होता है । अतः विरोध होनेसे मिथ्या बुद्धि तत्त्ववुद्धिसे स्वयं बाध्या होती है वाधिका नहीं होती । उत्पन्न आत्मज्ञान संसारक्लेशवुद्धिसे बाधित हो जायगा, इसलिए विधि माननी चाहिए, यह भी उक्त रीतिसे असंगत है ॥१६५॥

'तज्ज्ञानम्' इत्यादि । जिसको आत्मज्ञान एक बार हो जाता है, उसको वह सदा बना रहता ही है फिर ज्ञानान्तरसे वह बाधित नहीं होता, गर्भमें सोये हुये वामदेवजीको आत्मज्ञान हो ही गया और अन्य विरोधी वृत्तिसे वह नष्ट भी नहीं हुआ । गर्भस्थ होनेके कारण विधिकी शंका भी नहीं हो सकती ॥१६६॥

तृतीय पक्षके निराकरणके लिए कहते हैं—'अविद्याया निरासार्थं' इत्यादिसे ।

अविद्याकी निवृत्तिके लिए आत्मज्ञानमें विधिकी आवश्यकता है, यह भी नहीं कह सकते हैं, क्योंकि यदि तत्त्वविद्या उत्पन्न होगी, तो अविद्याको अवश्य नष्ट करेगी ॥१६७॥

जिस तरह किसी कारणवश व्याधके (वनेचरके) कुलमें संवर्धित राजपुत्रको 'नासि त्वं व्याधसुनुः राजपुत्रस्त्वम्' इस आप्तवाक्य द्वारा 'राजपुत्रोऽहम्' (मैं राजाका पुत्र हूँ' व्याधपुत्र नहीं हूँ) यह स्मरण होता है, तो चिरकालकी व्याधभावना निवृत्त हो जाती है, इसी तरह तुम संसारी नहीं हो, सच्चिदानन्द ब्रह्मस्वरूप हो । यह 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्य द्वारा गुरूपदेश होनेपर अनादि कालकी सांसारि-

एवमेवाऽऽत्मनोऽज्ञस्य तत्त्वमस्यादिवाक्यतः ।
लब्धैकात्म्यस्मृतेर्व्येति सर्वाऽविद्या सकार्यका ॥ १६९ ॥
न विद्याफलसिध्यर्थं विधिरित्यपि युज्यते ।
विलक्षणं विधिफलाद्विद्याफलमिहोच्यते ॥ १७० ॥
उत्पत्तिराप्तिः संस्कारो विकारश्च विधेः फलम् ।
मुक्तिर्विलक्षणैतेभ्यस्तेनेहानर्थको विधिः ॥ १७१ ॥

भावना निवृत्त हो जाती है। हम ब्रह्मस्वरूप हैं, यह भावना दृढ रहती है, फिर कालान्तरमें भी संसारिभावना होनेकी सम्भावना भी नहीं रहती, यही कहते हैं—'दृष्टो ह्यविद्या०' इत्यादिसे। अर्थ ऊपर कह ही चुके हैं ॥१६८॥

दार्ष्टान्तिकमें भी स्पष्टीकरणके लिए कहते हैं—'एवमेवा०' इत्यादिसे।

उसी तरह अनादि अविद्याके अधीन स्वस्वरूपानभिज्ञ मुमुक्षुको 'तत्त्वमसि' आदि वाक्य द्वारा 'तुम संसारी नहीं हो, किन्तु वस्तुतः ब्रह्मस्वरूप हो' इस प्रकार यथार्थ स्वरूपका बोध होनेपर 'अहं ब्रह्मास्मि' (मैं ब्रह्म हूँ) इस ऐकात्म्यके स्मरणसे सकार्य अर्थात् संसारके साथ सम्पूर्ण स्थूल-सूक्ष्मरूप अविद्या नष्ट हो जाती है ॥१६९॥

चतुर्थ विकल्पका अर्थात् विद्याफलकी सिद्धिके लिए वेदान्तोंमें विधि आवश्यक है, इसका निराकरण करनेके लिए कहते हैं—'न विद्या' इत्यादिसे।

विद्या—आत्मैकत्वविद्या, उसके फल—मोक्षकी सिद्धिके लिए भी विधि मानना ठीक नहीं है, कारण कि विद्याका फल विधिके फलसे विलक्षण है ॥ १७० ॥

वैलक्षण्यको स्फुट करनेके लिए कहते हैं—'उत्पत्ति०' इत्यादिसे।

पुरोडाशोत्पत्ति या पिण्डोत्पत्ति संयवनका फल है, पयःप्राप्ति दोहनका फल है, प्रोक्षणका फल है—उलूखल-मुसलादिका संस्कार और व्रीह्यादिविकार—तण्डुलनिष्पत्ति—अवघातका फल है, इस प्रकार चार ही क्रियाफल प्रसिद्ध हैं, इन चारोंके अन्तर्गत मुक्ति नहीं है। अक्रियास्वरूप और अनादि होनेसे मुक्तिको उत्पाद्य नहीं कह सकते, सम्बन्धाभाव और नित्य प्राप्त होनेसे वह प्राप्तिका कर्म भी नहीं है, निर्गुण तथा अनाधेयातिशय होनेसे संस्कार्य्य कर्म भी नहीं हो सकती और अकार्य तथा अपरिणामी होनेसे विद्याका कार्य्य भी नहीं है, अतः मुक्ति विधिफल नहीं है, इसलिए विधि निरर्थक है ॥ १७१ ॥

अनन्यायत्तसंसिद्धेर्निरविद्यात्मवस्तुनः ।
न क्रियात्वं फलत्वं वा नापि कारकरूपता ॥ १७२ ॥
अतोऽत्र विध्यभावोऽयं न कथंचन दूषणम् ।
अलङ्कृतिरियं साध्वी वेदान्तेषु प्रशस्यते ॥ १७३ ॥
चोदनाभिर्नियुक्तोऽहं तथा ब्रह्माहमित्यपि ।
परस्परविरुद्धत्वादेकदैकत्र न द्वयम् ॥ १७४ ॥

ज्ञानमें विधि नहीं है, इसलिए ब्रह्म भी विधिशेष नहीं है, यह नहीं कह सकते, क्योंकि ब्रह्म ज्ञानविधिका शेष न होनेपर भी उपासनाविधिका शेष हो सकता है, इस शङ्काकी निवृत्तिके लिए कहते हैं—'अनन्या०' इत्यादिसे ।

उपासनाविधिका शेष भी ब्रह्म नहीं हो सकता, कारण कि वह क्रिया, कारक और फलोंमें अन्यतम नहीं है, कारकसे उत्पन्न होनेवाली जो क्रिया, तद्रूप भी वह नहीं है अर्थात् ब्रह्मकी सिद्धि किसीके अधीन नहीं है, अतएव वह स्वयंसिद्ध कहलाता है, क्रियाकी सिद्धि कारकसे होती है, ब्रह्म स्वयंसिद्ध है, अविद्यावान् कारक होता है, विद्यवान् नहीं, ब्रह्म अविद्याशून्य है, अतएव कारक भी नहीं है और क्रियाजन्य नहीं है, इसलिए फल भी नहीं हो सकता, स्वयंसिद्ध अविद्याशून्य आत्म-वस्तुके क्रियाफल तथा कारकस्वरूप न होनेसे उपासनाविधिका शेष भी वह नहीं हो सकता ॥ १७२ ॥

यदि ब्रह्म विधिशेष नहीं है, तो वेदान्त ऊषर भूमिकी तरह हैं, जैसे ऊषर भूमि किसी पुरुषार्थका साधन नहीं हो सकती, वैसे ही वेदान्त भी किसी पुरुषार्थके साधन नहीं हो सकते हैं, अतः अप्रमाण ही हैं, इस शंकाकी निवृत्तिके लिए कहते हैं—'अतोऽत्र' इत्यादिसे ।

विधिके न होनेपर भी नदीतीरमें पांच फल हैं, इस वाक्यके फलसम्बन्धसे प्रामाण्यके सदृश मोक्षरूप परमपुरुषार्थ फलके सम्बन्धसे वेदान्तमें प्रामाण्य ही है, अप्रामाण्य नहीं है, अतएव विधिका अभाव दूषण नहीं है, प्रत्युत भूषण है । यदि विधि होती, तो उक्त रीतिसे वेदान्तमें अप्रामाण्य ही हो जाता, परम-पुरुषार्थरूप ब्रह्मात्मावबोध होनेसे विधिके न रहनेपर प्रशंसा ही है ॥ १७३ ॥

और विधिके माननेपर यह भी शंका होगी कि क्या उस विधिका विद्वान् पुरुष नियोज्य है अथवा अविद्वान् मुमुक्षु ? प्रथम पक्षमें कहते हैं—'चोदना०' इत्यादिसे ।

स्वामी सन्नहि भृत्येन स्वामिनेव नियुज्यते ।
सम्बोधनीय एवासौ सुप्तो राजेव बन्दिभिः ॥ १७५ ॥
यत्रैतस्याऽऽत्मभावेन श्रुत्या ब्रह्माऽवबोध्यते ।
न तत्र करणापेक्षा नेतिकर्त्तव्यता तथा ॥ १७६ ॥
यत्र त्वेप विधिस्थाने प्रहितः स्यात् फलेच्छया ।
इतिकर्त्तव्यता तत्र करणादानमेव च ॥ १७७ ॥

हम विधिवाक्यसे नियुक्त हैं और हम ब्रह्मस्वरूप भी हैं, इस प्रकार परस्पर विरुद्ध दो ज्ञान एक कालमें एक पुरुषमें नहीं हो सकते ॥१७४॥

द्वितीय पक्षके निराकरणके लिए कहते हैं—'स्वामी सन्नहि' इत्यादिसे ।

विविदिषु भी संसारमार्गसे उत्तीर्ण हो चुका है, अतः वह भी वेदका स्वामी है, अतः जैसे भृत्य स्वामीको किसी कार्यमें प्रेरित नहीं कर सकता, वैसे ही वेद भी अपने स्वामी मुमुक्षुको किसी भी कार्यमें प्रेरित नहीं कर सकता, किन्तु सोये हुए स्वामीको अत्यावश्यक कार्यके लिए बन्दिगण जैसे जगा देते हैं, वैसे ही तुम देहादिके साक्षी जगत्कारणत्वोपलक्षित ब्रह्मस्वरूप ही हो, इस प्रकार 'तत्त्वमसि' आदि वेदवाक्य केवल आत्माको समझानेका यत्न करते हैं, किसी कार्य-विशेषमें उसे प्रेरित नहीं करते, इसलिए नियोज्यके न मिलनेसे वेदान्तमें विधि नहीं है ॥१७५॥

नियोगविधिके निराकरणसे ब्रह्म विधिशेष नहीं है, यह माननेपर भी भावनाकी विधि हो सकती है, इसलिए उसका शेष ही ब्रह्म है, इस शङ्काकी निवृत्तिके लिए कहते हैं—'यत्रैत०' इत्यादिसे ।

जिस जिस वेदान्तमें 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यसे तत्पदलक्ष्य प्रपञ्चाभावोपलक्षित शुद्ध ब्रह्म त्वंपदलक्ष्य आत्मा है, ऐसा प्रतीत होता है, उस उस स्थलमें ज्ञात ब्रह्मात्मतत्त्वको फलान्तरकी अपेक्षा न होनेसे करण और इतिकर्तव्यताकी अपेक्षा ही नहीं होती, इसलिए वेदान्तमें अंशत्रयवती—साध्य, साधन और इति-कर्तव्यतारूप अंशत्रयविशिष्ट—भावना नहीं है ॥ १७६ ॥

यदि वेदान्तमें अंशत्रयवती भावना नहीं है, तो अन्यत्र कहाँ है ? इसपर कहते हैं—'यत्र त्वेप' इत्यादिसे ।

जिसको विध्यर्थका ज्ञान है, वह स्वर्गकी इच्छावश यागादि कर्ममें जब प्रवृत्त होता है, तब उसे करण और इतिकर्तव्यताकी अपेक्षा नियमसे होती है, इसलिए

आप्ताशेषपुमर्थस्य त्यक्तानर्थस्य च स्वतः ।
अनात्मनीव नेच्छेयं कथंचित्स्यादिहात्मनि ।। १७८ ।।

वहाँ अंशत्रयविशिष्ट भावनाकी विधि होती है। जैसे 'स्वर्गकामो यजेत' इस वाक्यके सुननेपर व्युत्पन्न पुरुषको यह प्रतीत होता है—जो स्वर्गरूप फल चाहता हो, वह याग करे। 'यजेत' यहांपर लिङ्से विधि और आख्यातसे भावना प्रतीत होती है—किं भावयेत् ? केन भावयेत् ? कथं भावयेत् ? अर्थात् क्या, किससे और कैसे भावना करे, इस अपेक्षासे आख्यातोपस्थाप्य भावना शाब्दभावनाका भाव्य है। करणकी अकाङ्क्षा होनेपर लिङादिज्ञानका करणरूपसे अन्वय होता है, इतिकर्तव्यताकी आकाङ्क्षामें प्राशस्त्यज्ञानका इतिकर्तव्यतारूपसे अन्वय होता है, आर्थी भावनामें भाव्याकाङ्क्षा होनेपर स्वर्गादि फलका भाव्यरूपसे अन्वय होता है। और करणाकाङ्क्षामें यजत्यर्थ यागादिका करणरूपसे अन्वय होता है ? इतिकर्तव्यताकाङ्क्षामें प्रयाजादि अङ्गका इतिकर्तव्यतारूपसे अन्वय होता है, सब मिलाकर 'अङ्गजातैरुपकारं संपाद्य यागेन स्वर्गं भावयेत्' इस प्रकार जहाँ बोध होता है, वहीं भावना-विधि हो सकती है, अन्यत्र नहीं। वेदान्तमें ऐसा बोध नहीं होता, अतः भावनाविधि नहीं हो सकती। कर्मविधिके वाक्यार्थबोधके सदृश तत्त्वमस्यादि वाक्यार्थबोधमें भी पुरुषार्थ है ॥१७७॥

सर्वत्र इच्छासे ही प्रवृत्ति होती है; इसलिए वेदान्तमें भी अंशत्रयवती भावना हो सकती है ? इस शङ्काकी निवृत्तिके लिए कहते हैं—'आप्ताशेप०' इत्यादिसे।

'तत्त्वमसि' आदि महावाक्य द्वारा जिसको आत्माका यथार्थ ज्ञान हो गया है, उसको आत्मानन्दस्वरूप मोक्ष प्राप्त ही है, अतः अप्राप्तप्राप्ति, तथा सर्वदुःखनिवृत्ति भी सिद्ध ही है, साध्य नहीं है, इसलिए स्वर्गादिके सदृश अपवर्गमें इच्छा भी नहीं हो सकती। स्वर्गादि स्थलमें विधिवाक्यके अर्थका बोध होनेपर अप्राप्त स्वर्गादिकी प्राप्तिके लिए इच्छा होती है, अतः तत्साधनमें प्रवर्तिका इच्छा होती है। प्रकृतमें वाक्यार्थबोध होते ही अनवच्छिन्नानन्द तथा निःशेषदुःखनिवृत्तिरूप फलद्वयस्वरूप आत्माकी अव-गति होनेसे फलद्वय अप्राप्त नहीं हैं, अतः स्वर्गादिकी तरह अपवर्गमें इच्छा नहीं हो सकती। फलकी इच्छा न होनेसे करण और इतिकर्तव्यताकी आकांक्षा भी नहीं होती, करण और इतिकर्तव्यताकी आकांक्षा फलसिद्धिके लिए होती है, अतः फल सिद्ध है, ऐसा ज्ञात होनेपर करणादिकी प्रकृतमें आकाङ्क्षा नहीं होती ॥१७८॥

तन्निवृत्तौ निवर्त्तेते इतिकर्त्तव्यसाधने ।
निरन्तरायतोऽशेषपुमर्थस्याऽऽत्मरूपतः ॥ १७९ ॥
ननु मोहान्तरायायां मुक्तावस्तु यथोदितम् ।
एकदेशो विकारो वा संसारीति मते कथम् ॥ १८० ॥
विकारावयवावेतौ वास्तवौ यदि सम्मतौ ।
तदा न कर्मणा मुक्तिर्नापि ज्ञानेन कर्हिचित् ॥ १८१ ॥

फलेच्छाके निवृत्त होनेपर करणादिकी आकांक्षा निवृत्त होती है, यह कहते हैं—'तन्निवृत्तौ' इत्यादिसे ।

फलाकाङ्क्षाकी निवृत्ति होनेपर तदविनाभूत साधन और इतिकर्तव्यताकी आकाङ्क्षा भी निवृत्त हो जाती है। यदि मोक्षमें भी आकाङ्क्षा नहीं है, तो मुमुक्षु कैसे कहलाता है, मोक्षकी इच्छावाला ही मुमुक्षु कहलाता है । यदि मोक्षेच्छा मानें, तो फलाकाङ्क्षाके होनेसे साधन और इतिकर्तव्यताकी भी आकाङ्क्षा होगी ? तो इस शङ्काकी निवृत्तिके लिए कहा है—'निरन्तरायतो' इत्यादि ।

यद्यपि मुमुक्षुको मोक्षाकङ्क्षा है, तो भी आत्मतत्त्वसाक्षात्कारके होनेपर मुमुक्षु जीवन्मुक्त होकर किसी वस्तुकी अपेक्षा नहीं करता, अतः साधन और इतिकर्त्तव्यताकी आकांक्षा कैसे हो सकती है ॥१७९॥

यद्यपि ब्रह्मस्वरूप मुक्ति कर्मकी अपेक्षा नहीं करती, तो भी जीव ब्रह्मका विकार है अथवा ब्रह्मका अंश है, इस मतमें ज्ञान तो ज्ञापकमात्र है, कारक तो है नहीं। जीवका परब्रह्मके साथ ऐक्यरूप कैवल्य क्रियासाध्य ही हो सकता है, यह शंका करते हैं—'ननु मोहा०' इत्यादिसे ।

यदि अज्ञानमात्रव्यवहित मुक्ति हो, तो व्यवधायक अज्ञानकी निवृत्ति ज्ञानमात्रसे हो सकती है, इसलिए वह कर्मसाध्य नहीं है, यह कहना ठीक हो सकता है, परन्तु आत्मा ब्रह्मविकार अथवा अंश है, इस पक्षमें ज्ञानमात्रसे मुक्ति कैसे होगी ॥१८०॥

विकारी अथवा अंश इन दोनों मतोंमें आत्मामें संसारित्व वास्तविक है किंवा अध्यस्त ? प्रथम पक्षमें अग्निमें औष्ण्य स्वाभाविक है, अतएव जैसे अग्निकी जब तक अवस्थिति रहती है, तब तक वह रहता है, वैसे ही आत्मामें संसारित्वके स्वाभाविक होनेसे कभी भी वह निवृत्त न होगा, यही कहते हैं—'विकारावयवा०' इत्यादिसे ।

यदा त्वविद्ययाऽध्यस्तं संसारित्वं न वास्तवम् ।
तदा ह्यविद्याविध्वस्तावधिकारो न कर्मणि ॥१८२॥
तदा तु कल्पनाः सर्वा विकारावयवादिकाः ।
वृथैवैताः ह्यविद्यैव सर्वाः सम्पादयिष्यति ॥१८३॥
स्वतो निःश्रेयसं पूर्णं तदपूर्णमविद्यया ।
आभासते वृथैवाऽस्य प्रध्वंसो विद्यया भवेत् ॥१८४॥
प्रध्वस्तायामविद्यायां पूर्णमेवाऽवशिष्यते ।
अनर्थको विधिस्तस्मात्सर्वो निःश्रेयसं प्रति ॥१८५॥

यदि विकार और अवयव ये वास्तव हैं, तो न ज्ञानसे ही मुक्ति होगी और न कर्म से ही, क्योंकि वास्तव स्वभावकी निवृत्ति किसीसे नहीं होती, अन्यथा वास्तविकत्व ही स्वभावमें व्याहत हो जायगा ॥१८१॥

द्वितीय पक्षमें कहते हैं—'यदा त्वविद्यया' इत्यादिसे ।

यदि आत्मामें संसारित्व अविद्याकल्पित है, वास्तविक नहीं है, तो विद्यासे अविद्याका ध्वंस होनेपर आत्मैकत्वज्ञानावस्थामें साध्यसाधनादिभेद ही नहीं रह सकता, तो कर्मप्रवृत्ति सुतरां नहीं होगी ॥१८२॥

और यह भी वात है कि यदि संसारित्व आदि आविद्यिक हैं, पारमार्थिक नहीं हैं; तो अखण्डैकरस आत्मामें अविद्याकल्पित संसारित्वादिके माननेसे सब व्यवहार उपपन्न हो जाता है, फिर विकार, अवयव आदिकी कल्पना भी व्यर्थ ही है, यह कहते हैं—'तदा तु कल्पनाः' इत्यादिसे । इस श्लोकका ऊपर कहा हुआ ही अर्थ है ॥१८३॥

पूर्ण ब्रह्ममें अविद्यासे विद्यमान संसारित्वकी प्रतीति हो ही जायगी और विद्यामात्रसे अविद्याकी भी निवृत्ति हो ही जायगी, फिर ज्ञानमें विधि माननेका प्रयोजन ही क्या है ? सांसारिक निखिल व्यवहारका संपादन अविद्या ही करेगी, इसे कहते हैं—'स्वतो' इत्यादिसे ।

यद्यपि स्वतः निश्रेयस (मोक्षरूप ब्रह्म) पूर्ण है, तथापि उसकी अपूर्णता उसके अज्ञानसे मिथ्या ही भासती है, उस अविद्याका विनाश विद्यासे होगा ॥१८४॥

'प्रध्वस्तायाम०' इत्यादि । अविद्याका ध्वंस होनेपर पूर्ण ब्रह्म ही अवशिष्ट रहता है, इसलिए मोक्षके प्रति सब विधि व्यर्थ है ॥१८५॥

['एकदेशो विकारो वा' इत्यादि १८०वें श्लोकसे लेकर १८५वें तकका भाव यह है कि 'पादोऽस्य सर्वा भूतानि' 'सर्व एते आत्मानो व्युचरन्ति अग्नेर्विस्फुलिङ्गा इव'

'ममैवांशो जीवलोके' 'अंशो नानाव्यपदेशात्', 'सर्वं जनयति प्राणश्चेतोंऽशून् पुरुषः पृथक्' इत्यादि श्रुति, सूत्र और स्मृति-वाक्योंसे जीव परमात्माका अवयव अथवा अंश है, यह पक्ष भी माननीय है, इस पक्षमें मोक्ष कर्मसाध्य है, ज्ञानसाध्य नहीं, यह पूर्वपक्ष है।

उत्तर—जीव परमात्माका एकदेश अथवा विकार है, यह माननेपर यह प्रश्न होता है कि ब्रह्मांश जीव ब्रह्मसे अभिन्न है किंवा भिन्न है? प्रथम पक्षमें ब्रह्मकी प्राप्ति मोक्ष है या भेदकी निवृत्ति? अंश और अंशीका अभेद माननेसे ब्रह्मकी प्राप्ति अप्राप्त नहीं है, किन्तु सदा प्राप्त ही है, अतः प्राप्य कर्म न होनेसे क्रियाकी अपेक्षा नहीं कह सकते, इसलिए भेदनिवृत्तिको ही मोक्ष मानना पड़ेगा, सो ज्ञानसे भेदनिवृत्ति होनेपर मोक्षाभिव्यक्ति होती है, अतः मोक्ष कर्मसाध्य नहीं है, किन्तु भेद-निवर्त्तक ज्ञानसे साध्य है, इसलिए मुमुक्षुका ज्ञानमें ही अधिकार है, कर्ममें नहीं है।

उसी तरह विकारपक्षमें भी प्रश्न होता है कि जीवकी मुक्ति विकारी ब्रह्मकी प्राप्ति है, या विकार और विकारीकी भेदनिवृत्ति है? प्रथम पक्षमें कार्य और कारणका अभेद, तो सिद्ध ही है, साध्य नहीं है, अतः कर्मसाध्य कहना, तो सर्वथा असंगत ही है। इसलिए मुमुक्षुका ज्ञान ही में अधिकार है, कर्ममें नहीं है, यही इस पक्षमें भी सिद्ध होता है। यदि कार्य और कारणका भेद मानें, तो कर्मसाध्य मोक्ष हो सकता है, अतः मुमुक्षुका भी कर्ममें अधिकार हो सकता है? हां, हो सकता यदि कार्य और कारणका वास्तविक भेद होता, किन्तु जैसे घटमें मृत्तिकाका अभेद स्वाभाविक है, भेद अविद्यात्मक है, वैसे ही जीव और ब्रह्मका अभेद स्वाभाविक है, भेद आविद्यिक है, तात्त्विक नहीं है, अतः आविद्यिक भेदनिवृत्तिके लिए कर्मकी क्या आवश्यकता? आविद्यिक भेद तो ज्ञानसे ही निवृत्त होगा, दूसरे से नहीं, इसलिए इस पक्षमें भी मुमुक्षुका ज्ञानमें ही अधिकार है, कर्ममें नहीं।

वस्तुतः अंशित्व अथवा विकार ये दोनों पक्ष असंगत हैं, जीव न तो ब्रह्मका अंश ही हो सकता और न विकार ही हो सकता है, कारण कि जीव और ब्रह्मका यदि वस्तुतः भेद है, तो गवाश्ववत् कार्यकारणभाव ही नहीं होगा, अत्यन्त भेदमें कार्यकारणभाव दृष्टचर नहीं है। यदि अभेद है, तो भी कार्यकारणभाव नहीं बन सकता। कार्यकारणभाव भेदघटित है। सत्यज्ञानानन्दस्वरूप ब्रह्म है, तद्विकार या तदंश जीव भी तादृश ही विवक्षित है, विकारी या अंशी ब्रह्मके साथ अंश अथवा विकारभूत जीवका ऐक्य ही मुक्ति है, वह तो स्वतःसिद्ध है, इसलिए

इन दोनों मतोंमें मोक्ष कर्मसाध्य नहीं हो सकता, प्रत्युत कर्म मुमुक्षुके लिए व्यर्थ ही नहीं, अनर्थकर है, क्योंकि कर्म मुक्तिके सर्वथा प्रतिकूल हैं।

कर्म स्वर्गादिके रागके विना नहीं हो सकता, राग तत्त्वज्ञानोत्पत्तिमें प्रतिबन्धकीभूत चित्तका दोष है 'नाभुक्तं क्षीयते कर्म' इस स्मृतिवाक्यसे भोगभिन्नसे कर्म नष्ट नहीं हो सकता। भोगार्थ शरीरादिका ग्रहण आवश्यक है, अतः मुमुक्षुके लिए कर्म अनर्थकारी हैं।

यदि विकार किंवा अंश जीव विकारी अथवा अंशी ब्रह्मसे अत्यन्त भिन्न है, ऐसा मानिये, तो ब्रह्ममात्रावशेष होनेपर विकार अथवा अंश जीवका नाश ही मानना पड़ेगा, अन्यथा ऐक्य ही नहीं होगा। यदि स्वरूपनाश मुक्ति है, तो किसीकी भी मुक्तिके लिए प्रवृत्ति न होगी। कोई भी साधारण विद्वान् अपना स्वरूपनाश नहीं चाहता, प्रत्युत 'मा न भूवं भूयासम्' यही इच्छा प्राणिमात्रकी रहती है। यदि लौकायतिकमतसे आत्मनाशको ही मुक्ति मानें, तो भी कर्म व्यर्थ ही होगा। यदि कर्मजन्यफलभागीका नाश ही हो गया, तो फिर कर्मफल किसको होगा, फलभोक्ताके न रहनेपर कर्म व्यर्थ ही हैं। केवल कर्म ही व्यर्थ नहीं हैं, किन्तु आत्मनाश मुक्ति है, इस पक्षमें ज्ञान भी व्यर्थ है तथा मोक्षसाधन शास्त्र भी व्यर्थ हैं।

फिर यह भी शङ्का हो सकती है कि विकारादिपक्षमें जीवमें बन्ध स्वाभाविक है अथवा अविद्याकृत? यदि स्वाभाविक है, तो ब्रह्मविद्यासे भी वह निवृत्त न होगा, विद्यासे वस्तुकी निवृत्ति नहीं होती। एवं कर्म भी व्यर्थ हैं, क्योंकि कर्म तो स्वयं बन्धहेतु हैं; अतः बन्धके निवर्तक वे कैसे होंगे, यदि कारण ही निवर्तक होगा, तो कार्यकी उत्पत्ति ही न होगी, कार्योत्पत्तिके विना कार्यकारणभाव ही दुर्वच है।

यदि द्वितीय पक्ष मानिये अर्थात् संसारित्व अविद्याकृत है, पारमार्थिक नहीं है तो विद्यासे ही अध्यस्त संसारित्वकी निवृत्ति हो जायगी, फिर विकार तथा अंश माननेकी क्या आवश्यकता है? तथा सभी दार्शनिकोंका यह मत है कि ज्ञानसे ही मुक्ति होती है; अतएव वेदान्तमें विधि नहीं है, क्योंकि विधेय होनेपर विधि होती है, विधेय तो है नहीं, तो विधि कहाँसे होगी, अतएव अंशांशिभावादिकी कल्पना व्यर्थ ही है। 'यदतः परो दिवोज्योतिर्दीप्यते' इत्यादि श्रुतिसे देशान्तरगत्यधीन मुक्ति होती है, इस आशयसे फिर कर्मसाध्य मुक्ति है, यदि यह शङ्का हो, तो इसकी निवृत्ति इस प्रकार करनी पड़ेगी कि उक्त वाक्य सगुणोसापनापरक

निःशेषवाङ्मनःकायप्रवृत्त्युपरमात्मिका ।
ब्रह्मनिष्ठेह वेदान्तैः पुंसः सम्पद्यते भृशम् ॥१८६॥
ब्रह्मात्मतत्त्वव्युत्पत्तिमात्रेणाऽत्राऽधिकारिता ।
भवत्येव हि जिज्ञासोर्विरक्तस्य मुमुक्षतः ॥१८७॥

है, सगुणोपासनासे तत्-तत् लोककी प्राप्ति होती है और कल्पान्तमें तत्तल्लोक ही में तत्त्व-ज्ञान होता है, तदनन्तर मुक्ति होती है, इसीको क्रममुक्ति कहते हैं।

'ब्रह्मणा सह मुच्यन्ते संप्राप्ते प्रतिसंचरे' इत्यादि वाक्योंसे सगुणोपासकोंकी क्रममुक्ति ही मानी गई है। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' इत्यादि श्रुतियोंसे जो निर्गुण ब्रह्मका श्रवण, मनन और निदिध्यासन करते हैं, 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति इहैव समवलीयन्ते' 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' इत्यादि श्रुतियोंके अनुरोधसे उनकी मुक्ति देशान्तरगमनके अधीन नहीं है, किन्तु ब्रह्मात्मैक्य-साक्षात्कारसे अविद्याकी निवृत्ति होनेपर मुक्ति होती है, अर्थात् अपरिच्छिन्न ब्रह्म-स्वरूपावस्थान ही मुक्ति है, सुषुप्ति अवस्थामें कार्यरूपसे अविद्याका ध्वंस होनेपर भी कारणरूपसे उसकी अवस्थिति रहती ही है, निःशेष अविद्याकी निवृत्ति नहीं होती, इसलिए उस अवस्थामें मुक्ति नहीं कह सकते, अतः अविद्यानिवृत्त्यु-पलक्षित ब्रह्मस्वरूप ही मुक्ति है, इसलिए वेदान्तमें विधि नहीं है।

यदि अविद्यानिवर्तक ज्ञानकी उत्पत्ति उपनिषदोंके अध्ययनमात्रसे मानते हो, तो उपनिषद्के अध्ययनशील सभी पुरुषोंको ज्ञान होना चाहिए परन्तु होता तो नहीं है, इसका क्या कारण है ? इसपर कहते हैं—'निःशेष०' इत्यादि।

जिस पुरुषकी स्वाभाविक निखिल व्यापारोंसे वाणी, मन और देहकी प्रवृत्ति उपरत हो जाती है, उसी पुरुषको वेदान्तादिके अध्ययनसे ब्रह्ममें निष्ठा होती है, दूसरेको नहीं होती ॥१८६॥

शङ्का—अच्छा तो यह कहिये कि ज्ञानके हेतु श्रवण आदिमें तत्त्वज्ञानी अधिकारी है, किं वा अज्ञ ? प्रथम पक्ष तो समीचीन नहीं है, क्योंकि तत्त्वज्ञानीकी तो निःशेष आकाङ्क्षाकी निवृत्ति होनेसे श्रवणादिकी भी आकाङ्क्षा नहीं है। द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि अज्ञात विषयमें जिज्ञासा नहीं होती है। ज्ञान ही जिज्ञासाका कारण है, ज्ञानके विना जिज्ञासाका असंभव है ?

समाधान—यद्यपि उक्त पूर्वपक्ष ठीक है, तथापि साङ्गवेदके अध्ययनके अनन्तर आपाततः जिसको ज्ञान हुआ है, वही उन श्रवणादिमें अधिकारी है, यही कहते हैं—'ब्रह्मात्मतत्त्व०' इत्यादिसे।

ननूपक्रमसंहारपर्यालोचनया बुधैः ।
वेदस्यैकार्थतात्पर्यमेकवाक्यतयोदितम् ॥१८८॥

विरक्त मुमुक्षु जिज्ञासुको 'तत्त्वमसि' आदि वाक्योंके अध्ययनके अनन्तर आपाततः—सामान्यतः—ब्रह्मात्मैकत्वज्ञान होता है, उस ज्ञानसे विशेषरूपसे जिज्ञासा होती है, उसीसे श्रवण, मनन आदिमें प्रवृत्ति होती है, इसलिए सामान्यतः तत्त्वज्ञानी विशेषरूपसे परिज्ञानके लिए ज्ञानसाधन वेदान्तश्रवण आदिमें अधिकारी हैं ॥१८७॥

अब फिर प्रकारान्तरसे ज्ञानकाण्ड तथा कर्मकाण्डके अधिकारिभेदके ऊपर आक्षेप करते हैं—'ननूपक्रमसंहार०' इत्यादिसे ।

'फलवत्संनिधौ पठितमफलं तदङ्गम्' अर्थात् फलबोधक वाक्यके प्रकरणमें पठित फलशून्यबोधक वाक्य उसका अङ्ग हो जाता है, जैसे 'दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत स्वर्गकामः' इस स्वर्गरूप फलके बोधक वाक्यके प्रकरणमें पठित प्रयाजादि दर्शपूर्णमासके अङ्ग हैं, वैसे ही अफल वेदान्तवाक्यको भी विधिवाक्यका अङ्ग ही मानना चाहिए, ऐसा माननेसे दोनोंकी एकवाक्यता हो जाती है, जहाँतक एकवाक्यता हो सके वहांतक वाक्यभेद नहीं मानना चाहिए, क्योंकि 'सम्भवति एकवाक्यत्वे वाक्यभेदकल्पनाऽन्याय्या' यह न्याय प्रसिद्ध ही है । अर्थैक्यसे एकवाक्यता होती है, यह 'अर्थैक्यादेकं वाक्यं साकाक्षं चेद्विभागे स्यात्' इस जैमिनि सूत्रमें स्पष्ट है । सूत्रार्थ यह है कि अर्थके एक होनेसे एकवाक्यता होती है—जैसे 'बर्हिर्देवसदनं दामि' अथवा विभाग होनेपर भी साकांक्ष हो, तो भी एकवाक्यता होती है—जैसे 'स्योनं ते सदनं कृणोमि' 'घृतस्य धारया सुशेवं कल्पयामि' तस्मिन् सीदामृते प्रतितिष्ठ, व्रीहीणामेध सुमनस्यमानः' इस मन्त्रमें है । हे व्रीहीणां मेध—व्रीहियोंके सारभूत ते—तुम्हारा सदनम् स्थान स्योनम्—समीचीन कृणोमि—करता हूँ—बनाता हूँ । और घृतकी धारासे भी बैठनेके लायक चिकना कर देता हूँ, उसमें आप प्रसन्न चित्त होकर बैठिए ।

मन्त्रके आधे भागमें सदनकरणकी प्रतीति होती है और आधेमें पुरोडाशस्थापनकी प्रतीति होती है, इसलिए लिङ्गसे आधे मन्त्रका सदनके निर्माणमें उपयोग होना चाहिए और आधे मन्त्रका पुरोडाशके स्थापनमें उपयोग होना चाहिए । 'यत्तदोर्नित्यसाकाङ्क्षत्वात्' इस न्यायसे 'तस्मिन्' इस तत्पदघटित वाक्यार्थमें यत्पदकी नियमसे अपेक्षा होनेसे मन्त्र विभागमें साकांक्ष है, 'अतः यत्सदनं समीचीनं कृतं तस्मिन्' अर्थात् जो समीचीन सदन बनाया है, उसमें, इस प्रकार एकवाक्यता होनेसे वाक्य

तेन निःशेषवेदोक्तकर्मानुष्ठानशालिनः ।
विद्याधिकारो न ब्रह्मव्युत्पत्त्यादेर्हि केवलात् ॥१८९॥

प्रमाण द्वारा संपूर्ण मन्त्रकी आवृत्ति कर दोनों कार्योंमें अर्थात् सदनकरण और पुरोडाशस्थापन में उपयोग होना चाहिए। इस प्रकार संशय करके वाक्यसे लिङ्ग बलवान् है, इसलिए आधेका सदनकरणमें और आधेका पुरोडाशस्थापनमें प्रयोग करना चाहिए, इस प्रकार मीमांसकोंने व्यवस्था की है। इस तरह साकांक्ष भिन्न वाक्योंकी एकवाक्यता होती है। वेदान्तवाक्यमें फल न होनेसे फलबोधक कर्मकाण्डोक्त वाक्योंके साथ एकवाक्यता माननी चाहिए। अतएव 'देवस्य त्वा सवितुः' इत्यादि मन्त्रका 'निर्वपामि' इस क्रियाबोधकके साथ एकवाक्यता होती है। एवं वेदान्तकी कर्मविधिके साथ एकवाक्यता माननेपर अधिकारीका भेद मानना ठीक नहीं है।

समाधान—एक अर्थ होनेपर जैसे भिन्न वाक्य मानना असंगत है, वैसे ही भिन्न अर्थ होनेपर एक वाक्य मानना भी ठीक नहीं है। 'इषे त्वोर्जे त्वा' इत्यादि मन्त्र भिन्नार्थक होनेसे भिन्न वाक्यरूप है, एक नहीं। उक्त वाक्यमें एक मन्त्र है किम्वा दो ? ऐसा संशय करके प्रश्लिष्ट पाठानुग्रहार्थ अत्यन्त सन्निहित पठित 'इषे त्वा' 'ऊर्जे त्वा' आदिका पलाशशाखाके छेदन और मार्जनमें उपयोग होनेसे एक वाक्य है; अतः एक ही मन्त्र है, यह पूर्वपक्ष करके 'इषे त्वा इति शाखामाच्छिनत्ति' 'उर्जे त्वा इत्यनुमार्ष्टि' इस प्रकार छेदन और मार्जनरूप पदार्थका भेद होनेसे दो मन्त्र हैं। प्रश्लिष्ट पाठ अदृष्टार्थक है। जिस तरह अर्थभेद होनेसे उक्त मन्त्र दो हैं, उसी तरह भिन्न-भिन्न फलवाले दो काण्डोंमें वाक्यभेद मानना ही उचित है। अथवा पूर्वोक्त रीतिसे चित्तशुद्ध्यादि द्वारा कर्मकाण्डवाक्यके साथ वेदान्तवाक्यकी एकवाक्यता माननेपर भी काण्डद्वयका अधिकारिभेद भी कह चुके हैं, सो ठीक नहीं, एकवाक्यता माननेपर दर्वीहोमसे लेकर सत्रान्त यावत्कर्मानुष्ठान करनेपर ज्ञानाधिकार होता है, अन्यथा नहीं, यह शङ्का करते हैं—'तेन निःशेष०' इत्यादिसे।

तेन—ज्ञानकाण्डकर्मकाण्डवाक्ययोः एकवाक्यत्वहेतुना अर्थात् दो काण्डोंकी एकवाक्यता होनेसे दर्वी होमसे लेकर सत्रान्त जितने कर्म पूर्वकाण्डमें विहित हैं, उन सब कर्मोंके अनुष्ठानके बाद ब्रह्मज्ञानमें अधिकार होता है, केवल आपाततः ब्रह्मव्युत्पत्तिमात्रसे नहीं ॥ १८८, १८९ ॥

मैवं निःशेषवेदार्थमनुष्ठातुं नरः कथम् ।
पुमायुषाऽपि शक्तः स्याद्येन ज्ञानेऽधिकारिता ॥१९०॥
ततोऽधिकार्यभावेन वेदान्तानाममानता ।
प्रसज्येत ततः शुद्धचित्तो विद्याधिकारभाक् ॥१९१॥
संस्कारमात्रकारित्वं सर्वेषामपि कर्मणाम् ।
संस्कारः पच्यते पुंसः पूर्वजन्मकृतैरपि ॥१९२॥

वेदोक्त सकल कर्मानुष्ठानके बाद ज्ञानमें अधिकार होता है, ऐसा माननेपर, तो उक्त सकल कर्मोंका अनुष्ठान अनेक जन्ममें भी नहीं होगा, अतः ज्ञानाधिकारी कोई हो ही नहीं सकेगा, अतः वेदान्त शास्त्र निरर्थक हो जायगा, यह समाधान करते हैं—'मैवं निःशेष०' इत्यादिसे ।

कोई भी मनुष्य संपूर्ण वैदिक कर्मोंका अनेक जन्ममें भी अनुष्ठान नहीं कर सकता, इसके विना ज्ञानमें अधिकार नहीं होगा, इसलिए ज्ञानका नियोग ही अधिकारीके होनेसे व्यर्थ हो जायगा ॥१९०॥

और अधिकारीके विना वेदान्त ही अप्रमाण हो जायगा, अतः शुद्धचित्त पुरुष ज्ञानका अधिकारी है, यही कहते हैं—'ततोऽधिकार्य०' इत्यादिसे ।

ज्ञानमें अधिकारी न होनेसे वेदान्त ही अप्रमाण हो जायगा, अतः कर्म ब्रह्मज्ञानमें उकारक चित्तसंस्कारके हेतु हैं, इस जन्मके कर्म जैसे चित्तके संस्कारक हैं, वैसे ही जन्मान्तरमें किये गये कर्मोंसे चित्तसंस्कार होता है, इसलिए काण्ड-द्वयकी एकवाक्यता माननेपर भी जिज्ञासा हो सकती है, अतः जिज्ञासासे ही मोक्षमें अधिकारी होता है ॥१९१॥

सम्पूर्ण वेदवाक्योंकी पूर्वोक्त एकवाक्यताका निराकरण करते हैं—'संस्कारमात्र०' इत्यादिसे ।

निखिल कर्मकाण्डमें विहित कर्मोंका अनुष्ठान ब्रह्मज्ञानोपकारक संस्कारमात्रके कारण हैं । पूर्वजन्मानुष्ठित शुभ कर्मोंसे भी चित्तमें संस्कारका परिपाक होता है, जिससे ब्रह्मज्ञानोत्पत्ति होती है ।

एकवाक्यता माननेपर भी सम्पूर्ण कर्मोंका अनुष्ठान अपेक्षित नहीं है, किन्तु चित्तशुद्धि-संपादक कर्मानुष्ठानमात्रकी अपेक्षा है, क्योंकि चित्तके शुद्ध होनेपर वैराग्य होता है ॥ १९२ ॥

एवमत्रैकवाक्यत्वं नाऽनुष्ठेयसमाप्तितः ।
वैराग्यादिमतः पुंसस्तेन विद्याधिकारिता ॥१९३॥
किञ्च ज्ञानमदृष्टार्थमुत दृष्टार्थमुच्यताम् ।
कस्मिन्सत्यत्र किं ते स्यादिति चेद् भाष्यते शृणु ॥१९४॥
ब्रह्मज्ञानमदृष्टार्थमग्निहोत्रादिवद्यदि ।
ततोऽधिकारचिन्ता स्यात्कृतेऽप्यफलशङ्कया ॥१९५॥

'एवमत्रैक०' इत्यादि । अर्थैक्यसे एकवाक्यताका निरास करनेपर भी उपकार्योपकारकत्वमात्रसे एकवाक्यता मानते हैं । फिर भी निखिल विहित कर्मानुष्ठानकी अपेक्षा नहीं है, किन्तु जबतक चित्त शुद्ध न हो, तबतक कर्मोंके अनुष्ठानकी अपेक्षा है । चित्तकी शुद्धि वैराग्यादि द्वारा सूचित होती है, इसलिए वैराग्यादि चित्तसाधनोंसे युक्त जिज्ञासु विद्याधिकारी है, यह प्रकृत विचारका निष्कृष्टार्थ है ॥१९३॥

अपि च मेरे मतमें अधिकारीका लाभ है, इसलिए ज्ञानाधिकारीके लाभकी चिन्ता व्यर्थ है । वेदके अप्रामाण्यकी शङ्का तो अति दूर है, यही कहते हैं—'किञ्च ज्ञान०' इत्यादिसे ।

आपके मतसे अग्निहोत्रादिके समान ज्ञान अदृष्टार्थ है । अग्निहोत्र करनेपर भी फल कालान्तरमें होता है, इसलिए संशय होता है कि फल होगा अथवा नहीं ? सन्दिग्ध पुरुष कर्मानुष्ठान नहीं कर सकता, इसलिए निश्चित प्रवृत्ति होनेके लिए अधिकारीकी चिन्ता आपको आवश्यक है । अधिकारीका निश्चय करनेके लिए मोक्षकामनाकी अपेक्षा होती है । फलकामनावान् ही अधिकारी कहलाता है । मोक्षकी कामना मोक्षका ज्ञान होनेपर होगी या मोक्षज्ञानके विना भी हो सकती है ऐसा पूर्वोक्त रीतिसे विकल्प करनेपर दोनों प्रकारसे नहीं कह सकते, यह प्रश्न आपके मतसे होता है । मेरे मतसे ज्ञान अदृष्टार्थक नहीं, किन्तु अन्वय और व्यतिरेकसे आत्मैकत्वका ज्ञानरूप फल कृष्यादि फलके समान प्रत्यक्ष सिद्ध है, इसलिए शुक्त्यादिज्ञानकी तरह आत्मज्ञानमें फल निश्चित होनेसे उस फलके अभिलाषी अधिकारीका लाभ हो जाता है, इसलिए अधिकारीके लाभकी चिन्ताका अवसर ही नहीं आता । अत एव अधिकारीका लाभ होनेसे वेदान्त प्रमाण ही हैं ॥१९४॥

इस तात्पर्यसे कहते हैं—'ब्रह्मज्ञान०' इत्यादि ।

यदि ब्रह्मज्ञान अग्निहोत्रादिके समान अदृष्टार्थक होता, तो कर्म करनेपर भी

कामिनाऽप्यग्निहोत्रादि शूद्रेणाऽनधिकारिणा ।
कृतमप्यफलं तेन यत्नात्तत्र निरूप्यताम् ॥१९६॥
दृष्टार्थत्वेऽपि तद्दृष्टम् अविद्यानाशमात्रकम् ।
ततोऽपि चाऽधिकं किञ्चिद्यल्लभ्यमधिकारतः ॥१९७॥
अविद्यानाशमात्रं तु विद्योत्पत्त्यैव लभ्यते ।
पुमर्थस्य समाप्तत्वादधिकं नार्थ्यतेऽन्वपि ॥१९८॥

कर्मकालमें फल न देखनेसे फल होगा या नहीं ? इस तरह संशय होनेसे अधिकारीका लाभ नहीं हो सकता, इस प्रकार आपके मतमें अधिकारीकी चिन्ता होती है । मेरे मतमें तो फलके प्रत्यक्षसिद्ध होनेसे उक्त शङ्का नहीं है और न अधिकारीके लाभके निरूपणकी ही आवश्यकता है ॥ १९५ ॥

यदि ज्ञानमें अधिकारीकी चिन्ता नहीं है, तो वेदोक्त साधन कर्म भी हैं, इसलिए ज्ञानके समान कर्ममें भी अधिकारीकी चिन्ता व्यर्थ होनेसे अधिकारीका निरूपण ही असङ्गत हो जायगा, इसलिए कहते हैं—'कामिना' इत्यादिसे ।

अधिकारीके निरूपणके विना अग्निहोत्रादि कर्मोंका अनुष्ठान ही नहीं होगा । स्वर्गकामी पुरुष अधिकारी निश्चित है, यह भी शङ्का नहीं कर सकते हैं कारण कि शूद्रको स्वर्गकामना भी होती है, लेकिन स्वर्गकामी शूद्र द्वारा कृत अग्निहोत्र निष्फल है, अतः अदृष्टफलक कर्ममें अधिकारीके निरूपणके विना विद्वानोंकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती, इसलिए अदृष्टार्थक कर्ममें अधिकारीकी चिन्ता आवश्यक है ॥ १९६ ॥

स्वर्गकी इच्छासे शूद्र द्वारा किये गये अग्निहोत्रादि कर्म निष्फल होते हैं, इसलिए विद्वानोंकी प्रवृत्तिके लिए अधिकारीकी चिन्ता अतिश्रमसे करनी चाहिए, यह कहते—'दृष्टार्थत्वेऽपि' इत्यादिसे ।

ब्रह्मज्ञान दृष्टार्थक है । प्रकृतमें क्या अविद्याका नाशमात्र दृष्ट अर्थ विवक्षित है अथवा इससे अधिक कुछ और यह अधिकारके निरूपणसे ही ज्ञात हो सकता है, अन्यथा नहीं ॥१९७॥

प्रथम पक्षमें कहते हैं—'अविद्या' इत्यादिसे ।

आत्माके यथार्थ ज्ञानकी उत्पत्तिमात्रसे दृष्ट अविद्यानिवृत्तिरूप फलसे पुरुषार्थ—मोक्ष—सिद्ध हो जाता है, इसलिए तदतिरिक्त किसी भी फलान्तरकी इच्छा नहीं होती है ॥ १९८ ॥

अविद्याघस्मरज्ञानजन्ममात्रावलम्बिनः ।
पुमर्थादधिकं धीमान् किं वा कामयते परम् ॥१९९॥
भिद्यते हृदयग्रन्थिरित्याद्यपि च यत्फलम् ।
अविद्यानाश एवैतदन्तर्भवति नो पृथक् ॥२००॥
नाऽसङ्गात्मविदा किञ्चिद्ग्रन्थिरात्मनि वीक्ष्यते ।
अन्योन्याध्यासरूपस्य ग्रन्थेर्बोधे निवर्त्तनात् ॥२०१॥
नन्वविद्यानाशमात्रं दृष्टं विद्याफलं यदि ।
अधीतवेदवेदार्था मुच्येरन्नखिलास्तदा ॥२०२॥

उक्त अर्थके ही स्पष्टीकरणके लिए फिर कहते हैं—'अविद्याघ' इत्यादिसे ।

वेदान्तवाक्यसे अविद्यानाशक ज्ञानके लाभमात्रके अधीन मोक्षरूप पुरुषार्थ सिद्ध हो जाता है, इसलिए इससे अधिक और कुछ बुद्धिमान् क्या चाहेगा ? अर्थात् कुछ नहीं ॥ १९९ ॥

अविद्यानाशसे अतिरिक्त 'भिद्यते हृदयग्रन्थिः' इत्यादि वचनसे हृदयग्रन्थ्यादि का भेदन आदि भी ज्ञानका ही फल श्रुत है, अतः उनकी इच्छा उसे क्यों नहीं होती ? इसपर कहते हैं—'भिद्यते' इत्यादिसे ।

उक्त फल अर्थात् हृदयादि-ग्रन्थिके उच्छेद आदि अविद्यानाशके अन्तर्भूत होनेसे पृथक् नहीं कहे जा सकते ॥ २०० ॥

अविद्याकी निवृत्तिसे आत्मामें कर्तृत्वादि अध्यासकी निवृत्ति होती है, इस सिद्धान्तको विद्वानोंके अनुभवसे दृढ़ करनेके लिए कहते हैं—'नाऽसङ्गात्म०' इत्यादिसे ।

'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' इस श्रुतिके अनुसार जो आत्माको असंग जानता है, वह आत्मामें कोई ग्रन्थि नहीं देखता, आत्माका यथार्थ बोध होनेसे अन्योन्याध्यास-रूप ग्रन्थिकी निवृत्ति हो जाती है ॥ २०१ ॥

ज्ञानका अविद्यानिवृत्तिरूप दृष्ट फल माननेमें अतिप्रसंग होगा अर्थात् उपनिषत्का परिशीलन करनेवाले सभीकी अविद्याकी निवृत्ति देखी नहीं जाती, यह कहते हैं—'नन्वविद्या०' इत्यादिसे ।

वेदान्तविद्याका फल यदि अविद्याकी निवृत्तिमात्र है, तो वेद और वेदार्थका अध्ययन करनेवाले सभी अविद्याकी निवृत्ति होनेसे मुक्त हो जायँगे ॥ २०२ ॥

मैवं विद्योदयो नास्ति प्रतिबन्धक्षयं विना ।
अधीतवेदवेदार्थोऽप्यत एव न मुच्यते ॥२०३॥
प्रतिबन्धोऽप्रस्तुतश्चेद्बोधस्योदय ऐहिकः ।
आमुष्मिकोऽन्यथेत्याह व्यासः सूत्रेण निर्णयम् ॥२०४॥

प्रतिबन्धककी निवृत्तिके विना अध्ययन करनेपर भी विद्या नहीं उत्पन्न होती है, इसे कहते हैं—'मैवम्' इत्यादिसे ।

प्रतिबन्धकके क्षयके विना विद्या उत्पन्न ही नहीं होती, अतः वेद और वेदार्थका अध्ययन करनेपर भी सब मुक्त नहीं होते हैं ॥२०३॥

प्रतिबन्धक दो प्रकारके होते हैं, एक ऐहिक और दूसरे आमुष्मिक, इसे कहते हैं—'प्रतिबन्धो' इत्यादिसे ।

'सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्' इस सूत्रसे छोटे बड़े सब कर्म विद्याके साधन हैं, इसका निर्णय करनेके प्रसङ्गमें यह विचार करनेके लिए सन्देह किया गया है कि इसी जन्ममें विद्याफल होता है या जन्मान्तरमें ? इसी जन्ममें विद्या-रूप फल होना चाहिए, कारण कि जन्मान्तरमें विद्या हो, इस कामनासे श्रवणादिमें किसीकी भी प्रवृत्ति नहीं होती, किन्तु इसी जन्ममें विद्या हो, इसी कामनासे श्रवणादिमें पुरुष प्रवृत्त होता है, ऐसा पूर्वपक्ष करके कहा है कि इसी जन्ममें विद्या होती है, कब ? 'असति प्रस्तुतप्रतिबन्धे' अर्थात् जब जन्मान्तरीय कर्म-विपाक विद्योत्पत्तिप्रतिबन्धक न रहे, तब इसी जन्ममें विद्या उत्पन्न होती है ।

कर्मोंका विपाक देश, काल और निमित्तके अधीन होता है । जो देश, काल तथा निमित्त एक कर्मके विपाकके निमित्त हैं, वे ही दूसरे कर्मोंके विपाकके निमित्त हैं, ऐसा नियम नहीं है, शास्त्र भी इस कर्मका यह फल है, इतना ही बतलाता है, उनके विपाकके निमित्त अमुक देश और अमुक काल आदि हैं, ऐसा विशेषरूपसे नहीं बतलाता, अतः जन्मान्तरीय प्रतिबन्धक कर्मोंके रहनेपर इस जन्ममें विद्या नहीं होती, किन्तु प्रतिबन्धकोंके निवृत्त होनेपर जन्मान्तरमें विद्या अवश्य होती है ।

और जो यह कहा गया है कि जन्मान्तरमें विद्या प्राप्त हो, इस उद्देश्यसे श्रवणादिमें किसीकी प्रवृत्ति नहीं होती ? वह ठीक नहीं है, क्योंकि इस जन्ममें अथवा जन्मान्तरमें विद्या हो, इस तात्पर्यसे विद्याके साधन श्रवणादिमें प्रवृत्ति होती है ।

प्रतिबन्धक्षयो भूतो भवन्भावी त्रिधा मतः ।
वामदेवशुकादीनां भूतो गर्भेऽवबोधनात् ॥२०५॥
वर्त्तमानोऽस्मदादीनां शृण्वन्तोऽपीह जन्मनि ।
ये तत्त्वं नैव बुध्यन्ते तेषां भावीति निश्चयः ॥२०६॥

श्रवणादिसे विद्या उत्पन्न होती है, फिर भी प्रतिबन्धककी निवृत्तिकी अपेक्षा रहती ही है, इससे यह सिद्धान्त हुआ कि प्रतिबन्धकोंके न रहनेपर इसी जन्ममें विद्या होती है और प्रतिबन्धकोंके रहनेपर इस जन्ममें नहीं होती, किन्तु जन्मान्तरमें होती है। अतएव 'अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्' इत्यादि वचन भी संगत होता है।

श्लोकार्थ—यदि प्रतिबन्ध अप्रस्तुत—अवर्तमान—हैं, तो इस जन्ममें विद्योदय होता है, अन्यथा—यदि वर्तमान हैं—तो जन्मान्तरमें विद्योदय होगा, यह 'ऐहिकम्' इत्यादि व्याससूत्रसे—वेदान्तसूत्रसे—निर्णीत है। पापविशेष ही विद्योत्पत्तिमें प्रतिबन्धक है, इसमें प्रमाण अर्थापत्ति और श्रुति है। सामग्री रहनेपर भी यदि किसी पुरुषमें ज्ञान नहीं देखते, तो ज्ञानोत्पत्तिप्रतिबन्धक दुरितविशेषकी कल्पना करते हैं। 'हिरण्यनिधिं निहितमक्षेत्रज्ञा उपर्य्युपरि संचरन्तो न विन्देयुरेवमेवेमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्यः एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्ति' यह श्रुति भी उक्त प्रतिबन्धकके सद्भावमें प्रमाण है। श्रुत्यर्थ—जैसे नीचे सुवर्णनिधि—सोनेकी खान—है, यह नहीं जाननेवाले प्रतिदिन उसीके ऊपरसे आते जाते हैं, पर सोनेकी खानको नहीं जानते, वैसे ही प्रतिदिन सुषुप्ति अवस्थामें ये सब प्राणी ब्रह्ममें प्राप्त होते हैं, किन्तु प्रतिबन्धकवश ब्रह्मको पहचानते नहीं ॥ २०४ ॥

प्रतिबन्धक्षयमें कालनियम कहते हैं—'प्रतिबन्धक्षयो' इत्यादिसे।

भूत, वर्तमान और भविष्यके भेदसे प्रतिबन्धकका क्षय तीन प्रकारका है। वामदेव तथा शुक आदिका प्रतिबन्धक्षय भूत था, इसलिए गर्भमें ही, जहाँ कि विद्यासाधनसामग्रीके सद्भावकी संभावना भी नहीं हो सकती, प्रतिबन्धका क्षय होनेपर जन्मान्तरके श्रवणादिसे ही विद्या उत्पन्न हो गई ॥ २०५ ॥

वर्तमान और भावी प्रतिबन्धका क्षय बतलानेके लिए कहते हैं—'वर्तमानो' इत्यादिसे।

न चास्मदादिबोधस्य बोधाभासत्वशङ्कया ।
प्रतिबन्धः कल्पनीयोऽनुभूतिः शङ्क्यते कथम् ॥२०७॥
असंदिग्धाविपर्यस्तबोधः शास्त्रान्निजात्मनि ।
उदितश्चेत्ततोऽन्या काऽनुभूतिः प्रार्थ्यते वद ॥२०८॥
बोधेऽप्यनुभवो यस्य न कथंचन जायते ।
तं कथं बोधयेच्छास्त्रं लोष्टं नरसमाकृतिम् ॥२०९॥

हम लोगोंका प्रतिबन्धक्षय वर्तमान है। इस जन्ममें वेदान्त द्वारा आत्म-श्रवण करते हुए भी जिनको तत्त्व-ज्ञान नहीं होता, उनका प्रतिबन्धक्षय भावी है, यही निश्चय होता है ॥ २०६ ॥

आधुनिकोंको अप्रतिबद्ध आत्मज्ञान नहीं है, इसका अभिप्राय क्या यह है कि असंदिग्ध और अविपर्यस्त ज्ञान नहीं है अथवा ज्ञान होनेपर भी अनुभवात्मक प्रत्यक्ष नहीं है, जैसे कि शब्द द्वारा परकीय दुःखका परोक्षात्मक ज्ञान होनेपर भी स्वदुःखा-नुभवके सदृश उसका ज्ञान नहीं होता, अथवा संशय देखनेमें आता है या रागादि चित्तदोषकी निवृत्ति ही नहीं हुई? इनमें प्रथम पक्ष तो ठीक नहीं है, क्योंकि असन्दिग्ध तथाअविपर्यस्त अनुभव प्रत्यक्षसिद्ध है, अतः ऐसा ज्ञान ही नहीं होता, यह अपलाप नहीं कर सकते, यह कहते हैं—'न चास्मदादि०' इत्यादिसे ।

हम लोगोंके अपने बोधमें आभासत्वकी शङ्कासे प्रतिबन्धकी कल्पना उचित नहीं है, क्योंकि वह आत्मबोध अनुभूतिस्वरूप है। प्रत्यक्षमें आशङ्का नहीं हो सकती। जैसे घटादिका प्रत्यक्ष होनेपर घटादि प्रत्यक्ष हुआ या नहीं, यह शङ्का नहीं होती, वैसे ही तादृशात्मसाक्षात्कार होनेपर तादृश ज्ञान हुआ या नहीं, यह शङ्का भी नहीं हो सकती, अतः हम लोगोंके आत्म-ज्ञानमें प्रतिबन्धकी कल्पना सर्वथा अनुचित है ॥ २०७ ॥

द्वितीय पक्षका निराकरण करनेके लिए कहते हैं—'असंदिग्धा०' इत्यादिसे।

शास्त्रसे असंदिग्ध और अविपर्यस्त बोधका जब आत्मामें उदय हो गया फिर उससे अतिरिक्त किस अनुभवको चाहते हो, कहो। [वाक्य द्वारा हुआ परकीय दुःखका ज्ञान परोक्ष है, प्रत्यक्ष नहीं है, यह कह सकते हैं। प्रकृतमें आत्मा नित्यापरोक्षस्वरूप है, अतः ऐसे आत्माका ज्ञान प्रत्यक्षात्मक नहीं है, यह नहीं कह सकते] ॥ २०८ ॥

अपरोक्षवस्तुविषयक ज्ञानसे अतिरिक्त अनुभव नहीं है, ऐसा निश्चय करने-वाले मन्द हैं, यह कहते हैं—'बोधेऽप्यनु०' इत्यादिसे।

यस्य त्वनुभवे शङ्का प्रतिबन्धोऽस्तु तस्य सः।
किं नश्छिन्नमशङ्कस्य बोधस्तेन न वार्यते ॥२१०॥
रागो लिङ्गमबोधस्येत्युक्तं यत्तत्तथैव हि।
आत्मधर्मतया रागं मन्वानो नहि तत्त्ववित् ॥२११॥
रागो जडस्य धर्मश्चेत्किमायातं चिदात्मनि ॥
रागादिहीन आत्मैव बोध्योऽस्माभिर्न चेतरः ॥२१२॥

अपने बोधमें जिसे अनुभव नहीं होता, उस नराकृति लोष्टको शास्त्र कैसे बोध करा सकता है, अर्थात् शास्त्र व्युत्पन्न पुरुषके लिए है, जो लोष्टवत् जड़ हैं, केवल आकारमात्रसे मनुष्य कहलाते हैं, उन्हें शास्त्र द्वारा भी बोध नहीं हो सकता, शास्त्र योग्यके लिए है, अयोग्यके लिए नहीं है ॥२०९॥

तृतीय विकल्पका निराकरण करनेके लिए कहते हैं—'यस्य त्वनुभवे' इत्यादिसे।

जिसको अनुभवमें शङ्का है, उसके लिए प्रतिबन्ध हो, इसमें हमारी कौन-सी हानि है। किन्तु जिसको संशय नहीं है, उसके आत्मज्ञानका निराकरण नहीं हो सकता ॥२१०॥

चतुर्थ विकल्पका अनुवाद करते हैं—'रागो लिङ्ग०' इत्यादिसे।

राग ही अबोधका सूचक है, यह आप्तोंका कहना बहुत ठीक है, किन्तु जो रागको आत्माका धर्म मानता है, वह तत्त्वज्ञानी नहीं है। भाव यह है कि नित्य कर्मोंके अनुष्ठान द्वारा रागादि दोषोंकी निवृत्तिके विना चित्त शुद्ध नहीं होता। और चित्तशुद्धिके विना तत्त्वज्ञानकी उत्पत्ति नहीं होती। इसलिए जिसके चित्तमें रागादि दोष विद्यमान हैं, वह तत्त्वज्ञानी नहीं हो सकता। और जो रागादिको आत्मधर्म मानता है, उसमें तो तत्त्वज्ञानकी सम्भावना भी नहीं है ॥२११॥

'रागो लिङ्गमबोधस्य' इत्यादि अभियुक्तवचनका तात्पर्य कहते हैं—'रागो जडस्य' इत्यादिसे।

यदि राग जड़का धर्म है, अर्थात् त्रिगुणात्मक मनका रजःप्रधान परिणाम राग है, और परिणामात्मक धर्म परिणामी मनमें रहता है, आत्मामें नहीं, तो चित्तमें राग रहनेसे आत्मामें क्या आया अर्थात् रागसे मन दूषित होता है, आत्मा तो सदा शुद्ध ही है। जपाकुसुमकी रक्त छायासे वस्तुतः स्फटिक अरुण नहीं होता, इसलिए आत्मा रागादिशून्य है, यही तो हम लोग समझाते हैं। जो रागादियुक्त है, वह आत्मा नहीं है ॥२१२॥

बोधात् पुराऽपि नीराग आत्मेति यदि मन्यसे।
स्वस्ति तेऽस्तु नमस्यामो यथाशास्त्रार्थवादिनम् ॥२१३॥
पुरेत्थं चेन्न जानासि जानीह्यथ श्रुतेर्मुखात्।
यदावरकमज्ञानं तद्बोधेन विनश्यति ॥२१४॥
आत्मन्यतिशयः कश्चिन्न कोऽपीत्येतदुत्तरम्।
चित्ते वाऽतिशयः कश्चिद्बोध एवेति विद्धि भोः ॥२१५॥

यदि अन्तःकरणवर्ती रागकी अनुवृत्तिसे संसारदशामें आत्मामें रागकी प्रतीति होती है, वस्तुतः आत्मामें राग नहीं है, तो तत्त्वज्ञानकी क्या आवश्यकता, क्योंकि आत्मा सदा नीराग है, यही तो तत्त्वज्ञान है, यही कहते हैं— 'बोधात् पुरापि' इत्यादिसे।

तत्त्वज्ञानोत्पत्तिसे प्रथम ही आत्मा सदा नीराग है, यह यदि आप मानते हैं, तो शास्त्रानुकूल आत्मस्वरूपवादी आपको हम नमस्कार करते हैं ॥२१३॥

बोधसे पहले इस ज्ञानको माननेसे बोध व्यर्थ होता है, इस शङ्काकी निवृत्तिके लिए कहते हैं—'पुरेत्थं चेन्न' इत्यादिसे।

रागप्रतीति आत्मा और मनमें समान है, क्योंकि 'रक्तं मे मनः' 'अहं रागवान्' यह उभयथा व्यवहार होता है। फिर भी मनमें वास्तविक है और आत्मामें औपाधिक है, यह निश्चय कैसे हो सकता है? क्योंकि आरोपके निमित्त अज्ञानके रहनेपर आरोपका ज्ञान नहीं होता। अतः श्रुति द्वारा उसका ज्ञान होनेपर उसके निमित्त अज्ञानकी निवृत्ति होनेसे वस्तुतः रागादि आत्मामें आरोपित हैं, वास्तविक नहीं हैं, यह निर्णय होता है, अतः तादृश ज्ञानकी निवृत्तिके लिए बोध सार्थक है, व्यर्थ नहीं है। श्लोकार्थ—बोधसे पहले रागादि आत्मामें आरोपित हैं, यह यदि नहीं जानते, तो श्रुतिसे जानो, जो आरोपका निमित्त आवरक अज्ञान है वह तो श्रुतिजन्य बोधसे—नीरागात्मविषयक बोधसे—नष्ट होता है ॥२१४॥

आत्मामें बोधसे पहले या बादमें कोई अतिशय नहीं है, इसे कहते हैं— 'आत्मन्यतिशयः' इत्यादिसे।

बोधकी अनुत्पत्तिकी अवस्थासे बोधकी उत्पत्तिकी अवस्थामें आत्मामें कुछ अतिशय है, या नहीं, इसका उत्तर देते हैं—नहीं, आत्मामें कुछ अतिशय नहीं हो सकता, क्योंकि आत्मा अनाधेयातिशय है, अतएव कूटस्थ नित्य है।

न रागो नष्ट इति चेदत्यल्पमिदमुच्यते ।
जाड्यं यच्चित्तगं नैतन्नष्टमित्यपि चोदय ॥२१६॥
स्वभावश्चेद्धियो जाड्यं रागः किं परतो भवेत् ।
रागाख्यवृत्तिः परत इति चेत् परमीरय ॥२१७॥
भोग्यसौन्दर्यविज्ञानं तत्परं रागकारणम् ।
यदि तर्हि विजानीहि भोग्यदोषं प्रमाणतः ॥२१८॥

अच्छा तो आत्मामें न सही, चित्तमें कुछ अतिशय है ? हाँ, अज्ञानावस्थासे ज्ञानावस्थामें चित्तमें तादृश बोध ही अतिशय है, अतिरिक्त नहीं । अज्ञानकी निवृत्तिसे आत्मामें क्या अतिशय हो सकता है ? नहीं, क्योंकि अविद्याकी निवृत्ति आत्मस्वरूप ही है, आत्मासे अतिरिक्त नहीं है ॥२१५॥

तत्त्वज्ञानसे चित्तगत राग नष्ट नहीं होता है अतएव 'रागो न नष्टः' ऐसी प्रतीति होती है, यह शङ्का करते हैं—'**न रागो नष्ट**' इत्यादिसे ।

ज्ञानोत्पत्ति होनेपर भी 'रागो न नष्टः' यह प्रतीति होती है, यदि आप ऐसी शङ्का करते हैं, तो यह आपकी शङ्का बहुत थोड़ी है । आपको यह भी शङ्का करनी चाहिए कि चित्तकी जड़ता भी नष्ट नहीं हुई ॥२१६॥

यदि यह कहिए कि जाड्य बुद्धिका स्वभाव है, क्योंकि बुद्धि प्रकृति अचेतन (जड) है, इसलिए तत्परिणाम बुद्धि भी जड़ है । पदार्थका स्वभाव यावत्पदार्थानुवृत्ति अनुवृत्त होता है, स्वभाव निवृत्त होनेपर पदार्थ ही निवृत्त हो जायगा । यदि औष्ण्य और प्रकाशके न रहनेपर अग्नि नहीं रहती, तो राग क्या जाड्यकी तरह स्वाभाविक नहीं है ? यही शङ्का करते हैं—'**स्वभावश्चेद्**' इत्यादिसे ।

जाड्य यदि बुद्धिका स्वभाव अर्थात् स्वाभाविक धर्म है, तो राग क्या परतः अर्थात् औपाधिक धर्म है ? जाड्यकी तरह राग भी स्वाभाविक ही है। यदि राग स्वाभाविक नहीं है, परोपाधिनिमित्तक है, तो पर कौन है ? यन्निमित्तक बुद्धिमें रागादि होता है, उसे कहो ॥ २१७ ॥

जाड्यके सदृश राग स्वाभाविक नहीं है, किन्तु कादाचित्क है । राग, द्वेष, मोह आदि बुद्धिमें एक विषयमें क्रमसे होते हैं, परस्पर विरोधात्मक होनेसे एक कालमें

गुणदोषदृशौ भोग्यरागवैराग्यकारणे ।
ब्रह्मबोधात् पुरा सिद्धे बोधादूर्ध्वं च तत्तथा ॥२१९॥
परमानन्दबोधे तु तदन्यस्यास्ति दुष्टता ।
अर्थसिद्धेति चेन्नैवमल्पानन्दाविचारणात् ॥२२०॥

नहीं होते । विषयभेदसे तो एक कालमें भी होते हैं । तात्पर्य यह है कि विषय अथवा कालका भेद विरोधपरिहारके लिए आवश्यक है, अतएव रागादि औपाधिक हैं, स्वाभाविक नहीं हैं, ठीक है । फिर भी रागादिनिवर्तक विषयदोषदर्शन ही है, यही कहते हैं—'भोग्यसौन्दर्य्य०' इत्यादिसे ।

भोग्यपदार्थ—कामिनी, स्रक्, चन्दन आदि—के सौन्दर्यका विज्ञान रागका प्रधान कारण है यदि यह मानते हैं, तो श्रुति स्मृत्यादिप्रमाण द्वारा भोग्य विषयोंके दोषोंको भी जानिये ? आपाततः विषयसौंदर्यज्ञानसे राग होता है उसके बाद उसमें प्रवृत्ति होती है । यदि प्रमाण द्वारा दोषज्ञान हो जाय, तो रागकी निवृत्ति हो जायगी और उसके अधीन विषयोंके उपभोगमें प्रवृत्ति भी न होगी ! रजतभ्रान्ति, तन्मूलक राग और प्रवृत्ति जैसे पुरोवर्तीमें शुक्तितत्त्वज्ञानसे नहीं होती वैसे ही विषयोंमें यथार्थज्ञानसे रागादिकी भी निवृत्ति होती है ॥२१८॥

जाड्यकी आपेक्षासे रागमें कादाचित्कत्व वैलक्षण्य है, फिर भी रागादिका निवर्तक विषयोंमें दोषदर्शन ही है । यह न समझिये कि 'रागो न नष्टः' इस अभियुक्तवचनसे रागकी निवृत्ति न होगी, अतएव ब्रह्मबोधकी क्या संभावना ? इस तात्पर्यसे कहते हैं—'गुणदोषदृशौ' इत्यादिसे ।

भोग्यमें रागका कारण गुणज्ञान है और वैराग्य का कारण दोषज्ञान है। ब्रह्मके बोधसे पहले ये दोनों प्रसिद्ध हैं, किन्तु ब्रह्मज्ञानके उत्तर गुणज्ञानके मिथ्या होनेसे गुण भी दोष ही है ॥ २१९ ॥

सांसारिक दशामें जिसको गुण मानते हैं ब्रह्मज्ञान होनेपर वस्तुतः वह भी दोष ही प्रतीत होता है, यही कहते हैं—'परमानन्द' इत्यादिसे ।

ब्रह्मानन्दका बोध होनेपर ब्रह्मातिरिक्त सबमें दोष ही है यह तो अर्थादेव सिद्ध हो जाता है, इसलिए फिर दोषदर्शनकी आवश्यकता नहीं है, इस भ्रमकी निवृत्तिके लिए कहते हैं—'अल्पानन्द' इत्यादि ।

ब्रह्मानन्दके द्रष्टाको क्षुद्रानन्दमें इच्छा ही नहीं होगी, फिर विषयदोष-

नहि लब्धगजेनापि राज्ञाऽश्वस्त्यज्यते क्वचित् ।
रुग्णोऽश्व इति जानंस्तु त्यजेदेव न संशयः ॥२२१॥
ब्रह्मबोधो ब्रह्मतत्त्वं बोधयेन्नान्यवस्तुषु ।
दोषं बोधयते तस्य तद्बोधाविषयत्वतः ॥२२२॥
मिथ्यात्वदोषो बुद्धश्चेद्रागोऽप्येष विबुध्यते ।
रागः सत्यो भोग्यजातं मिथ्येति नहि शास्त्रधीः ॥२२३॥

दर्शनकी क्या जरूरत ? यह ठीक नहीं है, क्योंकि अधिक आनन्द मिलनेपर भी क्षुद्र आनन्दकी अभिलाषा दोषदर्शन ही से निवृत्त हो सकती है अन्यथा नहीं । अन्वय और व्यतिरेक प्रदर्शन द्वारा यही कहते हैं—'नहि लब्धगजेनापि' इत्यादिसे ।

हाथी मिलनेपर भी राजा घोड़ा नहीं छोड़ता है। घोड़ा रोगी है या कुलक्षण है यह जाननेपर अवश्य ही छोड़ देता है । अधिक लाभ होनेपर भी स्वल्प लाभको कोई नहीं छोड़ता, क्योंकि वह भी लाभ ही है । तृष्णाकी शान्ति विषयके लाभसे नहीं होती प्रत्युत बढ़ती है, इसीसे मनुजीने कहा है—'न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति' इत्यादि । दोषदर्शन त्यागका कारण है, अधिक लाभ हो,या न हो फिर भी दोषके ज्ञानसे अश्वादिका त्याग होता ही है ॥२२१॥

ब्रह्मज्ञान होनेपर विषयदोषदृष्टिकी आवश्यकता नहीं रहती, इसका अभिप्राय क्या है ? क्या ब्रह्मके सदृश दोष भी ब्रह्मज्ञानका विषय है, इसलिए अन्य दोषज्ञान की अपेक्षा नहीं रहती अथवा ब्रह्मज्ञानसे विषयके मिथ्यात्वका निश्चय होता है, मिथ्यात्वके निश्चयसे ही विषयमें प्रवृत्ति न होगी, फिर उसके लिए दोषदर्शनकी क्या अपेक्षा ? इसमें प्रथम कल्पके निराकरणके लिए कहते हैं—'ब्रह्म' इत्यादिसे ।

ब्रह्मबोध ब्रह्ममात्रको विषय करता है विषयदोषको नहीं, अतः विषयदोषके दर्शनकी आवश्यकता है, क्योंकिविषयदोषदर्शनके बिना रागादिकी निवृत्ति नहीं हो सकती। ब्रह्मबोध दोषाविषयक है, अतः दोषज्ञान ब्रह्मज्ञानसे नहीं हो सकता ॥ २२२ ॥

द्वितीय पक्षके अभिप्रायसे कहते हैं—'मिथ्यात्व' इत्यादिसे ।

यदि विषयमें मिथ्यात्व दोष जान लिया, तो रागमें भी मिथ्यात्व दोष जान लिया है । ['रागेऽप्येष' ऐसा पाठ होना चाहिए, 'रागोऽप्येष' यह पाठ ठीक नहीं

मिथ्यैवागामिजन्मापि प्रसज्येतेति चेन्न ते ।
भोग्यं तद्रागजन्मानि मिथ्येत्येवं विजानतः ॥ २२४ ॥

सन्त्वनेकानि जन्मानि शास्त्रात्तत्त्वमजानतः ।
ज्ञानाज्ञानकृते मोक्षजन्मनी इति हि स्थिति ॥ २२५ ॥

जान पड़ता] राग सत्य है, भोग्यजात मिथ्या है; ऐसा तो शास्त्र नहीं है अर्थात् ब्रह्मातिरिक्त सब मिथ्या है, यह शास्त्रका आदेश है । इसके अनुसार जैसे विषय मिथ्या है वैसे ब्रह्मातिरिक्त राग भी मिथ्या ही है । सत्यज्ञान होनेपर मिथ्या-ज्ञान तथा उसका विषय इन दोनोंकी अनुवृत्ति नहीं होती है, यह शुक्त्यादि-ज्ञानस्थलमें देखा गया है ॥२२३॥

'मिथ्यैवागामिजन्मापि' इत्यादि । यदि ब्रह्मातिरिक्त सब मिथ्या है, तो आगामी जन्म भी मिथ्या ही है, ऐसी शङ्का आप न करें, क्योंकि भोग्य और रागजन्म ये सब-के-सब मिथ्या हैं, इस प्रकार जाननेवालोंका जन्म ही नहीं होता । यदि इनके जानकार आप भी हैं, तो फिर आपका जन्म होगा ही नहीं । फिर मिथ्यात्वप्रसक्तिकी क्या शङ्का ? जिन लोगोंको ऐसा ज्ञान नहीं है वे लोग अजन्माका भी जन्म मानते ही हैं । भाव यह है कि आत्मज्ञानसे अज्ञानकी निवृत्ति होनेपर फिर मिथ्याज्ञानकी अनुवृत्ति नहीं होती और मिथ्याज्ञानकी अनुवृत्तिके विना रागादिकी अनुवृत्ति नहीं होती ॥२२४॥

'सन्त्वनेकानि' इत्यादि । जो शास्त्र द्वारा आत्मतत्त्व नहीं जानते उनके अनेक जन्म हों । कारण कि अज्ञानकृत जन्म है और ज्ञानकृत मोक्ष है, यह वेदान्तसिद्धान्त है अर्थात् आत्माका वास्तविक जन्म तो होता नहीं, जन्म तो शरीरेन्द्रियादिका होता है । लेकिन जिन्हें शरीरेन्द्रियादिमें आत्माका तादात्म्याध्यास है उन्हें शरीरेन्द्रियादिकी उत्पत्ति ही आत्माकी उत्पत्ति भासित होती है । उनको अनेक जन्म मानना ही पड़ता है । किन्तु जिन्हें श्रुत्यादि प्रमाणसे 'आत्मा कूटस्थ नित्य निर्विकार है' यह ज्ञान है, उन्हें 'आत्मा नित्यशुद्धमुक्तस्वरूप है संसारी नहीं है' इस प्रकार ज्ञान है और अज्ञानसे ही मुक्त और संसारी आत्मा कहा जाता है ॥२२५॥

ब्रह्मज्ञान होनेपर भी यदि रागकी अनुवृत्ति कहते हैं, तो रागके सम्पादनमें

इयताऽपि प्रयासेन रागः सम्पाद्य एव किम् ।
इति चेन्न वयं रागं सम्पादयितुमुद्यताः ॥ २२६ ॥
रागं द्विषन्भवान्ब्रह्मनिष्ठां त्यक्तुमिहोद्यतः ।
तस्य ते ब्रह्मनिष्ठायास्तं त्यागं वारयाम्यहम् ॥ २२७ ॥

आपका आग्रह प्रतीत होता है, इस शङ्काकी निवृत्तिके लिए कहते हैं—'इयताऽपि प्रयासेन' इत्यादिसे ।

ब्रह्मार्पणबुद्धिसे नित्य-नैमित्तिक कर्मोंका अनुष्ठानपूर्वक श्रवणादि करनेपर भी रागानुवृत्तिकी शङ्कासे विषयदोषदर्शनकी आवश्यकता बतलाते हैं, अतः प्रतीत होता है कि सर्वथा रागकी निवृत्ति उक्त उपायसे भी आप नहीं मानते, अतः विषयदोषदर्शनरूप उपयान्तरका उपदेश देते हैं। ठीक है, यदि सर्वथा राग निवृत्त हो जायगा, तो मोक्षमें भी राग न रहेगा, ऐसी दशामें ब्रह्मज्ञानमें अधिकार ही कैसे होगा ? मुमुक्षुत्व भी तो अधिकारीके विशेषणरूपसे श्रुत है, इसलिए विषयराग ही मोक्षका विरोधी होनेसे त्याज्य है, मोक्षका राग नहीं। वह ब्रह्मज्ञान परोक्षात्मक है जिससे श्रवण और मनन आदिमें प्रवृत्ति होती है। साक्षात्कारात्मक ज्ञानके तात्पर्यसे शङ्का ही नहीं हो सकती, क्योंकि उस समय निखिल द्वैतकी निवृत्ति होनेसे कोई है ही नहीं। समाधानका तात्पर्य यह है कि ब्रह्मज्ञान होनेपर भी रागकी अनुवृत्तिमात्रसे ब्रह्मज्ञानमें भी सन्देहसे प्रवृत्ति न होगी, किन्तु व्यापारान्तरमें ही प्रवृत्ति होगी, तो फिर मोक्षरूप परमपुरुषार्थसे वञ्चित रह जायगा। इसलिए सावधान करते हैं कि रागानुवृत्ति-मात्रसे ब्रह्मविद्यामें अनादर नहीं करना चाहिए, किन्तु रागकी उत्पत्तिका स्वीकार करते हुए ब्रह्मचिन्तन आदि कार्यमें तत्पर होना चाहिए। मृगोंके भयसे खेती ही न करना, यह उचित नहीं है। किन्तु खेती करो और साथ-साथ प्रतीकारका उपाय भी करते जाओ। ऐसा करनेसे ही पुरुषार्थ लाभ होता है अन्यथा नहीं। यदि पूर्ववासनावश विषयोंका अभिलाष हो, तो शास्त्रोपदिष्ट दोषदर्शन द्वारा उसकी निवृत्ति करते जाओ, मोक्षादिराग तत्त्वज्ञानविरोधी नहीं है, अतः इनके द्वारा चित्त दूषित नहीं हो सकता, किन्तु श्रवणादिकी प्रवृत्तिमें कारण होनेसे उपादेय है हेय नहीं, इसी अभिप्रायसे कहते हैं—'रागं द्विषन् भवान्' इत्यादि ।

रागमें द्वेष कर आप ब्रह्मभावनाका ही त्याग करनेमें उद्यत हैं, उस ब्रह्मभावनाके त्यागको हम रोकते हैं अर्थात् स्वल्प भयसे महान् अर्थका त्याग उचित नहीं है ।

वृश्चिकादपसर्पन् यः सद्यः सर्पेण मार्यते ।
सोढ्वाऽपि वृश्चिकोत्पन्नं दुखं जीवत्यसौ नरः ॥ २२८ ॥
ब्रह्मनिष्ठामवाप्तस्य रागाद्यवसरः कुतः ।
इति चेत्स्वस्ति ते ब्रह्मनिष्ठायास्तु विरागिणे ॥ २२९ ॥

'अल्पस्य हेतोर्बहु हातुमिच्छन् विचारमूढः प्रतिभासि मे त्वम्' इस न्यायसे दृढ-विश्वासके साथ प्रतीकारपुरःसर ब्रह्मभावना निरन्तर कीजिए, यह तात्पर्य है ॥२२७॥

'वृश्चिकभिया पलायमानस्य सर्पमुखे निपातः' अर्थात् वृश्चिकके भयसे भागते हुए मनुष्यका पैर सर्पके मुखमें ही पड़ा; इस प्रसिद्ध न्यायके अनुसार कहते हैं—'वृश्चिकादपसर्पन्' इत्यादि ।

जो वृश्चिकसे—विच्छूसे—डर कर जल्दीसे सांपके ऊपर गिरता है, उसे सांप शीघ्र ही मार डालता है, परन्तु वृश्चिकका तो दुःख सह कर मनुष्य जीता भी रहता है । तात्पर्य यह है कि स्वल्पदुःखके परिहारके लिए अधिक भयावह उपाय नहीं करना चाहिए। प्रकृतमें रागानुवृत्तिसे ब्रह्मभावनोत्पत्तिमें सन्देह-मात्रसे त्याग कर फिर प्रपञ्चभावनामें लगना वृश्चिकके भयसे भागकर सर्पके ऊपर गिरनेके सदृश है। ब्रह्मविचारमें लगे रहनेसे मुक्ति होगी और प्रपञ्चकी भावनासे तो संसाराग्निमें ही सन्तप्त होना पड़ेगा ॥२२८॥

यदि कहिये कि ब्रह्मकी भावना ही से रागादिकी निवृत्ति हो जायगी, विषय-दोषदर्शनकी जरूरत ही नहीं है, तो इसपर कहते हैं—'ब्रह्मनिष्ठामवाप्तस्य' इत्यादिसे ।

ब्रह्मभावनामें जिसका मन लगा हुआ है, ऐसे मुमुक्षुको रागाद्युत्पत्तिका समय ही कहां ? यदि यह कहो, तो विरागी तथा ब्रह्मनिष्ठ आपका मङ्गल हो अर्थात् यही समीचीन समाधान है, ऐसी बुद्धि ब्रह्मनिष्ठकी ही होती है, दूसरेकी नहीं । सब शास्त्रका निष्कर्ष यही है, अतः आप असंदिग्ध और प्रवुद्ध हो गये । अव आपको कुछ भी समझानेकी आवश्यकता नहीं है ॥२२९॥

यदि वोधसे प्रथम ही रागदिका त्याग हो चुका है, तो फिर रागानुवृत्तिकी शङ्का ही कैसी ? ऐहिक और आमुष्मिक फल भोगमें विरागके विना तो साधन चतुष्टयसंपत्ति ही नहीं होती और विना उक्त संपत्तिके ज्ञानमें अधिकार ही नहीं है । हां, ठीक है, किन्तु कर्म विचित्र होते हैं, अतः जन्मान्तरीय कर्मविपाकसे फिर अष्टावक्रादि

बोधात् प्रागेव संसारदोषदृक्चेद्विरज्यते ।
विरज्यत्वथ पापेन रागश्चेत् स चिकित्स्यताम् ॥ २३० ॥
दोषदृष्टिब्रह्मनिष्ठाद्वयमत्र महौषधम् ।
कर्मजस्याचिकित्स्यस्य भोगादेव निराक्रिया ॥ २३१ ॥
कादाचित्कं रागलेशं चिकित्सितुमशक्नुवन् ।
यो ब्रह्मबोधे सन्देग्धि कदा स्यात्तस्य निश्चयः ॥ २३२ ॥

महर्षियोंकी रागादिकी अनुवृत्ति भी पुराणादिमें प्रसिद्ध है, इसी अभिप्रायसे कहते हैं—'बोधात् प्रागेव' इत्यादिसे ।

ब्रह्मज्ञानसे पहले ही संसारदोषदर्शनशील संसारसे विरक्त हो जाता है । हाँ, विरक्त हो जाता है, किन्तु जन्मान्तरीय पापसे राग द्वारा पुनः संसारप्रवृत्त्युन्मुख भी हो जाता है, इसलिए प्रतीकारके उपायोंका उपदेश आवश्यक है ॥२३०॥

यदि रागादिकी अनुवृत्ति न हो, तो सर्वोत्तम है, प्रतीकारकी आवश्यकता ही नहीं है, किन्तु सबका समान कर्म तो होता नहीं, यदि जन्मान्तरीय दुरदृष्टसे किसी मुमुक्षुको फिर रागकी अनुवृत्ति हो जाय, तो ब्रह्मज्ञानोत्पत्तिमें सन्देह न कर रागादिकी प्रतिक्रियामें ही उसे तत्पर होना चाहिए, इसीलिए पुनः-पुनः शङ्का और समाधान करते हैं—'दोषदृष्टि०' इत्यादिसे ।

विषयदोषदर्शन और ब्रह्मनिष्ठा ये दोनों इसके महौषध हैं । यदि प्रारब्ध कर्मोंसे भोगोंमें उपयुक्त रागादिकी अनुवृत्ति हो, तो वह भोग ही से निवृत्त होगी, क्योंकि भोगजनक अदृष्ट सबसे प्रबल होता है । उसकी प्रतिक्रिया नहीं हो सकती, अतएव—

अवश्यंभाविभावानां प्रतीकारो भवेद्यदि ।
तदा दुःखैर्न लिप्येरन्नलरामयुधिष्ठिराः ॥

इत्यादि महानुभावोंके वचन हैं ।

उक्त अर्थको ही 'स्थूणानिखनन' न्यायसे दृढ़ करनेके लिए कहते हैं—'कादाचित्कम्' इत्यादिसे ॥२३१॥

ब्रह्मचिन्तनके समय राग आदि कदाचित् उत्पन्न हों और उनकी प्रतिक्रिया न करता हुआ यदि कोई ब्रह्मबोध ही में सन्देह करता रहे अर्थात् ब्रह्मज्ञान होगा या नहीं, ऐसा सन्देह करता रहे, तो सन्देह होनेसे प्रवृत्ति शिथिल हो

अज्ञश्चाऽश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
इत्युक्ताः प्रतिबन्धस्य सूचकाः संशयादयः ॥ २३३ ॥
यो जानाति श्रद्दधाति निश्चिनोति च शास्त्रतः ।
प्रतिबन्धो न तस्याऽस्ति मादृशस्य कदाचन ॥ २३४ ॥
प्रतिबन्धविहीनस्य ज्ञानेनाऽज्ञाननाशनम् ।
दृष्टं फलं विजानीयात्तृप्तिर्भोजनतो यथा ॥ २३५ ॥
लभ्यमाने दृष्टफले कृत्स्नकर्मानुष्ठितेः ।
नाऽधिकारो निवार्योऽत्र जिज्ञासोर्मुक्तिकामिनः ॥ २३६ ॥
ननु मानादविज्ञाता विमुक्तिः काम्यते नहि ।
ज्ञातायां स्वात्मरूपत्वात् सुतरां नास्ति कामना ॥ २३७ ॥

जायगी, फिर उसे कब ब्रह्मका निश्चय होगा अर्थात् कभी नहीं, अतः सन्देह सर्वथा हेय है, उसकी निवृत्तिके लिए अवश्य यत्न करना चाहिए ॥ २३२ ॥

अज्ञ, श्रद्धाशून्य और संशयशील नष्ट हो जाता है अर्थात् परमपुरुषार्थ अमृतसे वञ्चित हो जाता है। अज्ञानसे संशय, संशयसे अश्रद्धा, और अश्रद्धासे ब्रह्मज्ञानमें प्रवृत्ति नहीं होती; इसलिए अज्ञान, अश्रद्धा और संशय ये तीनों उक्त प्रवृत्तिमें प्राचीन दैवदुर्विपाकरूप प्रतिबन्धके सूचक हैं ॥ २३३ ॥

'यो जानाति' इत्यादि। आत्मतत्त्वको जो जानता है, श्रद्धा करता है और शास्त्रसे उसे निश्चित कर लेता है; मेरे सदृश उसके ज्ञानका कभी प्रतिबन्ध नहीं है ॥२३४॥

'प्रतिबन्ध०' इत्यादि। प्रतिबन्धशून्यका आत्मज्ञानसे आत्माके अज्ञानका नाशरूप दृष्ट फल जानो, जैसे कि भोजनका दृष्ट फल है—तृप्ति ॥ २३५ ॥

'लभ्यमाने' इत्यादि। जिसका अज्ञाननाशरूप दृष्ट फल देखते हैं, सकल विहित कर्मोंका अनुष्ठान न करनेपर उस मोक्षकामी जिज्ञासुकी ज्ञानाधिकारमें रोक नहीं है ॥ २३६ ॥

अच्छा ज्ञानाधिकारीमें मोक्षकामना यदि विशेषण है, तो अज्ञात अथवा ज्ञात मोक्षमें कामना होती है, यही शङ्का करते हैं—'ननु' इत्यादिसे।

यदि प्रमाणसे मुक्ति अज्ञात है, तो उसमें कामना नहीं हो सकती, क्योंकि 'ज्ञानजन्या भवेदिच्छा' इस न्यायसे इच्छा ज्ञानसे उत्पन्न होती है। यदि ज्ञान ही नहीं हो, तो इच्छा कैसे हो सकती है? और यदि ज्ञात कहें, तो भी मुक्तिके स्वात्मस्वरूप होनेसे उसमें कामना नहीं हो सकती ॥ २३७ ॥

न युक्तं कामना मुक्तौ पुंसां नास्तीति भाषितुम् ।
देशकालानवच्छिन्नसुखाद्यर्थित्वदर्शनात् ॥ २३८ ॥
प्रीत्युत्कर्षो नरैर्लोके काम्यमानोऽभिवीक्ष्यते ।
दृष्टादृष्टार्थसम्बन्धिविषयेष्वविशेषतः ॥ २३९ ॥

अप्राप्त विषयकी इच्छा होती है प्राप्त की नहीं। आत्मस्वरूप होनेसे सदा मुक्ति प्राप्त ही है, तो फिर उसकी इच्छा कैसे? इस शङ्काका समाधान करते हैं— **'न युक्तं'** इत्यादिसे ।

यद्यपि मुक्ति स्वप्रकाश आत्मस्वरूप है, अतएव अज्ञात नहीं हो सकती। और ज्ञानोदयसे पहले प्रमाणान्तरसे वह ज्ञात है, यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि स्वात्मस्वरूप होनेसे वह मानान्तरकी विषय नहीं है, तथापि सामान्यसे ज्ञात है और विशेषरूपसे अज्ञात है, अतएव कामनाकी विषय है, इस अभिप्रायसे कहते हैं—मुक्तिमें पुरुषकी कामना नहीं है, यह नहीं कह सकते, क्योंकि देशकालानवच्छिन्न सुखके अर्थित्वके देखनेसे मुक्तिकामनाकी स्पष्ट प्रतीति होती है। 'निरवधिकं सुखं मे स्यात् कदापि दुःखं मा भूत्' यही देशकालानवच्छिन्न सुखकी प्रार्थना है, यह प्रार्थना सर्वानर्थोच्छेदस्वरूप आत्मस्वरूप मोक्ष ही में पर्यवसन्न होती है।

अब यह शङ्का होती है कि प्रीत्युत्कर्ष मोक्ष नहीं है, किन्तु स्वर्ग है, इसलिए प्रीत्युत्कर्षकाम मोक्षकाम है, यह कैसे निश्चय करते हैं?

उत्तर—दृष्ट हेतु पुत्रादिसे और अदृष्ट हेतु यागादिसे सम्बद्ध प्रीत्युत्कर्षसे अतिरिक्त 'सुखं मे स्यात्' इस प्रार्थनाका विषय प्रीत्युत्कर्ष निर्विशेष होनेसे स्वर्ग नहीं है, स्वर्ग तो क्रियाजन्य होनेसे सविशेष है। और विद्वान् लोग अपवर्गसे अतिरिक्त प्रार्थनाका विषय निरतिशय प्रीत्युत्कर्ष दूसरा है नहीं, ऐसा मानते हैं, क्योंकि स्वर्गादिसुख कर्मजन्य होनेसे कृष्यादिके समान अनित्य और सातिशय हैं और मोक्ष-साध्य नहीं है, किन्तु अभिव्यङ्ग्य है, अतएव नित्य और निरतिशयरूप है॥२३८॥

यदि प्रीत्युत्कर्ष मोक्ष नहीं है, किन्तु स्वर्ग है, तो स्वर्गकाम मोक्षकाम कैसे हो सकता है, और काण्डद्वयका प्रामाण्य कैसे हो सकता है? इसलिए कहते हैं—**'प्रीत्युत्कर्षो०'** इत्यादिसे ।

पुत्रादि दृष्ट हेतुसे और यागादि अदृष्ट हेतुसे सम्बद्ध प्रीत्युत्कर्ष सविशेष दृष्ट है और मोक्षमें प्रीत्युत्कर्ष निर्विशेष है। 'मा न भूवं भूयासं' यह प्रेमातिशय

नाऽन्यत्र परमानन्दादुत्कर्षः पर्यवस्यति ।
परमानन्दरूपा हि विमुक्तिः श्रुतिसम्मता ॥ २४० ॥
आत्यन्तिकसुखप्राप्तिदुःखविच्छेदकाङ्क्षिणः ।
अर्थतो मुक्तिमेवाऽमी कामयन्तेऽखिला जनाः ॥ २४१ ॥
स्वर्गादिकाम्यपि जनो मुक्तिं कामयते खलु ।
मुक्तिं कामयमानोऽन्यत्कटाक्षेणाऽपि नेक्षते ॥ २४२ ॥

आत्मामें ही दृष्ट है। पुत्रविषयक प्रेम पुत्र विशेषित है, तथा स्वर्ग-विषयक प्रेम स्वर्गसे विशेषित है और मोक्ष विषयविशेषसे अविशेषित है। हम सुखी रहें, यह इच्छा, हम पुत्रसे सुखी रहें, स्वर्गसे सुखी रहें, इन इच्छाओंसे विलक्षण है, अतः परमानन्दमोक्ष निरतिशय और निर्विशेषित सुख है, यही स्पष्टार्थ सूचित होता है ॥२३९॥

'नाऽन्यत्र' इत्यादि। परमानन्द मोक्षसे अतिरिक्तमें प्रीत्युत्कर्षका पर्यवसान नहीं है अर्थात् निःसीम प्रीत्युत्कर्ष मोक्षमें ही है, परमानन्दस्वरूप मोक्ष ही है, यह श्रुतिप्रमाणसे सिद्ध है ॥२४०॥

यदि स्वर्गकाम भी मुमुक्षु हो तो कर्म और ज्ञानमें अधिकारीके भेद कैसे होगा, क्योंकि स्वर्गकाम कर्माधिकारी है, और अपवर्गकाम ज्ञानाधिकारी है इस प्रकार अधिकारीका भेद तथा ज्ञानकाण्ड, कर्मकाण्डका भेद और अधिकारी पुरुषके भेदसे काण्डद्वयमें प्रामाण्य भी सिद्ध होता है, परन्तु वह कैसे होगा, इस शङ्काकी निवृत्तिके लिए कहते हैं—'आत्यन्तिक०' इत्यादिसे।

स्वर्गकामना मोक्षविषयक होनेपर भी मुमुक्षु स्वर्गको चाहता ही नहीं आत्यन्तिक सुखकी प्राप्ति और आत्यन्तिक दुःखकी निवृत्ति चाहनेवाला पुरुष अर्थतः अर्थसिद्ध मोक्ष ही चाहता है, क्योंकि स्वर्ग आदिमें आत्यन्तिक सुखकी प्राप्ति तथा आत्यन्तिक दुःखकी निवृत्ति तो है नहीं, और चाहता है यही दोनों, तो फलतः मोक्ष ही चाहता है यही सिद्ध होता है। यही स्पष्ट अर्थके लिए फिर कहते हैं—'स्वर्गादि' इत्यादिसे।

स्वर्गादिकी कामनावाला भी मुक्तिकी कामना करता है और मुक्तिकी कामनावाला पुरुष स्वर्गादिको अनास्थासे भी नहीं देखता अर्थात् यदि स्वर्गादिसे विरक्त होकर ही मुमुक्षु होता है, तो फिर स्वर्गादिकी स्पृहाकी उसे क्या सम्भावना ? ॥२४२॥

तत्र साधनसाध्यत्वान्नाशि स्वर्गादिकं सुखम् ।
अभिव्यञ्जकतन्त्रस्तु मोक्षस्तेनाऽक्षयो मतः ॥ २४३ ॥
ननु नाशिसुखप्राप्तिः पुमर्थो नेष्यते यतः ।
तृष्णया साधयन् प्रीतिं न प्रीतिलवमिच्छति ॥ २४४ ॥
नहि प्रीतेरियत्तायाः स्वर्गशब्दोऽस्ति वाचकः ।
परमानन्दरूपेण स्वर्गशब्दार्थलक्षणात् ॥ २४५ ॥

यदि स्वर्गकामना भी मोक्षकी कामना है, तो स्वर्ग भी मोक्षके सदृश नित्य हो जायगा, इस शङ्काकी निवृत्तिके लिए कहते हैं—'तत्र' इत्यादिसे ।

स्वर्गादि सुख साधनके अधीन होनेसे अनित्य है । जैसे कृष्यादि फल कर्मसे जन्य है, अतएव अनित्य है, क्योंकि जो जो कर्मजन्य होता है, वह अनित्य होता है, ऐसी व्याप्ति निश्चित हो चुकी है । इस कारणसे यागादिक्रियाजन्य होनेसे स्वर्गादि अनित्य है । और मोक्ष कर्मजन्य नहीं है, किन्तु तत्त्वज्ञानसे अभिव्यङ्ग्य होनेसे नित्य है, इस प्रकारका विवेक रखनेवाला नित्य सुखका अभिलाषी पुरुष स्वर्गादिमें प्रवृत्त नहीं हो सकता ॥२४३॥

स्वर्गशब्द वृत्तिविशिष्ट सुखलेशमात्रका वाची है, इसे न माननेवाले शङ्का करते हैं—'ननु नाशि०' इत्यादिसे ।

यदि विनश्वर स्वर्गादि सुखकी प्राप्ति पुरुषार्थ इष्ट नहीं है, तो स्वर्गादिके लिए किसीकी प्रवृत्ति ही नहीं होगी, क्योंकि तृष्णासे प्रीतिके सम्पादनमें प्रवृत्त हुआ पुरुष प्रीतिलेश नहीं चाहता, किन्तु पूर्ण प्रीतिके पानेसे ही सन्तुष्ट होता है । अतः स्वर्ग पुरुषार्थ है, इसलिए वृत्तिविशिष्ट सुखलेश स्वर्गका अर्थ नहीं है, किन्तु मोक्षके सदृश स्वर्ग भी नित्य सुखका वाचक है ॥२४४॥

यदि कहिये कि 'स्वर्गकामो यजेत' इस वाक्यमें श्रुत स्वर्गशब्द अल्प-सुखका वाचक है, अतएव मोक्षका पर्याय नहीं हो सकता; तो इस शङ्काकी निवृत्तिके लिए कहते हैं—'नहि' इत्यादिसे ।

प्रीतिकी इयत्ताका—परिणामविशेषका—वाचक स्वर्गशब्द नहीं है, क्योंकि इयत्ताके—परिच्छिन्न प्रीतिविशेषके—अनन्त होनेसे उसमें स्वर्गशब्दकी शक्ति नहीं हो सकती है, क्योंकि सकलप्रीतिमात्रमें अनुगत धर्मके विना अनन्त व्यक्तिमें शक्तिग्रह नहीं हो सकता, अतः अविशेषित सुखमें स्वर्गपदकी शक्ति माननेसे अपवर्ग भी अवि-शेषित सुखस्वरूप है, अतः स्वर्गशब्द अपवर्गका भी वाचक है । सारांश यह है कि

यन्न दुःखेन सम्भिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम् ।
अभिलापोपनीतञ्च सुखं स्वर्गपदास्पदम् ॥ २४६ ॥
तस्मात् स्वर्गस्य मोक्षत्वादग्निहोत्रादिकर्मणाम् ।
मोक्षसाधनतैवेति मतं चेत्तन्न युज्यते ॥ २४७ ॥
सप्तजन्म भवेद्विप्रो धनाढ्यो वेदपारगः ।
इत्यादिशा स्वतः कर्मफलेयत्ताऽवधार्यते ॥ २४८ ॥

इयत्तासे परिच्छिन्न सुखविशेष ही स्वर्ग है, इससे अधिक सुखविशेष स्वर्ग नहीं है, यदि ऐसा कोई नियम होता, तो स्वर्गसे अधिक सुखात्मक होनेसे स्वर्गपद-वाच्य अपवर्ग नहीं है, यह कह सकते, परन्तु यह है नहीं, किन्तु अविशेषित सुखको स्वर्ग कहते हैं। अविशेषित सुख अपवर्ग भी है, अतः स्वर्गके समान अपवर्ग भी स्वर्गशब्दका अर्थ है, इस तात्पर्यसे कहते हैं—'परमानन्द' इत्यादिसे।

परमानन्दरूप होनेसे मोक्षको भी स्वर्गशब्दसे कहते हैं ॥२४५॥

अर्थवाद वाक्यमें रहनेवाले स्वर्गशब्दके अर्थके स्वरूपके पर्य्यालोचनसे भी स्वर्गशब्द मोक्षवाची है, यह प्रतीति होती है, उसे ही कहते हैं—'यन्न दुःखेन' इत्यादिसे।

जो दुःखसे मिश्रित नहीं है, विनाशी नहीं है, जो सबकी अभिलाषाका विषय है वही सुखविशेष स्वर्गशब्दका वाच्य है। पुत्र, पशु, धन आदिको कोई चाहता है, कोई नहीं चाहता है। किन्तु स्वर्गको सब चाहते हैं, इसी तात्पर्यसे 'स स्वर्गः सर्वान् प्रत्यविशिष्टत्वात्' ऐसा जैमिनि आचार्यका सूत्र है ॥२४६॥

'तस्मात्' इत्यादि। स्वर्गशब्द इयत्ताविशेषविशिष्ट सुखविशेषका वाचक नहीं है, किन्तु अविशेषित सुखविशेषका वाचक होनेसे मोक्षका भी वाचक है, इसलिए स्वर्गसाधन अग्निहोत्रादि कर्म मोक्षसाधन ही हैं, यही मानना चाहिए। यदि स्वर्ग और अपवर्गमें भेद नहीं है, तो तत्साधनमें भी भेद नहीं है, इसका निराकरण करते हैं—तन्न युज्यते इत्यादिसे।

भाव यह है कि कर्मवाचिपदमात्रका इयत्तानवच्छिन्न सुख विशेष अर्थ है या स्वर्गशब्दका ही द्वितीय पक्ष तो युक्त नहीं है, क्योंकि कर्मफल विशेषमें इयन्ताका श्रवण है, । यही कहते हैं—'सप्त' इत्यादिसे।

प्रथम पक्षका निराकरण करते है—'यत्राऽपि' इत्यादिसे।

यत्रापि स्वर्गशब्देन न विशेषोऽवधारितः ।
शास्त्रान्तरेण तत्रापि सविशेषोऽवधार्यताम् ॥ २४९ ॥

'चित्रया यजेत पशुकामः' इत्यादि वाक्यमें यद्यपि पशु आदि पद हैं, तथापि पशु स्वयं पुरुषार्थ नहीं है, किन्तु पशुकी प्राप्ति होनेपर दूधसे उत्पन्न होनेवाला सुख पुरुषार्थ है, अतः उसके द्वारा पशु भी पुरुषार्थ है, इसलिए पशुपदका पशुप्राप्तिजन्य-क्षीरपानसुखविशेष अर्थ होनेसे सुखविशेष यदि मोक्षस्वरूप है, तो चित्रादि यागका भी मोक्ष ही फल है, इसी तरह अग्निष्टोमका भी स्वर्ग फल होनेसे चित्रा और अग्निष्टोम आदि यागोंके फलोंमें सांकर्य हो जायगा, इसलिए पुत्र, पशु आदिसे होनेवाला सुख-विशेष चित्रादि यागका फल है, इससे विशिष्ट प्रीति स्वर्गशब्दका अर्थ है। अच्छा तो विशिष्ट प्रीति भी किसी उपाधिसे विशिष्ट है या अनवच्छिन्न है ? अर्थात् समस्त उपाधियोंसे शून्य ? प्रथम पक्षमें वह मोक्ष नहीं हो सकता । द्वितीय पक्षमें तादृश-सुखविशेष स्वर्गशब्दका प्रवृत्तिनिमित्त ज्ञात नहीं है, क्योंकि ज्ञापक कोई वचन नहीं है, और न वह स्वयंप्रकाश ही है । यदि वह स्वतःप्रकाश माना जाय, तो तादृश सुखके लिए यागका अनुष्ठान ही नहीं हो सकेगा, क्योंकि स्वयंप्रकाश स्वतःसिद्ध है, केवल अज्ञानमात्र व्यवधायक है, उसकी निवृत्तिके लिए ज्ञानकी ही आवश्यकता है। उससे भिन्न यागादि साधनकी आवश्यकता नहीं है। इन कारणोंसे स्वर्गशब्द मोक्षवाची नहीं हो सकता है, किन्तु लोकविशेषमें होनेवाला सुखविशेष ही स्वर्गशब्दका अर्थ है और यही 'स्वर्गकामो यजेत' इस वाक्यमें विवक्षित है । और यहाँपर यह भी दोष है—यदि काम्य कर्मोंका फल भी मुक्ति है, तो सायं तथा प्रातःकालमें आहुति-मात्रसे मोक्षफलकी प्राप्ति हो जायगी, फिर नित्याग्निहोत्र ही व्यर्थ हो जायगा । मुक्ति निरतिशयस्वरूप है, इसलिए फलाधिक्य भी नहीं कह सकते , इसलिए कर्मफल-वाची पदमात्रका मोक्ष अर्थ है, यह नहीं कह सकते ।

श्लोकार्थ—किसी किसी कर्मका फल यह बतलाया गया है कि उसके अनुष्ठानसे सात जन्म ब्राह्मण, धनाढ्य तथा वेदपारग होता है, इस प्रकार इयत्ता-परिच्छिन्न होनेसे कर्मफल मोक्ष नहीं कहा जा सकता ॥ २४८ ॥

द्वितीय पक्षके निराकरणार्थ कहते हैं—'यत्रापि' इत्यादिसे ।

जहां इयत्ताविशेषका अवधारण नहीं है, केवल स्वर्गशब्दमात्रका श्रवण है, वहां भी शास्त्रान्तरसे सविशेषका—इयत्ताविशेषका—निश्चय कर लेना चाहिए, पुण्य

तृष्णया साधकः प्रीतिलवमन्यत्र वाञ्छति ।
पशुवृष्ट्यादिकामानां भूयसामिह दर्शनात् ॥ २५० ॥
अनर्थकोऽन्यथा चित्राकारीर्यादिविधिर्भवेत् ।
स्वर्गलक्षणमप्यस्ति सोमलोकादिभूमिषु ॥ २५१ ॥

और पापका फल क्रमशः सुख और दुःख है, यह निर्विवाद है और मनुष्यलोकसे लेकर ब्रह्मलोक तक सुखमें तारतम्य है अर्थात् उत्तरोत्तर शतगुण अधिक आनन्द है—मनुष्यकी अपेक्षा देवतामें शतगुण आनन्द अधिक है, इसी तरह दुःख-तारतम्य भी है—मनुष्यलोकसे लेकर अवीचि—नरक—लोक तक उत्तरोत्तर दुःखका उत्कर्प भी शतगुण है। साधनके उत्कर्ष और अपकर्षसे फलका उत्कर्प और अपकर्प होता है, क्योंकि काष्ठके उत्कर्ष और अपकर्षसे ज्वालाका उत्कर्ष और अपकर्प सर्वानुभूत है, अतः स्वर्ग सातिशय होनेसे मोक्षपदवाच्य नहीं है ॥२४९॥

यदि स्वर्गादि सुख सातिशय है, तो प्रीतिलवमात्र है और तृष्णासे प्रीतिके साधनमें प्रवृत्त पुरुष पूर्ण प्रीति चाहता है, इसलिए प्रीतिलवके साधन कर्ममें प्रवृत्त ही नहीं होगा, इस शङ्काकी निवृत्तिके लिए कहते हैं—'तृष्णया' इत्यादिसे।

मोक्षातिरिक्त विषयमें प्रीतिलवकी मनुष्य इच्छा करता ही है, अतएव 'उद्भिदा यजेत पशुकामः', 'कारीर्या यजेत वृष्टिकामः' इत्यादि पशु, वृष्टि आदि फलके लिए विधायक वाक्य वेदमें श्रुत हैं। यदि प्रीतिलवकी इच्छा साधकको न होगी, तो उक्त वाक्य व्यर्थ हो जायँगे, इसलिए तत्-तत् फलकी इच्छासे ही तत्-तत् श्रौत और स्मार्त्त कर्मोंके बोधक वाक्य सार्थक होते हैं ॥२५०॥

'अनर्थको' इत्यादि। पशु, वृष्टि आदि फलके लिए चित्रा, कारीरी आदि यागोंका विधान है। उक्त फल प्रीतिलवस्वरूप है, अतः यदि उसमें किसीकी प्रवृत्ति न हो, तो उक्त विधि व्यर्थ हो जायगी। और सोम आदि लोकका सुख भी स्वर्गशब्दका वाच्य अर्थ है। यदि कहो कि सोमलोक आदिका सुख अनित्य है और स्वर्ग शब्दका अर्थ 'न च ग्रस्तमनन्तरम्' के अनुसार अविनाशी है, इसलिए सोम आदि लोकोंका सुख स्वर्गपदका वाच्य नहीं है, तो इसका उत्तर यह है कि मोक्षातिरिक्त निखिल कर्मफल स्वर्गादि अनित्य हैं। 'न च ग्रस्तमनन्तरम्' का यह तात्पर्य है कि सोमादि लोकका सुख मनुष्यलोकके सुखके सदृश क्षणिक नहीं है। इस प्रकार उस वाक्यका तात्पर्य स्तुतिमें है, नित्यत्वके प्रतिपादनमें उसका तात्पर्य नहीं है ॥२५१॥

क्रष्यादिवत्कर्मजन्यस्वर्गस्य क्षयसंश्रवात् ।
न मोक्षरूपता तस्मात् कर्म त्याज्यं मुमुक्षुणा ।। २५२ ।।
प्रत्यक्षश्रुतिविध्यन्तविहितानामकारणात् ।
त्यागेऽतिसाहसं मन्ये ननु यागादिकर्मणाम् ।। २५३ ।।
प्रत्यक्षोपनिषद्वाक्यविहितायास्ततोऽपि च ।
ऐकात्म्यज्ञाननिष्ठायास्त्यागोऽतीव हि साहसम् ।। २५४ ।।

कृषि आदि फलके समान याग आदि क्रियासे जन्य स्वर्ग भी अनित्य ही है, यह कहते हैं—'क्रष्यादि' इत्यादिसे ।

कृष्यादिके सदृश स्वर्ग भी कर्मजन्य है, अतएव विनाशी है, मोक्षस्वरूप नहीं हो सकता, इसलिए मुमुक्षु कर्मका त्याग करे । अतएव 'प्लवा एते' इत्यादि श्रुतिसे यज्ञानुष्ठानशील यजमान आदि प्लव कहलाते हैं, प्लवन्ते—नश्यन्ति—इति प्लवाः अर्थात् यज्ञादि दृढ़ नहीं हैं । 'अक्षय्यम्' इत्यादि वाक्य स्तावक है, क्योंकि 'एवममुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते' 'नास्त्यकृतः कृतेन' इत्यादि वाक्योंके विरोधसे 'अक्षय्यम्' इत्यादि वाक्यका स्वार्थमें तात्पर्य नहीं हो सकता है । इसलिए मुमुक्षुके लिए विनाशी फलके साधन कर्मका त्याग करना ही श्रेयस्कर है ॥२५२॥

अर्थवादवाक्यसे विधिवाक्य बलवान् होता है, अतः कर्मसे भी मुक्ति होती है, ऐसी शङ्का करते हैं—'प्रत्यक्ष' इत्यादिसे ।

स्वप्नान्तशब्दके सदृश विध्यन्तशब्द विधिके तात्पर्यसे प्रयुक्त है, 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुयात्' इत्यादि विधि प्रत्यक्ष है । अपौरुषेय होनेसे मूलप्रमाणकी अपेक्षा नहीं है, किन्तु स्वयंप्रमाण है । इन वचनोंसे विहित अग्निहोत्र आदि श्रेयःसाधन कर्मोंका निष्कारण त्याग करना साहसमात्र है, अतः अग्निहोत्र आदि कर्मसमुच्चित ज्ञानसे मुक्ति माननी चाहिए ॥२५३॥

'शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः' इत्यादि वाक्यसे विरक्तके लिए संन्यास (कर्मत्याग) विहित है 'श्रोतव्यो मन्तव्यः' इत्यादि वाक्यमें विरक्त संन्यासीके लिए ही श्रवणाद्यात्मक ब्रह्मनिष्ठा भी शास्त्रमें कही गई है। समुच्चय पक्षके माननेसे तो उसका त्याग करना पड़ेगा और अनेक उपनिषद्वाक्योंसे निर्णीत अर्थका भी त्याग करना ठीक नहीं है, क्योंकि कर्मोंके त्यागके साहस की अपेक्षासे भी संन्यासका त्याग करनेमें अधिक साहस है, इसलिए केवल ऐकात्म्यज्ञान ही मोक्षका हेतु है, कर्मसमुच्चित ज्ञान मोक्षका साधन नहीं है, यह सिद्धान्त करते हैं—'प्रत्यक्षोप'० इत्यादिसे ।

विचार्यमाणे यत्नेन कर्मत्यागस्य सम्भवात् ।
न किंचित्साहसं त्वस्ति प्रत्यक्षश्रुतिवाक्यतः ॥ २५५ ॥

'शान्तो दान्त' इत्यादि साक्षात् उपनिषद्वाक्योंसे विहित संन्यासस्वरूप ऐकात्म्यज्ञाननिष्ठाके त्यागमें कर्मके त्यागसे भी अधिक साहस है अर्थात् मुमुक्षु कर्मत्यागपुरःसर श्रवणादिकी वृत्तिमें परायण हो और ज्ञानसे ही मुक्ति होती है, ऐसी भावनाको दृढ़ कर ज्ञानसाधनमें ही सदा तत्पर रहे ॥२५४॥

यदि यह कहिए कि कर्मके विधायक वाक्य और कर्मके संन्यासबोधक वाक्योंका परस्पर विरोध होनेसे कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड इन दोनोंमें अप्रामाण्य हो जायगा, क्योंकि 'तदप्रामाण्यमनृतव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्यः' इस न्यायसूत्रसे व्याहतार्थके (विरुद्ध अर्थके) बोधक वाक्य अप्रमाण होते हैं, यह निश्चित किया गया है। त्यागबोधक वाक्यसे कर्मानुष्ठान व्याहत है, और कर्मबोधक वाक्यसे कर्मोंका त्याग व्याहत है, अतः कर्म तथा उसके त्यागके परस्पर व्याहत होनेसे तत्–तत् वाक्योंमें प्रामाण्य हो ही नहीं सकता है, इत्यादि शंकाकी निवृत्तिके लिए कहते हैं—'विचार्य्यमाणे' इत्यादिसे।

'त्यागेनैकेऽमृतत्वमानशुः', 'ब्राह्मणो निर्वेदमायात्', 'यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्' इत्यादि सैकड़ों श्रुतियोंमें संन्यासका—कर्म त्यागका—विधान है, इसलिए अधिकारियोंके भेदसे दोनोंकी अर्थात् कर्म और संन्यासकी व्यवस्था ठीक ही है, क्योंकि जो स्वर्गादि फलसे विरक्त मुमुक्षु हैं, उनके लिए कर्मसंन्यासविधि है और जो स्वर्गादि फलोंमें अनुरक्त हैं, उनके लिए जीवनपर्य्यन्त अनुष्ठानकी बोधक कर्मविधि है, इस प्रकारकी व्यवस्थाके माननेपर कर्मत्यागके साहसकी शङ्का ही नहीं है, क्योंकि यत्नसे पूर्व और अपर प्रकरणोंके अनुसंधानके द्वारा विचार करनेपर कर्मका त्याग ही निर्विरोध हो सकता है, इसलिए उनके त्यागमें साहस है ही नहीं, प्रत्यक्ष श्रुतिसे अर्थात् 'शान्तो दान्त' इत्यादि श्रुतिसे त्यागका विधान प्रत्यक्षसिद्ध है, 'एतावान् वै कामः' इस श्रुतिसे अविरक्त कर्मकाण्डमें अधिकार है। उसको आलस्य, प्रमाद आदिसे कर्मका त्याग नहीं करना चाहिए। 'ब्राह्मणो निर्वेदमायात्' इत्यादि श्रुतिसे विरक्त संन्यासीका ज्ञानकाण्डमें अधिकार है, इस प्रकार अधिकारोंका विभाग

तस्मात्सिद्धोऽधिकारोऽत्र ब्रह्मरूपं विवक्षतः ।
जिज्ञासोरेव कर्त्तुस्तु न सिषाधयिषोरिति ॥ २५६ ॥

इति श्रीविद्यारण्यमुनिविरचिते वार्तिकसारेऽधिकारिपरीक्षानामकं
प्रथमं प्रकरणं समाप्तम् ।

श्रुतिसे सिद्ध ही है, अतः कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्डमें विरोधकी संभावना नहीं है, इसलिए दोनोंमें प्रामाण्य व्यवस्थित है ॥२५५॥

प्रकृतका उपसंहार करते हैं—'तस्मात्' इत्यादिसे ।

दोनों काण्डोंमें अधिकारीका भेद दुर्वार है, ब्रह्मरूप सदानन्द संवित्स्वभावमें प्रवेश करनेकी इच्छावाले मुमुक्षुका ज्ञानकाण्डमें अधिकार है और कर्मकाण्डमें स्वर्गादिफलरागियोंका अधिकार है । ऐकात्म्यज्ञान ही मोक्षका साधन है, कर्म नहीं है, ऐकात्म्य ज्ञानमें जिज्ञासुका ही अधिकार है, सिषाधयिषुका नहीं । मुक्ति नित्य है, क्योंकि वह कार्य नहीं है; यह निष्कर्ष है ॥ २५६ ॥

इति म० म० पण्डितप्रवर श्रीहरिहरकृपालुद्विवेदिविरचित वार्तिकसारके
भाषानुवादमें अधिकारिपरीक्षा नामका प्रथम प्रकरण समाप्त ।



अथ सम्बन्धपरीक्षा

सिद्धेऽधिकारे वेदान्तसम्बन्धोऽथाऽभिधीयते ।
असम्बन्धे तु शास्त्रेऽस्मिन्नधिकार्यप्रवृत्तितः ॥ १ ॥

ज्ञानकाण्डके साथ कर्मकाण्डकी संगति बतलानेके लिए कहते हैं— 'सिद्धेऽधिकारे' इत्यादिसे ।

अधिकारके सिद्ध होनेपर वेदान्तके कर्मकाण्डके साथ सम्बन्धका अभिधान करते हैं, क्योंकि सम्बन्ध कहे बिना अधिकारीकी शास्त्रमें प्रवृत्ति नहीं होगी । अधिकारीके विचारके बाद सम्बन्धके विचारमें हेतु यह है कि यदि कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्डका परस्पर सम्बन्ध न होता, तो कर्मोंके अनुष्ठानके अनन्तर ही अधिकारीकी ज्ञानमें प्रवृत्ति होनी चाहिए, ऐसा नियम नहीं होता और शास्त्रका नियम ऐसा ही है । इसलिए पूर्व और उत्तर काण्डका अवश्य सम्बन्ध कहना चाहिए और पूर्वोत्तरभाव सम्बन्धहेतुक ही होता है, जिसका जिसके साथ सम्बन्ध नहीं होता है, उसका उसके साथ पूर्वोत्तरभाव भी नहीं होता । न्याय और मीमांसा स्वतन्त्र हैं, इसलिए उनमें पूर्वोत्तरभाव नहीं है, ज्ञानकाण्ड और कर्मकाण्डका पूर्वोत्तरभाव है, इसलिए उनका सम्बन्ध अवश्य कहना होगा, अन्यथा कर्मानुष्ठानके बाद ज्ञानमें प्रवृत्ति नहीं होगी ॥ १ ॥

शङ्का—'तस्यास्य कर्मकाण्डेन सम्बन्धोऽभिधीयते' इस भाष्यसे विशेष सम्बन्धाभिधानकी प्रतिज्ञा होनेपर भी 'सर्वोऽप्ययं वेदः प्रत्यक्षानुमानाभ्यामनवगतेष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारोपायप्रकाशनपरः' इस अग्रिम भाष्यसे सम्बन्धविशेषका अभिधान न कर वेदमें इष्ट और अनिष्ट की प्राप्ति और परिहारके उपायरूप अर्थान्तरका अभिधान है, जिसकी जिज्ञासा पूर्व भाष्यसे प्रतीत नहीं होती है, इस अजिज्ञासिताभिधानका तात्पर्य क्या है ?

समाधान—यद्यपि संबन्धविशेषके अभिधानकी प्रतिज्ञा की है, तो भी सम्बन्धविशेष न कहकर प्रथम वेदान्तका प्रामाण्य ही कहते हैं; इसका तात्पर्य यह है कि यदि वेदान्तशास्त्र प्रमाण है, तो कर्मकाण्डके साथ उसका सम्बन्ध बतलाना ठीक होगा, अन्यथा सम्बन्ध कहना ही व्यर्थ है, क्योंकि प्रामाणिकका अप्रामाणिकके साथ वास्तविक सम्बन्ध हो नहीं सकता । अधिकारीकी प्रवृत्तिके लिए पूर्वोत्तरका

सम्बन्ध अपेक्षित होता है, सो यदि उत्तरमें प्रामाण्य ही नहीं होगा, तो अप्रमाण-ज्ञानसे प्रवृत्ति तो होगी नहीं फिर सम्बन्धके कहनेसे क्या फल? इस तात्पर्यसे पहले वेदान्तमें प्रामाण्यका प्रतिपादन करके पश्चात् सम्बन्ध कहना उपयुक्त होगा। चोदनासूत्रमें विधिवाक्यमें ही प्रामाण्य माना गया है, वेदान्तमें विधि है नहीं, इसलिए वेदान्त स्वतः प्रमाण नहीं हो सकता, किन्तु कर्ताके स्वरूपके प्रतिपादन द्वारा कर्मोंका अङ्ग ही है, ऐसी परिस्थितिमें एक शास्त्र होनेसे पूर्वोत्तरभाव ही नहीं है, तो संबन्धाभिधानकी चर्चा ही कैसे हो सकती, इसलिए पहले वेदान्त-प्रामाण्यका ही भाष्यकार प्रतिपादन करते हैं—'सर्वोऽप्ययं वेदः' इत्यादिसे।

अथवा 'तस्यास्य कर्मकाण्डेन संवन्धोऽभिधीयते' यह भाष्य सवन्धविशेषके अभिधानके लिए नहीं है, क्योंकि कर्मकाण्डेन' यह तृतीयान्त नहीं है, किन्तु 'कर्मकांण्डे' यह सप्तम्यन्त पद है; 'न' यह अभावार्थक है, विभक्ति नहीं है। अतः अर्थ यह हुआ कि वेदान्तका कर्मकाण्डमें संवन्ध नहीं कहते, किन्तु वेदान्तमें प्रामाण्यका प्रतिपादन करते हैं; इस तरह 'अभिधीयते' और 'सर्वोऽप्ययं वेदः' यह दोनों भाष्य संगत हो जाते हैं।

सम्बन्धको न कहनेमें तात्पर्य क्या है? तात्पर्य यह है कि कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड ये दोनों भिन्नार्थक हैं या अभिन्नार्थक? दोनों प्रकारसे उनका परस्पर सम्बन्ध नहीं हो सकता, क्योंकि प्रथम पक्षमें भिन्नार्थक न्याय, मीमांसा आदिमें क्या सम्बन्ध है? कुछ नहीं, क्योंकि अनपेक्षित अर्थवाले दो शास्त्रोंकी उभयाकांक्षासे अथवा अन्यतराकांक्षासे भी सम्बन्ध नहीं हो सकता, द्वितीय पक्षमें एकार्थक होनेसे एक ही वाक्य है, जो दो वाक्य ही नहीं हैं, तो उनका पूर्वोत्तर सम्बन्ध कैसा? सम्बन्ध दोका होता है, एकका नहीं होता।

शङ्का—और यह भी शङ्का होती है कि दोनों काण्ड अप्रमाण हैं या प्रमाण? प्रथम पक्षमें विप्रलम्भक वाक्योंके सदृश सङ्गति कहना ही ठीक नहीं है, द्वितीय पक्षमें दोनों प्रमाण है या एक कोई? दोनों प्रकारसे सम्बन्ध नहीं हो सकता, क्योंकि यदि दोनों स्वतन्त्र प्रमाण हैं, तो परस्पर वार्तानभिज्ञ होनेसे सम्बन्ध ही नहीं हो सकता, अगर एक प्रमाण है और दूसरा अप्रमाण है, तो प्रमाण और अप्रमाणकी क्या सङ्गति हो सकती है? एक हीके प्रमाण माननेसे साधनादिभेद भी नहीं सिद्ध हो सकता?

तस्यास्य कर्मकाण्डेन सम्बन्धं श्रुतिरब्रवीत् ।
तमेतमिति वाक्येन साध्यसाधनलक्षणम् ॥ २ ॥

वेदानुवचनं यज्ञस्तपो दानमनाशकम् ।
आत्मतत्त्वे विविदिषां जनयन्तीति हि श्रुतम् ॥ ३ ॥

वेदानुवचनादीनामैकात्म्यज्ञानवाञ्छने ।
नित्यानां विधिरित्येवमेकं तावदिदं मतम् ॥ ४ ॥

समाधान—सम्बन्धविशेषके जिज्ञासित होनेसे 'अत्राभिधीयते' इस भाष्यसे सम्बन्धविशेषाभिधानकी प्रतिज्ञा भी भाष्यकारने की है, किन्तु 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति' इस वाक्यसे सम्बन्धविशेषका अभिधान है ही, तथा यह मानकर कि वेदाध्ययन करनेके बाद पदपदार्थसम्बन्धका ज्ञान होनेसे वेदान्तमें साधारण ज्ञान होनेपर यह सम्बन्धविशेष स्वयं प्रतीत हो जायगा, इसलिए स्वयं नहीं कहा, अथवा सम्बन्धविशेषाभिधानकी प्रतिज्ञा भाष्यकारने नहीं की, किन्तु 'तमेतम्' इत्यादि श्रुतिसिद्ध कर्ममें विविदिषाहेतुत्वकी प्रत्यभिज्ञा करके वेदान्त ही प्रमाण नहीं तो वेदान्तज्ञानमें विविदिषा द्वारा भी कर्म कारण नहीं है, अतः कर्ममें ज्ञानहेतुत्व परम्परया भी नहीं है, इस आक्षेपको वेदान्तके प्रामाण्यका समर्थन कर सम्बन्धविशेष कहा, ऐसा माननेसे भाष्य सुसङ्गत हो जाता है ।

इसी तात्पर्य से कहते हैं—'तस्याऽस्य' इत्यादिसे ।

'तमेतम्' इत्यादिश्रुतिने ज्ञानकाण्डका कर्मकाण्डके साथ साध्यसाधनरूप सम्बन्ध कहा है, अतः सापेक्षार्थक होनेसे दोनों काण्डोंमें पूर्वोत्तरभाव सङ्गत है ॥२॥

किसीका मत है कि नित्य नैमित्तिक कर्म ही विविदिषा द्वारा ज्ञानके हेतु हैं, काम्य कर्म हेतु नहीं है, क्योंकि काम्य कर्मोंके पुत्र, पशु आदि तत्तत्फल नियत हैं, इसलिए कर्मकाण्डके एक देशका ज्ञानकाण्डके साथ सम्बन्ध है, संपूर्ण कर्मकाण्डका नहीं, इस तात्पर्यसे कहते हैं—'वेदानुवचनम्' इत्यादिसे ।

वेदानुवचन—वेदाध्ययन, यज्ञ, दान, तप—कृच्छ्र, चान्द्रायण आदि अनाशक आत्मतत्त्वविषयक विविदिषाके जनक हैं, यह श्रुतियोंमें श्रुत है । एक मत यह है कि नित्य कर्म और नैमित्तिक कर्मका ही विविदिषामें उपयोग है, काम्य कर्मोंका नहीं, काम्य कर्मोंका तत्-तत् फल श्रुतिमें प्रसिद्ध ही है, उसका त्याग करनेसे तत्-तत् फलबोधक श्रुति अप्रमाण हो जायगी ॥ ३, ४ ॥

यद्वा विविदिषार्थत्वं काम्यानामपि कर्मणाम् ।
वेदः स्यात् सर्व एवाऽत ऐकात्म्यज्ञानसिद्धये ॥ ५ ॥
प्लवा ह्येते यज्ञरूपा अदृढा इति निन्दनात् ।
काम्यैर्विविदिषोत्पत्तिर्नेति चेन्न विधानतः ॥ ६ ॥

दूसरा यह मत है कि अविशेषरूपसे विविदिषाके साधनरूपसे याग आदि श्रुत हैं, इसलिए काम्यकर्म भी ज्ञानके साधन हैं, यही कहते हैं—'यद्वा' इत्यादिसे ।

शङ्का—यदि यह कहिए कि काम्य कर्मोंका विधिवाक्यसे फलान्तरके साधनरूपसे विनियोग हो चुका है, इसलिए फिर ज्ञानमें उनका विनियोग कैसे होगा, क्योंकि विनियुक्तका फिर नियोग होता नहीं है ।

समाधान—तो 'एकस्य तूभयत्वे संयोगपृथक्त्वम्' इस न्यायसे काम्य कर्मोंका ज्ञानमें विनियोग होगा अर्थात् अग्निहोत्रके प्रकरणमें 'दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयात्' यह श्रुति है, इस श्रुतिसे दधिका विनियोग काम्य अग्निहोत्रमें है, इसलिए नित्याग्निहोत्रमें दधिका विनियोग नहीं करना चाहिए, किन्तु किसी दूसरे द्रव्यका विनियोग करना उचित है, ऐसा पूर्वपक्ष कर 'दध्ना जुहोति' इस वाक्यसे कामना-संयोगके बिना केवल नित्यहोमसंयोगसे भी दधिका विधान है, इसलिए एक ही दधिमें दो वाक्योंसे, अविरुद्ध होनेके कारण, नित्यत्व और काम्यत्व माने जाते हैं, उक्त सूत्रका अर्थ यह है कि एक ही दधिके नित्यत्व तथा नैमित्तिकत्वमें संयोगपृथक्त्व हेतु है, 'दध्ना जुहोति' यह एक संयोग है, दूसरा है 'दध्नेन्द्रिय-कामस्य जुहुयात्' । इस प्रकार स्वर्गादियुक्त स्वर्गफलक कर्मोंका स्वर्गफल त्यागकर विविदिषासंयोगसे ज्ञानहेतुत्व माननेसे संपूर्ण कर्मकाण्डका ज्ञानकाण्डके साथ सम्बन्ध सिद्ध होता है ।

श्लोकार्थ—नित्य, नैमित्तिक और काम्य इन सब कर्मोंमें विविदिषाहेतुत्व है अर्थात् ये सब कर्म विविदिषाके लिए हैं, अतः संपूर्ण वेद एक आत्मज्ञानके लिए है ॥५॥

निन्दाके श्रवणसे काम्य कर्म तो कार्य ही नहीं हैं फिर वे ऐकात्म्यज्ञानके हेतु कैसे होंगे ? यह आशङ्का करते हैं—'प्लवा ह्येते' इत्यादिसे ।

काम्य कर्म अकार्य हैं, यह आक्षेप उचित नहीं है, क्योंकि वे तत्-तत् फलके लिए श्रुतियोंसे विहित हैं, और निषेध भी नहीं मिलता । यद्यपि काम्य कर्मोंमें विधि और निन्दा दोनोंका समावेश देखते हैं, तो भी उन्हें अकार्य कहना ठीक नहीं है, क्योंकि विधिकी तरह निषेधका उपलम्भ नहीं है । निन्दा निन्द्यकी निन्दामात्र

काम्यान्यपि विधीयन्ते विधिभिर्नित्यकर्मवत् ।
काम्यैश्चाऽतोऽस्ति धीशुद्धिः फलासक्तिस्तु निन्द्यते ॥ ७ ॥

करनेके लिए नहीं की जाती, किन्तु निन्द्यके त्यागके लिए की जाती है, अन्यथा निन्दामात्रसे तो कोई भी पुरुषार्थ होता नहीं, इसलिए निन्दावाक्य ही असङ्गत हो जायँगे, अतएव निन्दा सुननेसे निषेधकी कल्पना करनी चाहिए ?

अच्छा तो यह कहिये कि निन्दा कर्मके स्वरूपकी है या उसमें फलाभिसन्धिकी ? प्रथम पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि 'चित्रया यजेत पशुकामः' इत्यादि श्रुतियोंसे काम्य कर्मोंमें कार्यत्वकी ही प्रतीति होती है, इसलिए तद्विरुद्ध निषेधकी कल्पना नहीं हो सकती । अन्यथा निन्दा द्वारा कल्पित निषेधका भी स्वरूपमें पर्य्यवसान होनेसे विधि और निषेधका एकत्र समावेश होनेसे प्रवृत्ति और निवृत्तिका सांकर्य हो जायगा । द्वितीय पक्षमें फलासङ्गमें निषेध इष्ट ही है, स्वरूपमें तो विधि है ही, अतः फलेच्छाके विना अनुष्ठित चित्रा याग आदि काम्य कर्म भी आत्मज्ञानके हेतु ही हैं, इस तरह सभी कर्म परम्परासे ज्ञानके हेतु हैं। यदि फलकी अभिलाषा नहीं है, तो चित्रादि काम्य कैसे कहलाएँगे, मुमुक्षुकी फलेच्छा न होनेपर भी सांसारिक पुरुषोंकी उक्त फलोंमें कामना रहेगी ही, इसलिए उन लोगोंकी अपेक्षा काम्य कहलानेमें वाधा नहीं है । यदि शङ्का हो कि मुमुक्षुके प्रति वे काम्य कैसे हो सकते हैं ? क्योंकि नित्य कर्मकी तरह काम्यमें भी उनकी फलाभिसन्धि नहीं है, तो यह भी युक्त नहीं है, कारण कि विधायक वाक्योंमें फलश्रुतिके रहने तथा न रहनेसे काम्य और नित्यका भेद माना जाता है ।

श्लोकार्थ—प्लवन्ते—गच्छन्ति—नश्यन्ति इति प्लवा विनश्वराः अर्थात् यज्ञादि विनाशी हैं । अतएव अदृढाः—अस्थिर हैं, इत्यादि निन्दासे काम्य कर्मसे विविदिषा नहीं हो सकती, यह आक्षेप ठीक नहीं है, क्योंकि विविदिषाके उद्देश्यसे 'यज्ञेन' इत्यादि वाक्यसे उनका विधान है, अतः विरोधसे निन्दा द्वारा स्वरूपमें निषेधकी कल्पना नहीं कर सकते ॥६॥

यदि स्वरूपमें निषेधकी कल्पना नहीं कर सकते हैं, तो निन्दावाक्यकी क्या गति होगी और वह कैसे सार्थक होगा ? इसका उत्तर कहते हैं—'काम्यान्यपि' इत्यादिसे।

नित्य कर्मके सदृश काम्य कर्मोंका भी 'तमेतं वेदानुवचनेन' इत्यादि श्रुतिसे विधान है, इसलिए फलाभिसन्धिरहित काम्यकर्मोंके अनुष्ठानसे भी चित्तकी शुद्धि होती है, केवल फलासक्तिकी निन्दा है, उसका त्याग करना चाहिए ॥७॥

कर्मण्येवाऽधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
इत्यादि कृष्णगीतायामुक्तमासक्तिवर्जनम् ॥ ८ ॥
आसक्त्या दुष्टचित्तस्य कर्मजा शुद्धिरप्यसौ ।
भोगायैवोपयुक्ता स्यान्न विवेकाय कर्हिचित् ॥ ९ ॥
विड्वराहादिदेहेन नह्यैन्द्रं भुज्यते पदम् ।
अतो भोगोऽपि तां शुद्धिं स्वसिद्ध्यर्थमपेक्षते ॥ १० ॥

'कर्मण्येवाऽधिकारस्ते' इत्यादि । तुम्हारा कर्ममें ही अधिकार है अर्थात् जिनका अन्तःकरण अशुद्ध—तत्त्वज्ञानोत्पत्तिके योग्य नहीं—है, उनका अन्तः-करणकी शुद्धिके लिए ही कर्ममें अधिकार है, वेदान्तवाक्योंके विचारमें नहीं । किसी अवस्थामें अर्थात् कर्मानुष्ठानसे पहले या बाद अथवा कर्मानुष्ठानकालमें स्वर्गादि फलमें अधिकार याने हमीको उसका फल भोगना होगा, ऐसी इच्छा कभी न होनी चाहिए । यदि यह कहिए कि वैसी इच्छाके न होनेपर भी कर्मका फल तो अवश्य ही होगा, तो उसका उत्तर यही है कि कर्मफलकी हेतु कामना है । यदि तादृश कामना न होगी तो कर्मफल भी न होगा । कामना ही फलोत्पादक है, निष्काम कर्म फल नहीं देता । भगवदर्पणबुद्धिसे जो निष्काम कर्म किया जाता है, वह फलप्रद नहीं होता है, किन्तु चित्तशुद्धिकारक होता है, इस तात्पर्यसे 'कर्म में ही तुम्हारा अधिकार है, कभी भी फलकी कामना मत करो, इत्यादि फलासक्तिका प्रतिषेध श्रीकृष्ण भगवान्‌ने गीतामें किया है ॥ ८ ॥

आसक्तिपूर्वक कर्मानुष्ठान करनेसे भी चित्तकी शुद्धि होती है, इस आशंकाकी निवृत्तिके लिए कहते हैं—'आसक्त्या' इत्यादिसे ।

फलके रागसे जिसका चित्त दुष्ट है अर्थात् तत्त्वज्ञानोत्पत्तिके लिए अयोग्य है, उस पुरुषके उपभोगमें ही यह कर्मजा शुद्धि भी हेतु होती है, विवेककी उत्पत्तिके लिए नहीं ॥ ९ ॥

यदि विवेकोत्पत्ति न होगी, तो कर्मजा शुद्धि निष्प्रयोजन हो जायगी ? इस शंकाकी निवृत्तिके लिए कहते हैं—'विड्वराहा०' इत्यादिसे ।

विड्वराहादिकी देहसे अर्थात् सूकरादि निकृष्ट शरीरसे स्वाराज्यका उपभोग नहीं हो सकता, इसलिए भोग भी अपनी सिद्धिके लिए कर्मजन्य शुद्धिकी अपेक्षा करता है ॥१०॥

अनासक्तौ तु भोगोऽयं प्राप्नोति न विरुध्यते ।
नित्यकर्मस्विवैतेषु शुद्धिप्राधान्यसम्भवात् ॥ ११ ॥
नित्येषु शुद्धेः प्राधान्याद्भोगोऽप्यप्रतिबन्धकः ।
भोगं भङ्गुरमीक्षन्ते बुद्धिशुद्ध्यनुरोधतः ॥ १२ ॥
कर्मणा पितृलोकः स्यादित्येवं नित्यकर्मणाम् ।
फलं श्रुतं तथाप्येतैर्वेदनेच्छाऽपि जायते ॥ १३ ॥

अनासक्तिसे किये गये काम्य कर्म भोगके हेतु होनेपर भी चित्तकी शुद्धिके हेतु होते हैं, इसे कहते हैं—'अनासक्तौ' इत्यादिसे ।

फलासक्तिशून्य काम्य कर्मोंके अनुष्ठानसे भोग और तत्त्वज्ञान दोनों प्राप्त होते हैं, इनमें कोई विरोध है नहीं । जनक तथा अजातशत्रु प्रभृति महाराजोंको भोग और ज्ञान दोनोंकी प्राप्ति शास्त्र द्वारा ज्ञात ही है, क्योंकि नित्य कर्मके सदृश काम्य कर्मोंमें भी शुद्धिप्राधान्यका सम्भव है । शुद्धि और भोगमें जब विरोध ही नहीं, तो भोग होनेपर भी शुद्धि होनेमें कोई रुकावट नहीं है, आसक्ति ही वास्तविक प्रतिबन्धक है ॥११॥

नित्यकर्मके सदृश, इस उपर्युक्त दृष्टान्तको स्फुट करनेके लिए कहते हैं—'नित्येषु' इत्यादिसे ।

नित्य कर्मोंका फल ही नहीं है, अतः आसक्ति नहीं हो सकती, फिर भी चित्तशुद्धिके उद्देश्यसे जैसे मुमुक्षु उनका अनुष्ठान करता है, वैसे ही काम्य कर्मोंका फल होनेपर भी आसक्तिका त्याग करनेसे नित्य और काम्य दोनों कर्म आसक्तिशून्य हुए, अतः नित्य कर्मकी तरह काम्य कर्मका भी शुद्धि ही प्रधानरूपसे उद्देश्य है । इसलिए भोग जैसे नित्यकर्मानुष्ठान द्वारा जायमान चित्तशुद्धिमें प्रतिबन्धक नहीं है, वैसे ही काम्यकर्मानुष्ठान द्वारा जायमान शुद्धिमें भोग प्रतिबन्धक नहीं है । भोग विनश्वर है, इस दृष्टिसे भोगमें आसक्ति नहीं होती, फिर भी काम्य कर्मोंका अनुष्ठान इसलिए करते हैं कि चित्त ब्रह्मज्ञानोत्पत्तिके लिए योग्य हो जाय । इस तरह काम्योंका प्रधान उद्देश्य चित्तकी शुद्धि ही है, इसलिए उनसे वही होती है ॥१२॥

कर्मणा पितृ०' इत्यादि । नित्य कर्मसे भी पितृलोकरूप फलकी प्राप्ति श्रुत है, 'कर्मणा पितृलोकः स्यात्' यह श्रुति नित्य कर्मोंका उक्त फल बोधन करती है, फिर भी विनश्वरबुद्धिसे उसमें अनास्था कर केवल चित्तशुद्धिके उद्देश्यसे अनुष्ठान करनेपर जिस

यस्याऽकृतौ प्रत्यवायस्तन्नित्यं काम्यमन्यथा।
इत्थं सकाम्यनित्यानां ज्ञानेच्छाहेतुता स्थिता ॥ १४ ॥
अभिचारादिकाम्यं तु विहितत्वेऽपि निन्दितम्।
फलदोषेण दुष्टत्वाज्ज्ञानार्थत्वं न तस्य हि ॥ १५ ॥
काम्यं ससङ्गं ज्ञानाय यदि नाऽलं तथापि च।
पुंसां वैराग्यहेतुत्वादुपकार्येव तन्मतम् ॥ १६ ॥

तरह उनका फल चित्तशुद्धि मानते हो, उसी तरह काम्य कर्मोंका अनुष्ठान करनेसे चित्तशुद्धि होती है, तद्द्वारा ब्रह्मज्ञानकी इच्छा भी होती है ॥ १३ ॥

यदि आसक्तिके विना किये गये सब कर्म ज्ञानके हेतु हैं, यह मानते हो, तो नित्य और काम्यका विभाग कैसे होगा? इसका उत्तर देनेके लिए कहते हैं—'यस्याऽकृतौ' इत्यादिसे।

जिस कर्मके न करनेपर प्रत्यवाय होता है, वह कर्म नित्य है, जैसे सन्ध्या, पञ्च महायज्ञ आदि। तत्-तत् फलके साधन कर्म काम्य कर्म हैं, जैसे याग, दान, होम आदि। निमित्तके आनेपर ही जिनका अनुष्ठान किया जाय, वे नैमित्तिक कर्म कहलाते हैं। 'यस्य आहिताग्नेरग्निर्गृहान् दहति सोऽग्नये क्षामवते अष्टाकपालं निर्वपेत्' इत्यादि श्रुतिबोधित गृहदाहनिमित्तक अष्टाकपालनिर्वाप नैमित्तिक है। इस तरह ज्ञानहेतु माननेपर भी नित्य और काम्य आदिके विभागकी अनुपपत्ति नहीं है ॥ १४ ॥

नित्य, काम्य आदि सब कर्मोंको यदि आत्मज्ञानके हेतु मानते हो, तो निषिद्ध श्येनयाग आदि भी काम्य हैं, अतः वे ज्ञानके हेतु हैं या नहीं? यह कहिए? नहीं; ऐसा कहते हैं—'अभिचारादि' इत्यादिसे।

अभिचार आदिके (शत्रुवधके उद्देश्यसे अनुष्ठीयमान श्येनयाग आदिके) विहित होनेपर भी वे निन्दित हैं, इसलिए वे ज्ञानके हेतु नहीं हैं। यद्यपि श्येनयाग स्वयं निन्दित नहीं है, तथापि उसके हिंसारूप फलके प्रतिषिद्ध होनेसे वह निन्दित है, इसलिए 'फलदोषेण' इत्यादि कहा है। श्येनके स्वयं दुष्ट न होनेपर भी वह फल द्वारा दुष्ट है, इसलिए वह तत्त्वज्ञानोपयोगी नहीं है ॥ १५ ॥

अनिषिद्ध नित्यादि कर्मोंमें ज्ञानहेतुत्वके माननेपर भी संपूर्ण कर्मकाण्डकी ज्ञानकाण्डके साथ संगति सिद्ध नहीं होती है? इस शंकाकी निवृत्तिके लिए कहते हैं—'काम्यम्' इत्यादिसे।

असह्यदुःखफलतः स्वकार्यविनिवृत्तिकृत् ।
विरक्तिहेतुः कर्म स्यात् प्रतिपिद्धं यथा तथा ॥ १७ ॥
अपि काम्यं कृतं सर्वं दुःखात्मकफलत्वतः ।
आविरिञ्च्यात् स्वकार्येभ्यः स्यादेव विनिवृत्तये ॥ १८ ॥

यद्यपि ससंग तथा दुष्टफलक श्येन आदि काम्य कर्म ज्ञानोत्पत्तिमें भले ही कारण नहीं हैं, तथापि पुरुषके ज्ञानोपयोगी वैराग्यके सम्पादक होनेसे तत्त्वज्ञानोत्पत्तिमें भी उपयोगी हैं ॥ १६ ॥

'असह्य०' इत्यादि। 'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि' इत्यादि श्रुतिसे निपिद्ध किये गये प्राणियोंके हनन आदिका, दुःखबहुल श्व-सूकरादिनिकृष्टयोनिप्रापक होनेसे, निपेधशास्त्रके अर्थको जाननेवाला मनुष्य त्याग करता है और हननादि कर्मोंमें बन्धनादि दोपोंके दर्शनसे धीरे-धीरे वैराग्यसोपानके आरोहणमें प्रवृत्त होता है। फिर निपिद्ध सम्पूर्ण कर्मोंमें दोष प्रतीत होते हैं, इसलिए अशेष निपिद्ध कर्मोंसे उपरत होनेपर सूक्ष्म विचार द्वारा विहित कर्मोंमें भी दोषदृष्टि होने लगती है, इस प्रणालीसे सब कर्मोंसे तथा उनके फलोंसे विरक्ति होनेपर तत्त्वज्ञानका अधिकारी मुमुक्षु होता है, इस तात्पर्य्यसे 'तत्त्वज्ञानोपयोगी' कहा है ॥ १७ ॥

नित्य और नैमित्तिक ही कर्म मोक्षज्ञानके हेतु हैं, काम्यकर्म नहीं, इस मतके अनुसार काम्य कर्म वैराग्योत्पादन द्वारा उपयोगी हैं, यह कहते हैं—'अपि काम्यम्' इत्यादिसे ।

संपूर्ण काम्य कर्म दुःखफलक हैं, अतः साधनपरतन्त्र तथा क्षयी होनेसे परिणाममें वे विरस हैं, इस कारण मनुष्यसे लेकर ब्रह्मापर्य्यन्त सब विवेकियोंको अपने-अपने कार्योंसे निवृत्त करा ही देगा। विवेकसे पूर्व कर्मोंसे उत्पन्न जिन-जिन अधिकार प्राप्त सुखोंको अत्यन्त उपादेय समझता है, वे ही विवेक होनेपर अत्यन्त हेय प्रतीत होते हैं, इसलिए स्वाधिकारप्राप्त सुखकी उपेक्षाकर नित्य निरतिशय सुखरूप मोक्षकी प्राप्तिके लिए तत्साधनमें प्रवृत्त होनेकी चेष्टा मनुष्यसे लेकर ब्रह्मातक करते हैं ॥ १८ ॥

भिन्न प्रकरणमें उक्त नित्य आदि सम्पूर्ण कर्म चित्तकी शुद्धिके द्वारा ब्रह्मज्ञानके हेतु हैं, यह विवेचन हुआ, किन्तु विद्याप्रकरणस्थ सगुणोपासना और

उपासनं तु यत्किञ्चिद् विद्याप्रकरणे श्रुतम् ।
तदप्यैकात्म्यविज्ञानयोग्यत्वायैव कल्प्यते ॥ १९ ॥

तत्त्वज्ञान ये दोनों मिलकर मोक्षके हेतु हैं, यह शंका अवतक वनी ही रही, इसकी निवृत्तिके लिए कहते हैं—'उपासनं तु' इत्यादिसे ।

उपासना तीन प्रकारकी होती हैं—कर्मसमृद्धिके लिए, अभ्युदयके लिए तथा क्रम-मुक्तिके लिए । इन तीनों उपासनाओंका संग्रह करनेके लिए यत्किञ्चित्पद कहा है अर्थात् ये तीनों उपासनाएँ, जिनको विद्याभिलाषाकी उत्पत्तिके प्रतिबन्धक पापोंसे विद्याकी अभिलाषा उत्पन्न नहीं हुई है, उनके उन प्रतिबन्धक पापोंका उच्छेद कर ब्रह्मविद्यछोत्पत्तिकी हेतु हैं । प्रकरण ही इस अर्थमें विनियोजक है, इसलिए विनियोजक वचनका अन्वेषण व्यर्थ है । सगुणोपासनाका तत्-तत् फल तत्-तत् विधायक वाक्योंमें श्रुत है । उसका त्यागकर अश्रुत ब्रह्मविद्योत्पत्ति फल कैसे मानें ? जैसे काम्य कर्मोंको, श्रुत तत्तत्फलका त्याग कर निरतिशय मोक्ष फलके लिए विद्याशेष मानते हैं, वैसे ही 'तमेतम्' इत्यादि विविदिषावाक्य सर्वकर्मसाधारण है, अतः काम्य कर्मके समान उपासना कर्म भी विद्याशेष ही है।

श्लोकार्थ—विद्याके प्रकरणमें उपासनात्मक जो कर्म श्रुत हैं, वे ऐकात्म्यज्ञानो-त्पत्तिकी योग्यताके सम्पादक ही हैं । पूर्वोक्त 'संयोगपृथक्त्व' न्यायसे उपासनाओंके दोनों फल हैं । तपःशब्दसे उपासना भी विवक्षित है । तत्त्वज्ञानके समान उपासना साक्षात् मोक्षकी साधिका नहीं है, क्योंकि 'विमुच्यमानः क गमिष्यसि' इस प्रश्नसे उपासकोंका गन्तव्य मार्गविशेष ज्ञात होता है । तदनन्तर अर्चिरादि मार्गविशेषका श्रुतिमें निरूपण भी है । 'न तस्य प्राणाः उत्क्रामन्ति इहैव समवलीयन्ते' इत्यादि श्रुतिसे मुक्त यहीं ब्रह्मरूपापन्न हो जाता है, क्योंकि 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' यह भी श्रुति है । इसलिए उसको मार्गविशेष अपेक्षित नहीं है और उपासनाका फल सत्यलोकादिकी प्राप्ति है, यह श्रुतियोंमें तथा स्मृतियोंमें प्रसिद्ध है । वहांपर चित्तशुद्ध होनेसे ब्रह्माके साथ उपासक भी मुक्त हो जाते हैं । 'ब्रह्मणा सह मुच्यन्ते सम्प्राप्ते प्रतिसंचरे' इत्यादि वचनोंसे यही अर्थ स्फुट होता है । कर्म चित्तशुद्धि द्वारा ज्ञानका कारण है । उपनिषत्—ब्रह्मविद्या—साक्षात् मोक्षका साधन है और कर्म ज्ञानकी उत्पत्ति द्वारा मोक्षके साधन हैं, अतः पूर्वकाण्डका उत्तरकाण्डके साथ भाष्याभिप्रेत मोक्षसाधनत्व ही संबन्ध है ॥ १९ ॥

चित्तस्यैकाग्र्यजननाद् ब्रह्मलोकाप्तितोऽथवा।
ज्ञान एवोपासनानि पर्यवस्यन्ति सर्वथा ॥ २० ॥
एवं चाऽखिलवेदस्य वेदनार्थत्वकारणात् ।
श्रुतं विविदिपार्थत्वं यज्ञदानादिकर्मणाम् ॥ २१ ॥
यद्वा कर्माणि पुरुषं संस्कुर्वन्ति स्मृतेर्बलात् ।
अष्टाचत्वारिंशदिति स्मृतिः संस्कारवादिनी ॥ २२ ॥

चित्तस्यैका०' इत्यादि। उपासना चाहे चित्तैकाग्र्यकी हेतु हो अथवा ब्रह्मलोकप्राप्तिकी, दोनों तरहसे उसका ब्रह्मज्ञान में ही पर्यवसान है। सारांश यह है कि उपासना करनेसे रजोगुणकी निवृत्ति द्वारा चित्त शुद्ध होता है और चित्तकी शुद्धि होनेपर वेदान्तवाक्य द्वारा आत्मश्रवण, मनन तथा उपासना आदि होते हैं, तदनन्तर आत्मज्ञान होता है। यद्यपि उपासनाका फल ब्रह्मलोककी प्राप्ति है, तो भी ब्रह्मलोकमें रहकर सात्त्विक भावनाके प्रकर्षसे रजोगुण और तमोगुणका अपचय होता है, अतः वह उपासक ब्रह्माके उपदेशसे आत्मज्ञानी होकर प्रलयावस्थाके पूर्व ब्रह्माके साथ मुक्त हो जाता है। इस प्रकारसे सर्वथा उपासनाओंका पर्य्यवसान ज्ञानमें ही है, अन्यत्र नहीं है ॥२०॥

'एवं चाऽखिल०' इत्यादि। पूर्वोक्त प्रकारसे वेदमें विहित संपूर्ण कर्मोंके ज्ञानार्थक होनेसे 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन' इत्यादि श्रुतिसे श्रुत यज्ञ, दान आदि सम्पूर्ण कर्म ब्रह्मज्ञानकी इच्छाकी उत्पत्तिके कारण हैं, यह भली-भाँति उपपन्न होता है ॥२१॥

विविदिषा द्वारा कर्म ज्ञानके हेतु हैं, इस मतका उपपादन कर अब संस्कार-द्वारा कर्म ब्रह्मज्ञानके हेतु हैं, इस मतका उपपादन करते हैं—'यद्वा कर्माणि' इत्यादिसे।

गर्भाधानसे लेकर सहधर्मचारिणीसंयोगपर्य्यन्त चौदह, पांच महायज्ञ, सात होमसंस्था, सात हविःसंस्था तथा सात पाकसंस्था, ये सब मिलकर चालीस संस्कार होते हैं। और अनश्नन् संहिताध्ययन, प्रायण, कर्मजप, उत्क्रामण, दैहिक, भस्मसमूहन, अस्थिसंचय और श्राद्ध, इन आठ संस्कारोंको पूर्वोक्त संस्कारोंके साथ मिलानेसे अड़तालीस संस्कार माने जाते हैं। जिसके ये संस्कार होते हैं, वह ब्रह्मसायुज्य तथा ब्रह्मसालोक्य पाता है।

श्लोकार्थ—अथवा स्मृतिप्रामाण्यसे कर्म पुरुषके संस्कारक हैं, क्योंकि

यस्यैतदुक्तसंस्कारा: सम्पद्यन्ते यथाविधि ।
स ब्रह्मण: सलोकत्वं सायुज्यं वा समाप्नुयात् ॥ २३ ॥
विशेष: को विविदिषौ संस्कृते वेति चेच्छृणु ।
अवश्यं भाविनी सिद्धिराद्येऽन्यत्र तु पाक्षिकी ॥ २४ ॥
जाता विविदिषाऽवश्यं सम्पाद्याखिलसाधनम् ।
स्वफलं जनयेदाशु बुभुक्षादिर्यथा तथा ॥ २५ ॥
प्रतिबन्धकपाप्मानं नाशयेच्चित्तसंस्कृति: ।
साधनानि तु बोधस्य सम्पाद्यानि प्रयत्नत: ॥ २६ ॥

'यस्यैतेऽष्टाचत्वारिंशत् संस्कारा:' इत्यादि स्मृति चित्तसंस्कारकत्वरूपसे उक्त संस्कारोंका अनुवाद करती है ॥२२॥

'यस्यैत०' इत्यादि। शास्त्रविधिके अनुसार जिसके ये अड़तालीस संस्कार सम्पन्न होते हैं, वह पुरुष ब्रह्मके साथ समानलोकत्व तथा सायुज्य प्राप्त करता है ॥२३॥

कर्म विविदिषोत्पत्ति द्वारा ज्ञानका हेतु है, किंवा संस्कार द्वारा ज्ञानका हेतु है ? इन दोनोंमें विशेष कहनेके लिए कहते हैं—'विशेष: को' इत्यादिसे ।

विविदिषु और संस्कृतचित्त इन दोनोंमें क्या विशेष है ? यदि ब्रह्मज्ञानोत्पत्तिरूप फल समान ही है, तो संस्कारमें कर्म कारण है, अथवा विविदिषामें, इस विचारकी क्या आवश्यकता है ? आवश्यकता यह है कि विविदिषुको ब्रह्मज्ञान अवश्य होता है और संस्कृतचित्त पुरुषको पाक्षिक है ॥ २४ ॥

प्रथम पक्षका उपपादन करते हैं—'जाता' इत्यादिसे ।

उत्पन्न हुई विविदिषा सम्पूर्ण अपने साधन—श्रवण, मनन और गुरु प्रभृति—का सम्पादन करके स्वफलको—ब्रह्मज्ञानको—अवश्य उत्पन्न कराती है, जैसे बुभुक्षा उत्पन्न होती है, तो आहार आदि साधनोंके सम्पादन द्वारा स्वफल तृप्तिका अवश्य उत्पादन करती है। बुभुक्षाके विना भोजनसामग्रीके रहनेपर भी भोजनमें प्रवृत्ति नहीं होती। और बुभुक्षा होनेपर यदि सामग्री उपस्थित न भी हो, तो भी पुरुष सामग्रीका संपादन करके भोजन करता है, तदनन्तर ही तृप्तिरूप फल सर्वानुभवसिद्ध है ॥२५॥

संस्कारपक्षमें फलप्राप्ति पाक्षिक है, इसका समर्थन करते हैं—'प्रतिबन्धक०' इत्यादिसे ।

चित्तका संस्कार तत्त्वज्ञानोत्पत्तिप्रतिबन्धक पापका नाशमात्र करता है, साधनका

वर्णाश्रमादिशास्त्रे प्रेरितोऽकरणे भयम् ।
पश्यन् करोति यत्कर्म तत्संस्कारकमुच्यते ॥ २७ ॥

तमेतमिति वाक्येन प्रेरितो बोधवाञ्छया ।
अन्तर्यामिण्यर्पयेद्यत्तत्स्याद्विविदिषाकरम् ॥ २८ ॥

यत् करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥ २९ ॥

संपादन नहीं करता, साधनोंके संपादनके लिए प्रयत्नान्तर अपेक्षित है। यदि प्रयत्नान्तर हुआ तो तत्त्वज्ञान होगा और न हुआ तो तत्त्वज्ञान नहीं होगा, अतः संस्कार पाक्षिक फलप्रद है, विविदिषा नियत फलप्रद है, यही दोनोंमें अन्तर है ॥ २६ ॥

'वर्णाश्रमादि' इत्यादि । 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुयात्' यह नित्य कर्मकी श्रुत विधि प्रतिदिन अग्निहोत्र कर्ममें मेरी प्रेरणा करती है। यदि प्रतिदिन उक्त कर्म न करूँगा, तो विधिके उल्लंघनसे प्रत्यवाय अवश्य होगा, इस भयसे जो अग्निहोत्र आदि नित्य कर्म किये जाते हैं, वे ही कर्म संस्कारक हैं ॥ २७ ॥

'तमेतमिति' इत्यादि । 'तमेतम्' इत्यादि विविदिषावाक्य द्वारा प्रेरित होकर ब्रह्मज्ञानकी उत्पत्तिकी कामनासे ब्रह्मार्पणबुद्धिसे फलान्तरके लोभके विना जिस नित्य कर्मको मुमुक्षु करता है, वह नित्य कर्म ब्रह्मविविदिषाको उत्पन्न करता है, अतः दोनोंमें प्रयुक्ति भिन्न-भिन्न है ॥ २८ ॥

ईश्वरार्पणबुद्धिसे कर्मानुष्ठानमें प्रमाण कहते हैं—'यत् करोषि' इत्यादिसे ।

'यावज्जीवम्' इत्यादि वाक्योंसे विहित आश्रमार्थ सम्पूर्ण अग्निहोत्रादि कर्मको ब्रह्मार्पण करना चाहिए, यह न हो कि आश्रमार्थ कर्म करके ईश्वरार्पण बुद्धिसे फिर अग्निहोत्र कर्मान्तर करना 'यत् करोषि, तत्' इस वाक्यसे जिस कर्मको आश्रमार्थ करते हो, उसीको मेरे अर्पण करो, दूसरेको नहीं, नित्यकर्मविधिमें श्रुत फलकी कामना मत करो, क्योंकि फलकामनासे साभिसन्धि कर्म हो जायगा, जो तत्त्वज्ञानोत्पत्तिका प्रतिबन्धक है ॥२९॥

शुभाऽशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मवन्धनैः ।
इत्थं विविदिषाकारि कर्म कृष्णेन वर्णितम् ॥ ३० ॥
आश्रमार्थप्रयुक्तानां कर्मणामीश्वरार्पणम् ।
कार्यं पृथक्प्रयोगस्तु नेति सूत्रकृदब्रवीत् ॥ ३१ ॥

'शुभाऽशुभ' इत्यादि । शुभ और अशुभ रूप सुख, दुख आदि फलको देनेवाले विहित और निषिद्ध कर्मोंसे तुम मुक्त हो जाओगे अर्थात् मदर्पणबुद्धिसे जो कर्म करोगे उसका फल तुम्हें भोगना न पड़ेगा, अतः वे कर्म बन्धन करनेवाले नहीं होंगे, इस प्रकार विविदिषाके उत्पादक कर्मोंका भगवान् श्रीकृष्णने वर्णन किया है। दो श्लोकोंका (२९, ३०) तात्पर्यार्थ यह है कि 'यत् करोषि' अर्थात् रागतः प्राप्त गमन आदि जो कुछ करते हो, स्वतृप्तिके लिए या कर्म सिद्धिके लिए यदश्नासि—जो कुछ खाते हो, जो हवन करते हो [श्रौत-स्मार्त सब होमोंसे तात्पर्य है], अतिथियोंको या ब्राह्मणोंको अन्न, हिरण्य आदि जो कुछ देते हो तथा प्रतिवर्ष जो कुछ चान्द्रायणादि तप या नित्य, नैमित्तिक आदि कर्म करते हो और जो स्वभाववश याने शास्त्रविधिके विना भी तुम करते हो और जो शास्त्रवश अवश्य होनेवाले होम, दानादि हैं, हे कौन्तेय, वे सबके सब किसी भी निमित्तसे क्यों न होते हों, उन्हें मेरे अर्पण करो अवश्य होनेवाले कर्मोंको मेरे अर्पण करना ही मेरा भजन है, इस प्रकार सकल कर्मार्पणरूप मेरा भजन सुलभ है। इसके द्वारा इष्टानिष्टफलक बन्धनस्वरूप सब कर्मोंसे मुक्त हो जाओगे, क्योंकि मुझमें अर्पित कर्मोंका तुममें कोई सम्बन्ध ही न रहा, यही अर्पण संन्यासयोग कहलाता है । चित्तशोधक होनेसे इस प्रकारके संन्यासको भी योग कहते हैं—जैसे योगसे चित्त शुद्ध होता है, वैसे ही इस संन्याससे भी चित्त शुद्ध होता है । अतः इस प्रकार सम्पूर्ण कर्मोंको मेरे अर्पण करनेवाले पुरुष जीवित रहते भी कर्मबन्धनोंसे मुक्त हो जाते हैं, और समीचीन ज्ञानसे 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा साक्षात्कार होनेपर आवरण करनेवाले अज्ञानकी निवृत्ति होनेसे परब्रह्मस्वरूप मोक्षकी प्राप्ति होती है, अर्थात् प्रारब्ध कर्मके भोगके अनन्तर शरीरपात होनेसे विदेहकैवल्यरूप परम मुक्तिकी प्राप्ति होती है । इस समय भी मत्स्वरूप होनेसे मायिक भेदव्यवहार निवृत्त हो जायगा ॥ ३० ॥

'आश्रमार्थ' इत्यादि । तात्पर्य यह है कि 'सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेः' इत्यादि सूत्रसे आश्रमकर्म विद्याके साधन हैं, यह निर्णय हो चुका । अब यह विचार

वाक्याद्वेदनसौन्दर्यबोधाद्विविदिषाजनिः ।
यद्यप्यथाप्यात्मबोधे सम्पाद्या कर्मणा रुचिः ॥ ३२ ॥

किया जाता है कि जो विद्याकी कामना नहीं करता है अर्थात् मुमुक्षु नहीं है, केवल आश्रमनिष्ठ है, वह नित्य अग्निहोत्रादि कर्म करे या नहीं ? यह संशय होता है। 'तमेतम्' इत्यादि वाक्यसे विद्याके साधन अग्निहोत्रादि कर्मका विधान है। जब विद्यारूप फलकी कामना ही उसे नहीं है, तो फिर साधनकी क्या आवश्यकता ? इसलिए नहीं करना ही ठीक है। यदि वह अमुमुक्षु अनुष्ठान करेगा, तो अग्निहोत्रादि विद्याके साधन ही नहीं रहेंगे, क्योंकि एक कर्ममें नित्यत्व और अनित्यत्वका संयोग विरुद्ध है, अर्थात् अवश्यानुष्ठेयत्व और अवश्यानुष्ठेयत्वाभावरूप विरुद्ध धर्म एक ही अग्निहोत्रादि नित्य कर्ममें नहीं रह सकते। ऐसी परिस्थितिमें आश्रममात्रनिष्ठ अमुमुक्षुको भी नित्य कर्म करना चाहिए, क्योंकि 'यावज्जीवमग्निहोत्रम्' इत्यादि वाक्यसे नित्याग्निहोत्रका भी विधान है, अर्थात् सिद्धमें विरोध होता है, साध्यमें नहीं, जैसे षोडशीके ग्रहण और अग्रहणका लाभ विधिके अधीन है, अतः दो वाक्योंके प्रामाण्यकी रक्षाके लिए दोनोंका विकल्प माना जाता है, वैसे ही यावज्जीवश्रुतिसे नैमित्तिक एक अग्निहोत्रका पापक्षयार्थ विधान है, और विद्याङ्ग कादाचित्क द्वितीय अग्निहोत्रका 'तमेतम्' इस वाक्यसे विधान है। अतः पूर्वोक्त 'संयोगपृथक्त्व' न्यायसे एकमें नित्यानित्यसंयोग विरुद्ध नहीं है।

जो यह शङ्का थी कि नित्य होनेसे अग्निहोत्रादि विद्यासाधन नहीं होंगे ? वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि 'तमेतम्' इत्यादि वचनसे विद्यासाधनत्वका विधान है। इसलिए वे विद्यासाधन भी हैं, जैसे एक ही खादिरमें नित्यसंयोगसे क्रत्वर्थत्व है अनित्यसंयोगसे पुरुषार्थत्व है, वैसे ही दो वचनोंसे नित्यार्थत्व और विद्यार्थत्वका भी समावेश है।

श्लोकार्थ—जो आश्रमार्थ नित्य कर्मका अनुष्ठान होता है, वही कर्म ईश्वरार्पण बुद्धिसे मुमुक्षु करे, पृथक् नहीं, यह वेदान्तसूत्रकार श्रीवेदव्यास भगवान्‌ने कहा है ॥ ३१ ॥

इच्छा विषयसौन्दर्य्यके ज्ञानसे होती है, कर्मसे कैसे होगी ? इस आक्षेपके निरासके लिए कहते हैं—'वाक्याद्वे०' इत्यादिसे।

यह ठीक है कि कर्मसे इच्छा नहीं होती, किन्तु विषयके सौन्दर्यके ज्ञानसे ही होती है, किन्तु पहले कर्मसे 'तरति शोकमात्मवित्' इत्यादि वाक्यबोधित आत्म-

दुग्धे पित्तवतोऽस्तीच्छा रुचिर्नास्ति ततोऽनयोः ।
रुचीच्छयोर्महान्भेदो रुचिर्विविदिषाऽत्र हि ॥ ३३ ॥
महापापवतां नृणां ज्ञानयज्ञो न रोचते ।
इति पौराणिकाः प्राहुः पुण्यसाध्या ततो रुचिः ॥ ३४ ॥
रुचिद्वारोपकुर्वन्ति कर्माण्यात्मविमुक्तये ।
अज्ञानस्याऽविरोधित्वान्न साक्षादात्मबोधवत् ॥ ३५ ॥
अविद्याया न चोच्छित्तौ ज्ञानादन्यदपेक्ष्यते ।
ज्ञानोत्पत्तौ न चैवाऽन्यच्छमादिभ्यो ह्यपेक्ष्यते ॥ ३६ ॥

ज्ञानमें सौन्दर्यज्ञान होता है, तदनन्तर उसमें रुचि होती है, इस प्रणालीसे कर्म विविदिषाका हेतु है ॥ ३२ ॥

रुचि और इच्छामें भेदके प्रदर्शनके लिए कहते हैं—'दुग्धे पित्त०' इत्यादिसे।

पित्तदोषसे जिसकी रसनेन्द्रिय दूषित हुई है, उस पुरुषको दूध पीनेकी इच्छा रहती है, किन्तु दूध पीनेमें रुचि नहीं होती, इसलिए रुचि इच्छासे अतिरिक्त पदार्थ है। प्रकृतमें विविदिषाका तात्पर्य रुचिमें है। दृष्टान्त द्वारा इच्छा और रुचिका भेद स्फुट ही कर दिया है ॥ ३३ ॥

'महापापवताम्' इत्यादि। महापातकी पुरुषोंको ज्ञानयज्ञ अर्थात् अध्यात्मशास्त्र श्रवण, मनन आदि नहीं भाता है, पुराणपारायणशीलोंका यह कथन बहुत ठीक है, कारण कि ब्रह्मज्ञानकी रुचि पुण्यसे होती है, अतएव 'श्रवणायाऽपि बहुभिर्यो न लभ्यः' इत्यादि वचन भी संगत होते हैं ॥ ३४ ॥

कर्म साक्षात् मोक्षका साधन है, इस पक्षमें दोष देनेके लिए कहते हैं—'रुचिद्वारो०' इत्यादिसे।

कर्म रुचिसम्पादन द्वारा मोक्षमें उपकारी है, क्योंकि अज्ञानकी निवृत्तिके बिना मोक्ष नहीं होता और अज्ञानकी निवृत्ति कर्मसे नहीं हो सकती, क्योंकि कर्मका अज्ञानके साथ विरोध ही नहीं है और विरोधके बिना निवर्त्यनिवर्तकभाव नहीं होता, किन्तु ज्ञानके साथ अज्ञानका विरोध है, अतः आत्मबोध जैसे अविद्याका निवर्तक होनेसे साक्षात् मोक्षका साधन है, वैसा कर्म नहीं है ॥ ३५ ॥

'अविद्याया' इत्यादि। अविद्याके विनाशमें ज्ञानसे अतिरिक्तकी अपेक्षा नहीं है और ज्ञानकी उत्पत्तिमें शम, दम आदिसे अतिरिक्तकी अपेक्षा

शमाद्युत्पत्तये नाऽन्यद् बुद्धिशुद्धेरपेक्ष्यते ।
बुद्धिशुद्धौ च नित्यादिकर्मभ्यो नाऽन्यदिष्यते ॥ ३७ ॥
पारम्पर्येण कर्मैव वेदनायोपयुज्यते ।
साधनं कर्म तेनैतत्साध्यं ब्रह्मात्मवेदनम् ॥ ३८ ॥
इत्येवमभिसम्बन्धः कर्मविज्ञानकाण्डयोः ।
इतोऽन्यथाऽभिसम्बन्धे न किंचिन्मानमीक्ष्यते ॥ ३९ ॥
अन्ये त्वाहुर्न शक्नोति कामसन्दूपिताशयः ।
द्रष्टुं परममद्वैतं सर्वकामासमाप्तितः ॥ ४० ॥

नहीं है अर्थात् शम, दम आदिसे ज्ञानकी उत्पत्ति, ज्ञानकी उत्पत्तिसे अविद्याकी निवृत्ति और अविद्याकी निवृत्तिसे मोक्ष होता है, यह वेदान्तसिद्धान्त है ॥३६॥

'शमाद्युत्पत्तये' इत्यादि। शम, दम आदिकी उत्पत्तिमें बुद्धिकी शुद्धिसे अतिरिक्तकी अपेक्षा नहीं है और बुद्धिकी शुद्धिकी उत्पत्तिमें नित्य आदि कर्मसे अतिरिक्तकी अपेक्षा नहीं है ॥ ३७ ॥

'पारम्पर्य्येण' इत्यादि। कर्म पूर्वोक्त परम्परासे ही ब्रह्मज्ञानमें उपयोगी हैं, इसलिए कर्म भी साधन माने जाते हैं और आत्मज्ञान कर्मसाध्य है ॥ ३८ ॥

'इत्येवम्' इत्यादि। उक्तरीतिसे ज्ञानकाण्डका कर्मकाण्डके साथ परम्परया साध्यसाधनत्व ही संवन्ध है, इससे अतिरिक्त कामप्रविलयन, प्रपञ्चविलयन, सोपानमार्गगति, ज्ञानकर्मसमुच्चय आदि उक्त काण्डद्वयके संवन्ध हैं, यह माननेवालोंके मतमें कोई प्रमाण नहीं देखते ॥ ३९ ॥

उक्त मतोंमें अप्रामाणिकत्वको दिखलानेके लिए प्रथम पक्षमें कहते हैं— 'अन्ये त्वाहुः' इत्यादिसे।

फलकी कामनासे जिसका अन्तःकरण दूषित है, वह पुरुष अद्वैत परब्रह्मका दर्शन नहीं कर सकता, अतः तत्तद्विहित कर्मानुष्ठानसे तत्तत्फलोपभोग होनेपर कामनाके ध्वंस द्वारा कर्म ज्ञानोपकारक है, यह किसीका मत है, वह ठीक नहीं है, क्योंकि अन्वय और व्यतिरेकसे कामनाके ध्वंसका हेतु आत्मज्ञान ही है। आत्मज्ञानके विना कामनाका ध्वंस नहीं देखते हैं और आत्मज्ञान होनेपर कामनाका ध्वंस देखते हैं, इसलिए कामनाके ध्वंसका कारण आत्मज्ञान ही है, दूसरा नहीं। प्रथम कामनाके ध्वंससे ज्ञानमें अधिकार कहना असङ्गत है, क्योंकि सर्वकाम—स्वर्गादि—के उपभोगके विना

कर्मभिर्विविधैर्धीमान् सविराडाद्युपासनैः ।
वैराजान्तं फलं भुक्त्वा तदैकात्म्यं प्रपद्यते ॥ ४१ ॥
सर्वभोगोपभोगेन कृत्स्नकामलयाध्वना ।
यान्ति मुक्तेरानुगुण्यं कर्माणि निखिलान्यपि ॥ ४२ ॥
ब्रह्मानन्दः श्रुतोऽप्यत्र साक्षादविषयीकृतः ।
दृष्टानन्दाभिलापं स न मन्दीकर्त्तुमप्यलम् ॥ ४३ ॥

स्वर्गकामनाका ध्वंस नहीं हो सकता, इसलिए स्वर्गादिसकलफलोपभोग होनेपर रागकी निवृत्ति हो सकती है, यत्किञ्चित्फलोपभोगसे नहीं ॥ ४० ॥

अनुपभुक्त फलका राग निवृत्त नहीं हो सकता और सकलफलभोग होना असंभव है। संभव होनेपर भी भोगसे रागकी वृद्धि ही होगी, इस शङ्काकी निवृत्तिके लिए कहते हैं—'कर्मभिर्विविधैः' इत्यादिसे।

दर्वीहोमसे लेकर विराट्सूत्रकी उपासना सहित सत्रान्त कर्मोंको करके मनुष्यत्वसे लेकर सत्रान्तके फलका क्रमसे भोगकर तत्तद्देहाभिमानी उससे अतिरिक्त अनुपभुक्त कामयितव्य कर्मफलके अभावसे सर्वतः निवृत्तकाम होकर ब्रह्मात्मैक्यज्ञानका अधिकारी हो सकता है। सारांश यह है कि छोटे तथा बड़े सब शास्त्रविहित कर्मोंका अनुष्ठान कर मनुष्यदेहसे लेकर विराट् शरीर तक शरीरधारण कर निखिल कर्मफलोंका उपभोग हो जानेपर यदि शरीरान्तरसे उपभोगयोग्य कोई फल ही नहीं रहा, तो फिर कामना किसकी होगी? यदि कोई भोग ऐसा हो और उसके भोगनेके लिए अपूर्व शरीरका धारण करना पड़े, तो तादृश अपूर्व शरीरके धारण द्वारा तद्भोगयोग्य फलकी कामना होती, सो तो है नहीं, इसलिए विराट्पदकी प्राप्ति होनेपर सब काम निवृत्त हो सकता है, यह भी एक मत है ॥ ४१ ॥

'सर्वभोगो०' इत्यादि। प्राजापत्यपदकी प्राप्ति होनेपर सब कर्मोंका निखिल फलका उपभोग हो जायगा, इसलिए सब कामका लय होनेसे निखिल कर्म—श्रौत-स्मार्त-मुक्तिके अनुगुण हो जाते हैं—मुक्त्युपकारक हो जाते हैं। इसमें दोष यह है कि फलभोगसे कामध्वंसकी संभावना नहीं है, भोग रागका प्रवर्तक है, निवर्तक नहीं है; किन्तु विषयदोषदर्शन ही कामका निवर्त्तक है ॥ ४२ ॥

अच्छा तो कर्म रागविरोधी न सही, श्रुत ब्रह्मानन्द ही तदितर रागका विरोधी होगा, यह कहते हैं—'ब्रह्मानन्दः' इत्यादिसे।

कामप्रविलयायाऽतो विधयः कर्मकाण्डगाः ।
प्रलीनकामो विज्ञानकाण्डेऽधिक्रियते पुमान् ॥ ४४ ॥
नैवं न कामसम्प्राप्त्या तन्नाशोऽब्दशतैरपि ।
तत्सेवातो विवृद्धिः स्यान्निवृत्तिर्दोषदर्शनात् ॥ ४५ ॥
न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाऽभिवर्द्धते ॥ ४६ ॥

ब्रह्मानन्द श्रुत परोक्षज्ञानका विषय होनेपर भी अपरोक्ष अनुभवका विषय नहीं है, इसलिए अनुभूत फलसुखविशेषके सजातीय सुखानुरागप्रवाहको नहीं रोक सकता। अननुभूत ब्रह्मानन्दमें अनुराग नहीं है, वैषयिक सुख अनुभूत है, अतएव उसमें अभिलाषातिशय हैं, इसको शिथिल भी नहीं कर सकता, तो फिर रोकना तो बहुत कठिन है ॥ ४३ ॥

'कामप्रविल०' इत्यादि ।

कर्मकाण्डकी विधियां कामप्रविलयार्थ हैं, अतः तदनुष्ठान द्वारा प्रलीन-काम पुरुष विज्ञानकाण्डका अधिकारी है। पूर्वोक्त रीतिसे तत्तत्फलजनक निखिल-कर्मोंके अनुष्ठानसे अशेषफलका उपभोग हो जायगा, दूसरा कोई फल अवशिष्ट रहा नहीं, अतः भुक्त भोगोंमें फिर इच्छा न होगी, इसलिए प्रलीनकाम पुरुष मोक्षका अधिकारी है ॥४४॥

विषयोंके उपभोग रागके ध्वसंक नहीं हैं, किन्तु उनकी वृद्धिके कारण हैं, इस अभिप्रायसे पूर्वोक्त कथनका निराकरण करते हैं—'नैवम्' इत्यादिसे ।

कामके उपभोगसे सौ वर्षमें भी उसकी निवृत्ति नहीं हो सकती। सौ वर्ष उप-लक्षण है, कभी भी निवृत्ति नहीं हो सकती। कामके सेवनसे कामकी उत्तरोत्तर वृद्धि ही होती है, विषयदोषदर्शनसे ही कामकी निवृत्ति होती है। काम्यकर्म फलराग प्रकर्षके कारण होनेसे निवर्तक नहीं हो सकते, किन्तु नित्यकर्म तो अफल हैं, अतः वे रागनिवर्तक हो सकते हैं यह भी कहना ठीक नहीं है; क्योंकि 'कर्मणा पितृलोकः' इत्यादि श्रुतियोंसे उनका भी फल श्रुत है, इसलिए ये भी काम्यकर्मके सदृश निवर्तक नहीं हैं, किन्तु रागप्रकर्षके हेतु ही है ॥ ४५ ॥

'न जातु कामः' इत्यादि। कामोपभोगसे कभी भी कामकी शान्ति नहीं होती, प्रत्युत घीसे अग्निज्वालाकी तरह उसकी अधिक वृद्धि ही होती है ॥ ४६ ॥

गुणस्याऽदर्शनाद्दोषदृष्टेर्वा क्षीणकामनः ।
सर्वक्लेशोपशान्त्यर्थमात्मज्ञानं समाश्रयेत् ॥ ४७ ॥
कामाश्रितो विधिः कामं दोषवन्न विलापयेत् ।
कामुकः सन् प्रवर्तेत नाऽऽत्मज्ञाने कथञ्चन ॥ ४८ ॥
उद्विजेताऽथवा ज्ञानात् सर्वपुम्भोगघस्मरात् ।
तथा च रागिगीतायां पठ्यते वचनं त्विदम् ॥ ४९ ॥
अपि वृन्दावने शून्ये शृगालत्वं स इच्छति ।
न तु निर्विषयं मोक्षं कदाचिदपि गौतम! ॥ ५० ॥
वैराजान्तं फलं भुक्त्वा मुच्येतेति यदीरितम् ।
क्रममुक्तौ तत्तथाऽस्तु न तु सद्यो विमोचने ॥ ५१ ॥

'गुणस्याऽ०' इत्यादि। विषयोपभोगमें गुणके न देखनेसे तथा दोषोंके देखनेसे संपूर्ण कामनाएँ क्षीण हो जाती हैं, अतः संपूर्ण क्लेशोंकी शान्तिके लिए मुमुक्षु आत्मज्ञानका ही अवलम्बन करे ॥ ४७ ॥

'कामाश्रितो०' इत्यादि। कामाश्रित विधि—'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि विधि—दोषकी तरह [व्यतिरेकी दृष्टान्त] है, जैसे दोषदर्शन कामनाका निवर्तक है, वैसे ही कामनाश्रित विधि भी निवर्तक नहीं है, प्रत्युत आत्मज्ञानमें प्रतिबन्धक है, क्योंकि कामुक—कामनावान्—आत्मज्ञानमें किसी तरह प्रवृत्त नहीं हो सकता ॥ ४८ ॥

'उद्विजेताऽथवा' इत्यादि। भोगानुरागीका केवल ज्ञानमें प्रवृत्त्यभाव ही नहीं है, किन्तु वषयिक भोगोंके नाशक तत्त्वज्ञानसे उसे उद्वेग भी हो सकता है ॥ ४९ ॥

इसी तात्पर्यसे विषयवासनाओंसे आकृष्टचित्तोंका वचन है—'अपि वृन्दा०' इत्यादि।

विषयी शून्य वृन्दावनमें शृगाल होनेकी इच्छा करता है, किन्तु हे गौतम! निर्विषय मोक्षकी इच्छा कभी नहीं करता ॥ ५० ॥

'वैराजान्तम्' इत्यादि। प्राजापत्यपदकी प्राप्ति तत्त्वज्ञानका द्वार है, यह युक्तिबलसे कहते हैं या श्रुतिबलसे? युक्ति यह है कि प्रजापति सर्वात्मा है, सर्वशरीर द्वारा सब भोग हो जानेसे अवशिष्ट भोक्तव्य फलके न रहनेके कारण कामनाकी निवृत्ति हो जायगी, सो ठीक नहीं है, क्योंकि उक्त न्यायसे विषयका सेवन विषयरागका वर्द्धक होता है, नाशक नहीं होता। विषयोंमें दोषदर्शनसे विषयोंसे अपरक्त होकर सगुण ब्रह्मोपासनासे ब्रह्मलोक-प्राप्ति होती है तदनन्तर तत्त्वज्ञान

द्वारं न नियतं मुक्तेः प्राजापत्यं पदं भवेत् ।
नह्युपाधिषु तत्त्वस्य विशेषः कश्चिदीक्ष्यते ॥ ५२ ॥
नाऽऽकाशस्याऽविशेषोऽस्ति कुम्भद्रोण्याद्युपाधिषु ।
दूरान्तिकादिभिन्नेषु कल्पिताकल्पितेष्वपि ॥ ५३ ॥
अतः प्रजापतौ तत्त्वं क्रमौ वा न विशिष्यते ।
तर्कादागमतश्चाऽपि तद्यो य इति हीदृशात् ॥ ५४ ॥

होनेपर ज्ञानी सृष्टिके अन्तमें ब्रह्मके साथ मुक्त हो जाता है, इस प्रकार क्रममुक्तिका साधन वैराजपदकी प्राप्ति हो सकती है, किन्तु यह नियम नहीं है कि वैराजपदकी प्राप्ति ही मुक्तिका साधन है, क्योंकि उक्त पदकी प्राप्तिके विना भी 'तद्योयो देवानां प्रत्यबुध्यत' इत्यादि श्रुतिमें देव, मनुष्य आदिके शरीरमें तत्त्वज्ञान होनेपर मुक्ति लिखी है । इसलिए वैराजपदकी प्राप्ति नियत मुक्तिसाधन नहीं है । सद्योमुक्तिमें उक्त पदकी प्राप्ति हेतु नहीं है ॥ ५१ ॥

'द्वारं न नियतम्' इत्यादि । प्राजापत्यपद उक्त रीतिसे मुक्तिका नियत द्वार नहीं है, क्योंकि उपाधियोंमें कुछ भी तत्त्व-विशेष-नहीं देखते । मनुष्य, देवता, ब्रह्म आदिकी सभी उपाधियाँ एक ही समान हैं, क्योंकि अनात्म पदार्थ ही तो उपाधि है, सो सबमें समान है । इसी तरह उत्पन्न, उत्पद्यमान तथा उत्पत्स्यमान भी उपाधि समान ही है अर्थात् कल्पित ही है, अतः उपाधिके भेदसे उपहित आत्मामें भेद नहीं हो सकता है । जैसे घट, करक आदि उपाधिके भेदसे आकाशमें कुछ अन्तर नहीं आता, सबमें आकाश एकस्वभावसे ही है, वैसे ही आत्मा भी सब उपाधियोंमें एकरस है ॥ ५२ ॥

इसीको स्फुट करनेके लिए कहते हैं—**'नाऽऽकाशस्य'** इत्यादिसे ।

कुम्भ—घड़ा—, द्रोणी—दोन अर्थात् नौकाकार काष्ठनिर्मितजलसेचन पात्र—इन उपाधियोंमें विशेष होनेपर भी उनके आकाशमें कुछ विशेष नहीं है, एवं दूर, निकट उत्पन्न और उत्पत्स्यमान उपाधियोंमें आकाश एकस्वभाव ही रहता है तथा रहेगा, इसी तरह मनुष्य आदि ब्रह्मान्तोपाधिमें आत्मा एकरस ही है ॥ ५३ ॥

द्वितीय पक्षका निराकरण करते हैं—**'अतः प्रजा०'** इत्यादिसे ।

सब उपाधियोंमें आत्मा एकरस है, इस सिद्धान्तमें प्रजापतिमें तथा कृमि-कीटमें कोई विशेष नहीं हैं, दोनोंमें आत्मा एकरस है, तर्क—युक्ति—तथा आगम अर्थात् शास्त्रसे उभयत्र आत्मा सम है, कुछ भी विशेष सिद्ध नहीं होता है ॥५४॥

प्रत्यबुध्यत देवानां मध्ये योऽयं स एव तत् ।
अभवन्नान्य इत्याह श्रुतिर्वैषम्यवारिणी ॥ ५५ ॥
एको देवः सर्वभूतेष्विति चाऽऽहाऽपरा श्रुतिः ।
अतश्चोपाधिवैशेष्यान्नाऽऽत्मतत्त्वं विशिष्यते ॥ ५६ ॥

पूर्वमें युक्ति कह चुके हैं, अब आगम कहते हैं—'प्रत्यबुध्यत' इत्यादिसे ।

देवानाम्—देवताओं, ऋषियों तथा मनष्योंमें जो जो प्रबुद्ध हुआ अर्थात् ब्रह्मज्ञानी हुआ, वह ब्रह्म हुआ, इस कथनसे तत्त्वज्ञानोत्पत्ति देव, मनुष्य और प्रजापतिमें साधारण है । तत्त्वज्ञानोत्पत्तिमें वैराजपदकी प्राप्ति विशेषरूपसे नियत कारण नहीं है, किन्तु साधनसम्पत्ति जिस उपाधिमें उत्पन्न होती है, उसी उपाधिमें तत्त्वज्ञान तथा मोक्षकी प्राप्ति होती है । तत्त्वज्ञानके विना ब्रह्मकी प्राप्ति नहीं होती, अतएव 'नान्यः' कहा है। इससे देव, मनुष्य आदिकी आत्मामें कुछ विशेष नहीं है, इसी तात्पर्यसे कहा है—'वैषम्यवारिणी' । विराट्‌की भी मुक्ति तत्त्वज्ञानसे ही होती है, अन्यथा नहीं ॥ ५५ ॥

'एको देवः' इत्यादि ।

'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥'

पुराणप्रसिद्ध ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदिके भेदके वारणके लिए 'एको देवः' कहा है। आगे कहेंगे 'हरिर्ब्रह्मा पिनाकीति बहुधैकोऽपि गीयते' । अखण्ड जाड्यके निवारणके लिए 'देव, ऐसा कहा है । सूर्यके समान तटस्थताके वारणके लिए सर्वभूतेषु कहा है । तब आत्मा एक ही प्रतीत क्यों नहीं होता, इसपर कहते हैं—'गूढ़ः' । आधाराधेयभावसे प्रतीयमान भेदके निराकरणके लिए 'सर्वव्यापी' कहा है । सब ब्रह्मकी स्वरूपसत्तासे ही 'सत्' इत्याकारक प्रतीतिके विषय हैं, सदन्तरकी स्फूर्ति न होनेसे वस्तुकृत परिच्छेद भी नहीं है । नियम्यनियाकत्वप्रयुक्त भेदके निरासके लिए 'सर्वभूतान्तरात्मा' कहा है । ब्रह्मादि स्तम्बान्तका यही अन्तरात्मा है। 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' इस श्रुतिसे स्रष्टा ही स्वसृष्टमें अविकृतरूपसे प्रविष्ट हुआ, अतः आत्मान्तर नहीं है । यदि ब्रह्म ही अन्तरात्मा है, तो उसमें कर्तृत्व आदिकी प्रसक्ति हो जायगी, क्योंकि अन्तरात्मा कर्ता है, अतएव शुभाशुभफलभोक्ता है, अतः 'कर्माध्यक्ष' कहा है। फिर भी जगत्व्यापारका साक्षी होनेसे भेदका प्रसङ्ग होगा, इसलिए 'सर्वभूताधिवास' कहा है । सब भूतोंका अधिवास याने अधिष्ठान है । अधिष्ठानके

सद्योमुक्तिं वाञ्छतोऽतो दोषदृष्ट्या विलीयते ।
कामोऽतः कर्मकाण्डस्य तात्पर्यं नैव तल्लये ॥ ५७ ॥
अन्ये तु मन्वते केचिद्गम्भीरन्यायवादिनः ।
भेदस्य विलयो वेदे गम्यते कस्यचित् क्वचित् ॥ ५८ ॥
देहात्मभावविलयः स्वर्गकामपदे खलु ।
देहाद् भिन्नोऽधिकार्यत्र स्वर्गभोग्यवगम्यते ॥ ५९ ॥

विना आरोपितका स्वरूप नहीं हो सकता, इसलिए वस्तुपरिच्छेद नहीं है। घटके समान दृश्य होनेसे मिथ्यात्वकी प्रसक्तिके वारणके लिए कहते हैं—'साक्षी'। घट, पट आदि जड़ होनेसे मिथ्या हैं, आत्मा साक्षी है, अतः घटके समान मिथ्या नहीं है। ईक्षणका कर्ता होनेसे आत्मा परिच्छिन्न हो जायगा, इसलिए कहते हैं—'चेता'। द्रष्टा होनेपर लौकिक द्रष्टाके सदृश सविकार हो जायगा, इसलिए कहते हैं—'केवलः'। सन्निधानमात्रसे विश्वव्यवहारका हेतु होनेसे चिन्मात्रत्व ही द्रष्टृत्व है, आनन्दादि गुण हैं इस भ्रमके वारणके लिए 'निर्गुणः' ऐसा कहा है। सब विशेषोंसे शून्य एकरस ब्रह्म है, यह 'च' शब्दका तात्पर्यार्थ है ॥ ५६ ॥

'सद्योमुक्तिम्' इत्यादि। सद्यः मुक्ति चाहनेवालोंकी दोषदृष्टिसे कामना लीन हो जाती है, यही तात्पर्य कर्मकाण्डका है। भोगसे कर्मका लय होता है इसमें उसका तात्पर्य नहीं है। उक्त रीतिसे विषयसेवन रागका वर्द्धक है। जो जिसका साधक है, वही उसका निवर्तक नहीं हो सकता ॥ ५७ ॥

प्रपञ्चके विलय द्वारा कर्मकाण्ड ज्ञानकाण्डका शेष है, इसके माननेवालोंके मतका उल्लेख करते हैं—'अन्ये तु' इत्यादिसे।

प्रपञ्चके विलय द्वारा कर्मकाण्ड ज्ञानकाण्डका शेष है, यह मत अतिस्थूल है। अनायास ही इसका निराकरण हो सकता है, यह सूचित करनेके लिए उपहास करते हैं—'गम्भीरन्यायवादिनः' इत्यादि। यदि शास्त्रका प्रपञ्चाभावमें तात्पर्य होता, तो 'न प्रपञ्चोऽस्ति' इतना कहनेसे अभिमत अर्थकी सिद्धि हो जाती, फिर उसके लिए विपुल कर्मविधिबोधक वाक्य ही व्यर्थ हो जायँगे, इस आक्षेपका यह उत्तर है कि प्रतिषेध्यके बाहुल्यसे प्रतिषेधककी बहुलता है।

श्लोकार्थ—दूसरे गहनन्यायवादी वेदमें कहींपर किसी भेदका विलय प्रतीत होता है, यह मानते हैं ॥ ५८ ॥

तत्-तत् कार्य कि बोधक कर्मविधि है, प्रपञ्चाभावकी बोधक नहीं है, इस शङ्काकी निवृत्तिके लिए कहते हैं—'देहात्म०' इत्यादिसे।

रागाद्युत्थप्रवृत्तीनां निषेधेषु लयोऽञ्जसा।
विधिष्वपि लयस्तासां कार्यान्तरवियोगतः॥ ६०॥

प्रश्न—'स्वर्गकामो यजेत' इस वाक्यसे याग स्वर्गका साधन है, यह अर्थ प्रतीत होता है, किसीका त्याग तो प्रतीत नहीं होता, अतः यह वाक्य लयपरक कैसे होगा?

उत्तर—अन्य देश और अन्य कालमें भावी स्वर्गफलके भोगमें समर्थ अपनेको मानकर ही मनुष्य यागाधिकारी तथा यागका कर्ता होता है, अन्यथा नहीं। वह याग करनेवाला यह जानता है कि यह शरीर यहीं पर भस्म हो जायगा, स्वर्गमें नहीं जायगा, अतएव स्वर्गका भोक्ता शरीर नहीं है, इसलिए शरीरसे अतिरिक्त आत्मा है। इस प्रकार दृढ़ विश्वास करनेवाला ही यागका अनुष्ठान करता है। इस प्रकार देहात्मत्व-लयकी प्रमाके लिए प्रमाणकी अपेक्षामें उक्त वाक्य ही तात्पर्यवृत्तिसे उक्त अर्थमें प्रमाण है। यदि स्वर्गके साधनमें ही उक्त वाक्यका तात्पर्य माना जाय, तो देहातिरिक्त आत्मा है, यह प्रमा ही नहीं हो सकेगी, क्योंकि 'मैं मनुष्य हूँ', 'ब्राह्मण हूँ' इत्यादि प्रत्यक्षके देहविषयक होनेसे देहादिसे अतिरिक्त आत्मप्रमाका वह बाधक होगा।

उक्त वाक्यको देहात्मत्वलयपरक माननेमें तो प्रत्यक्षसे विरोध होनेपर भी आगम बाध्य नहीं है, किन्तु 'अयं सर्पः' इस प्रत्यक्षका 'नाऽयं सर्पः' यह आप्तोक्ति जैसे बाधक होती है, वैसे ही उक्त वाक्य ही प्रत्यक्षका बाधक है, यह तो ठीक है, किन्तु यागमें स्वर्गसाधनत्वकी प्रतीति न होनेपर स्वर्गार्थीकी यागादिमें प्रवृत्ति न होगी, इसलिए 'देवताधिकरण' न्यायसे वाच्यार्थमें भी वाक्य प्रमाण माना जायगा, अतः दोनों अर्थ प्रामाणिक ही हैं। देवताधिकरणमें देवता शरीरी हैं, या नहीं? इस विचारके प्रसंगसे यागमें देवताओंका प्रत्यक्ष नहीं होता, तथा एक कालमें भिन्न-भिन्न देशके यागोंमें देवताओंकी उपस्थिति नहीं हो सकती, अतः देवता अशरीरी हैं, मन्त्र स्तावक हैं, विग्रहमें उनका तात्पर्य नहीं है। इस सिद्धान्तके निराकरणके समय मन्त्रको स्तुतिपरक माननेपर भी प्रमाणान्तरसे विरोध न होनेके कारण वाच्यार्थमें भी मन्त्र प्रमाण हैं, इसी प्रकार उक्त वाक्यका अर्थरूप प्रमाण है, अतः स्वर्गकामवाक्य लयपरक ही है।

श्लोकार्थ—स्वर्गकामपदमें देहात्मभावके विलयकी प्रतीति होती है। देहादिसे भिन्न आत्मा है, इस प्रकार ज्ञाता ही यागका अधिकारी और स्वर्ग-भोगी अवगत होता है॥ ५९॥

काम्य कर्मकी विधि लयपरक है, इसका निरूपण करके अब निषेधवाक्य भी लयपरक है, ऐसा कहते हैं—'रागाद्यु०' इत्यादिसे।

लोकेऽपि चाऽनभिप्रेतात् पथः साक्षान्निवारणम् ।
मार्गान्तरोपदेशाद्वा वेदेऽप्येवं प्रतीयताम् ॥ ६१ ॥
एवं रागादिहेतूत्थप्रवृत्तिलयवर्त्मना ।
आत्मज्ञानाधिकारार्था निःशेषविधयः स्थिताः ॥ ६२ ॥

'न हन्यात्', 'न पिबेत्' इत्यादि निषेध और विधिवाक्य रागादिसे उत्पन्न हनन और पान आदिमें प्रवृत्तिके लयपरक हैं । इसी प्रकार नित्य और काम्यकी विधियाँ भी कार्यान्तरके विधान द्वारा स्वाभाविक प्रवृत्तिकी लयपरक हैं, यह जानना चाहिए । 'सायं प्रातरग्निहोत्रं जुहुयात्' यह नित्य विधि है । उक्त समयमें अग्निहोत्र कर्म करनेसे स्वाभाविक कार्यान्तरकी निवृत्ति होती है, क्योंकि विरुद्ध दो कार्य एक समयमें एक पुरुष नहीं कर सकता। अतः कार्यान्तरमें अवसरके अभावके आपादन द्वारा कार्यान्तराभावमें नित्य विधि पर्यवसन्न होती है, ऐसी ही काम्य विधि भी समझनी चाहिए । 'गोदोहनेन पशुकामस्यापः प्रणयेत्' यह वाक्य दर्शाधिकारमें पठित है, इसलिए यह वाक्य भी दर्शाधिकारीसे अतिरिक्त स्वतन्त्र अधिकारीका लय—अभाव—परक है। जो स्वर्गकामी दर्शाधिकृत है, वही पशुकामना होनेपर गोदोहनसे अपःप्रणयन करे, स्वतन्त्र स्वर्गकामी न करे, इसलिए गोदोहन वाक्य भी लयपरक है ॥६०॥

यदि नित्यादि कर्मविधियोंका कार्यान्तर-विधान द्वारा लयमें ही तात्पर्य है, तो वे साक्षात् ही अभावाभिधान क्यों नहीं करतीं, इस शङ्काकी निवृत्तिके लिए कहते हैं—'लोकेऽपि' इत्यादिसे ।

स्वयं मार्गको न जानकर ग्रामान्तरमें जानेकी इच्छा करनेवाला जिज्ञासु किसी आप्तसे पूछता है—किस मार्गसे जाऊँ ? परन्तु मार्गदर्शक आप्त पुरुष जिस मार्गसे जाना अभीष्ट नहीं है, उसका परिहार दो प्रकारसे करता है, एक तो साक्षान्निवारण अर्थात् इस मार्गसे मत जाओ और दूसरा प्रकार यह है कि उस मार्गसे जाओ, इसका तात्पर्य इधरसे मत जाओ, इसमें भी है । जैसे लोकमें दोनों प्रकारका उपदेश होता है, वैसे ही वेदमें भी दोनों प्रकारका उपदेश है । लोकानुसार वेदमें भी गौरव आदि दोष नहीं हैं । प्रपञ्चके लय द्वारा कर्मकाण्डका ज्ञानकाण्डके साथ शेषशेषिभाव सम्बन्ध है ॥ ६१ ॥

इसीके निगमनके लिए कहते हैं—'एवं रागादि०' इत्यादि ।

नित्य, नैमित्तिक, काम्य और निषेधकी सब विधियाँ रागादिहेतुक प्रवृत्तिके अभावके

मैवं किं भेदविलयो विधीनां फलकाङ्क्षया ।
तात्पर्यादात्मबोधस्य हेतुत्वाद्वाऽत्र कल्प्यते ॥ ६३ ॥
नाऽऽद्यस्तावद्यतोऽशेषा न कर्मविधयः फलात् ।
स्ववाक्यावगतात् किञ्चिदपेक्षन्ते फलान्तरम् ॥ ६४ ॥
तात्पर्यं च विधीनां स्यात् कर्मानुष्ठान एव हि ।
अन्तरेण त्वनुष्ठानं स्वर्गपश्वाद्यसम्भवात् ॥ ६५ ॥
श्रुतेर्विलयतात्पर्ये फलमाकस्मिकं भवेत् ।
फलार्थे चेल्लयो न स्यान्नोभयं वाक्यभेदतः ॥ ६६ ॥

द्वारा आत्मज्ञानाधिकारके लिए हैं अर्थात् तत्-तत् कर्मबोधन द्वारा कर्मान्तराभावमें तात्पर्य होनेसे सब कर्मविधियाँ ज्ञानके लिए ही हैं ॥ ६२ ॥

कर्मकाण्ड भेदलयके द्वारा ज्ञानविधिका शेष है, इस पक्षमें दोष कहते हैं—'मैवं किं' इत्यादिसे ।

क्या विवक्षित अविनाशी फलकी सिद्धिके लिए भेदके लयकी विधिकाण्डके रूपसे कल्पनाकी जाती है अथवा विधि ही लयपरक है किं वा लय आत्मज्ञानका हेतु है इसलिए ? सारांश यह है कि कर्मविधि क्या मोक्षार्थीके लिए है, अथवा स्वर्गार्थीके लिए है अथवा प्रपञ्चाभावार्थीके लिए है ? ॥ ६३ ॥

'नाऽऽद्यस्तावद्' इत्यादि । यदि संपूर्ण कर्मविधि स्ववाक्यमें श्रुत स्वर्गरूप फलसे अतिरिक्त मोक्षफलकी अपेक्षा ही नहीं करती, तो फिर मोक्षार्थ प्रपञ्चके अभावका बोधन कैसे करावेगी ॥ ६४ ॥

द्वितीय पक्षके निराकरण करनेके लिए कहते हैं—'तात्पर्यं च' इत्यादिसे ।

कर्मकाण्डमें कहीं भी भेदका लय श्रुत नहीं है, किन्तु कर्मविधियोंका कर्मानुष्ठानमें तात्पर्य्य है, प्रपञ्चाभावमें नहीं, अतः प्रपञ्चाभाव स्वर्गका हेतु नहीं है, किन्तु कर्म ही है, इसलिए स्वर्गार्थीके प्रति कर्मविधि प्रपञ्चाभावका बोधन नहीं करा सकती, स्वर्ग, पशु आदि फलकी उत्पत्ति कर्मानुष्ठानके विना नहीं होती, इसलिए स्ववाक्यमें श्रुत फलकी प्राप्तिके लिए स्वविहित कर्मानुष्ठानमें ही विधियोंका तात्पर्य है, अन्यत्र नहीं है ॥ ६५ ॥

लयपरकत्वमें बाधक कहते हैं—'श्रुतेर्विलयतात्पर्ये' इत्यादिसे ।

श्रुतियोंका तात्पर्य यदि विलयमें हो, तो स्वर्ग, पशु आदि श्रुत फल आकस्मिक

श्रुतेऽपि स्वर्गतात्पर्ये कल्पना चेल्लयेऽर्थतः ।
तन्न प्रत्यक्षवचनाद्देहादिलयसिद्धितः ॥ ६७ ॥
साक्षाद्धस्तिनि दृष्टेऽपि न हि हस्तिपदानुमा ।
अस्थूलादिवचः साक्षाद्देहादिप्रतिषेधकृत् ॥ ६८ ॥
नात्मबोधोऽपि भेदस्य लयाद्भवति कुत्रचित् ।
अलयेऽप्युपपन्नत्वाल्लये सुप्तावनीक्षणात् ॥ ६९ ॥

हो जायँगे, क्योंकि तत्तत्फलके साधनमें श्रुतियोंका तात्पर्य ही नहीं है। यदि श्रुत फलमें ही श्रुतियोंका तात्पर्य मानें, तो लयमें तात्पर्य सिद्ध नहीं हो सकेगा, दोनोंमें तात्पर्य माननेसे वाक्यभेद हो जायगा। और प्रपञ्चविलयो न साध्यः, अभावत्वात्, कूर्मरोमवत्, इस अनुमानसे पुत्र पशु आदिके अभावकी तरह प्रपञ्चाभाव भी पुरुषार्थ नहीं हो सकेगा, इसलिए प्रपञ्चाभावकी इच्छा भी नहीं हो सकती, अतः उसका विधान व्यर्थ है ॥६६॥

'श्रुतेऽपि' इत्यादि। कर्मविधियोंका वस्तुतः तत्-तत् फलमें ही तात्पर्य है, भेदका विलय तो अर्थतः सिद्ध होता है, देहात्मभावके विलयके विना स्वर्गादिके लिए कर्ममें प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती, यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाणसे ही देहादिका विलय सिद्ध है, इसके लिए शब्दप्रमाणकी अपेक्षा नहीं है। 'अनन्यलभ्यो हि शब्दार्थः' इस न्यायसे जो अन्य प्रमाणसे लब्ध न हो सके, वही शब्दार्थ माना जाता है, जो प्रमाणान्तरसे लब्ध है, वही अर्थात्-लब्ध कहलाता है, वह शब्दार्थ नहीं कहलाता है ॥ ६७ ॥

यदि देहादिका शाब्द हो सकता है, तो उसे अर्थतः मानना ठीक नहीं है, इसे कहते हैं—'साक्षाद्०' इत्यादिसे।

साक्षात् हाथीके दिखाई देनेपर उसके पैरका चिह्न देखकर उसका अनुमान नहीं किया जाता, क्योंकि सिद्धि अनुमितिकी प्रतिबन्धक है। जब हाथी दृष्ट न हो, तब उसका अनुमान होता है, किन्तु देखनेपर नहीं होता। जब 'अस्थूलमनणु' इत्यादि वचनसे साक्षात् ही देहादिका प्रतिषेध प्रमित है, तब फिर काम्य कर्मविधिमें श्रुत साक्षात् पश्वादि फलका त्याग कर देहादिविलयरूप अर्थकी कल्पना व्यर्थ है, यह तात्पर्य है ॥ ६८ ॥

तृतीय पक्षमें यह विकल्प होता है कि भेदलय साक्षात् मोक्षज्ञानका हेतु है, किं वा भेदकारणनिवर्तन द्वारा, अन्वय और व्यतिरेक व्यभिचार देखनेसे प्रथम पक्ष ठीक नहीं यही कहते हैं—'आत्मबोधेऽपि' इत्यादिसे।

गुरुशास्त्राद्यविलये बोधोऽयमुपपद्यते ।
लयमात्रेण चेद्बोधः सुप्तौ केन निवार्यते ॥ ७० ॥
सर्पाभासलयेऽपीयं रज्जुस्तमसि नेक्ष्यते ।
प्रत्युताभाससर्पोऽयं लीयते रज्ज्ववेक्षणात् ॥ ७१ ॥

भेदके लयसे आत्मज्ञान कहीं नहीं होता और भेदके लयके बिना भी आत्मज्ञान होता है, इसलिए आत्मज्ञानमें भेदलय कारण नहीं हो सकता । सुषुप्ति अवस्थामें भेदका विलय होनेपर भी मुक्ति नहीं देखी जाती है ॥ ६९ ॥

उक्तार्थका ही स्पष्टीकरण करनेके लिए कहते हैं—'गुरुशा०' इत्यादिसे ।

गुरु, शास्त्र आदि भेदके लयके बिना भी आत्मज्ञान होता है । यदि लयमात्रसे मुक्ति होती, तो सुषुप्तिदशामें भी मुक्ति कौन रोक सकता ? सुषुप्ति अवस्थामें मुक्तिके न देखनेसे लय मुक्तिका कारण नहीं हो सकता, यह स्पष्ट निश्चय होता है ॥७०॥

जाग्रत्-अवस्थामें अन्वय-व्यभिचार कहते हैं—'सर्पाभास०' इत्यादिसे ।

रस्सीमें सर्पभ्रम होनेके बाद अन्धकारमें सर्पाभासका लय होनेपर भी रस्सीका साक्षात्कार नहीं होता है, इससे अध्यस्तका लय अधिष्ठानके तत्त्वके साक्षात्कारका कारण नहीं होता है, किन्तु अधिष्ठानसाक्षात्कार ही अध्यस्तका निवर्तक होता है, यही कहते हैं—'प्रत्युत' इत्यादिसे । अर्थात् रज्जुदर्शन ही आभास सर्पका निवर्तक है । तात्पर्य यह है कि ज्ञानका साधन प्रपञ्चका लय नहीं है, अतः वह विधिका विषय नहीं हो सकता ।

अब यह कहना है कि प्रपञ्च अनादि है या सादि ? प्रथम पक्षमें आत्माके सदृश अनादि भावभूत प्रपञ्चकी निवृत्ति नहीं हो सकती; द्वितीय पक्षमें कारणकी निवृत्तिसे कार्यकी निवृत्ति हो सकती है, अन्यथा नहीं । कारण है अज्ञान, वह ज्ञानके बिना निवृत्त नहीं हो सकता । यदि प्रपञ्चके ध्वंससे ज्ञानोत्पत्ति, ज्ञानसे अज्ञानकी निवृत्ति और उससे प्रपञ्चका ध्वंस, ऐसा मानो, तो अन्योन्याश्रय ही होगा । और यह भी शङ्का है कि निखिल प्रपञ्चका ध्वंस ज्ञानका कारण है ? किंवा प्रपञ्चके एकदेशका ध्वंस ज्ञानका कारण है ? प्रथम पक्षमें ज्ञानके बिना केवल कर्मविधियोंसे सम्पूर्ण प्रपञ्चका ध्वंस असंभव है । हां, ईश्वर निखिलप्रपञ्चका ध्वंस करते हैं, किन्तु वे ज्ञानविधिके नियोज्य—अधिकारी—नहीं हैं । एकदेशपक्षमें भी यदि यत्किञ्चित् एकदेश अभिप्रेत हो, तो प्रपञ्चका एकदेश घट भी है, अतः उसका ध्वंस भी ज्ञानका कारण होगा । परन्तु घटके फोड़नेमात्रसे ज्ञान नहीं होता ।

अथ प्रपञ्चनाशेन नाश्यते भेदकारणम् ।
नैवं न कार्यनाशेन कारणं नश्यति क्वचित् ॥ ७२ ॥

यदि एकदेशसे आध्यात्मिक शरीर, इन्द्रिय आदि अभीष्ट हों, तो स्वप्नावस्थामें इन्द्रिय आदिका लय स्वाभाविक होनेसे शास्त्रसे विहित पुरुषके व्यापारकी अपेक्षा नहीं होगी, क्योंकि जो स्वतः उत्पन्न होता है, वह शास्त्रविधिका विषय नहीं होता। यदि कहो कि स्वप्नदशामें इन्द्रिय आदिका लय तो अवश्य होता है, किन्तु जागनेपर फिर इन्द्रिय आदि देखे जाते हैं, इसलिए उस अवस्थामें उनका लय आत्यन्तिक नहीं है। ध्वस्तका पुनः अनुत्पाद ही आत्यन्तिक लय कहा जाता है, अतः आत्यन्तिक लयकी सिद्धिके लिए उसको विधिका विषय मानते हैं?

अच्छा तो यह कहिए कि स्वप्नसे पहले जो इन्द्रियादि थे, वे ही जागनेपर फिर देख पड़ते हैं? या तज्जातीय?

यदि वे ही, तो जो स्वप्नावस्थामें थे वे ही ये हैं, ऐसा अवश्य मानना होगा। अब यह बतलाइए कि क्या अभिव्यक्तरूपसे वे थे या अनभिव्यक्तरूपसे? प्रथम पक्षमें स्वापकी व्याहति और जाग्रदवस्थाकी आपत्ति होगी। यदि द्वितीय पक्ष कहिए तो अनभिव्यक्तरूपसे शरीर, इन्द्रिय आदि जैसे स्वप्नावस्थामें रहते हैं, वैसे ही ज्ञानविधिके विषयभूत शरीर आदिके लयमें भी अनभिव्यक्तरूपसे शरीर आदि रहेंगे ही, अतः शरीर, इन्द्रिय आदिके उच्छेदमें ही शङ्का होनेसे मोक्ष सिद्ध नहीं हो सकता। यदि यह कहिए कि स्वप्नावस्थामें शरीर आदिके हेतुका लय नहीं होता, इसलिए फिर उत्पत्ति हो जाती है और ज्ञानके हेतु प्रपञ्चके लयमें शरीर आदिके हेतुका लय होनेसे फिर उनकी उत्पत्ति नहीं हो सकती, तो इस कथनमें प्रमाणाभावसे विश्वास ही नहीं हो सकता। द्वितीय पक्षमें शरीर, इन्द्रिय आदिके नाशका हेतु प्रपञ्चनाश है या ज्ञाननियोग? प्रथम पक्ष अयुक्त है, क्योंकि कार्यनाश कारणका नाशक नहीं होता, इसलिए प्रपञ्चनाश शरीर आदि हेतुका नाशक नहीं हो सकता, द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि ज्ञाननियोग शरीर आदिके हेतुका नाशक नहीं है, क्योंकि ज्ञाननियोग प्रपञ्चलय द्वारा अज्ञानका निवर्तक है। इसलिए शरीरादिके हेतु अज्ञानकी निवृत्ति मानोगे, तो यह भी नहीं होता, क्योंकि अज्ञानके नाशके लिए वास्तविक ज्ञान ही अपेक्षित होता है, दूसरा नहीं, इसलिए प्रपञ्चका लय निष्फल है, अतः वह विधिका विषय नहीं हो सकता ॥७१॥

उक्त अर्थको ही अग्रिम श्लोकोंसे कहते हैं—

प्रपञ्चके नाशसे भेदके कारण अर्थात् प्रपञ्चके उपादान अज्ञानका नाश

कारणं किमविद्या स्याद्वस्तु वा तत्त्वबोधतः ।
अविद्यानाशनं तत्र प्रपञ्चविलयोऽफलः ॥ ७३ ॥
वास्तवोऽयं प्रपञ्चश्चेत्स विलाप्यो न केनचित् ।
अन्यथा स्वात्मतत्त्वस्य विलयो नैव वार्यते ॥ ७४ ॥
किञ्च कृत्स्नस्य विलयः कर्तुं शक्यो न जन्मभिः ।
लयस्तु जायते स्वापे स्वत एव न शास्त्रतः ॥ ७५ ॥
किञ्च भावी न चोच्छेद्यो भूतोऽप्युपरतः स्वतः ।
प्रपञ्चो वर्तमानस्तु कार्यत्वान्नश्यति स्वतः ॥ ७६ ॥

होता है, यह मानना ठीक नहीं है, क्योंकि कार्यका नाश कारणका नाशक नहीं होता, किन्तु कारणका नाश कार्यका नाशक होता है ॥ ७२ ॥

विकल्पपूर्वक कारणकी जिज्ञासा करते हैं—'कारणम्' इत्यादिसे ।

प्रपञ्चकी कारण अविद्या है अथवा उससे भिन्न दूसरा पदार्थ ? प्रथम पक्षमें तत्त्वज्ञान ही अविद्याका नाशक हो सकता है, दूसरा नहीं, क्योंकि अज्ञानका विरोध ज्ञानके साथ है, पदार्थान्तरके साथ नहीं है, अतः पूर्वोक्त रीतिसे प्रपञ्चविलय निष्फल है, इसलिए वह विधिका विषय नहीं हो सकता ॥ ७३ ॥

यदि अविद्यासे अतिरिक्त पारमार्थिक कोई कारण है, तो प्रपञ्चका विलय हो ही नहीं सकता, इसे कहते हैं—'वास्तवोऽयम्' इत्यादिसे ।

यदि प्रपञ्च अविद्याहेतुक नहीं है, किन्तु पारमार्थिकहेतुक है, तो प्रपञ्च भी आत्माके समान पारमार्थिक ही होगा, अतः आत्माके समान वह निवृत्त ही नहीं हो सकता। यदि पारमार्थिककी भी निवृत्ति मानोगे, तो अपनी आत्माकी निवृत्तिका वारण कौन करेगा ? और प्रपञ्चकी तरह यदि आत्माकी निवृत्ति होगी, तो शून्यवादकी आपत्ति हो जायगी तथा आत्माके नित्यत्व आदिकी बोधक श्रुतिके साथ विरोध भी होगा ॥ ७४ ॥

सम्पूर्ण प्रपञ्चका विलय अनेक जन्मोंसे भी साध्य नहीं है, इसे कहते हैं—**'किञ्च'** इत्यादिसे ।

अनेकों जन्म होनेपर भी संपूर्ण प्रपञ्चका विलय नहीं हो सकता है। और एकदेश शरीरादिका लय तो शास्त्रके विना स्वतः ही स्वप्नावस्थामें होता है, अतएव वह शास्त्रविधिका विषय नहीं है ॥ ७५ ॥

'किञ्च भावी' इत्यादि। भावी, भूत तथा वर्तमान प्रपञ्चका ध्वंस ज्ञाननियोगका विषय नहीं हो सकता, क्योंकि भावी तो प्राप्त ही नहीं है, अनुत्पन्नका ध्वंस असम्भव

किञ्च भेदलयेनैव सर्वानर्थप्रहाणतः ।
पुरुषार्थस्य संसिद्धेर्विद्या नैष्फल्यमापयेत् ॥ ७७ ॥
अत ऐकात्म्ययाथात्म्यज्ञानादज्ञानहानतः ।
सिद्धे पुमर्थे विलयकल्पना निष्प्रयोजना ॥ ७८ ॥
इष्टसाधनता बोध्या विधिभिः सकलैरपि ।
अनिष्टसाधनत्वं तु निषेधैरिति हि स्थितिः ॥ ७९ ॥

ही है और भूत तो निवृत्त हो ही चुका है, अतः निवृत्तकी निवृत्ति क्या होगी ? वर्तमान प्रपञ्च तो कार्य ही है, अतः भूत प्रपञ्चकी निवृत्तिके समान नियोगके बिना भी वह निवृत्त हो ही जायगा, फिर उसमें नियोग मानना व्यर्थ ही है ॥७६॥

'किञ्च भेद०' इत्यादि। कर्मविधि यदि प्रपंच-ध्वंसपरक हो, तो यह भी दोष होगा कि प्रपंचके ध्वंससे ही मोक्ष हो जायगा, फिर अध्यात्मविद्याकी क्या आवश्यकता है ? अर्थात् फलान्तरके अभावसे विद्या ही व्यर्थ हो जायगी ॥७७॥

'अत ऐका०' इत्यादि। यदि ऐकात्म्यके ज्ञानसे अज्ञानका नाश मानें, तो विद्या सफल होगी और अज्ञानका नाश होनेपर सर्वानर्थकी निवृत्ति होगी और इसीसे अनौपाधिक आत्माका लाभ होनेपर तो प्रपंचका ध्वंस निष्फल है एवं पूर्वोक्त अन्यो-न्याश्रय दोषसे भी प्रपंचका ध्वंस ज्ञानका कारण नहीं हो सकता ॥ ७८ ॥

'इष्टसाधनता' इत्यादि।

शङ्का—यदि कर्मविधियोंका भेदलयमें तात्पर्य नहीं है, तो उनका तात्पर्य कहाँ है ?

समाधान—सब कर्म विधियोंका इष्टसाधनत्वमें तात्पर्य है और निषेधोंका अनिष्ट-साधनत्वमें तात्पर्य है; यह शास्त्रका सिद्धान्त है; अतएव कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्डमें एकवाक्यता नहीं है, कारण कि स्व-स्ववाक्योपात्त फलके साधक होनेसे दोनों वाक्य सार्थक हैं, अतः परस्पर अपेक्षा भी नहीं है, क्योंकि निरपेक्ष वाक्योंकी एकवाक्यता सर्वानुभवविरुद्ध है। एकवाक्यता अङ्ग और प्रधान वाक्योंमें होती है। अङ्ग वाक्योंको फलकी आकांक्षा होती है और प्रधान वाक्योंको इतिकर्तव्यताकी आकांक्षा होती है। उनके परस्पर साकांक्ष होनेसे दर्शपूर्णमासमें अधिकृत पुरुष ही प्रयाजादिका अधिकारी होता है, 'उद्भिदा यजेत पशुकामः' 'दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयात्' इन स्वतन्त्र वाक्योंके समान स्वतन्त्र अधिकारी नहीं होता है। और यह भी दोष है कि विधि और निषेध वाक्योंको नामरूपकर्मात्मक प्रपञ्चके अभावपरक माननेपर 'तत्त्वमसि' यह वाक्य भी तो वेद ही है, अतः इसे भी प्रपञ्चाभावपरक मानना ही होगा, फिर श्रवणादि

सोपानपङ्क्तिगत्येव हर्म्यपृष्ठाधिरोहणम् ।
अशेषकर्मक्रमतोऽधिकारं केचिदूचिरे ॥ ८० ॥
संध्यावन्दनमारभ्य क्रमानुष्ठितकर्मभिः ।
सहस्रवर्षसत्रान्तैर्ज्ञानितामधिरोहति ॥ ८१ ॥
यथैव नगराध्वस्थग्रामगत्युपदेशनम् ।
नगराध्वोपदेशस्य शेषत्वं प्रतिपद्यते ॥ ८२ ॥
तथैव मोक्षमार्गस्थस्वर्गादिगतिभाषणम् ।
मोक्षमार्गोपदेशस्य शेषत्वं किं न गच्छति ? ॥ ८३ ॥

विधायक वाक्य ही नहीं रहेगा, अविहितका अनुष्ठान नहीं होता है, अतः स्वर्गकी तरह अपवर्ग भी आकस्मिक हो जायगा । हो जांय, क्या दोष है ? शास्त्रानर्थक्यकी आपत्तिरूप महा दोष है ॥ ७९ ॥

'सोपान' इत्यादि । जैसे कोठेपर चढ़नेवाला पुरुष क्रमसे सीढ़ियोंपर चढ़ता है, वैसे ही मुमुक्षु भी स्वर्ग आदि द्वारा मोक्ष प्राप्त करता है, इसलिए स्वर्गादि-हेतुक सकल कर्मोंके अनुष्ठानके अनन्तर पुरुष ज्ञानका अधिकारी होता है, यह भी मतान्तर है, [परन्तु क्रमिक सोपानगमन प्रासादके पृष्ठारोहणका शेष है, इसमें क्या प्रमाण है ?] ॥८०॥

'सन्ध्या' इत्यादि । संध्यावन्दनसे लेकर हजार वर्षमें होनेवाले सत्र पर्यन्त बिहित कर्मोंके अनुष्ठान द्वारा ज्ञानमें आरूढ होता है ॥ ८१ ॥

'यथैव' इत्यादि । जिस तरह शहर जानेका मार्ग बतलाया जाता है कि यह मार्ग अमुक ग्राम जायगा, वहांसे अमुक ग्राम जायगा, वहांसे अमुक नगर जायगा, इसी मार्गसे सीधे चले जाइये, जहां कई तरफ मार्ग गया हो, वहां यदि अपने गन्तव्य ग्राममें जानेवाले मार्गको पूछकर उसीसे जाता है, तो अभीष्ट नगरमें पहुंच जाता है उसी तरह स्वर्ग, चन्द्रलोक, सूर्यलोक, ब्रह्मलोक होकर मोक्ष पदको प्राप्त हो जाता है । नगरगतिका शेष जैसे ग्रामगति है, वैसे ही मोक्षकी प्राप्तिका शेष स्वर्गादिगमन भी है ॥ ८२ ॥

'तथैव मोक्ष' इत्यादि । दार्ष्टान्तिकमें कहते हैं—उसी तरह स्वर्गादिगमन भी मोक्षमार्गका शेष क्यों नहीं होगा ? ॥ ८३ ॥

शङ्का—यदि कहिये कि नगरमार्गस्थ ग्रामगति तो शेष इसलिए है कि ग्राम-गति फलविशेष न होनेसे इष्ट नहीं है, किन्तु फलविशेषके लाभके लिए नगर-

यद्वोपच्छन्दनार्थानि स्वर्गादीनि विमुक्तये ।
नगराप्त्यै तदध्वस्थग्रामादिगुणगीरिव ॥ ८४ ॥
एवं च सति दृष्टेन द्वारेणैवोपकारिणः ।
आत्मज्ञानाधिकारस्य विधयः सकला अपि ॥ ८५ ॥
मैवं ग्रामगतेः पुंसोऽनर्थ्यत्वादस्तु शेषता ।
स्वयमेव पुमर्थत्वात् स्वर्गादेः शेषता कथम् ? ॥ ८६ ॥

प्राप्ति ही अभीष्ट है, इसलिए ग्रामगति शेष हो सकती है, स्वर्गादिप्राप्ति तो स्वयं पुरुषार्थ होनेसे स्वतः इष्ट है, इसलिए वह मोक्षशेष नहीं हो सकती ।

समाधान—स्वर्गादि फल विवक्षित नहीं हैं, किन्तु केवल प्ररोचनार्थ हैं, इस तात्पर्यसे कहते हैं—'यद्वोपच्छन्द०' इत्यादिसे ।

जैसे नगरकी प्राप्तिके लिए ग्रामप्राप्तिके गुणका कीर्तन किया जाता है, वास्तविक ग्रामप्राप्तिके गुण विवक्षित नहीं हैं, वैसे ही स्वर्गादि फल विवक्षित नहीं हैं, केवल मोक्षप्राप्तिके लिए कर्मविधिवाक्योंमें प्ररोचनार्थ फलका कीर्तन है अर्थात् जो पुरुष सांसारिक सुखोंसे विलक्षण मोक्ष फलकी कामना नहीं करता, उस पुरुषकी मोक्षमें प्रवृत्ति होनेके लिए स्वर्गादिफलके बोधक वाक्य प्ररोचनार्थ हैं, उनका स्वार्थमें तात्पर्य नहीं है । अब यह शङ्का होती है कि वस्तुतः उक्त कर्मोंका स्वर्गादि फल है या नहीं ? यदि है तो वाक्य प्ररोचनार्थ नहीं हो सकता, अतः उसको स्वार्थपरक ही मानना चहिए । यदि नहीं है, तो शशविषाणके समान प्ररोचनार्थ भी नहीं हो सकता, इसका उत्तर यह है कि जैसे बालकको नगर ले जानेकी इच्छासे नगरमार्गस्थ ग्राममें अन्न, पान आदि सुलभ भोगकी सामग्रीका आरोप करके वर्णन किया जाता है, ग्रामप्राप्ति होनेपर उससे भी विलक्षण और उपादेय नगरप्राप्तिका फल वर्णन किया जाता है, जिससे ग्रामप्राप्तिके फलमें वैराग्य हो जाय और नगरप्राप्ति हो, वैसे ही सांसारिक फलके वैराग्यके लिए स्वर्गादि विशेष फलका गुणगान कर पश्चाद् उसमें भी वैराग्य होनेके लिए वास्तविक मोक्ष फलका वर्णन किया जाता है, अतः कर्मविधियोंका ज्ञाननियोग द्वारा मोक्षमें ही पर्य्यवसान है ॥ ८४ ॥

'एवं च' इत्यादि । इस तरह सब कर्मविधियाँ दृष्ट द्वारा ही ज्ञानाधिकारकी उपकारक हैं, कर्मफलके भोगके अनन्तर फिर कर्ममें प्रवृत्ति नहीं होगी ॥ ८५ ॥

'मैवं ग्राम०' इत्यादि । ग्रामगति पुरुषको इष्ट नहीं है, क्योंकि उसमें कुछ

यदुपच्छन्दनार्थत्वं नृवाक्ये तत्समञ्जसम् ।
वेदे तु वक्तृराहित्यादभिप्रायाद्यसम्भवः ॥ ८७ ॥
यद्वा तत्रैव तात्पर्यं यत्रोपच्छन्द्य नीयते ।
ततश्च विधितात्पर्यं स्वर्ग एव न मोक्षणे ॥ ८८ ॥

विशेष फल ज्ञात नहीं होता, अतः वह नगरप्राप्तिका शेष हो सकता है, स्वर्ग आदि तो स्वयं पुरुषार्थ हैं, इसलिए वे शेष नहीं हो सकते ॥ ८६ ॥

श्रुत होनेपर भी उक्त रीतिसे स्वर्गादि विवक्षित नहीं हैं, अतः वे शेष हो सकते हैं, इस शङ्काकी निवृत्तिके लिए कहते हैं—'यदुप०' इत्यादिसे ।

पौरुषेय वाक्यमें फलश्रुति प्ररोचनार्थ हो सकती है, क्योंकि पुरुषाभिप्राय प्रमाणान्तरसे जान सकते हैं, इसलिए नगरप्राप्तिके मार्गमें स्थित ग्रामकी प्राप्तिका गुणकीर्तन नगरप्राप्तिका शेष हो सकता है, अपौरुषेय वेदका तो कोई वक्ता है नहीं, अतएव विप्रलम्भादिकी सम्भावना ही नहीं है, तो फिर फलश्रुति प्रलोभनके लिए है, यह कैसे कह सकते हैं ? अतः प्रमाणान्तरके अविषय इस अर्थमें श्रुत्यादिके विना शेषशेषिभावकी कल्पना ही असङ्गत है ॥८७॥

'यद्वा तत्रैव' इत्यादि । उपच्छन्दक—विप्रलम्भक— यह जानता है कि मार्गस्थ ग्रामकी प्राप्ति नगरकी प्राप्तिका शेष है ? अथवा प्रतिपत्ता ? किं वा प्रतिपित्सु बालक ? पहला पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि वाक्य परार्थ होता है, स्वार्थ नहीं होता। दार्ष्टान्तिक वेदमें वक्ता ही नहीं है । प्रतिपत्ता अथवा प्रतिपित्सु भी मार्गग्रामोक्तिका तात्पर्य मार्गमें ही जानता है, अन्यत्र नहीं। शब्दान्तरसे अथवा प्रमाणान्तरसे नगरके नेताका नगरप्राप्तिमें अभिप्राय ही ज्ञात नहीं है, अतः ज्ञात और अज्ञातमें शेष-शेषिता नहीं हो सकती, इसलिए नगरमार्गस्थ ग्रामकी उक्तिका नगरमार्गग्राममें ही तात्पर्य जानता है, तदधीन व्युत्पित्सु बालक भी ग्रामगतिका कथन नगरगतिका शेष है, यह नहीं जान सकता ।

श्लोकार्थ—नगरप्राप्तिके मार्गस्थित ग्रामकी प्राप्तिका गुणकीर्तन ग्रामप्राप्तिपरक ही है, नगरप्राप्तिपरक नहीं है, इसलिए तच्छेष नहीं है, एवं कर्मविधियोंका फलकीर्तन कर्मानुष्ठानपरक ही है, मोक्षशेष नहीं है । जैसे प्रलोभन देकर जिस नगरमार्गस्थ ग्राममें ले जाता है, उस ग्राममें ही उसके गुणकीर्तनका तात्पर्य है, नगरकी प्राप्तिमें नहीं है । वैसे ही कर्मविधियोंका तात्पर्य स्वर्गादिमें ही है, मोक्षमें नहीं ॥८८॥

दृष्टद्वारं च रागादिप्रवृत्तिप्रतिबन्धनम् ।
यदि तर्हि निषेधेषु द्वारं भवतु तत्तथा ॥ ८९ ॥
विधयस्तु निरुन्धन्ति न रागं रागहेतवः ।
वर्धयन्ते प्रत्युताऽमी रागं भोगप्रधानतः ॥ ९० ॥
अशेषकर्मानुष्ठानमल्पायुषि न सम्भवेत् ।
सोपानपङ्क्तिन्यायोऽतो मन्दबुद्धिप्रकल्पितः ॥ ९१ ॥

पूर्वमें यह जो कहा था कि प्रवृत्तिके प्रतिबन्ध द्वारा कर्मविधि ज्ञानमें उपकारक है, वह ठीक नहीं है, ऐसा कहते हैं—'दृष्टद्वारम्' इत्यादिसे ।

विषयानुरागसे होनेवाली स्वाभाविकप्रवृत्तिके प्रतिबन्ध द्वारा कर्मविधि ज्ञानमें उपकारक है, यह जो कहा था वह ठीक नहीं है, क्योंकि निषेधविधि रागाधीन प्रवृत्तिकी निवृत्ति द्वारा ज्ञाननियोगकी उपकारक हो सकती है, कर्मविधि तो, प्रवर्तक ही है, चाहे स्वाभाविक रागाधीन प्रवृत्ति हो या स्वर्गादिरागवश प्रवृत्ति हो, प्रवृत्तिमात्र ज्ञानका प्रतिकूल है । हाँ निषेधविधियां कर्ममें प्रेरक नहीं हैं, इसलिए वे ज्ञानोपकारक हो भी सकती हैं ॥ ८९ ॥

'विधयस्तु' इत्यादि । निषेधविधिके सदृश कर्मविधि भी रागादिमूलक स्वाभाविक प्रवृत्तिके वारण द्वारा ज्ञाननियोगकी शेष हो सकती है, यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि परिसंख्या, नियम और अपूर्व इस भेदसे विधि तीन प्रकारकी होती है । उभयप्राप्तिस्थलमें परिसंख्या विधि होती है, जैसे 'इमामगृभ्णन् रशनामृतस्येत्यश्वाभिधानीमादत्ते' । उसकी तरह कर्मविधिमें उभय-प्राप्ति नहीं है, अतः अन्यनिवृत्ति फलतः नहीं सिद्ध हो सकती । पाक्षिकप्राप्तिमें नियमविधि है, जैसे 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' । इसकी तरह प्रकृतमें नियमविधि भी नहीं है, क्योंकि पाक्षिक-प्राप्ति नहीं है, इसलिए अन्यनिवर्तक नहीं है, अपूर्वविधि तो अत्यन्त अप्राप्त अर्थकी बोधक होती है । लिखा है—

'विधिरत्यन्तमप्राप्तौ नियमः पाक्षिके सति ।
तत्र चाऽन्यत्र च प्राप्तौ परिसंख्येति गीयते ॥'

अपूर्वविधिमें केवल अप्राप्त अर्थका विधान होता है, इतरकी निवृत्ति नहीं होती । इस परिस्थितिमें रागहेतु विधि रागकी निवृत्ति नहीं करती, किन्तु भोगके प्राधान्यसे रागको बढ़ाती ही है, भोगासक्तिवश तत्तत् श्रुतिमें उक्त फलोद्देशसे ही कर्ममें प्रवृत्ति होती है, इसलिए उक्त विधियाँ रागवर्द्धक हैं । उनसे निवृत्ति होना असंभव है ॥ ९० ॥

'अशेषकर्मा' इत्यादि । थोड़ी आयुमें मनुष्य सकल विहित कर्मोंका

अपरे मन्वते मोक्षे ज्ञानकर्मसमुच्चयः ।
प्रधानगुणभावेन त्रिविधोऽसौ समुच्चयः ॥ ९२ ॥
ज्ञानं प्रधानं केषाञ्चिदन्येषां कर्ममुख्यता ।
समप्राधान्यमुभयोरपरेषां मते स्थितम् ॥ ९३ ॥

अनुष्ठान नहीं कर सकता । अतएव सोपानपङ्क्तिन्याय मन्दबुद्धियों द्वारा कल्पित है, प्रामाणिक नहीं है । अन्ततः सौ वर्षकी मनुष्योंकी परम आयु है, क्योंकि 'शतायुर्वै पुरुषः' ऐसी श्रुति है । और एक सत्र हजार वर्षमें सम्पन्न होता है, अतः सौ वर्ष तक जीनेवाला भी सब कर्मोंको नहीं कर सकता । इसलिए उक्त न्याय मन्दबुद्धि पुरुषों द्वारा कल्पित है ॥ ९१ ॥

समुच्चयपक्षमें दोष देनेके लिए समुच्चयका अवान्तर भेद कहते हैं—'अपरे' इत्यादिसे ।

कोई-कोई आचार्य ज्ञानकर्मसमुच्चयको मोक्षका कारण मानते हैं और वह समुच्चय गुणप्रधानभावसे तीन प्रकारका होता है ॥ ९२ ॥

समुच्चयके साफ-साफ ज्ञानके लिए वह तीन प्रकारका होता है, यह कहते हैं—'ज्ञानं प्रधानम्' इत्यादिसे ।

कोई लोग कहते हैं कि विज्ञान—आत्मैकत्वविज्ञान—प्रधान है और कर्म गुण है । दूसरोंका कहना है कि कर्म ही प्रधान है और ज्ञान गुण है । तीसरा मत यह है कि ज्ञान और कर्म दोनों समप्रधान हैं, गुण कोई नहीं है । इस त्रिविध समुच्चयमें कर्मकाण्ड प्रमाण है अथवा ज्ञानकाण्ड ? प्रथम पक्ष ठीक नहीं है, कारण कि केवल कर्म-विधियोंका स्वर्गादिके साधनत्वमें तात्पर्य है । द्वितीय पक्ष भी समीचीन नहीं है, क्योंकि उपनिषत्का तात्पर्य केवल ऐकात्म्यज्ञानमें है—उपक्रमोपसंहारसे अपरोक्षैकरस ब्रह्ममें ही उनके तात्पर्यका पर्यवसान होता है, इसलिए अप्रामाणिक होनेसे समुच्चय अयुक्त है । तीनों समुच्चयोंमें यह दोष समान है । और विशेष दोष यह है कि दर्शपूर्णमास प्रकरणमें 'यदाग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायां पौर्णमास्यां वाऽच्युतो भवति' इत्यादि वाक्यसे आग्नेय आदि कर्म दर्श आदि कालद्वयसंयुक्त पठित हैं ।

'य एवं विद्वान् पौर्णमासीं यजते, य एवं विद्वान् अमावास्यां यजते' यह भी श्रुत है । वहाँपर यह संशय होता है कि यह विद्वद्वाक्य प्रकृत आग्नेयादि समुदायका अनुवादक है या अपूर्व कर्मान्तरका विधायक है ? 'समिधो यजति'

इत्यादिकी तरह अभ्याससे कर्मान्तरकी विधि है, ऐसा पूर्वपक्ष कर द्रव्य और देवता ये दोनों यागके स्वरूप हैं, प्रकृतमें यागके स्वरूपका भेदक द्रव्य और देवताका भेद नहीं है, अतः पूर्व वाक्यसे विहित कर्मोंका अनुवादक है, यह सिद्धान्त किया गया है। जैसा 'य एवं विद्वान् पौर्णमासीं यजते' 'य एवं विद्वान् अमावास्यां यजते' इन वाक्योंमें पठित दो 'यजति' पदोंद्वारा समुदायानुवादसे 'दर्शपूर्णमासाभ्याम्' इत्यादि अधिकारी वाक्यमें द्वित्वकी उपपत्ति होती है, अतएव आग्नेयादिका वाक्यके एकाधिकारिक होनेसे अपूर्वमें समप्रधान होनेसे समुच्चय होता है, वैसे ही ज्ञानकर्मका समुचय नहीं हो सकता।

एवं आग्नेय आदि यागमें प्रत्येकमें फलका सम्बन्ध है अथवा समुदायमें? यह सन्देह होनेपर परस्पर निराकाङ्क्ष उत्पत्तिविधिसे ज्ञात प्रधानोंमें पृथक् फलकी आकाङ्क्षा होनेसे तत्समीपमें श्रुत फलका प्रत्येकके साथ सम्बन्ध होना चाहिए, यह प्राप्त होनेपर सिद्धान्त किया है कि समुदायवाची दर्श-पूर्णमासशब्दसे आग्नेयादि कहा गया है, इसलिए जिस प्रकार फलका समुदायमें सम्बन्ध है, अर्थात् पृथक्-पृथक् यागका फलके साथ सम्बन्ध नहीं है, किन्तु यागसमुदायका फलके साथ सम्बन्ध है उसी प्रकार ज्ञान और कर्मका एक फल नहीं है, जिससे कि समुच्चय हो सके। ज्ञानका फल मोक्ष ध्रुव है, और कर्मका फल स्वर्गादि अध्रुव है, अतः यदि साध्य फल एक नहीं है, तो समुच्चयका क्या संभव? आरुण्य और एकहायनीका गुण और प्रधान भावसे समुच्चय मानकर जैसा क्रयणके साथ समन्वय होता है, वैसा ज्ञान और कर्मका गुण और प्रधान भावसे मोक्षमें समुच्चय नहीं हो सकता, कारण कि ज्योतिष्टोम प्रकरणमें 'अरुणया एकहायन्या गवा सोमं क्रीणाति' यह वाक्य श्रुत है। वहांपर आरुण्यका सम्पूर्ण प्रकरणमें सम्बन्ध है या क्रयणमें ही? यह संशय करके 'अरुणया क्रीणाति' इस वाक्यमें तृतीया विभक्ति श्रुत है, अतः वाक्य द्वारा क्रयका संबन्ध प्रतीत होनेपर भी आरुण्य गुण अमूर्त है, अतः वह साक्षात् क्रियाका साधन नहीं हो सकता, इसलिए वाक्यभेद मानकर प्राकरणिक द्रव्यमात्रके साथ शेषरूपसे सम्बन्ध मानना उचित है, यह पूर्वपक्षकर 'गवा क्रीणाति' यहांपर यद्यपि अमूर्त गोत्व साक्षात् क्रयका साधन नहीं है तो भी क्रयसाधनद्रव्यपरिच्छेद द्वारा उसमें क्रयान्वय हो सकता है, अतः वाक्यभेद भी नहीं होगा। अतः आरुण्य और एकहायनीके परस्पर नियमसे सहित होनेसे अर्थात् गौ अरुणा ही हो, अरुणा गौ ही हो, इस प्रकार नियमबद्ध होनेसे

आरुण्यका गौमें निवेश होता है; आरुण्य गुण—अप्रधान—और गोरूप द्रव्य—प्रधानका जैसे गुण और प्रधान भावसे समुच्चय मानकर क्रयण क्रियामें अन्वय होता है वैसे ही ज्ञान और कर्मका मोक्षरूप एक कार्यमें साधनरूपसे समुच्चय नहीं हो सकता, कारण कि वे दोनों मोक्षमें साधनरूपसे श्रुत नहीं हैं, अतः तीनों प्रकारका समुच्चय नहीं हो सकता।

और यह भी कारण है कि समुच्चय परस्पर उपकार्य और उपकारक भावसे व्याप्त होता है, प्रकृतमें कर्तृत्वादिविभागके आश्रित कर्म और उससे रहित अद्वितीय आत्मज्ञानमें उपकार्योपकारकभाव ही नहीं है, अतः व्यापकीभूत उपकार्य और उपकारके अभावसे समुच्चय ही नहीं हो सकता। विमतं ज्ञानं कर्मसमुच्चयार्हम्, ज्ञानत्वात्, देवतादिज्ञानवत्, इस अनुमानसे भी ज्ञान और कर्मका समुच्चय ठीक नहीं है, कारण कि द्रव्यदेवताका यथार्थ ज्ञान कर्मके अन्तर्गत होनेसे कर्मात्मक ही है, कर्मातिरिक्त नहीं है, इसलिए समुच्चय नहीं हो सकता। यदि यह कहिये कि द्रव्यदेवताज्ञान कर्मान्तर्गत नहीं है, क्योंकि द्रव्यदेवताज्ञानसे हीन पुरुष भी कर्मोंका अनुष्ठान करता है 'तेनोभौ कुरुतः' इत्यादि वचनसे ज्ञान कर्मान्तर्गत नहीं है, अतः समुच्चयमें कोई बाधा नहीं है; तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि 'विद्वान् यजते' 'ज्ञात्वा कर्मसमारभेत' 'ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि' इत्यादि श्रुति और स्मृतिसे ज्ञात द्रव्य और देवता ही कर्म कहलाते हैं, इसलिए कर्मान्तर्भूत होनेसे ज्ञान कर्मात्मक ही है, उससे अतिरिक्त नहीं है।

अज्ञातद्रव्यदेवताक कर्मके अनुष्ठानकी निन्दा है, 'यो ह वा अविदितार्षेयच्छन्दोदैवतब्राह्मणेन मन्त्रेण याजयति वा अध्यापयति वा स्थाणुं चर्छति गर्तं वा पद्यते' इत्यादि श्रुतियोंमें श्रुत है, अतः द्रव्यदेवताज्ञानके कर्मान्तर्गत होनेसे समुच्चय नहीं बन सकता।

यदि अज्ञातद्रव्यदेवताक कर्मका अनुष्ठान नहीं हो सकता, तो 'तेनोभौ कुरुतः' इस श्रुतिसे अज्ञातद्रव्यदेवताक कर्मके अनुष्ठाका विधान कैसे हुआ ? द्रव्यदेवताके यथार्थज्ञानरूप अङ्गविशेषसे कर्ममें भूयस्त्व होता है और उससे फलभूयस्त्व होता है, क्योंकि 'यदेव विद्यया करोति' यह श्रुति है। जो कर्म द्रव्यदेवताज्ञानपूर्वक किया जाता है, वह वीर्यवत्तर होता है' यहांपर 'तरप्' प्रत्ययके निर्देशसे यह सिद्ध होता है कि देवतादिके ज्ञानके बिना भी कर्मोंका अनुष्ठान होता है, किन्तु फलभूयस्त्व नहीं होता। फलातिशयविशिष्ट कर्ममें अङ्गभूयस्त्व होनेपर भी देवताज्ञानका कर्मके साथ

समुच्चय होनेसे कर्मदेवताज्ञानसमुच्चयका एक फल है; इसलिए दृष्टान्त साध्यशून्य कैसे है? यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि देवतादिका ज्ञान कर्माङ्ग है, अतः अङ्गोंका अङ्गीके साथ समुच्चय नहीं हो सकता, जैसे प्रयाजादि दर्शपूर्णमासके अङ्ग हैं, इसलिए अङ्गी दर्शपूर्णमासके साथ प्रयाजादिका समुच्चय नहीं है, प्रयाजादिविशिष्ट दर्शपूर्णमास ही स्वर्गका साधन है। इतिकर्तव्यतासे युक्त याग ही करण होता है, केवल यागकरण नहीं होता। द्रव्यादिज्ञान कर्मशेष होनेपर भी विशिष्टसे फलाधिक्यका साधन है, इसलिए द्रव्यदेवतादिज्ञानका कर्मके साथ समुच्चय नहीं है।

उक्त अनुमानमें सत्प्रतिपक्ष भी है, 'विमतं न कर्मणा समुच्चीयते, तद्विरोधित्वात्, यत् यद्विरोधि न तत् तेन सच्चीयते, यथा प्रकाशः तमसा। ज्ञानका कर्मके साथ समुचय नहीं है, क्योंकि ज्ञान कर्मका विरोधी है जिसका जो विरोधी होता है, उसका उसके साथ समुचय नहीं होता, जैसे प्रकाशका तमके साथ विरोध है, अतः दोनोंका एक कार्यमें समुचय नहीं होता। प्रकृतमें भी वैसा ही समझना चाहिए। प्रकाश स्वकार्यमें तमकी अपेक्षा नहीं करता, ज्ञान तो मोक्षमें कर्मकी अपेक्षा करता है, इससे ज्ञान कर्मका उपमर्दन नहीं कर सकता इस ज्ञानका विषय ब्रह्मात्मैकत्वनामक मोक्ष है, उसमें कर्मकी अपेक्षा कहाँ? यदि कर्त्ताको आत्मज्ञानका पक्ष मानें, तो सत्प्रतिपक्ष न होनेपर भी सिद्धसाधन अवश्य होगा।

'शूद्रो यज्ञेऽनवक्लृप्तः' इत्यादि श्रुतिसे यागमें शूद्रका अधिकार तो है नहीं, अत एव अनधिकारी शूद्रसे कृत अग्निहोत्रादि कर्म फलहीन हैं, इसलिए अग्निहोत्र आदि फलके उद्देश्यसे ब्राह्मणादिका ज्ञान 'ब्राह्मणो बृहस्पतिसवेन यजेत' इत्यादि वाक्यमें जो दृष्ट है कर्मोपकारक है, उसमें कर्मसमुचय कहना ठीक ही है।

ज्ञानका किस कर्मके साथ आप समुच्चय कहते हैं, ज्ञानोत्पत्तिके बाद जो कर्म होंगे उनके साथ समुच्चय है या पूर्वजन्मार्जित कर्मोंके साथ अथवा वर्तमान जन्मके कर्मोंके साथ? प्रथम पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि ब्रह्मात्मैक्यज्ञान होनेके बाद जात्यादिका बाध होनेसे कर्मोंका अनुष्ठान नहीं हो सकता और अनुष्ठानके न होनेसे भावी कर्म ही नहीं हैं, अतः तत्समुच्चय हो ही नहीं सकता। द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि अक्रिय आत्मा है, यह निश्चय होनेपर जब आत्मामें वास्तविक क्रिया ही नहीं है, तब कर्मादि भी कहाँसे आवेगा? आत्माके अपरोक्ष ज्ञानसे अज्ञानकी निवृत्ति होनेपर तन्मूलक निखिल कर्तृत्व आदि धर्मकी भी निवृत्ति हो जाती

अन्तरङ्गं यथा वस्तु नित्यप्राप्तं महाफलम्।
एकरूपं च विज्ञानं कस्तस्याऽन्यसमुच्चयः ॥ ९४ ॥

है। यदि 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते' इत्यादि वाक्यसे प्राचीन कर्म ही नहीं हैं, तो उनके साथ समुच्चय कैसे ?

यदि यह कहिये कि अज्ञानकी निवृत्ति होनेपर अज्ञानका कार्य ही निवृत्त होगा कर्म तो अज्ञानका कार्य नहीं है, अतः कर्मके साथ समुच्चय हो सकता है, तो इसका यह उत्तर है कि रज्जुमें सर्पज्ञान अज्ञान है, क्योंकि जैसे रज्जुसर्प कोई वास्तविक पदार्थ नहीं है, वही अज्ञान भागनेका कारण है। वास्तविक रज्जुज्ञान होनेपर रज्जुमें सर्पका ज्ञान, रज्जुका अज्ञान और तन्निमित्तक पलायन आदि कर्म निवृत्त हो जाते हैं, यह लोकानुभव सिद्ध है वैसे ही आत्मज्ञान होनेपर आत्माके अज्ञान और तन्मूलक कर्मादिकी निवृत्ति हो जाती है। अज्ञ मनुष्य तत्-तत् फलकी कामनासे तत्-तत् कर्मका अनुष्ठान करता है, इसलिए कर्मका मूल अज्ञान ही है। जिस जन्ममें ज्ञानोत्पत्ति होती है, उसी जन्ममें ज्ञानोत्पत्तिसे पहले जो कर्म किये गये हैं, उनके साथ ज्ञानका समुच्चय है, यह तृतीय पक्ष भी ठीक नहीं है, कारण कि लोकमें जैसे रस्सी ही है सर्प नहीं है, यह निश्चय होनेपर विद्वान् सर्पज्ञानकी निवृत्तिसे पहले अर्थात् सर्पज्ञानकी अवस्थामें भय, पलायन आदि कार्य जो हो चुके हैं, उन्हींका अनुताप करता है, वैसे ही तत्त्वज्ञानी अज्ञानके निवृत्त होनेपर इतना समय तक व्यर्थ ही कर्म किया, इस प्रकार उन्हींका परिताप करता है, इसलिए ज्ञानोत्पत्तिसे पहले इस जन्ममें अनुष्ठित कर्मोंके साथ भी ज्ञानका समुच्चय नहीं हो सकता। और ज्ञान और कर्मका भी किसी प्रकार समुच्चय नहीं हो सकता। इसमें यह भी युक्ति है कि कर्मका समुच्चय होता यदि आप्त्यादि चतुर्विध कर्मव्याप्यत्व मोक्षमें होता किन्तु मोक्ष अनाधेयातिशय स्वतःसिद्ध ब्रह्मात्मैकत्वरूप है, इससे चतुर्विध कर्मव्यापारका वह विषय नहीं है। फिर समुच्चयकी क्या सम्भावना ? 'विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह' इत्यादि श्रुतिवाक्योंका तात्पर्य क्रमसमुच्चयमें है, सहसमुच्चयमें नहीं, अतः प्रमाणाभावसे ज्ञान और कर्मका समुच्चय नहीं बन सकता ॥ ९३ ॥

'अन्तरङ्गबहिरङ्गयोरन्तरङ्गं बलवत्' इस न्यायसे प्रबल ज्ञान और दुर्बल कर्मका समुच्चय नहीं हो सकता, यह कहते हैं—'अन्तरङ्गम्' इत्यादिसे।

अन्तरङ्गत्व, यथावस्तुत्व, नित्यप्राप्तत्व, महाफलत्व और एकरूपत्व हेतुके होनेसे ज्ञान बलवान् है, यह क्रमसे कहेंगे। ज्ञान अन्तरङ्ग है, और कर्म बहिरङ्ग है, क्योंकि चित्तशुद्धि द्वारा कर्मका मोक्षमें उपयोग कह चुके हैं, और प्रबल और दुर्बलका समुच्चय नहीं होता, किन्तु समप्रधानका समुच्चय होता है। अतः प्रधान ज्ञानका अन्यके साथ समुच्चय क्या है ? कुछ नहीं है। कार्यवश अन्तरङ्गको भी बहिरङ्गकी अपेक्षा होती है, जैसे राजाका अन्तरङ्ग सचिव होता है, किन्तु सचिवको पालकीके उद्वहन कर्मके लिए वाहककी अपेक्षा होती है वैसे ही अन्तरङ्ग ज्ञानको बहिरङ्ग कर्मकी अपेक्षा हो सकती है। नहीं, ऐसी बात नहीं है, क्योंकि ज्ञानके समय कर्महेतु अज्ञानका नाश होनेसे कर्म रहा ही नहीं, फिर समुच्चय कैसा ? शिविका-वाहक अन्तरङ्ग सचिवके समयमें रहते हैं, अतः उक्त कार्यके लिए अन्तरङ्ग बहिरङ्गकी अपेक्षा करता है। प्रकृतमें अन्तरङ्गके समय बहिरङ्ग है ही नहीं, इसलिए समुच्चय नहीं बन सकता। कर्म मोक्षोपाय होनेके लिए ज्ञानकी अपेक्षा करता है, यह भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि कर्मका चित्तशुद्धिमें विनियोग कह चुके हैं, इसलिए बहिरङ्गको भी अन्तरङ्गकी अपेक्षा नहीं कह सकते। ज्ञान भी पुरुष-संस्कारक है वैदिक उपाय होनेसे, कर्मके समान, यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि 'विमतम् अज्ञाननिवर्त्तकम्, तत्त्वज्ञानत्वात्, रज्जुज्ञानवत्' इस अनुमानसे आत्मयथार्थज्ञान अज्ञाननिवर्तक ही है पुरुषसंस्कारक नहीं है। अच्छा तो कर्म अज्ञाननिवर्तकम्, पुरुषार्थोपायत्वात्, ज्ञानवत्, इस अनुमानसे कर्म भी अज्ञानका निवर्तक है, यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि इसमें तत्त्वज्ञानत्व उपाधि है अतः यह अनुमान आभास होनेसे साधक नहीं है। और भी 'कर्म न अज्ञान-निवर्त्तकम्, अयथावस्त्वनुरोधित्वात्; रूप्यधीवत्' यह विपरीत सदनुमान है। अच्छा तो केवल कर्म अज्ञानका निवर्तक नहीं है, किन्तु ज्ञानसमुचित अज्ञानका निवर्तक है, यदि ऐसा माना जाय, तो क्या आपत्ति है ? तत्त्वज्ञानके समय कर्म रहता ही नहीं है, तो ज्ञानके साथ समुच्चय कैसा ? क्योंकि अतीतका वर्तमानके साथ समुच्चय नहीं हो सकता। ज्ञानको कर्मनिवर्तक नहीं मानते, इसलिए ज्ञानके समय कर्म क्यों नहीं रहेगा ? साक्षात् कर्मका निवर्त्तक ज्ञान नहीं है, किन्तु कर्महेतु अज्ञानका निवर्तक ज्ञान है, इसलिए कारणनिवृत्ति द्वारा कर्मरूप कार्यका भी निवर्तक है, निवर्त्य और निवर्तकका समुच्चय दृष्ट नहीं है ॥९४॥

अन्तरङ्गं हि विज्ञानं प्रत्यङ्मात्रैकसंश्रयात् ।
बहिरङ्गं तु कर्म स्याद् बाह्यद्रव्याश्रयत्वतः ॥ ९५ ॥
सत्यन्तरङ्गे विज्ञाने बहिरङ्गं न सिध्यति ।
अर्के चेन्मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत् ॥ ९६ ॥
यथावस्त्वात्मविज्ञानं मोहमात्राश्रयाः क्रियाः ।
सम्यग्ज्ञाने कुतः कर्म कर्महेतूपमर्दनात् ॥ ९७ ॥

कर्मके सदृश ज्ञान भी अज्ञानसे जन्य है, इसलिए दोनों समानयोगक्षेम हैं, इस शङ्काकी निवृत्तिके लिए कहते हैं—'अन्तरङ्गम्' इत्यादिसे ।

ज्ञान आत्मस्वभाव चित्प्रकाश है, अतएव नित्य होनेसे कर्मके समान नहीं है । सब देश तथा कालमें आत्मा स्वरूपसे रहता है, अतः तदात्मक चित्प्रकाश नित्य है । नित्य भी चिद्रूपज्ञान वाक्यजन्य ज्ञानकी जनक सामग्रीसे सहित होकर ही सहेतु बन्धका निवर्तक होता है, और ज्ञानकी तरह कर्म भी नित्य ही है, अन्यथा संसार सादि हो जायगा । नहीं, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि अनुष्ठेयतया विहित कर्म नित्य नहीं हो सकता । कर्मके अनित्य होनेपर भी कर्मप्रवाहमूल अज्ञानके अनादि होनेसे प्रवाहरूपसे कर्म तथा संसारके अनादि होनेमें कोई बाधा नहीं है । नाना कारकके अधीन कर्म है, अतएव अनित्य है । ज्ञान नित्य और कर्म अनित्य है, निष्प्रपञ्चब्रह्माकारबुद्धिवृत्तिविशेषसे सहित दृगात्मा, स्वविपरीतावभासका निमित्त जो अज्ञान है, कार्यसहित उसका नाश कर देता है, इसलिए विलक्षणस्वभाववाले ज्ञान और कर्मका समुच्चय नहीं हो सकता ॥ ९५ ॥

आत्ममात्रके आश्रयणसे ज्ञान अन्तरंग है और बाह्य द्रव्यादिका आश्रित कर्म बहिरंग है यह कहते हैं—'सत्यन्तरङ्गे' इत्यादिसे ।

अन्तरंग ज्ञान होनेपर बहिरङ्ग द्रव्यायाससाध्य कर्म कौन करेगा, पासके मन्दारवृक्ष पर यदि मधु मिल जाय, तो उसके लानेके लिए परिश्रमसाध्य पर्वतका आरोहण कौन करेगा ? ॥ ९६ ॥

'यथावस्त्वात्म०' इत्यादि । उक्त रीतिसे ज्ञान और कर्मका समुच्चय नहीं हो सकता, क्योंकि यथार्थवस्तुविषयक ज्ञान है, और कर्म अज्ञानमात्राश्रय है । समीचीन अद्वितीय आत्मज्ञान होनेपर कर्म करना तो दूर रहा कर्मकी

नित्यप्राप्तं च विज्ञानं प्रतीचः सन्निधेः सदा ।
कर्माऽनित्यं पृथग्रूपं नित्यं चाऽनित्यबाधकम् ॥ ९८ ॥
क्षयी कर्मार्जितो लोकः स्वराड् ब्रह्मावबोधतः ।
लब्धे त्रैलोक्यराज्ये तु भिक्षामाद्रियते कथम् ॥ ९९ ॥

स्थिति भी नहीं हो सकती, क्योंकि कर्मके हेतु अज्ञानके नाश होनेपर कर्म नहीं हो सकता ॥९७॥

'नित्यप्राप्तम्' इत्यादि । आत्मा सब देश और कालमें स्वरूपसे रहता है, अतएव नित्यप्राप्त है । और कर्म पृथक्-पृथक् तथा अनित्य है, नित्य ज्ञान अनित्य कर्मका बाधक है ॥ ९८ ॥

'क्षयी कर्मार्जितो' इत्यादि । कर्मसाध्य लोक क्षयी है । और ब्रह्म ज्ञान-मात्र स्वरूप होनेसे नित्य तथा स्वानन्दतुष्ट है । त्रैलोक्यका राज्य मिलनेपर भिक्षामें कौन कैसे आदर करेगा ? विरुद्धफलक ज्ञान और कर्मके समुच्च यका चित्रायाग और दर्शपूर्णमास यागके समुच्चयकी तरह सम्भव नहीं है ।

ज्ञान और कर्मके प्रधानरूपसे और समप्रधानरूपसे समुच्चयका विचार करके यह विचार करते हैं कि अब कर्म प्रधान है और ज्ञान गुण है, इस प्रकारके समुच्चयमें प्रकरण प्रमाण है या श्रुत्यादि ? प्रथम पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि कर्म-काण्ड और ज्ञानकाण्डके भेदसे प्रकरण भिन्न है, अतः कर्मकाण्डप्रकरणस्थ कर्मको भिन्नप्रकरणस्थ ज्ञानकी अपेक्षा ही नहीं रहती ? द्वितीय पक्ष भी समुचित नहीं है, क्योंकि कर्म भिन्नप्रकरणस्थ ज्ञानकी अपेक्षा ही नहीं करता । ऐसी दशामें सामान्य सम्बन्धके सिद्ध न होनेसे विशेष सम्बन्ध भी श्रुत्यादिसे सिद्ध नहीं हो सकता ।

असलमें उपकार्य्यको उपकारककी अपेक्षा होती है । प्रकृतमें विरुद्धफलक ज्ञान और कर्मोंमें उपकार्य और उपकारकभाव ही नहीं है, फिर उनमें अपेक्षा कैसे हो ? अतएव समुच्चय भी नहीं है । ज्ञान स्वन्तन्त्र है, गुण नहीं । ज्ञान भी स्वफल मोक्षके प्रति गुणभूत ही है स्वतन्त्र नहीं है, ऐसी शङ्का नहीं कर सकते, क्योंकि ज्ञानका फल मोक्ष ज्ञानस्वरूप ही है, अतिरिक्त नहीं है, इसलिए मोक्षके प्रति भी वह गुणभूत नहीं है ।

शङ्का—जैसे कर्म कर्तृपरतन्त्र है, वैसे ही ज्ञान भी ज्ञातृपरतन्त्र है, तो फिर वह स्वतन्त्र कैसे ?

एकरूपं हि विज्ञानमेकरूपात्ममेयतः ।
भिन्नरूपाणि कर्माणि बहुकारकसंश्रयात् ॥ १०० ॥

समाधान—यद्यपि ज्ञान वस्तुपरतन्त्र है, ज्ञातृपरतन्त्र नहीं है; तथापि—वस्तुपरतन्त्र होनेपर भी—स्वतन्त्र इसलिए कहते हैं कि भले ही वह वस्तुपरतन्त्र रहे, किन्तु वह स्वकार्य करनेमें स्वतन्त्र अर्थात् दूसरेकी अपेक्षा नहीं करता, अतः स्वतन्त्र कहलाता है अर्थात् ज्ञान सकार्य अज्ञानकी निवृत्ति के लिए हेत्वन्तरकी अपेक्षा नहीं करता, इसलिए वह स्वतन्त्र कहलाता है ।

कर्म प्रधान है, ज्ञान गुण है, इस प्रकारका समुच्चय न सही, किन्तु ज्ञान प्रधान है, कर्म गुण है, इस प्रकारका समुच्चय तो हो सकता है ? नहीं, यह भी नहीं हो सकता; क्योंकि ज्ञान मुक्तिका कारण है, अतः स्वकार्य मुक्तिके अकारण कर्मकी अपेक्षा नहीं कर सकता । अतः उक्त समुच्चय भी ठीक नहीं है । कर्म भी तो मुक्तिका हेतु है, क्योंकि 'न च पुनरावर्तते' इत्यादि श्रुतियोंसे कर्ममें मोक्षहेतुत्व स्पष्ट प्रतीत होता है, यदि ऐसा कहो, तो यह पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि उक्त श्रुति सगुणोपासना प्रकरणमें पढ़ी गई है, अतः उसका तात्पर्य साक्षात् मोक्षमें नहीं है किन्तु उपासककी क्रममुक्तिमें है, अर्थात् तत्-तत् उपासनासे तत्-तत् लोककी प्राप्ति होती है, फिर प्रलयकाल प्राप्त होनेपर उस लोकके अधिष्ठाताके साथ तत्त्वज्ञानसे मुक्त हो जाता है, यह अभिप्राय है ॥ ९९ ॥

तत्-तत् उपासनात्मक कर्मका तत्-तत् लोकप्राप्तिरूप फल मोक्ष नहीं है । यदि वह फल मोक्ष होता, तो तत्-तत् लोकके अधिष्ठाताको मुक्तिकालकी प्रतीक्षा क्यों होती ? यह कहते हैं—'एकरूपम्' इत्यादिसे ।

ज्ञान और कर्मका गुण और प्रधानभावसे समुच्चय नहीं हो सकता, यह प्रतिपादन करके समप्राधान्यसे भी समुच्चय नहीं हो सकता, इसका निराकरण करनेके लिए कहते हैं कि एकरूप मोक्षका भिन्न-भिन्नरूप कर्म साधन नहीं हो सकता । ज्ञानकी तरह कर्म भी यदि एकरूप माना जाय, तो क्या आपत्ति है ? इसपर कहते हैं—'बहुकारक०' इत्यादि । अनेक कारकोंसे एक कर्म होता है, क्योंकि कर्ता, कर्म, करण आदिके भेदसे अनेक कारक एक कर्मके आश्रय होते हैं । ज्ञानका प्रमेय आत्मा एक है, इसलिए ज्ञान एक प्रकारका है ।

अच्छा, मोक्ष तो नित्य है, अतः उसका ज्ञान भी साधन नहीं हो सकता,

एकरूपस्य मोक्षस्य भिन्नरूपं न साधनम् ।
एकरूपस्य मोक्षस्य त्वेकरूपं हि साधनम् ॥ १०१ ॥
ऐकात्म्यवस्तुयाथात्म्यबोधे जात्यादिबाधनात् ।
न कर्म कुरुते किन्तु कृतं प्रत्युत शोचति ॥ १०२ ॥
अयथावस्तुसर्पादिज्ञानं हेतुः पलायने ।
रज्जुज्ञानेऽहिधीध्वस्तौ कृतमप्यनुशोचति ॥ १०३ ॥
एवं च ज्ञानिनः कर्मासम्भवाज्ज्ञानकर्मणोः ।
न सम्भवति मोक्षार्थस्त्रिविधोऽपि समुच्चयः ॥ १०४ ॥

ठीक है, मोक्षका साधन ज्ञान है, इसका तात्पर्य यह है कि मोक्ष नित्य होनेपर भी अज्ञानसे आवृत है, अतएव आवरक अज्ञानकी निवृत्तिका साधन ज्ञान है, इसलिए वह मोक्षका साधन कहलाता है, वास्तविक साधन नहीं है ॥ १०० ॥

उक्त अर्थको ही स्पष्ट करनेके लिए फिर कहते हैं—'एकरूपस्य' इत्यादि ।

एकरूप मोक्षका भिन्नस्वरूप कर्म साधन नहीं है, किन्तु एकरूप आत्मज्ञान ही साधन है ॥१०१॥

'ऐकात्म्यवस्तु०' इत्यादि। आत्मज्ञानके अनन्तर होनेवाले कर्मोंका समुच्चय भी नहीं हो सकता, कारण कि आत्माका यथार्थज्ञान होनेपर अज्ञानकी निवृत्ति हो जाती है, फिर अज्ञानसे कल्पित ब्राह्मणत्व आदि जातिके अभिमानकी निवृत्ति हो जानेसे कर्मका अधिकार ही लुप्त हो जाता है, अतः यदि कर्म ही न करेगा, तो समुच्चय किसका होगा ? अतीत कर्म तो हैं नहीं, अतः उनके साथ ज्ञानके समुच्चयकी तो शङ्का भी नहीं हो सकती। इस जन्ममें ज्ञानोत्पत्तिसे पहले जो कर्म हो चुके हैं, उनके विषयमें परिताप ही करता है कि इतने दिनों तक व्यर्थ ही कर्म किया इत्यादि ॥ १०२ ॥

'अयथावस्तु०' इत्यादि । अयथार्थज्ञान—सर्पाभासज्ञान—भय, पलायन आदिमें हेतु है। रज्जुका यथार्थ ज्ञान होनेसे सर्पाभासबुद्धि निवृत्त हो जाती है, तब आभाससमयमें जो भय, पलायन आदि हुए हैं उनके लिए परिताप ही करता है कि मैं व्यर्थ ही भयभीत हुआ, इत्यादि ॥ १०३ ॥

'एवं च' इत्यादि। त्रिविध समुच्चय मोक्षार्थ नहीं है, अतः ज्ञान और कर्मका

तस्मात् कामलये भेदलये सोपानवर्त्मनि ।
समुच्चये च सम्बन्धो न युक्तः काण्डयोर्द्वयोः ॥ १०५ ॥
परिशेषात् पुरा प्रोक्तः साध्यसाधनलक्षणः ।
सम्बन्धोऽत्राऽवगन्तव्यो ज्ञानकर्माख्यकाण्डयोः ॥ १०६ ॥

इति श्रीमद्विद्यारण्यमुनिविरचिते वार्त्तिकसारे सम्बन्धपरीक्षा-
नामकं द्वितीयं प्रकरणं समाप्तम् ॥

समुच्चय मोक्षका साधन नहीं है । ज्ञान प्रधान, कर्म गुण; कर्म प्रधान, ज्ञान गुण; कर्म और ज्ञान दोनों समप्रधान हैं, इस प्रकार यदि त्रिविध समुच्चय हो ही नहीं सकता, तो मोक्षका साधन समुच्चय है, यह सम्भावना भी नहीं हो सकती ॥ १०४ ॥

'तस्मात्' इत्यादि । उक्त रीतिसे कामलय द्वारा, प्रपञ्चलय द्वारा और सोपानारोहणन्यायसे समुच्चय द्वारा कर्मकाण्डका ज्ञानकाण्डके साथ सम्बन्ध नहीं बन सकता ॥ १०५ ॥

'परिशेषात्' इत्यादि । उक्त प्रकारसे यदि दो काण्डोंका सम्बन्ध नहीं हो सकता, तो परिशेषसे साध्यसाधनभाव ही पूर्वकाण्डका उत्तरकाण्डके साथ सम्बन्ध है, दूसरा नहीं ॥ १०६ ॥

इति म० म० पण्डितप्रवर श्रीहरिहरकृपालुद्विवेदिविरचित बृहदारण्यक-
वार्तिकसारके भाषानुवादमें सम्बन्धपरीक्षा नामका
द्वितीय प्रकरण समाप्त ।



अथ प्रामाण्यपरीक्षा



सम्बन्धसिद्धौ वेदान्तप्रामाण्यं चिन्त्यतेऽधुना ।
अप्रामाण्ये तु सम्बन्धः पूर्वोक्तः प्रविलीयते ॥ १ ॥
केचित् कार्यैकनिष्ठत्वं कृत्स्नवेदस्य मन्वते ।
ततो ब्रह्मणि सिद्धार्थे वेदान्तानाममानता ॥ २ ॥
न प्रवृत्तिनिवृत्तिभ्यां शून्यस्य वचसो यतः ।
क्वचिदर्थोऽत्र दृष्टोऽतो वस्तुनि स्यादमानता ॥ ३ ॥

वेदान्तको प्रमाण मानकर कर्मकाण्डके साथ उसका साध्यसाधनभावरूप सम्बन्ध दर्शाया गया है। अब वेदान्तके प्रामाण्यमें विप्रतिपन्नके प्रति वेदान्त-प्रामाण्य सिद्ध करनेके लिए कहते हैं—'सम्बन्धसिद्धौ' इत्यादि से ।

पूर्वोक्त साध्यसाधनभावरूप सम्बन्धकी सिद्धि तब होगी जब वेदान्तोंका प्रामाण्य सिद्ध होगा अन्यथा प्रमाणका अप्रमाणके साथ उक्त सम्बन्ध नहीं हो सकता, क्योंकि अप्रमाण तो किसीका साधक या बाधक होता नहीं, अतः उक्त सम्बन्धकी सिद्धिके लिए वेदान्तके प्रामाण्यकी सिद्धि करना नितान्त आवश्यक है ॥१॥

मीमांसकोंका मत है कि कर्तव्यार्थबोधक वाक्य ही प्रमाण होता है, सिद्धार्थक नहीं । आप लोग वेदान्तको स्वतःसिद्ध ब्रह्मस्वरूपमात्रका बोधक मानते हैं इसलिए वेदान्तके प्रामाण्यकी चिन्ताके लिए पूर्वपक्ष कहते हैं—'केचित् कार्यै०' इत्यादिसे ।

कई-एक मीमांसक कहते हैं कि सम्पूर्ण वेद कर्तव्यार्थबोधक ही हैं, इसलिए सिद्धब्रह्मस्वरूप अर्थका बोधक वेदान्त अप्रमाण है । तात्पर्य वेदान्तके अप्रामाण्यके व्यवस्थापनमें नहीं है, किन्तु उपासनाक्रियाविधिशेषमें है अन्यथा अप्रामाण्यकी आपत्ति होगी, क्योंकि कोई भी वाक्य सिद्धार्थमें प्रमाण नहीं माना जा सकता ॥ २ ॥

'न प्रवृत्ति' इत्यादि । वाक्यका प्रवृत्ति और निवृत्तियोगसे भिन्न कोई अर्थ कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं है, इसलिए सिद्धार्थ वस्तुमें कोई वाक्य प्रमाण नहीं हो सकता, अत एव—

'प्रवृत्तिर्वा निवृत्तिर्वा नित्येन कृतकेन वा ।
पुंसां येनोपदिश्येत तच्छास्त्रमभिधीयते ॥'

उत्तमप्रोक्तशब्दार्थे मध्यमव्यवहारतः ।
बालो व्युत्पद्यते तस्माद् व्युत्पत्तिरपि कार्यगा ॥ ४ ॥

इत्यादि वचन सङ्गत होता है । उक्त वचनका यह अर्थ है कि जिन कर्तव्य या अकर्तव्य अर्थका नित्य अर्थात् अपौरुषेय वेद और अनित्य—पौरुषेय धर्मशास्त्रादि—वाक्योंसे पुरुषोंको उपदेश दिया जाता है, वे शास्त्र कहलाते हैं। हितकी प्राप्ति और अहितकी अप्राप्तिके उपाय और परिहारके अनुष्ठानके लिए शास्त्र है । जैसे 'सोमेन यजेत स्वर्गकामः' । जो स्वर्ग चाहता है, किन्तु उसका उपाय नहीं जानता और उपायान्वेषणमें प्रवृत्त है, उसको शास्त्र बतलाता है कि यदि स्वर्ग चाहते हो तो याग करो अर्थात् स्वर्गका साधन याग है ।

इसी प्रकार दुःखसे पीडित मनुष्य जन्मान्तरमें भी फिर ऐसा दुःख न हो, इस लिए दुःखकी निवृत्तिका उपाय जानना चाहता है तो शास्त्र उपदेश देता है—'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि' इत्यादि । इस तरह प्रवर्तक और निवर्तक वाक्य इष्टमें प्रवृत्ति और अनिष्टसे निवृत्ति करा कर पुरुषार्थसाधन द्वारा प्रमाण माने जाते हैं और अनेवंभूत, अर्थात् 'सप्तद्वीपा वसुमती' 'राजाऽसौ गच्छति' 'एवं मदीयः स्वप्न आसीत्', इत्यादि सिद्धार्थक वाक्य प्रमाण नहीं हैं, क्योंकि सात द्वीपवाली पृथिवी है, यह राजा जाता है, मेरा स्वप्न ऐसा था, इन वाक्योंको सुनकर न तो कोई किसी कर्मविशेषमें प्रवृत्त होकर कुछ फल ही प्राप्त कर सकता है और न किसी कर्मविशेषसे निवृत्त होकर अनिष्ट ही निवृत्त कर सकता है । अतः यह वाक्य जैसे निष्प्रयोजन और अप्रमाण है, वैसे ही 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादिसे भी सत्य, ज्ञान और अनन्त ब्रह्म है यह जान लेनेपर क्या अभीष्ट सिद्ध होगा ? क्योंकि कर्तव्य या अकर्तव्यका तो कोई निर्देश है नहीं, जिससे कि अनुष्ठान, परिवर्जन आदि द्वारा किसी अर्थकी सिद्धि हो, अतः वेदान्तको उपासना विधिका शेष ही मानना चाहिए, अन्यथा उक्त रीतिसे सर्वथा अप्रमाण ही हो जायगा ॥३॥

वेदान्तके अप्रामाण्य होनेमें दो कारण हैं—एक तो सुखप्राप्ति या दुःख-निवृत्ति के साधनका उपदेश न होनेसे निष्फलत्व है और दूसरा कारण है—अबोधकत्व । सर्वप्रथम बालकको शक्तिग्रह कार्यान्वित वाक्यार्थमें ही होता है, अतः सिद्धार्थमें यदि शक्तिग्रहोपाय ही नहीं है, तो फिर सिद्धार्थक वाक्य अर्थका बोधक कैसे होगा ? इस तात्पर्यसे कहते हैं—'उत्तम' इत्यादिसे ।

शुक्लां गामानयेत्युक्ते कश्चिद्गोकर्मिकां क्रियाम् ।
कुर्वाणमपि वीक्ष्याऽज्ञः कुरुते कारणानुमाम् ॥ ५ ॥
ज्ञातं ध्रुवमनेनैतद्यद्गोकर्मकमीक्ष्यते ।
तत एतस्य वाक्यस्य गवानयनबोधिता ॥ ६ ॥

उत्तम शब्दका तात्पर्य है—गृहीतशक्तिक प्रेरकमें। और मध्यम शब्दका तात्पर्य्य है—गृहीतशक्तिक प्रेर्य्यमें। प्रेरक पुरुषके वाक्यार्थ ज्ञानसे प्रेर्य्य पुरुषके व्यवहारसे अगृहीतशक्तिक बालक शक्तिका ग्रहण करता है, इसलिए शक्तिग्रह भी कार्यार्थमें ही है, इसलिए सिद्धार्थक वाक्यसे बोध ही नहीं होता, अतः अबोधकत्वलक्षण अप्रामाण्य भी उनमें हो जायगा ॥ ४ ॥

शक्तिग्रहका प्रकार कहते हैं—'शुक्लाम्' इत्यादिसे ।

प्रेरकने प्रेर्य्यके प्रति कहा कि शुक्ल गौ ले आवो, अनन्तर शुक्लगवानयन क्रिया करते हुए प्रेर्यको देखकर अगृहीतशक्तिक बालक कारणका अनुमान करता है ॥५॥

'ज्ञातम्' इत्यादि । 'गामानय' इस वाक्यसे गवानयनविषयक बोध प्रेर्य्यको अवश्य हुआ । यदि इस वाक्यसे ऐसा बोध न होता, तो इस वाक्यके श्रवणके अनन्तर इस कार्यमें उसकी प्रवृत्ति न होती । उक्त कार्यमें प्रवृत्ति हुई है, अतः अवश्य इस वाक्यसे उक्त बोध हुआ है, इस तरह 'गामानय' इस वाक्यका गोकर्मक आनयनमें शक्तिग्रह होता है । तात्पर्य यह है कि प्रयोजक पुरुषके 'गामानय' इस वाक्यसे प्रयोज्य पुरुषकी गवानयनमें प्रवृत्ति देखकर बालक यह निश्चय करता है कि चेतनकी प्रवृत्तिमात्रमें इष्टसाधनताज्ञान कारण अवश्य है, इसलिए यह प्रयोज्य पुरुषकी गवानयनमें प्रवृत्ति भी इष्टसाधनताज्ञानजन्य है, स्तनपान आदिमें मेरी प्रवृत्तिकी तरह । उक्त प्रवृत्तिके ज्ञानके बिना उक्त प्रवृत्तिमें इष्टसाधनतानुमिति नहीं हो सकती, क्योंकि अनुमितिमें पक्षज्ञान कारण है, अतः गवानयनप्रवृत्तिज्ञान तो जरूर हुआ, पर किससे हुआ ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर, यही निश्चय करता है कि यह ज्ञान 'गामानय' इस वाक्यसे ही हुआ, कारण कि इससे पहले यह ज्ञान नहीं था, अन्यथा उक्त कार्यमें वाक्यश्रवणसे पहले प्रवृत्ति हो जाती, और इसके बाद ही यह ज्ञान हुआ, जिसके पहले जो न होकर जिसके बाद ही होता है, वह उसीसे होता है, जैसी मेरी स्तनपानानन्तर तृप्ति स्तनपान ही से होती है ।

कार्यार्थ एव सद्भावाद् व्युत्पत्तिपुरुषार्थयोः ।
विधेय एव वेदार्थो न सिद्धः कोऽपि कुत्रचित् ॥ ७ ॥
मन्त्रार्थवादनाम्नां च कार्यार्थानुप्रवेशतः ।
प्रामाण्यं न स्वतस्तस्मात् कार्ये वेदस्य मानता ॥ ८ ॥

अब विचारना यह है कि इस वाक्यसे इस अर्थका बोध क्यों हुआ, अर्थान्तरका बोध क्यों नहीं हुआ ? इससे ज्ञात होता है कि इस वाक्यका इस अर्थके साथ कोई-न-कोई सम्बन्ध अवश्य है। यदि असम्बद्ध अर्थका बोधक उक्त वाक्य होता, तो सम्बन्धाभाव सबके साथ समान है, फिर सभी अर्थान्तरोंका बोधक न होकर इसी अर्थका बोधक क्यों हुआ ?

इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि इस वाक्यका इस अर्थके साथ कोई सम्बन्ध अवश्य है। जो सम्बन्धसामान्य प्रत्यक्ष, अनुमान और अर्थापत्ति प्रमाण द्वारा सिद्ध हुआ है, वह सम्बन्धसामान्य विशेषसम्बन्धके विना पर्य्यवसन्न नहीं हो सकता, अतः सामान्यरूपसे सिद्ध सम्बन्धसामान्यके पर्यवसानके लिए शक्तिरूप ही विशेष सम्बन्ध सिद्ध होता है, इस तरह कार्यान्वित अर्थमें ही शब्दका शक्तिग्रह प्रथमतः बालकको होता है। जिससे व्युत्पत्तिग्रह होता है, वही शब्द बोधक होता है, दूसरा नहीं, इसलिए कार्यपरक शब्द ही बोधक होनेसे प्रमाण हैं, सिद्धार्थक नहीं ॥ ६ ॥

'कार्यार्थ एव' इत्यादि। व्युत्पत्ति—शब्दशक्तिग्रह, पुरुषार्थ—सुखप्राप्ति और दुःखकी निवृत्ति, ये दोनों—कार्यार्थ—कर्त्तव्यार्थ—ही में हैं, इसलिए विधेयको—कर्तव्यको—ही वेदार्थ मानना चाहिए। सिद्धार्थको वेदार्थ नहीं मानना चाहिए। उपनिषत्का भी तात्पर्य सिद्ध ब्रह्ममें नहीं है, किन्तु उसकी उपासनामें ही उसका तात्पर्य है ॥ ७ ॥

यदि कार्यार्थमें ही वेदको प्रमाण मानोगे, तो थोड़े वेदभाग जो विधिस्वरूप हैं, वे ही प्रमाण होंगे, अधिकांश वेदभाग—मन्त्र, नामधेय, अर्थवाद आदि—सब अप्रमाण हो जायँगे ? इस शङ्काकी निवृत्तिके लिए कहते हैं—'मन्त्रार्थवाद०' इत्यादिसे।

'इषेत्वा' इत्यादि मन्त्र, 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा' इत्यादि अर्थवाद और उद्भिदादि नामधेय, इनका भी क्रियामें ही सम्बन्ध मानना उचित है, क्योंकि 'इषे त्वोर्ज्जे त्वा'

वेदान्तानामतो वाच्यं कार्यार्थानुप्रवेशनम् ।
प्रामाण्यं वा निषेद्धव्यमत्र प्रतिविधीयते ॥ ९ ॥
किं मेयाभावतः प्रोक्ता वेदान्तानाममानता ।
किं वा मीमांसकम्मन्यतया कार्यैकरागतः ॥ १० ॥
न मेयाभावशङ्काऽस्ति सर्वव्यापृतिसाक्षिणः ।
चिदात्मनोऽपलापे तु जगदान्ध्यप्रसङ्गतः ॥ ११ ॥

इत्यादि मन्त्रोंका 'छिनद्मि', 'अनुमार्जयामि' इत्यादि क्रियावाचक पदोंका अध्याहार करके तदर्थमें अन्वय होनेसे वे पुरुषार्थसाधक और प्रमाण होते हैं। 'वायुर्वै' इत्यादि अर्थवादवाक्योंका 'वायव्यं श्वेतमालभेत' इत्यादि वाक्यसे विहित वायव्ययागके प्राशस्त्यमें लक्षणा करके उक्त विधिवाक्यके साथ एकवाक्यता मानी जाती है। नामका 'उद्भिदा यजेत' इसके साथ अन्वय है ही, इसलिए साक्षात् या परम्परया क्रियान्वयी वेदवाक्य ही पुरुषार्थके साधन तथा व्युत्पत्तिग्रहके योग्य होनेसे प्रमाण माने जाते हैं, अतः उपनिषदोंको प्रमाण मानना यदि अभीष्ट हो, तो श्लोकोक्त चशब्दसे संग्रह कीजिये, अथवा उनके प्रामाण्यका ही त्याग कीजिये यह मीमांसकोंका पूर्वपक्ष है, इसका उत्तर देनेके लिए कहते हैं—'अत्र प्रति०' इत्यादिसे ॥ ९ ॥

इस विषयमें परिहार करनेके लिए विकल्प करते हैं—'किं मेयाभावतः' इत्यादिसे।

क्या वेदान्तमें अप्रामाण्यका कारण फल और शक्तिग्रहकी अनुपपत्तिमात्र ही है या अन्य भी है? फलानुपपत्ति तो अति तुच्छ है, उसका परिहार आगे करेंगे। द्वितीय प्रमेयाभावके विषयमें मीमांसकोंका यह अभिनिवेश है कि कार्य ही शब्दका प्रमेय है, सिद्ध नहीं है ॥ १० ॥

उक्त शङ्काका उत्तर देते हैं—'न मेया०' इत्यादिसे।

सब व्यापारोंका साक्षी चिदात्मा ही वेदान्तवाक्योंका प्रमेय है, इसलिए प्रमेयाभावकी शङ्का तो नहीं कर सकते। यदि चिदात्माका ही अपलाप किया जाय, तो जगत् अन्धा हो जायगा अर्थात् संसारमें दो ही पदार्थ हैं—जड़ और चेतन। जड़ स्वयम् अप्रकाशशील है, चेतन स्वयंप्रकाश है। स्वयंप्रकाश चेतनके सम्बन्धसे जड़का भी प्रकाश होता है। यदि चेतनको न मानोगे, तो जड़मात्र ही संसारमें रह जायगा जो अप्रकाशमय है, इसलिए संसार अन्धकार-

निःशेषमातृतद्वृत्तिजन्मनां सर्वदाऽस्ति हि ।
स्वप्रकाशात्मचैतन्यव्याप्तिर्वस्तुस्वभावतः ॥ १२ ॥
लिङ्गदेहः प्रमाताऽत्र कामाद्यास्तस्य वृत्तयः ।
चैतन्येन वियुक्तास्ता जायन्ते न कदाचन ॥ १३ ॥
लिङ्गतद्वृत्तिसम्भूतौ सत्यां चिद्व्याप्तये नहि ।
कश्चिद्धेतुरपेक्ष्योऽस्ति खव्याप्तौ कलशेष्विव ॥ १४ ॥

मय हो जायगा और अभासमान खपुष्प आदि की सत्ता जैसे नहीं है, वैसे ही जड़की भी सत्ता सिद्ध नहीं होगी, अतः चिदात्मा वेदान्तप्रमेय अवश्य है, उसका अभाव नहीं है ॥ ११ ॥

चिदात्मा सब व्यवहारोंका साक्षी है, इसका उपपादन करते हैं—'निःशेष०' इत्यादिसे ।

सब प्रमाताओं और तद्वृत्तियों का जन्म वस्तुस्वभावसे स्वप्रकाश आत्मचैतन्य द्वारा सदा व्याप्त ही रहता है, अर्थात् प्रमाता और उसकी वृत्तियां सदा ज्ञात ही रहती हैं । यदि चैतन्यकी सदा व्याप्ति न होती, तो वे वृत्तियाँ घटादिकी तरह अज्ञातसत्ताक भी मानी जाती, किन्तु ऐसा नहीं है, घटादिका वृत्ति द्वारा अनावृत चिदात्माके साथ संबन्ध होता है, इस कारण सदा व्याप्ति नहीं है, अतः घटादिका भान कादाचित्क है, सार्वकालिक नहीं है । प्रमाता और उसकी वृत्तियोंमें चिदात्माकी सार्वकालिक व्याप्ति है, अतएव इनका भान सार्वकालिक है, कादाचित्क नहीं है ॥ १२ ॥

प्रमाता और उसकी वृत्तियोंके स्वरूपके परिचयके लिए कहते हैं—'लिङ्गदेहः' इत्यादि ।

यहांपर प्रमातृपदसे लिङ्गदेह विवक्षित है, उसकी वृत्तिसे कामादि विवक्षित हैं । ये सब किसी भी समयमें चैतन्यसे वियुक्त नहीं होते, किन्तु सब कालमें चैतन्यसे व्याप्त ही रहते हैं ॥ १३ ॥

दृष्टान्तके साथ प्रमाता और उसकी वृत्तिमें चैतन्यकी व्याप्ति कहते हैं—'लिङ्गतद्वृत्ति०' इत्यादिसे ।

जैसे घट आदि पदार्थमें उत्पत्तिके बाद आकाशकी व्याप्ति स्वतः हो जाती है, उसके लिए कारणान्तरकी आकाङ्क्षा नहीं होती, वैसे ही प्रमाता और उसकी वृत्तियोंकी उत्पत्ति होनेके अनन्तर चैतन्य व्याप्ति उनमें स्वतः हो जाती है, उसके लिए कारणान्तरकी अपेक्षा नहीं होती ॥ १४ ॥

आकाशवस्तुस्वाभाव्यमात्रादेव न कारकात् ।
वियता पूर्णता कुम्भस्यैवं दृक्पूर्णता धियाम् ॥ १५ ॥

घटदुःखादिरूपित्वं धियां धर्मादिहेतुतः ।
निर्हेतुस्तु स्वतःसिद्धदृग्व्याप्तिर्नित्यसन्निधेः ॥ १६ ॥

'आकाश' इत्यादि । जैसे वस्तुस्वभावमात्रसे ही घटमें आकाशकी पूर्णता हो जाती है, उसके लिए हेत्वन्तरकी अपेक्षा नहीं होती, वैसे ही बुद्धियोंमें चैतन्यकी पूर्णता उसके स्वभावमात्रसे ही होती है, उसको कारणान्तरकी अपेक्षा नहीं होती ॥ १५ ॥

अब यह शंका होती है कि जैसे आत्मा बुद्ध्यादिका भासक है, वैसे ही बुद्ध्यादि भी घट, पट आदि पदार्थके भासक हैं, भासक दोनों समान हैं, अतः अविकृत आत्माकी जैसे स्वभावमात्रसे व्याप्ति होती है, कारणान्तरसे नहीं होती, वैसे ही घटादिभासक बुद्धिकी भी विषयके साथ व्याप्ति निर्हेतुक होनी चाहिए ।

इस आक्षेपके निराकरणके लिए कहते हैं—'घटदुःखादि०' इत्यादि ।

घट और दुःख ये दोनों बाह्य और आन्तर विषयोंके उपलक्षक हैं, सारांश यह कि बुद्धि और तद्बोध्य—बाह्य और आभ्यन्तर विषय—परिच्छिन्न हैं, अतः परिच्छिन्न बुद्धि परिच्छिन्न विषयाकार हो सकती है, चिदात्मा तो अपरिच्छिन्न कूटस्थ नित्य है, इसलिए बुद्धि तथा तद्बोध्य घटादिरूपाकार नहीं हो सकता । बुद्धिके तत्तदाकार होनेमें प्रयोजक अदृष्ट है, सुखदुःखादिभोगजनक अदृष्टवश बुद्धि तत्तद्विषयाकार होती है । अच्छा तो जैसे घटादिबुद्धि घटाकार होती है, वैसे ही प्रत्यगात्मबुद्धि भी तदाकार होनी चाहिए, इसके निराकरणके लिए कहते हैं—'निर्हेतुस्तु' इति ।

बुद्धिका प्रत्यगाकार होना निर्हेतुक है सदा सन्निधिसे स्वतःसिद्ध चैतन्यकी व्याप्ति होती है, जैसे घटादिमें आकाशकी व्याप्ति अवर्जनीय सन्निधिसिद्ध है, सहेतुक नहीं है, वैसे ही बुद्धिमें चैतन्यकी व्याप्ति भी समझनी चाहिए, जो अव्यापक पदार्थ हैं, उनका सम्बन्ध सकारण होता है और आकाश, चैतन्यादि व्यापक पदार्थोंका कार्यके साथ उत्पत्तिसमयमें ही स्वतः सम्बन्ध होता है । व्यापककी सन्निधि सदा रहनेसे अवर्जनीय है, अतएव आगन्तुक किसी कारणकी आवश्यकता नहीं ॥१६॥

बुद्धितद्वृत्तिभावस्तदभावश्चाप्यनन्यमात् ।
यतः सिद्धायते सोऽर्थो ज्ञेयः सिद्धः स्वतः सदा ॥ १७ ॥

ननु प्रमाणविरहात् स्वतःसिद्धो यदीक्ष्यते ।
वाक्यस्य बुद्धबोधित्वादप्रामाण्यं प्रसज्यते ॥ १८ ॥

आत्मा स्वतः सिद्ध कैसे है ? इसका उत्तर देते हैं—'बुद्धितद्वृत्ति०' इत्यादिसे ।

बुद्धि और उसकी वृत्तियोंकी सत्ता तथा दोनोंके अभावकी सत्ता जिस चिदात्मासे ज्ञात होती है, वह चिदात्मा स्वयं सदा ज्ञेय है, प्रमाणान्तर व्यापारके विना भासमान होनेसे स्वयंप्रकाश है । जड़का प्रकाश चेतनसे होता है, चेतनका प्रकाश स्वयं होता है । यदि कारणान्तरसे प्रकाश माना जाय, तो जिससे प्रकाश कहा जायगा, वही चेतन होगा, फिर उसका भी प्रकाश यदि दूसरेसे कहा जायगा, तो अनवस्था होगी, और पूर्व पूर्व अचेतन होते जायँगे, इसलिए आत्माको स्वयंप्रकाश मानना आवश्यक है ।

यदि आत्माको स्वयंप्रकाश न मानें और बुद्धिसे उसका प्रकाश मानें, तो बुद्धिके अभावका प्रत्यक्ष कैसे होगा, क्योंकि बुद्धिके अभावकी दशामें तो बुद्धि है नहीं, अन्यथा अभाव ही कैसे कह सकेंगे, इसीलिए वार्त्तिककारने कहा है कि 'ज्ञाततया अज्ञाततया वा सर्वं साक्षिचैतन्यस्य विषयः' आत्माका विषय सब है—जो ज्ञात है सो ज्ञातत्वेन विषय है जैसे 'जानामि' यह व्यवहार होता है और जो अज्ञात है उसका अज्ञातत्वेन भान होता है जैसे 'न जानामि' यह व्यवहार होता है । इसलिए सब अवस्थाओंमें आत्माका स्फुरण रहता है, अतएव वह सदा स्वयंप्रकाश है, आत्मप्रकाश सहेतुक नहीं ॥ १७ ॥

यदि आत्मा बुद्ध्यादिका साक्षी कूटस्थ स्वप्रकाश वेदान्तका प्रमेय है, तो ज्ञातज्ञापक वेदान्त हुआ, अतः प्रमाण नहीं हो सकता, किन्तु अनुवादक होगा ? ऐसी शङ्का करते हैं—'ननु प्रमाण०' इत्यादिसे ।

यदि प्रमाणके बिना आत्माका स्वतः स्फुरण मानते हैं तो ज्ञातज्ञापक वेदान्त अनुवादक है, प्रमाण नहीं ॥ १८ ॥

मैवमप्रतिबद्धत्वाच्चिदेकरसवस्तुनः ।
तद्व्युत्पत्तेः पुरा पश्चाद् बोधो व्युत्पत्तिमात्रतः ॥ १९ ॥
बोधाबोधौ नृभिर्दृष्टौ स्वानुभूत्यैव वस्तुनः ।
दृष्टे चानुपपन्नत्वं किंबलादभिधीयते ॥ २० ॥
वेदान्तशास्त्रव्युत्पत्तेः पुरा कः प्रतिबुध्यते ।
को वा व्युत्पत्तितस्तूर्ध्वं बुद्धिमान्न विबुध्यते ॥ २१ ॥

ज्ञातज्ञापकत्वप्रयुक्त आत्मामें वेदके अप्रामाण्यकी शङ्काका निराकरण करते हैं—'मैवम्' इत्यादिसे ।

यद्यपि आत्मा स्वयंप्रकाश है, तो भी वेदान्तके विचारसे पहले 'मैं अज्ञ हूँ' 'मैं अपनेको नहीं जानता हूँ' यह प्रतीति सर्वलोकानुभवसिद्ध है इसलिए संसारदशामें आत्मा अज्ञात ही है, वेदान्तवाक्यों द्वारा श्रवण, मनन आदिसे अपरोक्ष ज्ञान होता है, अतः विचारसे पूर्व आत्माके अज्ञात होने एवं वेदान्त द्वारा ज्ञात होनेसे अज्ञातज्ञापकत्वलक्षण प्रामाण्य वेदान्तमें युक्तियुक्त है ॥ १९ ॥

स्वप्रकाश आत्मामें कादाचित्क बोध और अनादि अबोध इस प्रकार परस्पर विरुद्ध बोध और अबोध एक ही आत्मारूप धर्मीमें कैसे रह सकते हैं ? इस शङ्काकी निवृत्ति करते हैं—'बोधाबोधौ' इत्यादिसे ।

अन्वय-व्यतिरेक और विद्वानोंके अनुभवसे आत्मामें बोध और 'मैं अज्ञ हूँ' इत्यादि अपने अनुभवसे अबोध ये दोनों दीखते हैं, इसलिए दोनोंकी एकत्र स्थितिमें अनुपपत्ति ही नहीं हो सकती, विद्वानोंकी उक्ति है—'नहि दृष्टेऽनुपपन्नं नाम' एकत्र परस्पर विरुद्ध दो धर्मोंकी अनुपपत्ति वहां मानी जाती है, जहाँ एकत्र समावेश अदृष्टचर है । प्रकृतमें बोध और अबोध एकत्र आत्मामें सर्वानुभवसिद्ध हैं, इसलिए आत्मामें अनुपपत्तिकी शङ्का ही नहीं कर सकते, अतः वेदान्तमें अज्ञात-ज्ञापकत्वलक्षण प्रामाण्यमें कोई सन्देह ही नहीं है ॥ २० ॥

पूर्वोक्त अन्वय और व्यतिरेकको स्पष्ट करते हैं—'वेदान्त' इत्यादिसे ।

वेदान्तविचारादिसे पूर्व कौन आत्मज्ञानी होता है अर्थात् कोई नहीं और वेदान्तविचारके बाद कौन बुद्धिमान् आत्मज्ञानी नहीं होता अर्थात् सब अवश्य आत्मज्ञानी होते हैं, इस अन्वय और व्यतिरेकसे ज्ञान और अज्ञानकी एकत्र अवस्थितिमें विरोध नहीं है ॥ २१ ॥

एवं सार्वजनीनौ तौ बोधाबोधौ चिदात्मनः ॥
अपह्नोतुं कथं नाम शक्यौ स्यातां कुतार्किकैः ॥ २२ ॥
स्वप्रकाशोऽप्यसम्बुद्धः सुप्त्यादावनुभूयते ॥
अस्वप्रकाशतायां तु सुप्त्यादिः केन सिध्यति ॥ २३ ॥

'एवं सार्व०' इत्यादि। उक्त प्रकारसे चिदात्माका बोध और अबोध सर्वानुभवसिद्ध है, इसलिए कोई कुतार्किक भी अपलाप नहीं कर सकता कि बोध और अबोध ये दोनों आत्मामें नहीं रहते ॥२२॥

शङ्का—ज्ञान तो अज्ञानका विरोधी है, फिर ज्ञान द्वारा अज्ञानकी सिद्धि कैसे हो सकती है, क्योंकि विरोधी साधक और आश्रय दोनों नहीं हो सकता, प्रकाश अन्धकारका विरोधी है, इसलिए प्रकाश अन्धकारका न तो साधक ही है और न आश्रय ही है, इस शङ्कापर कहते हैं—'स्वप्रकाशो' इत्यादि।

स्वप्रकाश आत्मामें पूर्वोक्त अनुभव ही केवल प्रमाण नहीं है, किन्तु अन्य अनुभव भी प्रमाण है, 'सुखपूर्वक सोया था, कुछ भी नहीं जाना' इस प्रकार सुप्तोत्थित पुरुष स्मरण करता है, स्मरण अनुभवके विना नहीं होता, इसलिए सुषुप्तिमें अनुभव अवश्य हुआ, यह स्मरणरूप कार्यसे सिद्ध होता है, उस समय ज्ञानसाधन इन्द्रियादि तो हैं नहीं, अतः ऐन्द्रियक ज्ञानसे अतिरिक्त स्वयंप्रकाश आत्मस्वरूपानुभव ही सिद्ध होता है, अन्यथा सुप्ति आदिकी भी सिद्धि नहीं होगी।

अनुपलब्धिसे भी ज्ञानके अभावका ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि यदि ज्ञान होता तो उसका ज्ञान होता, यह भी तो प्रमाताके रहनेपर आपादन कर सकते हैं, अन्यथा नहीं, अतः उस समयमें आत्मप्रकाश अवश्य मानना चाहिए, बिना प्रमाताके प्रमाणकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती।

जो यह कहा गया है कि निवर्तक साधक नहीं होता, आलोक तमका निवर्तक है, इसलिए तमके प्रत्यक्षमें आलोकनिरपेक्ष ही चक्षु साधक है, आलोकसापेक्ष नहीं, सो ठीक नहीं है, क्योंकि यहांपर आत्मरूप ज्ञान अज्ञानका साधक है और वाक्यजन्य ज्ञान अज्ञानका निवर्तक है, ऐसा माननेमें उक्त दोष नहीं है। और अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य प्रमाता है, सुषुप्तिकालमें अन्तःकरणका प्राणमें लय हो जाता है, इसलिए प्रमाताका भी अभाव हो जाता

असम्बुद्धस्तदा बोधहेतुमात्राद्यभावतः ॥
अतएव न मानेन सुषुप्त्यादिः प्रसिध्यति ॥ २४ ॥
सुषुप्त्यादेश्च संसिद्धिर्मात्रादिविरहेऽपि या ॥
सा त्विहान्तरसम्बुद्धस्वप्रकाशचिदाश्रयात् ॥ २५ ॥
न चाऽभावप्रमाणात्सा सति मातर्यभावमा ॥
मात्राद्यभावसंसिद्धिः कथं मात्रादिपूर्विका ॥ २६ ॥
एवं सर्वव्यवहृतिप्रसाधकचिदात्मनि ॥
सति स्पष्टेऽत्र वेदान्ता मेयहीनाः कथं वद ॥ २७ ॥

है, वही सुषुप्ति है। प्रमाताका अभाव प्रमातासे सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि अपने अभावका साधक स्वयं नहीं हो सकता, इसलिए स्वापादिकी सिद्धि भी आत्मस्वरूपानुभवसे ही होती है, अज्ञानकी सिद्धि भी इसी तरह समझनी चाहिए, इसीको आगे स्पष्ट करेंगे ॥ २३ ॥

'असंबुद्ध०' इत्यादि। आत्माके स्वयंप्रकाश होनेपर भी सुषुप्तिकालमें ज्ञानके साधन इन्द्रिय और मनके अभावसे वह अज्ञात कहलाता है, इसीसे—प्रमाणाभावसे ही—सुषुप्ति आदि प्रमाणसे सिद्ध नहीं होते। योग्यानुपलब्धिसे सुषुप्ति आदिकी सिद्धि होगी, यह मत भी असंगत है, क्योंकि उक्त रीतिसे प्रमाता यदि नहीं है, तो योग्यानुपलब्धि किसकी कहोगे, इस कारणसे आत्मस्वरूपके ज्ञानसे ही स्वाप और अज्ञानकी सिद्धि होती है, अन्यथा नहीं ॥ २४ ॥

'सुषुप्त्यादेः' इत्यादि। प्रमाताके न रहनेपर भी जो सुषुप्त्यादिकी सिद्धि होती है, सो भीतर प्रबुद्ध स्वयंप्रकाश चिदात्माके प्रभावसे अर्थात् स्वयंप्रकाश आत्मा ही स्वीय अज्ञानादिका उक्त रीतिसे साधक है। प्रमाताके अभावसे योग्यानुपलब्धि भी नहीं हो सकती ॥ २५ ॥

'न चाऽभाव' इत्यादि। योग्यानुपलब्धिसे भी स्वापादिकी सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि प्रमाताके रहनेपर ही प्रमाणोंकी प्रवृत्ति होती है, स्वापादिकालमें प्रमाता है नहीं, फिर अनुपलब्धि प्रमाण भी किसका कहेंगे ॥ २६ ॥

साक्षी वेदान्तप्रमेय है, यही उपसंहार करते हैं—'एवं सर्व०' इत्यादिसे।

इस प्रकार संपूर्ण व्यवहारका साधक चिदात्मा है, सो स्वयंप्रकाश होनेसे सर्वानुभवसे सिद्ध है, वही साक्षी वेदान्तका प्रमेय है, इस कारण प्रमेयाभाव-

सर्वमानस्वभावस्य परीक्षायां चिदात्मनि ॥
मेये कैमुतिकन्यायसिद्धा वेदान्तमानता ॥ २८ ॥
यमप्रमाय मानानि नानात्मानं प्रमिन्वते ।
वस्तुवृत्तानुरोधेन कथं तत्राऽप्रमावचः ॥ २९ ॥

प्रयुक्त वेदान्तमें अप्रामाण्य नहीं हो सकता, [उपहासार्थ कहते हैं—] कहो वेदान्त मेयहीन कैसे हैं ? ॥ २७ ॥

'सर्वमान०' इत्यादि । सव—प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणों—के स्वभावकी परीक्षा करनेपर चिदात्मामें वेदान्तकी मानता कैमुतिकन्यायसे सिद्ध है अर्थात् प्रत्यक्षादि प्रमाण जैसे अज्ञातार्थबोधक होनेसे प्रमाण होते हैं, वैसे ही वेदान्त भी आत्मामें अज्ञातार्थज्ञापक होनेसे प्रमाण हैं ॥ २८ ॥

कैमुतिकन्याय कहते हैं—'यमप्रमाय' इत्यादि । प्रत्यक्षादि प्रमाण तथा उनके विषय शब्दादि स्वयं जड़ हैं, अतः प्रत्यक्षादि प्रमाण जब अपने स्वरूपका ही प्रकाश नहीं कर सकते, तो स्वविषय शब्दादिका प्रकाश कैसे कर सकेंगे । और चिदात्मा स्वयंप्रकाश है, इसलिए स्वसम्बन्धसे दूसरेका भी प्रकाश करता है, वस्तुवृत्त है, वस्तुस्वभाव, जड़ और चेतन वस्तुमें यह स्वभावभेद स्वाभाविक है, जो प्रकाशक है, वह स्वसम्बन्धसे दूसरेका प्रकाश करता है, जैसे प्रदीपादि स्वयं-प्रकाश हैं । स्वयंका तात्पर्य है सजातीय प्रकाशके विना प्रकाशमान, सो स्व-सम्बन्धसे घटादिका भी प्रकाशक होता है, घट प्रकाशमान नहीं है, अतः वह सम्बन्धसे पटादिका प्रकाशक नहीं होता ।

इस प्रकार वस्तुवृत्तानुसारसे प्रत्यक्षादि प्रमाण आत्मविषयक प्रमितिकी उत्पत्ति न कर अनात्म घटादिविषयक प्रमितिके उत्पादक नहीं होते । घटादिका ज्ञान होनेपर यह सन्देह नहीं होता कि यह ज्ञान हमको हुआ अथवा दूसरेको ? बल्कि यही निश्चय होता है कि हमको ही हुआ है, यदि इस ज्ञानसे आत्माका भान न होता तो संशयादि होते, परन्तु संशयादि न होनेसे विषयके स्फुरणकी तरह आत्माका स्फुरण भी अवश्य होता है, अतएव विषय जैसे प्रमा-जनक है, वैसे ही आत्माको भी प्रमाजनक मानना चाहिए । जैसे शब्दादिविषयक बोध द्वारा प्रत्यक्ष यद्यपि चरितार्थ है तथापि आत्माका बोध करता है, क्योंकि आत्माके प्रकाशके बिना अनात्माका प्रकाश हो ही नहीं सकता, सो आगे

चैतन्यमनभिव्यज्य चेत्यं व्यञ्जयितुं नहि ॥
शक्नुवन्ति प्रमाणानि चैतन्यं व्यञ्जयन्त्यतः ॥ ३० ॥
प्रकाशमगृहीत्वा न प्रकाश्यं रूपमीक्षते ।
चक्षुः, तेन प्रकाशस्य ग्रहणं रूपतः पुरा ॥ ३१ ॥
तथैव चिदभिव्यक्तिश्चेत्याभिव्यक्तितः पुरा ।
अनात्मग्राहकैर्मानैरत आत्मा प्रमीयते ॥ ३२ ॥
चिदात्मबोधनायैव प्रवृत्तायाः श्रुतेश्चिति ।
मानत्वं किमु वक्तव्यं प्रकाशग्राहिनेत्रवत् ॥ ३३ ॥

स्पष्ट करेंगे। प्रत्यक्षादि प्रमाण आत्मप्रमित्युत्पादनके विना विषयप्रमित्युत्पादन नहीं कर सकता ॥ २९ ॥

'चैतन्यम०' इत्यादि। श्लोकका अर्थ तो अतिस्पष्ट है। चैतन्य आत्मा, चेत्य अनात्मा। आत्माका प्रकाश कराये विना प्रमाण अनात्मा घटादि विषयका प्रकाश नहीं करा सकते, इसलिए वे अनात्मका प्रकाश कराते हुए आत्माका भी प्रकाश कराते हैं ॥ ३० ॥

इसी अर्थमें दृष्टान्त कहते हैं—'प्रकाश' इत्यादिसे।

चक्षु ग्राहक आलोकके ग्रहणके विना प्रकाश्य रूपका ग्रहण नहीं करता, इसलिए वह रूपके ग्रहणसे पहले आलोकका ग्रहण करता है, रूपके प्रत्यक्षमें आलोकसन्निकर्ष सहकारी कारण है, प्रतिबन्धकापसारकत्वरूप सहकारित्व है प्रतिबन्धक तिमिरके निरासके लिए आलोककी अपेक्षा होती है ॥ ३१ ॥

दृष्टान्तको दार्ष्टान्तिकमें स्फुट करते हैं—'तथैव चिद०' इत्यादिसे।

उसी प्रकार चेत्य अनात्म घटादिकी प्रतीतिसे पहले चित् आत्माकी अभिव्यक्ति—प्रकाश—होता है, अतएव अनात्मग्राहक प्रत्यक्षादि प्रमाणसे आत्मा प्रमित होता है ॥ ३२ ॥

'चिदात्म०' इत्यादि। आलोकसे अभिव्यक्त रूपादिके ग्राहक चक्षु आदि जैसे प्रथम आलोकका ग्रहण कर पश्चात् रूपादिका ग्रहण करता है तो भी आलोकादिमें प्रमाण होता है, वैसे ही चिदभिव्यक्त चेत्यग्राहक मान चिदात्मबोधक होता है, जो अन्यार्थक मान है, सो भी आत्मामें प्रमाण होते हैं, तो चिदभिव्यक्तिके उद्देश्यसे प्रयुक्त अनन्यार्थका—जिनका दूसरा विषय ही नहीं, ऐसे—तत्त्वमस्यादि

मीमांसकम्मन्यताऽपि मानवृत्तानभिज्ञताम् ।
तव प्रकटयत्यत्र कार्यरागे निमज्जतः ॥ ३४ ॥
मानं हि व्यञ्जकं तच्च समानं सिद्धकार्ययोः ।
अतः सर्वस्य वेदस्य बोधकत्वात् प्रमाणता ॥ ३५ ॥

वाक्य चिदात्मामें प्रमाण हैं, इसमें कहना ही क्या है ? जब घटपटादिविषयक चक्षुरादि चिदात्मामें प्रमाण होते हैं, तब 'तत्त्वमसि' आदि श्रुतिवाक्य, जो केवल चिदात्माके बोधनमात्रके तात्पर्यसे प्रयुक्त हैं, यदि उसमें प्रमाण न होंगे, तो उनका प्रयोग व्यर्थ ही हो जायगा ॥ ३३ ॥

शब्द कर्तव्यार्थमें प्रमाण होता है, सिद्धार्थमें नहीं । वेदान्तमें कर्तव्यार्थ-रूप विषय ही नहीं हैं, इस प्रकार किये गये प्रामाण्यके आक्षेपका परिहार करके सिद्ध अर्थमें शब्दशक्तिग्रह नहीं हो सकता, अतः अबोधकत्वनिमित्तक प्रामाण्यके आक्षेपके परिहार करनेके तात्पर्यसे कहते हैं—'मीमांसकम्' इत्यादिसे ।

सिद्धार्थमें शब्दशक्तिग्रह नहीं हो सकता, अतः सम्पूर्ण वेद सिद्धार्थबोधक नहीं हैं, किन्तु कार्यार्थबोधपरक ही हैं, इस प्रकार दुराग्रहग्रहिल आप लोग मीमांसक होनेका गर्व करते हैं, पर वस्तुतः विचारपराङ्मुख हैं, सो आगे स्पष्ट रूपसे कहेंगे, अतः इस कथनसे आप लोगोंकी प्रमाणस्वभावकी अनभिज्ञता ही प्रगट होती है । मीमांसक तो न्यायानुगृहीत अर्थके माननेवाले होते हैं, आप लोग अपनेको मीमांसक कहते हैं, पर न्यायसे अनुगृहीत अर्थ मानते नहीं, इसलिए उपहासके लिए मीमांसकम्मन्य कहा ॥ ३४ ॥

'मानं हि' इत्यादि । विषयेन्द्रियके सन्निकर्ष द्वारा चक्षुरादि ज्ञानके कारण हैं, अतः वे ही प्रमाण हैं, यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि 'इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानम्' इत्यादि न्यायसूत्रके अनुसार ज्ञान ही प्रमाण है, चक्षुरादि नहीं ।

श्लोकार्थ—मान व्यञ्जक है, वह सिद्ध और कार्य दोनोंमें समान है, प्रमेय दो प्रकारके हैं—स्वतःसिद्ध और परतःसिद्ध । स्वतःसिद्ध—आत्मा है । परतःसिद्ध—अनात्मपदार्थ हैं । विषयमें स्वतस्त्व और परतस्त्व का भेद होनेपर भी प्रमाणके व्यञ्जकत्वमें कुछ अन्तर नहीं है, अतः सम्पूर्ण वेदमें—कर्मकाण्ड तथा ज्ञान-काण्डमें—साध्य और सिद्ध अर्थका भेद होनेपर भी वह बोधक होनेसे प्रमाण ही है ॥ ३५ ॥

वेदान्तवचसां स्वार्थे प्रामाण्यं न विहन्यते ।
मानलक्षणसद्भावाज्ज्योतिष्टोमादिवाक्यवत् ॥ ३६ ॥
यद्धेतुकं प्रमाणत्वं वेदान्तानां समर्थ्यते ।
तेनैव हेतुना कर्मकाण्डस्यापि प्रमाणता ॥ ३७ ॥
वेदान्तानाममानत्वं येन वा हेतुनोच्यते ।
तेनैव हेतुना कर्मकाण्डस्यापि प्रसज्यते ॥ ३८ ॥
बोधकत्वेन मानत्वं काण्डयोरुभयोः समम् ।
अकार्यबोधेनाऽमात्वं कर्मकाण्डेऽप्यवारणम् ॥ ३९ ॥

'वेदान्तवचसाम्' इत्यादि । कार्यपरक ज्योतिष्टोम आदि वाक्योंके सदृश स्वप्रकाश चैतन्यरूप अर्थमें वेदान्तवाक्योंके प्रामाण्यकी क्षति नहीं है, क्योंकि व्यञ्जकत्वरूप प्रामाण्यका लक्षण दोनोंमें समान है अथवा अज्ञातज्ञापकत्वरूप प्रामाण्यका लक्षण दोनोंमें समान है । ज्योतिष्टोमवाक्यका प्रमेय है—याग अथवा तज्जन्य साध्यस्वरूप नियोग और वेदान्तवाक्यका प्रमेय है—स्वप्रकाश स्वतःसिद्ध चैतन्य, इस प्रकार प्रमेयके विलक्षण होनेपर भी व्यञ्जकत्वलक्षण प्रामाण्यके विलक्षण न होनेसे वेदान्त प्रमाण ही हैं ॥ ३६ ॥

'यद्धेतुकम्' इत्यादि । प्रामाण्यका कारण अज्ञातज्ञापकत्व दोनोंमें समान है, इसलिए यद्धेतुक—अज्ञातज्ञापकत्वहेतुक—प्रामाण्य कर्मकाण्डमें मानते हैं, तद्धेतुक—अज्ञातज्ञापकत्वहेतुक—प्रामाण्य वेदान्तमें भी समर्थित होता है ॥३७॥

'वेदान्ता०' इत्यादि । कर्मकाण्डके साथ विरोध होनेके कारण यदि वेदान्तमें अप्रामाण्य है, तो वेदान्तके साथ विरोध होनेके कारण कर्मकाण्डमें भी अप्रामाण्य प्रसक्त होता है, इस परिस्थितिमें सुन्दोपसुन्दन्यायके * सदृश परस्पर विरोध होनेसे दोनोंके प्रामाण्यका भङ्ग हो जायगा ॥ ३८ ॥

कर्तव्यरूप अर्थका बोधक कर्मकाण्ड प्रमाण है, वेदान्त तो सिद्धार्थक होनेसे प्रमाण नहीं हो सकता, इस शङ्काकी निवृत्तिके लिए कहते हैं—'बोधकत्वेन' इत्यादिसे ।

* सुन्द और उपसुन्द नामक दो दैत्य थे। वे पार्वतीजीके रूपसे मोहित होकर उनकी प्राप्तिके लिए भगवान् शङ्करकी तपस्या करने लगे, उनकी तपस्यासे सन्तुष्ट होकर शङ्करने उन्हें वर दान दिया कि जो तुम दोनोंमें बलवान् हो वह पार्वतीको ले ले । वे दोनों परस्पर लड़कर नष्ट हो गये, यही उक्त न्यायका स्वरूप है ।

कार्यं कालत्रयास्पर्शि त्वदभीष्टं न तत् क्वचित् ।
कर्मकाण्डेऽपि सम्भाव्यं नृभृङ्गादविशेषतः ॥ ४० ॥
अतः समीहितोपायतया वस्त्ववबोधनात् ।
कर्मकाण्डस्य मानत्वं कार्ये प्रेरणया न तु ॥ ४१ ॥
तथा च वस्तुयाथात्म्यज्ञापनेन प्रमाणता ।
वेदान्तानां कुतो न स्यात् प्रत्यक्षादौ तदीक्षणात् ॥ ४२ ॥

कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड दोनोंमें बोधकत्वरूप प्रामाण्य समान ही है । यदि वेदान्तमें अकार्यबोधकत्वहेतुक अप्रामाण्य कहते हो, तो कर्मकाण्डमें अकार्य-बोधकत्वप्रयुक्त अप्रामाण्यका वारण नहीं हो सकता, क्योंकि कर्मकाण्ड इष्ट-साधनताका बोधक है और इष्टसाधनत्व अकार्य ही है, इसलिए अकार्य-बोधकत्वमात्रसे यदि वेदान्तमें अप्रामाण्यकी प्रसक्ति हो, तो कर्मकाण्डमें भी अप्रामाण्यकी आपत्ति हो जायगी ॥ ३९ ॥

'कार्यम्' इत्यादि । कार्यशब्दसे धात्वर्थादि विवक्षित नहीं है, किन्तु नियोग विवक्षित है । सो कर्मकाण्डमें ही है, ज्ञानकाण्डमें नहीं है, फिर विध्यर्थ नियोगकी सम्भावना ही नहीं है । नियोग कार्य है, इसका खण्डन करते हैं—कालत्रयास्पर्शी अर्थात् भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालमें असम्बद्ध मनुष्यकी सींगके समान कहीं भी नियोगरूप कार्य नहीं है अर्थात् वह अत्यन्तासत् है, अतः नियोग विध्यर्थ नहीं हो सकता ॥ ४० ॥

'अतः' इत्यादि । इस हेतुसे जैसे यागादिमें इष्टसाधनताके बोधक कर्म-काण्डवाक्य हैं, वैसे ही वस्तुतत्त्वके बोधक तत्त्वमस्यादिवाक्य हैं । यदि दोनों वस्तुतत्त्वके बोधक समान हैं, तो फिर कर्मविधि प्रमाण है, वेदान्त नहीं, इसमें क्या युक्ति ? विनिगमक तो कोई है नहीं, अतः कर्मकाण्डके समान ज्ञानकाण्ड भी प्रमाण ही है । कार्यरूप नियोगके बोधक होनेसे उसमें प्रेरणाबोधकत्व हो भी सकता, सो तो है नहीं, कारण कि नियोगमें कुछ प्रमाण ही नहीं है, अतएव मानान्तरका अविषय है, इसीसे उसको अपूर्व भी कहते हैं । 'आत्मानं नियोजयति' इस व्युत्पत्तिसे यागादिकी सिद्धिमें आत्माका प्रवर्तक होनेसे उसे नियोग कहते हैं, परन्तु प्रमाणके अभावसे ऐसा पदार्थ ही नहीं है ॥ ४१ ॥

'तथा च' इत्यादि । जैसे यद्यपि प्रत्यक्ष आदि यथावस्थित वस्तुस्वरूपके बोधकमात्र होते हैं, अपने विषयमें द्रष्टाकी प्रेरणा नहीं करते, तो भी प्रमाण

मन्त्रादेः कार्यशेषत्वं त्वयोक्तं तत्तथैव तत् ।
अथाऽपि त्वदभीष्टं यत्कार्यं तन्मानवर्जितम् ॥ ४३ ॥
अतो यदेव साध्यार्थसाधनत्वेन गम्यते ।
वेदात्तदेव साध्यत्वात् कार्यं नान्यत् ततः पृथक् ॥ ४४ ॥
कार्यशेषोऽप्यर्थवादो न स्वार्थेऽत्यन्तमप्रमा ।
गुणानुवादभूतार्थरूपैस्त्रैविध्यसम्भवात् ॥ ४५ ॥
विरोधे गुणवादः स्यादनुवादोऽवधारिते ।
भूतार्थवादस्तद्धानादर्थवादस्त्रिधा मतः ॥ ४६ ॥

माने जाते हैं, वैसे ही वस्तुतत्त्वके बोधक तत्त्वमस्यादिवाक्य अप्रेरक होनेपर भी परमार्थ सत्य वस्तुके बोधक होनेसे प्रमाण ही हैं। जैसे कर्मकाण्ड अबाधित और अज्ञात अर्थका बोधक प्रमाण माना जाता है, वेदान्तवाक्य भी वैसे ही हैं, इसलिए प्रमाण हैं।

'मन्त्रादेः' इत्यादि । मन्त्र, नामधेय तथा अर्थवाद कार्यविधिके शेष हैं, यह आपका कहना ठीक है, इसमें विवाद नहीं है, परन्तु विवाद है केवल कार्यमें, क्योंकि आप जिस नियोगको कार्य कहते हैं, उसमें कुछ प्रमाण न होनेसे वह स्वीकार करनेके योग्य नहीं है। जिस पदार्थके सद्भावमें कुछ प्रमाण ही नहीं है, उसका यदि स्वीकार किया जाय तो नृश्रृङ्गने क्या अपराध किया है, जिससे कि उसको स्वीकार न किया जाय ? इसलिए प्रामाणिक पदार्थ ही मानना चाहिए, अप्रमाणिक नहीं, अतः श्रेयःसाधन यागादिसे अतिरिक्त कार्य नहीं है ॥ ४३ ॥

'अतो यदेव' इत्यादि । चूँकि नियोग अप्रामाणिक है, इसलिए कृतिसाध्य और स्वर्गादि अर्थके साधन याग, दान, होम आदि ही, जो वेद द्वारा प्रतीत होते हैं, साध्य होनेसे कार्य कहलाते हैं, इनसे अतिरिक्त दूसरा कार्य नहीं है ॥ ४४ ॥

'कार्यशेषो०' इत्यादि । अर्थवादके कार्यशेष होनेपर भी वह स्ववाच्य अर्थमें सर्वथा अप्रमाण नहीं है, क्योंकि गुण, अनुवाद और भूतार्थ रूपसे अर्थवाद तीन प्रकारके होते हैं ॥ ४५ ॥

'विरोधे गुण०' इत्यादि । प्रत्यक्षादि प्रमाणोंके साथ यदि विरोध हो, तो वह अर्थवाद गुणवाद कहलाता है। जिसका वाच्य अर्थ प्रमाणान्तरसे निश्चित हो, वह अर्थवाद अनुवाद कहलाता है और जिसके वाच्यार्थमें प्रमाणान्तरसे न विरोध हो और न अनुवाद ही हो, वह अर्थवाद भूतार्थवाद कहलाता है ॥ ४६ ॥

आदित्यो यूप इत्यत्र प्रत्यक्षेण विरोधतः ।
आदित्य इव पूतत्वगुणको यूप उच्यते ॥ ४७ ॥
अग्निर्हिमस्य भैषज्यमिति लोकप्रसिद्धितः ।
अनूद्यार्थमिमं तेन विधिं प्रत्युपयुज्यते ॥ ४८ ॥
मेधातिथिं जहारेन्द्र इत्यपूर्वार्थबोधनात् ।
एति मात्वमिहाभावादनुवादविरोधयोः ॥ ४९ ॥

'आदित्यो' इत्यादि । 'आदित्यो यूपः' 'यजमानः प्रस्तरः' इत्यादि वाक्यसे यूपमें आदित्यका अभेद और यजमानमें प्रस्तरका (कुशमुष्टिका) अभेद प्रतीत होता है, किन्तु यह आदित्य तथा यूपका और यजमान तथा प्रस्तरका वाच्यार्थ अभेद भेदग्राही प्रत्यक्षसे विरुद्ध है, क्योंकि 'यूपो न आदित्य.' यजमानो न प्रस्तरः' यह प्रत्यक्ष सर्वलोकसिद्ध है । अतः यह अर्थवाद गुणवाद है । 'आदित्य इव पूतः' इस प्रकार आदित्यगत पूतत्वधर्मका यूपमें आरोप कर गौणी वृत्तिसे यूपमें आदित्य-शब्दका प्रयोग है, एवं 'यजमान इव प्रस्तरः' इस प्रकार यजमानकार्य स्रुग्धार-णादिकार्यकारित्वरूप धर्मका प्रस्तरमें आरोप कर प्रस्तरमें यजमानशब्दका प्रयोग है । 'सिंहो देवदत्तः' इत्यादि प्रयोगके समान, गुणादिके प्रवृत्तिनिमित्त होनेसे, वह गुणवाद कहलाता है ॥ ४७ ॥

'अग्निर्हिमस्य' इत्यादि । 'अग्निर्हिमस्य भेषजम्' यह अर्थवाद अनुवाद है, अग्नि जाड़ेकी निवारक औषध है, यह सब लोगोंमें प्रसिद्ध है । अतः ज्ञातज्ञापक होनेसे यह अनुवाद कहलाता है, इसी प्रकार इन तीनों राशियोंमेंसे किसी राशिमें अवश्य अन्तर्भूत होनेसे सब अर्थवाद तीन प्रकारके ही हैं । सारांश यह है कि अर्थवाद असलमें दो प्रकारके हैं, भूतार्थवाद और अभूतार्थवाद । पहला दो प्रकारका है—एक प्रमाणान्तरके संवाद तथा विसंवादसे रहित और दूसरा प्रमाणान्तरसंवादपूर्वक । अभूतार्थवाद ही गुणवाद कहलाता है जैसे 'आदित्यो यूपः' इत्यादि । भूतार्थवाद प्रमाणान्तरसंवादपूर्वक है, जैसे 'अग्निर्हिमस्य भेषजम्' ॥४८॥

प्रमाणान्तरके संवाद तथा विसंवादसे शून्य अर्थवाद कहते हैं—'मेधातिथिम्' इत्यादिसे ।

अभूतार्थवाद स्वार्थमें प्रमाणान्तरसे विरोध होनेके कारण प्रमाण नहीं

मन्त्रनाम्नोरयं न्यायो योज्यः सिद्धप्रमापणे ।
इत्थं सिद्धाऽन्यशेषाणामपि स्वार्थे प्रमाणता ॥ ५० ॥

हो सकता, इसलिए गौणी वृत्तिसे अर्थान्तरविधान द्वारा क्रियाविधिका शेष मानकर प्रमाण माना जाता है । भूतार्थवाद तो अज्ञात अविरुद्ध अर्थका बोधक होनेसे स्वार्थमें प्रमाण है, यही 'मेधातिथिम्' इत्यादिका भाव है । इन्द्रने मेधातिथि नामक ऋषिका अपहरण किया, यह अर्थ न तो किसी प्रमाणसे विरुद्ध है और न किसीसे संवादित ही है, किन्तु अपूर्व अर्थ प्रतीत होता है, अतः अज्ञात-ज्ञापकत्वलक्षण प्रामाण्य इस अर्थवादमें अवश्य मानना चाहिए, क्योंकि अप्रामाण्यके कारण विरोध और अनुवाद तो हैं नहीं ॥ ४९ ॥

'मन्त्र०' इत्यादि । सिद्धार्थबोधक मन्त्र और नामधेयके विषयमें भूतार्थ-वादन्यायका अतिदेश करते हैं, इस प्रकार सिद्धार्थक अन्यशेष अर्थात् क्रियाविधि-शेष मन्त्रादि स्वार्थमें भी प्रमाण हैं। मन्त्रादिसे प्रतीयमान वाच्यार्थ यदि प्रमाणान्तरसे विरुद्ध तथा संवादित नहीं है, तो अज्ञातज्ञापक होनेसे स्वार्थमें प्रमाण है । सारांश यह है कि मन्त्राधिकरणमें यह विचार किया गया है कि जिस कार्यमें जिस मन्त्रका विनियोग श्रुत्यादि प्रमाणसे प्राप्त है और मन्त्रार्थसे भी प्राप्त है, वे मन्त्र विवक्षितार्थ हैं अथवा अविवक्षितार्थ ? इस संशयमें पुरोडाशके प्रथनके लिए 'उरु प्रथस्व' इत्यादि मन्त्र यदि विवक्षितार्थ हों, तो मन्त्रार्थसे ही पुरोडाशके प्रथनमें उक्त मन्त्रका विनियोग हो जायगा, तो फिर 'उरु प्रथस्वेति पुरोडाशं प्रथयति' पुरोडाशप्रथनमें उक्त मन्त्रका विनियोगविधायक यह वाक्य व्यर्थ हो जायगा । हे पुरोडाश ! उरु—विपुलं यथा स्यात्तथा प्रथस्व, यह अर्थ तो स्वतः मन्त्रसे प्रतीत होता है, अतः मन्त्र यदि अविवक्षितार्थ है, तो मन्त्रोच्चारण ही व्यर्थ है, क्योंकि मन्त्र प्रयोगसमवेत अर्थके स्मारक माने जाते हैं । मन्त्रसे अर्थका स्मरण कर अनुष्ठान करना चाहिए ।

यदि अविवक्षितार्थ हैं, तो मन्त्र ही व्यर्थ हो जायँगे । 'हुँ फट्' के समान मन्त्रोच्चारण अदृष्टार्थ है, यह माननेसे व्यर्थ नहीं हो सकते, ऐसा पूर्वपक्ष कर सूत्रकारने सिद्धान्त किया है कि सब शब्द अर्थके प्रकाशनपरक हैं, यह लोकव्युत्पत्ति सिद्ध है । किसी अर्थविशेषके बोध करानेके लिए किसी शब्दविशेषका प्रयोग लोकमें होता है, निरर्थक नहीं । मन्त्रके प्रयोगसे लौकिक शब्दके प्रयोगके समान अर्थ स्वतः प्रतीत होता है, अतः अर्थप्रकाशनसामर्थ्यरूप लिङ्गसे प्राप्त

किमुतानन्यशेषाणां वेदान्तानां चिदात्मनि ।
मात्वं, तेनास्ति नैवान्यन्मानमैकात्म्यबोधकृत् ॥ ५१ ॥

उक्त मन्त्रके विनियोगका उक्त ब्राह्मणवाक्य अनुवाद करता है । इस परिस्थितिमें यद्यपि मन्त्रका उच्चारण व्यर्थ है, यह शङ्का होती है; तथापि इसकी निवृत्तिके लिए मन्त्रोच्चारण नियमार्थक है—सम्भव होनेपर मन्त्रसे ही अर्थका स्मरणकर अनुष्ठान करनेसे फलकी सिद्धि होती है, अन्यथा नहीं, इस प्रकार नियमादृष्ट मन्त्रोच्चारणका प्रयोजन है, यह सिद्धान्त किया गया है, इस रीतिसे मन्त्र क्रियाविधिके शेष होकर प्रमाण होते हैं । अर्थवाद भी क्रियाविधिके शेष होकर प्रमाण होते हैं, यह कही चुके हैं । अन्यथा अर्थके प्रत्यायक होनेपर भी निष्प्रयोजनत्वप्रयुक्त अप्रामाण्य मन्त्र और अर्थवादमें प्रसक्त हो जायगा ।

उद्भिद्, चित्रा, आज्यपृष्ठ, बहिष्पवमान, अग्निहोत्र, आज्याघार, श्येन आदि नामधेय धर्ममें प्रमाण हैं अथवा नहीं ? यह सन्देह कर विधि, अर्थवाद और मन्त्रके द्वारा वेद धर्मका प्रतिपादक है, उद्भिदादि नामधेय इसके अन्तर्भूत हैं नहीं, अतः वे धर्ममें प्रमाण नहीं हैं, यह पूर्वपक्ष कर संपूर्ण वेदका अध्ययन 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस अध्ययनविधिसे सप्रयोजन विहित है, अतः नामधेय भी पुरुषार्थका साधन होना चाहिए । 'उद्भिदा यजेत' इत्यादि वाक्यसे विध्युद्देशान्तर्गतत्वरूपसे उद्भिद् श्रुत है, अतः 'सामानाधिरण्यसबन्धेन उद्भिदादिनामकेन यागेन इष्टं भावयेत्' इस तरह विध्येकवाक्यतया प्रमाण है, यह सिद्धान्त मीमांसासूत्रकारने किया है, इस प्रकारसे प्रकृतमें अन्य शेषोंकी स्वार्थमें प्रमाणता सिद्ध होती है ॥ ५० ॥

'किमुता०' इत्यादि । उक्त न्यायसे अन्य शेषोंकी भी यदि स्वार्थमें प्रमाणता मानी गई है, तो जो किसीमें शेष—गुण—नहीं हैं, किन्तु स्वयं प्रधान हैं, ऐसे अनन्यशेष वेदान्तका चिदात्मामें प्रामाण्य कैमुतिकन्यायसे सिद्ध है । ऐकात्म्यबोधकृत् अर्थात् आत्मैकत्वप्रमितिके जनक वेदान्तसे अतिरिक्त कोई प्रमाण नहीं है, इसीसे वेदान्तके अज्ञातज्ञापकत्वलक्षण प्रामाण्यमें कोई बाधा नहीं है । प्रत्यक्षादि प्रमाणके साथ विरोध ही बाधक है ? यह शङ्का ठीक नहीं, क्योंकि प्रत्यक्षादिमें व्यावहारिक प्रामाण्य है, तात्त्विक नहीं । व्यावहारिक दशामें प्रपञ्चका

ननु सर्वप्रमाणानि स्वस्वमेयावभासने ।
आत्मानं व्यञ्जयन्त्यादाविति पूर्वं त्वयेरितम् ॥ ५२ ॥
बाढं चिन्मात्रमखिलैः प्रमाणैर्व्यज्यतामिति ।
अद्वितीयात्मतत्त्वं तु वेदान्तैरेव मीयते ॥ ५३ ॥
यदप्युक्तं प्रवृत्तिं वा निवृत्तिं वा विनाऽऽगमे ।
पुमर्थो नेति, तन्नैव मोक्षस्य पुरुषार्थतः ॥ ५४ ॥

भान है, परमार्थदशामें अद्वैत आत्मा ही है। व्यावहारिक प्रामाण्य प्रत्यक्षादि प्रमाणका है और पारमार्थिक प्रामाण्य आगमका है, इस प्रकार प्रत्यक्षादि और आगम अपने-अपने विषयमें व्यवस्थित हैं, अतः उनका परस्पर कोई विरोध नहीं है ॥५१॥

पूर्वमें आपने कहा है कि प्रत्यक्षादि सकल प्रमाण आत्मप्रमाजनक होकर ही स्वविषयकी प्रमितिके जनक होते हैं और अब आप कहते हैं कि आत्मामें आगम ही प्रमाण है, दूसरा नहीं, इस विरोधके परिहारके लिए कहते हैं—'ननु सर्व०' इत्यादिसे।

प्रत्यक्षादि निखिल प्रमाण अपने-अपने प्रमेयकी अभिव्यक्तिसे पूर्व आत्माका ही प्रकाश करते हैं और पीछे अपने अपने विषयका प्रकाश करते हैं, ऐसा आपने पहले कहा है ॥ ५२ ॥

और अब कहते हैं कि आगमसे अतिरिक्त आत्मामें प्रमाण ही नहीं है, इसका अभिप्राय स्पष्ट करनेके लिए कहते हैं—'बाढम्' इत्यादिसे।

सब प्रमाणोंसे चैतन्यमात्रका भान होता है, चैतन्यके भानके बिना स्व-स्व-प्रमेय भासित नहीं हो सकता, इसलिए स्व-स्व विषयके भानके लिए अपेक्षित आत्माका भान आवश्यक है, इस तात्पर्यसे सोपाधिक आत्मभान प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे होता है, और निरुपाधिक अद्वितीयात्मबोध आगमसे ही होता है, प्रमाणान्तरसे नहीं, इस प्रकार निरुपाधिक और सोपाधिक आत्मज्ञानके तात्पर्यसे दोनों वाक्य व्यवस्थित हैं, अतः परस्पर विरोध नहीं है ॥ ५३ ॥

'यदप्युक्तम्' इत्यादि। जो यह कहा गया है कि प्रवृत्ति और निवृत्तिके बिना आगममें कहीं पुरुषार्थ दृष्ट ही नहीं है, सो ठीक नहीं, क्योंकि मोक्ष ही पुरुषार्थ ऐसा है,

निःशेषसुखसम्प्राप्तेः सर्वानर्थहतेस्तथा ।
मुक्तिरेव पुमर्थः स्यात् पुम्भिर्नार्थ्योऽतथाविधः ॥ ५५ ॥
कृत्स्नेष्टार्थस्य सम्प्राप्तिः कृत्स्नानर्थहतिस्तथा ।
आत्मस्वरूपान्नान्यत्र सम्भाव्येते प्रमाणतः ॥ ५६ ॥

जिसके लिए प्रवृत्ति या निवृत्तिकी अपेक्षा नहीं होती है। मोक्ष यदि कर्मसाध्य होता तो साधनभूत कर्ममें प्रवृत्तिकी आवश्यकता होती, सो तो है नहीं। मुक्ति तो नित्य है, किन्तु अविद्यासे आवृत है, अतएव उसकी अभिव्यक्ति नहीं होती। आवरक अविद्याकी निवृत्तिके लिए केवल विद्याकी आवश्यकता है, दूसरेकी नहीं ॥ ५४ ॥

वेदान्तमें निष्फलत्वप्रयुक्त अप्रामाण्यकी शङ्काकी निवृत्ति करते हैं—'निःशेष०' इत्यादिसे।

सम्पूर्ण सुखोंकी प्राप्ति और निखिल क्लेशोंकी निवृत्ति ही मोक्षरूप पुरुषार्थ है। 'सर्वमात्मैवाभूत् तत्केन कं पश्येत्' इत्यादि श्रुतिसे आत्मातिरिक्त द्वितीयका अभाव होनेसे तत्प्रयुक्त किसी प्रकारका दुःख नहीं हो सकता। निरतिशयानन्दके आत्म-स्वरूपापन्न होनेसे मोक्षमें सर्वसुखप्राप्ति है। ['पुरुषैरर्थ्यते' इति पुरुषार्थः] अतथा-विध—अनेवंभूत अर्थात् मोक्षातिरिक्त पुरुषार्थ नहीं है, क्योंकि संपूर्ण सुखकी प्राप्ति और निःशेष दुःखकी निवृत्ति अन्यत्र हो ही नहीं सकती, इसलिए मोक्ष ही पुरुषार्थ है। वस्तुतः सकल सुखकी प्राप्ति और निखिल दुःखकी निवृत्ति यदि आत्मस्वरूपसे अतिरिक्त मानी जाय, तो आत्मा अद्वैत सिद्ध नहीं होगा। आत्मातिरिक्त सुखके लिए उक्त प्रवृत्ति और निवृत्ति ही द्वैत है, इसलिए अशेष सुखस्वरूप ही आत्मा है, अतिरिक्त नहीं। तथा निःशेषदुःखनिवृत्ति भी आत्मस्वरूप ही है, क्योंकि अभावको अधिकरण स्वरूप मानते हैं।

यदि मोक्ष आत्मस्वरूप ही है, तो आत्मा स्वयंप्रकाश स्वतःसिद्ध नित्य है। मोक्ष भी तद्रूपतया सिद्ध ही है, फिर ज्ञानकी अपेक्षा क्यों की जाती है?

मोक्ष नित्य सिद्ध अवश्य है, किन्तु अविद्यासे आवृत होनेसे उसका भान नहीं होता। अतः आवरणकी निवृत्तिके लिए ज्ञानकी आवश्यकता है। हाँ, तो आवरणकी निवृत्ति भी तो ब्रह्मस्वरूप होनेसे सिद्ध ही है, फिर ज्ञानकी क्या आवश्यकता? निवृत्ति ब्रह्मस्वरूप है, पर ब्रह्मस्वरूपत्वेन ज्ञानकी अपेक्षा नहीं है, अज्ञाननिवृत्तित्वेन ज्ञानकी अपेक्षा है। निखिल प्रपञ्च अज्ञानोपादान (अज्ञानजनित)

व्युत्पत्तिरपि कार्येऽर्थे नियन्तुं नैव शक्यते ।
पुत्रस्ते जात इत्यादौ सिद्धे व्युत्पत्तिरीक्ष्यते ॥ ५७ ॥

है। अज्ञानके निवृत्त होनेसे तत्कार्य प्रपञ्च भी निवृत्त हो जाता है। तदनन्तर अद्वितीय आत्माकी सिद्धि होती है। निवृत्तिको ब्रह्मस्वरूप माननेसे ब्रह्मत्व, निवृत्तित्व आदि रूप धर्मोंके भेदसे एकमें ही सिद्ध और साध्य व्यवहार होता है। यद्यपि एकरूपसे एकमें उक्त द्विविध व्यवहार नहीं हो सकता, तथापि रूपभेदसे उक्त प्रकारके दो व्यवहारोंमें कोई आपत्ति नहीं है।

अब यह शङ्का होती है कि 'लोकावगतसामर्थ्यः शब्दो वेदेऽपि बोधकः' इस न्यायसे लोकव्यवहार आदि द्वारा शब्दका शक्तिग्रह कार्यान्वित अर्थमें होता है, सिद्धार्थमें नहीं होता। कारण कि साध्य अर्थमें शब्दोंके उच्चारणके अनन्तर पार्श्वस्थ बालक प्रयोज्यकी प्रवृत्ति आदिके दर्शनसे शब्दजन्य ज्ञानका अनुमान कर परिशेषसे तादृश वाक्य ही तादृश अर्थज्ञानका जनक है, ऐसा अनुमान द्वारा जान कर तादृश वाक्यमें तादृश अर्थनिरूपित ग्रह कर लेता है। 'घटोऽस्ति' इत्यादि सिद्धार्थक वाक्योंको सुनकर संबोध्यके अन्तःकरणमें इस वाक्यसे जन्य यह ज्ञान हुआ, यह तटस्थ बालक नहीं जान सकता, क्योंकि दूसरेके अन्तःकरणमें जो ज्ञान आदि होते हैं, वे दूसरेको तो प्रत्यक्ष हैं नहीं। यदि प्रवृत्त्यादि कोई लिङ्ग होता, तो अनुमान द्वारा ज्ञान होता, परन्तु वह नहीं है, इसलिए सिद्धार्थक शब्दमें व्यवहार द्वारा शक्तिग्रह ही नहीं हो सकता, अतः सिद्धार्थक शब्दसे लोक तथा वेदमें कहीं भी बोध नहीं हो सकता, यह आक्षेप ठीक नहीं है, क्योंकि सिद्धार्थक शब्दसे भी शाब्दबोध लोकमें तथा वेदमें देखा जाता है ॥ ५६ ॥

उसीका प्रतिपादन करनेके लिए कहते हैं—'व्युत्पत्तिरपि' इत्यादि।

शब्दशक्तिग्रह कार्यार्थमें ही होता है, यह नियम नहीं है, क्योंकि 'पुत्रस्ते जातः' इत्यादि शब्दसे भी बोध होता है, परन्तु वह कार्यार्थ नहीं है, किन्तु सिद्धार्थ ही है, अतः जिस शब्दका जिस अर्थमें शक्तिग्रह है, उससे उस अर्थका बोध होता है, चाहे वह अर्थ सिद्ध हो या साध्य हो, यही युक्तियुक्त है। शक्तिग्रह दोनोंमें समान होता है। 'पुत्रस्ते जातः' यह वाक्य कार्यार्थ नहीं है फिर भी श्रोताके अन्तःकरणमें शाब्दबोध हुआ, इसके जाननेका उपाय प्रवृत्त्यादिसे अतिरिक्त मुखविकासादि शरीरनिष्ठ धर्म हैं, जिनका चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है, उन्हींके द्वारा शब्दशक्तिग्रह होता है ॥ ५७ ॥

श्रोतुर्मुखविकासेन वाक्यार्थं हर्षकारणम् ।
निश्चित्य तद्विशेषं तु पश्चाद् व्युत्पद्यते शनैः ॥ ५८ ॥

'श्रोतुर्मुख' इत्यादि । 'पुत्रस्ते जातः देवदत्त !' इस वाक्यके सुननेपर देवदत्तका मुख हर्षसे विकसित हो जाता है, इस मुखविकासको देखकर पुत्र पदार्थको जाननेवाला पुरुष यह अनुमान करता है कि यह मुखविकास हर्षहेतुक है, इससे ज्ञात होता है कि देवदत्तके अन्तःकरणमें हर्ष अवश्य हुआ है, अन्यथा मुखविकास न होता । पर हर्षका हेतु क्या है ? यह विचार करनेपर अन्वय और व्यतिरेकसे वाक्यार्थज्ञानको ही हर्षका हेतु समझता है । यह निश्चय है कि हर्ष का हेतु कोई अर्थ इस वाक्य द्वारा वार्ताहरने (सन्देश लानेवालेने) कहा है । हर्षके हेतु अनेक अर्थ हो सकते हैं, परन्तु पुत्रपदाङ्कित वस्त्रादिके दर्शनसे और माङ्गलिक गीतादिके श्रवणसे तथा और भी प्रस्तुत हेतुओं द्वारा पुत्रजन्म ही हर्षका हेतु वार्त्ताहरने कहा है, दूसरा नहीं, इस प्रकार 'प्रथम संपूर्ण वाक्यमें संपूर्ण वाक्यार्थनिरूपित शक्तिग्रहण करता है, पश्चाद् अवाप और उद्वापसे अर्थात् कुछ पदोंके परिवर्त्तनसे पुत्रपदकी तनयमें शक्ति है, यह जान जाता है । इस प्रकार सिद्धार्थमें भी शब्दकी शक्तिका ग्रह होता है, साध्यार्थ ही में नहीं । इसी तरह प्रसिद्ध पदके समभिव्याहारसे भी सिद्धार्थमें शक्तिग्रह होता है, जैसे इस कमलमें मधुकर मधुका पान कर रहा है, इस वाक्यको सुनकर प्रत्यक्षसे कमलमें मधुपान करनेवाली व्यक्तिको देखकर अगृहीतमधुकरशक्तिक पुरुष 'यही मधुपान करनेवाली व्यक्ति मधुकर शब्दार्थ है' यह निश्चय करता है । वस्तुतः शक्तिग्राहक केवल व्यवहार ही नहीं है, किन्तु—

'शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोशाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च ।
वाक्यस्य शेषाद् विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः ॥'

इस प्रकार अन्य भी हैं, इससे सिद्धार्थमें भी शक्तिग्रह अवश्य होता है । यद्यपि प्राथमिक शक्तिग्रह व्यवहारसे ही होता है, तथापि उपायान्तरसे सिद्धार्थमें भी होता ही है । प्राथमिक शक्तिग्रह ही कारण है, यह नियम तो है नहीं, अन्यथा शक्तिग्रहोपायका प्रतिपादक उक्त वाक्य ही असङ्गत हो जायगा । और प्रवर्तक या निवर्तक वाक्य ही प्रमाण होते हैं, दूसरे स्वप्नकथावत् व्यर्थ हैं, यह भी ठीक नहीं है कारण कि यद्यपि पुत्रजन्म आदि वाक्य प्रवर्त्तक नहीं हैं, तो भी सुखोत्पादकत्वेन पुरुषार्थपरक हैं, इसमें सन्देह नहीं है । यदि यह कहिए कि

न च सिद्धार्थवाक्यस्य लोके स्यादपुमर्थता ।
पुत्रजन्म श्रुतवतः पितुरानन्ददर्शनात् ॥ ५९ ॥
किञ्चाध्यस्ताहिदष्टस्य तद्विषव्याप्तचेतसः ।
स्रगियं न फणीत्युक्ते दृष्टा विषनिराक्रिया ॥ ६० ॥

'देवदत्तः सुखी भवेत्' (देवदत्त सुखी हो) इसमें उक्त वाक्यका तात्पर्य है, इसलिए 'पुत्रस्ते जातः' इस वाक्यमें भी विधि है, तो यह भी ठीक नहीं है, कारण कि इस विधिवाक्यसे उपायमें प्रवृत्तिका उपदेश कहते हैं, अथवा सुखिभवनमें ? प्रथम पक्ष युक्त नहीं है, क्योंकि पुत्रजन्मरूप उपाय सिद्ध है, साध्य नहीं है । द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि पिताका सुखी होना विधिके विना भी उक्त शब्दके श्रवणमात्रसे सिद्ध हो जाता है, अतः विधिकी आवश्यकता नहीं है । जातकर्मानुष्ठानमें प्रवृत्तिके लिए पुत्रजन्मादिवाक्यका उच्चारण है, तत्कर्मजन्यफलसे युक्त अपूर्वमें उक्त वाक्यका तात्पर्य है, अतः परम्परया पुत्रजन्मादिवाक्य भी कार्यपरक ही है ।

भाव यह है कि देवदत्त यदि यह जान जाय कि मेरा पुत्र हुआ है, तो जातकर्म करेगा, जातकर्मसे अपूर्वकी उत्पत्ति होती है, अतः उक्त वाक्यका भी अपूर्वमें तात्पर्य होनेसे वह कार्यार्थक माना जायगा, परन्तु यह भी कथन ठीक नहीं है, क्योंकि 'वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत् पुत्रे जाते०' इत्यादि वाक्यके अधीन जातकर्ममें प्रवृत्ति होती है, इसलिए पुत्रजन्मादिवाक्य उक्त अर्थपरक नहीं है किन्तु सुखोत्पादक होनेसे अर्थवान् तथा प्रमाण है अतः कार्यपरत्वकी अपेक्षा नहीं है ॥ ५७ ॥

'न च सिद्धार्थ०' इत्यादि । सिद्धार्थक वाक्य लोकमें पुरुषार्थशून्य नहीं हैं, क्योंकि 'देवदत्त ! पुत्रस्ते जातः' इत्यादि वाक्य प्रवर्तक तथा निवर्तक न होनेपर भी स्वश्रवण द्वारा पिताको आनन्दप्रद होनेसे पुरुषार्थपरक हैं, अतएव प्रमाण हैं ।

वाक्य प्रवर्त्तक ही होता है, यह नियम नहीं है, इस अर्थको उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हैं—'किञ्चाध्यस्ता' इत्यादिसे ।

जैसे जिस समय किसीको भ्रम हो गया कि मुझे सर्पने काट लिया है और सर्पकी विषज्वालासे चित्त व्याकुल हो गया, उस समय यदि कोई आप्त पुरुष कहे कि नहीं, नहीं, सर्प नहीं है, यह तो माला है किन्तु अंधेरेमें तुम्हें सर्प मालूम हुआ है । दीपालोकसे स्वयं देखो और कहो यह क्या है ? तो उपाय द्वारा यदि वह सावधान

कुतूहलवतां तद्वन्निवृत्ताख्यानमात्रतः ।
दृष्टा नराणां निःशेषकुतूहलनिराक्रिया ॥ ६१ ॥

होकर देखता है, तो स्वयं जान लेता है कि यह माला है, वस्तुतः सर्प नहीं, अज्ञानवश मैंने इसे सर्प समझा था, सर्पभ्रम निवृत्त होनेके साथ ही विषव्याप्ति भी निवृत्त हो जाती है, वैसे ही अज्ञानवश पुरुष स्वकल्पित विषय द्वारा अपने को संसारके दुःखोंसे दुःखी मानता है, पुण्यवश जब उसे 'तत्त्वमसि' आदि वाक्य द्वारा 'न त्वं संसारी वस्तुतः ब्रह्मस्वरूपोऽसि' यह उपदेश मिलता है, तब वह अपनेको ब्रह्मस्वरूप सांसारिक विविध दुःखोंसे रहित तथा निरतिशय सुखस्वरूप मानकर कृतकृत्य हो जाता है, अतः सिद्धार्थक वाक्य भी सप्रयोजन होनेसे प्रमाण माने जाते हैं । यह नियम नहीं है कि कर्मसे ही पुरुषार्थ होता है, ज्ञानसे नहीं ।

'स्रगियम्' इत्यादि । (माला है) केवल इतना कथन पुरुषार्थसाधन नहीं है, किन्तु 'मा भैषीः' इसकी भी अपेक्षा होती है, तब जाकर नियोगपर्यवसायी होनेसे यह वाक्य प्रमाण होता है, केवल नहीं, यह शंका ठीक नहीं है, कारण कि 'स्रक् इयम्' इसी वाक्यसे सम्पूर्ण भय निवृत्त हो जाता है, अतः 'मा भैषीः' फलितार्थ प्रदर्शनपरक है, नियोगप्रत्यायक नहीं है ।

वस्तुतः वहां नियोगकी प्रतीति होती है, जहां नियोगमें कार्यताज्ञानके बाद प्रवृत्ति होती है, 'यजेत' 'आनयेत्' इत्यादि स्थलमें नियोगनिष्ठ कार्यता-ज्ञानके बाद प्रवृत्ति होती है, यहांपर 'स्रक् इयम्' यह कहनेसे भय आदि निवृत्त हो जाते हैं, अतः भयादिकी निवृत्तिके लिए 'मा भैषीः' इसकी आवश्यकता नहीं है, तो नियोगनिष्ठ कार्यताका प्रसंग ही कैसे होगा ?॥ ६० ॥

'कुतूहलवताम्' इत्यादि । कुतूहलयुक्त मनुष्योंके अज्ञानकी निवृत्तिमात्रसे निःशेष कुतूहलकी निवृत्ति देखी जाती है, जैसे सुमेरु पर्वत कैसा है ? यह जाननेका कौतूहल जिसके चित्तमें है, उसके प्रति यदि यह कहा जाय कि जिसपर इन्द्रादि आठ लोकपालोंका निवास है, सिद्ध, विद्याधर, गन्धर्व और अप्सराओंका परिवार है, ब्रह्मलोकसे अवतीर्ण गङ्गाजीके पयःप्रवाहपातसे पवित्र सुवर्णमय शिलातल हैं, नन्दनादि प्रमदवनमें विहार करनेवाले तथा मणिमय पुच्छवाले पक्षियोंका अति मनोहर कलरव होता है, वह पर्वतराज सुमेरु है, इत्यादि कितने ही वाक्य श्रुति, स्मृति, इतिहास और पुराणोंमें उपलब्ध

व्युत्पत्तिः पुरुपार्थश्च सिद्धे सम्भवतः स्वतः ।
वेदान्तानां प्रमाणत्वं निर्विघ्नं ब्रह्मणि स्थितम् ॥ ६२ ॥
केचिदाहुः पदार्थत्वात् प्रमाणान्तरगम्यता ।
आत्मनो नागमात् सिद्धिर्व्रीह्याद्यन्यपदार्थवत् ॥ ६३ ॥

होते हैं, तथा लौकिक कादम्बरी आदि ग्रन्थोंमें विन्ध्याटवी अच्छोदादि सरः-प्रभृतिका वर्णन है, इनके अध्ययनसे चित्तमें आनन्दातिशय उत्पन्न होता है, इसमें किसीको विवाद नहीं है, क्योंकि यह आनन्द प्रत्येक आत्मामें अनुभवसिद्ध है, यह बात इन आख्यानोंके पढ़नेवालोंसे छिपी नहीं है, अतः वस्तुमात्रके ज्ञानसे परमानन्द प्राप्ति होनेसे सिद्धार्थक वाक्य सप्रयोजन हैं, अतः प्रमाण हैं ॥ ६१ ॥

'व्युत्पत्तिः' इत्यादि । उक्त रीतिसे सिद्धमें व्युत्पत्ति अर्थात् पुत्रपदका तनयादिरूप सिद्धार्थमें शब्दशक्तिग्रह 'पुत्रस्ते जातः' इत्यादि वाक्यसे होता है, तथा श्रवणमात्रसे आनन्दविशेषरूप पुरुषार्थ भी होता है, अतः लौकिक वाक्य जब सिद्धार्थमें प्रमाण हैं, तो वेदान्त भी ब्रह्ममें निश्चितरूपसे प्रमाण हैं, इसमें सन्देह नहीं है ॥ ६२ ॥

सिद्ध अर्थमें शब्दका शक्तिग्रह हो सकता है, इसलिए वेदान्त ब्रह्ममें प्रमाण हैं, यह कह चुके हैं। अब फिर सन्देह होता है कि वेदान्तमें जागर आदि कालकी वासनाका निरोध तथा मनोनिरोध भी बतलाया गया है, इसलिए वेदान्त उन दोनों निरोधोंको बतलाते हैं प्रमाणान्तरसिद्ध आत्माको नहीं, अतः आत्मतत्त्वमें वेदान्त प्रमाण नहीं हैं, यह भी किसीका मत है, इसके निरा-करणके लिए अनुवाद करते हैं—'केचिदाहुः' इत्यादिसे ।

वेदान्तमें जागर आदि वासनाका निरोध तथा मनोनिरोध भी विहित है, अतः वेदान्त और कर्मविधि ये दोनों पूर्वोक्त दो निरोधोंके शेष हैं, एककार्यकारित्व ही ज्ञानकाण्ड और कर्मकाण्ड की सङ्गति है। यदि यह कहिए कि वेदान्तोक्त निरोध विधिशेष नहीं है, किन्तु प्रत्यक्षकी तरह स्वार्थनिष्ठ अर्थात् स्वार्थप्रतिपादनपरक ही है, तो ऐसा कहनेमें यह सन्देह होता है कि 'व्रीहीन-वहन्ति' इत्यादि वाक्यमें श्रुत प्रत्यक्षसिद्ध व्रीह्यादि पद केवल व्रीहिस्वरूप-प्रतिपादनपरक नहीं हैं, किन्तु यागजन्य प्रधान अपूर्वके उपयोगी अपूर्व विशिष्ट व्रीह्यादिस्वरूपप्रतिपादनपरक हैं, क्योंकि केवल व्रीह्यादिका स्वरूप तो प्रत्यक्षादिसे

व्रीह्याज्याग्निसमिद्दर्भाः क्रियाकाण्डे समीरिताः ।
पदार्था लोकतः सिद्धास्तथैवात्मेति गम्यताम् ।। ६४ ।।
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तितः ।
विविच्याऽऽत्माऽवगन्तव्यः प्रत्यभिज्ञानतस्तथा ।। ६५ ।।

सिद्ध है, उसके लिए आगमकी क्या आवश्यकता है ? अपूर्व प्रत्यक्षगम्य नहीं है, अतः उससे विशिष्ट व्रीह्यादिके ज्ञानके लिए आगमकी आवश्यकता होती है, इसी प्रकार केवल आत्माके सिद्ध होनेसे प्रमाणान्तरसे भी उसका ज्ञान होता है, इसके लिए आगमकी आवश्यकता नहीं है, किन्तु जागरादिवासनानिरोध-विशिष्ट अथवा मनोनिरोधविशिष्ट आत्मज्ञानके लिए वेदान्त हैं। यदि यह कहिये कि जन्मादि सूत्रमें भाष्यकारने कहा है कि आत्मा रूपशून्य होनेसे इन्द्रियादिका विषय नहीं है, अतएव अनुमान आदिका विषय भी नहीं हो सकता, क्योंकि प्रत्यक्षसिद्धमें ही व्याप्तिग्रह होता है, फिर अन्यत्र अनुमान होता है, अतएव प्रत्यक्ष-पूर्वक ही अनुमानादि होते हैं, यह शास्त्रकारोंका सिद्धान्त संगत होता है।

और 'पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयंभूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्' इत्यादि श्रुति भी संगत होती है, तो इसका उत्तर है कि शुद्ध आत्मा प्रमाणान्तरका विषय नहीं है अथवा यह भाष्य भी पूर्वपक्षीको मान्य नहीं है, अन्वय और व्यतिरेकसे शरीराद्यतिरिक्त आत्माका निश्चय अनायास हो जाता है। इस तात्पर्यसे कहते हैं आत्माकी सिद्धि आगमसे नहीं होती, किन्तु व्रीह्यादिकी तरह प्रत्यक्षादि प्रमाणसे ही होती है ।। ६३ ।।

दृष्टान्तको स्पष्ट करनेके लिए कहते हैं—'व्रीह्याज्याग्नि०' इत्यादि ।

व्रीहि, आज्य, अग्नि, समित्, दर्भ आदि पदार्थ कर्मकाण्डमें जो कहे गये हैं, वे सब लौकिक हैं—लोकसिद्ध हैं, आत्मपदार्थ भी लोकसिद्ध ही है, यही समझना चाहिए। अतः आत्माके लिए आगमकी कोई आवश्यकता नहीं है, किन्तु नियोग अलौकिक है—प्रमाणान्तरगम्य नहीं है—इसीके लिए केवल आगम आवश्यक है ।। ६४ ।।

'अन्वय' इत्यादि। जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति ये तीन अवस्थाएँ व्यभिचारी और साक्ष्य हैं, आत्मा अव्यभिचारी और साक्षी है। जाग्रत् अवस्थामें स्वप्न

सदा व्यभिचरन्त्येव जाग्रदाद्याः परस्परम् ।
तत्र व्यभिचरत्येतन्न चैतन्यं कदाचन ॥ ६६ ॥
व्यावृत्तेभ्योऽनुवृत्तस्य विवेकः सार्वलौकिकः ।
ततश्चिज्जाग्रदादिभ्यो विविक्तेत्यनुमीयते ॥ ६७ ॥

और सुषुप्ति नहीं हैं, पर आत्मा है। जाग्रत् अवस्था साक्ष्य है, आत्मा साक्षी है एवं स्वप्नावस्थामें जाग्रत् सुषुप्ति नहीं हैं, स्वप्नावस्था साक्ष्य है, और आत्मा साक्षी है, इसी तरह सुषुप्ति अवस्थामें भी समझना चाहिए।

आत्मा तीनों अवस्थाओंमें है और तीनोंका साक्षी है। तीनों अवस्थाएँ साक्ष्य हैं और व्यभिचारी है। जिनके परस्पर व्यावृत्त होनेपर जो अनुवृत्त रहता है, सो उनसे भिन्न होता है, जैसे एक सूतमें गुथे हुए पुष्प परस्पर व्यावृत्त होते हैं, पर सूत सब पुष्पोंमें अनुवृत्त रहता है, अतः सूत पुष्पोंसे अतिरिक्त है, वैसे ही एक आत्मामें तीन अवस्थाएँ अनुस्यूत हैं। अवस्थात्रयके परस्पर व्यावृत्त होनेपर भी आत्मा सबमें अनुवृत्त है, इसलिए आत्मा तीन अवस्थाओंसे अतिरिक्त है, इस तरह अन्वय और व्यतिरेकसे तथा जो हम सोये थे वही हम जागे हैं, इस प्रत्यभिज्ञासे भी अवस्थात्रयका साक्षी एक ही चेतन आत्मा है, यही निश्चय होता है। इसके लिए आगमकी अपेक्षा नहीं है और आत्मस्फुरण और अज्ञानकी हानि प्रत्यक्षसे ही सिद्ध है ॥६५॥

'सदा व्यभिचरन्त्येव' इत्यादि। पूर्वोक्त रीतिसे जाग्रदादि तीन अवस्थाएँ सदा व्यभिचरित हैं, किन्तु चैतन्य आत्मा कभी भी व्यभिचारी नहीं है अर्थात् किसी भी अवस्थामें आत्माकी व्यावृत्ति नहीं रहती, आत्माकी व्यावृत्ति होनेपर तीन अवस्थाएँ रह ही नहीं सकतीं, अतः आत्मा अवस्थात्रयसे अतिरिक्त है ॥ ६६ ॥

'व्यावृत्तेभ्यो' इत्यादि। व्यावृत्तसे अनुवृत्त भिन्न है, यह सब लोग जानते हैं, जैसे सूतमें गुथे हुए पुष्पोंसे अतिरिक्त सूत है, क्योंकि पुष्पोंकी परस्पर व्यावृत्ति होनेपर भी सूत सबमें अनुवृत्त रहता है, अतः पुष्पोंसे सूत अतिरिक्त है, यह कौन नहीं जानता? अर्थात् सब जानते हैं कि पुष्पातिरिक्त सूत है ॥ ६७ ॥

यः पुरा स्वप्नमद्राक्षमस्वाप्सं चापि मूढधीः ।
सोऽहं जागर्मीति पुंसां प्रत्यभिज्ञाऽऽत्मगोचरा ॥ ६८ ॥
प्रत्यभिज्ञानुमानाभ्यामात्मन्यवगते सति ।
माव्यापारसमाप्तेर्न भूयो मानमपेक्ष्यते ॥ ६९ ॥
मानान्तरेण तत्सिद्धेर्नात्र व्याप्रियते वचः ।
वासनानां निरोधेऽतः पुमान् श्रुत्या नियुज्यते ॥ ७० ॥
अनिरोधे वासनानामन्तकालेऽनुवर्त्तनात् ।
भावि जन्मानिवार्यं स्यादन्त्यप्रत्ययकारितम् ॥ ७१ ॥

'यः पुरा' इत्यादि । जिस मैंने पहले स्वप्न देखा था और बादको खूब सोया, मुझे कुछ भी ज्ञात नहीं हुआ; वही मैं जागता हूँ, इस प्रकार तीनों अवस्थाओंका साक्षी आत्मा प्रत्यभिज्ञासे सब पुरुषोंको स्पष्ट प्रतीत होता है । तीनों अवस्थाओंमें अनुवृत्त और तीनों अवस्थाओंका साक्षी आत्मा सब लोगोंके अनुभवसे सिद्ध है, इसमें किसीको विवाद नहीं है । ॥६८॥

'प्रत्यभिज्ञा' इत्यादि । 'योऽहं सुप्तः सोऽहं जागर्मि' (जो मैं सोया था वही मैं जागता हूँ) यह प्रत्यभिज्ञा और जो जिसके व्यावृत्त होनेपर भी अनुवृत्त रहता है, वह उससे अतिरिक्त है, जैसे फूलोंसे सूत । अवस्थात्रयकी व्यावृत्ति होनेपर भी आत्मा अनुवृत्त है, इत्यादि पूर्वोक्त प्रकारसे अनुमान द्वारा भी आत्मा ज्ञात ही है, अतः प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणका व्यापार समाप्त है । इसलिए फिर अन्य प्रमाणकी अपेक्षा नहीं है । अगर प्रमाणकी प्रवृत्ति न हुई होती, तो प्रमाणकी अपेक्षा होती । जब उक्त प्रकारसे प्रत्यभिज्ञा तथा अनुमान प्रमाणसे आत्मा सिद्ध ही है, तो आगमका व्यापार उसके लिए व्यर्थ है ॥ ६९ ॥

'मानान्तरेण' इत्यादि । मानान्तरसे—उक्त प्रत्यभिज्ञा और अनुमानसे—आत्मा सिद्ध है, अतः आत्माकी सिद्धिके लिए आगमका व्यापार नहीं है, किन्तु वासनाके निरोधमें पुरुषको श्रुति विनियुक्त करती है अर्थात् वेदान्तवाक्य आत्मस्वरूपके प्रतिपादनके लिए नहीं है क्योंकि आत्मस्वरूप तो प्रमाणान्तरसे ज्ञात ही है, इसलिए यदि वेदान्त उसका प्रतिपादन करेंगे, तो उनमें ज्ञातज्ञापकत्वलक्षण अप्रामाण्य हो जायगा, अतः वासनानिरोध और मनोनिरोधके लिए वेदान्त हैं, यही ठीक है ॥७०॥

'अनिरोधे' इत्यादि । यदि उक्त वासनाओंका निरोध न किया जायगा, तो अन्तकालमें—मृत्युकालमें—उनकी अनुवृत्ति हो जायगी । हो जाय, क्या हानि

यं यं वाऽपि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवेति कौन्तय ! सदा तद्भावभावितः ॥ ७२ ॥
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्याख्या याश्चाऽनात्मार्थवासनाः ।
निरोधनीयास्ताः सर्वा बिभ्यता भाविजन्मनः ॥ ७३ ॥
अनात्मप्रत्ययानन्तरितस्वात्मैकभावना ।
कार्या, तया निरुध्यन्ते वासना जन्महेतवः ॥ ७४ ॥

है ? हानि यह है कि भावी जन्म अनिवार्य हो जायगा। यदि वासना रहेगी तो वासनानुसार फिर जन्म होगा, फिर संसारनिवृत्तिरूप मोक्ष नहीं होगा। वासनाओंके रहनेपर अवश्य जन्म लेना पड़ता है ॥ ७१ ॥

इसमें गीतावाक्यको प्रमाण रूपसे कहते हैं—'यं यं वाऽपि' इत्यादि। अन्तकालमें जिस जिस भावका स्मरण करता हुआ पुरुष शरीरका त्याग करता है, उसी भावको प्राप्त होता है, क्योंकि सतत उसी भावकी वासनासे उसका अन्तःकरण वासित रहता है। यह भावना स्वाधीन नहीं है, किन्तु पूर्वजन्मार्जित शुभ और अशुभ कर्मोंके (जैसा शुभकर्म या अशुभ कर्मका परिपाक प्रचुर होनेवाला है, उसीके) अनुसार वासना होती है और तादृश वासनाके अनुरूप शरीर आदिका लाभ होता है। इसीलिए महात्मा लोग संसारकी भावनाका त्याग कर ईश्वरकी सतत भावना किया करते हैं तथा फलकी इच्छासे रहित होकर स्वाश्रमविहित नित्य और नैमित्तिक कर्मोंका अनुष्ठान करते हैं। ईश्वरकी निरन्तर भावनासे कतिपय अशुभ कर्मोंका नाश हो जाता है, तथा अन्त कालमें ईश्वरकी ही भावना होती है, इसलिए ईश्वरलोकप्राप्ति होती है, इसका प्रचुर उदाहरण पुराणादिमें प्रसिद्ध है ॥ ७२ ॥

'जाग्रत्स्वप्न०' इत्यादि। जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति नामक वासनाएँ तथा आत्मातिरिक्त निखिल प्रपञ्चकी जितनी भावनाएँ हैं, उन सब वासनाओंका त्याग अवश्य करना चाहिए। अन्यथा इन्हीं वासनाओंसे जन्मान्तरकी प्राप्ति होगी। जिसको सकलदुःखनिदानभूत जन्मान्तरका भय है, अतएव जो उसे नहीं चाहता, उसको इन वासनाओंका अवश्य त्याग करना चाहिए ॥ ७३ ॥

अनात्मवासनाके त्यागका उपाय कहते हैं—'अनात्म०' इत्यादिसे।

अनात्माकी—आत्मातिरिक्त सकल जड़की—भावनासे अनन्तरित—अव्यवहित—आत्मभावना—आत्माकी उपासना—करनी चाहिए। आत्माकी उपासनासे ही जन्महेतु वासनाओंकी निवृत्ति होती है, अन्यथा नहीं। अनात्मभावना तथा आत्मभावना

उपासीत स्वमात्मानमिति साक्षाद्विधिश्रुतिः ।
तत्राङ्गभावसिद्ध्यर्थं चिदात्माऽनूद्यते श्रुतौ ॥ ७५ ॥
आत्मैकप्रत्ययो यावत् स्वभावात् सन्ततो भवेत् ।
कुर्यादुपासनं तावत् क्षीयन्ते वासनास्ततः ॥ ७६ ॥

यदि दोनों होती रहेंगी, तो अन्तकालमें सम्भव है कि अनात्मवासनाएँ अभिव्यक्त हो जायँ, तो फिर तादृशवासनावश शरीरान्तरका धारण अवश्य करना पड़े। पुराण आदिमें जड़भरतादि बड़े-बड़े महात्माओंके केवल मृगादिके स्नेहवश अन्तकालमें मृगादिभावनाकी उत्पत्तिमात्रसे मृगादिशरीरका लाभ सुना जाता है, इसलिए अनात्मवासना सर्वथा त्याज्य है, इसके लिए 'अनन्तरित' यह विशेषण दिया है। इसका अर्थ यह है कि आत्मभावना अनात्मभावनासे व्यवहित न होने पावे। योग-शास्त्रमें इसीको ध्यान कहते हैं। तत्र 'प्रत्ययैकतानता ध्यानम्' अर्थात् विजातीय प्रत्ययके निरासपूर्वक गृहीतविषयक प्रत्ययका निरन्तर उत्पाद प्रत्ययैकतानता है, दीर्घकाल तक आदर-सत्कारसे सेवित आत्मभावना दृढ़भूमि होती है। दृढ़भूमि आत्मभावनासे स्वविरोधी अनात्मभावनाकी निवृत्ति होती है और अन्त समयमें अनात्मसंस्कारोंके निरुद्ध होनेसे फिर जन्म प्राप्त नहीं होता, मुक्ति हो जाती है ॥७४॥

'उपासीत' इत्यादि। उक्त अर्थमें प्रमाण है—'आत्मानमुपासीत' यह श्रुति। उपासना, भावना, ध्यान और निदिध्यासन इन सबका एक ही अर्थ है। 'उपासीत' यह विधिश्रुति साक्षात् आत्मोपासनाकी विधायिका है। उपासनारूप क्रियाके कर्मकी सिद्धिके लिए चिदात्माका 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि श्रुति अनुवाद करती है। उपासनाके कर्मके बोधनमें सब वेदान्तोंका उपयोग है ॥ ७५ ॥

इस प्रकारकी उपासनाकी अवधि कहते हैं—'आत्मैक०' इत्यादिसे।

जबतक मध्य-मध्यमें अनात्मभावना न हो, निरन्तर आत्मभावना स्वतः—अनायाससे—उत्पन्न होती रहे किसी समय आत्मभावनासे शून्य अन्तःकरण न हो, तबतक आत्मोपासना करे। इस उपासनासे जन्मारम्भक वासनाका क्षय हो जाता है।

इसका भाव यह है कि जब उक्त भावना हो, तब समझना चाहिए कि अब जन्मान्तर नहीं होगा। प्रारब्ध कर्मके भोगोंके अनन्तर शरीरपात होनेपर मुक्ति हो जायगी, इस विश्वासके लिए 'अवधि' यह विशेषण दिया है, उपासनाके त्यागके लिए नहीं। जबतक स्वतः आत्मभावना न होने लगे, तबतक आत्मोपासना कर्त्तव्य

अन्यदृष्ट्या जाग्रदाद्याः कल्प्यन्तां क्षीणवासने ।
विदुष्ययं स्वदृष्ट्या तु स्वात्मनोऽन्यन्न पश्यति ॥ ७७ ॥
देहं विनश्वरमवस्थितमुत्थितं वा
सिद्धो न पश्यति यतोऽध्यगमत् स्वरूपम् ।

है और जब स्वतः होने लगे तब नहीं, इस तात्पर्यसे 'कुर्यात्' कहा है अर्थात् तबतक ही करनी चाहिए, बाद तो स्वतः होती रहेगी । बाद न करना, ऐसा तात्पर्य नहीं है ॥ ७६ ॥

'अन्यदृष्ट्या' इत्यादि । जिस आत्मज्ञानीकी वासना क्षीण हो जाती है, उसमें भी जागर आदि अवस्थाएँ देखी जाती हैं । परन्तु ज्ञानी स्वात्मासे अतिरिक्त कुछ नहीं देखता । अज्ञानी उन अवस्थाओंकी कल्पना करता है, पर कल्पित अवस्थाओंसे आत्मामें संस्कार नहीं होता । जिस तरह मरुमरीचिकामें जलकी कल्पनासे मरुभूमि आर्द्र नहीं होती, उसी तरह तत्त्वज्ञानीमें पुरुषान्तरसे कल्पित जागरादि अवस्थाओंसे संस्कार नहीं होता, जिससे जन्मान्तरका भय हो । ज्ञानीको तो सकल प्रपञ्च आत्मस्वरूप ही प्रतीत होता है, अतिरिक्त नहीं । इसीसे 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' यह श्रुति संगत होती है । तुलसीदासजीने भी ज्ञानियोंके अभिप्रायसे 'सियाराम मय सब जग जानी । करौ प्रमाण जोरि युग पानी ॥' कहा है । 'नान्यत् पश्यति नान्यच्छृणोति' इत्यादि वाक्य भी इसी अर्थके बोधक हैं ॥ ७७ ॥

जाग्रदादि अवस्था शरीरधर्म है । शरीरकी प्रतीति होनेपर उक्त अवस्थाओंकी भी प्रतीति होती है । जब ज्ञानीको शरीरकी प्रतीति नहीं होती, तब अवस्थाओंकी प्रतीतिका क्या सम्भव है ?

ज्ञानीको शरीरकी प्रतीति नहीं होती, इसमें श्रीमद्भागवतका श्लोक प्रमाणके लिए कहते हैं—'देहं विनश्वरम्' इत्यादिसे ।

मदिरामदान्ध—मद्यनशासे प्रमत्त पुरुष—जैसे स्वशरीरस्थित वस्त्र स्वस्थानसे हट गया है अथवा स्वस्थानपर ही है, यह नहीं जानता । अदृष्टवश कभी वस्त्र स्वस्थानपर ही रहता है, प्रमत्त पुरुषकी चेष्टासे नहीं । कभी स्वस्थानसे हट भी जाता है, कभी फिर स्वस्थानपर आ जाता है, ये सब क्रियाएँ अदृष्टवश हुआ करती हैं ज्ञानपूर्वक नहीं । अतएव प्रमत्त नहीं जानता कि क्या हुआ और क्या हो रहा है ? वैसे ही जीवन्मुक्त पुरुष भी आसनसे अदृष्टवश उत्थित तथा स्थित

दैवादुपेतमथ दैववशादपेतं
वासो यथा परिकृतं मदिरामदान्धः ॥ ७८ ॥
तस्मादशेषवेदान्ता वासनानां निरोधने ।
नियुञ्जते हि पुरुषमात्मोपासनमार्गतः ॥ ७९ ॥

विनश्वर स्वदेहका अनुसंधान नहीं करता, क्योंकि 'शरीरसे असंसर्गी आत्मा है, यह मेरा नहीं है, मुझसे इसका कुछ सम्बन्ध नहीं है' यह दृढ़ निश्चय उसे हो गया है। ऐसी दशामें वह अध्यासके विना 'मैं' या 'मेरा शरीर' यह व्यवहार कैसे कर सकता है ? इस प्रमाणसे यह सिद्ध होता है कि तत्त्वज्ञानीको आत्मभावनासे अतिरिक्त किसी अन्यकी भावना नहीं रहती, यह बात श्रीमद्भागवतके ११वें स्कन्ध, १३वें अध्यायके ३६वें श्लोकमें वर्णित है । और कुछ पाठभेदसे ३रे स्कन्ध २८वें अध्यायके ३७वें श्लोकमें भी है। पाठ इस प्रकार है—
देहं च तं न चरमः स्थितमुत्थितं वा सिद्धो विपश्यति यतोऽध्यगमत् स्वरूपम् ।
दैवादुपेतमथ दैववशादपेतं वासो यथा परिकृतं मदिरामदान्धः ॥

चरमसिद्ध जीवन्मुक्त कहलाता है, कारण कि वह अपने शरीरके पातके अनन्तर विदेह कैवल्य को प्राप्त हो जाता है, अतः चरमसिद्ध अर्थात् जीवन्मुक्त जीव जब अपने शरीरको ही नहीं देखता तब वह सुख-दुःखका अनुभव क्या करेगा ? सुख-दुःख तो शरीरसम्बन्धसे ज्ञात होता है। जब शरीरका ही भान उसे नहीं है, तब तद्द्वारा सुख-दुःखका भान कैसे हो सकता है ? आसनसे उत्थित, उठ कर फिर वहीं स्थित, वहांसे हटकर दूसरे स्थानपर स्थित और अदृष्टवश फिर उसी स्थानपर प्राप्त स्वशरीरको भी नहीं देखता, कारण कि वह शरीरसे आत्माको पृथक् जानता है अर्थात् मेरा देह नहीं है। वस्तुतः देहसम्बन्धशून्य आत्मा है, देह रहनेपर भी उसका अनुसन्धान नहीं होता, इसमें दृष्टान्त कहते हैं—'वासो यथा परिकृतं' इत्यादि । परिवेष्टित कटिवस्त्र स्वस्थानपर है अथवा वहांसे च्युत हो गया है अथवा पुनः स्वस्थानपर आ गया है, यह जैसे मदिरामदान्ध नहीं जानता, वैसे ही निरन्तर आत्मभावनामें रत तत्त्वज्ञानी अनात्म शरीरादिका अनुसन्धान नहीं करता, प्रारब्ध कर्मवश शरीरका सम्बन्ध उसके साथ रहता है ॥ ७८ ॥

'तस्मादशेष०' इत्यादि । जन्मका मूलकारण वासना है, इसलिए आत्माकी उपासना द्वारा सम्पूर्ण वेदान्त वासनाके निरोधमें पुरुषोंका विनियोग करते हैं ।

अथवा मनसो रोधे मुमुक्षन्तं नियुञ्जते ।
तस्मिन्निरुद्धे निखिला निरुध्यन्ते हि वासनाः ॥ ८० ॥
तावन्मनो निरोद्धव्यं हृदि यावद्गतं क्षयम् ।
इति श्रुतिर्मनोरोधं विदधाति विमुक्तये ॥ ८१ ॥

मुक्तिकी कामनासे वासनाका निरोध अवश्य करना चाहिए, इस प्रकारके उपदेशके लिए वेदान्तवाक्य हैं। किसी विषयकी भावना मन अवश्य करता है। इसलिए आत्म-भावना द्वारा अनात्म-भावना निवृत्त हो सकती है, अन्यथा नहीं, इसलिए उपासनारूप आत्म-भावनाका 'आत्मानमुपासीत' इत्यादि वाक्यसे विधान किया गया है। वह आत्मा कैसा है, जिसकी भावना अनात्मभावनासे रहित हो, इस जिज्ञासासे 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' 'एकमेवाद्वितीयम्' इत्यादि आत्मस्वरूप-निरूपणके लिए वेदान्त हैं। वेदान्तके उपदशके विना वास्तविक आत्माके स्वरूपका ज्ञान नहीं हो सकता। संसारदशामें सोपाधिक आत्माका भान रहता है। निरुपाधिक आत्मज्ञान ही मोक्षका साधन है, अतः मोक्षार्थियोंके लिए वेदान्तविचार आवश्यक है ॥ ७९ ॥

वासनाके निरोधके लिए वेदान्तवाक्य हैं, इस पक्षको कहकर मनके निरोधके लिए वेदान्तवाक्य हैं, ऐसा कहते हैं—'अथवा' इत्यादिसे।

अथवा सम्पूर्ण वेदान्त मुमुक्षुका मनोनिरोधमें विनियोग करते हैं। मनोनिरोध मुमुक्षुको अवश्य करना चाहिए, यही वेदान्तका उपदेश है। मनोनिरोधसे ही सब वासनाएँ निरुद्ध हो जायँगी। 'यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञः' इत्यादि वचनोंसे मनोनिरोधमें ही मुमुक्षु पुरुषोंका विनियोग है, आत्माववोधमें नहीं। आत्मा तो प्रमाणान्तरसे भी ज्ञात ही है। 'योऽहं सुप्तोऽभवं सोऽहं जागर्मि' यह प्रत्यभिज्ञा प्रमाण पूर्वमें कह चुके हैं, तथा 'यस्मिन् व्यावर्तमाने यदनुवर्तते तत् ततो भिन्नम्' यह अनुमान भी कह चुके हैं, इन दोनों प्रमाणोंसे आत्मा सिद्ध है, अतः आत्मस्वरूपाववोधके लिए आगमकी आवश्यकता नहीं है ॥ ८० ॥

मनोनिरोधकी अवधि कहते हैं—'तावन्मनो' इत्यादिसे।

तबतक मनका निरोध करना चाहिए, जबतक संसारकी वासना नष्ट न हो जाय। वासनाका निरोध होनेपर तो मन स्वयं निरुद्ध हो जायगा, उसको निरोध करनेकी आवश्यकता न पड़ेगी। तत्तद्विषयाकार मनके परिणाममें वासनाएँ निमित्त हैं

पातञ्जलं योगशास्त्रं मनोरोधे समाप्यते ।
प्रवृत्तमनसो बन्धस्तन्निवृत्तौ विमुक्तता ॥ ८२ ॥
वासनामात्रहेतुत्वादात्मनोऽनर्थसङ्गतेः ।
अन्योपायोऽस्तु वा मा वा निरोधादेव मुक्तता ॥ ८३ ॥
स्वयञ्ज्योतिःस्वभावत्वान्निरुद्धस्वान्तवासनः ।
प्रमान्तरानपेक्षो हि स्वयमात्मा प्रकाशते ॥ ८४ ॥

वासनाओंका नाश होनेपर तो निमित्तके अभावसे ही मनका परिणाम नहीं होगा और मन स्वयं निरुद्ध रहेगा, इसलिए श्रुति मुक्तिके लिए मनोनिरोधका ही विधान करती है ॥ ८१ ॥

'पातञ्जलम्' इत्यादि। पातञ्जल—पतञ्जलिमहर्षिप्रणीत—योगशास्त्रका मनोनिरोधमें ही पर्यवसान है अर्थात् मोक्षके साधनके उपदेशके लिए प्रवृत्त योगशास्त्र मोक्षप्राप्तिके लिए मनोनिरोधका ही उपदेश देकर समाप्त किया गया है। मनोनिरोधसे अतिरिक्त उपायका निरूपण नहीं किया है। यदि मनोनिरोधसे अतिरिक्त उपाय होता, तो अवश्य उसका निरूपण करते। उपायान्तरके न होनेसे उक्त निरोधमें ही ग्रन्थसाधनांश समाप्त किया है.। बात भी यही ठीक है, क्योंकि मनकी प्रवृत्ति बन्ध है और बन्धकी निवृत्ति ही मोक्ष है, इससे मनोनिवृत्ति ही मोक्ष सिद्ध होता है ॥ ८२ ॥

'वासनामात्र०' इत्यादि। आत्मामें जितने अनर्थ—दुःखादि—प्रतीत होते हैं, वे सबके सब मनकी वासनासे ही होते हैं। सुषुप्ति अवस्थामें मनका लय होनेपर कोई दुःख प्रतीत नहीं होता है। जागरादि अवस्थामें जिन शरीरक्षतादिकोंसे दुःख होता है, वे सब सुषुप्ति अवस्थामें भी नहीं रहते हैं, इसीसे जागरावस्थाके सदृश सुषुप्ति अवस्थामें दुःख नहीं होता, इसका कारण मनोनिरोधसे अतिरिक्त और क्या कहा जाय? दुःखहेतुके न रहनेपर भी सङ्कल्प द्वारा मन दुःखी करता है और दुःखहेतु रहनेपर भी मनोनिरोधदशामें दुःख नहीं होता, अतः अन्वय और व्यतिरेकसे अनिरुद्ध मन ही दुःखका मुख्य कारण है। इसलिए मुक्तिके लिए मनोनिरोध परम आवश्यक है। इसलिए कहते हैं—'अन्योपायोऽस्तु' दूसरा उपाय हो या न हो, परन्तु मनोनिरोधमात्रसे मुक्ति होती ही है, इसमें सन्देह नहीं है ॥ ८३ ॥

यदि वेदान्त मनोनिरोधपरक है, आत्मस्वरूपप्रतिपादनपरक नहीं है, तो आत्मस्वरूप प्रमाणान्तर—पूर्वोक्त अनुमान और प्रत्यभिज्ञा प्रमाण—से

एवं कार्यमुखेनैव ज्योतिष्टोमादिवाक्यवत् ।
वेदान्तानां प्रमाणत्वं नाक्षवद्वस्तुनीष्यते ॥ ८५ ॥

सिद्ध मानते हैं, तो घटादिवत् अनात्मप्रसक्ति हो जायगी और वेदान्त-वेद्यता भी नहीं होगी । इसके निराकरणके लिए कहते हैं—'स्वयम्' इत्यादिसे । नित्यानित्यविवेकादि द्वारा जब मनकी संपूर्ण वासनाएं निवृत्त हो जाती हैं, तब निर्विरोधितया चित्स्वभाव होनेसे प्रकाशान्तर—पूर्वोक्त प्रत्यभिज्ञा तथा अनुमानकी अपेक्षा—के बिना आत्मा स्वयं प्रकाशित होता है, अतः आत्माकी वेदान्तवेद्यता इष्ट नहीं है । जब किसी प्रमाणकी अपेक्षा नहीं है, तब आगमकी भी अपेक्षा इष्ट नहीं है ॥८४॥

'एवम्' इत्यादि । पूर्वोक्त रीतिसे वेदान्त मनोनिरोधपरक हो सकता, यदि वेदान्तमें कहींपर मनोनिरोधका विधान होता, सो तो है नहीं, अतः निरोधविधिके शेषरूपसे वेदान्त प्रमाण नहीं हो सकता । यदि निरोधविधिके शेषरूपसे वेदान्त प्रमाण नहीं है, तो उसे अप्रमाण ही मानिए, यह कहना तो अत्यन्त असंगत है, कारण कि 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस अध्ययनविधिसे वेदान्तका भी अध्ययन विहित है । उक्त विधिसे अप्रमाणके अध्ययनका विधान नहीं है, किन्तु प्रयोजनवदर्थ-पर्यवसायी स्वाध्यायके अध्ययनका विधान है, अप्रामाणिक वाक्य सप्रयोजन नहीं होता, इसलिए वेदान्त प्रमाण है, यही मानना उचित है । जैसे प्रत्यक्ष वस्तु-विषयक प्रमाण है, वैसे ही आगम भी आत्मामें प्रमाण है, यह भी कहना ठीक नहीं है कारण कि घटादि जड़ पदार्थ है, इसलिए उसके प्रकाशके लिए परंपरया चक्षुरादिकी अपेक्षा होती है, आत्मा तो स्वयंप्रकाश है, अतः उसके प्रकाशनके लिए आगमकी क्या आवश्यकता ? अतः प्रत्यक्षादिकी तरह सिद्धार्थमें आगम प्रमाण नहीं हो सकता और अप्रमाण भी नहीं हो सकता, इसलिए 'समाहितो भूत्वा' इत्यादि वाक्यसे निरोध विहित है । 'ज्योतिष्टोमेन यजेत' यह वाक्य जैसे नियोगपरक होनेसे प्रमाण है वैसे ही वेदान्तवाक्य भी नियोगविधिका शेष होकर प्रमाण होता है ? प्रत्यक्षकी तरह सिद्धार्थमें प्रमाण नहीं होता है। आत्मा स्वयं प्रकाश है, अतः उसमें प्रमाणान्तरका कुछ कृत्य ही नहीं है ॥ ८५ ॥

निरोधविधिका शेष वेदान्त है, इसमें यह भी प्रमाण है कि लोक या वेदमें जहाँ कहीं भी देखिए नियोगके बिना शब्दमें निरपेक्षत्वलक्षण प्रामाण्य नहीं है । लोकमें प्रयोक्ताका अभिप्रायविशेष ही नियोग है और वेदमें प्रयोक्ता कोई है नहीं, क्योंकि वेद अपौरुषेय है । इसलिए लिङादिशब्दनिष्ठ व्यापारविशेष

नियोग है। विधिवाक्य ही प्रमाण हैं, अन्य वाक्य अनुवादक हैं, यह प्रभाकर-मतानुयायियोंका सिद्धान्त है। वेदान्तोंको, प्रामाण्यके लिए, नियोगविधिका शेष मानना आवश्यक है।

यद्यपि वेदान्त नियोगविधिका शेष है, तो भी वेदान्त सिद्ध अर्थका बोधक है, इस प्रकारके हमारे मतमें कोई क्षति नहीं है। क्षति क्यों नहीं है? धात्वर्थ-करणकधात्वर्थविषयक ही नियोग होता है, सिद्धार्थकमें नियोग नहीं हो सकता। और सब जगह अनुभाव्य ही पुरुषार्थ माना जाता है। सुखादि भी अनुभूयमान ही पुरुषार्थ हैं। अनुभूति पुरुषार्थ नहीं है। मोक्ष यदि अनुभूतिस्वरूप है, तो पुरुषार्थ नहीं है और अपुरुषार्थके लिए वेद प्रमाण नहीं हो सकता, अतः फलवन्नियोगविधिका शेष ही वेदान्त प्रमाण होगा, अन्यथा नहीं।

यदि स्वप्रकाशानुभूतिस्वरूप आत्मा पुरुषार्थ नहीं है, तो 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' इत्यादि आत्मस्वरूपपुरुषार्थप्रतिपादक वाक्योंकी क्या गति होगी? गति नहीं है, जिस तरह अनुभाव्यातिरिक्त पुरुषार्थप्रतिपादक वाक्य प्रमाण नहीं हैं उसी तरह 'सत्यं ज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इत्यादि सिद्धार्थक वाक्य भी प्रमाण नहीं है।

अनुभूयमान ही पुरुषार्थ होता है, यह लोकमें प्रसिद्ध ही है। यदि अनुभूयमान नियोग आदि पुरुषार्थ है, यह लोकप्रसिद्धि है, तो शब्दाधिगत सिद्ध अर्थको पुरुषार्थ माननेमें भी क्या आपत्ति है? आपत्ति यह है कि शब्दमें साध्यार्थनियमका भङ्ग हो जायगा, क्योंकि सिद्धार्थक शब्द भी, पुरुषार्थसाधन होनेसे, प्रमाण हो जायँगे, फिर पुरुषार्थसाधन द्वारा प्रामाण्यलाभके लिए साध्यार्थक माननेकी आवश्यकता न रहनेपर भी उक्त नियमका भङ्ग हो जायगा, इसलिए सिद्ध वस्तु वेदान्तसे प्रतीत होती है, परन्तु कर्मशेष मानकर ही वह पुरुषार्थ-साधन है; कर्मशेषरूपसे अनवगत शुद्ध सिद्ध अर्थ पुरुषार्थका साधन नहीं होता।

आत्मा कर्मविधिका शेष होकर पुरुषार्थ हो और शब्दप्रमाणक भी हो, ऐसा मानना भी ठीक नहीं है, क्योंकि स्वप्रकाशानन्दस्वरूप आत्मा अनुभवस्वरूप होनेसे वेदान्तवेद्य नहीं हो सकता। और श्रुत्यादिसे उसकी कर्मशेषता भी ज्ञात नहीं है, अतएव अनुभवस्वरूप आत्मा कर्मविधिका शेष होकर पुरुषार्थ है, इस अर्थमें कुछ प्रमाण नहीं है।

यदि कहिए कि आत्मा कर्मका शेष है, इसमें प्रमाण है—'आत्मानमुपासीत' यह वाक्य, तो ऐसी दशामें आप मेरे पक्षमें आ गए; क्योंकि मेरा यही कहना है कि

इति व्याचक्षते मन्दा नियोगार्थैकरागिणः ।
नैतत्साध्वभ्यधाय्यत्र नियोगस्याऽनपेक्षणात् ॥ ८६ ॥
कामितार्थस्य संसिद्धेर्लौकिकादेव मानतः ।
वैदिकेन नियोगेन किं कार्यं वद बुद्धिमन्! ॥ ८७ ॥
मनसो वासनानां च भावेऽनर्थोऽस्ति जाग्रति ।
तदभावे सुषुप्त्यादावनर्थो नैव वीक्ष्यते ॥ ८८ ॥
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां निरोधोऽनर्थवारणे ।
उपाय इति विज्ञातः किमपूर्वं विधीयते ॥ ८९ ॥

आत्मा नियोगका शेष होकर पुरुषार्थ है और नियोगशेष आत्मामें वेदान्त प्रमाण है, अतः शुद्ध और सिद्धमें वेदान्त प्रमाण है, इस आपके मतकी क्षति हुई । वेदान्त निरोधविधिका शेष है और कर्म भी विधिप्रकरणमें पठित हैं, इसलिए दोनों काण्डोंकी संगति भी सिद्ध हो जाती है, यह संक्षिप्त पूर्वपक्ष है, इसका खण्डन करते हैं—'इति व्याचक्षते' इत्यादिसे ।

वासनाके निरोधसे ही मुक्ति होती है, अतः वेदान्त उक्त निरोधविधिका शेष है, नियोगार्थैकपक्षपाती मन्दोंका यह व्याख्यान समीचीन नहीं है, कारण कि नियोगके विना भी वासनाके निरोधसे मुक्ति होती है, यह लौकिक प्रमाणसे ही सिद्ध होता है, इसके लिए वेदान्तप्रामाण्यकी क्या आवश्यकता है ? ॥ ८६ ॥

'कामितार्थ' इत्यादि । वासनाके निरोध तथा मनके निरोधसे मुक्ति होती है, यह अभीष्ट अर्थ प्रत्यक्ष और अनुमानसे सिद्ध है, इसके लिए नियोगका क्या काम ? इसका उत्तर हे बुद्धिमन् ! कहो ॥ ८७ ॥

'मनसो' इत्यादि । जागरावस्थामें मन और वासनाके रहनेसे कर्तृत्वादि अनर्थ—अनात्मपदार्थ—रहता है और सुषुप्तिदशामें मन और वासनाके अभावसे उक्त अनर्थ नहीं रहता, इस अन्वयव्यतिरेकलिङ्गक अनुमान तथा प्रत्यक्षसे यह निश्चय होता है कि मन और वासनाके निरोधसे मुक्ति होती है ॥८८॥

यही स्पष्ट करते हैं—'अन्वय' इत्यादिसे ।

उक्त अन्वय और व्यतिरेकसे अनर्थकी निवृत्तिका उपाय मनोवासनानिरोध है, यह ज्ञात होता ही है, फिर अपूर्व क्या करेगा ? तात्पर्य यह है कि वासना तथा मनके निरोध द्वारा मुक्ति होती है, इसके प्रतिपादनके लिए वेदान्त हैं, इस मतमें वेदान्तशास्त्र व्यर्थ और अप्रमाण है, कारण कि अज्ञातके ज्ञापनके

अन्तरेणापि वेदोक्तं बौद्धादेरिव सिद्ध्यति ।
पुरुषार्थो विमोक्षाख्यो वेदान्तो निष्फलो भवेत् ॥ ९० ॥
शून्यं स्वलक्षणं दुःखं क्षणिकं चेति भावनात् ।
तदन्यवासनारोधे मुक्तिः स्यादिति सौगतः ॥ ९१ ॥

लिए शास्त्र है, जो प्रत्यक्ष और अनुमानसे ज्ञात हो जाता है, उसके लिए शास्त्र व्यर्थ है। 'अज्ञाते शास्त्रमर्थवत्' यह पूर्वाचार्योंका सिद्धान्त है। उक्त निरोधसे मोक्ष होता है, यह तो प्रत्यक्ष तथा उक्त अन्वयव्यतिरेकलिङ्गक अनुमानसे निश्चित होता ही है, इसमें शास्त्रविधिकी क्या आवश्यकता ?

यदि यह कहिए कि अनर्थ और तद्धेतु विषयमें आगम सार्थक नहीं है, कारण कि जागरावस्थामें वासनाके रहनेसे अनर्थका भान होता है, यह प्रत्यक्षसिद्ध है। किन्तु वासनाके निरोध और मनके निरोधके विषयमें शास्त्र सार्थक है, तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि समाधि द्वारा मनका निरोध करनेपर जागरादि वासनाएँ निरुद्ध होती हैं, अन्यथा नहीं। इस अन्वय और व्यतिरेकसे मनोनिरोधरूप उपायसे वासनारूप बन्धहेतुका ध्वंस होनेके कारण 'हेत्वभावे फलाभावः' इस न्यायसे बन्धसंज्ञक अनर्थ निवृत्त होता है। इस तरह वेदान्तशास्त्रके बिना भी पुरुषार्थ और उसके कारणकी सिद्धि होती है, अतः शास्त्रानर्थक्य उक्त मतमें दुर्वार है ॥ ८९ ॥

'अन्तरेणाऽपि' इत्यादि। वैदिक वचनके विना मोक्षरूप पुरुषार्थ और उसका हेतु मनोवासनानिरोध अनुमानसे सिद्ध है, अतः बौद्धकी तरह आपके मतमें भी वेद अनर्थक हो जायगा ? क्योंकि लिङ्गादिसे ज्ञात अर्थके ज्ञापनके लिए शास्त्र सार्थक नहीं होता ॥ ९० ॥

'शून्यम्' इत्यादि। 'अहम्' (मैं) इस प्रतीतिसे अतिरिक्त आत्मा नहीं है, समानसन्तानान्तःपाती क्षणिक विज्ञान ही आत्मा है। यद्यपि वे स्थायित्वानुसन्धानकल्पनासे, राग आदि दोष और विषयोंसे उपप्लुत ही उत्पन्न होते हैं, तथापि 'सर्वं क्षणिकम्'—सब क्षणिक हैं, इस भावनासे स्थायित्व आदि की कल्पना निवृत्त होती है। स्वलक्षणभावनासे द्रव्य, गुण आदि विशेषणविशेष्यकी कल्पना नष्ट होती है। 'दुःखम्' इस भावनासे रागादिदोषमूलक प्रवृत्ति, सुख और दुःखके उपप्लवोंका विनाश होता है। 'शून्यम्' इस भावनासे विषयोंके उपप्लवका निरास होता है, इसके बाद सर्वोपप्लवरहित विज्ञानोत्पत्तिरूप मुक्ति होती है, यह बौद्धका सिद्धान्त है। इस मतमें विशुद्ध विज्ञानकी

त्यक्त्वाऽपि वैदिकं मार्गं वासनानां निरोधतः ।
न सम्पादयितुं मोक्षं शक्नोष्येवानिरूपणात् ॥ ९२ ॥
वासनाशब्दवाच्याः किं संस्काराः स्मृतिहेतवः ।
नेत्रादिव्यवहारो वा, नाद्ये तद्रोधसम्भवः ॥ ९३ ॥
व्यतीतानेकजन्मोत्थवासनानामनन्ततः ।
तासां निरोधोऽसम्भाव्यो जन्मन्येकत्र मानवैः ॥ ९४ ॥
कासांचिदप्यसम्भाव्य उपायस्याऽनवेक्षणात् ।
चिरव्यवहितोप्यर्थोऽकस्मात्स्मर्यत एव हि ॥ ९५ ॥

उत्पत्ति ही तत्त्वज्ञान है। उपप्लव अशुद्धि है। पूर्वोक्त तत्तद्भावनासे उक्त रीतिसे तत्–तद् दोषोंकी निवृत्ति होती है, तदुत्तर विशुद्ध ज्ञानकी उत्पत्ति होती है तथा तदनन्तर शून्यतापत्ति होती है ॥ ९१ ॥

'त्यक्त्वाऽपि' इत्यादि। वैदिक मार्गका त्याग करके भी वासनाओंके निरोधसे मोक्षका सम्पादन नहीं कर सकते, क्योंकि वासनाके निरोधका ही असम्भव है ॥ ९२ ॥

असम्भवका उपपादन करते हैं—'वासना' इत्यादिसे।

वासनाशब्दसे क्या विवक्षित है, क्या स्मृतिके कारण संस्कार अथवा नेत्रादिव्यवहार? प्रथम पक्षमें तो स्मृतिके निरोधका असम्भव है ॥ ९३ ॥

'व्यतीता०' इत्यादि। अतीत अनेक जन्मोंमें अर्जित वासनाएँ असंख्य हैं, अतः उन सब वासनाओंका निरोध एक जन्ममें मनुष्योंसे असम्भव है ॥ ९४ ॥

'कासांचिद०' इत्यादि। यहाँपर यह प्रश्न होता है कि सम्पूर्ण वासनाओंका निरोध मोक्षका कारण है या किन्हीं वासनाओंका निरोध मोक्षका कारण है? प्रथम पक्ष तो प्रथम श्लोकसे ही निराकृत हो गया। सकल वासनाएँ अनन्त हैं, अतः उन सबका निरोध मनुष्य नहीं कर सकता, देवता भले ही कर सकें; पर उनके लिए शास्त्र नहीं है। द्वितीय पक्षमें कुछ वासनाओंका निरोध होनेपर मोक्ष असम्भाव्य है, कारण कि जिन वासनाओंका निरोध नहीं होगा, तन्निमित्तक यदि अनर्थका भान होगा, तो फिर मुक्ति कहाँ?

यदि अनन्तर दो तीन जन्मकी वासनाएँ निरुद्ध हो जायँ, तो चिरव्यवहित पूर्व वासनाएँ रहें, पर अनर्थभान प्रयोजक नहीं है, यह निश्चय करना प्रमाणशून्य है। देशकालनिमित्तभेद वासनाका समुद्बोधक है। यदि अनेक

किञ्च यां वासनां रोद्धुमिच्छेत्तद्विषये मनः ।
सदैव सावधानं सद् दृढं प्रत्युत वासयेत् ॥ ९६ ॥
निवारयितुमिच्छन्तश्चतुर्थीचन्द्रदर्शनम् ।
कस्मादपि गृहच्छिद्रात्पश्यन्त्येव यथा तथा ॥ ९७ ॥

जन्मके बाद वासनासमुद्बोधक सामग्री उपस्थित होगी, तो अनर्थभान अवश्य होगा । यह योगशास्त्रके भी अनुसार है । कई जन्मतक पश्वादि योनिमें रहनेपर फिर यदि मनुष्य योनि प्राप्त होती है, तो अनेकजन्मव्यवहित मनुष्ययोनिकी वासना समुद्बुद्ध हो जाती है, अतएव बालक मनुष्योचित व्यवहार करता है, इस तात्पर्यसे कहते हैं—'चिरव्यवहितः' इत्यादिसे ।

चिर-व्यवहित भी अर्थ अकस्मात् दृष्ट कारणके विना अदृष्टवश स्मृतिगोचर होता है। अकस्मात्‌का कारणके विना यह अर्थ नहीं है, क्योंकि कारणके विना कार्य नहीं हो सकता । इसलिए अदृष्ट कारणसे स्मरण हो जाता है, यह अर्थ ठीक है । अतः कतिपय वासनाओंका निरोधमोक्षका उपाय नहीं है और ऐसी दशामें मोक्षोपायका निर्णय हो सकेगा । किन्हीं वासनाओंका निरोध मोक्षके लिए अपेक्षित है । कतिपय वासनाएँ तो संसारदशामें भी निरुद्ध रहती हैं । सब वासनाओंकी अभिव्यक्ति तो एक समयमें होती नहीं ॥ ९५ ॥

'किञ्च' इत्यादि । इस प्रकार भी वासनाका निरोध कठिन है । मुमुक्षु जिस वासनाको रोकनेकी इच्छा करेगा, उस विषयमें सावधान मनवाला पुरुष उस वासनाको और भी दृढ़ करेगा । मनसे दो प्रकारका ज्ञान होता है, एक संस्काराधायक, जिसको कि अपेक्षा बुद्धि कहते हैं । दूसरा संस्कारानाधायक, जिसको उपेक्षा ज्ञान कहते हैं । अवधानपूर्वक मनसे जो ज्ञान होता है, उससे वासना उत्पन्न होती है । प्रकृत मनके निरोध या वासनाके निरोधके लिए यदि मनको सावधान करेंगे, तो वासनाकी उत्पत्ति जैसे अवहित मनमें होती है वैसे ही निरोधस्थलमें भी होगी, निरोध नहीं होगा। अतः वासनाके निरोधके लिए जो मनोव्यापार होगा, उससे वासना और दृढ़ होती जायगी, अतः वासनाके निरोधसे मोक्ष होता है, यह मत सर्वथा असंगत है ॥ ९६ ॥

द्वितीय पक्षका निराकरण करते हैं—'निवारयितुम्' इत्यादिसे ।

भाद्र शुक्ल चतुर्थीके चन्द्रका दर्शन कलङ्कप्रद है । इस कारण भारतीय आर्यगण आज चन्द्रदर्शन न करेंगे, ऐसा सङ्कल्प करके असावधानीसे कहीं चन्द्र-

नेत्रादिव्यवहाराश्चेद्वासनाः स्युस्तथापि च।
तन्निरोधान्न मोक्षोऽस्ति विना ब्रह्मात्मदर्शनम् ॥ ९८ ॥
वासनानामभावेऽपि सुषुप्त्यादौ न मुक्तता।
मानव्यापारविरहान्न प्रतीतिदृगात्मनः ॥ ९९ ॥

दर्शन न हो जाय, इस भयसे घरमें बैठ जाते हैं। उस दिन लोग ढेला भी दूसरेके घरमें फेंकते हैं, कारण कि यदि चन्द्रदर्शन हो जाय, तो उसका प्रतीकार दूसरेके घरमें रोड़ा फेंकनेसे हो जाता है, ऐसा वे मानते हैं, परन्तु दुश्चेष्ट लोग कौतुकवश दूसरेके घरमें रोड़ा फेंकते हैं, इस कारण भी शान्तप्रकृतिके लोग घरमें बैठे रहते हैं। फिर भी असावधानीसे किसी गृहच्छिद्रसे चतुर्थीके चन्द्रका दर्शन हो ही जाता है, क्योंकि चक्षुःसंयोग दुर्निवार होता है ॥ ९७ ॥

'नेत्रादि' इत्यादि। यदि नेत्रादिव्यवहारको वासना मानें, तो भी वासनाके निरोधसे मोक्ष होता है, यह पक्ष असंगत है, क्योंकि ब्रह्मात्मदर्शनके विना मोक्ष नहीं हो सकता, यही सिद्धान्त युक्ति-युक्त है ॥ ९८ ॥

'वासनानाम्' इत्यादि। सुषुप्तिदशामें वासनाओंके न होनेपर भी मोक्ष नहीं होता। अतः वासनानिवृत्ति मोक्षसाधन नहीं है। स्वप्नावस्थामें वासनाओंकी निवृत्ति नहीं होती, किन्तु कारणरूपसे रहती है, अतएव उनका पुनरुत्थान होता है और तभी उठनेके वाद इतना काम कर चुके हैं, इतना वाकी हैं, यह परामर्श होता है। यदि उक्त परामर्श नहीं होता, तो मुक्तिकी अवस्थामें भी यह शङ्का हो सकती है कि वासनाएँ कारण रूपसे स्थित हैं, निवृत्त नहीं हुई। यदि यह कहिए कि सुषुप्ति-अवस्थामें वासनाका हेतु रहता है, अतः जागरावस्थामें फिर वासनाएँ उत्पन्न हो जाती हैं इस कारण उक्त अवस्थामें मुक्ति नहीं होती और मुक्तिदशामें वासनाके हेतुका नाश हो जाता है, अतः पुनः वासना नहीं होती। ऐसी अवस्थामें वासनाके हेतुका नाश ज्ञानसे होता है, यही मानना होगा, क्योंकि दूसरा तो कोई कारणविशेष व्यवस्थित नहीं है, ऐसा माननेपर हमारा ही मत सिद्ध होता है। और जो यह कहा गया है कि आत्मा स्वयंप्रकाश है, अतः वासनाओंके निवृत्त होनेपर जो आत्मप्रकाश होता है वह भी स्वप्नावस्थामें व्यभिचारी है। यद्यपि स्वरूपप्रकाश रहता है, फिर भी प्रमाणके बिना आत्मप्रकाशका व्यवहार नहीं हो सकता। उक्त अवस्थामें प्रमाणोंका लय माना जाता है, अतः प्रमाणाभावसे व्यवहार नहीं होता, इसी तात्पर्यसे कहते हैं— 'मानव्यापारविरहान्न' इत्यादि ॥ ९९ ॥

हेतुश्चात्मानर्थसङ्गे ह्यविद्यैव न वासना।
वासनानामपि युतौ सैव यस्मादपेक्ष्यते ॥ १०० ॥
अविद्यामन्तरेणात्मन्यसङ्गे वासनायुतिः।
अनर्थसङ्गतिर्वैषा शङ्कितुं न च शक्यते ॥ १०१ ॥
न वासनानिरोधेन नापि चित्तनिरोधतः।
शक्योच्छेत्तुमविद्यैषा विनैकात्म्यावबोधनम् ॥ १०२ ॥
सति त्वात्मावबोधेऽस्मिन्नविद्याया निवृत्तितः।
वासनानर्थसङ्गोऽयं स्वतोऽसङ्गान्निवर्त्तते ॥ १०३ ॥

पुरुष स्वतः असंग है, परन्तु उसमें कर्तृत्वादि अनर्थसंग अविद्यासे होता है, यह वेदान्त-सिद्धान्त है। यदि कर्तृत्वादि संग वासनासे माना जायगा, तो वासनाका संग किन्निमित्तक है? यह प्रश्न होनेपर यदि निमित्तान्तर कहा जायगा, तो उसके संगमें भी क्या निमित्त है? यह प्रश्न उठेगा इस प्रकार अनवस्था हो जायगी, इसलिए अविद्याको ही निमित्त मानना उचित है। अविद्या तथा वासना कर्तृत्वादि अनर्थके आरोपमें कारण हैं। विद्यासे अविद्या की निवृत्ति होनेपर मोक्षकी उपपत्ति होती है। अविद्याके सदृश वासनाको ही निखिल संगका निमित्त क्यों नहीं मानते? वासना स्वयं कार्य है इसलिए कार्यमात्रमें उसका अन्वय नहीं हो सकता, अतएव वह यदि कार्यमात्रका उपादान नहीं हो सकती तो फिर स्वोत्पत्तिमें स्वयं उपादान कैसे होगी? अविद्या तो अनादि है, अतः कार्य नहीं है और सब कार्यमें अन्वित है, इस कारण उपादान है। अतः अविद्याके नाशसे मोक्ष होता है, वासनाके निरोधसे नहीं, यही सिद्धान्त विद्वानोंको अभिमत है, दूसरा नहीं ॥ १००, १०१ ॥

'अविद्याम्' इत्यादि। असङ्ग आत्मामें अविद्याके विना वासनाका योग अथ च अनर्थसंगतिकी शङ्का भी नहीं कर सकते, क्योंकि किसीका वास्तविक सम्बन्ध कूटस्थ नित्य आत्मामें नहीं हो सकता, किन्तु मरुमरीचिकामें जलप्रतीतिके सदृश आत्मामें अनर्थप्रतीति अविद्यासे ही होती है ॥ १०२ ॥

'सति स्वात्मावबोधे' इत्यादि। स्वात्माके यथार्थज्ञानसे अविद्याकी निवृत्ति होती है। अविद्याका विद्याके साथ विरोध है। 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' इत्यादि श्रुतिवाक्यसे वास्तविक असङ्गज्ञान होनेपर वासना तथा अनर्थसङ्ग ये दोनों स्वतः याने

साक्षादात्मावबोधेन प्रत्यग्ध्वान्तच्छिदा न चेत् ।
दुःखादिवासनाध्वस्ता कथं तद्वासना नुदेत् ॥ १०४ ॥
उपासनाचित्तरोधविधी यावुदितौ त्वया ।
तौ स्तां तथैव बोधस्य हेतुत्वेनाभ्युपैमि तौ ॥ १०५ ॥
लौकिकव्यवहारेषु प्रवृत्ता धीरुपासनात् ।
अन्तर्मुखा सती स्वात्मविचाररक्षमतां व्रजेत् ॥ १०६ ॥

कारणान्तरके विना ही निवृत्त होते हैं । जब आत्मामें सङ्गसामान्याभावका निर्णय हो गया, तो सङ्गविशेषका क्या प्रसङ्ग ? ॥ १०३ ॥

'साक्षादात्मावबोधेन' इत्यादि । प्रमाणजन्य आत्माके परोक्षज्ञानसे अविद्या-ध्वंस द्वारा वासनाकी निवृत्ति होती है और तदनन्तर मोक्ष होता है, यह कहिए तो मेरा ही मत सिद्ध होता है । यदि उक्त ज्ञान अज्ञान और उसकी सत्ताका निवर्त्तक नहीं है किन्तु ज्ञानभावना अज्ञान और तद्वासनाकी निवर्त्तिका है, तो चिरकालानुगत प्ररूढ़मूल दुःखादिभावनासे विनष्ट स्वल्पज्ञानाभ्यासवासना सकार्य अज्ञानकी निवर्त्तिका कैसे होगी ? अचिरकालोत्पन्न तत्त्वज्ञान अनादि कालसे प्राप्त अतएव प्ररूढ़मूल भी अज्ञानका निवर्त्तक होता है । बुद्धिका तत्त्वमें पक्षपात है, अतः तत्त्वविषयकत्वेन उक्त आत्मज्ञान अज्ञानसे प्रबल है । तदुभय-वासनाओंमें चिरस्थायित्व और अचिरस्थायित्वसे ही बलाबलका निर्णय किया जायगा, अतः ज्ञानभावना ही दुर्बल होगी या अज्ञानभावनासे स्वयं नष्ट हो जायगी । इस परिस्थितिमें अज्ञान या तद्भावनाकी निवर्त्तिका नहीं हो सकती । वार्तिकमें 'भावना नुदेत्' यह पाठ है । वार्त्तिकसारमें 'वासना नुदेत्' ऐसा पाठ है । दोनोंका अर्थ एक ही है, भावनापर्यायवाची वासनाशब्द है, 'विमर्शो भावना चैव वासना च निगद्यते' यह अमरकोश है ॥१०४॥

'उपासना' इत्यादि । उपासना तथा चित्तनिरोधविधि जो आपने कही हैं वे वैसे ही रहें अर्थात् उन्हें हम भी मानते हैं, किन्तु भेद इतना ही है कि आप उन्हें मोक्षहेतु मानते हैं, हम मोक्षज्ञानहेतु मानते हैं ॥१०५॥

वेदान्तवाक्यसे आत्मज्ञान हो ही जायगा, फिर आत्मज्ञानके लिए उपासना तथा निरोध और विधियों को क्यों मानते हैं, इस शङ्काका समाधान करते हैं—'लौकिकव्यवहारेषु' इत्यादिसे ।

शब्दस्पर्शादिरहितमात्मानं स्थूलधीर्नहि ।
द्रष्टुं शक्नोति सौक्ष्म्यार्थं धीनिरोधो विधीयताम् ॥ १०७ ॥
एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते ।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मयेति श्रुतेर्वचः ॥ १०८ ॥
अन्तर्मुखा सूक्ष्मबुद्धिः शास्त्रजन्यविवेकतः ।
पश्यत्यद्वैतमात्मानं न पुनर्वीक्षतेऽन्यथा ॥ १०९ ॥
प्रमितस्याऽऽत्मतत्त्वस्य बाधाभावात् सदा तथा ।
अर्थात्सिद्धा वासना स्यादन्त्यबुद्धिश्च नाऽन्यथा ॥ ११० ॥

बाह्यव्यवहारोपयोगी आत्मज्ञान वाक्यसे होता है, इसमें विधिकी आवश्यकता नहीं है, परन्तु मोक्षोपयोगी निर्विकल्पक ज्ञान उपासना द्वारा ही होता है, अन्यथा नहीं। 'पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूः' इत्यादि श्रुतिके अनुसार यद्यपि इन्द्रियादि द्वारा बाह्यविषयक ज्ञान स्वभावतः होता ही है, तथापि इन्द्रियोंकी वृत्ति अन्तर्मुख होनेके लिए प्रयत्नान्तरकी अपेक्षा होती है, अतः अन्तर्मुख मनोवृत्तिके लिए आत्मोपासना आवश्यक है । आत्मोपासनाके अभ्याससे कर्तृत्वादिधर्मशून्य केवल आत्मज्ञान होता है, तदनन्तर अज्ञानकी निवृत्ति द्वारा मोक्षाभिव्यक्ति होती है, इस तात्पर्यसे स्वात्मविचारक्षम ज्ञानोत्पत्तिके लिए विधि आवश्यक है ॥ १०६ ॥

ज्ञानोत्पत्तिमें निरोधविधिका उपयोग कहते हैं—'शब्दस्पर्शादि०' इत्यादि । शब्द, स्पर्शादिसे रहित आत्माका स्थूल बुद्धि ग्रहण नहीं कर सकती, इसलिए सूक्ष्म वस्तुके ग्रहणकी योग्यताके सम्पादनके लिए मनोनिरोधकी अपेक्षा है ॥१०७॥

एकाग्रताके बिना आत्माका यथार्थज्ञान नहीं होता, इस अर्थमें श्रुति प्रमाण कहते हैं—'एष सर्वेषु' इत्यादि ।

यह आत्मा सब प्राणियोंमें गूढ़—छिपा—है, अतएव प्रकाशित नहीं होता, परन्तु सूक्ष्म अर्थात् श्रेष्ठ बुद्धिसे दीख पड़ता है, यह श्रुतिवचन है ॥ १०८ ॥

'पश्यत्य०' इत्यादि । शास्त्रपरिशीलनजन्य विवेकसे अन्तर्मुख सूक्ष्म बुद्धि अद्वितीय आत्माको देखती है, प्रकारान्तरसे आत्मा दृष्टिगोचर नहीं होता ॥१०९॥

यद्यपि वेदान्तशास्त्रके परिशीलनसे विवेक—ज्ञान—होता है, तथापि चरम अद्वितीय आत्माके बोधके लिए निरोधविधिकी अपेक्षा है, अन्यथा मध्यमें आत्मवासनाकी निवृत्ति हो जायगी, इस शङ्काकी निवृत्तिके लिए कहते हैं—'प्रमितस्य' इत्यादि ।

अन्त्यबुद्धेरन्यथात्वासम्भवे जन्म भाव्यपि ।
न भवेद्विदुपस्तस्माज्ज्ञानिनोऽनर्थको विधिः ॥ १११ ॥
ननु सार्थो विधिर्यस्मात् सिद्धो देहं न पश्यति ।
अविधौ चित्तचाञ्चल्याद् दृश्येतैव स्वकं वपुः ॥ ११२ ॥
नैतत् किं वासनारोधात् किं वा चित्तनिरोधतः ।
अद्वितीयात्मबोधाद्वा देहादर्शनमुच्यताम् ॥ ११३ ॥

प्रमित आत्मतत्त्वका बाध नहीं हो सकता, इसलिए उत्पन्न हुई आत्मभावना मरणपर्यन्त स्वभावतः अनुवृत्त रहेगी, अतः तथाविध अन्त्य प्रत्ययके लिए आत्मभावनाकी अपेक्षा नहीं है। प्रमाज्ञानका अप्रमाज्ञानसे बाध नहीं हो सकता। जबतक आत्माका विवेक द्वारा प्रमाज्ञान नहीं होता, तबतक उपासना तथा मनोनिरोधकी जरूरत है। जब शास्त्र द्वारा प्रमाज्ञान उत्पन्न हो गया तब मध्यमें कोई बाधक न होनेसे स्वभावसे ही सदा अनुवृत्त रहेगा, फिर अन्त्य प्रत्ययके लिए निरोधविधि अपेक्षित नहीं है। इस परिस्थितिमें वासना तथा अन्त्य बुद्धिके स्वभावतः होनेके कारण उसके लिए निरोधविधि अनावश्यक है। वासना तथा अन्त्य बुद्धि निरोधविधिके अधीन नहीं है ॥ ११० ॥

'अन्त्यबुद्धे॰' इत्यादि। प्रमितविषयक होनेसे अन्त्य बुद्धि अन्यथा नहीं हो सकती अर्थात् आत्मविषयक बुद्धिकी निवृत्ति हो जाय और अनात्मविषयक बुद्धिकी उत्पत्ति हो जाय, ऐसा नहीं होता। यदि ऐसा हो, तो जन्मान्तरकी सम्भावना हो सकती है, परन्तु अबाधितविषयक होनेसे अन्त्यबुद्धिकी सतत अनुवृत्ति रहेगी। अतः ज्ञानीके जन्मान्तरकी सम्भावना नहीं है, फिर उसके लिए निरोधादिविधि व्यर्थ ही है।

'ननु सार्थो' इत्यादि। यदि निरोधमें विधि न मानेंगे, तो चित्तके चञ्चल होनेसे सिद्ध पुरुष स्वशरीरको भी अवश्य देखेगा, क्योंकि शरीर अति सन्निहित है और मन अतिचञ्चल है। निरोधमें विधि माननेसे यदि शरीरदर्शनोन्मुख चित्त होगा, तो तुरन्त निरोध कर लेंगे, अतः शरीरादिका भान भी उन्हें न होगा ॥ ११२ ॥

उक्त शङ्काका समाधान करनेके लिए विकल्प करते हैं—'नैतत्' इत्यादिसे। जीवन्मुक्तके स्वदेहके अदर्शनमें क्या निमित्त है? वासनानिरोध किं वा मनोनिरोध अथवा अद्वितीयात्मबोध? ॥ ११३ ॥

नाद्यौ श्लोके तयोस्तत्र हेतुत्वानभिधानतः ।
यतोऽध्यगमदित्येवं बोधो हेतुतयोच्यते ॥ ११४ ॥
अज्ञानेऽन्यदिव स्याच्चेत्तत्रान्योऽन्यत्प्रपश्यति ।
ज्ञानेऽभूत्सर्वमात्मैव केन कं कोऽत्र पश्यति ॥ ११५ ॥

आद्य पक्षका निरास करके अन्तिम कल्पका स्वीकार करते हैं—'नाद्यौ श्लोके' इत्यादिसे ।

पूर्वोदाहृत श्रीमद्भागवतके श्लोकमें आत्मज्ञान ही देहके दर्शनमें हेतु कहा गया है । देहात्मदर्शन उसे क्यों नहीं होता ? इस शङ्काके समाधानमें 'यतोऽध्यगमत्'इत्यादि वाक्यसे मनोनिरोध या वासनानिरोध हेतु है, यह न कह कर, प्रत्युत उस निरोधरूप हेतुका निरास करनेके तात्पर्यसे, अभिमत हेतुको स्पष्ट करनेके लिए कहा कि अतः स्वरूपभूत स्वात्माको जान लिया अर्थात् स्वात्मावबोध ही स्वशरीरादिके दर्शनमें हेतु है, ऐसा कहा । तात्पर्य यह है कि अद्वितीय आत्माका साक्षात्कार होनेके बाद कल्पित अनात्मपदार्थकी निवृत्ति हो जानेसे शरीरादिका भान नहीं होता । 'सर्वतस्तं परादाद् योऽन्यत्र आत्मनः पश्येत्' इत्यादि श्रुतिवाक्योंसे आत्मज्ञानी आत्मातिरिक्त अनात्मपदार्थको नहीं देखता, इसलिए शरीरके अदर्शनमें उक्त बोध ही हेतु है, निरोध हेतु नहीं है ॥ ११४ ॥

'अज्ञाने' इत्यादि । 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत्केन कं पश्येत् केन कं शृणुयात् केन कं विजानीयात्' इत्यादि श्रुतिसे यह स्पष्ट है कि सकल अनात्मपदार्थ रज्जुसर्पकी तरह कल्पित हैं, इस परिस्थितिमें जैसे रज्जुसाक्षात्कारसे कल्पित सर्पकी निवृत्ति होनेसे सर्प नहीं दीखता, वैसे ही आत्मसाक्षात्कारसे शरीरादि अनात्मपदार्थोंकी निवृत्ति होनेसे आत्मज्ञानीको शरीरादिका भान नहीं होता । 'यत्र द्वैतमिव भवति तत्र अन्योऽन्यत् पश्यति' जब तक अज्ञान है, तबतक द्वैतकी तरह अर्थात् वास्तविक द्वैत तो है नहीं, किन्तु अज्ञानवश द्वैतका भान होता है, इसलिए दूसरा दूसरेको देखता है । वस्तुतः चोर नहीं है, तो भी निद्रावस्थामें अज्ञानसे कल्पित चोर जैसे देख पड़ता है, जाननेपर स्वाभिक अज्ञानकी निवृत्तिके साथ कल्पित चोरकी निवृत्ति हो जाती है, जागनेपर चोरके अदर्शनमें जाग्रत् बोध ही कारण है, दूसरा नहीं, उसी प्रकार प्रकृतमें अज्ञान-कल्पित शरीरादिके अदर्शनमें आत्मबोध ही कारण है, निरोध कारण नहीं है ॥ ११५ ॥

यस्मिन्सर्वाणि भूतानि ह्यात्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥ ११६ ॥
इत्याद्याः श्रुतयो बोधादज्ञानप्रविलापनात् ।
अनात्मदृष्टिशोकादीन्वारयन्ति न रोधतः ॥ ११७ ॥
चित्तस्य वासनानां वा निरोधाद् यो न पश्यति ।
सुप्तेषुकारवत्तस्य विद्यया न विलापनम् ॥ ११८ ॥

इसीको स्पष्ट करनेके लिए श्रुत्यन्तरका संवाद कहते हैं—'यस्मिन्' इत्यादि ।

जिस ब्रह्मके ज्ञात होनेपर तत्त्वज्ञानी विद्वान्के लिए सब जगत् जब आत्मस्वरूप होता है, अर्थात् सर्वत्र एक ही आत्मतत्त्व दीखता है, तब उसे शोक और मोह कहां ? इष्ट-वियोगसे शोक होता है । आत्मव्यतिरिक्तके इष्ट होनेपर वह विनाशी है, अतः उसके वियोगसे अनात्मज्ञको शोक होता है, तत्त्वज्ञानीको आत्मा ही इष्ट है, सो अविनाशी तथा नित्य प्राप्त होनेसे वियोगनिबन्धन शोक नहीं हो सकता । मोह भी अज्ञाननिमित्तक होता है । आत्मज्ञानीको मूलभूत अज्ञान ही नहीं है, तो मोह भी नहीं हो सकता। तथा मोह भी द्वैताश्रय है, जैसे कि शुक्तिमें रजतका मोह होता है । ज्ञानीको आत्मातिरिक्त पदार्थका भान नहीं है, अतः मोह भी नहीं हो सकता । सबमें अनुगत कारण है—आत्मैकत्वदर्शन ॥११६॥

'इत्याद्याः' इत्यादि । पूर्वोक्त श्रुतियां आत्मज्ञानसे अज्ञानके प्रविलयका बोधन कराती हैं, अज्ञानके प्रविलयसे अनात्मदृष्टि तथा अनात्मदृष्टिजनित शोकादिका निवारण करती हैं, निरोधसे नहीं, अतः निरोधसे ज्ञानी स्वशरीरादि नहीं देखता, यह मत श्रुतिविरुद्ध होनेसे अनादरणीय है ॥ ११७ ॥

'चित्तस्य' इत्यादि । शुक्तिके साक्षात्कारसे रजतोपादान अज्ञानके साथ जैसे रजतका लय हो जाता है, वैसे आत्मसाक्षात्कारसे आत्माश्रित अज्ञानके साथ तत्कार्य द्वैतका यदि लय नहीं होगा, तो वासनादिके निरोधसे द्वैतका अभाव होनेपर भी मुक्ति नहीं हो सकेगी, इस अभिप्रायसे कहते हैं कि चित्त या वासनाके निरोधसे जो अनात्म पदार्थोंको नहीं देख सकता, उसका अदर्शन सुप्त पुरुष तथा इषुकार—बाणनिर्माणकर्ता—शिल्पीके अदर्शनके समान है, जैसे उनका अदर्शन विद्या द्वारा अविद्या और तत्कार्यके विलयप्रयुक्त नहीं है, किन्तु अविद्या और

निद्राभिभूतचित्तस्य यदन्यादर्शनं न तत् ।
बोधप्रयुक्तं तद्वत्स्याद्धिपणारोधवादिनः ॥ ११९ ॥
इष्वासक्तमनस्केन ह्यन्यचित्ततया पुरः ।
सैन्यं न दृश्यते तद्वद्भासनारोधवादिनः ॥ १२० ॥

तत्कार्यके रहनेपर सुषुप्तको साधनाभावसे और इषुकारको अन्यासक्त मन होनेसे इतर पदार्थका भान नहीं होता, वैसे ही मनोनिरोधसे शरीरादिका अभान होनेपर भी मुक्ति नहीं हो सकती ॥११८॥

'निद्राभि०' इत्यादि । जैसे निद्रासे जिसका चित्त लीन हुआ है, ऐसे पुरुषको जो पदार्थान्तरका अदर्शन होता है, वह बोधप्रयुक्त नहीं है, वैसे ही निरोधवादीके मतमें बुद्धि हो जायगी। निद्राभिभूतचित्तका सुषुप्तिमें तात्पर्य है। स्वप्नमें तो अन्यादर्शन नहीं है, किन्तु अन्यदर्शन ही है। यद्यपि सुषुप्तिमें बुद्धि ही नहीं है, तथापि अन्यादर्शन तो होता ही है। अन्यादर्शन दो प्रकारके होते हैं— सर्वथा दर्शनाभाव और तन्मात्रादर्शन। पहलेके विषयमें सुषुप्ति दृष्टान्त है, दूसरेमें ग्रन्थकारका अग्रिम श्लोक दृष्टान्त है।

यदि चित्तनिरोधशील पुरुषकी बुद्धि आत्मविषयके विना सुषुप्तिके सदृश विषयान्तरागोचर है, तो निष्फल है, क्योंकि इस अन्यादर्शनसे मुक्ति नहीं होती, अन्यथा सुषुप्ति भी मुक्तिकी साधन हो जायगी ॥ ११९ ॥

'इष्वासक्त०' इत्यादि । इषुके निर्माणमें दत्तचित्त शिल्पी इषुकार जैसे सामनेसे गई हुई राजसेनाको नहीं देखता, राजसेना इधरसे गई या मार्गान्तरसे ? ऐसा किसीके प्रश्न करनेपर इषुकार उत्तर देता है कि अनन्यचित्त होकर इषुके निर्माणमें लगे रहनेसे मैंने इस मार्गसे किसी भी सेनाको जाते नहीं देखा। इस प्रकार पराभिमत वस्तुमें चित्तको निरुद्ध कर तदन्यादर्शन भी होता है, किन्तु यह निरोधजन्य अन्यादर्शन मुक्तिका साधन नहीं होता, यह तो केवल तद्विषयक ज्ञानमें निपुणताप्रदमात्र है, निरोधविषयक यत्नके शिथिल होनेपर फिर दुःखादि अनात्मपदार्थका भान अवश्य होगा।

यदि अन्य पदार्थके विलय द्वारा अन्यादर्शन हो, तो अन्य पदार्थका विलय आत्मज्ञानसे ही होता है, दूसरेसे नहीं, इसलिए आत्मदर्शनको ही मुक्तिका कारण मानना उचित है, निरोधको नहीं ॥ १२० ॥

उपासनाव्यग्रतया यदन्यादर्शनं न तत् ।
बोधप्रयुक्तं योपादिचिन्तायामपि सम्भवात् ॥ १२१ ॥
बोधलीनो भ्रमः पूर्वसंस्कारादनुवर्तते ।
स्वप्नभ्रान्त्योर्बाधितयोरपि स्मृतिरुदेति हि ॥ १२२ ॥
बाधितस्याऽनुवृत्तिस्तु न जन्मानर्थकारणम् ।
भ्रष्टबीजोपमा सर्वमोक्षशास्त्रेषु डिण्डिमः ॥ १२३ ॥

'उपासना' इत्यादि । यद्यपि उपासनामें चित्तकी एकाग्रता करनेसे अन्यादर्शन होता है, तथापि वह अन्यादर्शन आत्मबोधप्रयुक्त न होनेसे मोक्षका हेतु नहीं हो सकता । निरन्तर कामिनीकी भावनाके समयमें पुरुषको अन्यादर्शन होता है; परन्तु आत्मविषयक न होनेसे उससे मुक्तिकी जैसे सम्भावना नहीं है, वैसे ही इष्टोपासनामें व्यग्रचित्तका भी अन्यादर्शन मुक्तिसाधन नहीं हो सकता, वस्तुतः अन्यादर्शनपुरःसर आत्मदर्शन मोक्षसाधन है, केवल अन्यादर्शन नहीं । मूर्च्छादि अवस्थामें भी अन्यादर्शन होता है ॥ १२१ ॥

'बोध' इत्यादि । निरोधके विना केवल आत्मबोधसे मुक्ति नहीं हो सकती, कारण कि (यहाँ भ्रमका कर्मव्युत्पत्तिसे भ्रमविषय प्रपञ्चमें तात्पर्य है) आत्मज्ञानसे प्रपञ्चके बाधित होनेपर भी पूर्वसंस्कारवश फिर भी वह अनुवृत्त हो जायगा, क्योंकि बाधित विषयकी स्वप्न और भ्रान्तिमें अनुवृत्ति होती है । यद्यपि विषय नष्ट हो गया है, ऐसा दृढ़ निश्चय है, तो भी भ्रम तथा स्वप्न तद्विषयक ही होता है, इसलिए मुक्तिकालमें विषयभानकी व्यावृत्तिके लिए बोधवत् निरोध भी आवश्यक है । बोध और निरोधके गुणप्रधानभावमें विवाद है अर्थात् आत्मदर्शनविशिष्ट निरोध या निरोधविशिष्ट आत्मदर्शन अथवा केवल आत्मदर्शन या केवल निरोध कारण नहीं है, यदि ऐसा होता तो स्वप्नादिकी तरह मुक्त्यवस्थामें भी विषयभानापत्ति हो जायगी एवं कामिनीसे निरुद्ध चित्तवाले पुरुषको मोक्षापत्ति हो जायगी, अतः स्वतन्त्र कारण नहीं है, किन्तु संभूय कारण है । पर यह भी वेदान्तीको इष्ट नहीं है, कारण कि निरोधको कारण न माननेसे मुक्तिमें पूर्वसंस्कारवश पुनः प्रपञ्चका भान हो जायगा, यह दोष है । इसमें विकल्प करते हैं, क्या प्रपञ्चभान जन्मान्तरारम्भक हो जायगा, इसलिए निरोधविधि आवश्यक है, या स्वयं दुःखहेतु है ? ॥ १२२ ॥

प्रथम पक्षके निराकरणके लिए कहते हैं—'बाधितस्याऽ०' इत्यादि ।

अनुवृत्तिं च ये सोढुमशक्तास्ते निरोधने ।
मनसो वासनानां वा प्रवर्तन्तां निजेच्छया ॥ १२४ ॥

आत्मज्ञानसे बाधित प्रपञ्चकी पूर्वसंस्कारवश प्रतीति होनेपर भी जन्मान्तरारम्भरूप अनर्थकी वह कारण नहीं है, क्योंकि भ्रष्ट बीज अर्थात् भूना हुआ बीज स्वरूपतः अनुवृत्त होनेपर भी जैसे अङ्कुरारम्भक नहीं होता, वैसे ही बाधित प्रपञ्चकी अनुवृत्ति भी जन्मान्तररूप अनर्थकी आरम्भक नहीं हो सकती, यह सभी मोक्षशास्त्रोंका डङ्का है । सांख्य आदि शास्त्रोंके संग्रहके लिए सर्वमोक्षशास्त्रका उपादान किया । बाधित प्रपञ्च और भूना हुआ बीज इनकी उपमा उभयानुगत स्वकार्यानारम्भकत्वरूप सामान्य धर्मसे है । यह मेरी अक्लृप्त कल्पना नहीं है, किन्तु सब मोक्षशास्त्रोंमें डङ्केके शब्द द्वारा यह प्रसिद्धि पायी जाती है । द्वितीय पक्षमें अन्वय और व्यतिरेकसे यह निश्चय हो चुका है कि प्रपञ्चभान दुःखदायक है और प्रपञ्चनिवृत्ति दुःखनिवृत्तिकी मूल है और यह जागरावस्था और सुषुप्ति अवस्थामें सर्वानुभव प्रसिद्ध है, इसलिए निरोधविधिके बिना भी स्वतः उक्त कार्यमें पुरुषकी प्रवृत्ति हो जायगी, इसलिए निरोधविधि अनावश्यक है ॥१२३॥

'विधिरत्यन्तमप्राप्तौ' इत्यादि शास्त्रके अनुसार विधि तो अप्रवृत्तप्रवर्तनार्थ है, प्रवृत्तप्रवर्तनार्थ नहीं, इस तात्पर्यसे कहते हैं—'अनुवृत्तिम्' इत्यादि ।

जो लोग अनर्थात्मक प्रपञ्चकी अनुवृत्तिके सहनेमें असमर्थ हैं, वे मनोनिरोध या वासनानिरोधमें स्वेच्छासे ही प्रवृत्त हो जायँगे, फिर उनके लिए भी निरोधमें विधि व्यर्थ ही है—'दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः' इस श्रीमद्भगवद्गीताके अनुसार तत्त्वज्ञानी सुख अथवा दुःखके उपस्थित होनेपर स्पृहा तथा उद्वेग शून्य होकर उनका अनुभव करता है । दोनोंको मिथ्या मानकर हर्ष—सुखफल—और उद्वेग—दुःखफल—दोनोंका समबुद्धिसे अनुभव करता है, अर्थात् दोनोंका वस्तुतः आत्माके साथ कोई संबन्ध ही नहीं है, ऐसा निर्णय होनेसे उसे हर्ष और उद्वेग नहीं हो सकते । सुख अथवा दुःख स्वसम्बन्धितया ज्ञात ही हर्ष और उद्वेगके कारण होते हैं, जब आत्मामें सुख-दुःखोंका सम्बन्ध ही नहीं है, तो फिर तत्फलभूत हर्ष और उद्वेग उसे होंगे ही कैसे ? दुःख भी स्वसम्बन्धितया ज्ञात ही हेय होता है । इसलिए तत्त्वज्ञानीको मध्यमें बाधित प्रपञ्चकी अनुवृत्ति होनेपर भी दुःखगन्धकी सम्भावना नहीं होती । इसलिए दुःखपरिहारार्थ उक्त विधि व्यर्थ है ॥ १२४ ॥

ज्ञानामृतेन तृप्तस्य कृतकृत्यस्य योगिनः ।
नैवास्ति किञ्चित्कर्त्तव्यमस्ति चेन्न स तत्त्ववित् ॥ १२५ ॥
ज्ञानेऽधिकारसिद्ध्यर्थमुपास्याधीनिरोधयोः ।
विधेः सिद्धेऽधिकारेऽथ वेदान्ता आत्मबोधिनः ॥ १२६ ॥

उक्त रीतिसे वेदान्त निरोधविधिपरक नहीं हैं, किन्तु अद्वितीयात्मपरक ही हैं, ऐसा कहते हैं—'ज्ञानामृतेन' इत्यादि ।

ज्ञानरूपी अमृतसे तृप्त तथा कृतकृत्य—अनुष्ठितसर्वानुष्ठेय—अर्थात् जो सम्पूर्ण कर्तव्य कर्म कर चुका है, कोई कर्तव्य बाकी नहीं है, ऐसे योगीके लिए कोई कर्तव्य बाकी है नहीं, जिसके लिए उसे विधिकी अपेक्षा हो । यदि ज्ञानमें योग्यतासिद्धिके लिए तत्त्वज्ञानीको ज्ञानशेष निरोधविधिकी आवश्यकता है, तो वह तत्त्व-ज्ञानी ही नहीं है, क्योंकि तत्त्वज्ञानीको कोई कर्तव्य रहता ही नहीं । अगर कर्तव्य है, तो तत्त्वज्ञानी नहीं हो सकता, अतः ज्ञानीके लिए विधि नहीं है, इस हमारे सिद्धान्तमें कोई अनुपपत्ति नहीं है ॥ १२५ ॥

'ज्ञानेऽधिकार०' इत्यादि । ज्ञानमें अधिकारकी सिद्धिके लिए उपासना तथा निरोधमें विधि अपेक्षित है, यह पहले कह चुके हैं । जैसे निषाद, ऋषभ आदि सूक्ष्म स्वर उपासना या निरन्तर चिन्तनव्यापारके विना प्रतीत नहीं होते, वैसे ही सूक्ष्म आत्मा उपासनाके विना ज्ञात नहीं हो सकता । मध्यमें विषयोंके भानकी निवृत्तिके लिए निरोधकी भी आवश्यकता है, किन्तु ज्ञाना-धिकारकी सिद्धिके अनन्तर वेदान्त आत्मबोधक हैं, अतः वेदान्तजन्य आत्मज्ञानके बाद उपासना या निरोधकी आवश्यकता नहीं है ।

सारांश यह है कि 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यजन्य आत्मसाक्षात्कारके बाद संस्काररूपसे अविद्या रहती है, इस कारणसे यदि जीवन्मुक्तको प्रपञ्चका भान होता है, तो उसके द्वारा न जन्मान्तरकी सम्भावना ही है, न दुःख ही हो सकता है । सिनेमामें एक दूसरेको मारता है, यह देखकर भी दर्शकोंको इसलिए दुःख नहीं होता कि वह सारा दृश्य कल्पित है, वास्तविक नहीं, यह निश्चय है । उसी प्रकार तत्त्वज्ञानीको आत्मातिरिक्त सब पदार्थ कल्पित हैं, यह निश्चय है, अतः प्रपञ्च भासित होकर भी दुःखप्रद नहीं होता, इसलिए निरोध आदिमें विधि माननेसे क्या लाभ ? अर्थात् कुछ नहीं ॥ १२६ ॥

व्रीह्यादिवत्पदार्थत्वाद्योक्ता मान्तरगम्यता ।
तत्र हेतुरसिद्धः स्यादवाच्यत्वान्निजात्मनः ॥ १२७ ॥
न पदार्थो न वाक्यार्थ आत्माऽयं वस्तुवृत्ततः ।
तत्प्रत्याख्यानश्रुत्यैव तद्याथात्म्यावबोधनात् ॥ १२८ ॥

'व्रीह्यादिवत्०' इत्यादि। व्रीहि पदार्थ होनेसे जैसे प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों द्वारा ज्ञेय है, वैसे ही आत्मा भी पदार्थ होनेसे प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे गम्य है, यह जो आपने पहले कहा था वह ठीक नहीं है, कारण कि प्रमाणान्तरगम्यत्वमें पदार्थत्वको जो आप हेतु कह रहे हैं, वह प्रकृतमें असिद्ध है, क्योंकि स्वात्मा पदार्थ ही नहीं है; क्योंकि पदार्थ प्रवृत्तिनिमित्त व्रीहित्वादिसे विशिष्ट होता है। आत्मा निर्धर्मक है अर्थात् कोई भावात्मक या अभावात्मक धर्म आत्मामें नहीं रहता, अतः वह पदार्थ ही नहीं है, ऐसी अवस्थामें उसमें पदार्थत्व हेतु कैसे रह सकता है? पदार्थत्व भी तो धर्म ही है, असिद्ध हेतुसे विवक्षित अर्थकी सिद्धि नहीं होती। 'द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः' (यो० सू० २।२०) इस योग सूत्रसे भी आत्मामें कोई धर्म नहीं रहता, ऐसा ज्ञात होता है, उक्त सूत्रमें मात्रपद धर्मकी निवृत्तिके लिए कहा गया है अतएव आत्मा कूटस्थ नित्य है ॥ १२७ ॥

हेतुकी असिद्धि कहते हैं—'न पदार्थो' इत्यादिसे। आत्मा वस्तुतः न पदार्थ है और न वाक्यार्थ है, क्योंकि उक्त रीतिसे आत्मामें पदार्थत्वका निषेध कर चुके हैं, इसलिए वह पदार्थ नहीं है। संसृष्ट पदार्थ या पदार्थोंका संसर्ग वाक्यार्थ कहलाता है। संसर्गविशिष्ट अर्थ संसृष्टार्थ है। संसर्ग विशेषण है। पदार्थसंसर्ग कहनेसे संसर्ग प्रधान होता है और पदार्थ गुण। विनिगमकाभावसे वाक्यार्थको दोनों प्रकारसे कह सकते हैं। यदि आत्मा पदार्थ नहीं है, तो वह वाक्यार्थ भी नहीं हो सकता क्योंकि विशेष्यतया अथवा विशेषणतया पदार्थघटित ही वाक्यार्थ होता है, जो पदार्थ ही नहीं है, वह तद्घटित वाक्यार्थ कैसे हो सकता है? यदि उक्त रीतिसे आत्मा न पदार्थ ही है और न वाक्यार्थ ही है, तो ऐसी अवस्थामें वह वेदार्थ कैसे हो सकता है? वेदार्थ कहनेसे वेदस्थ पदका अर्थ अथवा वेदवाक्यका अर्थ, यही स्वरसतः प्रतीत होता है। आप इन दोनों प्रकारोंको नहीं मानते, फिर भी आत्मा पदार्थ है, ऐसा मानते हैं, इसका क्या अभिप्राय है? अभिप्राय यह है कि पदार्थत्व आदि सम्पूर्ण धर्मोंके प्रतिषेध द्वारा चिदेकरस आत्माका लक्षणावृत्तिसे श्रुति द्वारा बोध होता है। 'नेति नेति' तथा 'अस्थूलमनणु', 'अरूपमस्पर्श०' इत्यादि श्रुतियां निखिल समारोपितोपाधिनिषेधपूर्वक शुद्ध

यदनभ्युदितं वाचा वाग्येनाभ्युद्यते सदा ।
ब्रह्म विद्धि तदेव त्वं न त्विदं यदुपासते ॥ १२९ ॥
इति वाग्विषयत्वं तु प्रत्याख्यायाऽथ साक्षिणः ।
वाक्प्रेरकत्वमात्रेण याथात्म्यमवबोध्यते ॥ १३० ॥

चैतन्यात्माका बोध कराती हैं, अतः चिद्‌मात्रके लक्ष्यार्थ होनेसे उसे पदार्थ कहते हैं और पदार्थत्व आदि धर्मोंसे शून्य होनेके कारण वह पदार्थ तथा वाक्यार्थ नहीं है, यह भी कहते हैं, अतः विरोध नहीं है और पदार्थत्व हेतुके मानान्तर गम्यत्वका अनुमान भी नहीं कर सकते, इस प्रकार मेरे कथनमें विरोध नहीं है ॥१२८॥

उक्त अर्थमें प्रमाण देते हैं—'यदनभ्युदितम्' इत्यादि । वाणी जिसको नहीं कहती, जो वाणीको कहता है, उसको तुम ब्रह्म जानो; जिस वाणी और मनके विषय-की उपासना करते हो, वह ब्रह्म नहीं है, क्योंकि 'यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह', 'यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते' इत्यादि श्रुतियोंसे आत्मा वाणी तथा मनका विषय नहीं है, ऐसा कहा गया है । कारण कि वाणीसे सप्रकारक ज्ञान होता है, ब्रह्ममें कोई प्रकार या धर्म है नहीं, इसलिए वह वाणीका विषय नहीं हो सकता । दृष्ट तथा श्रुत सप्रकार ही मनका विषय होता है । रूपादिशून्य होनेसे ब्रह्मके दर्शनकी सम्भावना ही नहीं है ? उक्त रीतिसे वह वाणीका विषय नहीं है, इसलिए श्रुत भी नहीं है, अतः मनोविषय भी नहीं है। वाणी और मनके विषय जिस सप्रकारकी उपासना करते हो, वह वस्तुतः आत्मा नहीं है, कल्पित प्रकारीभूत धर्मोंका त्याग कर शुद्ध निर्धर्मको ब्रह्म समझो ॥ १२९ ॥

'इति वाग्विषयत्वम्' इत्यादि । उक्त रीतिसे आत्मामें वाग्विषयताका निरा-करण कर वाणी और मनके अविषय साक्षीरूप चिदात्माका यथार्थ बोध करानेके लिए केवल वाक्‌प्रेरकत्वेन आत्माका वास्तविक रूप जाना जाता है, यह कहते हैं, अर्थात् वाणी जड़ है, स्वतः स्वकार्यमें प्रवृत्त नहीं हो सकती, अतः चेतन आत्मा उसका प्रेरक है, जैसे कुठार चेतन तक्षादिसे प्रेरित होकर ही छेदन आदि स्वकार्य करता है, वैसे ही आत्मप्रेरित वाणी स्वकार्य करती है । प्रेरकत्व उपलक्षण है, जड़ वाणीमें प्रकाशकत्व भी स्वतः नहीं है, किन्तु आत्मप्रकाशित वाणी अर्थका प्रकाश करती है, 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' इत्यादि श्रुतियोंसे वस्तुतः आत्मा ही भासक है, इन्द्रियादिमें जो भासकत्व है, वह आत्मप्रयुक्त ही है, अन्यथा नहीं ॥ १३० ॥

प्रत्यभिज्ञानुमानाभ्यां चिद्वस्त्ववगमे सति ।
अद्वितीयब्रह्मतत्त्वरूपत्वं नाऽवबुध्यते ॥ १३१ ॥
वेदान्तानामतो वस्तुन्यक्षवन्मात्वमीक्ष्यताम् ।
नहि कार्यव्यपेक्षाऽस्ति कार्यसाधकसाक्षिणः ॥ १३२ ॥
स्वानुभूतिबलादेव भवताऽपि विभाव्यते ।
कार्यादिनिखिलो मेयो नाऽनुभूतिस्तु कार्यतः ॥ १३३ ॥

'प्रत्यभिज्ञा०' इत्यादि । 'योऽहं सुप्तः स एवाहं जागर्मि' 'जो मैं सोया था, वही अब जागा हूँ' यह प्रत्यभिज्ञा तथा 'यस्मिन् व्यावर्तमाने यदनुवर्तते०' जिसके व्यावृत्त होनेपर जो अनुवृत्त होता है, वह व्यावर्तमानसे भिन्न है, इत्यादि पूर्वोक्त अनुमानसे आत्मतत्त्वका यद्यपि ज्ञान होता है, तो भी आगम अनुवादक नहीं है, कारण कि उक्त प्रमाणोंसे सोपाधिक आत्माका ज्ञान होता है, निरुपाधिक अद्वितीय ब्रह्मतत्त्वका बोध केवल आगमसे ही होता है, अतः प्रमाणान्तरसे अज्ञात अद्वितीय आत्माका बोधक आगम प्रमाण ही है ॥ १३१ ॥

'वेदान्ताना०' इत्यादि । अद्वितीय आत्मवस्तुमें वेदान्त प्रमाण हैं, क्योंकि सिद्ध घट आदि वस्तुमें जैसे प्रत्यक्ष प्रमाण है, वैसे ही आगम भी सिद्ध आत्म-स्वरूपमें प्रमाण है । कार्यमें ही शब्द प्रमाण होता है, सिद्धमें नहीं, इसमें आप क्या युक्ति देते हैं? सिद्ध पदार्थ प्रत्यक्ष आदि प्रमाणके विषय हैं, अतः सिद्ध अर्थमें शब्द ज्ञातज्ञापक होनेसे अनुवादक है, किन्तु साध्य अर्थ प्रत्यक्षका विषय नहीं है उसी अर्थमें शब्दका अज्ञातज्ञापकत्वरूप प्रामाण्य होता है, सो ठीक नहीं है, क्योंकि अद्वितीय आत्मा प्रत्यक्षका विषय नहीं है । निर्धर्मक होनेसे पदार्थत्वादिहेतुक अनुमानका भी विषय नहीं हो सकता, अतः चिदात्मामें आगम ही प्रमाण है, दूसरा नहीं, इसलिए कहते हैं—कार्य—अनात्ममात्र—के साधक साक्षीको आगम-प्रमाणका विषय होनेके लिए कार्यकी अपेक्षा नहीं है ॥ १३२ ॥

'स्वानुभूति०' इत्यादि । नियोगमें वस्तुतः शब्द प्रमाण है, नियोग सिद्धार्थमें नहीं हो सकता, किन्तु साध्यार्थमें ही होता है, इसलिए नियोग-शेषतासे भी सिद्धार्थमें शब्द प्रमाण नहीं है, यह आपकी दलील ठीक नहीं है, क्योंकि नियोग जड़ है । जड़की सिद्धि स्वतः नहीं हो सकती, किन्तु चिदात्मासे ही नियोग प्रतीत होता है । इसलिए नियोगसाधक चिदात्माको नियोगकी अपेक्षा नहीं है ।

यस्याऽप्रसिद्धिर्नाऽज्ञानात् प्रसिद्धिर्नाऽपि मानतः ।
तस्याऽनुभवतत्त्वस्य कुतोऽन्यापेक्षतोच्यते ॥ १३४ ॥
स्वप्रकाशात्मदृष्ट्यैव स्वात्मतत्त्वं प्रसिध्यति ।
तद्व्युत्पत्त्यै परापेक्षा नाऽनुभूत्यात्मवस्तुनः ॥ १३५ ॥

रूपका प्रकाशक सूर्य है, पर सूर्यके प्रकाशके लिए रूपकी अपेक्षा नहीं होती। जैसे प्रकाशकका प्रकाश प्रकाश्यकी अपेक्षा नहीं करता वैसे ही नियोगसाधककी सिद्धिके लिए साध्य नियोगकी अपेक्षा नहीं है। नियोग आदि सब प्रमेय स्वानुभूतिसे—चैतन्यप्रकाशसे—ही प्रतीत होनेके कारण माने जाते हैं। अनुभूति जो सब कार्यकी साधक है, उसकी सिद्धि कार्य नियोग आदिसे नहीं हो सकती। अन्यथा अन्योन्याश्रय दोष होगा ॥ १३३ ॥

प्रमाणसे प्रमेयकी सिद्धि होती है, यह सर्वतन्त्रसिद्धान्त है। आत्मामें अन्य प्रमाण नहीं है, नियोगमें ही शास्त्र प्रमाण होता है, नियोग द्वारा सिद्धार्थमें प्रमाण होता है, साक्षात् नहीं। आत्मनियोगमें विधि न माननेसे आत्माकी सिद्धि नहीं होगी। अतः आत्मसिद्धिके लिए नियोग मानना दुर्वार है। इसका खण्डन करते हैं—'यस्या०' इत्यादिसे।

अज्ञानसे—प्रमाणाभावसे—जिसकी अप्रसिद्धि—असिद्धि—नहीं होती, तथा प्रमाणसे जिसकी प्रसिद्धि नहीं होती, उस अनुदित, अनस्तमित, कूटस्थ, बोधैकरस आत्माकी सिद्धिके लिए नियोगादिकी अपेक्षाकी शङ्का भी नहीं है, क्योंकि अन्याधीन सिद्धि जिसकी है, उसके विषयमें प्रमाण और तदभावसे सिद्धि और असिद्धिका नियम है; स्वयंप्रकाश वस्तुमें यह नियम नहीं है ॥ १३४ ॥

प्रकृत अर्थमें कारणान्तर कहते हैं—'स्वप्रकाशात्म०' इत्यादिसे।

स्वप्रधान–अनन्याधीन–अर्थात् अन्यापेक्षाशून्य आत्मस्वरूप बुद्धिसे (चैतन्यसे) स्वातिरिक्त निखिल अनात्मवस्तुकी प्रसिद्धि होती है, उसके लिए कार्यबुद्धिकी अपेक्षा हो सकती है मगर अनुभूतिस्वरूप एवं स्वयं निखिल प्रमेयोंके साधकको अन्यकी अपेक्षा नहीं है। भुजङ्गज्ञानके लिए रज्जुज्ञानकी अपेक्षा है। यद्यपि अधिष्ठानभानके विना अध्यस्तका भान नहीं होता, तथापि रज्जुज्ञानके लिए भुजङ्गज्ञानकी अपेक्षा नहीं है, क्योंकि अधिष्ठानतत्त्वसाक्षात्कारके लिए अध्यस्तकी अपेक्षा दृष्टिगोचर नहीं होती है। आत्मा निखिल प्रमेयका अधिष्ठान है, अतः अध्यस्त अनात्मभानके लिए

अविद्याया निवृत्त्यर्थमेव व्युत्पत्त्यपेक्षिता ।
स्वसत्तास्फूर्तिसिद्ध्यर्थं नान्यत्किञ्चिदपेक्ष्यते ॥ १३६ ॥

असज्जडमपि द्वैतं यद्योगादस्ति भाति च ।
तत्सच्चिद्रूपमन्यस्मात्कथं सिद्धिमपेक्ष्यते ॥ १३७ ॥

नन्वदृष्टं पुमर्थत्वमनुभूते कदाचन ।
दृष्टाऽनुभूयमानस्य स्वर्गादेः पुरुपार्थता ॥ १३८ ॥

अधिष्ठानभूत आत्मज्ञान अपेक्षित है, किन्तु आत्माके स्वयंप्रकाशस्वरूप होनेसे आत्मसिद्धिके लिए किसीकी अपेक्षा नहीं है ॥ १३५ ॥

'अविद्याया' इत्यादि । अविद्याकी निवृत्तिके लिए वेदान्तवाक्यजन्य अद्वितीय आत्मसाक्षात्कार अपेक्षित है, यद्यपि आत्माका, स्वयंप्रकाश होनेसे, स्वतः स्फुरण है, पर वह अविद्याका निवर्तक नहीं है, किन्तु अविद्याका साधक है । वेदान्तप्रमाणजन्य वृत्त्यात्मक अद्वितीय आत्मज्ञानसे अविद्याकी निवृत्ति होती है । अद्वितीय आत्मामें वृत्तिज्ञानके विना तादृश शाब्द ज्ञान नहीं हो सकता, इसलिए तादृश अर्थमें शब्दव्युत्पत्ति अपेक्षित है । स्वसत्ताकी स्फूर्तिके लिए आत्मासे अतिरिक्त किसीकी अपेक्षा नहीं है ॥ १३६ ॥

'असज्जडमपि' इत्यादि । जिस आत्माके सम्बन्धसे असत् द्वैत अनात्म पदार्थ सत् प्रतीत होता है, जैसे अधिष्ठानशुक्तिसत्ता ही अध्यस्त रजतमें 'सत् रजतम्' ऐसी प्रतीति कराती है, अधिष्ठानसत्तासे अतिरिक्त सत्ता कल्पितमें नहीं मानी जाती, वैसे ही 'सन् प्रपञ्चः' इस प्रतीतिमें ब्रह्मसत्ता ही प्रपञ्चमें प्रतीत होती है तथा जड़ प्रपञ्च भी जिस आत्मसम्बन्धसे भासित होता है, वह सत् चिद्रूप आत्मा अपनी सिद्धिके लिए अन्यकी अपेक्षा नहीं करता ॥ १३७ ॥

'नन्वदृष्टम्' इत्यादि । आत्मा यदि अनुभूतिस्वरूप है, अनुभाव्य नहीं है तो वह पुरुपार्थ नहीं हो सकता । केवलानुभूति पुरुपार्थ कहीं नहीं देखी गई है, किन्तु अनुभूतिविषय स्वर्ग आदि ही पुरुषार्थ माने जाते हैं । एवंच अपुरुपार्थभूत आत्मस्वरूपका प्रतिपादन करनेवाला आगम प्रमाण नहीं हो सकता । 'सप्तद्वीपा वसुमती'के समान अपुरुषार्थपरक वाक्य प्रमाण नहीं होते ॥ १३८ ॥

ततोऽपुमर्थरूपां तामनुभूतिं श्रुतिः कथम् ।
प्रतिपादयतीत्येतच्चोद्यं मूढेषु शोभते ॥ १३९ ॥
प्रमाणमूलभूतत्वादनुभूतेः पुमर्थता ।
अनुभूतिप्रसिद्ध्यर्थं प्रमाणव्यापृतिर्भवेत् ॥ १४० ॥
स्वर्गानुभूतिरेवार्थ्या पुम्भिर्न स्वर्गमात्रकम् ।
नो चेत्स्वर्गोऽन्यदीयोऽपि सर्वदाऽर्थ्येत मानवैः ॥ १४१ ॥

'ततो' इत्यादि । अपुरुषार्थस्वरूप अनुभूत्यात्मक आत्माका श्रुति प्रतिपादन कैसे करती है, यह शङ्का मूर्खोंमें शोभा पाती है अर्थात् श्रोता वक्ता दोनों मूर्ख हों, तो यह आक्षेप हो सकता है, कारण कि केवल सुख या दुःखनिवृत्ति पुरुषार्थ नहीं है, किन्तु स्वसम्बद्धरूपसे ज्ञात सुख या दुःखनिवृत्ति ही पुरुषार्थ (पुरुषैरर्थ्यमानः) है, 'सुखं मे स्यात् दुःखं मे मा भूत्' यही पुरुषों द्वारा अर्थनीय है, ज्ञायमान सुखादिको—अनुभवविशिष्ट स्वर्गादिको—पुरुषार्थ मानें, तो 'नागृहीत-विशेषणा बुद्धिर्विशिष्टमवगाहते' इस न्यायसे ज्ञानमें पुरुषार्थत्वके विना जाने ज्ञायमान सुखमें पुरुषार्थत्वका ज्ञान नहीं हो सकता, फिर ज्ञानको छोड़ केवल स्वर्ग आदिमें पुरुषार्थत्व कहना तथा मानना यह दोनों जड़बुद्धियोंमें ही शोभित होता है । समझदार मनुष्य तो यह आक्षेप सुनकर मुसुकुरायेगा अर्थात् स्मेरमुख हो जायगा । यह आगे स्पष्ट होगा ॥ १३९ ॥

'प्रमाण०' इत्यादि । प्रमाणोंका मूल अनुभूति है, 'प्रमीयतेऽनेन' इस व्युत्पत्तिसे प्रमाणशब्दका प्रमितिकरणमें शक्तिग्रह होता है, इसलिए प्रमाण प्रमितिमूल हैं । प्रमाण उपलक्षण है अर्थात् प्रमाण, प्रमाता और प्रमेय—इन तीनोंमें प्रमिति मूल है । 'प्रमाका करण प्रमाण', 'प्रमासमवायी प्रमाता' और 'प्रमाविषय प्रमेय' कहलाता है । प्रमितिरूप अनुभूतिकी अभिव्यक्तिके लिए प्रमाणव्यापार होता है, इसलिए प्रमाणव्यापारका फल अनुभूति है, अतः अनुभूति ही पुरुषार्थ है, अनुभूतिसम्बन्धसे स्वर्गादि भी पुरुषार्थ कहलाता है, केवल स्वर्गादि पुरुषार्थ नहीं है, अतएव लोग प्रचुरद्रव्यव्यय तथा आयाससे नृत्य, इन्द्रजाल आदि कौतुकप्रद वस्तुओंका निरीक्षण करते हैं, तथा अपूर्व साहित्यकथाश्रवण करते हैं, उसमें सुखात्मक प्रतीतिसे अतिरिक्त और क्या पुरुषार्थ है ॥ १४० ॥

'स्वर्गानुभूति०' इत्यादि । स्वर्गानुभूति ही पुरुष द्वारा प्रार्थनीय होनेसे पुरुषार्थ है, स्वर्गमात्र पुरुषार्थ नहीं है । मात्रपदसे अनुभूतिकी व्यावृत्ति करते हैं

दुःखानुभूतेरर्थ्यत्वं न दृष्टमिति चेत्तदा ।
सुखस्याऽपि पुमर्थत्वहेतुत्वमनुमन्यताम् ॥ १४२ ॥

अर्थात् अनुभूतिरहित केवल स्वर्ग पुरुषार्थ नहीं है, पहले अनुभूयमान स्वर्गको पुरुषार्थ कहा, अब स्वर्गानुभूतिको पुरुषार्थ कहते हैं। पूर्वमें अनुभूति गुण है, स्वर्ग प्रधान है। इस पक्षमें स्वर्ग गुण है, अनुभूति प्रधान है, यही पक्ष सिद्धान्तीका सम्मत है। नृत्यादिमें अनुभूतिसे अतिरिक्त कोई पुरुषार्थ नहीं है, स्वसमवेत स्वर्गानुभूति अर्थात् स्वसम्बन्धितया ज्ञात पुरुषार्थ है, अन्यथा अन्यदीय (पुरुषान्तरीय) स्वर्ग पुरुषान्तरसे प्रार्थनीय होना चाहिए।

यद्यपि पितृस्वर्ग पुत्र द्वारा प्रार्थनीय होता है, तथापि पुरुषान्तरका अभिप्राय उदासीन या शत्रुमें है। यदि स्वभावसे सुख प्रार्थनीय हो, तो शत्रुका सुख भी सुख ही है, फिर वह प्रार्थनीय क्यों नहीं होता ? ॥ १४२ ॥

वस्तुतस्तु न केवल सुखादि तथा न केवल अनुभूति पुरुषार्थ है, किन्तु सुखानुभूति पुरुषार्थ है। अन्यथा दुःखानुभूति भी पुरुषार्थ हो जायगी, यह कहते हैं—'दुःखानु०' इत्यादिसे।

यदि अनुभूतिमात्रको पुरुषार्थ मानो, तो दुःखानुभूति भी पुरुषार्थ हो जायगी, सुखानुभूतिको ही पुरुषार्थ मानना उचित है, सुखानुभूतिसे सुखविषयक अनुभूति और सुखस्वरूपानुभूति इन दोनों पुरुषार्थभूत अनुभूतियोंका संग्रह हो जाता है, 'सुखस्यानुभूतिः' इस षष्ठी समाससे लौकिक तथा पारलौकिक सुखानुभूति और 'सुखं चासौ अनुभूतिश्च' इस कर्मधारय समाससे सुखस्वरूपात्मक मोक्ष इन दोनों पुरुषार्थोंका संग्रह हो जाता है। 'सुखस्यानुभूतिः' इस षष्ठीका जन्यत्व अर्थ है, अतः सुखजन्यानुभूति यह अर्थ हुआ। विषय अनुभूतिमें कारण है, इसलिए पुमर्थहेतुत्व कहा। वस्तुतः पुरुषार्थकारणत्व कहनेसे सुख वास्तविक पुरुषार्थ नहीं है, वास्तविक पुरुषार्थ सुखजन्यानुभूति ही है, तादर्थ्यात्ताच्छब्द्यम्' इस न्यायसे सुख भी पुरुषार्थ कहलाता है, यह सातिशय जन्य पुरुषार्थ है; नित्यमोक्षरूप पुरुषार्थ सुखानुभूत्यात्मस्वरूप है।

भाव यह है कि ज्ञान तथा सुख अलग-अलग पुरुषार्थ नहीं हैं किन्तु मिल कर पुरुषार्थ हैं, दोनोंका मेल ब्रह्ममें ही है, अतः ब्रह्म ही पुरुषार्थ है ॥ १४३ ॥

अतो विज्ञानमानन्दं ब्रह्मेति श्रुतिरब्रवीत् ।
या प्रतीतिर्घटादीनां तद्विज्ञानमिदं मतम् ॥ १४३ ॥

'अतो' इत्यादि । 'सत्यं ज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इस श्रुतिसे ज्ञानसुखात्मक ब्रह्म है, अतः ब्रह्म ही पुरुपार्थ है । यद्यपि उदाहृत श्रुतिसे ब्रह्मस्वरूपानुभव पुरुपार्थ है, यह सिद्ध होता है, तथापि ब्रह्म नित्य है, अतः प्रमाणाजन्य नहीं है, तो प्रमाणफल कैसे हो सकता है ? दूसरी शङ्का यह भी होती है कि 'व्रीहीन् प्रोक्षति' इत्यादि स्थलमें प्रोक्षणक्रियाजन्य फल—संस्कार—जैसे व्रीहिनिष्ठ होता है, वैसे ही 'घटं जानाति' यहाँपर चक्षुरादि प्रमाणजन्य अनुभवरूप फलको रूपादिके समान घटादिनिष्ठ ही मानना चाहिए, आत्मस्वरूप नहीं, तथा 'सुखमनुभवामि' इस प्रतीतिसे अनुभूतिरूप फल अनुभाव्य सुखनिष्ठ होनेसे अनुभाव्य ही पुरुपार्थ होना चाहिए, अनुभवात्मस्वरूप नहीं । उक्त श्रुतिमें आनन्द पदका 'आनन्दोऽस्ति अस्य' इस अर्थमें मत्वर्थीय 'अच्' प्रत्यय करके आनन्दशब्द कहा गया है, अतएव उक्त श्रुतिमें 'आनन्दम्' ऐसा नपुंसक निर्देश है । अतः आनन्द और ज्ञान एक नहीं हैं । अनुभाव्यनिष्ठ कर्मके कर्तृसम्बन्धसे कर्तृनिष्ठ होनेसे 'सुखी देवदत्त' यह व्यवहार होता है । जैसे वृत्तिज्ञान वस्तुतः अन्तःकरणनिष्ठ है, फिर भी 'अहं जानामि' इस प्रतीतिसे आत्मामें प्रतीत होता है, वैसे ही 'अयं घटः' इत्यादि ज्ञान भी ब्रह्मस्वरूप ही है मनोवृत्तिस्वरूप नहीं है, कारण वृत्ति जड़ है, वह प्रकाशक नहीं हो सकती ।

अब यह प्रश्न रह गया कि प्रमाणजन्य होनेसे प्रमाण फल कैसे कहलाता है, इसका यह उत्तर है कि प्रमाणजन्य घटाकारवृत्त्यभिव्यक्त घटावच्छिन्न चैतन्यात्मक ब्रह्म ही घटज्ञान है, वृत्ति प्रमाणजन्य है, इसलिए तादृश ज्ञानमें भी प्रमाणजन्यत्व मानकर फलत्वका व्यपदेश होता है । शिखागतध्वंसका शिखीमें आरोप कर जैसे 'शिखी ध्वस्तः' यह व्यवहार होता है ।

इस अभिप्रायसे कहते हैं—'या प्रतीतिर्घटादीनाम्' । जो घटादिकी प्रतीति—अनुभूति—है, वह ब्रह्मस्वरूप ही है, उससे अतिरिक्त नहीं है, क्योंकि घटादिज्ञान ब्रह्मस्वरूप ही है । द्वितीय शङ्काका उत्तर प्रमाणका फल अनुभव है, इसमें विवाद नहीं है, विवाद इसमें है कि प्रोक्षणफलवत् प्रमेयनिष्ठ है या प्रमातृनिष्ठ है ?

प्रतीतेर्माफलत्वेन कथं मेयैकनिष्ठता ।
माक्रियाफलयोगोऽयं युक्तो मातरि भोक्तरि ॥ १४४ ॥
लौकिको वैदिकः सर्वो व्यवहारो जगत्यपि ।
भोक्त्रर्थ एव तेनाऽस्य प्राधान्यं भोक्तुरिष्यते ॥ १४५ ॥

अनुभव प्रमाणका फल है। प्रमेय जड़ है, अतः वह प्रमाणके फलका आश्रय नहीं हो सकता, कारण कि जड़ और अजड़का आश्रयाश्रयिभाव कहींपर भी दृष्ट नहीं है। फल अस्वतन्त्र अर्थात् पराश्रित होता है, इसलिए उसका कोई आश्रय तो अवश्य मानना पड़ेगा। प्रकृतमें यदि परिशेषसे प्रमेयको ही उसका आश्रय मानें, तो क्या आपत्ति है? आपत्ति यह है कि यदि फलको प्रमेयनिष्ठ मानें, तो प्रमाणका फल प्रमातृनिष्ठ होता है और क्रियाका फल भोक्तृनिष्ठ होता है, इस नियमका भङ्ग हो जायगा। प्रकृतमें प्रमाता तथा भोक्ता भिन्न नहीं हैं, अतः मानक्रियाका अनुभावरूप जो औपचारिक फल है, उसके सम्बन्धकी आत्मामें औपचारिक वृत्ति मानकर फलको आत्मनिष्ठ कहते हैं, अतः ब्रह्मस्वरूपज्ञानसे अतिरिक्त घटादिज्ञान नहीं है। 'यो वै भूमा तत्सुखम्, को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्' 'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादि अनेक श्रुतियोंसे आनन्दस्वरूप ब्रह्म है, यह दृढ़ निश्चय है, अतः उक्त श्रुतिका भी तात्पर्य आनन्दाभिन्न ब्रह्ममें ही है। मत्वर्थीय प्रत्यय माननेमें गौरव तथा श्रुतिविरोध भी है ॥१४३॥

घटनिष्ठ घटज्ञानका ब्रह्मस्वरूप ज्ञानके साथ अभेद कैसे हो सकता है, यह कहते हैं—'प्रतीते०' इत्यादिसे।

पूर्वश्लोकमें इसका व्याख्यान हो चुका है, किन्तु संक्षेपसे उक्त अर्थ यहां भी कहते हैं। घटादिज्ञान चक्षुरादिप्रमाणसे जन्य है, अतः वह प्रमाणका फल है, वह प्रमेयनिष्ठ कैसे हो सकता है? जड़ और अजड़का आश्रयाश्रयिभाव कहीं भी दृष्ट नहीं है। घटादिकी प्रतीति मनोवृत्तिरूप नहीं है, किन्तु वृत्तिमें अभिव्यक्त घटावच्छिन्न चैतन्यस्वरूप है। प्रमाणका फल प्रमातामें और क्रियाका फल भोक्तामें होता है। प्रमाता और भोक्ता आत्मा ही है, अतः अनुभव और फल उन मेयोंसे उपहित आत्मामें ही है ॥ १४४ ॥

'लौकिको' इत्यादि। नियोगके अविषय नित्यनिरतिशयसुखरूप परम पुरुषार्थभूत चिदात्मामें प्रमाण वेदान्त हैं, इसमें सर्वप्रधान हेतु कहते हैं—संसारमें लौकिक और वैदिक सब व्यवहार भोक्ताके लिए ही होते हैं, दूसरेके लिए या स्वतन्त्र नहीं

न वा अरे पत्युरिति तदेतत्प्रेय इत्यपि ।
निखिलेऽपि जगत्यत्र प्राधान्यं स्वात्मनः श्रुतम् ॥ १४६ ॥
न प्रमाता प्रमाणं वा क्रिया मेयफलानि वा ।
प्राधान्यायेह दृश्यन्ते ह्यभोक्तृत्वेन हेतुना ॥ १४७ ॥

होते हैं, इस कारणसे भोक्ता ही शेषी है। वही परमप्रेमास्पद होनेसे प्रधान है। अपूर्व भी स्वयं पुरुषार्थ नहीं है, किन्तु प्रधान पुरुषका शेष ही है, इसलिए अपूर्वको पुरुषार्थ माननेकी अपेक्षा प्रधानभूत आत्माको ही पुरुषार्थ मानना समुचित है। अतः आनन्दस्वरूप आत्मामें साक्षात् वेदान्त प्रमाण हैं, अपूर्व द्वारा नहीं हैं ॥ १४५ ॥

सकल व्यवहारका शेषी आत्मा प्रधान है, यह सिद्ध कर उसकी निरतिशय-सुखस्वरूपतामें प्रमाण कहते हैं—'न वा अरे' इत्यादिसे।

याज्ञवल्क्य मुनिने अपनी भार्या मैत्रेयीको आत्मतत्त्वज्ञानका उपदेश दिया कि 'न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति' अर्थात् हे मैत्रेयी, स्त्रीको पति प्रिय होता है, किन्तु पतिके सुखके लिए पति प्रिय होता है, यह बात नहीं है, असली बात तो यह है कि स्त्री अपने सुखके लिए पतिमें प्रेम करती है। इसी तरह पति भी स्त्रीके सुखके लिए स्त्रीमें प्रेम नहीं करता, किन्तु स्वसुखके लिए स्त्रीमें प्रेम करता है। इसी तरह संसारभरमें जो जिसमें प्रेम करता है, वह उसके सुखके लिए नहीं, किन्तु अपने सुखके लिए प्रेम करता है। इस प्रकार निरुपाधिक प्रेमका आश्रय आत्मा है, अतः वही परमप्रेमास्पद है। 'तदेतत्प्रेयः पुत्रात्' इत्यादि श्रुतिसे भी यही सिद्ध होता है। निरतिशय प्रीतिका आस्पद होनेसे परमसुखस्वरूप आत्मा ही प्रधान पुरुषार्थ है ॥ १४६ ॥

प्रमाता आदिको भी प्रधानरूपसे ले सकते हैं, भोक्ता ही प्रधान क्यों? इसपर कहते हैं—'न प्रमाता' इत्यादि।

प्रमाता, प्रमाणक्रिया, प्रमेय और फल कोई भी व्यवहारदशामें प्रधान नहीं हो सकते, क्योंकि इनमें कोई भी भोक्ता नहीं है। अतः भोक्ताके लिए ये सब हैं, भोक्ता अन्यके लिए नहीं है। इसलिए अनन्यशेष भोक्ता ही प्रधान है। अन्य सब भोक्ताके शेष होनेसे प्रधान नहीं हैं ॥ १४७ ॥

आत्मनः कर्त्रवस्थाऽपि भोक्तॄर्थैति विनिश्चयः।
यतोऽतोऽपरमप्येतद्भोक्तॄर्थं विनियुज्यते ॥ १४८ ॥
क्रिययोपहितः कर्त्ता माता मानोपधानतः।
अनुपाधिश्चिदात्मा तु भोक्तेत्यत्र विवक्षितः ॥ १४९ ॥
भुजिक्रियावेशतो यो भोक्ताऽसावत्र कर्त्तरि।
अन्तर्भूतः, प्रधानत्वं चिन्मात्रस्यात इष्यते ॥ १५० ॥

आत्माकी कर्तृ-अवस्था भी क्रियाकी आश्रय होनेसे प्रधान है, फिर भोक्तृ-अवस्थाको ही प्रधान क्यों कहते हैं? इस शङ्काकी निवृत्ति करते हैं— 'आत्मनः' इत्यादिसे।

आत्माकी कर्तृ-अवस्था भी भोगके लिए ही है, क्योंकि फलके उपभोगके लिए ही लोग कर्म करते हैं, अन्यथा 'कष्टं कर्म' इस न्यायसे कर्ममें किसीकी प्रवृत्ति ही नहीं होगी।

शङ्का—सुरतादि क्रियामें प्रवृत्त पुरुष सुरतादिकी अपेक्षा पुत्रादिको ही प्रधान मानता है, इसलिए भोक्तृ-अवस्था प्रधान कैसे?

उत्तर—कर्तृत्व भोक्तृत्वके लिए है, यह विशेषरूपसे निश्चय हो चुका है, इसलिए पुत्रादिमें प्राधान्यका अभिनिवेश भ्रान्तिवश है अथवा पुत्रादिसाध्य सुखके उपभोगके लिए पुत्रादिमें प्राधान्यका अभिनिवेश है। यद्यपि वहाँ भी भोक्तृत्व ही प्रधान है, तथापि उससे पूर्व क्रियाकी अपेक्षा होनेसे पुत्रप्राधान्यकी शङ्कामात्र है, वस्तुतः उक्त श्रुतिसे आत्मसुख ही निरुपाधिक होनेसे सर्वतः प्रधान है ॥१४८॥

यदि भोक्ता प्रधान है, तो भोक्तामें ही वेदान्त प्रमाण होंगे, शुद्धमें नहीं, इस शङ्काकी निवृत्तिके लिए कहते हैं—'क्रिययो०' इत्यादिसे।

क्रियासे उपहित आत्मा कर्ता और प्रमाणसे उपहित आत्मा प्रमाता कहलाता है। अनुपहित अर्थात् उपाधिरहित चिदात्मा भोक्ता है। यहां भोक्तासे शुद्ध चिदात्मा विवक्षित है, इसलिए वेदान्त यदि भोक्तामें प्रमाण हुए, तो चिदात्मामें ही प्रमाण हुए, फिर चिदात्मामें वेदान्त प्रमाण नहीं है, यह शङ्का ही निराधार है ॥ १४९ ॥

'भुजिक्रिया०' इत्यादि। अन्तःकरण आदिसे उपहित सुख, दुःख आदिका अनुभव करनेवाला आत्मा कर्ता है। आत्मामें कल्पित होनेसे अन्तःकरण आदि अप्रधान हैं। अधिष्ठानभूत चिन्मात्र ही प्रधान विवक्षित है। विशेष्यानन्वयी होकर जो इतरव्यावर्त्तक हो, वह उपाधि कहलाती है। क्रिया और प्रमाण कर्ता और प्रमातामें उपाधि

न चाऽऽत्मानुभवादन्यो विषयः कैश्चिदिष्यते ।
अपि सर्वप्रमाणानां किमु वेदान्तशासने ॥ १५१ ॥
चिदात्मानं विना नैव वस्त्वन्यन्मानभूमिगम् ।
इत्येषोऽर्थोऽतियत्नेन ह्युपरिष्टात् प्रवर्तते ॥ १५२ ॥
तदित्थं सर्ववेदान्ता न निरोधविधायिनः ।
किं त्वात्मानं प्रमिमत इत्येतदिह सुस्थितम् ॥ १५३ ॥

हैं । क्रिया और प्रमाण कर्तृत्व एवं प्रमातृत्वमें अन्वित नहीं हैं और अक्रियावच्छिन्न तथा अप्रमाणावच्छिन्न चैतन्यके व्यावर्तक हैं, इसलिए कर्ता तथा प्रमातामें वे उपाधि हैं । क्रिया और प्रमाण ये दोनों ही कल्पित हैं । कर्ता, प्रमाता तथा भोक्तामें आत्मा अनुगत है, अतः शुद्ध आत्मा ही उक्त विशेषणोपाधिवश कर्ता और भोक्ता कहलाता है । 'नेह नानास्ति किञ्चन' 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' इत्यादि श्रुतियाँ कल्पितोपाधिके निषेध द्वारा शुद्ध आत्मामें ही प्रमाण हैं ॥ १५० ॥

'न चाऽऽत्मा०' इत्यादि । अनुभवस्वरूप आत्मासे अतिरिक्त कोई विषय है ही नहीं, जो अज्ञात हो, अतः प्रत्यक्षादि भी आत्मामें ही प्रमाण हो सकते हैं, इसलिए सब प्रमाणोंसे प्रमेय ब्रह्म ही वेदान्तका भी मेय है, इसमें कहना ही क्या ? कैमुतिकन्यायसे वेदान्त भी आत्मामें प्रमाण हैं । यहाँ मूलमें 'कैश्चित्' यह पाठ असंगत है, कश्चित् यह पाठ समुचित है, इसीमें अर्थ संगत होता है ॥ १५१ ॥

'चिदात्मानम्' इत्यादि । उक्त अर्थको ही अतिस्फुट करनेके लिए फिर कहते हैं—चिदात्मासे अतिरिक्त कोई भी विषय प्रमाणवेद्य नहीं है, यह अर्थ प्रमेयपरीक्षाके प्रकरणमें अति प्रयत्नसे निरूपित होगा ॥ १५२ ॥

प्रकृतका उपसंहार करते हैं—'तदित्थम्' इत्यादिसे ।

उक्त रीतिसे सम्पूर्ण वेदान्त निरोधविधिपरक नहीं हैं, किन्तु आत्माके प्रमापक अर्थात् आत्मप्रमितिजनक हैं । आत्मा ही वेदान्तका प्रमेय है, वेदान्त ही वास्तविक आत्मामें प्रमाण हैं, दूसरे प्रमाण नहीं हैं, अतएव 'तन्त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' इत्यादि वाक्यमें 'औपनिषद' यह विशेषण सार्थक होता है । 'उपनिषत्सु एवाधिगतः' इस तात्पर्यसे 'औपनिषद' यह विशेषण कहा गया है । अन्तःकरणाद्युपाधिविशिष्ट चैतन्यके प्रत्यक्षादि प्रमाणोंके गोचर होनेपर भी शुद्ध चैतन्य

चित्ततद्वासनारोधतात्पर्येऽत्र निराकृते ।
प्रतिपत्तिविधौ शास्त्रतात्पर्यं केचिदूचिरे ॥ १५४ ॥
आत्मा द्रष्टव्य इत्येवं प्रतिपत्तिविधिः श्रुतः ।
कोऽसावात्मेति वीक्षायां सर्वमात्मेति वर्ण्यते ॥ १५५ ॥
सत्यज्ञानादिवाक्यानि तत्त्वमस्यादिकान्यपि ।
विधिशेषतया ब्रह्म स्वात्मत्वेनार्पयन्ति हि ॥ १५६ ॥

प्रमाणान्तरका विषय नहीं है, किन्तु वह आगमैकवेद्य है, अतः 'आत्मानं प्रमिमते' यह नहीं कहा है ॥ १५३ ॥

'चित्ततद्०' इत्यादि । चित्त तथा उसकी वासनाके निरोधमें वेदान्तका तात्पर्य है, इस मतका निराकरण हो जानेपर उक्त रीतिसे यदि चित्तादिनिरोधपरक वेदान्त नहीं हो सकते, तो प्रतिपत्तिविधिपरक वे अवश्य हो सकते हैं, यह भी कोई कहते हैं ॥ १५४ ॥

'आत्मा' इत्यादि । 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' इस वाक्यसे मोक्षार्थीके लिए उसके उपाय आत्मदर्शनका विधान है और इसी श्रुतिमें आत्मदर्शनका उपाय निदिध्यासन—निरन्तर चिन्तन—का विधान है । यदि आत्माके यथार्थ ज्ञानके विना आरोपितरूपसे उसकी चिन्ता की जायगी, तो उससे आत्माका साक्षात्कार भी अयथार्थ ही होगा, इसलिए प्रथम उक्त श्रुतिवाक्य द्वारा श्रवणका विधान किया गया है । [श्रवण शब्दसे शाब्दज्ञान विवक्षित है] अनेक प्रकारका श्रवण होनेसे आत्मामें संशय होगा, अतः उसकी निवृत्तिके लिए 'मन्तव्यः' से मननका विधान किया गया है । प्रतिकूल युक्तियोंका निराकरण कर सतर्क युक्तियों द्वारा श्रुत अर्थका अविरोधसे हृदयमें दृढ़ करना मनन कहलाता है अर्थात् वह अनुमितिरूप है, इत्यादि उपायपूर्वक उपासनासे आत्मदर्शन होता है, उसके वाद मोक्षफलकी प्राप्ति होती है। इसमें 'कीदृश आत्मा द्रष्टव्यः' (किस प्रकारके आत्माका दर्शन करना चाहिए) इस अपेक्षासे 'एतत्सर्वं यदयमात्मा' इत्यादि श्रुतियाँ आत्मस्वरूपका निरूपण करती हैं ॥ १५५ ॥

'सत्यज्ञानादि०' इत्यादि । प्रतिपत्तिविधिका विषय आत्मा कैसा है ? इस जिज्ञासाकी निवृत्तिके लिए 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म', 'तत्त्वमसि' आदि वाक्य ब्रह्मके स्वरूपका निरूपण करते हैं । एवंरूप आत्मा प्रतिपत्तिका विषय है, इस प्रकार प्रतिपत्तिविधिके शेषरूपसे वेदान्त ब्रह्ममें प्रमाण हैं, साक्षात् नहीं, क्योंकि सिद्ध

विधिशेषतया यूपाहवनीयाद्यलौकिकम् ।
शास्त्रेणैवार्प्यते यद्वत्तथा ब्रह्माप्यलौकिकम् ॥ १५७ ॥
यद्वा स्वरूपवाक्यानि स्वरूपविधिमार्गतः ।
बोधपर्यवसायीनि ततो बोधविधिर्मतः ॥ १५८ ॥

अर्थमें उपायके अभावसे शक्तिका ग्रह नहीं हो सकता, और उसका कथन निष्प्रयोजन भी है, क्योंकि जिस वाक्यसे इष्टमें प्रवृत्ति तथा अनिष्टसे निवृत्ति न हो, वह स्वप्नकथावाक्यकी तरह व्यर्थ है। वेदान्तोंमें वैयर्थ्यके परिहारके लिए उन्हें प्रतिपत्तिविधिका शेष मानना आवश्यक है ॥ १५६ ॥

'विधिशेषतया' इत्यादि। विधिपरक वाक्यसे भी वस्तुका निश्चय होता है। इसमें दृष्टान्त हैं—अलौकिक यूप, आहवनीय आदि। यद्यपि यूपादि पदार्थ अलौकिक होनेसे प्रत्यक्षादि प्रमाणके विषय नहीं हैं, अतः यूपादिमें शब्दशक्ति-ग्रह स्वतः नहीं हो सकता, क्योंकि प्रमाणसे उपस्थित पदार्थमें ही शक्तिग्रह होता है, यह निश्चय है; तथापि 'यूपे पशुं बध्नाति' इस वाक्यसे पशुको बाँधनेके लिए यूप विनियुक्त है। इस वाक्यके बोधके बाद यूप क्या कहलाता है? ऐसी अपेक्षा होनेपर 'खादिरो यूपो भवति' 'यूपं तक्षति' 'यूपमष्टाश्रीकरोति' इत्यादि तक्षणादि-विधिपरक वाक्योंसे संस्कारविशेषविशिष्ट काष्ठका संस्थानविशेष यूप है, यह निश्चय होता है। इसी तरह 'यदाहवनीये जुहोति' (जो आहवनीयमें होम करता है) ऐसा बोध होनेपर आहवनीय क्या है? यह आकांक्षा होनेपर 'वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत' इत्यादि वाक्यसे संस्कारविशेषविशिष्ट अग्नि आहवनीय है, यह निश्चय होता है। यद्यपि काष्ठ और अग्नि प्रत्यक्षप्रमाणसे गम्य हैं, तथापि संस्कारके अलौकिक होनेसे संस्कारविशिष्ट काष्ठ एवं संस्कारविशिष्ट अग्नि भी अलौकिक कही गई है, इसलिए प्रत्यक्षादि प्रमाणसे शक्तिग्रह नहीं होता, किन्तु उक्त विधिवाक्य द्वारा ही होता है। उसी प्रकार 'आत्मा द्रष्टव्यः' इस वाक्यके श्रवणके बाद कैसे आत्माका दर्शन करना चाहिए, ऐसी आकांक्षा होनेपर यद्यपि वह अलौकिक होनेसे प्रत्यक्षादि प्रमाणका विषय नहीं है, तथापि दर्शनविधिका शेष होनेसे सत्यज्ञानादि वाक्यसे उक्त ब्रह्मके स्वरूपका बोध होता है।

मतान्तर कहते हैं—'यद्वा' इत्यादिसे। उत्पत्तिविधि और अधिकारविधि इस प्रकार वेदान्तमें दो प्रकारकी विधियाँ है। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इस ब्रह्मस्वरूप-

कर्मोत्पत्तिविधिर्यद्वत् कर्मबोधे व्यवस्थितः ।
आत्मतत्त्वविधिस्तद्वदात्मबोधेऽवतिष्ठताम् ॥ १५९ ॥
अष्टाकपाल आग्नेय इत्यत्र द्रव्यदेवते ।
कर्मस्वरूपम्, उत्पत्तिविधिनाऽनेन बोध्यते ॥ १६० ॥

बोधक वाक्यके स्वरूपविधि द्वारा ब्रह्मस्वरूपके बोधमें पर्यवसायी होनेसे बोधमें विधि मानते हैं। तात्पर्य यह है कि 'सत्यं ज्ञानम्' इत्यादि वाक्यसे आत्मस्वरूपका अभिधान किस लिए है, क्योंकि इस वाक्यमें तो कोई फलप्रतिपादक शब्द है नहीं। निष्फल अभिधान व्यर्थ है, इस अपेक्षामें 'मोक्षकामिना आत्मा द्रष्टव्यः' इस अधिकारिवाक्यसे मोक्षके लिए आत्मदर्शनका विधान है, यह निश्चय करके मुमुक्षु आत्मदर्शनमें प्रवृत्त होता है, इसलिए आत्मदर्शनविधि द्वारा ब्रह्मस्वरूप बोधक वाक्य भी बोधविधिके शेष हैं।

इसी अर्थमें दृष्टान्त कहते हैं—'कर्मोत्पत्ति' इत्यादि।

कर्मोत्पत्तिविधि जिस तरह कर्मके बोधमें व्यवस्थित है, उसी तरह आत्मतत्त्वविधि भी आत्मतत्त्वके बोधमें व्यवस्थित हो ॥ १५९ ॥

दृष्टान्तमें उत्पत्तिविधिमें बोधपर्यवसायित्व दिखलाते हैं—'अष्टाकपाल' इत्यादिसे।

दर्शपूर्णमासप्रकरणमें 'यदाग्नेयोऽष्टाकपालः अमावास्यायां पौर्णमास्यां चाच्युतो भवति, यह श्रुति है। 'अष्टसु कपालेषु संस्कृतः पुरोडाशोऽष्टाकपालः' (आठ कपालोंमें संस्कृत पुरोडाशको अष्टाकपाल कहते हैं यह पुरोडाशरूप द्रव्य है)। 'अग्निर्देवता अस्य इति आग्नेयः' इस व्युत्पत्तिसे आग्नेय शब्दसे अग्निदेवताकी प्रतीति होती है। यहांपर 'अग्नेर्ढक्' इस सूत्रसे 'ढक्' तद्धितप्रत्यय हुआ है। 'तद्धितेन चतुर्थ्या वा मन्त्रवर्णेन वा पुनः देवताया विधिस्तत्र दुर्बलं तु परं परम्' अर्थात् जहाँ तद्धित, चतुर्थी विभक्ति अथवा मन्त्रवर्णसे देवताकी प्रतीति होती है, और जहाँ परस्पर विरोध होता है वहाँ उत्तरोत्तर दुर्बल होता है। तद्धितसे चतुर्थी तथा मन्त्रवर्ण और चतुर्थीसे मन्त्रवर्ण दुर्बल होते हैं, यह बाध्यबाधकके लिए उपयोगी है। यागके दो रूप होते हैं—द्रव्य और देवता। यहाँपर पुरोडाशरूप द्रव्य है, तथा अग्निरूप देवता भी है, अतः यागकी उत्पत्तिके बोधक शब्दके न रहनेपर भी यागके स्वरूप द्रव्य और देवताके रहनेसे उत्पत्तिवाचक शब्दका अध्याहार करके कर्मोत्पत्तिविधि

स्वर्गकामो यजेतेति विधिरेषोऽधिकारिणम् ।
उत्पत्तिविधिबुद्धेऽस्मिन्ननुष्ठातुं प्रवर्त्तयेत् ॥ १६१ ॥
तथा द्रष्टव्य आत्मेति प्रेरयन्मोक्षकामिनम् ।
अधिकारविधिस्त्वेष प्रतिपत्तौ भविष्यति ॥ १६२ ॥
अबुद्धं बोधयंस्तद्वदप्रवृत्तं प्रवर्त्तयन् ।
उत्पत्त्याख्योऽधिकाराख्यो विधिरेष द्विरूपकः ॥ १६३ ॥

मानी जाती है, जैसे 'सा वैश्वदेव्यामिक्षा वाजिभ्यो वाजिनम्' इस वाक्यमें यद्यपि 'यजेत' यह यागोत्पत्तिबोधक पद नहीं है, फिर भी विश्वेदेवा देवता तथा आमिक्षा द्रव्य रहनेसे यागस्वरूपकी श्रुति है। इसलिए 'यजेत' पदका अध्याहार करके वैश्वदेवयागका विधान माना जाता है, अन्यथा यागस्वरूपका श्रवण व्यर्थ हो जायगा। प्रकृतमें 'यदाग्नेयो' इस वाक्यमें द्रव्य और देवताकी श्रुति है, अतः यह कर्मोपत्तिबोधक वाक्य है, पर फलका निर्देश इसमें नहीं है। इसलिए नियोज्यकी प्रतीति नहीं होती है, अतः फलवदधिकारी वाक्यकी अपेक्षा है ॥ १६० ॥

अधिकारी-वाक्यकी एकवाक्यताके विना अनुष्ठान नहीं हो सकता, इसलिए अधिकारी-वाक्यके व्यापारकी अपेक्षा दिखलाते हैं—'स्वर्गकामो' इत्यादिसे।

'स्वर्गकामो यजेत' यह अधिकारिविधि उत्पत्तिविधिसे ज्ञात पूर्वोक्त दर्शपूर्णमासयागके अनुष्ठानमें अधिकारी पुरुषको प्रेरित करती है ॥१६१॥

'तथा' इत्यादि। उसी प्रकार 'आत्मा द्रष्टव्यः मोक्षकामिना' यह अधिकारीवाक्य मोक्षकामी अधिकारीको प्रतिपत्तिमें—ब्रह्मसाक्षात्कारमें—प्रेरित करता हुआ दर्शनमें विधि है ॥ १६२ ॥

उत्पत्तिविधि और अधिकारिविधिका स्वरूप क्रमशः इस श्लोकमें बतलाया गया है। अज्ञातज्ञापक उत्पत्तिविधि है। 'यदाग्नेय' इस वाक्यसे पूर्व इस यागके स्वरूपका ज्ञान किसी प्रत्यक्षादि प्रमाणसे नहीं हो सकता, इसलिए 'यदाग्नेयोऽष्टाकपालः' इत्यादि वाक्य अज्ञातस्वरूपका ज्ञापक होनेसे उत्पत्तिविधि है। 'यजेत स्वर्गकामः' यह अधिकारिवाक्य है। 'फलस्वाम्यबोधक विधि अधिकारिविधि है, यह इसका लक्षण है। फलस्वामित्वका बोध यह कराती है, यदि स्वर्गफलका स्वामी—भोक्ता—होना चाहते हो, तो याग करो, इस प्रकार यागमें प्रेरक यह विधि अधिकारिविधि है।

एवं विधिमिहेच्छन्ति विध्ययोग्येऽपि वस्तुनि ।
विधिरागवशात् केचित् तान् प्रतीदमथोच्यते ॥ १६४ ॥
प्रतिपत्तिविधिस्तावन्नात्मा द्रष्टव्य इत्ययम् ।
विधेर्भाव्यार्थनिष्ठत्वाद्वस्तुन्यनुपपत्तितः ॥ १६५ ॥
किमैकात्म्यं विधेयं स्यात् किं वा तद्दर्शनं वद ।
नोभयत्र विधिर्युक्तः पुंव्यापारानधीनतः ॥ १६६ ॥

एवं 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि वाक्य 'ज्ञातव्य' पदके अध्याहारसे उत्पत्ति विधिके बोधक हैं, अर्थात् 'उक्तरूपं ब्रह्म ज्ञातव्यम्' इस प्रकार ब्रह्मज्ञानोत्पत्ति विधिके बोधक हैं। और 'मुमुक्षुभिरात्मा द्रष्टव्यः' यह अधिकारिविधि है। यदि मोक्ष चाहते हो, तो आत्मदर्शनमें प्रवृत्त होओ, इस प्रकार आत्मदर्शनमें मोक्षाधिकारीकी प्रेरणा करनेवाली यह अधिकारिविधि है। वेदान्तमें उत्पत्तिविधि और अधिकारिविधि—ये दोनों विधियाँ स्वीकृत हैं, इसलिए वेदान्त प्रतिपत्तिविधिके शेषरूपसे प्रमाण है, अन्यथा नहीं, यह पूर्वपक्षका सार है॥१६३॥

उक्त दो विधियोंका असम्भव दिखलाते हुए समाधान करते हैं—'एवम्' इत्यादिसे।

कोई विद्वान् विधिप्रेमवश विधिके अयोग्य वस्तुमें विधिकी इच्छा करते हैं। राग चित्तका प्रधान दोष है, दोषसे अपरमार्थका ज्ञान होता है और उससे अनुचित वस्तुकी इच्छा होती है, इसलिए विधिके अयोग्य वेदान्तमें जो विधि मानते हैं, उनके प्रति वक्ष्यमाण निराकरणका प्रकार कहते हैं ॥ १६४ ॥

'प्रतिपत्ति०' इत्यादि। वेदान्तमें नियोग—विधि—का निराकरण नहीं हो सकता, कारण कि 'आत्मा द्रष्टव्यः' यह विधि है, क्योंकि इसमें 'तव्यत्' विधि बोधक प्रत्यय श्रुत है। इसके निराकरण करनेके लिए 'वस्तुनि' कहा है। विधि भाव्य—अनुष्ठेय—धात्वर्थमें होती है, जो कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुम् योग्य है। आत्मा कूटस्थ—नित्य है, अतएव उसमें विधिकी सम्भावना ही कैसे हो सकती है? सिद्धमें विधिकी अनुपपत्ति होनेसे 'आत्मा द्रष्टव्यः' यह प्रतिपत्ति-विधि नहीं है ॥ १६५ ॥

अनुपपत्तिको स्फुट करते हैं—'किमात्मैक्यम्' इत्यादिसे।

ऐकात्म्यमें अर्थात्, आत्मैकत्वमें विधि है अथवा आत्मैकत्वदर्शनमें? दोनोंमें एक ही दोषसे विधिका खण्डन करनेके लिए कहते हैं—'नोभयत्र'। दोनोंमें

सिद्धेऽसिद्धेऽथवैकात्म्ये विधिर्नैवोपपद्यते ।
नाकाशे नापि तत्पुष्पे विधिः सम्भाव्यते क्वचित् ॥ १६७ ॥
न विधिर्दर्शनेऽपि स्यादन्योन्याश्रयदोषतः ।
दर्शनाद् विधिसंसिद्धेर्विधेर्दर्शनसिद्धितः ॥ १६८ ॥

विधि नहीं हो सकती, क्योंकि आत्मैकत्वके नित्य सिद्ध होनेसे वह पुरुषके व्यापारके अधीन नहीं है ॥ १६६ ॥

प्रथम कल्पको ही अति स्फुट करनेके लिए विकल्प करते हैं—'सिद्धे' इत्यादिसे ।

आत्मैकत्व यदि सिद्ध—नित्य—है, तो आकाशके समान उसमें विधि नहीं हो सकती। और यदि असिद्ध है, तो भी आकाश पुष्पके समान अत्यन्त असत् होनेसे जैसे उसमें विधि नहीं होती वैसे ही ऐकात्म्यमें भी विधि नहीं हो सकती। आकाशका दृष्टान्त परमतके अनुसार दिया गया है, अपने मतमें तो ब्रह्मसे अतिरिक्त कोई नित्य है ही नहीं। आत्मैकत्वको चाहे सत् मानो या असत्, दोनों पक्षोंमें भी वह पुरुषव्यापाराधीन नहीं है, अतः विधि अयुक्त है ॥ १६७ ॥

'न विधि' इत्यादि। यदि असाध्य वस्तुमें विधि नहीं हो सकती है, तो भावार्थ आत्मैकत्वदर्शन—में विधि मानिये ? इस द्वितीय पक्षका निराकरण करते हैं—'अन्योन्याश्रयदोषतः' इत्यादिसे। अन्योन्याश्रय दोषसे दर्शनमें भी विधिकी सम्भावना नहीं है। यहाँपर भी यह विकल्प हो सकता है कि दर्शनमात्रमें विधि है अथवा ब्रह्मविशेषित दर्शनमें ? प्रथम पक्षका स्वीकार करनेपर घटादिदर्शनमें भी विधिकी प्रसक्ति हो जायगी। द्वितीय पक्ष भी नहीं मान सकते, क्योंकि उसमें अन्योन्याश्रय दोष स्पष्ट है। यदि ब्रह्मविशेषित दर्शनमें विधि है, तो ब्रह्म ज्ञात होना चाहिए, क्योंकि विशेषणज्ञानके विना विशिष्टका ज्ञान नहीं होता। और विशिष्टज्ञानके विना विशिष्टमें विधि दुर्घट है, अतः ब्रह्मका ज्ञान होनेपर तद् घटित दर्शनमें विधि और विधिके होनेपर ब्रह्मका ज्ञान, ज्ञानाधीन विधि और विध्यधीन ज्ञान, इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष स्पष्ट ही है। इसलिए विशिष्टमें विधि नहीं मान सकते। यदि कथंचित् विशिष्टमें विधि मान लें, तो भी आत्मामें वेदान्त प्रमाण नहीं होगा, आत्मदर्शनमें ही प्रमाण होगा। 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' यह न्याय सर्वमान्य है, यदि इसे उभयपरक मानें, तो वाक्यभेद दोष होगा। जब एकवाक्य हो सकता है, तब वाक्यभेद मानना अनुचित है ॥१६८॥

पुंसाऽऽत्मदर्शने ज्ञाते विधिना प्रेर्यते पुमान् ।
अज्ञाते विषये तत्र प्रेरणा नैव युज्यते ॥ १६९ ॥
ज्ञायमाने दर्शनेऽर्थादात्मा दृश्यतया तदा ।
ज्ञातोऽतो दर्शने सिद्धे पश्चात् सिध्यति तद्विधिः ॥ १७० ॥
विधिना प्रेरितो मर्त्योऽनुतिष्ठति ततः परम् ।
दर्शनं सिध्यतीत्येवमन्योन्याश्रय ईरितः ॥ १७१ ॥

'पुंसाऽऽत्मदर्शने' इत्यादि । यदि पुरुषको विधेयभूत आत्मदर्शन का ज्ञान हो तो विधि पुरुषको उसमें प्रेरित कर सकती है । यदि विषय—आत्मदर्शन—अज्ञात है, तो पुरुषको किसमें प्रेरित करेगी ? विधि भी इष्टसाधनताके बोधन द्वारा प्रवर्तक होती है । यदि विधेय सर्वथा अज्ञात है, तो धर्मिके ज्ञानका अभाव होनेसे इष्ट-साधनताका बोध नहीं हो सकता, फिर प्रवृत्तिकी सम्भावना ही कैसे होगी ? ॥१६९॥

'ज्ञायमाने' इत्यादि । यदि विधिके लिए आत्मदर्शनका ज्ञान पूर्वमें है, यह मानें, तो विशेषणके ज्ञानके बिना विशिष्टका ज्ञान नहीं हो सकता, अतः आत्मदर्शनके ज्ञात होनेपर उसके विशेषणभूत आत्माका ज्ञान है ही यही मानना पड़ेगा। इस परिस्थितिमें प्रथम आत्मज्ञान पश्चात् आत्मदर्शनकी विधि, यह प्राप्त होता है, सो अत्यन्त असंगत है, क्योंकि शास्त्रका अनुशासन है—

'विधिरत्यन्तमप्राप्तौ नियमः पाक्षिके सति ।
तत्र चान्यत्र च प्राप्तौ परिसंख्येति गीयते ॥'

अर्थात् जो सर्वथा अप्राप्त है, उसमें ही विधि होती है, प्राप्तमें नहीं, अतः वैसा मानना केवल उपहास है। आत्मदर्शनके पीछे तो विधिकी सम्भावना ही नहीं है ॥ १७० ॥

'विधिना' इत्यादि । पूर्वश्लोकमें प्रथम आत्मदर्शन तदनन्तर विधि कही गई है । इस श्लोकमें प्रथम विधि तदन्तर आत्मदर्शन कहते हैं—इस प्रकार आत्मदर्शन तथा विधिमें अन्योन्याश्रय दोष स्पष्ट है । विधिसे प्रेरित मनुष्य विधेयका अनुष्ठान करता है, अतः प्रेरणासे पहले विधेयका ज्ञान आवश्यक है, अन्यथा विषयके अज्ञानसे प्रेरणा नहीं हो सकती । यदि विधिसे विषयका ज्ञान होगा, तो अन्योन्याश्रय होगा अर्थात् विधिसापेक्ष आत्मदर्शन और आत्मदर्शनसापेक्ष विधि, इस प्रकार उत्पत्तिमें ही अन्योन्याश्रय है, अतः उत्पत्ति ही नहीं होगी ॥१७१॥

न च यूपादिवच्छक्यं वेदेनैव समर्पणम् ।
ऐकात्म्यस्य स्वतः सिद्धेः साध्यत्वाद् यूपवस्तुनः ॥ १७२ ॥
सिद्धं चेद् दर्शयेद् वेदः प्रसिद्धं दर्शनं तदा ।
तन्निष्ठमेव वाक्यं स्यात् का वाऽस्य विधिशेषता ॥ १७३ ॥

'न च' इत्यादि । जैसे 'यूपं तक्षति' यह वाक्य अलौकिकसंस्कारविशेषसे विशिष्ट काष्ठविशेष यूपका 'यूपे पशुं बध्नाति' इस विधिके शेषरूपसे समर्पण करता है, वैसे ही 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' यह वाक्य अलौकिक ऐकात्म्यका 'आत्मा द्रष्टव्यः' इस दर्शनविधिके शेषरूपसे समर्पण करता है; यदि यह कहो तो यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिकमें वैषम्य है । यूप साध्य है और आत्मैक्य सिद्ध है अर्थात् साध्यमें विधि होती है, अतः 'यूपे पशुं बध्नाति' 'खादिरो यूपो भवति' इत्यादि विधिके शेषरूपसे यूपका बोधन हो सकता है, अतः 'यूपं तक्षति' 'यूपमष्टाश्रीकरोति' ये सब वाक्य विधिके शेषसे यूपका अर्पण कर सकते हैं । 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म', 'तत्त्वमसि' इत्यादि सिद्धार्थक वाक्य हैं, अतः ये दर्शनविधिके शेषरूपसे ऐकात्म्यका समर्पण नहीं कर सकते और दर्शनमें उक्त रीतिसे विधि हो भी नहीं सकती ॥१७२॥

सिद्ध ब्रह्मका दर्शनविधिके शेषरूपसे समर्पण करनेमें दोष कहते हैं—'सिद्धम्' इत्यादिसे ।

यदि वेद—सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म—सिद्ध—नित्य—ब्रह्मका बोध करता है, तो वेद तन्निष्ठ अर्थात् कूटस्थ—नित्यात्मनिष्ठ ही हुआ, फिर वह विधिका शेष है, इसकी क्या चर्चा ?

तात्पर्य यह है कि 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' यह वाक्य यदि ब्रह्मबोधक है, तो

'उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम् ।
अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये ॥

इस श्लोकमें निर्दिष्ट उपक्रम और उपसंहारके ऐक्य आदि छः तात्पर्यके निर्णायक लिङ्ग माने जाते हैं; सन्दिग्ध स्थलमें इनके द्वारा इस अर्थमें इस शब्दका तात्पर्य है, यह निर्णय किया जाता है ।

प्रकृतमें 'सत्यज्ञानादि' वाक्य द्रष्टव्यविधिके शेषरूपसे ब्रह्मका बोध कराते हैं, या साक्षात् ब्रह्मका बोध कराते हैं ? इस सन्देहके समयमें उक्त षड्विधलिङ्गोंके

तस्माद् द्रष्टव्य इत्येष प्रतिपत्तिविधिर्नहि ।
बहिर्मुखत्वव्यावृत्तिर्विधेरर्हार्थताऽथवा ॥ १७४ ॥

द्वारा यह निश्चय होता है कि साक्षात् ब्रह्ममें इन वाक्योंका तात्पर्य है, अतः वे साक्षाद् ब्रह्मके बोधक हैं, विधिके शेषरूपसे नहीं । 'सदेव सौम्येदमग्र आसीत्' 'एक-मेवाद्वितीयं ब्रह्म' यह उपक्रम है 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' यह उपसंहार है । 'तत्त्व-मसि' यह नौ बार कहा गया है, वह अभ्यास है । जीव और ब्रह्मका अभेद अर्थात् आत्मैकत्व अपूर्व है—प्रमाणान्तरका अविषय है । आत्मैकत्वका फल है—मोक्ष । 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इत्यादि अर्थवाद है । कार्य और कारणका अभेद, एकके विज्ञानसे सर्वविज्ञानकी प्रतिज्ञा आदि तथा सत्यानन्दादि वाक्य उपपत्ति है । अतः वेद ब्रह्ममात्रनिष्ठ है, प्रतिपत्तिविधिका शेष नहीं है, अतः उक्त वाक्य ब्रह्ममें स्वतः प्रमाण है, इसलिए विधि व्यर्थ है । यद्यपि यह शङ्का हो सकती है कि विधिके विना वाक्य वस्तुबोधक नहीं होता, इसलिए विधि व्यर्थ नहीं है, तथापि यह ठीक नहीं है, क्योंकि यदि व्युत्पन्न पुरुषको विधिशून्य वाक्यसे बोध न होता, तो यह कह सकते कि विधिकी आवश्यकता है, परन्तु 'पुत्रस्ते जातः' इत्यादि विधिशून्य वाक्योंसे बोध सर्वजनप्रसिद्ध है, अतः ऐसा नहीं कह सकते; अन्यथा बोधके विना श्रोताका मुखप्रसाद कैसे होता । यदि कहो कि वहां भी विधिका अध्याहार माना जाता है, तो यह कहना ठीक नहीं है, कारण कि यदि विधिशून्य वाक्यसे बोध न होता हो अर्थात् जहांपर विधिका अध्याहार करके ही शाब्दबोध अनुभवसिद्ध होता हो, तो अगत्या अध्याहारकी कल्पना की भी जाती, किन्तु ऐसा अनुभवसिद्ध नहीं है ॥१७३॥

अपने मतमें 'आत्मा द्रष्टव्यः' इसका अर्थ बतलाते हुए अधिकारिविधिके निराकरणका उपसंहार करते हैं—'तस्माद्' इत्यादिसे ।

यदि शङ्का हो कि 'आत्मा द्रष्टव्यः' यह प्रतिपत्तिविधि नहीं है, तो विध्यर्थक 'तव्यत्' प्रत्यय उसमें क्यों है ? इसका उत्तर यह है कि बहिर्मुख अर्थात् बाह्य-विषयक प्रवृत्ति रोकनेके साथ अन्तर्मुख प्रवृत्तिके लिए विधिच्छायापन्न उक्त वचन है, वस्तुतः विधि नहीं है । जो सांसारिक पुरुष ऊँच और नीच अर्थात् हित और अहितकी प्राप्ति और परिहारकी इच्छासे विहित और निषिद्ध कर्मके अनुष्ठान और परिवर्जनमें ही रात-दिन व्यग्र हैं, अध्यात्मशास्त्रके श्रवण, मनन आदिका अवसर ही जिनको नहीं मिलता, उनकी अध्यात्मशास्त्रके श्रवण आदिमें

नाऽपि स्वरूपवाक्यानि विधातुं बोधमीशते ।
विधिप्रयोजनस्याऽत्र दुर्निरूपत्वहेतुतः ॥ १७५ ॥
किं विधिर्वस्तुसिद्ध्यर्थः किं वा विज्ञानसिद्धये ।
यद्वा निश्चयसिद्ध्यर्थं विवक्षासिद्धयेऽथवा ॥ १७६ ॥
पुमर्थसिद्धये वोत निरपेक्षत्वसिद्धये ।
पदानामन्वयार्थं वा सर्वथाऽपि न युज्यते ॥ १७७ ॥

प्रवृत्ति होनेके लिए कर्त्तव्यबोधन द्वारा कहा गया है कि 'आत्मा द्रष्टव्यः' अर्थात् कर्मकाण्डमें ही निखिल पुरुषार्थ नहीं है, किन्तु वह पुरुषार्थका आभास है। परम पुरुषार्थ तो अध्यात्मशास्त्रके श्रवण आदिमें ही है, इसलिए वास्तविक और नित्य सुख यदि चाहते हो, तो आत्माका श्रवण मनन आदि करो। जिस तरह एक ओर से जलप्रवाहका निरोध दूसरी ओर प्रवाहको मार्ग देकर ही होता है, सर्वथा निरोध असम्भव है, उसी तरह चित्तप्रवाहका सांसारिक विषयोंसे निरोध करनेके लिए आत्मा 'द्रष्टव्यः' इत्यादि वाक्यसे चित्तप्रवाहका मार्ग बतलाया गया है, अथवा 'अर्हे कृत्यतृचश्च' इस भगवान् पाणिनि द्वारा प्रणीत सूत्रसे अर्ह अर्थमें 'तव्य' प्रत्यय है, अर्थात् आत्मा दर्शनयोग्य है, यह 'आत्मा द्रष्टव्यः' इस श्रुतिका अर्थ है। इस पक्षमें विधिकी सम्भावना ही नहीं हो सकती, अतएव 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' 'सुरा न पातव्या' इत्यादि वाक्य भी उपपन्न होते हैं, अन्यथा हननाभाव और पानाभाव अभाव पदार्थ होनेसे, कृतिसे, साध्य नहीं हो सकते, किन्तु हनन और पानमें प्रवृत्ति न करनेपर हनन और पानका अभाव स्वतःसिद्ध हो जाता है। कृतिसे असाध्य होनेपर भी हनन और पानका अभाव योग्य है, इस अर्थसे 'तव्यत्' की उपपत्ति होती है ॥१७४॥

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि ब्रह्मस्वरूपबोधक वाक्य नित्य—सिद्ध—आत्माके यदि विधायक नहीं हो सकते, तो तद्विषयक शाब्दज्ञानके ही विधायक हों, शाब्दज्ञान अनित्य होनेसे विधिके योग्य हो सकता है ? इस शङ्काकी निवृत्ति करते हैं—'नापि' इत्यादिसे।

उक्त वाक्य शाब्दबोधके विधायक हो सकते, यदि विधिकी सम्भावना होती, परन्तु प्रयोजनके विना विधि नहीं मानी जाती। यहां विचार करनेपर भी विधिका कुछ प्रयोजन नहीं दीख पड़ता, इसलिए शाब्दबोधके विधायक उक्त वाक्य नहीं हैं ॥ १७५ ॥

विधिका सर्वथा निरूपण नहीं हो सकता, इस विषयको अतिस्फुट करनेके लिए विकल्प करते हैं—'किं विधि०' इत्यादिसे।

क्या वस्तुकी सिद्धिके लिए या विज्ञानकी सिद्धिके लिए अथवा निश्चयकी

न तावद्वस्तुसिद्ध्यर्थं क्रियते व्यापृतिर्विधेः ।
सर्वमात्मेत्येव वाक्यादक्षवद्वस्तुसाधनात् ॥ १७८ ॥
आत्मा ब्रह्मेति विज्ञानं विधिं नैव व्यपेक्षते ।
यस्मात्तच्छ्रुतवाक्यस्य स्वयमेवोपजायते ॥ १७९ ॥

सिद्धिके लिए या विवक्षाकी सिद्धिके लिए अथवा पुरुषार्थकी सिद्धिके लिए या निरपेक्षत्वकी सिद्धिके लिए या पदोंके परस्पर अन्वयकी सिद्धिके लिए विधिकी आवश्यकता है ? सर्वथा—किसी प्रकारसे भी—विधिकी सम्भावना नहीं हो सकती ॥१७६,१७७॥

प्रथम विकल्पका निराकरण करते हैं—'न तावद्वस्तु०' इत्यादिसे ।

व्याकरण आदिका अध्ययन करनेसे जिसको भली-भाँति पद-पदार्थका परिज्ञान हो गया है, ऐसे व्युत्पन्न पुरुषको 'सर्वमात्मा' इत्यादि वाक्यसे जब तदर्थविषयक शाब्दबोध हो ही जाता है, तब उसमें विधि माननेकी क्या आवश्यकता है ? जैसे प्रत्यक्षादि प्रमाण विधिनिरपेक्ष सिद्ध घट आदिमें प्रमाण होते हैं, वैसे ही शब्द भी स्वार्थविषयक शाब्दबोधका जनक होता एवं अपने विषयमें प्रमाण भी होता है, अतएव 'देवदत्त ! पुत्रस्ते जातः' इत्यादि वाक्यसे भी शाब्दबोध होता है । अन्यथा विधिके अभावसे उक्त वाक्य बोधजनक नहीं होगा । और इष्टापत्ति तो कर नहीं सकते, क्योंकि शब्दश्रवणके बाद श्रोताके मुखप्रसादसे शाब्दबोधका होना निर्विवाद है, अतएव प्रियशब्दके श्रवणसे पारितोषिक भी देता है । लोकमें भी विधिके बिना 'विचित्र विन्ध्याटवी' आदिके वर्णनसे शाब्दबोध होता ही है, इसलिए स्वरूपबोधक वाक्यको स्वार्थबोधनके लिए, प्रत्यक्षके समान, विधिव्यापारकी अपेक्षा नहीं है ॥ १७८ ॥

विधिशून्यवाक्यसे वस्तुस्वरूपकी सिद्धि प्रत्यक्षादिके समान होती है, यह ठीक है, फिर भी 'ब्रह्म आत्मासे अभिन्न है' इस प्रकारके विज्ञानके लिए विधिकी आवश्यकता है, इस द्वितीय विकल्पके निराकरणके लिए कहते हैं—'आत्मा' इत्यादि ।

'आत्मा ब्रह्म' इस वाक्यका श्रवण करनेवाले व्युत्पन्न पुरुषको उक्त वाक्यसे आत्मा ब्रह्म-स्वरूप है, यह बोध हो ही जाता है, उसके लिए विधिकी अपेक्षा नहीं है । विधिशून्यवाक्यसे अर्थका बोध होता है, यह सिद्ध कर चुके हैं, अतः प्रकृत वाक्य भी विधिरहित स्वार्थबोधक होता है, इसमें विशेष कहनेकी आवश्यकता ही नहीं है ॥ १७९ ॥

यजेतेति विधिज्ञानं वाक्यात् स्यान्न विधेर्बलात् ।
विधिज्ञाने विधेः क्लृप्तावनवस्था प्रसज्यते ॥ १८० ॥
अथैतद्विधिविज्ञानं वेदाधीतिविधेर्बलात् ।
तर्ह्यात्मबोधस्तेनैव विहितो नाऽत्र तद्विधिः ॥ १८१ ॥

व्युत्पन्न पुरुषको विधिनिरपेक्ष वाक्यसे शाब्दबोध होता है, इसमें दृष्टान्त कहते हैं—'यजेत' इत्यादि ।

'स्वर्गकामो यजेत' इस वाक्यसे, याग स्वर्गकामी पुरुषकी कृतिसे साध्य है, क्या यह बोध होता है ? हाँ, होता है, पर विधिसापेक्ष ही वाक्य इस अर्थका बोधक है, निरपेक्ष नहीं । अच्छा तो यह कहिये कि एतद्वाक्यार्थज्ञान एतद्वाक्यघटकविधिकी अपेक्षा करता है अथवा विध्यन्तरकी किं वा 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस स्वाध्यायाध्ययनके विधायक वाक्यघटक विधिकी अपेक्षा करता है ? प्रथम पक्षका निराकरण करते हैं—'न विधेर्बलात्' इत्यादि । अर्थात् वाक्य वाक्यान्तरके समान स्वतः अर्थज्ञानका उत्पादक है, विधिबलसे नहीं । 'याग इष्टसाधनम्' इस वाक्यमें विधि नहीं है, लेकिन इससे अर्थका बोध होता है; अतः विधिनिरपेक्ष उक्त वाक्य भी स्वार्थका बोधक है । द्वितीय विकल्पका निरास करते हैं—'विधिज्ञाने' इत्यादिसे । अर्थात् विधिज्ञानमें यदि विध्यन्तरकी अपेक्षा कहिये, तो अनवस्था दोष होगा । 'यजेत' यह विधिघटित वाक्य है; इसको स्वार्थबोधनके लिए विधिघटित वाक्यान्तरकी अपेक्षा हो, तो वह भी स्वार्थबोधनके लिए विध्यन्तरकी अपेक्षा करेगा, उसके लिए जो विध्यन्तरघटितवाक्य अपेक्षित होगा, सो भी स्वार्थबोधनके लिए विध्यन्तरकी अपेक्षा करेगा, इस प्रकारकी अनवस्था होनेसे, अन्ततः किसी वाक्यको विधिनिरपेक्ष ही शाब्दबोधजनक मानना होगा या कोई भी वाक्य बोधजनक ही नहीं होगा, इन दोनोंमें अनिष्ट है । सुषुप्ति तथा विषयान्तरके संचारके लिए विध्यन्तरकी अपेक्षाका कहीं त्याग करना आवश्यक है, तो दौड़ कर त्याग करनेकी अपेक्षासे पूर्व ही त्याग करना श्रेयस्कर है, अतः विधिनिरपेक्ष वाक्य स्वार्थबोधक होता है, ऐसा अङ्गीकार करना ही उचित मार्ग है ॥ १८० ॥

निराकरणके लिए तृतीय विकल्प कहते हैं—'अथैत०' इत्यादि ।

यदि 'यजेत' इत्यादि वाक्य स्वार्थके बोधनके लिए 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस स्वाध्यायाध्ययनविधायक वाक्यगत विधिकी अपेक्षा

स्वपरोभयनिर्वाहसामर्थ्याङ्गीकृतेरिह ।
वेदाधीतिविधेरर्थज्ञाने विध्यन्तरं नहि ॥ १८२ ॥
वस्तुतस्त्वर्थबोधो न कश्चिद्विधिमपेक्षते ।
मानस्य मेयबोधित्वस्वाभाव्यादक्षलिङ्गवत् ॥ १८३ ॥

करता है, तो वेदान्त भी उसी विधिसे स्वार्थका बोधक हो सकता है, इस लिए वेदान्तमें अतिरिक्त विधिकी क्या जरूरत है? वैदिक वाक्यमात्रसे जन्य बोधके लिए उक्त वाक्यघटक विधिप्रत्यय उपयोगी है, अतः कर्मकाण्डस्थ वैदिक वाक्यके समान वेदान्तवाक्य भी उसी विधिके प्रभावसे स्वार्थका बोधक होगा, अतः वेदान्तमें विधिका स्वीकार करना व्यर्थ है ॥ १८१ ॥

पूर्वोक्त अवस्थामें परिहारके लिए कहते हैं—'स्वपरो०' इत्यादि ।

'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' यह अध्ययनविधि जैसे अपने और दूसरेके अध्ययनकी विधायक है, वैसे ही वाक्य स्वकीय वाक्यार्थबोध तथा अन्यदीय वाक्यार्थबोध दोनोंमें उपयोगी है । अन्यथा इस वाक्यके अर्थबोधमें विध्यन्तरकी अपेक्षा होनेसे उक्त रीतिसे अनवस्था हो जायगी, इसलिए उक्त विधिको स्वपरोभयनिर्वाहक मानते हैं। स्वपरोभयनिर्वाहकत्व इसमें क्लृप्त है, अन्यथा 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस वाक्यसे सकल वेदराशिका अध्ययन विहित होनेसे सकल वेदराशिमें 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' यह वाक्य भी है, ऐसी अवस्थामें इसके अध्ययनका विधायक कौन होगा? यदि विधान न होनेपर इसका अध्ययन किया जाता है, तो वेदका भी अध्ययन हो ही जायगा, फिर वेदाध्ययनके विधानकी आवश्यकता ही क्या है? यदि संस्कार अथवा अवश्यकर्तव्यता आदिके बोधनके लिए वेदाध्ययनविधि आवश्यक है, तो इसका भी अध्ययनविधान आवश्यक ही है । और 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस वाक्यसे यत्किञ्चित् वेदाध्ययनका विधान इष्ट नहीं है, किन्तु सम्पूर्ण वेदके अध्ययनका विधान इष्ट है, सम्पूर्ण वेदमें उक्त वाक्य भी आता है; अतः उसके भी अध्ययनका विधान आवश्यक है, परन्तु उसके अध्ययनका विधायक अन्य वाक्य है नहीं, और हो भी नहीं सकता । अनवस्था दोष भी कह चुके हैं । इसलिए स्वपराध्ययननिर्वाहकत्व माननेसे ही निस्तार है, दूसरा उपाय नहीं है । उसी तरह स्वपरबोधनिर्वाहकत्व भी मानते हैं, यह विधिसापेक्ष ही वाक्य वाक्यार्थका बोधक होता है; यह पूर्वपक्षवादियोंका अभिप्राय है ॥ १८२ ॥

वस्तुतः यह वेदान्तियोंको स्वीकार नहीं है, इसलिए इसका त्याग करते हैं—'वस्तुतस्त्व०' इत्यादिसे ।

अथ निश्चयसिद्ध्यर्थं विधिरित्येतदप्यसत् ।
स निश्चयो वः किं शब्दादुतान्यस्मादितीर्यताम् ॥ १८४ ॥
शब्दाच्चेन्निश्चयो जातो विधिस्तत्र निरर्थकः ।
अन्यस्मान्निश्चयः स्याच्चेत् सापेक्षत्वं प्रसज्यते ॥ १८५ ॥

वस्तुतस्तुसे सिद्धान्त कहते हैं—वाक्य स्वार्थबोधनके लिए किसी प्रकारकी विधिकी अपेक्षा नहीं करता। वाक्यको भी प्रत्यक्ष और अनुमानकी तरह प्रमाण मानते हैं। प्रमाणका स्वभाव ही ऐसा है कि स्वार्थके बोधनके लिए विधिकी अपेक्षा नहीं करता। उदाहरणके लिए कहते हैं—जैसे प्रत्यक्ष या अनुमान ये दोनों प्रमाण स्वार्थके प्रकाशनके लिए विधिकी अपेक्षा नहीं करते, वैसे ही वाक्य भी प्रमाण हैं, अतः स्वार्थबोधनके लिए वह भी विधिकी अपेक्षा नहीं करता, यही मानना युक्तियुक्त है, अन्यथा उक्त रीतिसे अनवस्था दोष दुष्परिहार हो जायगा। उक्त स्वपरनिर्वाहकत्व मानना भी असङ्गत है, क्योंकि अन्य उपाय न होनेसे अध्ययनविधिमें स्वपराध्ययननिर्वाहकत्व मानते हैं, किन्तु अर्थबोधमें प्रकृतवाक्यस्थ विधिको स्वपरबोधोपयोगित्व नहीं मान सकते, अन्यथा कर्मकाण्डस्थ विधि व्यर्थ हो जायगी ॥ १८३ ॥

'आत्मा ब्रह्म' इस वाक्यसे 'आत्मासे अभिन्न ब्रह्म है' यह ज्ञान तो हो जायगा, किन्तु वह ज्ञान निश्चयरूप नहीं होगा, अतः उसके निश्चयके लिए विधि मानते हैं, इस तृतीय विकल्पका निराकरण करते हैं—'अथ' इत्यादिसे।

'आत्मासे अभिन्न ब्रह्म है' इस निश्चयके लिए विधि माननी चाहिए, यह कहना भी असङ्गत है, क्योंकि यह—आत्मासे अभिन्न ब्रह्मका निश्चय—आपको उक्त शब्दसे होता है या प्रमाणान्तरसे ? यह कहिये ॥ १८४ ॥

'शब्दाच्चे०' इत्यादि। शब्दसे यदि उक्त निश्चय मानते हो, तो 'आत्मा ब्रह्म' इस शब्दसे आत्मा और ब्रह्म अभिन्न—एक ही—हैं, यह यदि निश्चय हो ही जाता है, तो फिर विधिका क्या प्रयोजन ? शाब्दज्ञान होनेपर भी निश्चय तो अन्य प्रमाणसे होता है, यदि ऐसा कहते हो, तो सापेक्षत्वलक्षण अप्रामाण्य वेदवाक्यमें आ जायगा, जो आपको भी अभीष्ट नहीं है, क्योंकि अपौरुषेय वेदमें निरपेक्षत्वलक्षण स्वतःप्रामाण्य आप मानते हैं, लौकिक वाक्यमें प्रामाण्यके निर्णयके लिए अन्य संवादी प्रमाणकी अपेक्षा होती है।

अथाऽर्थस्य विवक्षार्थंविधिरित्यप्यसङ्गतम् ।
स्वतो विवक्षितार्थाः स्युः शब्दा असति बाधके ॥ १८६ ॥

यद्यपि शब्दमें शाक्षात् कोई दोष नहीं है, फिर भी वह पुरुषके दोषसे दुष्ट हो जाता है । पुरुषमें भ्रम, प्रमाद आदि दोष प्रायः रहते हैं, इसलिए प्रमाणान्तरके संवादसे वक्ता पुरुषमें दोषाभावका निश्चय होता है, उसके बाद तदुक्त शब्द प्रामाणिक माना जाता है । वेदमें यह शङ्का नहीं होती, कारण कि वेद पुरुषप्रणीत नहीं है, अतः पुरुषदोषकी उसमें सम्भावना ही नहीं है । स्वतः दोष तो शब्दमें रहता ही नहीं, अतः वैदिक शब्दोंसे जो बोध होता है, सो प्रमास्वरूप होनेसे निश्चयात्मक ही होता है । यदि उसमें संशय होनेकी सामग्री ही नहीं है, तो फिर संवादार्थ प्रमाणान्तरकी क्या आवश्यकता है ? यदि विधिप्रेमवश प्रमाणान्तरकी अपेक्षा मानो तो सापेक्षत्वलक्षण अप्रामाण्य वेदवाक्यमें हो जायगा, यह अपसिद्धान्त आपको होगा और लौकिक शब्दकी अपेक्षा वैदिक शब्दमें विद्यमान विशेषता भी नष्ट हो जायगी । और वेद अपौरुषेय है, यह मानना भी निरर्थक हो जायगा ॥१८५॥

'अयमात्मा ब्रह्म' इत्यादिवाक्यजन्य ज्ञानमें विधि इसलिए मानते हैं कि 'आत्मा ब्रह्मसे अभिन्न है' इस अर्थमें उक्त वाक्यका तात्पर्य सिद्ध हो, इस चतुर्थ विकल्पका निराकरण करते हैं—'अथाऽर्थस्य' इत्यादिसे ।

भाव यह है कि उक्त वाक्यका उक्तार्थमें तात्पर्य है, इसलिए वाक्यार्थ ज्ञानमें विधि मानते हैं, यह आपका वक्तव्य है,—इसका तात्पर्य यह होगा कि 'ज्ञातव्योऽयमर्थः' इस अर्थको अवश्य जानना चाहिए, ऐसा कहनेसे उक्त वाक्यका उक्तार्थमें तात्पर्य निश्चय होता है अर्थात् अर्थान्तरके तात्पर्यसे यह वाक्य नहीं कहा गया है, अतएव इस अर्थमें अविवक्षाका निरास भी सिद्ध होता है । यदि अर्थान्तरमें विवक्षा होती, तो प्रकृत अर्थमें अविवक्षा हो सकती, किन्तु ऐसा है नहीं, अतः प्रकृत ही अर्थमें वाक्यका तात्पर्य है, यह निश्चय होनेके लिए वाक्यार्थज्ञानमें विधि मानते हैं । जहां वाक्यार्थज्ञानमें विधि रहती है, वहां वाक्यार्थमें तात्पर्यका निर्णय होता है । जहां विधि नहीं है, वहां अन्यत्र तात्पर्य रहता है । जैसे 'विषं भुङ्क्ष्व' इत्यादि । इसका खण्डन करते हैं—विधि माननेसे ही शब्द अर्थपरक होता है, अन्यथा नहीं, यह नियम नहीं है । पदका तथा वाक्यका स्वभावतः स्वार्थमें तात्पर्य होता

विध्यर्थस्य विवक्षार्थमन्यथाऽन्यो विधिर्भवेत् ।
विवक्षा लौकिकेऽप्यर्थे दृश्यते हि विधिं विना ॥ १८७ ॥

है, इसके लिए विधिकी आवश्यकता है नहीं । जहां स्वार्थमें वाध प्रतीत होता है, वहां अन्यार्थमें तात्पर्य मानते हैं, जैसे 'विषं भुङ्क्ष्व' इत्यादि अभियुक्तवाक्य । कोई भी आप्त पुरुष अपने प्रियके प्रति विष खानेको नहीं कहेगा, इसलिए इस वाक्यका स्वार्थमें तात्पर्य नहीं है, किन्तु 'शत्रुके घरमें भोजन न करना' इस अर्थमें उसके तात्पर्यका निश्चय होता है । जहां स्वार्थपरत्वमें कोई वाधक नहीं है, वहां स्वतः स्वार्थमें तात्पर्यनिश्चय हो जाता है, इसलिए वाक्यार्थज्ञानमें विधि मानना निष्फल है ॥१८६॥

'विध्यर्थस्य' इत्यादि । विधिव्यापारके विना शब्दमें स्वार्थपरत्वका निर्णय नहीं होता, यदि यह मानिये, तो 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि विधिवाक्यमें भी स्वार्थपरत्वके अवधारणके लिए अन्य विधिकी अपेक्षा होगी, फिर उस वाक्यको भी स्वार्थपरत्वनियमके लिए अन्य विधिकी अपेक्षा होगी, इस प्रकार पूर्वोक्त अनवस्थादोष ज्यों-का-त्यों वना रहेगा । इस वाक्यमें विधि है, किन्तु भावार्थक यागकी विधि है, स्ववाक्यार्थके ज्ञानकी विधि नहीं है ।

आपका कहना तो यह है कि जहां वाक्यार्थज्ञानमें विधि नहीं है, वहाँ वाक्यका स्वार्थमें तात्पर्यनिश्चय ही नहीं होता । जवतक कर्मविधिवाक्यका स्वार्थमें तात्पर्यका निश्चय नहीं होगा तबतक उक्त वाक्यमें कर्मविधि भी नहीं हो सकेगी, और विधिके विना भी लौकिक वाक्यमें स्वार्थपरत्व देखते हैं । विन्ध्य, सुमेरु, स्वर्गलोक, पाताल-लोक आदिका वर्णन पुराण और इतिहास आदिमें प्रसिद्ध है, तथा कैसे वृक्ष हैं ? फलवान् हैं, इस प्रश्न और उत्तर वाक्यमें विधि नहीं है, फिर भी स्वार्थपरक है, अन्यथा प्रश्नोत्तरभाव ही उक्त वाक्यमें वाधित हो जायगा, इत्यादि पूर्वमें कह चुके हैं, इसलिए यहाँपर फिर उसे दुहरानेकी विशेष आवश्यकता प्रतीत नहीं होती ।

सारांश यह है कि 'ये लौकिकास्त एव वैदिकाः' इस न्यायसे तथा 'लोकाव-गतसामर्थ्यश्शब्दो वेदेऽपि वोधकः' इस अभियुक्तोक्तिसे यह ज्ञात होता है कि जो प्रकार लौकिक शब्दोंमें है, वही प्रकार वैदिक शब्दोंमें भी है, अन्य नहीं । लोकमें विधिके विना यदि शाब्दवोध सर्वानुभवसिद्ध है, तो वेदमें भी शाब्दवोधकी विधि माननेकी आवश्यकता नहीं है । लोकमें वाधक न होनेपर शब्दका स्वार्थमें

मतं पुमर्थसिद्ध्यर्थं ज्ञानस्य विधिरिष्यते ।
फलस्य विध्यधीनत्वादुपेक्षाफलताऽन्यथा ॥ १८८ ॥
ज्ञेयव्यक्त्यतिरेकेण न विज्ञानात् फलान्तरम् ।
इष्यते, कर्मवन्नातस्तदर्थं विधिकल्पना ॥ १८९ ॥

तात्पर्यज्ञान जैसे होता है, वैसे ही वेदमें भी वाक्योंका स्वार्थमें तात्पर्य-निश्चय हो ही जायगा, इसलिए विधिकी अपेक्षा नहीं है ॥ १८७ ॥

पञ्चम विकल्पके निरासके लिए कहते हैं—'मतम्' इत्यादि ।

जैसे 'यजेत स्वर्गकामः' इत्यादि कर्मकाण्डस्थ वेदवाक्योंसे विहित यागादिका स्वर्गादि फल विधिके अधीन होता है, वैसे ही वेदान्तप्रतिपाद्य ब्रह्मज्ञानका भी फल विध्यधीन होना चाहिए। अन्यथा ब्रह्मज्ञानका मोक्ष फल पुरुषार्थ नहीं हो सकेगा। विध्यधीन ही फल पुरुषार्थ होता है। विधि न माननेपर ब्रह्मज्ञान अविवक्षितफलक हो जायगा और मोक्ष ही ब्रह्मज्ञानका फल है, इसमें वेदान्तका तात्पर्य्य निर्णीत नहीं होगा, ऐसा होनेपर मुमुक्षुको अवश्य ब्रह्म ज्ञेय है, यह नियम नहीं वन सकेगा और इसकी आवश्यकता इसलिए है कि मोक्षका उपाय ब्रह्मज्ञान ही है, दूसरा नहीं। अतः मोक्षके लिए ब्रह्मकी ही उपासना करनी चाहिए ॥ १८८ ॥

यदि फलमें उपेक्षा होगी, तो मोक्षकी कामनासे अन्य उपायमें भी प्रवृत्ति हो सकती है और ब्रह्मज्ञानका अन्य फल कहना होगा—ये दोनों अभीष्ट नहीं हैं, अतः वेदान्तमें विधि आवश्यक है, इस आक्षेपका निराकरण करते हैं—'ज्ञेयव्यक्त्यति०' इत्यादि से ।

ज्ञेय ब्रह्मकी अभिव्यक्तिसे अतिरिक्त—भिन्न—मोक्ष नहीं है अर्थात् वेदान्त-वाक्यका अखण्ड ब्रह्मविषयक साक्षात्कारात्मक ज्ञानसे अतिरिक्त मोक्ष फल नहीं है, मोक्ष ब्रह्मस्वरूप ही है। केवल कर्मज्ञानसे स्वर्ग नहीं होता, किन्तु ज्ञानोत्तर कर्मोंके अनुष्ठानसे स्वर्ग होता है, इससे स्वर्गके लिए कर्मज्ञानातिरिक्त तत्साध्यांशमें विधि मानी जाती है। वेदान्तका स्ववेद्य ब्रह्मज्ञानसे अतिरिक्त फल ही नहीं है, अतः दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिकमें वैषम्य है, इसलिए जैसे स्वर्ग फलके लिए यागमें विधिकी अपेक्षा है, वैसे मोक्षके लिए ब्रह्मज्ञानमें विधिकी अपेक्षा नहीं है। स्वर्ग विधिके अधीन है और विहितकर्मानुष्ठानसे जन्य है। मोक्ष वेदान्तवाक्यार्थ-ज्ञान-स्वरूप है, तदतिरिक्त नहीं है, अतः वेदान्तज्ञानमें विधि नहीं हो सकती ॥ १८९ ॥

कर्मणो बोधमात्रेण न स्वर्गः प्राप्यते पितुः।
अनुष्ठानाद् अतस्तत्राऽनुष्ठानाय विधिर्मतः॥ १९०॥
तत्त्वावबोधमात्रेण मुक्तिः सिद्धा न तत्र तु।
अनुष्ठानं किमप्यस्ति किमर्था विधिकल्पना॥ १९१॥
ज्ञेयाभिव्यक्तिरेवाऽत्र फलं सा च प्रमाणजा।
न वैधीति पुमर्थोऽत्र सिद्ध्यत्येव विधिं विना॥ १९२॥
अथ मान्तरसापेक्षा सिद्धवाक्यस्य मानता।
निरपेक्षं विधेर्मात्वं तदर्थो विधिरित्यसत्॥ १९३॥

'कर्मणो' इत्यादि। दृष्टान्तमें वैषम्य स्फुट करते हैं—पित्र्येष्टिके ज्ञानमात्रसे पिताको स्वर्ग नहीं होता, किन्तु ज्ञानके अनन्तर उस कर्मके अनुष्ठानसे होता है। इसलिए कर्मविधि आवश्यक है, पर वेदान्तमें ऐसा है नहीं॥ १९०॥

'तत्त्वावबोधमात्रेण' इत्यादि। आत्मतत्त्वके अवबोधमात्रसे—यथार्थ आत्मसाक्षात्कारमात्रसे—आत्मस्वरूपा मुक्ति सिद्ध है। जब मुक्तिके लिए वेदान्तमें कोई अनुष्ठान नहीं है, तब फिर विधि किसके लिए मानी जाय? तत्त्वज्ञान केवल अज्ञानकी निवृत्तिके लिए अपेक्षित है। अज्ञानकी निवृत्ति होनेपर मुक्ति आत्म-स्वरूप होनेसे सिद्ध ही है, साध्य नहीं है। अज्ञात फल पुरुषार्थ नहीं होता, अतः उसे ज्ञानमात्रकी अपेक्षा है। ज्ञान विधिके बिना भी वाक्य द्वारा होता है, इसका उपपादन कर ही चुके हैं; अतः वेदान्तमें विधि नहीं है॥१९१॥

ज्ञेयाभिव्यक्तिरेवाऽत्र' इत्यादि। ज्ञेयाभिव्यक्ति—आत्मैकत्वाभिव्यक्ति—अर्थात् निर्विकल्पक आत्मसाक्षात्कार ही मोक्षाख्य फल है। यद्यपि उक्त ज्ञेयाभि-व्यक्ति वेदान्तप्रमाणसे उत्पन्न होती है, विधिसे नहीं, तो भी—वह पुरुषार्थ है, अतएव विधिके बिना भी पुरुषार्थ सिद्ध होता है॥१९२॥

वेदान्तमें प्रमाणान्तरनिरपेक्षत्वकी सिद्धिके लिए विधिकी आवश्यकता है, इस षष्ठ विकल्पका उपन्यास करते हैं—'अथ मान्तर०' इत्यादिसे।

सिद्धार्थक वाक्योंमें प्रमाणत्व प्रमाणान्तरसापेक्ष होता है और विधिमें प्रामाण्य निरपेक्ष होता है। वेदान्तमें प्रामाण्य निरपेक्ष सिद्ध हो, इसलिए विधि आव-श्यक है। भाव यह है कि वाक्य दो प्रकारके होते हैं—एक सिद्धार्थक और दूसरे साध्यार्थक। प्रमाणान्तरसे प्रमित अर्थके प्रत्यायक वाक्य सिद्धार्थक कहलाते हैं,

वस्तु मान्तरयोग्यं चेद्विधौ सत्यपि तत्तथा ।
हरीतकीं भक्षयेति विधिर्मूलमपेक्षते ॥ १९४ ॥

जैसे 'नीलो घटः' । प्रमाणान्तरसे अप्रमित अर्थके प्रत्यायक वाक्य साध्यार्थक कहलाते हैं, जैसे 'ओदनं पच' । प्रामाण्य भी मतभेदसे दो प्रकारका होता है—यथार्थ-ज्ञानजनकत्व और अज्ञातार्थज्ञापकत्वे सति यथार्थज्ञानजनकत्व । प्रथम कल्पमें उक्त प्रामाण्य सिद्धार्थक और साध्यार्थक दोनों वाक्योंमें साधारण है । द्वितीय कल्पमें उक्त प्रामाण्य साध्यार्थकमें ही होता है, सिद्धार्थकमें नहीं; कारण कि सिद्धार्थक दो प्रकारके होते हैं—एक प्रमाणान्तरसे प्रमित अर्थके प्रत्यायक और दूसरे अप्रमित अर्थके प्रत्यायक, जैसे 'नद्यास्तीरे पञ्च फलानि सन्ति' यह वाक्य यथार्थ-ज्ञानका जनक और अयथार्थज्ञानका भी जनक है । यदि आँखसे पाँच फल देख-कर उक्त वाक्यका प्रयोग किया जाय, तो यथार्थज्ञानका जनक होगा । और यदि विना देखे अर्थात् दूसरोंकी वंचनाके लिए कहा जाय, तो वह अयथार्थज्ञानका जनक होगा । अन्तिम पक्षमें तो उक्त प्रमाणत्व है ही नहीं । प्रथम पक्षमें उक्त प्रामाण्य है । किन्तु फिर भी कुछ विद्वानोंका मत है कि उक्त स्थलमें 'पांच फल हैं' इसमें प्रत्यक्ष ही मूलभूत प्रमाण है, शव्द नहीं । जैसे अनुभूत अर्थका स्मरण होता है, परन्तु प्रमाण उस अर्थमें अनुभव ही होता है, स्मरण नहीं; कारण कि अनुभव अज्ञातका ज्ञापक है और स्मरण ज्ञातका ज्ञापक है, वैसे वैदिक वाक्य भी, जो सिद्धार्थक हैं, अनुवादक ही हो सकते हैं । सिद्ध अर्थ प्रमाणान्तरके योग्य हैं । और जो साध्यार्थक हैं, वे ही प्रमाणान्तरसे अज्ञात अर्थके बोधक होनेसे प्रमाण होते हैं । विधि साध्यमें होती है, सिद्धमें नहीं होती; इसलिए सर्वथा प्रमाण ही है । सिद्धार्थक वाक्य विधि द्वारा प्रमाण माने जाते हैं, स्वतः नहीं; अतः यदि सिद्धार्थक वेदमें प्रामाण्य मानना है, तो विधि अवश्य मानिये, अन्यथा प्रामाण्यका त्याग कीजिए । प्रमाणान्तरसे प्रमित अथवा तद्योग्यसे अतिरिक्त अर्थका वोधक वाक्य तो प्रमाण होता ही नहीं है । विप्रलिप्सुके वाक्यके समान विधिवाक्यको विध्यन्तरकी अपेक्षा नहीं है, तदन्य सिद्धार्थकको नियमेन विधिकी अपेक्षा है इसका खण्डन करते हैं—'असत्' इत्यादि ॥१९३॥

'वस्तु मान्तर' इत्यादि । वाक्यमें सापेक्षत्व और निरपेक्षत्व होनेका मूलकारण है—प्रतिपाद्य विषयमें प्रमाणान्तरका योग्यत्व और अयोग्यत्व । प्रतिपाद्य विपय यदि

प्रमाणान्तरके योग्य है, तो वाक्य सापेक्ष है। और यदि प्रमाणान्तरके अयोग्य है, तो वह निरपेक्ष है। निरपेक्षत्वमें विधि हेतु नहीं है। विधिके रहनेपर भी यदि वाच्यार्थ प्रमाणान्तरके योग्य है, तो सापेक्षत्व अवश्य है। उदाहरणके लिए कहते हैं—'हरीतकीं भक्षय' (हर्रें खाओ) इसमें 'भक्षय' पद विधि है, परन्तु यह आयुर्वेदप्रमाणका विषय है, इसलिए यह सापेक्ष है, निरपेक्ष नहीं है। यदि निरपेक्षत्व विधिप्रयुक्त होता, तो यहां भी निरपेक्षताका प्रसङ्ग हो जाता।

सारांश यह कि मानान्तरायोग्य आत्मैकत्वरूप अर्थमें विधिशून्य वेदान्त-वाक्य प्रमाण ही हैं, निरपेक्षत्व वाच्यार्थस्वभावकृत है। जो यह आक्षेप है कि सिद्धार्थक 'नीलो घटः' इत्यादि वाक्य अनुवादक होनेसे अप्रमाण होते हैं, इसमें प्रश्न यह है कि वाक्य सिद्धार्थक है, इसीसे अनुवादक हो जाता है अथवा प्रमाणा-न्तरसे ज्ञातार्थका बोधक है, इसलिए अनुवादक होता है? प्रथम पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि अर्थ विद्यमान है, पर प्रामाणान्तरसे वह ज्ञात नहीं है। इस परिस्थितिमें अद्वैतात्मबोधक वाक्य प्रमाण क्यों नहीं होगा? यदि 'सप्तद्वीपा वसुमती' इत्यादि वाक्यके समान निष्प्रयो-जन है, इसलिए प्रमाण नहीं है, यह कहें, तो यह भी ठीक नहीं है, कारण कि नित्य निरतिशय सुखस्वरूप असङ्ग आत्माके बोधक वेदान्तवाक्य निष्प्रयोजन नहीं हैं अपि तु परमप्रयोजनवान् हैं। 'विमतम् अनुवादकम्' सिद्धार्थवाक्यत्वात्, नदीतीरफलसत्ता-बोधकवाक्यवत्, इस अनुमानसे वेदान्तवाक्य अनुवादक हैं, यदि यह कहो, तो यह भी ठीक नहीं है, कारण कि उक्त अनुमानमें मानान्तरकी अपेक्षा स्वार्थबोधकत्व उपाधि है। पौरुषेयवाक्य मानान्तरापेक्षासे ही स्वार्थप्रमाके जनक होते हैं, अन्यथा नहीं। वेद अपौरुषेय है, इसलिए वैदिक अर्थ सिद्ध है, तो भी मानान्तरके योग्य नहीं है, अतः मानान्तरानपेक्षासे ही स्वार्थबोधक वैदिक वाक्य प्रमाण हैं। यदि उक्त उपाधिके निराकरणके लिए 'ब्रह्म मानान्तरगम्यम्, सिद्धत्वात्, घटवत्' ऐसा अनुमान करें, तो उक्त उपाधि नहीं हो सकती, क्योंकि उपाधि साध्यकी व्यापक और साधनकी अव्यापक होती है। पूर्वोक्त अनुमानमें साध्य है—अनुवादकत्व, इसका व्यापक मानान्तरापेक्षतया अर्थबोधकत्व उपाधि है और साधन है—सिद्धार्थकवाक्यत्व, इसकी उक्त उपाधि अव्यापक है, कारण कि वेदान्तवाक्यमें उक्त हेतु है, उपाधि नहीं है, इस अभिप्रायसे पूर्ववादीने कहा है—'ब्रह्म मानान्तरगम्यम्, सिद्धत्वात्, घटवत्' ऐसा अनुमान करनेपर उक्त उपाधिका खण्डन हो जाता है। यदि ब्रह्म मानान्तरसे

गम्य है यह अनुमानसे सिद्ध होता है, तो 'मानान्तरकी अपेक्षासे अर्थबोधकत्वरूप' उपाधि साधनव्यापक हो जाती है, साधनव्यापक होनेसे वह उपाधि नहीं हो सकती, इस अभिप्रायसे यह अनुमान किया गया है। अब प्रश्न यह होता है कि सिद्ध अर्थमें मानान्तरका प्रवेश आवश्यक क्यों है? आवश्यक इसलिए है कि घटादि पदार्थ जड़ हैं, उनका भान प्रमाणके विना नहीं हो सकता। ज्ञात अर्थके बोधके लिए ही शब्दका प्रयोग होता है, अतः शब्दके प्रयोगके लिए अर्थ जानना आवश्यक है। यदि प्रमाणाभाससे अर्थका ज्ञान होगा, तो उसमें शब्द प्रमाण ही नहीं हो सकेगा। यदि प्रमाणसे होगा, तो ज्ञातज्ञापक शब्द अनुवादक हो जायगा, यह लौकिक वाक्यमें कह सकते हैं। इसमें भी प्रमाणान्तरके प्रवेशका मूल जड़त्व है। आत्मा चेतन स्वयंप्रकाश है, इसलिए उसमें प्रमाणान्तरके प्रवेशके विना भी शब्दका प्रयोग हो सकता है। इस परिस्थितिमें ब्रह्ममें प्रमाणान्तरका प्रवेश मानते ही नहीं, अतः अज्ञातज्ञापक होनेसे सिद्धार्थक वेदवाक्य भी प्रमाण ही हैं, अनुवादक नहीं। अच्छा तो 'ब्रह्म प्रमाणान्तरसे गम्य है' ऐसा निश्चय न होनेसे निश्चितोपाधि भले ही न हो, किन्तु शङ्कितोपाधिके अनुमितिप्रतिबन्धक होनेसे हेतुमें दोष तो विद्यमान ही है, क्योंकि—

'यावच्चाव्यतिरेकित्वं शतांशेनापि शङ्क्यते।
विपक्षस्य कुतस्तावद् हेतोर्गमनिकाबलम्॥'

—यह कुसुमाञ्जलिमें उदयनाचार्यने कहा है। इसका यह उत्तर है कि शब्दकी स्वार्थमें प्रमाणान्तरके प्रवेशकी सम्भावनासे यदि प्रमाणता न हो, तो मानान्तरगम्य अर्थमें शब्दप्रमाणकी सम्भावनासे मानान्तररूपसे इष्ट ही में अनुवादकत्व क्यों नहीं मानते, शब्दकी अपेक्षासे मानान्तरको ही प्रमाण मानना उचित है, क्योंकि शङ्कितमानान्तर-की अपेक्षासे अशङ्कित शब्द प्रत्यक्ष होनेसे प्रबल है। और यह भी प्रश्न हो सकता है कि सिद्धार्थक वेदवाक्य स्वार्थमें प्रमाण हैं या नहीं? प्रथम पक्षमें सापेक्षत्वकी क्षति है, क्योंकि वह अपने अर्थमें निरपेक्ष ही प्रमाण हुआ, सापेक्ष नहीं। द्वितीय पक्षमें अज्ञातज्ञापक वेदवाक्य अपने अर्थमें अप्रमाण नहीं हो सकता, क्योंकि अपने अर्थमें तो वह प्रमाण ही है। सिद्धार्थक वाक्य अनुवादक होता है, इसका निराकरण हो चुका। अब मानान्तरसे प्रमित अर्थका बोधक वाक्य अनु-वादक होता है, इसका निराकरण करते हैं—ब्रह्ममें प्रमाणान्तरका सम्भव नहीं है, इसे अनेक बार कह चुके हैं और आगे भी कहेंगे। ब्रह्ममें कथञ्चित् प्रमाणान्तरका

आयुर्वेदवचो मूलं विधेर्विहितभक्षणे ।
तदपेक्ष्य भिषक्प्रोक्तविधिः प्रामाण्यमाव्रजेत् ॥ १९५ ॥

प्रवेश होनेपर भी वेदान्त अनुवादक नहीं हो सकते, क्योंकि प्रमाणोंका किसी-एक विषयमें सम्प्लव भी होता है, जैसे पर्वतमें अग्नि है, यह धूमादिके दर्शनसे अनुमान होता है और पर्वतपर जानेसे अग्निका प्रत्यक्ष भी होता है, लेकिन दोनोंमें कोई भी अनुवादक नहीं है, किन्तु अनुमाननिरपेक्ष प्रत्यक्षसे तथा प्रत्यक्षनिरपेक्ष अनुमानसे वह्निका परिच्छेद होता है, इसलिए वे दोनों स्वतन्त्र प्रमाण माने जाते हैं। यदि प्रत्यक्षकी सहायतासे अनुमान या अनुमानकी सहायतासे प्रत्यक्ष वह्निका परिच्छेदक होता, तो दोनोंमें अन्यतरको अनुवादक कह सकते, किन्तु ऐसा है नहीं, इसलिए दोनों ही प्रमाण हैं, वैसे ही वेदवाक्य स्वतन्त्र ब्रह्मके बोधक हैं, प्रमाणान्तरकी सहायतासे नहीं। यदि कोई मानान्तर भी हो, तो वह भी स्वतन्त्ररूपसे ब्रह्मका बोधक होगा, शब्दसापेक्ष नहीं, अतः वेदवाक्यमें अनुवादकत्वकी शङ्का अयुक्त ही है। और ब्रह्म सिद्ध है, अतः उसे यदि मानान्तरगम्य मानते हो, तो नियोगमें भी यह शङ्का हो सकती है। यदि कहो कि नियोग साध्यस्वभाव है, इसलिए सिद्धत्वहेतुक दोष उसमें नहीं है, तो प्रश्न यह होता है कि यागका अनुष्ठान करनेपर नियोग सिद्ध होता है या नहीं ? यदि सिद्ध होता है, तो मानान्तरकी प्रवृत्ति उसमें अनिवार्य है, क्योंकि सभी सिद्ध पदार्थ मानान्तर-योग्य हैं, यह आपका सिद्धान्त है। यदि सिद्ध नहीं होता है, तो याग ही व्यर्थ हो जायगा, क्योंकि स्वर्गादि फल भी नियोग द्वारा ही सिद्ध होता है। नियोगकी सिद्धि न होनेपर कालान्तर्भावी स्वर्गके अव्यवहित पूर्व क्षणमें विनश्वरक्रियाकलापात्मक याग है नहीं, अतः कारणाभावसे स्वर्गादि फल भी नहीं हो सकेगा, इसलिए यागसे नियोगकी सिद्धि अवश्य माननी पड़ेगी। नियोगके सिद्ध होनेपर वह मानान्तरसे गम्य हो जायगा, ऐसी दशामें उसका अपूर्वत्व ही व्याहत हो जायगा, क्योंकि मानान्तरके अयोग्यको अपूर्व कहते हैं, इत्यादि अनेक प्रकारके दोष हैं॥ १९४ ॥

प्रकृतमें प्रतिपाद्य विषयके मानान्तरके योग्य होनेपर भी विधिके अस्तित्वमें वह सापेक्ष होता है, यह कहते हैं—'आयुर्वेद०' इत्यादिसे।

हरीतकीभक्षणकी विधिका मूल है—'हरीतकीं भुङ्क्ष्व राजन् ! मातेव हितकारिणीम्' इत्यादि आयुर्वेदवाक्य। तादृश विधिकी अपेक्षासे वद्योक्त विधि प्रमाण हो जायगी। भाव यह है कि किसी रोगविशेषकी

वस्तु चेन्मान्तरायोग्यमविधौ च प्रमा वचः ।
सहस्राक्षो गोत्रभिचेत्ययं मन्त्रः स्वतः प्रमा ॥ १९६ ॥
अद्वैतं मान्तरायोग्यं वेदो दोषविवर्जितः ।
अतस्तद्बोधिवेदस्य निरपेक्षप्रमाणता ॥ १९७ ॥

निवृत्तिके लिए रोगीके प्रति वैद्यने कहा कि हरीतकीका भक्षण करो। कितनी हरीतकी ? कब ? कैसे ? कितने दिन ? इत्यादि पूछनेपर वैद्यजीने 'इस प्रकार खाओ' यह भक्षणकी विधि बतलाई। अब इसमें यह बतलाइए कि हरीतकीके भक्षणमें प्रमाण आयुर्वेदका वाक्य है या वैद्यका ? वास्तविक प्रमाण तो आयुर्वेदवाक्य है, परन्तु उसमें प्रामाण्य नहीं सिद्ध होगा, कारण कि विध्यन्तरके न होनेके कारण अनुवादक होनेसे वह अप्रमाण हो जायगा और वैद्योक्त भक्षणवाक्य आयुर्वेदस्थ हरीतकीभक्षणविधिके सापेक्ष होनेसे प्रामाणिक हो जायगा, जो किसीको स्वीकृत नहीं हो सकता ॥१९५॥

'वस्तु चेन्मान्तरा०' इत्यादि। यदि वाक्यसे प्रतिपाद्य विषय मानान्तरके अयोग्य है, तो विधि न रहनेपर भी वाक्य प्रमाण ही है। प्रमाणान्तर-सापेक्षत्वकी शङ्का न होनेसे प्रामाण्यका प्रयोजक निरपेक्षत्व सुतरां ज्ञात होता है। जैसे सहस्राक्ष तथा गोत्रभिद्—ये शब्द इन्द्रके बोधक हैं। इन्द्र देवताका किसीको प्रत्यक्ष नहीं है, अतएव उसका अनुमान भी नहीं हो सकता। मानान्तरके अयोग्य इन्द्रका प्रतिपादक यह मन्त्र विधिके विना भी प्रमाण ही है। सहस्राक्ष—हज़ार आँखवाला, गोत्रभिद्—पर्वतोंका भेदन करनेवाला, यह अर्थ सहस्राक्ष और गोत्रभिद् शब्दसे प्रतीत होता है। इन शब्दोंके वाच्य अर्थमें प्रमाणान्तरके प्रवेशकी सम्भावना ही नहीं है, क्योंकि नित्य निर्दुष्ट शब्दसे अयथार्थ ज्ञान नहीं होता और वह अबोधक भी नहीं है, क्योंकि व्युत्पन्नमात्रको उस शब्दके श्रवणके बाद उसके अर्थका बोध होता ही है, इसलिए अज्ञातार्थज्ञापक होनेसे उक्त मन्त्र प्रमाण ही है, विधि नहीं है ॥१९६॥

इसका निष्कर्ष कहते हैं—'अद्वैतं मान्तरायोग्यम्' इत्यादिसे। 'एकमेवाद्वितीयम्', 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि वेदान्तवाक्य दोषशून्य हैं और अद्वैत ब्रह्मके प्रतिपादक हैं। प्रतिपाद्य अद्वैत ब्रह्म मानान्तरके योग्य नहीं है, इस कारण तद्बोधक वेदमें निरपेक्ष प्रामाण्य है। यदि वेदवाक्य पौरुषेय होता, तो 'नद्यास्तीरे पञ्च फलानि

न चाऽन्वयो विध्यपेक्षः क्रियामात्रेण सिद्धितः ।
तत्त्वमस्यादिवाक्येषु साऽस्त्येवास्यादिका क्रिया ॥ १९८ ॥

सन्ति' इत्यादि वाक्योंकी तरह प्रकृत 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि वाक्योंमें दोषकी शङ्का होनेसे उसका प्रामाण्य भी सन्दिग्ध हो जाता, परन्तु अपौरुषेय वेदमें दोषकी सम्भावना ही नहीं है । और शब्दमें स्वतः दोष नहीं रहता, वक्ताके दोषके संक्रमसे शब्द दुष्ट होता है, यह पहले ही कह चुके हैं । जब वेदवाक्यका कोई प्रणेता नहीं है, तब कर्तृदोषकी उसमें सम्भावना ही कहाँसे हो सकती है ? अतः नित्य एवं निर्दोष वेदवाक्य विधिशून्य अद्वैत ब्रह्ममें प्रमाण है ॥१९७॥

पदोंका परस्पर अन्वय होनेके लिए विधिकी अपेक्षा है, इस सप्तम विकल्पमें दोष कहते हैं—'न चाऽन्वयो' इत्यादिसे ।

विधिके विना भी सामान्यतः क्रिया द्वारा पदार्थोंका परस्पर अन्वयबोध होता है । 'तत्त्वमसि' इस वाक्यमें तत्पदार्थ शुद्ध ब्रह्म और त्वंपदार्थ शोधित चैतन्यका 'असि'क्रिया द्वारा परस्पर अन्वयबोध होता है । पदार्थोंके अन्योन्य क्रियाकारकभावसे वाक्यार्थबोध होता है, इसलिए अन्वयबोधके लिए क्रियाकी अपेक्षा आवश्यक है, क्रियाविशेषकी विधिकी नहीं । यद्यपि क्रियाके विना भी 'नीलो घटः' 'अयमात्मा ब्रह्म' इत्यादि वाक्योंसे 'नीलसे अभिन्न घट है' 'आत्मासे अभिन्न ब्रह्म है' यह वाक्यार्थबोध होता है, इसलिए वाक्यार्थबोधमात्रमें क्रियाकी अपेक्षा नहीं रहती, तथापि 'तिङ्समानाधिकरणे प्रथमा' इस कात्यायनवचनके अनुसार 'अस्ति' आदिके विना प्रथमा विभक्ति ही असाधु होती है । इसलिए जहाँ 'अस्ति' आदि क्रियाका श्रवण नहीं है, वहाँपर भी उक्त क्रियाका अध्याहार करना चाहिए । अतः उक्त स्थलमें भी 'अस्ति'का अध्याहार कर 'नीलसे अभिन्न घट है' 'आत्मा ब्रह्मसे अभिन्न है, इत्यादि अन्वयबोध होता है । इस अभिप्रायसे कहा है—'क्रियामात्रेण' इत्यादि । अन्वयके लिए भी विधिकी आवश्यकता नहीं होती। तत्त्वमस्यादि वाक्यसे क्रियाकारकभाव द्वारा यदि अर्थका बोध होगा, तो अभीष्ट अखण्डार्थबोध उक्त वाक्यसे नहीं होगा, क्योंकि अखण्डार्थबोध ही तत्त्वज्ञान है, इसीसे सविलास अविद्याकी निवृत्ति होती है, यदि ऐसी शङ्का की जाय, तो वह ठीक नहीं है; क्योंकि यहाँपर क्रियापदवाच्य सत्ता अभेदान्वयके योग्य नहीं है, अतः सत्ताकी विवक्षा नहीं है, किन्तु 'तत्' और 'त्वम्' पदकी शुद्ध चैतन्यमात्रमें लक्षणा मानकर शुद्ध ब्रह्ममात्रका निर्विकल्पक बोध माना जाता है ॥ १९८ ॥

परामिमतसत्ताऽत्र नाऽसिशब्दार्थ इष्यते ।
सत्ताजातेर्जडत्वेन चिदात्मत्वविरोधतः ॥ १९९ ॥
नाऽभूतं भवनं चाऽर्थो नित्यत्वादात्मवस्तुनः ।
चिद्रूपमेव शून्येन वैलक्षण्यात् सदुच्यते ॥ २०० ॥

जैसे 'गगनमस्ति' 'आत्मा अस्ति' इत्यादि वाक्यमें 'अस्ति' साधुत्वार्थक है, सत्तार्थक नहीं है, वैसे ही 'असि' पद भी सत्तार्थक नहीं है, केवल साधुत्वार्थक है। इस तात्पर्यसे कहते हैं—'पराभिमतसत्ताऽत्र' इत्यादि।

पर अर्थात् द्वैतवादी नैयायिक आदि 'समानप्रसवात्मिका जातिः' इस न्याय-सूत्रके अनुसार सत्ता जाति मानते हैं। 'द्रव्यं सत्' 'गुणः सन्' इत्यादि द्रव्य, गुण आदि अनेक व्यक्तियोंमें 'सत्' इत्याकारकप्रतीति तथा 'सत्' इत्यादि समानशब्दप्रयोग अनेक व्यक्तियोंमें अनुगत एक धर्मके बिना नहीं हो सकता, अतः वे लोग सत्ता एकजाति मानते हैं। उनके मतमें—नित्यत्वे सति अनेकसमवेतत्व—यह जातिका लक्षण है अर्थात् जो नित्य हो तथा अनेकमें समवायसम्बन्धसे रहता हो, वह जाति है। द्वित्व आदि संख्या अथवा संयोग आदि अनेकमें समवेत हैं, अतः उनकी व्यावृत्तिके लिए 'नित्यत्व' विशेषण दिया है। आकाशके परिमाण आदिकी व्यावृत्तिके लिए 'अनेकसमवेतत्व' यह विशेषण दिया है। अभावत्व आदिकी व्यावृत्तिके लिए 'समवेतत्व' यह पद कहा है, इसमें इतने जातिके बाधक हैं—

'व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्वं सङ्करोऽथाऽनवस्थितिः ।
रूपहानिरसम्बन्धो जातिबाधक इष्यते ॥'

इनसे भिन्न उक्त लक्षणलक्षित जाति कहलाती है, सो सत्ता जाति 'अस्' धातुका प्रकृतमें अर्थ नहीं है। सत्ता जाति जड़ है, जड़का चेतन आत्माके साथ अभेदान्वय नहीं हो सकता, क्योंकि जड़ और चेतनका परस्पर विरोध है। विरुद्धका अभेदान्वय नहीं हो सकता ॥ १९९ ॥

अच्छा तो 'असि' शब्दका क्या अर्थ है, इसपर कहते हैं—'नाऽभूतं भवनम्' इत्यादि।

'पाको भवति' इत्यादि शब्दके प्रयोगसे अभूत-भवन भूधातुसे प्रतीत होता है। पाककी उत्पत्तिके बाद 'पाको भवति' यह प्रयोग नहीं होता, किन्तु 'पाकोऽस्ति' यह प्रयोग होता है। यद्यपि 'अस् भुवि' 'भू सत्तायाम्' इस धातु

शब्दाद्यगोचरोऽप्यर्थो लक्षणापाश्रयात् श्रुतौ ।
सदित्यादिपदैः साक्षादात्माऽस्माकमितीर्यते ॥ २०१ ॥

पाठके अनुसार दोनोंका आपाततः एक ही अर्थ प्रतीत होता है, तथापि उक्त प्रतीतिकी उपपत्तिके लिए 'भू'धातुका अभूत-भवन अर्थ माना जाता है। अभूत-भवनसे 'खपुष्पं भवति' इसका परिहार होता है। उत्पत्ति भी अर्थ माना जाता है, अतएव 'रोहितो लोहितादासीद्धुन्धुस्तस्य सुतोऽभवत्' इत्यादि पुराणश्लोकमें 'भू'धातुका उत्पत्तिरूप अर्थ स्पष्टतया निर्दिष्ट है। अभूत-भवनसे 'आकाशो भवति' इसका वारण होता है। अलब्धसत्ताकका सत्तालाभ और आद्यक्षणसम्बन्ध इत्यादि 'भू'धातुका अर्थ नहीं है, क्योंकि आत्मा वस्तु नित्य है, नित्यमें अभूतत्वांशका बाध होता है। आत्मा सदा भूत है, अभूत नहीं, अतः मुख्य अर्थका त्याग कर लक्षणावृत्तिसे अन्वययोग्य अर्थको असूधात्वर्थ मानते हैं। सत् और असत्— ये दोनों शब्द लोकमें तथा वेदमें परस्पर प्रतिद्वन्द्वितया प्रयुक्त होते हैं। असत्से भिन्न सत् और सत्से भिन्न असत् है। शून्यसे—असत्से—विलक्षण चिद्रूप आत्मा सत् कहलाता है ॥२००॥

अन्यवाचक शब्द अन्यका बोधक हो सकता है, यह कहते हैं— 'शब्दाद्यगोचरो' इत्यादिसे।

'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह, 'यद्वाचा नाभ्युदितं येन वागभ्युद्यते' इत्यादि श्रुतिसे आत्मा शब्दादिका गोचर नहीं है। सामान्य और विशेष धर्म जिसमें रहता है, वही शब्दका अर्थ होता है। स्वप्रवृत्तिनिमित्तविशिष्ट अर्थमें शब्दका शक्तिग्रह होनेसे शब्द द्वारा सप्रकारक ही ज्ञान होता है, निष्प्रकारक नहीं। निर्धर्मक ब्रह्ममें सामान्य या विशेष कोई धर्म नहीं है, इसलिए वह शब्दगोचर नहीं होता, फिर भी वेदान्तमें सब पदोंकी शुद्ध ब्रह्ममें लक्षणा मानी जाती है, लक्षणासे शुद्ध ब्रह्मका निर्विकल्पक बोध होता है। निष्प्रकारक केवलव्यक्तिमात्रविषयक बोध निर्विकल्पक बोध कहलाता है, अतएव—

'फलव्याप्यत्वमेवाऽस्य शास्त्रकृद्भिर्निराकृतम् ।
ब्रह्मण्यज्ञाननाशाय वृत्तिव्याप्यत्वमिष्यते ॥'

—इत्यादि वाक्य संगत होते हैं। तथा 'श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः' 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः' इत्यादि वाक्योंसे आत्मश्रवणका विधान किया गया है, अन्यथा वेदान्त ही व्यर्थ हो जायँगे। सर्वथा शब्दका अगोचर होनेसे वेदान्त द्वारा आत्मश्रवण नहीं हो सकेगा। यदि वेदान्तवाक्यसे आत्माका

उत्पत्तावधिकारे च यद्विधिद्वयमीरितम् ।
कर्मदृष्टान्तसाम्येन न तद्युक्तमुदीरितुम् ॥ २०२ ॥
कर्मस्वरूपबोधे हि व्यापारो नेष्यते विधेः ।
किन्तु बुद्धमनुष्ठातुं पुरुषं प्रेरयेद्विधिः ॥ २०३ ॥

यथार्थज्ञान भी नहीं होगा, तो मुक्ति भी नहीं होगी और वेदान्तविद्या ब्रह्मविद्या भी नहीं हो सकेगी इत्यादि अनेक दोषोंका प्रसंग हो जायगा। इसलिए वेदान्तवाक्यघटक सत्य, आनन्द आदि पदोंकी अखण्ड चिद्व्यक्तिमात्रमें लक्षणा मानते हैं। अन्य अर्थके बोधक शब्दका लक्षणावृत्तिसे अन्यत्र प्रयोग होता है, अतएव 'गङ्गायां घोषः' इत्यादि वाक्यमें गङ्गादि पदकी तीरादि अर्थमें लक्षणा सर्वसम्मत होती है ॥२०१॥

'उत्पत्तावधिकारे च' इत्यादि। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि वाक्यमें 'ज्ञातव्य' पदका अध्याहार करके उत्पत्तिविधि तथा 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इस वाक्यमें 'मोक्षकामेन' इस पदका अध्याहार करके अधिकारिविधि, ये दोनों विधियाँ कर्मविधिकी तरह वेदान्तमें भी हैं, ऐसा जो पूर्वमें कहा गया है, सो ठीक नहीं है, क्योंकि कर्म प्रवृत्तियोग्य होता है, इससे उसमें विधि हो सकती है। वेदान्तबोध्य आत्माका ज्ञान प्रवृत्तियोग्य नहीं है, इसलिए उसमें विधि कैसे होगी? यदि विधि न मानियेगा, तो उक्त ज्ञानमें मुमुक्षुकी प्रवृत्ति न होगी, इसलिए मुमुक्षुकी प्रवृत्ति ही विधिसाधक है। उक्त दो विधियोंके माननेपर विनियोगविधि तथा प्रयोगविधि भी अवश्य माननी पड़ेगी, क्योंकि इनके विना उक्त दो विधियां नहीं रह सकतीं ॥२०२॥

इस आक्षेपका समाधान करते हैं—'कर्मस्वरूपबोधे' इत्यादिसे।

कर्मोत्पत्तिविधिका व्यापार कर्मस्वरूपबोधनमात्रके लिए इष्ट नहीं है, क्योंकि स्वरूपमात्रका बोधन निष्फल है, किन्तु वह अवगत कर्मके अनुष्ठानके लिए कर्ममें पुरुषकी प्रेरणामें विश्रान्त होती है। तात्पर्य यह है कि उत्पत्तिविधिसे कर्मका ज्ञान होनेपर फलकी अपेक्षा होती है, अतः अधिकारिविधिसे फलज्ञान होनेपर विनियोगादिविधि द्वारा प्रयोगपर्यन्त व्यापार समाप्त होता है। प्रयोगके विना फलप्राप्ति नहीं होती, इसलिए अनुष्ठानपर्यन्त व्यापार आवश्यक है ॥२०३॥

तथाऽऽत्मतत्त्वबोधेऽपि न काचिद् व्यापृतिर्विधेः ।
कर्मस्थानीय आत्मा हि नाऽनुष्ठेयः कदाचन ॥ २०४ ॥

'तथाऽऽत्मतत्त्वबोधेऽपि' इत्यादि । कर्मकाण्डमें उत्पत्तिविधिका व्यापार जैसे प्रयोगपर्यन्त होता है वैसे वेदान्तमें कोई विधिव्यापार नहीं है, कारण कि कर्म अनुष्ठेय है । अनुष्ठानके विना उसके ज्ञानमात्रसे कुछ फल नहीं होता, अतः फल-लाभके उपयुक्त व्यापारपर्यन्त उक्त विधिका व्यापार माना जाता है । कर्मस्थानीय आत्मा कभी भी अनुष्ठेय नहीं है । यदि कूटस्थ नित्य होनेसे उसमें क्रियाका सम्पर्क ही नहीं है, तो विधिकी आवश्यकता कैसे होगी ? यह वेदान्तसिद्धान्त है ।

भाव यह है कि कर्मोत्पत्तिविधिके साथ अधिकारिविधिका सम्बन्ध होता है, अधिकारिविधिके विना नियोज्यका लाभ नहीं होता । यदि अनुष्ठान-कर्ताका नियोगके साथ सम्बन्ध नहीं रहेगा, तो कर्मानुष्ठान ही कैसे होगा ? फल-कामी ही नियोज्य कहलाता है । नियोज्यका लाभ होनेपर किन साधनोंसे कैसा कर्म करना ? इसकी अपेक्षा होनेपर विनियोगविधि और प्रयोगविधिका सम्बन्ध होता है । सामग्रीके ज्ञात होनेपर कर्मानुष्ठान होता है, तब जाकर अनुष्ठाताको फलप्राप्ति होती है, यह कर्मविधिकी प्रक्रिया है । वेदान्तमें आत्मज्ञानको यदि विधेय मानें, तो केवल उत्पत्तिविधि कह सकते हैं । परन्तु अधिकारिविधिका आत्मज्ञानमें प्रवेश नहीं हो सकता, कारण कि आत्मज्ञान अनुष्ठेय नहीं है । अनुष्ठेय पदार्थ पुरुषव्यापाराधीन होता है, क्योंकि वह पुरुष द्वारा कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुम् योग्य है । आत्मज्ञान प्रमाणतन्त्र तथा वस्तुतन्त्र है, पुरुषतन्त्र नहीं है, इसलिए अधिकारिसम्बन्धका आत्मज्ञानमें प्रवेश नहीं है । अधिकारिविध्यादिके विना उत्पत्ति-विधि भी नहीं हो सकती । आत्मज्ञानके फलका—मोक्षका—भागी आत्मा है । यदि कहो कि फलस्वाम्य ही अधिकार है तथा तत्फलभोक्तृत्व ही तदधिकारित्व है, अतः अधिकारिसम्बन्ध हो सकता है । तो यह कथन ठीक नहीं है, कारण कि अधिकारी संसारी आत्मा है या शुद्ध ? प्रथम पक्षमें अधिकारसम्बन्ध हो सकता है, परन्तु संसारी आत्मा, सिद्ध होनेसे, विधेय नहीं हो सकता । अगर असिद्ध होता, तो विधि भी होती । यदि कहिये कि आत्मज्ञानमें विधि है, अतः विधिविषय दर्शनका विषय होनेसे आत्माका अधिकारसम्बन्ध हो सकता है, सो ठीक नहीं है, कारण कि 'आत्मा द्रष्टव्यः' इस वाक्यसे शुद्धात्माका दर्शन मोक्षोपाय है,

व्रीह्यादिविषयं यद्वद्यत्नेनाऽपि निरूपितम् ।
प्रत्यक्षज्ञानमीषच्च न विधिस्पर्शमर्हति ॥ २०५ ॥

संसारी आत्माका दर्शन नहीं, अतः आप शुद्धात्मदर्शनमें ही विधि कह सकते हैं, दर्शनके विषयभूत शुद्धात्मामें फलभोक्तृत्व नहीं है, अतः अधिकार-सबन्ध न होनेसे वेदान्तमें कोई विधि नहीं हो सकती ॥ २०४ ॥

यद्यपि पूर्वपक्षीको शुद्धात्मज्ञानका उत्पत्तिविधिविषय होना इष्ट है, तथापि अधिकारविधिके सम्बन्धका प्रवेश नहीं हो सकता, इसे दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हैं—'व्रीह्यादि०' इत्यादिसे ।

जैसे व्रीह्यादिविषयक प्रत्यक्षके प्रमाणरूपसे सुनिश्चित होनेपर भी दर्शपूर्णमासाधिकारके सम्बन्धका व्रीह्यादि प्रत्यक्ष द्वारा लाभ नहीं होता, वैसे ही वेदान्तमें उत्पत्तिविधिमें होनेपर भी सत्यानन्दादि वाक्य द्वारा अधिकार आदि विधियोंका थोड़ा भी स्पर्श नहीं होता । तात्पर्य यह है कि 'यदाग्नेयोऽष्टाकपालः' इत्यादि कर्मोत्पत्तिविधिमें स्वविहित कर्मके अनुष्ठानके लिए कः ? केन ? कथम् ? अर्थात् कौन, किससे और कैसे अनुष्ठान करे ? इसकी अपेक्षा होनेसे अधिकार आदि विधियोंका सम्बन्ध होता है, अन्यथा कर्मोत्पत्तिबोधक वाक्य व्यर्थ हो जायगा । अनुष्ठानसे ही पुरुषार्थका लाभ होता है, कर्मस्वरूपके ज्ञानमात्रसे नहीं । व्रीह्यादिविषयक प्रत्यक्ष प्रमाण है, किन्तु वह व्रीहिस्वरूपमात्रका परिच्छेद करा कर पुरुषार्थका साधक होता है, अतिरिक्त किसी अनुष्ठेय पदार्थका बोधक नहीं होता, इसलिए उसका स्वरूपपरिच्छेदसे अतिरिक्त फल नहीं है, अतः वहाँ अधिकारादिविधियोंके सम्बन्धका प्रवेश नहीं होता एवं आत्मज्ञानमें यदि उत्पत्तिविधि मानें, तो भी शुद्धात्मा प्रमाणान्तरसे अज्ञात है । व्रीह्यादिके प्रत्यक्षके समान स्वरूपके परिच्छेदक होनेसे उसके ज्ञापक सत्यानन्दादि वाक्य द्वारा पुरुषार्थ सिद्ध हो जाता है अर्थात् आत्मयथार्थज्ञानसे अविद्या निवृत्ति द्वारा स्वतःसिद्ध मोक्षरूप परम पुरुषार्थके साधक होनेसे सत्यानन्दादि वाक्योंमें अज्ञातज्ञापकत्व और सप्रयोजनत्व लक्षण प्रामाण्य सिद्ध हो जाता है, स्वरूपपरिच्छेदसे अतिरिक्त अनुष्ठेय पदार्थके वे बोधक नहीं हैं, अतः प्रयोगविधिपर्यन्त व्यापारकी अपेक्षा नहीं है । और कर्मोत्पत्तिविधिसे वैषम्य होनेके कारण वेदान्तमें उत्पत्तिविधि भी मानना अनुचित है ॥ २०५ ॥

नाऽऽत्मबोधस्तथा वेदवाक्यजन्यो विधिं स्पृशेत् ।
किन्त्वैन्द्रियकविज्ञानमिव सिद्धार्थनिष्ठतः ॥ २०६ ॥
एवं च सति वेदान्ता ब्रह्मतत्त्वमलौकिकम् ।
प्रबोधयन्ति विध्वस्तनिखिलद्वैतमव्ययम् ॥ २०७ ॥

उक्तार्थका ही पुनः स्पष्टीकरण करते हैं—'नाऽऽत्मबोध०' इत्यादिसे। वेदान्तवाक्यजन्य शुद्धात्मविषयक बोध विधिका स्पर्श नहीं करता। किन्तु ऐन्द्रियक विज्ञानकी—व्रीह्यादिविषयक चाक्षुषादि प्रत्यक्षकी—तरह केवल सिद्धार्थमें वेदान्त परिनिष्ठित हैं अर्थात् जैसे प्रत्यक्ष वस्तुस्वरूपमात्रका बोधन कर समाप्त हो जाता है, वैसे ही वेदान्तवाक्य सिद्ध और शुद्धरूप ब्रह्ममात्रका बोधन कराकर पर्य-वसन्न—समाप्त—हो जाते हैं, इसीसे पुरुषार्थ भी सिद्ध होता है ॥ २०६ ॥

'एवं च' इत्यादि। सिद्धार्थबोधक प्रत्यक्षादिमें प्रामाण्यके स्वीकृत होनेपर ब्रह्मतत्त्वके बोधक वेदान्त भी ब्रह्ममें प्रमाण हैं। 'अग्निर्हिमस्य भेषजम्' इसकी तरह ज्ञातार्थक होनेसे वे अप्रमाण क्यों नहीं होते? इस शङ्काकी निवृत्तिके लिए कहते हैं—'अलौकिकम्'। यद्यपि आत्मा ही ब्रह्म है और उसका सबको प्रत्यक्ष है, क्योंकि आत्मामें 'अहमनहम्, नाऽहम्' इत्यादि संशय तथा विपर्यय नहीं होते, अतः स्वात्मा सदा ज्ञात है, तथापि अन्तःकरणादि अध्यासविशिष्ट आत्माका ही वह प्रत्यक्ष है, शुद्ध ब्रह्म लौकिक प्रत्यक्षादिका विषय नहीं है, अतः अलौकिक वेदान्तवाक्य आत्माके बोधक होनेसे उक्त वाक्यके समान अप्रमाण नहीं हैं, फिर भी निष्प्रयोजनत्वरूप अप्रामाण्यकी प्रसक्तिकी शङ्कासे 'विध्वस्तनिखिलद्वैतम्' कहा। 'विध्वस्तम्—विनाशितम्—' 'निखिलम्—सर्वम्—' द्वैतम्—ब्रह्मातिरिक्तम्—यस्मिन् शुद्धात्मनि तादृशम् अर्थात् निखिलप्रपञ्चाभावोपलक्षित ब्रह्मस्वरूपके बोधक वेदान्त, निष्प्रयोजन नहीं हैं। 'द्वितीयाद्वै भयं भवति' इत्यादि श्रुति तथा अनुभवसे द्वैत-निबन्धन ही दुःख प्रतीत होता है। सकल द्वैतके निवृत्त होनेपर दुःखकी सम्भावना ही नहीं रहती, अतएव 'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः' इत्यादि श्रुति द्वैताभावसे शोक, मोह आदि सांसारिक निखिल दुःखकी निवृत्तिका बोधन करती है। निखिल द्वैतकी निवृत्तिके साथ यदि आत्माकी भी निवृत्ति होगी, तो शून्यवाद ही मानना ठीक है, इस प्रकार बौद्धके आक्षेपका निराकरण करनेके लिए 'अव्ययम्' कहा। विनाशी द्वैत कल्पित है, अतः ज्ञानसे उसीकी

ऐकात्म्यवस्तुयाथात्म्यप्रकाशनपटीयसः ।
वचसस्त्वतिरेकेण किं मानं तद्धुरं वहेत् ॥ २०८ ॥

निवृत्ति होती है, आत्मा कल्पित नहीं है, अतः अव्यय—अविनाशी—है । यदि आत्माकी निवृत्ति होगी, तो कोई साक्षी नहीं हो सकेगा, असाक्षिक निवृत्तिमें कुछ प्रमाण नहीं है, अतः बौद्धकी शङ्का तुच्छ है ॥ २०७ ॥

निर्धर्मक ब्रह्ममें प्रमाणान्तरकी प्रवृत्ति तो हो ही नहीं सकती, अतः केवल वेदान्तैकवेद्य ही ब्रह्म है, यह कहते हैं—'ऐकात्म्य०' इत्यादिसे ।

एक आत्मा ही यथार्थ वस्तु है और सब अविद्याकल्पित होनेसे गन्धर्व-नगर आदिकी तरह अयथार्थ है, अतएव श्रुति कहती है—'यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति' । अर्थात् ब्रह्म अविद्यावश द्वैतमिव—द्वैतकी तरह—होता है । इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि वस्तुतः द्वैत है नहीं, किन्तु वह प्रतीत होता है । जैसे बाध होनेके पश्चात् शुक्ति ही रजतके सदृश मालूम हुई वस्तुतः वह रजत था ही नहीं, यह ज्ञात होता है, वैसे ही आत्मतत्त्वके यथार्थ ज्ञात होनेपर आत्मा ही द्वैतके सदृश प्रतीत हुआ, वस्तुतः द्वैत था ही नहीं, ऐसा ज्ञात होता है । वास्तविक आत्मा ही एक तत्त्व है, सो भी सांख्यादि द्वैतवादियोंके मतानुसार अनेक नहीं है, किन्तु एक ही है । अतएव 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा नान्योऽतोऽस्ति श्रोता' इत्यादि श्रुतियोंसे अनेक चेतनोंका प्रतिषेध स्पष्टरूपसे प्रतीत होता है तथा 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवा-द्वितीयं ब्रह्म' इत्यादि ऐकात्म्यका उपक्रम और 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' इत्यादि उपसंहार भी एकात्मामें ही है, अतः उपक्रमोपसंहारादिसे पूर्वोक्त ऐकात्म्यके प्रकाशनमें—प्रबोधनमें— पटीयान्—अतिसमर्थ वचन—तत्त्वमस्यादि महावाक्य हैं, क्योंकि इनसे भिन्न कोई भी प्रमाणान्तर उक्तार्थके प्रकाशनमें समर्थ नहीं है, अतः मानान्तरप्रवेशकी सम्भावनाके अभावसे तत्त्वमस्यादि वेदान्तमहावाक्य ही उक्तात्मस्वरूपमें श्रेष्ठ प्रमाण हैं । प्रमाणान्तरागोचर होनेसे वेदान्तमें अनुवादकत्व शङ्का भी नहीं हो सकती, अतः अज्ञातज्ञापकत्वलक्षण प्रामाण्य वेदान्तमें दृढ़ है । अतिरेकेण—भेदेन उपलक्षितः—यह 'जटाभिस्तापसः' की तरह उपलक्षणमें तृतीया विभक्ति है अर्थात् वेदान्तवाक्यभेदसे उपलक्षित मानान्तर भी उक्त अर्थमें प्रमाण नहीं है, यह भाव है ॥ २०८ ॥

शाब्दज्ञानविधावेवं वेदान्तेषु निराकृते ।
अपरे पण्डितम्मन्या विध्यन्तरमिहोचिरे ॥ २०९ ॥
अन्योऽप्यनुभवोपायो मननध्यानलक्षणः ।
सोपायो विहितोऽस्त्येव प्रतिपत्तिविधिं विना ॥ २१० ॥

'शाब्दज्ञान०' इत्यादि । वेदान्तमें उक्त रीतिसे शाब्दज्ञानकी विधि नहीं है, ऐसा सिद्ध होनेपर भी दूसरे पण्डितंमन्य [उपालम्भार्थ पण्डितंमन्य कहा है, अर्थात् जो वस्तुतः पण्डित हैं नहीं, किन्तु अपनेको स्वयं पण्डित मानते हैं, वे पण्डितंमन्य कहे जाते हैं] फिर वेदान्तमें विध्यन्तरका अङ्गीकार करते हैं ॥ २०९ ॥

'अन्यो०' इत्यादि । प्रतिपत्तिमें—साक्षात्कारात्मक ज्ञानमें—विधि नहीं हो सकती, कारण कि घटादिप्रत्यक्षके सदृश द्वितीयाभावोपलक्षित ब्रह्मविषयक मानसवृत्तिरूप साक्षात्कार विषयाधीन तथा प्रमाणाधीन है, पुरुषाधीन नहीं है। विधेय वही हो सकता है, जो पुरुषाधीन हो । ब्रह्मस्वरूपसाक्षात्कार तो ब्रह्माभिन्न होनेसे नित्य है, साध्य नहीं है; अतः उसका भी विधान असंभव ही है, अतः दोनों प्रतिपत्तियां विधियोग्य नहीं हैं। इससे प्रतिपत्तिसामान्यमें विध्यभाव सिद्ध हो चुका ।

अब 'श्रोतव्यो मन्तव्यः' इस श्रुतिके अनुसार निदिध्यासनमें—ध्यानमें—विधि है, यह माननेवालोंका मत कहते हैं—दूसरा अर्थात् मननध्यानलक्षण आत्मदर्शनका उपाय इतिकर्तव्यताके विना नहीं हो सकता, इसलिए इतिकर्तव्यताका भी विधान आवश्यक है । इतिकर्तव्यता है—शमदमादिसाधनसंपत्ति । तत्सहित आत्मसाक्षात्कारके साधनभूत मननध्यानलक्षण प्रसंख्यान उपायशब्दसे विवक्षित है । मननध्यानलक्षणकी 'मननपूर्वकं ध्यानं लक्षणम्— स्वरूपम्—यस्य सः' यह व्युत्पत्ति है। यहां लक्षणशब्द स्वरूपतात्पर्यसे कहा गया है—जैसे 'साध्याभाववदवृत्तित्वम्' व्याप्तिका लक्षण व्याप्तिस्वरूप होता है। इसलिए प्रकृतमें गन्धवत्त्वरूप पृथिवीलक्षणकी तरह लक्षणशब्द धर्मपरक नहीं है । मननशब्दके उपादानका प्रयोजन यह है कि केवल ध्यान कहनेसे विपर्ययात्मक ध्यानका भी संग्रह हो जायगा । 'तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्' इस योगसूत्रके अनुसार निरन्तरज्ञानोत्पादसंतति ध्यान कहलाता है। ध्यानसे दो प्रकारका ज्ञान होता है—भ्रमात्मक और प्रमात्मक । प्रथम ज्ञानके निरन्तर अभ्याससे वस्तुका निश्चयात्मक

अवान्तरमहावाक्यरूपात् सिद्धावबोधकात् ।
शास्त्राद् ब्रह्मात्मतामादौ पुरुषः प्रतिपद्यते ॥ २११ ॥
तत्त्वे शास्त्रात् प्रपन्नेऽपि पारोक्ष्यानपहारतः ।
तत्साक्षात्करणायैव प्रसङ्ख्यानं विधीयते ॥ २१२ ॥

साक्षात्कार नहीं होता तथा 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' इस संशयात्मक ज्ञानके निरन्तर अभ्याससे स्थाणुविषयक वा पुरुषविषयक साक्षात्कार प्रमात्मक नहीं होता, इसलिए भ्रमात्मक ज्ञानका आवृत्तिरूप ध्यान अद्वैत ब्रह्मके दर्शनका उपाय नहीं है, अतः प्रमात्मक ध्यानके आभ्यासके संग्रहके लिए मनन विशेषण दिया गया है। मननसे श्रौतात्मज्ञानमें संशयादिकी निवृत्ति होती है, इसीसे मननपूर्वक ध्यान—निर्विचिकित्सशब्दज्ञानसंततिरूप ध्यान—अद्वैतात्मविषयक साक्षात्कारके उपायरूपसे वेदान्तमें भी विहित है। इस ध्यानसे उत्पन्न अद्वैतात्मसाक्षात्कार मानसवृत्तिरूप होता है, इसीसे मोक्षप्रतिबन्धक अज्ञानकी निवृत्ति होती है ॥ २१० ॥

'अवान्तर०' इत्यादि। यदि वेदान्त प्रसंख्यानविधिपरक हैं, तो ब्रह्मात्म्यैक्य वस्तु कैसे सिद्ध होगी? इसका समाधान यह है कि सिद्ध ब्रह्मात्मैक्यके बोधक अवान्तर महावाक्यसे—तत्त्वमस्यादि वाक्यसे—मुमुक्षु पुरुष पहले-पहल सामान्यरूपसे ब्रह्मात्मताका अवगम करता है, तदन्तर 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म', 'नेह नानास्ति किञ्चन' 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्', 'अयमात्मा ब्रह्म' इत्यादि वाक्योंसे प्रथम आत्मैकत्व अवगत होता है। मनन प्रत्यक्षादिविरोधप्रयुक्त असम्भावनाकी निवृत्ति करता है और शब्द, युक्त्यादि द्वारा उक्त निवृत्ति होनेसे उक्तार्थमें श्रद्धा होती है, तदुपरान्त प्रसंख्यान द्वारा मुक्तिफलक आत्मदर्शन होता है ॥ २११ ॥

'तत्त्वे' इत्यादि। यदि अवान्तर महावाक्यके तात्पर्यसे आत्मैक्य सिद्ध हो जाता है, तो प्रसंख्यानमें विधि क्यों मानते हो? विधि इसलिए मानते हैं कि प्रसंख्यानके विना 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यसे परोक्षात्मक आत्मैक्यज्ञान होता है, इससे अपरोक्ष भ्रमकी निवृत्ति नहीं हो सकती, अतः उसके लिए प्रसंख्यानविधि आवश्यक है। यदि शङ्का हो कि प्रसंख्यानविधिबलसे वस्तुका साक्षात्कार मानते हो, तो शास्त्रकी क्या जरूरत है? इसका उत्तर यह है कि शास्त्रसे वस्तु सिद्ध न होगी, तो तद्विषयक साक्षात्कारकी इच्छा ही न होगी। शास्त्रसिद्ध वस्तुमें ही इच्छा होती है। क्या प्रमाणान्तरसे सिद्ध अर्थमें भी इच्छा होती है? हां, होती है, किन्तु प्रकृत

आवृत्तिर्हि प्रसङ्ख्यानं शब्दयुक्त्योरिदं त्विह।
मननध्यानरूपत्वात् साक्षात्कारयितुं क्षमम् ॥ २१३ ॥

वस्तु—ब्रह्मात्मैक्य—मानान्तरका विषय नहीं है, केवल शास्त्रका ही विषय है। अतः इसमें यदि शास्त्र प्रमाण नहीं होगा, तो उक्त इच्छा नहीं होगी, अतः उसके लिए शास्त्र प्रमाण आवश्यक है। शास्त्रसे सिद्ध होनेपर तत्साक्षात्कारके उद्देश्यसे उपायके सहित प्रसंख्यानका विधान है। यदि शङ्का हो कि शास्त्रसे उक्त विषयका जो ज्ञान होता है वह भी तो अनुभव ही है ? क्योंकि शाब्दज्ञान भी अनुभव माना जाता है। हां, माना जाता है; परन्तु वह परोक्षात्मक अनुभव है, अपरोक्षात्मक अनुभव मुमुक्षुका उद्देश्य है, इसलिए प्रसंख्यानविधि मानते हैं। प्रसंख्यानसे आत्मतत्त्वका साक्षात्कार होगा, इसमें क्या प्रमाण है ? शास्त्रके प्रामाण्यमें पूरा विश्वास होनेसे शास्त्रबोधित तत्साक्षात्कार अवश्य होगा, इसमें दृढ़ निश्चय होनेसे ही तत्साक्षात्कारके लिए 'पश्येत्' इस वाक्यसे प्रसंख्यानविधि मानते हैं।

शङ्का—यदि शास्त्रका वस्तुबोधन तथा प्रसंख्यानविधि दोनोंमें तात्पर्य मानोगे, तो वाक्यभेद हो जायगा। 'सकृदुच्चरितः शब्दः सकृदेवार्थं बोधयति' इस न्यायसे दो अर्थोंका बोध करानेके लिए आवृत्ति द्वारा दो वाक्य मानने पड़ेंगे। एक वाक्यसे दो अर्थोंका बोध नहीं होता। शब्द, बुद्धि और कर्मका विरम्य व्यापार नहीं माना जाता, इसलिए क्रमशः दो अर्थोंका बोध भी एक वाक्यसे नहीं हो सकता।

उत्तर—प्रसंख्यान व्यापार है। प्रसंख्यान द्वारा आत्मैक्यके बोधनमें तात्पर्य होनेसे प्राधान्यसे दो अर्थोंका बोध कराना अभीष्ट नहीं। प्राधान्येन दो अर्थोंका बोध माना जाता तो वाक्यभेद होता। यहांपर आत्मैक्यबोधन प्रधान है, प्रसंख्यानविधि व्यापार है, अतः वह अप्रधान है ॥ २१२ ॥

प्रसंख्यानका स्वरूप बतलाते हैं—'आवृत्ति॰' इत्यादिसे।

अनुमानरूप युक्ति मनन और 'तत्त्वमसि' इत्यादि शब्द—इन दोनोंकी पुनः पुनः आवृत्ति ही मननपूर्वकध्यानरूप होनेसे प्रसंख्यान कहलाती है। प्र—प्रकृष्ट—संख्यान—ज्ञान। ज्ञानमें प्रकर्ष है—यथार्थत्व। यथार्थशाब्दज्ञानानुवृत्ति प्रसंख्यानसे विवक्षित है। शब्दानुवृत्तिका भाव है—सार्थकशब्दानुवृत्ति। यही उपासनापरपर्याय निदिध्यासन है, यही आत्मैकत्वका साक्षात्कार करानेमें समर्थ है। युक्तिसहकृत शास्त्रसे तत्त्वज्ञान होता है। एक एकसे नहीं, तो प्रसंख्यानविधिका क्या प्रयोजन है ? प्रयोजन

प्रमाता मापकः शब्दो युक्तिरावृत्तिरित्यमी ।
चत्वारोऽपि प्रमाणस्य पादा ऐकात्म्यदर्शकाः ॥ २१४ ॥

प्रत्येकं प्रमितेर्वृद्धिः पादैरेतैः क्रमाद् भवेत् ।
वृद्धेर्विश्रामभूमिर्या सा साक्षात्कृतिरीर्यते ॥ २१५ ॥

यह है कि शास्त्र तथा युक्ति दोनों परोक्ष ज्ञानके जनक हैं, इसलिए युक्तिसहकृत शास्त्रसे अपरोक्ष ज्ञान नहीं हो सकता, 'धूमोऽयम्' इस वाक्यसे सहकृत भी धूम वह्निसाक्षात्कारका जनक नहीं है एवं युक्तिसहकृत भी 'तत्त्वमसि' आदि वाक्य साक्षात् साक्षात्कारका जनक नहीं है, किन्तु वह उक्त साक्षात्कारके लिए सहकारी कारणरूपसे प्रसंख्यानविधिका भी आश्रयण करता है ॥ २१३ ॥

प्रमाणहेतुक तत्त्वसाक्षात्कार ध्यानादिजन्य कैसे हो सकता है ? इस शङ्काकी निवृत्तिके लिए प्रमाणभूत चार पाद कहते हैं—'प्रमाता' इत्यादि ।

प्रमाता—मुमुक्षुपुरुष । प्रमापक—प्रमितिजनक 'तत्त्वमसि' आदि शब्द । युक्ति—अनुमितिरूपा । आवृत्ति—ध्यान । ये चारों प्रमाणके पाद—अंश—ऐकात्म्यदर्शक हैं । इन्हीं चारोंके द्वारा आत्मतत्त्वका साक्षात्कार होता है, अन्यथा नहीं । यहांपर यह शङ्का होती है कि ऐकात्म्यबोधक शास्त्रको युक्त्यादिकी यदि अपेक्षा है, तो स्वतः प्रामाण्यकी हानि होगी और सापेक्ष होनेसे पौरुषेयवाक्यके सदृश वेदवाक्य भी अप्रमाण हो जायगा। इसका यह उत्तर है कि युक्त्यादि प्रमाणान्तर नहीं हैं, किन्तु प्रमाणके अंश हैं, प्रमाणके चार अंश कहे गये हैं, चारों अंश मिलकर आत्मैकत्वमें प्रमाण हैं । अतः युक्त्यादिसापेक्ष 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यमें सापेक्षत्वलक्षण अप्रामाण्यप्रसक्ति नहीं है । शब्द, युक्ति, प्रसंख्यान और आत्मा ये चारों अंश मिलकर जिज्ञासु पुरुषको आत्मैकत्वरूप वस्तुका बोध कराते हैं, इसी तात्पर्यसे यह श्लोक है—

'शब्दयुक्तिप्रसंख्यानैरात्मना च मुमुक्षवः ।
पश्यन्ति मुक्तमात्मानं प्रमाणेन चतुष्पदा ॥'

अर्थ स्पष्ट है ॥ २१४ ॥

'प्रत्येकम्' इत्यादि । उक्त चारों पाद मिलकर वस्तुस्वरूपके बोधक हैं या चारों मिलकर वस्तुस्वरूपविषयक प्रमितिके जनक हैं और प्रमिति केवल वस्तुकी प्रकाशक है । द्वितीय पक्ष ही युक्त प्रतीत होता है । जैसे तेल, बत्ती और अग्नि—ये तीनों मिलकर दीपके जनक होते हैं और दीप घटादिका प्रकाशक होता है, वैसे ही चारों पाद प्रमितिके जनक

साक्षात्कृतात्मयाथात्म्यः प्रसङ्ख्यानं न वीक्षते ।
नदीमुत्तीर्य नो कश्चिन्नावं कुत्राऽप्यपेक्षते ॥ २१६ ॥
सम्भूय पादाः सर्वेऽपि ह्यैकात्म्यं बोधयन्त्यमी ।
तैलवर्त्यग्नयो यद्वद् दीपं सम्भूय कुर्वते ॥ २१७ ॥

हैं और प्रमितिसे वस्तुका प्रकाश होता है। मिलकर प्रकाशक होनेमें दृष्टान्त नहीं है, इसलिए प्रथम पक्ष अयुक्त है।

और यह भी कारण है कि एक-एक पादकी वृद्धिसे प्रमितिकी वृद्धि मानी गई है, आत्माके विना तो प्रमिति हो नहीं सकती, इसलिए आत्मा तो सर्वत्र आवश्यक ही है। इससे अतिरिक्त तीन पाद हैं, इनमें एक-एककी वृद्धिसे प्रमितिकी वृद्धि होती है। शब्दजन्य प्रमितिकी अपेक्षासे युक्ति-सहकृतशब्दजन्य प्रमितिकी वृद्धि होती है तथा तदपेक्षासे भी शब्द, युक्ति और प्रसंख्यानसे जो वृद्धि होगी सो और अधिक होगी। यह प्रसंख्यान-वादियोंका मत है, इससे यह सिद्ध होता है कि उक्त चारों पाद मिलकर विषयके प्रकाशक नहीं है, किन्तु प्रमितिके जनक हैं, इस भावसे कहते हैं कि इन पादोंमें से प्रत्येक पादसे क्रमशः प्रमितिकी वृद्धि होती है। वृद्धि-विश्रामभूमि अर्थात् वृद्धिकी समाप्त भूमि, जिसकी अपेक्षासे अधिक प्रमिति नहीं हो सकती, जिसमें चरमोत्कर्षकी समाप्ति है, सो बुद्धि आत्मैक्यसाक्षात्काररूपा कही जाती है, वही तत्त्वज्ञान है ॥ २१५ ॥

'साक्षात्०' इत्यादि। जो आत्मसाक्षात्कार कर लेता है, वह प्रसंख्यानको नहीं देखता, इसमें दृष्टान्त कहते हैं—कोई भी पुरुष नदी पार कर फिर नौकाकी अपेक्षा नहीं करता अर्थात् जबतक उपेय फल प्राप्त नहीं होता, तब तक उपायकी अपेक्षा रहती है, उपेयके प्राप्त होनेपर फिर उपायकी अपेक्षा क्यों होगी? सारांश यह है कि संसाररूपी नदीको पार करनेके लिए प्रसंख्यानरूपी नौकाकी जरूरत है, इस नदीके पार करनेपर उक्त नौका अपेक्षित नहीं होती। जिसने नदी पार नहीं की है, वह अज्ञ नौ बार 'तत्त्वमसि'का श्रवण करनेपर भी प्रसंख्यानके विना उक्त वाक्यश्रवणका फल—आत्मैकत्वसाक्षात्कार—नहीं पाता, अतः उसके लिए प्रसंख्यानविधि नियमसे अपेक्षित है ॥ २१६ ॥

'सम्भूय' इत्यादि। ये सब चारों पाद मिलकर ऐकात्म्यविषयक बोधके

प्रमातारं विना शास्त्रं कस्य स्वार्थावबोधकृत् ।
प्रमाताऽपि विना शास्त्रं केनाऽर्थमवबुध्यते ॥ २१८ ॥

जनक हैं, इसमें दृष्टान्त कहते हैं, जैसे तेल, बत्ती और अग्नि—ये तीनों मिलकर प्रदीपको उत्पन्न करते हैं और प्रदीप घट आदिका प्रकाशक होता है, वैसे ही चारों पाद मिलकर प्रमितिके जनक होते हैं और प्रमिति उक्त विषयकी प्रकाशक होती है। यदि अर्थोपलम्भकत्व और प्रमितिजनकत्व—ये दोनों व्यापार क्रमशः उक्त चारों पादोंमें माने जायँ, तो क्या आपत्ति है ? आपत्ति यह है कि शब्दादिमें विरम्य व्यापार कोई भी नहीं मानता। अच्छा तो भले ही चारों पाद प्रमितिके जनक हों, किन्तु उनसे उत्पन्न प्रमिति अपने विषयके प्रकाशनमें सहकारी-रूपसे उक्त पादोंकी अपेक्षा करती है, ऐसा मानें, तो क्या दोष है ? दोष यह है कि प्रमिति अपने विषयके प्रकाशनके लिए स्वजन्मसे अतिरिक्त किसी भी सहायककी अपेक्षा नहीं करती, कारण कि वह स्वयं अर्थप्रकाशनमें समर्थ है। समर्थको सहायककी अपेक्षा नहीं होती, अन्यथा अनवस्थादि दोष होंगे। प्रदीप आदि भी सहायान्तरकी अनपेक्षाके बिना स्वयं ही पदार्थके प्रकाशक होते हैं। तैल आदि केवल प्रदीपके उत्पादकमात्र हैं। अतः उत्पन्न प्रदीपको घटादिके प्रकाशनके लिए जैसे सहकारीरूपसे भी तैल आदिकी अपेक्षा नहीं होती वैसे ही प्रकृतमें भी समझना चाहिए। यदि शङ्का हो कि उक्त चारों पादोंको अर्थके प्रकाशक ही मानें और प्रमितिके जनक न मानें, तो क्या दोष है ? दोष यह है कि यदि उन्हें अर्थप्रकाशक मानेंगे, तो यह प्रश्न होगा कि वे प्रत्येक प्रकाशक हैं, या मिलकर ? प्रथम पक्षमें भी फिर विकल्प होगा—शब्दसे प्रकाशित ही अर्थका युक्ति आदिसे प्रकाश होता है या अन्य अर्थका ? प्रथम पक्षमें युक्ति आदि व्यर्थ हो जाते हैं, क्योंकि तावन्मात्रका प्रकाश तो शब्दसे ही हो चुका है ? फिर अन्य पादकी क्या जरूरत है ? द्वितीय पक्षमें युक्ति आदि भिन्न-भिन्न प्रमाण अपने अपने विषयमें व्यवस्थित होंगे, क्योंकि मिलकर वे एक प्रमाण नहीं हो सकते। आद्यके द्वितीय पक्षमें विजातीय कारणोंसे एक कार्य नहीं हो सकता ? दण्ड आदिको अपने कार्यको उत्पन्न करनेके लिए चक्र आदिकी अपेक्षा नहीं देखी जाती है, अतः एक कार्यके लिए परस्पर सम्मेलन ही असङ्गत है॥२१७॥

'प्रमातारम्' इत्यादि। प्रमाताके विना शास्त्र किसके प्रति अर्थका बोधक होगा ? इसलिए शब्द आदि द्वारा अर्थबोधमें प्रमाता भी कारण है। एवं प्रमाताके

संसर्गकल्पनाशून्यमप्यैकात्म्यं प्रबोधयेत् ।
अतद्व्यावृत्तितः शास्त्रं संसृष्टार्थाभिधाय्यपि ॥ २१९ ॥

रहनेपर भी यदि शास्त्र न हो, तो किस साधनसे प्रमाताको अर्थका बोध होगा? इसलिए शास्त्र भी उक्त बोधमें कारण है। एवं उन दोनोंके रहनेपर भी यदि प्रसंख्यान न हो, तो आत्मैकत्वका दर्शन ही नहीं हो सकता, अतः उक्त दर्शनमें प्रसंख्यान भी कारण है। यद्यपि श्लोकमें व्यतिरेक द्वारा प्रमाता और शब्दमें ही कारणत्व बतलाया गया गया है, तथापि उपलक्षणसे युक्ति और प्रसंख्यानमें भी तुल्य युक्तिसे कारणत्व समझना चाहिए अथवा शास्त्रमूलक युक्ति और शास्त्रविहित प्रसंख्यान—इन दोनोंका भी शास्त्रसे ही संग्रह हो जायगा क्योंकि दोनोंका मूल शास्त्र ही है ॥ २१८ ॥

प्रत्यक्षकी तरह शब्द साक्षात् पदार्थके स्वरूपके बोधका जनक नहीं है, किन्तु एक पदार्थका अन्य पदार्थके साथ संसर्गके अथवा संसर्गविशिष्ट पदार्थके परोक्षात्मक बोधका जनक है। सहकारीके लाभसे भी विपरीत कार्य नहीं हो सकता, क्योंकि स्वभावका त्याग नहीं हो सकता। अतः उक्त सहकारी द्वारा भी 'तत्त्वमसि' आदि शास्त्र आत्मैकत्वविषयके अपरोक्षज्ञानके जनक नहीं हो सकते, इस शङ्काकी निवृत्ति करते हैं—'संसर्ग०' इत्यादिसे।

यद्यपि शास्त्रका स्वभाव संसृष्ट पदार्थका परोक्षाभिधान करना है, तथापि निखिलविकल्पशून्य, [अतएव] असंसृष्ट 'यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म' इस श्रुतिके अनुसार अपरोक्षस्वरूप आत्मैकत्वका अपरोक्षज्ञान प्रसंख्यान आदि सहकारीवश 'तत्त्वमसि' आदि शब्दसे उत्पन्न होता है, क्योंकि सहकारीके सम्बन्धसे विचित्र कार्य भी होता है, इसमें आश्चर्य नहीं। जैसे घृत और मधु—ये दोनों पदार्थ स्वतः मारक नहीं हैं, किन्तु समपरिमाणमें दोनोंके मिलानेपर उनमें विषशक्ति या मारकशक्ति उत्पन्न हो जाती है, जो सेवन करनेवालेकी नाशक होती है। इस प्रकारके अनेक दृष्टान्त लोक तथा शास्त्रमें प्रसिद्ध हैं। प्रकृतमें 'तत्त्वमसि' आदि वाक्य उक्त सहकारी द्वारा अद्वितीयात्मतत्त्वविषयक निर्विकल्प अपरोक्ष ज्ञानके जनक हैं, यह सिद्ध हुआ। यही निष्कर्ष कहते हैं—'अतद्व्यावृत्तितः' इत्यादिसे। यद्यपि संसृष्टार्थाभिधायी शब्द है, फिर भी 'अस्थूलमनणु०' 'अशब्दमस्पर्श०' 'अद्रेश्यम्' 'अपाणिपाद०' 'नेह नानास्ति किञ्चन' 'नेति नेति'

यतो वाचो निवर्तन्ते इति श्रुत्यैव दर्शितम् ।
व्यपास्ताशेषसंसर्गकल्पनं ब्रह्म निर्भयम् ॥ २२० ॥

इत्यादि सैकड़ों श्रुतियाँ समस्त द्वैतके प्रतिषेध द्वारा द्वैताभावोपलक्षित चिन्मात्रकी ही बोधक हैं। अतद्व्यावृत्ति—ब्रह्मातिरिक्तव्यावृत्ति अर्थात् प्रत्यक्ष आदिसे प्रसक्त द्वैतकी ब्रह्ममें निवृत्ति द्वारा शास्त्र उक्त तत्त्वका बोधक है ॥ २१९ ॥

संसर्गकल्पनाशून्य ऐकात्म्यमें प्रमाण कहते हैं—'यतो' इत्यादिसे ।

शब्द स्वप्रवृत्तिनिमित्तविशिष्ट अर्थका बोधक होता है। जिसमें कोई धर्म ही नहीं है, उस अर्थका बोधक नहीं होता। प्रकृतमें उक्त तत्त्व सर्वधर्मशून्य है, अतः धर्मकी निवृत्तिसे शब्द भी निवृत्त हो जाता है अर्थात् उसका बोधक नहीं होता। 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' इस श्रुतिसे सब पदार्थोंका सम्बन्ध ब्रह्ममें प्रतिषिद्ध है। व्यपास्ता—निषिद्धा—अशेषाणां पदार्थानां संसर्गस्य—सम्बन्धस्य—कल्पना यस्मिन् तत् ब्रह्म। इस प्रकारके ब्रह्ममें अपुरुषार्थत्वकी शङ्काके निरासके लिए कहते हैं—'निर्भयम्'। 'द्वितीयाद्वै भयं भवति' 'अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि' इत्यादि श्रुतियोंसे सकलसांसारिकदुःखनिवृत्त्यात्मक नित्य निरतिशय अनवच्छिन्न आनन्दस्वरूप ब्रह्म अपुरुषार्थ नहीं है, किन्तु परमपुरुषार्थस्वरूप है। अतद्व्यावृत्ति यह उपलक्षण है अर्थात् केवल अतद्व्यावृत्तिरूपसे ही श्रुतियाँ ब्रह्मका प्रतिपादन नहीं करतीं, किन्तु 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि श्रुतियाँ विधिमुखसे ब्रह्मका प्रतिपादन करती हैं, यह भी ध्यान रखना चाहिए। यदि शङ्का हो कि अभी आप कह चुके हैं कि ब्रह्म निर्धर्म है, शब्द धर्मविशिष्टका ही बोधक होता है, अतः ब्रह्मसे शब्द निवृत्त है। अब आप कहते हैं कि उदाहृत श्रुतियाँ विधिमुखसे भी ब्रह्मकी बोधक हैं, इससे आपके वाक्यमें पूर्वापरविरोध है। इसका उत्तर है कि विरोध नहीं है, शब्द मुख्यवृत्तिसे धर्मविशिष्टका ही अभिधायक होता है। अतः निर्धर्म ब्रह्मका शक्ति द्वारा शब्द बोधक नहीं है, केवल व्यक्तिमात्रका भी लक्षणा द्वारा शब्दसे बोध होता है, जैसे किसीने प्रश्न किया कि 'का चन्द्रव्यक्तिः' ? चन्द्रव्यक्ति कौन है ? उत्तर हुआ कि 'प्रकृष्टप्रकाशः चन्द्रः'। इस वाक्यसे संसर्गका बोध नहीं होता, कारण कि संसर्ग अजिज्ञासित है। अतः संसर्गविषयक प्रश्न नहीं है, केवल चन्द्रव्यक्ति ही जिज्ञासित है, इसलिए उत्तरवाक्य भी तन्मात्रका बोधक है, एवं 'सोऽयं देवदत्तः' इत्यादि वाक्य द्वारा भी संसर्गानवगाही केवल व्यक्तिमात्र-

बोधयित्वाऽपि चैकात्म्यं नाऽन्तरा पर्यवस्यति ।
आपुमर्थावधेः शास्त्रमप्रामाण्यभयात् स्फुटम् ॥ २२१ ॥
परोक्षवृत्त्या शब्दो हि वदन् स्वार्थं स्वभावतः ।
सम्भावयन् प्रमाणत्वं युक्तिं स्वीकृत्य वर्तते ॥ २२२ ॥

विषयक बोध होता है। अमुख्यवृत्तिसे व्यक्तिमात्रका संसर्गानवगाही बोध सर्वानुभव सिद्ध है, इसलिए सत्यज्ञानानन्दादि वाक्य विधिमुखसे भी ब्रह्मके बोधक हैं, ऐसा कहनेमें पूर्वापरविरोधका लेश भी नहीं है ॥ २२० ॥

निष्प्रपञ्च आत्माका बोध लक्षणा द्वारा यदि शास्त्रसे ही होता है, तो युक्त्यादिका क्या प्रयोजन ? इस शङ्कापर कहते हैं—'बोधयित्वाऽपि' इत्यादि ।

यद्यपि 'तत्त्वमसि' आदि शास्त्र ऐकात्म्यविषयक परोक्ष ज्ञानके जनक हैं, तथापि मोक्षोपायभूत आत्मसाक्षात्कारकी उत्पत्तिके विना बीचमें उपरत नहीं होते, कारण कि वाक्य द्वारा उत्पन्न परोक्षज्ञानमात्रसे पुरुषार्थकी परिसमाप्ति नहीं होती, पुरुषार्थ न होनेपर निष्प्रयोजनत्वलक्षण अप्रामाण्यकी प्रसक्ति हो जायगी। नित्य निर्दोष अपौरुषेय वाक्यमें स्फुट कारणके विना प्रामाण्यका अपह्नव नहीं हो सकता, इसलिए उक्त शास्त्रका मोक्षहेतु आत्मतत्त्वके साक्षात्कारमें भी तात्पर्य है। उसके लिए युक्त्यादि भी शास्त्रको अपेक्षित हैं। उक्त युक्त्यादिसहकृत 'तत्त्वमसि' आदि शास्त्र मुक्तिफलक आत्मतत्त्वसाक्षात्कारके उत्पादन द्वारा उक्तार्थमें अप्रतिहत प्रामाण्यलाभ करता है ॥ २२१ ॥

'परोक्ष०' इत्यादि। यदि प्रकृत शास्त्रको साक्षात्कारके लिए युक्तिकी अपेक्षा है, तो नियोगसापेक्ष ही शास्त्रको फलजनक मानिये, युक्तिकी क्या आवश्यकता है? शब्द संसृष्टपरोक्षबोधजनकस्वभाव होता है, यह 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि वाक्यमें दृष्ट है। तदनुसार यहाँ भी संसृष्टपरोक्षमें शब्दकी प्रवृत्ति है, प्रकृत शब्द भी स्वयं तादृशार्थाभिधान करता हुआ अपौरुषेयादिहेतुक प्रामाण्यकी स्वमें सम्भावना करता हुआ सहायक युक्त्यादिकी अपेक्षा करता है। सारांश यह है कि नियोगसे अपरोक्ष ज्ञान नहीं हो सकता ? अपरोक्षज्ञानके विना अपरोक्षस्वरूप बन्धकी निवृत्ति नहीं होती। 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति' इत्यादि श्रुतिसे आत्मसंवेदन ही मुक्तिका साधन है, इसलिए शब्द मोक्षजनक उक्त साक्षात्कारके लिए युक्ति आदिकी अपेक्षा करता है।

न वस्तुदर्शने शक्ता धूमवद्वह्निवीक्षणे ।
आपरोक्ष्याय सा युक्तिः प्रसङ्ख्यानमपेक्षते ॥ २२३ ॥
लोके दर्शनसम्बद्धं प्रसङ्ख्यानं समीक्षितम् ।
वेदेऽपि किं तथा तत्स्यान्न वेत्येतद्विधीयते ॥ २२४ ॥

शब्दको उक्त साक्षात्कारके लिए युक्तिकी भले ही अपेक्षा हो, पर प्रसंख्यानकी क्या आवश्यकता है ? ॥ २२२ ॥

युक्ति भी अपरोक्षज्ञानजनक नहीं है, अतः युक्तिसहकृत शब्द भी अपरोक्षज्ञानजनक नहीं हो सकता, इसलिए मोक्षहेतु आत्मैकत्वके अपरोक्षज्ञानके उत्पादके लिए प्रसंख्यानकी भी अपेक्षा है । यदि शङ्का हो कि केवल युक्ति परोक्षज्ञानजनक ही है, पर आगमसहकृत युक्ति अपरोक्षज्ञानोत्पादनमें समर्थ हो सकती है, क्योंकि सहकारीके वैचित्र्यसे विचित्र कार्य होता है, यह घृत और मधुके दृष्टान्तसे सिद्ध कर ही चुके हैं । इस शङ्काकी निवृत्तिके लिए कहते हैं—'न वस्तु०' इत्यादि ।

सहकारीके वैचित्र्यसे अवश्य विचित्र कार्य होता है, परन्तु प्रसंख्याननिरपेक्ष युक्तिसहकृत आगमसे अपरोक्षज्ञान कहीं भी दृष्ट नहीं है, प्रत्युत तावन्मात्रसे परोक्षज्ञान ही होता है, जैसे 'धूमोऽयम्' यह वाक्य युक्तिसहकृत होनेपर भी वह्निविषयक परोक्षज्ञानका ही उत्पादक है, अपरोक्षज्ञानका उत्पादक नहीं है, अतः दृष्टविरुद्ध कल्पना नहीं हो सकती ॥२२३॥

यदि प्रसंख्यानमें साक्षात्कारहेतुत्व लोकमें सिद्ध हो, तो उसमें शब्दसहकारित्वकी कल्पना कर सकते हैं अन्यथा नहीं, इस सन्देहकी निवृत्तिके लिए लोकमें प्रसंख्यान साक्षात्कारजनक है, यह सर्वानुभव सिद्ध है, यह कहते हैं—'लोके दर्शनसम्बद्धम्' इत्यादिसे ।

जैसे लोकमें प्रसंख्यान दर्शनसाधन है, यह देखा गया है, वैसे ही वेदमें भी प्रसंख्यान दर्शनका हेतु है या नहीं ? यह संशय होनेपर वेदमें भी प्रसंख्यान दर्शनका साधन है, यह विधान करते हैं । लोकमें प्रसंख्यान दर्शनका हेतु इस प्रकार है—जिस पुरुषने स्वरानुशासनका पूरा अभ्यास किया है, उस पुरुषको गीयमान निषाद, ऋषभ आदि स्वरविशेषका श्रावण प्रत्यक्ष होता है । यद्यपि सामा-

सामान्येनौषधं यद्वज्ज्वरनाशोपलक्षितम् ।
दृष्टं कष्टतरेऽप्येतद्विशेषेणोपदिश्यते ॥ २२५ ॥

न्यतः गानमें सबको स्वरका प्रत्यक्ष होता है, तथापि कौन ऋषभ है, कौन गान्धार है ? इत्यादि स्वरविशेषका प्रत्यक्ष सबको नहीं होता; किन्तु गान्धर्वशास्त्राभ्यास-जनित वासनासे युक्त अन्तःकरणवाले पुरुषको ही होता है । गान्धर्वशास्त्राभ्यास ही प्रसंख्यान है, तत्सहकृत गीयमान शब्द जैसे स्वरविषयक साक्षात्कारका हेतु होता है, वैसे ही वेदमें भी प्रसंख्यानसहकृत 'तत्त्वमसि' आदि वाक्य भी आत्मैकत्व-साक्षात्कारका हेतु हो, यह निश्चय करते हैं । यह कल्पना दृष्टानुसारी है, दृष्ट-विरुद्ध नहीं है ॥२२४॥

उक्त अर्थको दृष्टान्तसे स्पष्ट करते हैं—'सामान्येनौषधम्' इत्यादिसे ।

जैसे कषायपान आदि ओषधि साधारणतया ज्वरनिवर्तक लोकमें दृष्ट है, वही कषायपान आदि ओषधि कठिनतर सन्निपात आदि ज्वरकी निवर्तक है या नहीं ? यह संशय होनेपर सन्निपात विषम ज्वरकी भी निवर्तक होगी, इस सम्भावनासे उक्त ज्वरमें भी उक्त ओषधिका विधान करते हैं, वैसे ही लोकमें साक्षात्कारका साधन प्रसंख्यान स्वरप्रत्यक्षमें दृष्ट है, अतः वेदमें भी ऐसा होगा या नहीं ? ऐसा सन्देह होनेपर अवश्य होगा, इस अभिप्रायसे प्रसंख्यानका विधान है । यदि लोकमें प्रसंख्यानसहकृत शब्द साक्षात्कारजनक निश्चित है, तो संशय क्यों होगा ? इसलिए होगा कि स्वरप्रत्यक्ष लौकिक है, प्रसंख्यानसहकृत शब्द लौकिक प्रत्यक्षके जनकरूपसे दृष्ट है, पर प्रसंख्यान अलौकिक प्रत्यक्षजनक है या नहीं ? यह संशय हो सकता है । यज्जातीयके प्रति यज्जातीय कारण निश्चित है तज्जातीयके प्रति संशय नहीं हो सकता, किन्तु किंचिद्विजातीय कार्यके प्रति कारण है या नहीं ? यह संशय हो सकता है । यथा कषायपानादि ओषधि ज्वरसामान्यकी निवर्तक है यह निश्चित है, किन्तु ज्वरत्वरूपसे सजातीय और विषम-ज्वरत्व आदिसे विजातीय ज्वरविशेषकी निवर्तक है या नहीं ? ऐसा संशय होता है । तथा प्रसंख्यानसहकृत शब्द स्वरविषयक लौकिक प्रत्यक्षका कारण है यह निश्चय रहनेपर भी प्रत्यक्षत्वसे सजातीय और मानसप्रत्यक्षत्वसे विजातीय आत्मैकत्व प्रत्यक्षमें कारण है या नहीं ? इस संशयमें आपत्ति नहीं है । ऐसा वचन भी है—

यद्यप्यात्मेक्षणाख्यं तत्फलं क्वापि न वीक्षितम् ।
अथाऽपि विध्यवष्टम्भात् प्रसङ्ख्यानात् फलं भवेत् ॥ २२६ ॥
चित्रया पशुकामोऽयं यजेतेति विधेर्बलात् ।
फलं निश्चिनुते यद्वत्तद्वदत्राऽवगम्यताम् ॥ २२७ ॥

पाचनं शमनीयं वा कषायं पाययेत्तनुम् ।
ज्वरितं षडहेऽतीते लघ्वन्नप्रतिभोजिनम् ॥
स्तभ्यन्ते न विपच्यन्ते कुर्वते विषमज्वरम् ।
ततः साम्यबलापेक्षी भोजयेज्जीर्णतर्पणम् ॥
क्रियाभिराभिः प्रशमं न प्रयाति यदि ज्वरः ।
अक्षीणबलमांसस्य शमयेत् तं विरेचनैः ॥ इति ॥२२५॥

'यद्यप्यात्मेक्षणाख्यम्' इत्यादि । यदि प्रसंख्यान आत्मसाक्षात्कारके हेतु-रूपसे निश्चित नहीं हैं, तो आत्मसाक्षात्कारार्थी पुरुष प्रसंख्यानमें कैसे प्रवृत्त होगा ? फलार्थी निश्चित उपायमें प्रवृत्त होता है अनिश्चित उपायमें नहीं, यही शङ्का है ? आत्मदर्शन प्रसंख्यानका फल है, यह कहीं निश्चित नहीं है । अतः आत्मदर्शनार्थीकी प्रसंख्यानमें प्रवृत्ति कैसे होगी ? उत्तर—शास्त्रविधिके प्रामाण्यके भरोसे शास्त्रप्रामाण्यसे यह विश्वास होता है कि प्रसंख्यानसे आत्मसाक्षात्कार होता है । उसके उद्देशसे शास्त्रमें प्रसंख्यानका विधान है । अपौरुषेय आगम अनिश्चित अर्थका बोधक नहीं, इस विश्वासके बलपर मुमुक्षु पुरुषकी प्रसंख्यानमें प्रवृत्ति होती है ॥२२६॥

विधि फलकी निश्चायक है, यह दृष्टान्तसे स्पष्ट करते हैं—'चित्रया पशु०' इत्यादिसे ।

'चित्रया यजेत पशुकामः' यह दृष्टपशुफलक विधिवाक्य है । पशुकामनासे चित्रा याग करनेपर भी प्रतिबन्धक अदृष्ट आदिवश यदि वर्तमान जन्ममें पशुरूप फल न हुआ, तो जन्मान्तरमें इस यागका फल होगा या नहीं ? ऐसा संशय होनेपर जन्मान्तरमें फल न होगा, ऐसा निर्णायक कोई प्रमाण नहीं है ; प्रत्युत कालान्तरमें फल होगा, इसका निश्चायक विधिवाक्य ही है । वर्तमान जन्ममें ही पशुरूप फल होता है, ऐसा निश्चायक कोई पद प्रकृत वाक्यमें नहीं है । इस जन्मजन्मान्तर-साधारण पशुरूप फलके उद्देश्यसे उक्त यागका विधान है । 'वृष्टिकामः कारीर्या

विधिं विना श्रुतैकात्म्यस्तदर्थानुभवादृते ।
उपायाज्ञतया कुर्यात् तच्छास्त्रस्यार्थवादताम् ॥ २२८ ॥

यजेत' यह विधिवाक्य अनन्तर वृष्टिफलक है । सूखते हुए धान्यादिकी रक्षाके लिए अनन्तर वृष्टि ही कामनाकी विषय है । कालान्तरकी या जन्मान्तरकी वृष्टिसे तत्कालिक धान्योंका क्या उपकार होगा? अतएव जन्मान्तरीय वृष्टिके तात्पर्यसे कोई उक्त याग करता भी नहीं । अनन्तर वृष्टि न होनेपर उक्त वाक्य अप्रमाण हो जायगा, सो नहीं है, क्योंकि अनन्तर फलके अभावसे यागमें वैगुण्यकी अनुमिति होती है । यह 'न कर्तृकर्मसाधनवैगुण्यम्' इस न्यायसूत्रमें स्पष्ट है । एवं च प्रसंख्यान कारीरी यागके तुल्य नहीं है, किन्तु चित्रादि यागके तुल्य है; अतः वर्तमान जन्ममें यदि प्रसंख्यानसे आत्मसाक्षात्कार न हुआ, तो भी प्रसंख्यान अप्रामाणिक नहीं है, क्योंकि जन्मान्तरमें चित्रादि यागकी तरह विधिबलसे अवश्य उक्त साक्षात्काररूप फल होगा । वर्तमान जन्ममें ही साक्षात्कारके उद्देश्यसे प्रसंख्यानका विधान नहीं है । इसीसे 'अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्' इत्यादि वचन संगत होते हैं । यदि विधिबलसे सन्दिग्ध फलकी सिद्धि मानते हैं, तो गगनकुसुमकी भी सिद्धि विधिबलसे हो जायगी? नहीं होगी, कारण कि गगनकुसुममें तुच्छत्वका निश्चय है । तुच्छ उपायसाध्य नहीं होता, यह विपरीत निश्चय है । अतः विधिबलसे गगनकुसुमकी सत्ता नहीं सिद्ध हो सकती और तत्सत्ताके उद्देश्यसे कोई विधि भी नहीं है ॥२२७॥

'विधिं विना श्रुतै०' इत्यादि । आत्मानुभवके उपायभूत प्रसंख्यानमें यदि विधि न मानें, तो श्रुतात्मतत्त्व (जिसने आत्मतत्त्वका श्रवण कर लिया है ऐसा) पुरुष भी वस्तुप्रकाशक वाक्यको अप्रमाण मानेगा, क्योंकि आत्मानुभवोपाय प्रसंख्यानको मानते नहीं । प्रसंख्यानातिरिक्त आत्मदर्शनोपाय भूत दूसरा ज्ञान नहीं है । केवल शास्त्रमात्रसे उक्त कार्य नहीं होता । अतः प्रसंख्यानविधि मानने योग्य है, क्योंकि उक्त विधिके विना फलसिद्धि नहीं होती । और शास्त्रमें अप्रामाण्यकी प्रसक्ति भी होती है । इन दोषोंके परिहारके लिए प्रसंख्यानमें विधि आवश्यक है, अन्यथा दर्शनोपायके अज्ञानसे शास्त्र अर्थवाद ही माना जायगा । अर्थवाद जैसे स्तुतिपरक होनेसे स्वार्थमें प्रमाण नहीं होते, वैसे ही आत्मदर्शनप्रतिपादक वाक्योंमें भी स्वार्थपरत्वकी हानि हो जायगी ॥२२८॥

विध्येकनिष्ठे शास्त्रेऽपि वस्त्वसिद्धेः प्रमाणतः ।
देवताध्यानवद्भावविजन्मन्येतत्फलं भवेत् ॥ २२९ ॥
मानेन विषयासिद्धौ तद्दिदृक्षावियोगतः ।
प्रसङ्ख्यानविधावस्मिन्नधिकार्यपि को भवेत् ॥ २३० ॥

'विध्येकनिष्ठे शास्त्रेऽपि' इत्यादि । यदि प्रसंख्यानमें विधि मानोगे, तो 'तत्त्वमसि' आदि वाक्य उक्त विधिके शेष होनेसे अन्यपरक होंगे, इससे प्रत्यक्षादि प्रमाणके साथ विरोध होनेसे आत्मैकत्ववस्तुकी सिद्धि ही नहीं होगी। वस्तुके असिद्ध होनेपर ऐकात्म्यदर्शन भी नहीं होगा, कारण कि दर्शन वस्तुपरतन्त्र होता है, अतः विधिके बलसे आत्मैकत्वदर्शनकी कल्पना करनी पड़ेगी। जैसे जो जिस देवताकी उपासना करता है, वह तद्भावापन्न होता है, यहांपर तद्भावापत्ति फल कल्पित है। 'देवो भूत्वा देवान् यजेत' 'यथाक्रतु०' इत्यादि वाक्यसे तद्भावावगम नहीं होता, क्योंकि उक्त वाक्य उपासना-विधिपरक है, तत्स्वरूपाधिगतिपरक नहीं है, अतः वस्तुबोधक तत्त्वमस्यादि वाक्यको प्रधान तथा उक्त विधिको तद्गुण मानना चाहिए। यद्यपि फलहेतु विधिकी ही प्रधानता उचित है, तथापि उक्त विधिका फल वस्तुदर्शन-स्वरूप ही है, इसलिए वस्तुविषयक शास्त्र प्रधान है। प्रसंख्यानके विषय आत्मैकत्वके प्रतिपादक 'तत्त्वमसि' आदि वाक्य अनुवादक नहीं हैं, कारण कि प्रमाण द्वारा ज्ञात वस्तुके ज्ञापक ही अनुवादक होते हैं। विहित होनेपर भी प्रसंख्यान प्रमाण नहीं होता, क्योंकि उक्त रीतिसे प्रसंख्यान यथार्थ और अयथार्थ दोनों प्रकारके होते हैं; अतः 'तत्त्वमसि' आदि वस्तुके बोधक वाक्य अनुवादक नहीं हैं ॥ २२९ ॥

'मानेन विषयासिद्धौ' इत्यादि । प्रमाणसे (शास्त्रसे) विषयकी (आत्मैकत्वकी) असिद्धि होनेपर तत्साक्षात्कारविषयक इच्छा ही नहीं होगी अर्थात् इच्छाका असंभव होगा, अतः अधिकारीके न होनेसे प्रसंख्यानकी विधि ही कैसे होगी ? क्योंकि फलकामनावान् अधिकारी कहलाता है। प्रमित फलकी ही इच्छा होती है; अतः अधिकारी आदिके लाभके बिना विधि नहीं हो सकती। यदि प्रसंख्यानमें विधि मानें, तो उक्त रीतिसे विषयकी सिद्धि ही नहीं होगी, इसलिए प्रसंख्यानमें विधि नहीं है ॥ २३० ॥

श्रुतात्मतत्त्ववृत्तस्याऽनुभूतमपि स्वकम् ।
स्थानकं वाञ्छतः शास्त्रात् प्रसङ्ख्यानं विधीयते ॥ २३१ ॥
एवं चैकात्म्यतत्त्वेऽस्मिन् प्रसङ्ख्यानविधावपि ।
तात्पर्यं स्याद्विशिष्टत्वाद्वाक्यभेदोऽपि नाऽऽपतेत् ॥ २३२ ॥

विषयके असिद्ध होनेपर विधि नहीं होगी, इस प्रकार व्यतिरेक कहकर अब अन्वय कहते हैं—'श्रुतात्मतत्त्व०' इत्यादिसे ।

शास्त्र द्वारा आत्मैकत्वका श्रवण होनेपर भी अननुभूत—अनुभवाविषय—स्वस्वरूपकी इच्छावालेके लिए शास्त्रसे प्रसंख्यानका विधान है अर्थात् 'तत्त्वमसि', 'आत्मा ब्रह्म' इत्यादि शास्त्र द्वारा आत्मा और ब्रह्मके अभेदका श्रवण है, किन्तु श्रवणमात्रसे उसका साक्षात्कार नहीं हुआ और इच्छा तो है कि श्रुतार्थका साक्षात्कार हो, ऐसे अधिकारी मुमुक्षुके प्रति आत्मसाक्षत्कारके लिए शास्त्रसे प्रसंख्यानका विधान है । उक्त रीतिसे प्रसंख्यानसहकृत शास्त्र द्वारा उक्त साक्षात्कार अवश्य होगा, अतः इस रीतिसे कारणताके ग्राहक अन्वय और व्यतिरेकसे प्रसंख्यान उक्त साक्षात्कारका कारण है, यह निश्चय होता है ॥ २३१ ॥

'तत्त्वमसि' आदि शास्त्रका प्रसंख्यानविधि और वस्तुका बोध—इन दोनोंमें तात्पर्य माननेसे भिन्नार्थक होनेके कारण वाक्यभेद हो जायगा, इस शङ्काका परिहार करते हैं—'एवं चैकात्म्यतत्त्वेऽस्मिन्' इत्यादिसे ।

उक्त शास्त्रका प्रसंख्यान व्यापारहै, अतः उसके द्वारा उक्त शास्त्र उक्तार्थका बोधक है । दोनों अर्थ प्राधान्यसे बुबोधयिषित नहीं हैं, किन्तु गुण-प्रधानभावसे बुबोधयिषित हैं । प्रसंख्यान व्यापार होनेसे गुण है, आत्मैकत्व फल होनेसे मुख्य है अर्थात् अवान्तर तात्पर्य प्रसंख्यानमें हैं और प्रधान तात्पर्य उक्त अर्थमें है । यदि दोनों अर्थोंमें मुख्य तात्पर्य मानें, तो दोनों अर्थ मुख्य अर्थ होंगे । मुख्य दो अर्थोंका बोध एक वाक्यसे नहीं होता, इसलिए वाक्यभेद अनिवार्य हो जाता है । परन्तु सो प्रकृतमें नहीं है, क्योंकि प्रसंख्यानविधिरूप व्यापारके बिना उक्त शास्त्र उक्त अर्थका बोधक नहीं हो सकता, इसलिए अवान्तर तात्पर्य प्रसंख्यानविधिमें मानते हैं । यदि एकरूपसे अर्थद्वयका बोध इष्ट होता, तो वाक्यभेद होता । किन्तु यहांपर प्रसंख्यानकी अपेक्षासे आत्मैकत्वरूप अर्थ मुख्य है । अतः वाक्यभेदकी भी शङ्का नहीं है । अथवा विशिष्टमें विधि माननेसे विशेषणमें विधि अर्थात् सिद्ध होती है । विशेषणकी विधिके बिना

श्रवणं शाब्दविज्ञाने यथोपायस्तथा द्वयम् ।
अनुभूतौ च मनननिदिध्यासनरूपकम् ॥ २३३ ॥
तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत तत्त्ववित् ।
इत्यादिना प्रसङ्ख्यानं विधेयमनुभूयते ॥ २३४ ॥

विशिष्टमें विधि नहीं हो सकती, इसलिए विशेषणकी विधि आर्थिक है, शाब्द नहीं है, क्योंकि 'अनन्यलभ्यो हि शब्दार्थः' यह न्याय प्रसिद्ध है। एवं अर्थापत्ति प्रमाणसे भी प्रसंख्यानका लाभ हो सकता है, क्योंकि शाब्द बोध न होनेपर मानस बोध तो हो ही जायगा, जैसे अरुणा और एकहायनीके अभेदका बोध होता है ॥ २३२ ॥

दृष्टान्तप्रदर्शनपूर्वकविधिद्वयका उपसंहार करते हैं—'श्रवणम्' इत्यादिसे ।

व्युत्पन्नके अर्थात् समधिगतशाब्दन्यायतत्त्व पुरुषके शाब्दबोधमें शब्दश्रवण (शब्दका श्रावणप्रत्यक्ष) जैसे हेतु है, वैसे ही मनन-निदिध्यासन (मननपूर्वक-निदिध्यासन) आत्मतत्त्वके अनुभवमें हेतु है । अतएव 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' इस श्रुतिमें आत्मसाक्षात्कारका उपाय श्रवण-मननपूर्वक निदिध्यान कहा गया है । निदिध्यानका दूसरा नाम प्रसंख्यान है, निदिध्यासनके बिना केवल श्रवण और मननसे आत्मसाक्षात्कार नहीं होता, अतः साक्षात्कारार्थीको श्रवण-मननपूर्वक निदिध्यासन करना चाहिए, यह तात्पर्य है ॥ २३३ ॥

'तमेव धीरो' इत्यादि । धीर तत्त्ववित् (तत्त्ववेत्ता) उस आत्माको जानकर प्रज्ञा—निदिध्यासनरूप उपासना—करे, इत्यादि वाक्यसे प्रसंख्यानका विधान प्रत्यक्ष है । प्रज्ञाका तात्पर्य उपासनामें है । प्रसंख्यानमें—प्रत्यक्ष ज्ञानमें—प्रकर्ष—यथार्थत्वलक्षण है । मननके विना श्रवणमात्रसे यथार्थ आत्मज्ञान नहीं होता, कारण कि अनेकरूपसे आत्माका निरूपण श्रुतियोंमें है । विपरीत अनेक धर्मोंसे युक्त आत्माका श्रावण होनेपर धर्मी आत्मामें सन्देह होता है कि उसका वास्तविक स्वरूप क्या है ? कदाचित् विपरीत स्वरूपका भी निश्चय हो जाता है । सन्देहात्मक तथा विपरीत ज्ञानके अभ्याससे आत्मतत्त्वका निश्चय नहीं होता। स्थाणुमें 'स्थाणुर्न वा' अथवा 'पुरुषोऽयम्' इत्याकारक ज्ञानका निरन्तर अभ्यास करनेसे 'अयं स्थाणुः' यह निश्चय नहीं होता, अतः यथार्थ ज्ञानका

एवमैकात्म्यतात्पर्ये शास्त्रस्येष्टेऽपि युक्तिभिः ।
केचित् कार्यमपीच्छन्ति तदेतन्नैव युज्यते ॥ २३५ ॥
किमात्मभासनायाऽसावापरोक्ष्याय वाऽथवा ।
व्यवधानापनुत्त्यर्थं मानजन्यफलाय वा ॥ २३६ ॥
भानलोपस्य शङ्कापनुत्त्यर्थं वोत मुक्तये ।
सर्वथापि प्रयासस्ते विध्यर्थोऽत्यन्तनिष्फलः ॥ २३७ ॥

निरन्तर अभ्यास वस्तुतत्त्वका निश्चायक होता है । प्रकृतमें आत्मयथार्थानुभवकी कामनासे असन्दिग्ध और अविपरीत आत्मज्ञानरूप प्रज्ञाकी आवृत्ति करे, इस तात्पर्यसे प्रज्ञा निर्विचिकित्सशाब्दज्ञानपरक है । इसीसे आत्मदर्शन होता है, अन्यथा नहीं, यह भाव है ॥ २३४ ॥

प्रसंख्यानवादका उपसंहार करते हैं—'एवम्' इत्यादिसे ।

शास्त्रका ऐकाम्यमें तात्पर्य है, यह इष्ट होनेपर भी कोई-कोई विद्वान् युक्ति द्वारा कार्य—नियोग—भी वेदान्तमें चाहते हैं, यह उनकी कामना ठीक नहीं है । भाव यह है कि जैसे 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि कर्मकाण्डमें नियोगविषयक विधि है । लिङर्थ नियोग है । और उसके विषय यागादि हैं । स्वविषयके अनुष्ठानके विना स्वसिद्धि नहीं होती, इसलिए नियोगार्थी पुरुष यागके अनुष्ठानमें प्रवृत्त होता है । यागसे नियोगकी सिद्धि और नियोगसे स्वर्गादि फलकी सिद्धि होती है, वैसे ही 'प्रज्ञां कुर्वीत' इत्यादि वेदान्तवाक्यमें भी नियोगविषयक विधि मानना आवश्यक है। प्रसंख्यानसे नियोग द्वारा फलकी सिद्धि होती है। दोनों अपौरुषेय वाक्य हैं। दोनोंमें समान विधि होनी चाहिए। जिस तरह कालान्तरभावी फलके अव्यवहित पूर्वक्षणमें विनश्वर यागादिके न रहनेपर भी नियोग द्वारा याग फलका हेतु होता है, इसी प्रकार प्रसंख्यान भी नियोग द्वारा फलका हेतु होता है। प्रसंख्यान फल भी जन्मान्तरभावी है। शुक, वामदेव आदि उत्पत्तिके अनन्तर या गर्भमें ही प्रसंख्यानफलके भागी हुए, यह पुराण और श्रुतिमें प्रसिद्ध ही है । इसका निराकरण करते हैं—'तदेतद्' इत्यादिसे। अर्थात् आगे कहे जानेवाले दूषणोंसे यह मत समीचीन नहीं है ॥ २३५ ॥

'किमात्म०' इत्यादि। दोनों श्लोकोंमें विकल्पमात्रका निर्देश है।

प्रमात्रादित्रयं यस्मात् संविन्मात्रवपुर्भृतः ।
भाति पूर्वमभातं सत्तद्भाने किमपेक्ष्यते ॥ २३८ ॥
अहङ्कारः प्रमाता स्याद्धीवृत्तिर्मानमुच्यते ।
घटादिकं प्रमेयं स्याच्चिद्भासा भाति तत्त्रयम् ॥ २३९ ॥

विकल्पनिराकरणपरक श्लोकोंमें विकल्पोंका स्पष्ट निर्देश करके व्याख्यान करेंगे । उसी व्याख्यानसे पूर्व दो श्लोकोंका व्याख्यान स्वतःसिद्ध हो जायगा, इसलिए पृथक् व्याख्यान नहीं करते ॥ २३६,२३७ ॥

'प्रमात्रादित्रयम्' इत्यादि । प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय ये तीनों पूर्वमें अभासित होकर पश्चात् जिस संविन्मात्रशरीर अर्थात् चिदेकरस आत्मासे भासित होते हैं, उस चिदेकरस आत्माके भानके लिए अन्य विध्यादि पदार्थकी अपेक्षा नहीं है । प्रमाता आदि तीनों घटादिकी तरह जड़ पदार्थ हैं, अतः उनके भानके लिए प्रकाशक आत्माकी आवश्यकता है । आत्मा अजड़ (चेतन) पदार्थ है। यदि उसका भी प्रकाश पदार्थान्तरसे मानेंगे, तो तत्तत्प्रकाशकके प्रकाशके लिए प्रकाशकान्तरकी अपेक्षा होनेसे अनवस्था दोष होगा । और पूर्व-पूर्व प्रकाशक जड़ होते जायँगे, क्योंकि जड और अजड़में यही अन्तर है कि जड़का प्रकाश प्रकाशकके सम्बन्धसे होता है और अजड़का प्रकाश स्वयं होता है । यदि आत्माको स्वयंप्रकाश न मानें, तो जगत् अन्धकारमय हो जायगा, इसलिए आत्मा स्वयंप्रकाश है, यह मानना अत्यावश्यक है । फिर उसके लिए विध्यादिकी कल्पना व्यर्थ है । 'पूर्वमभातं भाति' यह उक्ति प्रमात्रादित्रयमें जड़त्वके स्फुटीकरणके लिए है ॥ २३८ ॥

'अहङ्कारः' इत्यादि । अहंकार प्रमाता है, विषयाकार बुद्धिवृत्ति प्रमाण है और घटादि प्रमेय हैं । जिस अपरोक्ष आत्माके सम्बन्धसे अहङ्कारादि अपरोक्षप्रतीतिके विषय होते हैं तथा आत्माकी तरह भासित होते हैं, उन अहङ्कारादिकोंको परोक्ष बुद्धिका विषय मानना ही अयुक्त है, अतः तद्गत-पारोक्ष्यकी निवृत्तिके लिए प्रसंख्यानकी विधि है, यह कथन निरर्थक है, क्योंकि प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय—ये तीनों चिदात्मप्रकाशसे ही प्रकाशित होते हैं ॥ २३९ ॥

परोक्षमपि देहादि यस्य भासाऽऽपरोक्ष्यभाक् ।
विभात्यात्मेव तस्य स्यादापरोक्ष्यमहेतुकम् ॥ २४० ॥
अज्ञानमपि निःशेषप्रमेयव्यवधानकृत् ।
येनाऽव्यवहितं भाति तत्केन व्यवधीयते ॥ २४१ ॥

'परोक्षमपि' इत्यादि । यद्यपि देहादि परोक्ष हैं, तथापि अपरोक्ष आत्माके प्रकाशके सम्बन्धसे वे अपरोक्ष प्रतीतिके गोचर होते हैं, अर्थात् आत्माके सदृश प्रतीत होते हैं। उसमें अपरोक्षत्व निर्हेतुक है। भाव यह है कि देहादि जड़ हैं, एवं अनात्मपदार्थ हैं अतः वे स्वतः प्रकाशित नहीं हो सकते, परन्तु 'अहं गौरः' 'अहं कृशः' इत्यादि प्रतीतिसे आत्मस्वरूपसे प्रकाशित होते हैं। इसमें कारण यह है कि आत्मा स्वयं अपरोक्ष प्रकाशस्वरूप है, आत्मामें शरीरादिका अध्यास है, अतः धर्मोंका भी विनिमय होता है, जैसे लोहेमें अग्नितादाम्याध्यास होनेपर अग्निगत दाहकत्वादि धर्म लोहमें भी प्रत्यक्ष प्रतीत होते हैं; अतएव 'अयो दहति' यह लोकमें प्रयोग होता है। परन्तु विचार करनेपर वास्तविक दाहकत्व आदि धर्म लोहमें नहीं हैं, अग्निमें ही हैं। उक्त लोकप्रयोग अध्यास-निवन्धन है; वैसे ही 'अहं गौरः' प्रतीति शरीरविषयक होनेपर भी वास्तवमें शरीर आत्मा नहीं है और न शरीरमें अपरोक्षत्व ही है। अपरोक्ष आत्मामें शरीरादिका अध्यास है, अतः शरीरमें अपरोक्षत्व आध्यासिक है। अतः अपरोक्षत्वके लिए विधिकी आवश्यकता नहीं है ॥ २४० ॥

व्यवधाननिरासार्थ प्रसंख्यानविधि है, इस विकल्पका खण्डन करते हैं— 'अज्ञानमपि' इत्यादिसे ।

अशेष प्रमेयका व्यवधायक अज्ञान जिस आत्मासे अव्यवहित भासित होता है, उस अज्ञानके प्रत्यक्षके लिए किस व्यवधायककी कल्पना करते हो, जिसकी कि निवृत्ति द्वारा अज्ञानका अपरोक्ष ज्ञान होता है। भाव यह है कि अज्ञानावृत आत्मामें घटादिका अध्यास है; अतः जबतक व्यवधायक अज्ञानकी वृत्तिज्ञान द्वारा निवृत्ति नहीं होती, तबतक विषयका अपरोक्ष ज्ञान नहीं होता । अतः विषयावरक अज्ञान विषय और आत्मामें व्यवधायक है । उसकी निवृत्ति विधिका फल है, यह ठीक नहीं है, क्योंकि घटादिके प्रत्यक्षमें व्यवधायक अज्ञान है। उसकी निवृत्ति होनेसे ही अनावृत चित्का सम्बन्ध होता है, यह ठीक है, किन्तु

स्वमहिम्नैव यः सिद्धस्तत्तमो हन्ति शास्त्रधीः ।
किं तातोऽन्यत्फलं मानजन्यं यद्विधितो भवेत् ॥ २४२ ॥

प्रत्यक्षमात्रमें व्यवधायक–प्रतिबन्धक–नहीं है, इसलिए उसकी निवृत्ति भी विधिका फल नहीं है । उदाहरणार्थ अज्ञानको लीजिये, अज्ञान अनावृत चित्‌में अध्यस्त है । इतर पदार्थका अध्यास अज्ञानावृत चैतन्यमें होता है, परन्तु अज्ञानके अध्यासके लिए कौन आवरक है ? स्वयं तो स्वकीयाध्यासमें आवरण हो नहीं सकता, क्योंकि आत्माश्रय होगा—यदि स्वका अध्यास हो, तो स्वयम् आवरण हो, और यदि स्वयं आवरण हो तो स्वका अध्यास हो अर्थात् 'अध्यासे सति आवरणम्, आवरणे सति अध्यासः'। यदि स्वकीय अध्यासमें अन्यको आवरक मानें, तो उसके अध्यासमें कौन आवरक होगा ? तदन्यसे तदन्यका अध्यास, फिर तदन्यका, फिर तदन्यका इस रीतिसे अनवस्थादोष हो जायगा । इस कारण अज्ञानका अध्यास अनावृत्त चैतन्यमें ही माना जाता है । 'अहमज्ञः' 'मामहं न जानामि' इत्यादि अज्ञानविषयक प्रत्यक्ष प्रसिद्ध है । इस प्रत्यक्षमें व्यवधायक अज्ञानकी निवृत्ति कहां है । व्यवधायक है नहीं, तो तन्निवृत्ति कहाँसे आवेगी ? अज्ञान-प्रत्यक्षकी तरह आत्मप्रत्यक्षमें भी व्यवधानकी कल्पना नहीं हो सकती । दोके मध्यमें तीसरा व्यवधायक होता है, आत्मा अद्वितीय है, वास्तविक जीव और ब्रह्ममें भेद नहीं है । 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' इत्यादि श्रुतिसे द्वितीय चेतनका प्रतिषेध स्पष्ट ही है, अतः आत्मैकत्वप्रत्यक्षार्थ तमोपनोदनके लिए नियोगकी कल्पना व्यर्थ है, यह वार्तिकसारका अनुसारी अर्थ है । और वार्तिकमें भी कहा है कि—

'अप्यज्ञानादिनिःशेषप्रमेयव्यवधानकृत् ।
स्वतः प्रसिद्धात्संसिध्येत्तदसिद्धिः कुतो भवेत् ॥'

इस श्लोकमें कहे गये हैं—आदि शब्दसे संशय, मिथ्याज्ञान अभिमत हैं । सर्वप्रमेयावरक अज्ञानादिकी सिद्धि स्वप्रकाश आत्मासे होती है । प्रपञ्चसाधक वस्तुकी प्रबल प्रमाणसे सिद्धि है, अतः तन्निरास हो नहीं सकता, उसके लिए प्रसंख्यान-विधि निष्प्रयोजन है । स्वतःसिद्ध स्वयंप्रकाश आत्मासे अज्ञान सिद्ध होता है, उसकी निवृत्ति किससे हो ? उक्त आत्मासे अतिरिक्त तो कोई प्रबल प्रमाणान्तर है नहीं । जिसके रक्षक ईश्वर हैं, उसको कौन मार सकता है ? ॥ २४१ ॥

चतुर्थ विकल्पका निराकरण करते हैं—'स्वमहि०' इत्यादिसे ।

जो प्रत्यगात्मा स्वप्रकाश होनेसे स्वयंसिद्ध है, उसका प्रकाश नित्य है, अतः

मात्रादित्रयलोपेऽपि लोपसाक्षितयेष्यते।
योऽसावलुप्तचैतन्यस्तल्लोपः शङ्क्यते कथम् ॥ २४३ ॥

वह मानजन्य फल नहीं हो सकता। नित्यत्व और अनित्यत्वकी एकत्र स्थिति परस्पर विरोधसे नहीं हो सकती। उसके अज्ञानकी निवृत्ति शास्त्रसे ही होती है, अतः वह भी प्रसंख्यानविधिका फल नहीं है। प्रमाणसे प्रमेयकी सिद्धि होती है, यह सर्वतन्त्रसिद्धान्त है। प्रमाण न होनेसे कूर्मरोमादि प्रमेय नहीं माने जाते, इसमें किसीको भी विप्रतिपत्ति नहीं हैं।

अब शङ्का यह होती है कि जैसे घटादि प्रमेय स्वातिरिक्त चक्षु आदि प्रमाणोंसे सिद्ध होते हैं, वैसे ही आत्माकी भी स्वातिरिक्तवस्त्वन्तरसे सिद्धि होनी चाहिए। अतः आत्माको स्वयंसिद्ध मानना उचित नहीं है।

उत्तर—यदि आत्माकी सिद्धि वस्तन्तरसे मानियेगा, तो वस्त्वन्तरकी सिद्धि फिर वस्त्वन्तरसे कहिएगा। ऐसी परिस्थितिमें अनवस्था दोष होगा। अन्ततो गत्वा यदि वस्त्वन्तरकी सिद्धि स्वतः मानिये, तो जिस वस्तुकी सिद्धि स्वतः मानियेगा वही आत्मा होगा, केवल शब्दमात्रमें मतभेद होगा, वस्तुमें नहीं। और आत्मातिरिक्त स्वयंसिद्ध पदार्थमें कोई प्रमाण भी नहीं है, अतः अप्रामाणिक स्वयं सिद्ध पदार्थकी कल्पनाकी अपेक्षासे श्रुत्यादिप्रमित स्वयंसिद्ध आत्माका स्वीकार ही श्रेयस्कर है। इस विचारसे आत्मप्रकाश नित्य होनेसे प्रमाणजन्य फल नहीं है, किन्तु तद्गत अज्ञानकी निवृत्ति ही शास्त्र प्रमाणका फल है। तदतिरिक्त फलके अभावसे प्रसंख्यानमें विधि नहीं हो सकती। लोकमें भी प्रमेयके प्रतिपादनके लिए प्रमाणकी जिज्ञासा होती है, किन्तु प्रमाणमें प्रमाणान्तरकी जिज्ञासा न होनेसे प्रमाणकी सत्ता प्रमाणान्तरके बिना मानी जाती है अर्थात् प्रमाण स्वयंसिद्ध है। सब प्रमाणोंमें आत्मा मूर्द्धाभिषिक्त प्रमाण है। आत्मा तो प्रमितिसमवायी होनेसे प्रमाता है, अतः प्रमितिकरण—प्रमाण—कैसे हो सकता है, क्योंकि करण और कर्ता एक नहीं हैं? ठीक है, लौकिक व्यवहारमें प्रायः प्रमाता प्रमितिका करण नहीं कहलाता, परन्तु वेदान्तमें उपाधिके भेदसे आत्मा प्रमितिकरणरूप प्रमाण भी कहलाता है। अतएव 'तन्मे प्रमाणं शिवः' यह कुसुमाञ्जलिका श्लोक भी संगत होता है एवं परमेश्वरका वाचक शब्द भी प्रमाण है, 'प्रमाणं प्राणनिलयः' यह विष्णुसहस्रनाममें प्रमाण शब्द भी पढ़ा जाता है। अतएव न्यायसूत्रमें मङ्गलार्थ सर्वप्रथम प्रमाणशब्द ही पढ़ा है, 'प्रमाणप्रमेय०' इत्यादि न्यायका प्रथम सूत्र है ॥ २४२ ॥

पञ्चम विकल्पका निराकरण करते हैं—'मात्रादित्रयलोपेऽपि' इत्यादिसे।

ऐकात्म्यस्य स्वतो मुक्तेरज्ञानात्तस्य बाध्यता ।
ज्ञानादज्ञानहानौ स्यात् किमपेक्ष्यं विमुक्तये ॥ २४४ ॥
तमोमात्रान्तरायत्वादैकात्म्याख्यस्य वस्तुनः ।
असाध्यसाधने तस्मिन् काऽपेक्षा भावनां प्रति ॥ २४५ ॥

प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय अथवा प्रमाता, कर्ता और भोक्ता—इन तीनोंके लोपका जो साक्षी अलुप्त चैतन्य आत्मा है उसके लोपकी शङ्का कैसे हो सकती है अर्थात् जो प्रमाता आदि भाव तथा अभावका साक्षी (प्रकाशक) नित्यचैतन्यस्वरूप है उसके प्रकाशके लोपकी शङ्का कैसे हो सकती है ? अभाव असाक्षिक नहीं माना जाता, क्योंकि प्रमेयसमुदायरूप भाव और अभावका साक्षी आत्मा है। आत्माका यदि अभाव हो, तो उसका साक्षी कौन होगा ? जैसे स्वयं स्वभावका साक्षी नहीं होता वैसे ही स्वाभावका साक्षी नहीं हो सकता। अपनी सत्ताके समयमें अपना अभाव नहीं रह सकता और अपने अभावके समयमें अपनी सत्ता नहीं रह सकती, अतः आत्मा नित्यालुप्त चैतन्यस्वरूप है ॥ २४३ ॥

'ऐकात्म्यस्य' इत्यादि। छठे विकल्पमें दोष देते हैं—मुक्तिके लिए विधि है, यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि ऐकात्म्यस्वरूप मुक्ति नित्यसिद्ध है, साध्य नहीं है।

शङ्का—यदि मुक्ति नित्य है, तो वह संसारदशामें अनुभवकी विषय क्यों नहीं होती ? अतः अननुभव ही उसकी नित्यसिद्धतामें बाधक है।

उत्तर—अज्ञान अनुभवका प्रतिबन्धक है। जैसे अन्धकारावृत देशमें घटादिके रहनेपर उनका प्रत्यक्ष नहीं होता और प्रदीपादिसे प्रतिबन्धकीभूत अन्धकारकी निवृत्ति होनेपर प्रत्यक्ष होता है, वैसे ही आत्मस्वरूप मुक्ति नित्य होनेसे संसारदशामें भी है ही, परन्तु अन्धकारस्थानापन्न अज्ञानसे प्रतिबद्ध है, इसलिए संसारकालमें वह प्रत्यक्ष नहीं होती। प्रदीपस्थानापन्न आत्मतत्त्वके साक्षात्कारसे प्रतिबन्धक अज्ञानकी निवृत्ति होनेपर पूर्वसिद्ध मुक्तिकी अभिव्यक्ति होती है, 'अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः' इस श्रीमद्भगवद्गीताके वाक्यमें उक्त अर्थका ही निरूपण किया गया है। शास्त्रजन्य आत्मतत्त्वका साक्षात्कार अज्ञानकी निवृत्तिके लिए अपेक्षणीय है, अतः तदतिरिक्त प्रसंख्यानविध्यादि मुक्तिके लिए प्रार्थनीय नहीं हैं ॥ २४४ ॥

उक्त अर्थको ही पुनः स्पष्ट करते हैं—'तमोमात्रान्तरायत्वा०' इत्यादिसे। यदि उक्त रीतिसे मुक्ति स्वतःसिद्ध है, उसे साधनकी अपेक्षा नहीं है,

यदाऽनुभवकामस्य कार्यत्वेन प्रतीयते ।
प्रसङ्ख्यानं तदैकात्म्यतात्पर्यं कथमुच्यते ॥२४६ ॥
युक्तं नैकस्य शास्त्रस्य तात्पर्यं कार्यसिद्धयोः ।
द्वयस्याऽपि प्रधानत्वाद्वैशिष्ट्यं नैव सम्भवेत् ॥ २४७ ॥

तो ज्ञान व्यर्थ है । इस शङ्काका निराकरण करते हैं—साध्य-साधनविभागशून्य आत्मैकत्वरूप मोक्षमें विधेय अभ्यास आदिकी अपेक्षा नहीं है, किन्तु तिरोधायक अज्ञानकी निवृत्तिके लिए ज्ञानकी अपेक्षा है । अन्तराय (व्यवधायक) तमोमात्र (अज्ञान) मुक्तिकी अभिव्यक्तिमें प्रतिबन्धक है, अतः उसकी निवृत्तिके लिए ज्ञानकी अपेक्षा होनेपर भी साध्य-साधन-विभागसे शून्य ऐकात्म्यरूप मुक्तिमें भावनाकी अपेक्षा नहीं है, यह श्लोकका अर्थ है। भाव यह है कि तत्त्वज्ञानोत्पत्तिसे पहले साध्य-साधनका विभाग है, अतः तत्-तत् साध्य फलोंकी प्राप्तिके लिए तत्-तत् साधनोंकी अपेक्षा होती है, परन्तु 'आत्मै-वेदं सर्वम्' इत्यादि श्रुतिसे आत्मतत्त्वसाक्षाकार होनेके बाद द्वैतज्ञानका उप-मर्दन होनेसे द्वैतज्ञाननिबन्धन साध्यसाधनादिके विभागका लोप होनेपर भावना आदिकी अपेक्षा नहीं होती, अतएव 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत् केन कं शृणुयात्' यह श्रुति आत्मज्ञानदशामें सामान्यतः साध्यसाधनका प्रतिषेध करती है ॥ २४५ ॥

'यदाऽनुभवकामस्य' इत्यादि। शङ्का—यद्यपि प्रसंख्यान साक्षात् मोक्षका उपाय नहीं है, आत्मतत्त्वज्ञान ही साक्षात् मोक्षका उपाय है, फिर भी तत्त्वज्ञानका शेष (अङ्ग) प्रसंख्यान है, क्योंकि प्रसंख्यानके विना 'तत्त्वमसि' आदि वाक्य द्वारा आत्मतत्त्वका ज्ञान नहीं हो सकता, इसलिए परम्परया मोक्षके लिए प्रसंख्यानविधि आवश्यक है ।

उत्तर—मोक्षके प्रति उपायभूत साक्षात्कारके लिए यदि प्रसंख्यानका विधान मानोगे, तो वेदान्तका आत्मैक्यवस्तुमें तात्पर्य नहीं होगा, क्योंकि उक्त शास्त्रका तात्पर्य प्रसंख्यानविधिमें ही सिद्ध होगा, ऐसा होनेपर आत्मैक्य, वेदान्तवेद्य न होनेसे, निष्प्रामाणिक हो जायगा ॥ २४६ ॥

प्रकृत वाक्य प्रसंख्यानविधि और आत्मैक्य उभयपरक है, इसका निराकरण करते हैं—'युक्तं नैकस्य शास्त्रस्य' इत्यादिसे ।

ब्रह्मात्मत्वं यदि ज्ञातं कुतस्तर्हि परोक्षता ।
न ह्यात्मनः परोक्षत्वं मूढोऽपि प्रतिपद्यते ॥ २४८ ॥
मितेर्वृद्धिर्मेयवृद्धौ तद्वृद्धिर्मितिवृद्धितः ।
इत्यन्योन्याश्रयत्वेन मितिवृद्धिः कथं तव ॥ २४९ ॥

एक ही वाक्य सिद्ध और साध्य उभयपरक नहीं हो सकता, क्योंकि उसका दोनों अर्थोंमें मुख्य तात्पर्य माननेसे वाक्यभेद हो जायगा। और प्रसंख्यान द्वारा वस्तुके बोधनमें उसका तात्पर्य माननेपर तो वाक्यभेद नहीं होगा। प्रसंख्यानमें अवान्तर तात्पर्य और ऐकात्म्यके बोधनमें मुख्य तात्पर्य हो सकता है, परन्तु ऐसा मान नहीं सकते, कारण कि 'भूतं भव्यायोपदिश्यते' इस न्यायसे भूतकी अपेक्षा भव्य ही प्रधान होता है, अतः वस्तुके बोधन द्वारा प्रसंख्यानमें ही मुख्य तात्पर्य मानना उचित है, और ऐकात्म्यकी सिद्धिके लिए मुख्य तात्पर्य ऐकात्म्यमें ही मानना उचित है। इस तरह दोनोंमें मुख्य तात्पर्य माननेमें विरोध है, क्योंकि साध्य सतत कार्य ही है और सिद्ध साध्यकी सिद्धिके लिए है, अतः एक वाक्यका दोनों अर्थोंमें मुख्य तात्पर्य नहीं हो सकता।

'वैशिष्ट्यं नैव' का तात्पर्य यह है कि यदि प्रसंख्यानविशिष्ट ऐकात्म्यमें या ऐकात्म्यविशिष्ट प्रसंख्यानमें विधि मानी जाय, तो एक अर्थ प्रधान और दूसरा अप्रधान होगा एवं प्रधानमें मुख्य तात्पर्य तथा अप्रधानमें अवान्तर तात्पर्य होगा। यदि दोनों अर्थ प्रधान माने जायँ, तो विरोध होगा। एकको प्रधान और दूसरेको अप्रधान माननेमें दोष नहीं है। 'नैव' से विशिष्टविधिका खण्डन करते हैं— उक्त रीतिसे दोनों अर्थोंके प्राधान्यरूपसे विविक्षित होनेसे विशिष्टकी विधि भी नहीं हो सकती ॥ २४७ ॥

आत्मतत्त्व ज्ञात है, इस पक्षमें तो परोक्ष ही ज्ञान होगा, अतः अपरोक्ष ज्ञानके लिए विधि अपेक्षित है, इस पूर्वोक्तका खण्डन करते हैं— 'ब्रह्मात्मत्वम्' इत्यादिसे।

ब्रह्मात्मत्व यदि ज्ञात होगा तो ब्रह्म परोक्ष कैसे होगा? विषय परोक्ष होनेसे ज्ञान परोक्ष होता है। मूर्ख भी पुरुष स्वात्माका परोक्ष अनुभव नहीं करता, किन्तु अपरोक्ष ही अनुभव करता है। सो शास्त्र ही से हो जायगा, इसके लिए प्रसंख्यान विधिकी आवश्यकता नहीं है ॥ २४८ ॥

'मितेर्वृद्धिर्मेयवृद्धौ' इत्यादि। एक-एक पादसे मितिकी वृद्धि होती है,

पादानामपि सम्भूय न युक्ता दर्शनार्थता ।
सम्भूयकारितोत्पत्तौ दृष्टा न त्ववभासने ॥ २५० ॥

इस पूर्वोक्त अर्थका अन्योन्याश्रय दोषसे खण्डन करते हैं—ज्ञानकी वृद्धि विषयातिशयके विना नहीं होती अर्थात् इस ज्ञानसे यह ज्ञान अधिक है, इसमें कारण विषय ही है । न्यूनविषयक ज्ञानसे अधिकविषयक ज्ञान बड़ा कहा जाता है । स्वतः ज्ञानमें उत्कर्ष या अपकर्षक नहीं है । विषयके उत्कर्ष और अपकर्षसे ज्ञानमें उत्कर्ष और अपकर्षका व्यवहार होता है । अतएव उदयनाचार्यने कुसुमाञ्जलिमें कहा है—'विषयेण विशेषो हि निराकारतया धियाम्' । 'विषयेण' यह तृतीया अभेदमें है । ज्ञानमें विषय ही विशेष है, कारण कि ज्ञान निराकार है, अतः आकार द्वारा उसका उत्कर्ष और अपकर्ष नहीं होता, किन्तु विषय ही विशेष है । मेयकी वृद्धि मितिकी वृद्धिके विना नहीं होती । मेयकी वृद्धिसे मितिकी वृद्धि, मितिकी वृद्धिसे मेयकी वृद्धि, यह अन्योन्याश्रय दोष है, अतः आपके मतसे मितिकी वृद्धि कैसे होगी ? अर्थात् नहीं हो सकती । एक-एक पादसे मितिकी वृद्धि तब होगी, जब मेयकी वृद्धि होगी, और मेयकी वृद्धि होनेपर भिन्नविषयक मितिके स्वस्वविषयमें व्यवस्थित होनेसे भिन्न-भिन्न मिति होगी, एक मिति तो होगी नहीं । ऐसी अवस्थामें मितिकी वृद्धि कैसे होगी ? यह तात्पर्य है ॥ २४९ ॥

जो यह कहा गया है कि तेल, बत्ती और अग्निके दृष्टान्तसे चारों पाद मिलकर आत्मैकत्वके बोधक हैं, सो भी ठीक नहीं है, यह कहते हैं—'पादानामपि' इत्यादिसे ।

उक्त दृष्टान्तसे चारों पाद मिलकर ज्ञानके उत्पादक हो सकते हैं, अर्थके प्रकाशक नहीं हो सकते। जैसे तेल, बत्ती और अग्नि—ये तीनों प्रदीपके उत्पादक हैं । प्रदीपसे घटादि वस्तुका प्रकाश होता है । तेल आदि सब मिलकर घटके प्रकाशक नहीं हैं । तेल आदि तीनों वस्तुओंको एक जगह रखनेपर भी प्रदीपकी उत्पत्तिके विना वस्तुका प्रकाश नहीं होता, अतः उक्त तीनों द्वारा उत्पन्न प्रदीप ही लोकमें अर्थका प्रकाशक देखा गया है, वैसे ही उक्त पादचतुष्टय सम्भूय मिलकर प्रमितिके उत्पादक हैं और प्रमिति अर्थकी प्रकाशक है, यही उक्त दृष्टान्तसे सिद्ध होता है ॥ २५० ॥

तैलवर्त्यग्नयोऽप्येते प्रदीपोत्पत्तिकारणम् ।
जातात्मलाभो दीपोऽर्थं स्वयमेव प्रकाशयेत् ॥ २५१ ॥
अतः सम्भूयकारित्वं यदि वक्षि तदोच्यताम् ।
मानस्वरूपलाभाय, न तु मेयोपलब्धये ॥ २५२ ॥
मानपादत्वमप्येषां मात्रादीनामसङ्गतम् ।
प्रमातुर्मानपादत्वे मानं स्यादप्रमातृकम् ॥ ॥ २५३ ॥

'तैलवर्त्यग्नयोऽप्येते' इत्यादि। तेल, बत्ती और अग्नि ये तीनों प्रदीपकी उत्पत्तिके कारण हैं। इन तीनोंसे उत्पन्न प्रदीप स्वयं—उक्त तीनोंकी सहायताके विना—अर्थका प्रकाशक है ॥ २५१ ॥

'अतः संभूयकारित्वम्' इत्यादि। चूंकि उक्त तीनों प्रदीप उत्पत्तिके कारण हैं, अतः उनमें संभूयकारित्व है, अर्थात् वे मिलकर कारण हैं, यह यदि कहें, तो भले ही आप कहें, किन्तु किस कार्यमें संभूयकारिता है, ऐसी जिज्ञासा होनेपर प्रमितिकी उत्पत्तिमें सम्भूयकारिता है अर्थके बोधमें नहीं, यही समीचीन उत्तर होगा। इससे आपका अभीष्ट नहीं सिद्ध होता ॥ २५२ ॥

प्रमात्रादिमें मानपादत्व मानकर यह दोष दिया है, वस्तुतः प्रमात्रादि मानपाद नहीं हो सकते, यह कहते हैं—'मानपादत्वमप्येषाम्' इत्यादिसे।

प्रमात्रादिमें मानपादत्व मानना अत्यन्त असङ्गत है, क्योंकि प्रमाण सप्रमातृक होता है, अप्रमातृक नहीं। प्रमाता, मानपाद होनेसे, प्रमाणके अन्तर्गत हो जायगा, जैसा कि आप कहते हैं। ऐसी अवस्थामें प्रमातृशून्य ही प्रमाण होगा, और ऐसा हो नहीं सकता, कारण कि प्रमाण करण है, करण कर्तृव्यापारका विषय होता है। यदि कर्ता ही नहीं होगा, तो उसके व्यापारका विषय करण कैसे होगा? और यह भी सूक्ष्म दृष्टिसे विचार करना चाहिए कि यदि प्रमाता मानांश है, तो इसमें प्रश्न यह होता है कि संसारी आत्मा मानांश है, या असंसारी? प्रथम पक्षमें संसारी आत्मा मानका आश्रय है, अतः वह मानका अंश नहीं हो सकता। क्योंकि आश्रयाश्रयिभाव अत्यन्त भिन्नमें होता है, अभिन्नमें नहीं। अंश और अंशीका अत्यन्त भेद नहीं माना जाता। द्वितीय कल्पमें असंसारी आत्मा प्रमेय है। अतः वह प्रमाणांश नहीं हो सकता, विषयत्व और विषयित्व एकमें नहीं रहते। प्रमाणमें विषयित्व रहता है और प्रमेयमें विषयत्व।

प्रमाणादतिरिक्तो यो मेयं मानेन बुध्यते ।
स प्रमाता कथं तस्य मानपादत्वमुच्यते ॥ २५४ ॥
द्वितीयपादः शब्दाख्य ऐकात्म्यं बोधयेन्न वा ।
अबोधे मानपादत्वं केन द्वारेण गच्छति ॥ २५५ ॥
बोधे तु तावतैवाऽत्र पुमर्थस्य समाप्तितः ।
अप्रामाण्यभयं कस्माद्येन युक्तिमपेक्षते ॥ २५६ ॥

यदि प्रमेय मानांश होगा, तो प्रमेयत्वरूपसे विषयत्व और मानांशत्वरूपसे विषयित्वकी आपत्ति होनेसे एकमें विरुद्ध दो धर्मोंकी आपत्ति हो जायगी, जो अत्यन्त अनुचित है ॥ २५३ ॥

प्रमाणसे अतिरिक्त प्रमाता होता है, यही स्पष्ट कहते हैं—'प्रमाणाद-तिरिक्तो' इत्यादिसे ।

प्रमाणसे (साधनसे) अतिरिक्त (भिन्न) जो प्रमासमवायी प्रमाता प्रमाण द्वारा प्रमेयको जानता है वह प्रमाता मानका अंश है, यह कैसे कहते हो ? अर्थात् अनुचित कहते हो ॥ २५४ ॥

'द्वितीयपादः' इत्यादि । शब्दको द्वितीयपाद कहते हैं, इसमें यह प्रश्न होता है कि शब्दनामक द्वितीयपाद ऐकात्म्यरूप अर्थका बोध कराता है या नहीं ? प्रथम पक्षमें यदि वह उक्त अर्थके बोधका जनक नहीं है, तो उसे किस रूपसे मानपाद कहते हैं । प्रमितिकरण द्वारा प्रमाण कहलाता है । जब शब्द उक्त अर्थ-विषयक प्रमितिका जनक नहीं है, तो प्रमाण ही नहीं हुआ, फिर अप्रमाणको प्रमाणांश कहना मिथ्या ही है ॥ २५५ ॥

'बोधे तु तावतैवाऽत्र' इत्यादि । यदि आत्मैकत्वविषयक बोध शब्दसे होता है, यह मानते हो, तो उस बोधमात्रसे मोक्षरूप पुरुषार्थकी प्राप्ति होनेसे फलपर्यन्त शब्दका व्यापार समाप्त हो गया, अतः सप्रयोजनत्व होनेसे प्रामाण्य ही है, तो फिर उसमें अप्रामाण्यका भय है किससे ? यदि कहो कि निष्प्रयोजनत्वके भयसे शब्द युक्तिकी अपेक्षा करता है, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि सप्रयोजनत्वसे निष्प्रयोजनत्वकी निवृत्ति होनेसे भयका कारण ही नहीं है, अतः शब्दको युक्तिकी अपेक्षा नहीं हो सकती ॥ २५६ ॥

परोक्षत्वेन शास्त्रेण बुद्धं न त्वनुभूयते ।
अप्रामाण्यभयं तस्मादिति चेद्युच्यते न यत् ॥ २५७ ॥
मेयस्वभावात् पारोक्ष्यं किं वा शब्दस्वभावतः ।
आद्ये किं ब्रह्मता तत्र परोक्षा स्यादुतात्मता ॥ २५८ ॥
यत्साक्षादपरोक्षं तद् ब्रह्मेति ब्रह्मणः श्रुतौ ।
मुख्यापरोक्ष्यमुदितं पारोक्ष्यं शङ्क्यते कुतः ॥ २५९ ॥

'परोक्षत्वेन' इत्यादि । शब्दसे आत्मतत्त्वका ज्ञान तो जरूर होता है, किन्तु अनुभव—प्रत्यक्ष नहीं होता, इसलिए अप्रामाण्यका भय होता है। ज्ञानमात्रसे मुक्ति नहीं होती, किन्तु अनुभवसे होती है, इसलिए युक्तिकी सहायता अपेक्षित है । यद्यपि शाब्दज्ञान भी अनुभव ही है, तथापि अनुभवसे अपरोक्षात्मक अनुभव विवक्षित है; यह भी युक्त नहीं है, कारण कि आत्मतत्त्वका शाब्दज्ञान भी अपरोक्षात्मक ही होता है, परोक्षात्मक नहीं होता है। जब प्रमेय परोक्ष होता है तब तद्विषयक शाब्दज्ञान भी परोक्ष होता है । जब विषय अपरोक्ष होता है, तब तद्विषयक शाब्द ज्ञान भी अपरोक्ष ही होता है । परोक्षत्व और अपरोक्षत्व मेयके अनुसार हैं, शब्दके अनुसार नहीं ॥ २५७॥

'मेयस्वभावात् पारोक्ष्यम्' इत्यादि । 'तत्त्वमसि' आदि शब्द द्वारा ब्रह्मात्मज्ञान परोक्ष होता है, यह आप कहते हैं, इसमें प्रश्न यह है कि उक्त ज्ञानमें परोक्षत्व मेयस्वभावसे होता है, अथवा शब्दस्वभावसे ? प्रथम पक्षमें फिर विकल्प है—ब्रह्म परोक्ष है या आत्मा ? ब्रह्म और आत्माका ज्ञान होनेपर उनके अभेदका ज्ञान हो सकता है, अन्यथा नहीं । अतः प्रमेय ब्रह्म और आत्मा दोनों हैं । एक-एकका परोक्ष होनेपर उनके भेदका ज्ञान परोक्ष होगा, इस तात्पर्यसे एक-एकमें परोक्षत्वका प्रश्न है ॥ २५८ ॥

'यत्साक्षादपरो०' इत्यादि । 'यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म' इत्यादि वाक्यसे ब्रह्म अपरोक्षात् अर्थात् अपरोक्ष है, यह ज्ञात होता है । साक्षात्शब्दसे ब्रह्ममें मुख्य अपरोक्षत्व है, घटादिकी तरह ज्ञान द्वारा नहीं, यह ज्ञात होता है, अतः ब्रह्ममें परोक्षत्वकी शङ्का क्यों करते हो ? निश्चय संशयका प्रतिबन्धक होता है । निर्दोष श्रुति द्वारा निश्चित अर्थमें सन्देह ही नहीं हो सकता ॥ २५९ ॥

आत्मनस्तत्र पारोक्ष्यं पूर्वमेव निराकृतम् ।
शब्दः स्वयमुदासीनः परोक्षत्वापरोक्ष्ययोः ॥ २६० ॥
देशादिभिर्व्यवहितं पारोक्ष्येणाऽवबोधयेत् ।
इतरत्त्वापरोक्ष्येण दशमस्त्वमसीतिवत् ॥ २६१ ॥
देशात्कालाद्वस्तुतो वा व्यवधानं मनागपि ।
ऐकात्म्यवस्तुनो नास्ति तत्र पारोक्ष्यधीः कुतः ॥ २६२ ॥

'आत्मनस्तत्र' इत्यादि । आत्मा परोक्ष है, इसका निराकरण तो 'ब्रह्मात्मनः परोक्षत्वं मूढोऽपि प्रतिपद्यते' इस पूर्वोक्त पद्यसे ही कर चुके हैं, अतः पुनः निराकरण करना पिष्टपेषणके समान है। जिस अर्थमें किसीकी विप्रतिपत्ति हो, उस अर्थका साधन-बाधन अपेक्षित होता है। जो अर्थ मूढबुद्धिको भी सन्दिग्ध नहीं है, प्रत्युत निश्चित है, उसका साधन करना व्यर्थ है। 'संदिग्धे न्यायाः प्रवर्तन्ते' इस न्यायसे संदिग्ध अर्थका ही सोपपत्तिक निर्णय करना चाहिए। द्वितीय कल्पके विषयमें कहते हैं—'शब्दः' इति । शब्द परोक्षत्व तथा अपरोक्षत्वमें स्वयमुदासीन है अर्थात् परोक्षत्व शब्दस्वभावनिबन्धन नहीं है, अगर ऐसा होता तो 'दशमस्त्वमसि' इत्यादि वाक्यसे अपरोक्ष ज्ञान नहीं हो सकता । अपरोक्ष भ्रमकी निवृत्ति भी 'दशमोऽहम्' (दसवां मैं हूँ) इस अपरोक्ष ज्ञानसे ही होती है, अतः शब्दसे परोक्ष ही होता है, ऐसा नियम नहीं है ॥ २६० ॥

'देशादिभिर्व्यवहितम्' इत्यादि । आदिसे कालादिका ग्रहण है। देश और कालसे व्यवहित अर्थका शब्दसे परोक्ष ज्ञान ही होता है, अपरोक्ष नहीं । जिस पदार्थका जिस देश और कालमें ज्ञान होता है, उस देश और कालमें यदि वह पदार्थ न रहकर देशान्तर और कालान्तरमें रहता है, तो वह देश और कालसे व्यवहित होनेसे शब्द द्वारा परोक्षज्ञानका गोचर होता है । जैसे—'रामो राजा बभूव' इत्यादि वाक्यसे श्रीरामजीके राजा होनेका ज्ञान परोक्ष ही होता है, अपरोक्ष नहीं होता और जो अर्थ देशादिसे व्यवहित नहीं है, किन्तु अव्यवहित है, उसका शब्दसे भी अपरोक्ष ही ज्ञान होता है। जैसे 'दशमस्त्वमसि' इत्यादि वाक्यसे 'दशवां मैं हूँ' यह ज्ञान अपरोक्ष ही होता है। इतरत्—व्यवहितसे भिन्न—अर्थात् अव्यवहित, यह अर्थ है ॥ २६१ ॥

'देशात्कालाद्' इत्यादि । जब देश, काल तथा वस्तुसे थोड़ा भी ऐकात्म्य-

नियतं यदि शास्त्रस्य पारोक्ष्येणैव बोधनम् ।
न तर्हि तत्त्वधीः शास्त्राद्याथात्म्यानवबोधकात् ॥ २६३ ॥
परोक्षे बुद्ध ऐकात्म्ये वस्तुसिद्धिर्न तावता ।
अनश्वरूपे बुद्धेऽपि गव्यश्वो नहि सिद्ध्यति ॥ २६४ ॥

वस्तुमें व्यवधान नहीं हैं, तब उक्त अर्थमें परोक्ष बुद्धि कैसे होगी ? अर्थात् परोक्ष ज्ञान नहीं होगा, अपरोक्ष ही होगा ॥ २६२ ॥

'नियतं यदि' इत्यादि। यदि शब्दको स्वभावतः परोक्ष बुद्धिका जनक मानें, तो वेदान्तशास्त्रसे जो आत्मज्ञान होता है, वह तत्त्वज्ञान न कहलावेगा, कारण कि अपरोक्ष आत्माका शास्त्रने यदि परोक्षस्वरूपसे बोध कराया, तो अपरोक्ष अर्थमें परोक्षत्वप्रकारक ज्ञान अयथार्थ ही हुआ, इस परिस्थितिमें अयथार्थज्ञानका जनक वेदान्तशास्त्र प्रमाण नहीं हो सकता, किन्तु सम्पूर्ण वेदान्तशास्त्रमें अप्रामाण्यकी आपत्ति हो जायगी। इसलिए शब्द नियमसे परोक्षज्ञानका जनक नहीं होता, किन्तु स्वभावके अनुरोधसे परोक्ष और अपरोक्ष दोनों ज्ञानोंका जनक होता है, यही सिद्धान्त आदरणीय है ॥ २६३ ॥

'परोक्षे बुद्ध०' इत्यादि। शास्त्रसे वस्तुविषयक अपरोक्ष ज्ञान नहीं होता, किन्तु संसृष्टपदार्थविषयक परोक्ष ज्ञान ही होता है, ऐसा माननेवालोंके मतमें आत्मसाक्षात्कारके लिए प्रसंख्यानविधि आवश्यक है, यह शङ्का है। इसका उत्तर यह है कि 'यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म' इस श्रुतिसे ब्रह्म अपरोक्ष है, यह सिद्ध होता है। यदि श्रुतिसे अपरोक्षका परोक्षज्ञान होगा, तो श्रुति अप्रमाण हो जायगी तथा असंसृष्ट अपरोक्ष वस्तुकी सिद्धि नहीं होगी। अब पूर्वपक्षी इसका उत्तर देता है कि शास्त्रको असंसृष्ट अपरोक्षसे विलक्षण संसृष्ट परोक्षका बोधक माननेपर प्रतियोगिविधया असंसृष्ट अपरोक्ष वस्तुकी भी सिद्धि हो जायगी अर्थात् संसृष्ट परोक्षमें विशेषण है—असंसृष्टार्थापरोक्षविलक्षण। विलक्षणका अर्थ है भिन्न। भेदमें प्रतियोगिविधया विशेषण है—असंसृष्टार्थ। विशेष्यके समान विशेषण भी विशिष्टज्ञानका विषय होता है, इसलिए विशेषणविधया प्रतीयमान असंसृष्टापरोक्ष वस्तुकी भी सिद्धि माननी ही होगी, अतः उक्त अर्थमें श्रुतिप्रामाण्यकी कोई चिन्ता नहीं है। इसका खण्डन करते हैं— 'गौ अश्वभिन्न है' इस ज्ञानका विषय है—अश्वभिन्न गौ। गौमें अश्वभेद

ततः शास्त्रात्तत्त्वधीश्चेन्न परोक्षतयैव धीः ।
उदेति तेन युक्त्यादिपादद्वयमनर्थकम् ॥ २६५ ॥
व्यपास्तानर्थसंदर्भमात्मानमवगच्छतः ।
किमाप्यमधिकं तत्र येन युक्त्याद्यपेक्षते ॥ २६६ ॥
का वा युक्तिः प्रदीपस्य सर्पादिभयनाशकम् ।
रज्ज्वादितत्त्वविज्ञानं कुर्वतः सहकारिणी ॥ २६७ ॥

विशेषण है। भेदमें अश्व विशेषण है। परन्तु इस ज्ञानसे गोमात्रकी सिद्धि होती है, अश्वकी नहीं। इसी प्रकार असंसृष्टापरोक्षविलक्षण ज्ञानसे संसृष्ट परोक्ष विषय ही सिद्ध होगा, असंसृष्टापरोक्ष वस्तु सिद्ध नहीं हो सकती, अतः उक्तार्थमें शास्त्रकी अप्रामाण्यापत्ति अनिवार्य ही है। सारांश यह है कि असंसृष्टापरोक्ष-विलक्षण ससृंष्ट परोक्षमें शाब्दत्व है, किन्तु तद्विशेषणीभूत असंसृष्टापरोक्षांशमें शाब्दत्व नहीं है अर्थात् शब्द द्वारा उक्तार्थकी सिद्धि नहीं होती, और न उक्त अर्थमें शास्त्र ही प्रमाण हो सकता है, अतः प्रसंख्यानकी विधि अयुक्त है॥२६४॥

शास्त्रसे परोक्ष ही ज्ञान होता है, यह नियम न होने का फल कहते हैं—'ततः शास्त्रात्' इत्यादिसे।

शास्त्रसे नियमतः परोक्षज्ञान ही होता है, इस नियमके न माननेसे शास्त्रसे जो आत्मतत्त्वज्ञान होगा, वह परोक्ष ही होगा यह तो सिद्ध होगा नहीं, किन्तु अपरोक्षतया भी उसका ज्ञान होगा, फिर युक्त्यादि पादद्वय अनर्थक ही हैं॥ २६५ ॥

'व्यपास्तानर्थ०' इत्यादि। सांसारिक सकल दुःखोंकी निवृत्तिपुरःसर आत्माको जाननेवाला अधिक क्या पाता है? जिसके लिए युक्त्यादिकी अपेक्षा होती है। शास्त्रजन्य ज्ञानमात्रसे निःशेष क्लेशनिवर्तक यदि आत्मज्ञान हो जाता है, और इससे अतिरिक्त कुछ फल ही नहीं है, तो फिर किस फलकी प्राप्तिके लिए युक्त्यादिकी अपेक्षा मानते हो?॥ २६६ ॥

स्वार्थका बोधन करानेमें शब्दको युक्ति आदिकी अपेक्षा नहीं है, यह प्रदीपदृष्टान्तसे सिद्ध करते हैं—'का वा युक्तिः' इत्यादिसे।

जैसे प्रदीप अपने तेजके प्रभावसे रज्जुतत्त्वका साक्षात्कार तथा उसके

शब्देन ज्ञाप्यते यद्वत्तथैव यदि युक्तिभिः ।
व्यर्थताऽथ विशेषश्चेत् सम्प्राप्ता भिन्नमानता ॥ २६८ ॥
स्वप्नादियुक्तिभिश्चेत्तल्लौकिकीभिः प्रसाध्यते ।
अवैदिकं भवेद्वस्तु स्याच्च शास्त्रानुवादता ॥ २६९ ॥

द्वारा सर्पबुद्धिजन्य भय, कम्प आदिकी निवृत्ति करता है अर्थात् सर्पादिभयके निवर्तक रज्जुतत्त्वज्ञानकी उत्पत्तिके लिए स्वकीय तेजसे अतिरिक्त और किसी पदार्थकी सहकारीरूपसे उसे अपेक्षा नहीं है, वैसे ही सकलदुःखनिवर्तक आत्मज्ञानके उत्पादक शब्दको सहकारीरूपसे युक्त्यादिकी अपेक्षा नहीं है । अधिष्ठानतत्त्वके ज्ञानसे अध्यस्तके उपादान अज्ञानकी निवृत्ति होती है । उपादानकी निवृत्तिसे उपादेयकी निवृत्ति होती है । प्रपञ्चका निमित्त है—आत्माका अयथार्थानुभव । शास्त्रसे आत्माका यथार्थानुभव होनेपर उपादानभूत अज्ञानकी निवृत्तिसे ही प्रपंच निवृत्त हो जाता है । उसे दूसरे सहकारी कारणकी अपेक्षा नहीं है । विवर्तवादमें प्रपञ्च और उसकी निवृत्तिमें अज्ञान और ज्ञान ही निमित्त हैं, दूसरा नहीं ॥ २६७ ॥

'शब्देन ज्ञाप्यते' इत्यादि । जितने अर्थका बोध शब्दसे होता है, उतना ही युक्त्यादिसे भी होता है या उससे अधिक ? प्रथम पक्षमें दोष कहते हैं—'युक्तिभिर्व्यर्थता' से । जो अर्थ शब्द द्वारा ज्ञात हो चुका है, फिर उस अर्थकी जिज्ञासा होती ही नहीं, अतः उस अर्थके ज्ञापक युक्त्यादि व्यर्थ हैं, अन्यथा युक्ति आदिसे ज्ञात होनेपर भी ज्ञापकान्तरकी अपेक्षा होनेसे अनवस्थामें ही पर्य्यवसान होगा । द्वितीय पक्षमें भिन्नमानता होगी अर्थात् शाब्द अर्थसे अतिरिक्त अर्थका यदि युत्यादिसे भान मानते हैं, तो सम्भूयकारिता अर्थात् मिलकर एककार्यकारिता नहीं बन सकती, किन्तु भिन्न-भिन्न विषयकी प्रमितिके जनक होनेसे भिन्न-भिन्न मानता होगी ॥ २६८ ॥

'स्वप्नादियुक्ति०' इत्यादि । शब्द, युक्ति आदि प्रत्येक मान हैं, यह माननेपर भी यह प्रश्न होता है कि स्वप्नादिदृष्टान्तसे सिद्ध लौकिक अन्वय और व्यतिरेकरूप युक्तिसे 'ब्रह्म सत्य है' यह बोध मानते हैं या वेदैकगम्य युक्तियोंसे ? प्रथम पक्षमें ब्रह्म अवैदिक हो जायगा, कारण कि जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—इन तीनों अवस्थाओंका परस्पर व्यभिचार है, अनुवर्त-

वैदिकत्वेऽपि युक्तीनामागमार्थप्रधानतः ।
अनुवादत्वमेव स्यात् स्याच्च शास्त्रादभिन्नता ॥ २७० ॥

मान ब्रह्म ही सत्य है, यह निश्चय लौकिक युक्ति द्वारा होनेसे ब्रह्म लौकिक हो जायगा और 'तन्त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' इस श्रुतिसे ब्रह्म औपनिषद माना जाता है, अर्थात् उपनिषत्से हीं ब्रह्म ज्ञात होता है, इसलिए औपनिषद कहलाता है, अतएव ब्रह्म वेदान्तैकवेद्य माना जाता है। और युक्त्यादिसे सिद्ध ब्रह्मके अनुवादक 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यमें अनपेक्षत्वलक्षण प्रामाण्यका भङ्ग हो जायगा। यदि ब्रह्म मानान्तरका विषय नहीं है, यह मानते हैं, तो अज्ञात-ज्ञापक 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यमें निरपेक्षत्वलक्षण प्रामाण्य सिद्ध होता है। यदि ब्रह्म मानान्तरविषय है, यह मानते हैं, तो युक्त्यादि द्वारा ज्ञात ब्रह्मका उक्त श्रुतिसे बोध होता है। यदि श्रुतिजन्य ब्रह्मबोधमें उपायविधया युक्त्यादिकी अपेक्षा होनेसे लौकिक वाक्यके तुल्य वेदवाक्य भी हो, तो लौकिक वाक्यकी अपेक्षासे वैदिक वाक्यमें निरपेक्षत्वलक्षण प्रामाण्य है, यह विशेषाभिधान असंगत हो जायगा॥ २६९ ॥

'वैदिकत्वेऽपि' इत्यादि। ब्रह्मप्रकाशक उक्त युक्तियाँ, वेदैकगम्य होनेसे, वैदिक ही हैं, लौकिक नहीं हैं। जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्तिका ब्रह्मात्मविवेचनके लिए ही वेदान्तमें उपन्यास है। उनके द्वारा ही ब्रह्म परमार्थ सत् प्रतीत होता है। ठीक है, यदि उक्त युक्तियाँ भी वेद ही हैं, वेदातिरिक्त नहीं हैं, तो उन युक्तियोंका भी वेदमें ही समावेश हुआ। इस परिस्थितिमें मान त्रिपाद हो जायगा और आप उसको चतुष्पाद कहते हैं। चार पादोंमें एक पाद युक्ति है, लेकिन जब युक्तिका शास्त्रमें ही समावेश हो गया, तब शास्त्रसे अतिरिक्त युक्ति हुई नहीं। ऐसी दशामें मान चतुष्पाद नहीं है, किन्तु त्रिपाद है, यही कहना चाहिए। प्रकृत युक्तियाँ वैदिक अर्थकी बोधक होनेसे वेद हैं, इसमें प्रमाण निम्न लिखित श्लोक भी है—

'मीमांसासंज्ञकस्तर्कः सर्वो वेदसमुद्भवः ।
सोऽतो वेदो रुमाप्राप्तकाष्ठाम्बुलवणास्तिवत् ॥'

श्लोकार्थ यह है—'रुमा स्याल्लवणाकरः' इस कोशसे 'रुमा' नमककी खान कहलाती है। जैसे नमककी खानमें जो जल, काष्ठ आदि प्राप्त होते हैं, वे सब

चतुर्थपाद आवृत्तिः कुर्यात्साऽतिशयं कथम् ।
नह्यावृत्तौ प्रमाणस्य प्रमेयेऽतिशयो मतः ॥ २७१ ॥
यत्राऽपि चाऽन्धकारादिदोषात् क्रमविनिश्चयः ।
तत्राऽपि भिन्नमेयत्वान्नैव सम्भूय मानता ॥ २७२ ॥
पूर्वं वस्त्विति विज्ञातं प्राण्ययं मानुपस्तथा ।
पुरुषोऽयमथ श्यामो डित्थ इत्यर्थभिन्नता ॥ २७३ ॥

नमक हो जाते हैं, नमकसे अतिरिक्त नहीं रहते, वैसे ही वेदसे उत्पन्न मीमांसासंज्ञक सब तर्क वेद ही है, उससे अतिरिक्त नहीं है। अतः मान यदि त्रिपाद हो, तो 'मान चतुष्पाद है' यह सिद्धान्त असंगत हो जायगा ॥ २७० ॥

शब्दमें युक्तिके सहकारित्वका खण्डन कर प्रसंख्यानके सहकारित्वका खण्डन करते हैं—'चतुर्थपाद' इत्यादिसे ।

शब्दकी पुनः पुनः आवृत्ति—प्रसंख्यान है। इसे भी यदि शब्दका सहकारी मानते हो, तो इस विषयमें यह प्रश्न होता है कि शब्दावृत्ति क्या शाब्द-बोधके विषय अर्थमें अतिशयकी आधायक है या नहीं? प्रथम पक्षमें दोष देते हैं—'नहि' इत्यादिसे। प्रमाणकी आवृत्तिसे प्रमेयमें अतिशय कहीं भी नहीं देखा जाता। उदाहरणके लिए घटका प्रत्यक्ष लीजिए। बार-बार घटके प्रत्यक्षसे घटमें कुछ भी अतिशय नहीं अनुभूत होता है। इसलिए शब्दकी आवृत्तिसे शाब्द अर्थमें अतिशय कहना दृष्टविरुद्ध है ॥ २७१ ॥

'यत्राऽपि' इत्यादि। मन्द अन्धकारमें अथवा दूर देशमें स्थित पदार्थका प्रथम सामान्यरूपसे प्रत्यक्ष होता है, परन्तु बारबार देखनेसे तथा समीप जानेसे जब विशेषरूपसे ज्ञान होता है, तब ये घटादि हैं, यह निश्चय होता है, इसलिए आवृत्ति सार्थक है। हाँ, यद्यपि उक्त स्थलमें आवृत्तिके सफल होनेसे मानकी आवृत्ति सार्थक है या नहीं? यह प्रश्न नहीं हो सकता, तथापि संभूयकारिता तो वहां भी नहीं है, कारण कि पूर्व मानका और उत्तर मानका विषय एक नहीं है, किन्तु भिन्न-भिन्न हैं। अव्यावृत्त वस्तुका सामान्याकार पूर्व मानका विषय है और व्यावृत्ताकार उत्तर मानका विषय है, अतः मेयके भेदसे एक मान नहीं है, किन्तु भिन्न-भिन्न मान हैं, इसलिए यदि एक मानकी आवृत्ति ही नहीं है, तो मानावृत्तिका साफल्य कहाँ? ॥ २७२ ॥

'पूर्वं वस्त्विति' इत्यादि। जहाँपर पूर्वज्ञानसे ज्ञात हुआ कि आगे कोई

अतः प्रमेय एकस्मिन्नाऽऽवृत्तिःकिं करिष्यति ।
मितिवृद्धिर्दूपिताऽतः प्रसङ्ख्यानमनर्थकम् ॥ २७४ ॥
अनुभूतिस्तत्फलं चेत्सकृदेव कृतेर्भवेत् ।
ऐकात्म्यानुभवोऽवश्यं शास्त्रार्थस्य कृतत्वतः ॥ २७५ ॥
अथाऽसकृदनुष्ठानं प्रसङ्ख्यानं न चेतरत् ।
तथापि निश्चयो न स्यादवधेरनिरूपणात् ॥ २७६ ॥

वस्तु है, द्वितीय ज्ञानसे ज्ञात हुआ कि मनुष्य है, तृतीय ज्ञानसे पुरुष है, चौथे ज्ञानसे श्याम है और पाँचवें ज्ञानसे डित्थ पुरुषविशेष है, इस प्रकारका भिन्न निश्चय होता है, वहाँपर भी एकविपयक मानकी आवृत्ति नहीं है, किन्तु भिन्न-भिन्नविपयक अनेक मान हैं। मेय भी तत्-तत् ज्ञानके भेदसे भिन्न ही हैं, अतः आवृत्तिकी सफलताका यह उदाहरण नहीं हो सकता ॥ २७३ ॥

'अतः प्रमेयः' इत्यादि। चूँकि प्रमाण प्रमेयमें अतिशयका आधायक नहीं होता; अतः आवृत्तिरूप प्रसंख्यान क्या करेगा? कुछ नहीं। यदि कहिये कि पादवृद्धिसे मितिवृद्धि होती है, इसलिए प्रसंख्यान अपेक्षित है, तो इसका उक्त युक्तिसे निराकरण कर चुके हैं, इसलिए भी प्रसंख्यान अनर्थक है ॥२७४॥

'अनुभूतिः' इत्यादि। यहांपर प्रश्न होता है कि प्रसंख्यान ध्यानमात्र है अथवा दीर्घकाल, आदर, नैरन्तर्य और सत्कार आदिसे विशिष्ट ध्यान? 'समाहितः पश्येत्' इत्यादि श्रुतिसे विधिविपय प्रसंख्यान यदि सकृद् अनुष्ठित होकर आत्मतत्त्वके साक्षात्कारका जनक हो, तो उक्त विशेपणविशिष्ट प्रसंख्यानकी सिद्धि नहीं हो सकती। अच्छा, सकृद् ध्यानको ही प्रसंख्यान कहेंगे, तब तो कोई आपत्ति नहीं है? नहीं, प्रत्यक्षविरोध ही आपत्ति है, सकृद् ध्यानसे आत्मतत्त्वका साक्षात्कार नहीं होता, अतः तद्बोधक शास्त्र अप्रमाण हो जायगा। यदि शास्त्र प्रमाण है, तो उक्त विशेपणविशिष्ट ध्यानको ही प्रसंख्यान मानेंगे, ॥२७५॥

'अथाऽसकृदनुष्ठानम्' इत्यादि। यदि असकृद् ध्यानको ही प्रसंख्यान कहें, तो इस पक्षमें कितनी वार आवृत्ति करें। सौ, हजार, लक्ष और कोटि वार? कितनी ध्यानावृत्ति प्रसंख्यान है? इसकी अवधिका तो निर्णय है नहीं; ऐसी अवस्थामें मुमुक्षुकी प्रसंख्यानमें निःसन्देह प्रवृत्ति न होगी, यह बड़ा दोप है। एवं कालकी भी अवधिका निर्णय नहीं होगा, एक वर्प, दस वर्प इत्यादि। एक

न चाऽत्र चोदितः कालः सङ्ख्या वा येन निश्चयः ।
तद्द्वारेण भवेन्नाऽपि संदिग्धे स्यात् प्रवर्त्तनम् ॥ २७७ ॥

दो वर्ष करनेसे ब्रह्मसाक्षात्कार न होनेपर उक्त उपायमें अविश्वास भी हो जायगा। तथा मुमुक्षु उक्त उपायका त्याग कर देगा। शास्त्रविहित उपाय निश्चित होना चाहिए ॥ २७६ ॥

'न चाऽत्र' इत्यादि। अग्निहोत्रमें 'यदग्नये प्रजापतये च सायं प्रातर्जुहोति' इस श्रुतिसे सायंकाल तथा प्रातःकालका जैसे विधान है। वैसे ही प्रसंख्यानमें किसी श्रुतिसे कालका विधान नहीं देखते।

शङ्का—'मासमग्निहोत्रं जुहोति', 'यदाग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावस्यायां पौर्णमास्यां चाच्युतो भवति' इत्यादि स्थलमें होममें मासरूप कालका विधान है, या अग्निहोत्र कर्मका विधान है ? यह शङ्का कर अग्निहोत्रका विधान है ही, फिर विधान नहीं हो सकता, अतः होमका अनुवाद कर मासरूप कालका विधान मानना उचित है। यह पूर्वपक्ष करके सिद्धान्त किया है कि काल पुरुषके अधीन नहीं है कि जब चाहे तब अभीष्ट कालका विधान कर सके। काल तो अपने ही समयपर आता है। पुरुषकी इच्छा या व्यापारसे नहीं; अतः उक्ताग्निहोत्रसे यह अग्निहोत्र कर्मान्तर है। प्रकरणभेद कर्मान्तरका पोषक है। अतः मासाग्निहोत्रमें अग्निहोत्रका प्रयोग गौण है। दर्श-पूर्णमासयागमें भी 'यदाग्नेयः' इत्यादि वाक्यसे आग्नेय यागमें अमावास्यादिकालविधिका संशय कर काल अविधेय है, इसलिए कालविधि नहीं, किन्तु उक्त कालद्वयमें यागका विधान है, यह सिद्धान्त पूर्वमीमांसामें किया गया है। इसलिए प्रसंख्यानमें भी कालविधिकी सम्भावना नहीं है। उक्त स्थलद्वयमें कालविधि नहीं है, किन्तु कालमें कर्मका विधान है।

उत्तर—यह ठीक है, किन्तु 'यदग्नये प्रजापतये च' इत्यादि वाक्यमें कालकी विधि है। कर्मका विधान तो 'अग्निहोत्रं जुहोति' इस वाक्यसे है ही। काल अनुपादेय है, अतः वह विधेय नहीं हो सकता। ठीक है, यह कालसम्बन्ध पुरुषाधीन है, चाहे होता प्रातःकालका होममें सम्बन्ध करे या मध्याह्नकालका, अतः प्रातःकालादिका सम्बन्ध ही होममें करना चाहिए, ऐसा कहा गया है, मध्याह्नकालादिका नहीं; इसलिए 'सायम्' इत्यादि

शब्दयुक्त्योः परोक्षत्वस्वभावस्याऽनपायतः ।
ताभ्यामावृत्तियुक्ताभ्यामपि नाऽनुभवो भवेत् ॥ २७८ ॥

वाक्यसे कालके सम्बन्धका विधान है, किन्तु प्रसंख्यानमें इस प्रकार कालके सम्बन्धकी विधि नहीं है। अथवा कालमें कर्मका विधान मानें, तो भी प्रसंख्यानमें कालसम्बन्धका विधान नहीं है, जैसे 'सप्तदश प्राजापत्यान् पशूनालभेत' इस वाक्यसे प्राजापत्ययागके अङ्ग पशुके परिच्छेदक सप्तदश संख्याका विधान है, वैसे प्रसंख्यानमें संख्याका विधान नहीं है। पूर्व वाक्यमें न्यून या अधिक संख्याक पशुके आलभनसे यागमें वैगुण्य हो जायगा। वैगुण्यापत्ति होनेसे फलप्राप्ति नहीं होगी, इसलिए उक्त संख्याका विधान है। एवं यहां न्यूनाधिक आवृत्तिके निरासके लिए भी संख्याकी विधि अपेक्षित है कि इयत्संख्याक आवृत्ति मोक्षोपायभूत प्रसंख्यान है। न्यून या अधिक आवृत्तिवाले प्रसंख्यानसे मोक्ष नहीं होता। यहांपर प्रसंख्यान मोक्षोपायरूपसे विहित ही नहीं है। इसलिए परिच्छेदक संख्याका विधान नहीं है, यही निश्चित होता है।

शङ्का—यद्यपि प्रसंख्यानमें काल या संख्याका विधान नहीं है, इसलिए निश्चय नहीं हो सकता कि प्रसंख्यानसे आत्मानुभव अवश्य होगा। फिर भी कृष्यादिवत् संशय हो सकता है और संशयसे भी प्रवृत्ति लोकमें दृष्ट है। जैसे धान्यादि फलकी प्राप्ति होगी या नहीं, ऐसा संशय होनेपर भी किसान खेती करते ही हैं, वैसे ही प्रसंख्यानसे आत्मदर्शन होगा या नहीं, ऐसा संशय होनेपर भी आत्मानुभवके लिए प्रवृत्ति हो सकती है।

उत्तर—कृष्यादिसे कदाचित् फलकी प्राप्ति और कदाचित् फलकी अप्राप्ति ये दोनों दृष्ट हैं, अतः फलकी आशासे खेतीमें प्रवृत्ति हो सकती है। प्रकृतमें प्रसंख्यान द्वारा कभी भी अनुभव दृष्ट नहीं है, अतः फलसंभावना ही नहीं हो सकती, अतः उसके द्वारा प्रवृत्ति तो सुतरां दुर्घट है। यद्यपि गान्धर्वशास्त्राभ्यासवासनासहित श्रोत्रेन्द्रियसे स्वरका अनुभव होता है, तथापि वह श्रावण प्रत्यक्ष है, मानस नहीं। यद्यपि कामिनीविषयक प्रसंख्यानसे कामिन्यादिविषयक मानस साक्षात्कार भी दृष्ट है, तथापि वह यथार्थ नहीं है, क्योंकि यथार्थ मानसप्रत्यक्ष प्रसंख्यानमात्रसे कहीं भी दृष्ट नहीं है, अतः तादृशसंभावनासे प्रवृत्ति नहीं हो सकती ॥ २७७ ॥

'शब्दयुक्त्योः' इत्यादि। शब्द तथा युक्ति—ये दोनों परोक्षज्ञानके जनक

इत्येवं विपरीतार्थनिश्चयस्याऽत्र सम्भवात् ।
प्रवृत्तोऽपि निवर्तेत विसंवादपराङ्मुखः ॥ २७९ ॥
यदुक्तं विध्यवष्टम्भात्फलं भावीति तत्र ते ।
अदृष्टफलता वैधी कल्प्याऽग्निष्टोमवद्भवेत् ॥ २८० ॥

स्वभाववाले हैं। 'दुस्त्यजा प्रकृतिः' इस न्यायसे कोई पदार्थ अपने स्वभावका त्याग नहीं कर सकता। जलका शीतस्वभाव है, वह अग्न्यादिके संयोगसे केवल तिरोहित ही होता है, क्योंकि अग्न्यादिके अभावमें फिर जलमें शैत्यस्वभावकी उपलब्धि होती है। अतः विरोधी अन्य पदार्थके संयोगसे स्वभावके तिरोहित होनेपर भी स्वभावका त्याग नहीं होता। पूर्वोपपादित रीतिसे स्वभावका नाश होनेपर पदार्थ ही नष्ट हो जायगा, अतः आवृत्तियुक्त शब्द और युक्तिसे भी आत्मविषयक प्रमात्मक अनुभव नहीं हो सकता, अतः प्रसंख्यानविधि निरर्थक है ॥ २७८ ॥

'इत्येवं विपरीतार्थ०' इत्यादि। यदि सन्देहसे प्रवृत्ति मानो, तो भी दोषसे छुटकारा नहीं है। बार-बार प्रसंख्यानका अनुष्ठान करनेपर भी मुमुक्षुको तत्त्वका दर्शन नहीं होगा, अतः फलमें विसंवाद होनेके कारण वह प्रसंख्यानके अनुष्ठानसे ही निवृत्त हो जायगा। इस परिस्थितिमें प्रसंख्यान तो करेगा नहीं, क्योंकि उसमें उसे विपरीत ज्ञान हो गया है कि प्रसंख्यान आत्मानुभवोपाय नहीं है, अन्यथा मोक्षार्थीकी प्रसंख्यानानुष्ठानसे निवृत्ति ही नहीं होगी। मुमुक्षुको मुक्तिकी कामना है ही, परन्तु केवल उसके उपायसे विरत हुआ है, उपेयसे नहीं; अतः यदि शास्त्रान्तरमें निर्दिष्ट युक्तिरूप उपायमें या स्वेच्छासे निर्धारित जप, तप आदि उपायमें प्रवृत्त होगा, तो अभीष्ट मोक्षका लाभ नहीं होगा। यदि द्वितीय पक्ष कहिए, तो आत्माका अनुभव न होनेसे मुमुक्षुका पतन हो जायगा। राम ! राम ! पतन कैसे होगा ? 'नहि कल्याणकृत्कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति' इस गीताके वाक्यसे मुमुक्षुकी दुर्गति (पतन) नहीं होती, प्रत्युत 'शुचीनां श्रीमताम्' इत्यादि वाक्यसे जन्मान्तरमें श्रेष्ठ कुलमें उत्पत्ति होगी और भगवत्प्राप्ति होगी। और 'येन मामुपयान्ति ते' इत्यादि वचनसे अनिष्टनिवृत्तिपुरःसर उसको इष्ट फलकी प्राप्ति स्पष्ट ही है ॥ २७९ ॥

यदि उक्त भगवद्वाक्यसे आजन्म प्रसंख्यान करनेपर पतन नहीं होता, यह मानते हैं, तो प्रसंख्यान अदृष्टार्थक होगा, क्योंकि प्रसंख्यानके अदृष्टसे उक्त फलकी प्राप्ति होती है, इसपर कहते हैं—'यदुक्तं विध्यवष्टम्भात्' इत्यादि।

नाऽतो मानेन विषये बोधितेऽन्वेषणं पुनः ।
कार्ययुक्त्योः क्वचिद् दृष्टं स्वतःप्रामाण्यवादिनः ॥ २८१ ॥

जैसे ज्योतिष्टोमादि याग करनेसे अदृष्ट (धर्म) होता है, उसके द्वारा पतन नहीं होता, किन्तु उत्तम स्थानारोहण होता है; वैसे ही आजन्म प्रसंख्यानके अनुष्ठानसे अदृष्ट उत्पन्न होता है और उक्त फलकी ही प्राप्ति होती है, यह कहिएगा, तो ज्योतिष्टोमादि यागके समान प्रसंख्यान भी अदृष्टफलक होगा, ऐसा माननेपर अदृष्ट ही प्रधान होगा और उसका अङ्गभूत शास्त्र प्रत्यक्षादि प्रमाणसे विरुद्ध आत्मैक्य वस्तुमें प्रमाण नहीं होगा, क्योंकि 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इस न्यायसे शास्त्र अदृष्टपरक है, उक्तात्मतत्त्वपरक नहीं है, अतः उक्तार्थमें शास्त्र प्रमाण नहीं होगा। ऐसी अवस्थामें मुक्तिकी इच्छासे जैसे ज्योतिष्टोमादि यागमें प्रवृत्ति नहीं होती, वैसे ही प्रसंख्यानमें भी प्रवृत्ति नहीं होगी, क्योंकि आत्मसाक्षात्कारके कारण दोनों नहीं हैं। मोक्षार्थी आत्मसाक्षात्काररूप उपायमें ही प्रवृत्त होता है, क्योंकि उक्त साक्षात्कार ही मोक्षोपाय है, ऐसा दृढ निश्चय पहलेसे ही मुमुक्षुको है। और यह भी विचार करना आवश्यक है कि प्रसंख्यानविधायक वाक्य ऐकात्म्य वस्तुका बोधक है अथवा 'तत्त्वमसि' आदि वाक्य ? प्रथम पक्षमें उक्त वाक्य, प्रसंख्याननियोगपरक होनेसे, वस्तुका बोधक नहीं हो सकता, क्योंकि एक वाक्य एक समयमें दो अर्थोंका बोधक नहीं होता। द्वितीय पक्षमें 'तत्त्वमसि' आदि वाक्य भी नियोगपरक हैं, उक्त आत्मैक्य-वस्तुपरक नहीं हैं, कारण कि उक्तार्थ प्रत्यक्षादिसे विरुद्ध है। अविरुद्ध अर्थमें ही वाक्य सार्थक होता है, विरुद्ध अर्थमें नहीं। यदि आत्मैक्य वस्तु ही अप्रामाणिक है, तो उसकी आवृत्ति ही नहीं बन सकती। वस्तु होनेपर ही तद्विषयक ज्ञानादिकी आवृत्ति होती है। जो विषय नहीं है, उसकी आवृत्ति या तद्विषयक नियोग भी सिद्ध नहीं हो सकता ॥२८०॥

यदि 'तत्त्वमसि' आदि शास्त्र प्रसंख्यानादिसापेक्ष स्वार्थका बोधक होगा, तो निरपेक्षत्वलक्षण प्रामाण्यका भङ्ग होगा, इसपर कहते हैं—'नाऽतो मानेन' इत्यादि।

प्रमाणसे प्रमेयका ज्ञान होनेपर फिर उस प्रमेयके ज्ञानके लिए युक्ति या प्रमाणकी खोज नहीं होती। और स्वतःप्रामाण्यवादीके मतमें तो कहीं भी प्रमितकी

प्रत्यक्षेण घटे बुद्धे का युक्तिः कार्यमेव वा ।
नाऽपेक्ष्येत तथैवाऽत्र किमर्थाऽन्यव्यपेक्षिता ॥ २८२ ॥
अदुष्टकारणत्वं तु सिद्धं वेदे नृवर्जनात् ।
प्रत्यक्षादिविरोधश्च पश्चात्परिहरिष्यते ॥ २८३ ॥

प्रमाके लिए युक्त्यादिकी अपेक्षा नहीं होती। भाव यह है कि शास्त्र द्वारा आपाततः संशयसाधारण ज्ञान होनेपर प्रसंख्यानकी अपेक्षा होती है ? या निश्चयात्मक ज्ञान होनेपर ? प्रथम पक्ष मानकर द्वितीय पक्षमें दोष देते हैं—शास्त्र द्वारा विषयका निश्चय होनेपर युक्ति या नियोग—इन दोनोंमें से किसीका पुनः अन्वेषण कहीं भी दृष्ट नहीं है, अतः वह अप्रामाणिक है। प्रकृतमें तो आत्मैक्य-साक्षात्कार होनेपर सम्पूर्ण द्वैत ही, काल्पित होनेसे, निवृत्त हो जाता है। फिर युक्ति या नियोगकी अपेक्षा ही नहीं है। वस्तुके रहनेपर अपेक्षा या अनपेक्षाका विचार होता है, अन्यथा नहीं। और शास्त्र द्वारा प्रमित होनेपर भी प्रमात्मक ज्ञानके लिए यदि अन्यकी अपेक्षा होगी, तो शास्त्रमें स्वतःप्रामाण्यका भङ्ग ही हो जायगा। यदि कहो कि युक्त्यादि प्रमाण नहीं हैं, अतः युक्त्यादिकी अपेक्षा होनेपर भी स्वतःप्रामाण्यका भङ्ग नहीं होगा, प्रमाणान्तरकी अपेक्षा होनेपर ही उक्त दोष होता है, तो यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि युक्ति चतुष्पाद मानमें प्रविष्ट है, अतः शब्दके समान वह भी मान ही है ॥ २८१ ॥

'प्रत्यक्षेण घटे बुद्धे' इत्यादि। शास्त्रसे वस्तुतत्त्वका साक्षाकार होनेपर युक्त्यादिकी अपेक्षा नहीं है, इसमें दृष्टान्त देते हैं—जैसे प्रत्यक्षसे घटका ज्ञान होनेपर कौन युक्ति या नियोगकी अपेक्षा करता है ? अर्थात् कोई नहीं करता, वैसे ही यहाँ भी शास्त्र द्वारा उक्तानुभव होनेपर किसी अन्यकी अपेक्षा नहीं है ॥ २८२ ॥

शङ्का—प्रत्यक्षदृष्ट स्थलमें भी यह घटादिज्ञान दुष्ट हेतुसे हुआ है या अदुष्ट हेतुसे ? ऐसी शङ्का होनेपर पूर्वोक्त समीपगमन आदिके समान प्रकृतमें भी दोषाभावके निर्णयके लिए युक्त्यादिकी अपेक्षा हो सकती है, क्योंकि अदुष्टहेतुजत्वके निर्णयके बिना प्रामाण्य नहीं होता, अतः उसके लिए युक्त्यादिकी अपेक्षा है, इसमें समाधान देते हैं—'अदुष्टकारणत्वम्' इत्यादिसे ।

लोकमें काचादि करणदोषकी संभावना रहनेसे ही 'प्रत्यक्ष दृष्ट अर्थका ज्ञान

ऐकात्म्यानुभवोऽतः स्याच्छास्त्रादेवाऽविरोधतः ।
अज्ञातज्ञापनादन्यत्कार्यं नाऽत्राऽस्ति किञ्चन ॥ २८४ ॥
ननु युक्तिस्त्वयाऽपीष्टा मननाय तथा विधिम् ।
चतुर्थाद्याधिकरणे आवृत्तेः सूत्रकृज्जगौ ॥ २८५ ॥

अदुष्टहेतुक है' इस निर्णयके लिए समीपगमनादिकी अपेक्षा होती है। वेद तो अपौरुषेय है, अतः तज्जन्य ज्ञानमें पुरुष द्वारा दोषका प्रवेश न होनेसे दोषाभाव सहज ही ज्ञात होता है, इसलिए दोषाभावज्ञानके लिए भी अन्यकी अपेक्षा नहीं कह सकते । प्रमाणान्तरके विरोधका परिहार आगे करेंगे, इसलिए प्रमाणान्तरके विरोधके परिहारके लिए भी युक्तिकी अपेक्षा नहीं हो सकती ॥ २८३ ॥

'ऐकात्म्यानुभवोऽतः' इत्यादि । प्रत्यक्षादिके विरोधका आगे परिहार करेंगे और अपौरुषेय वेदमें दोष है नहीं । अप्रामाण्यके दो ही कारण होते हैं— अर्थकी अन्यथात्वबुद्धि और हेतुदोष । प्रकृतमें ये दोनों नहीं हैं, अतः वेदवाक्यसे ही ऐकात्म्यानुभव, दोष तथा मानान्तरका विरोध न होनेसे, हो ही जायगा, अतः उसके लिए अन्यकी अपेक्षा नहीं है । प्रामाण्यमें केवल अज्ञातज्ञापकत्वमात्र अपेक्षित है, सो प्रकृतमें है ही । आत्मैक्य, प्रमाणान्तरागोचर होनेसे, केवल 'तत्त्वमसि' आदिवाक्यसे वेद्य है । अज्ञातज्ञापनसे अतिरिक्त कोई कार्य यहाँ नहीं है ॥२८४॥

यदि शास्त्रको युक्तिकी अपेक्षा नहीं मानते, तो अभ्युपगमरीतिसे आप भी युक्तिसापेक्ष शास्त्र ब्रह्मात्मैक्यका विधायक है, यह मानते हैं, इससे विरोध तथा सूत्रसे विरोध होगा, ऐसी शङ्का करते हैं—'ननु युक्तिः' इत्यादिसे ।

मननके लिए युक्ति आपको भी इष्ट है। चतुर्थाध्यायके प्रथम अधिकरणमें सूत्रकारने आवृत्तिकी विधि कही है, अतः इन दोनोंके खण्डनसे अभ्युपगमविरोध तथा सूत्रविरोध होगा । भाव यह है कि 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' इत्यादि श्रुत होनेपर यह संशय होता है कि एक वार आत्मप्रत्यय करना चाहिए अथवा वार-वार प्रत्ययकी आवृत्ति करनी चाहिए । इसपर पूर्वपक्षी कहता है कि प्रयाजादिकी तरह सकृत्प्रत्यय ही इष्ट है । जैसे सकृत् प्रयाजानुष्ठानसे अदृष्टकी सिद्धि होनेसे शास्त्र सार्थक हो जाता है, अतः वार-वार प्रयाजानुष्ठानमें शास्त्रका तात्पर्य नहीं है, वैसे ही अदृष्टार्थक आत्मप्रत्यय भी सकृत् ही अनुष्ठेय है । यदि सकृत् आत्मप्रत्यय

विवक्षित हो, तो 'द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' इत्यादि वाक्यसे असकृत् आत्मप्रत्ययका विधान व्यर्थ हो जायगा ? नहीं, व्यर्थ नहीं होगा, क्योंकि यावच्छब्द प्रत्ययानुवृत्ति ही विवक्षित है, अर्थात् तीन बार शब्दका श्रवण है, इसलिए तीन बार प्रत्ययावृत्ति करनी चाहिए—एकबार श्रवण, एकबार मनन और एक बार निदिध्यासन, अधिक नहीं। इस पूर्वपक्षमें सिद्धान्त किया गया है कि फलोदयपर्यन्त प्रत्ययावृत्ति करनी चाहिए। प्रयाजादिके समान श्रवणादि अदृष्टार्थक नहीं हैं, किन्तु अवघातके समान दृष्टार्थक हैं। सकृत् अवघातसे तण्डुलकी निष्पत्ति नहीं होती, अतः तण्डुलकी निष्पत्तिके लिए जैसे 'व्रीहीनवहन्ति' इस वाक्यसे जबतक तण्डुल निष्पन्न नहीं होता, तबतक अवघातकी आवृत्ति विवक्षित है, वैसे ही आत्मदर्शनके लिए विहित आत्मप्रत्ययकी तबतक आवृत्ति करे, जबतक आत्मदर्शन न हो। अनावर्त्तित आत्मप्रत्ययसे आत्मसाक्षात्कार नहीं होता, अतः आत्मसाक्षात्कारपर्यन्त उक्त आवृत्ति अनुष्ठेय है। लोकमें भी आवृत्तिगुणविशिष्ट क्रिया उपास्त्यादि शब्दका अर्थ प्रसिद्ध ही है, 'गुरुमुपास्ते', 'राजानमुपास्ते' इत्यादि प्रयोगसे निरन्तर गुरु आदिकी अनुवृत्ति प्रतीत होती है। गुरु आदिकी सकृत् अनुवृत्ति करनेसे 'गुरुमुपास्ते' इत्यादि प्रयोग नहीं होता, यह लोकमें प्रसिद्ध ही है। यदि अवघातके समान दृष्टार्थ है, इसलिए आवृत्ति मानते हो, तो प्रत्येक अवघातसे व्रीहिमें अतिशयविशेष होता है, इसलिए अतिशयाधायक अवघातोंकी आवश्यकता है। प्रकृतमें तो ब्रह्म अनाधेयातिशयस्वरूप है, अतः प्रत्येक प्रत्ययसे ब्रह्ममें अतिशयविशेष तो कुछ होता है नहीं, फिर प्रत्ययावृत्तिका क्या फल है ? यदि कहो कि सकृत्प्रत्ययसे आत्मसाक्षात्कार नहीं होता है, इसलिए प्रत्ययावृत्ति मानते हैं, तो यह भी कहना युक्त नहीं है, क्योंकि यदि 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्य एक बार श्रुत होकर उक्तानुभवका जनक नहीं है, तो आवर्त्तमान होकर उसके साक्षात्कारका जनक कैसे होगा ? यदि कहिए कि केवल वाक्य किसी अर्थका साक्षात्कार नहीं कराता, किन्तु युक्तिसहकृत शब्द अर्थका साक्षात्कार कराता है, तो भी आवृत्ति अनर्थक ही है, क्योंकि सकृत्प्रवृत्त युक्ति भी स्वकीय अर्थका अनुभव करा देगी। युक्ति और वाक्य इन दोनोंसे सामान्यविषयक ज्ञान ही होता है, विशेषविषयक ज्ञान नहीं होता। जैसे मेरे हृदयमें व्यथा है, इस वाक्य और कम्पादि युक्तिसे शूलका सामान्य ज्ञान ही श्रोताको होता है, परन्तु शूलरोगीको जैसे शूलव्यथाका विशेष अनुभव होता है, वैसे श्रोताको नहीं होता। आत्माका विशेषानुभव ही, अविद्यानिवर्तक होनेसे, विवक्षित

है, सामान्यानुभव नहीं, यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि अनेकावृत्तिसे भी उक्तानुभव नहीं होगा, कारण कि शास्त्र और युक्तिके एक बार प्रयोगसे जो विशेष ज्ञात नहीं होता, वह सौ बारके प्रयोगसे भी नहीं हो सकता ।

और यह सोचिये कि जो अनेक विशेषोंसे विशिष्ट विषय है, उसमें एक-एकके अवधानसे एक-एक विशेषका ज्ञान होता है, अतः वहां आवृत्ति सफल होती है । निर्विशेष ब्रह्म सामान्य और विशेषसे रहित है, उसकी प्रमाके लिए अभ्यासकी क्या आवश्यकता है ? ठीक है, जिसको सकृत्श्रुत 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यसे ब्रह्मात्माका अनुभव हो सकता है, उसके प्रति आवृत्ति अनर्थक है, किन्तु जिसको ऐसा नहीं होता उसके प्रति तो आवृत्ति सार्थक ही है, अतएव छान्दोग्यमें श्वेतकेतुके प्रति 'तत्त्वमसि' इस वाक्यका नौ बार अभ्यास किया गया है ।

जो यह कहा गया है कि सकृत्श्रुत 'तत्त्वमसि' आदि वाक्य स्वार्थका बोध न करायेगा, तो वह आवर्तमान होकर भी नहीं करा सकता, सो दृष्टविरुद्ध है । देखते हैं कि लोकमें जो मन्दबुद्धि हैं, उनको सकृत् श्रवणसे मन्द बोध होता है, पुनः पुनः वाक्यार्थावृत्तिसे तत्तदाभासनिवृत्तिपूर्वक समीचीन ज्ञान होता है । प्रत्यक्ष दृष्ट अर्थमें विप्रतिपत्ति नहीं हो सकती, अतएव अभियुक्तोंका वचन है—'नहि दृष्टेऽनुपपन्नं नाम' ।

और इसलिए भी आवृत्तिकी अपेक्षा है कि 'तत्त्वमसि' इस वाक्यसे त्वंपदार्थ जीवमें तत्पदार्थ ब्रह्मभावका बोध होता है अर्थात् जीव ब्रह्मसे अभिन्न है । जिनको इन दोनोंमें अज्ञान, संशय और विपर्यय है, उनको सकृच्छ्रुत 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यसे उक्त अनुभव नहीं होता, क्योंकि पदार्थज्ञानपूर्वक वाक्यार्थज्ञान होता है, अतः उनके प्रति पदार्थके विवेकके लिए प्रत्ययाभ्यास आवश्यक है ।

यद्यपि ज्ञातव्य आत्मा अशेषविशेषशून्य है, तो भी आरोपित शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, विषय, वेदना आदि अनेक अंश हैं, एक-एककी आवृत्तिसे उनका निरास होता है, इसलिए वहां क्रमसे प्रतिपत्ति (ज्ञान) ठीक है, वे ज्ञान आत्मसाक्षात्कारके पूर्वरूप है । जिन निपुणमतियोंको प्रतिबन्धक अज्ञान, संशय और विपर्यय नहीं हैं, उनको सकृच्छ्रुत 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यसे उक्त अनुभव होता है, उनके

बाढमिष्टाऽपि सा युक्तिर्न मानांशतयेष्यते ।
मानांशत्वे तु वेदस्य निरपेक्षत्वहानितः ॥ २८६ ॥
इतिकर्त्तव्यरूपेण वेदस्य सहकारिणीम् ।
युक्तिमाहुर्वेदविदो न मानेऽन्तर्भवेत्ततः ॥ २८७ ॥
धर्मे प्रमीयमाणे हि वेदेन करणात्मना ।
इतिकर्त्तव्यताभागं मीमांसा पूरयिष्यति ॥ २८८ ॥

प्रति आवृत्ति अनर्थक है, यह इष्ट ही है, कारण कि एक बार उक्त 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यसे अविद्यानिवर्तक आत्मतत्त्वसाक्षात्कार हो जाता है, उसके लिए कोई क्रम भी नहीं है, इत्यादि अन्यत्र विस्तारसे निरूपित है ॥ २८५ ॥

'बाढमिष्टाऽपि' इत्यादि। आत्मसाक्षात्कारके लिए मन्दबुद्धियोंको अभ्यासकी अपेक्षा है, यह ठीक है, किन्तु उनको भी प्रमाणके अङ्गरूपसे अभ्यास अपेक्षित नहीं है, कारण कि प्रमाणके अभावसे यदि अभ्यासकी अपेक्षा मानोगे, तो वेदमें निरपेक्षत्वलक्षण स्वतःप्रामाण्यकी हानि हो जायगी। जैसे लौकिक वाक्य स्वार्थ-प्रमाके लिए प्रमाणान्तरकी नियमेन अपेक्षा करता है, प्रमाणान्तरके बिना वह वाक्य अश्रद्धेय होता है, अतः स्वार्थमें संवादके लिए प्रमाणान्तर अपेक्षित होता है; वैसे ही वेदबोधित अर्थमें यदि पुनः प्रमाणान्तरकी अपेक्षा होगी, तो प्रमाणान्तरसहकृत वेदवाक्य इष्ट अर्थका बोधक हुआ, इतरनिरपेक्ष नहीं, अतः उक्तलक्षण प्रामाण्यकी हानि हो जायगी ॥ २८६ ॥

'इतिकर्तव्य०' इत्यादि। वेदवेत्ता इतिकर्तव्यतारूपसे युक्तिको वेदकी सहकारिणी मानते हैं, अतः प्रमाणमें युक्तिका अन्तर्भाव नहीं है। युक्ति यदि प्रमाणस्वरूपा होती, तो युक्तिसापेक्ष शब्द स्वार्थका बोधक है, यह माननेपर मानान्तरसापेक्ष वेद भी बोधक होता और निरपेक्षत्वलक्षण प्रामाण्यका भङ्ग होता, किन्तु ऐसा है नहीं ॥२८७॥

प्रमाणानन्तर्गत अर्थात् प्रमाणबहिर्भूत युक्तिके सहकारसे शब्द स्वार्थका बोधक है, यही दृष्टान्तपूर्वक कहते हैं—'धर्मे प्रमीयमाणे' इत्यादि।

धर्मप्रमेय है, प्रमाणस्वरूप वेद करण है और मीसांसा इतिकर्तव्यता है; जैसे स्वर्गमें याग करण है, प्रयाजादि इतिकर्तव्यता है वैसे ही प्रमामें वेद करण है, मीमांसा इतिकर्तव्यताभागकी पूर्ति करेगी अर्थात् इतिकर्तव्यता है।

एवं ब्रह्मणि वेदेन मीयमानेऽत्र युक्तिभिः ।
मेयासम्भावनाख्योऽयं पुंधीदोषो निरस्यते ॥ २८९ ॥

इतिकर्तव्यतासापेक्ष अग्निहोत्र आदि वाक्य स्वार्थबोधक हैं, यह माननेपर भी स्वतःप्रामाण्यकी क्षति नहीं है, कारण कि इतिकर्तव्यता स्वयं प्रमाण नहीं है, वह प्रमाणकी सहकारिणी है, अर्थात् किंचित्सापेक्ष होनेसे उक्त प्रामाण्यका भङ्ग नहीं होता। अन्यथा शक्त्यादिज्ञान और उससे उत्पन्न उपस्थिति आदि सर्वत्र शाब्दबोधमें अपेक्षित हैं, इसलिए सब जगह सापेक्षत्व ही है, निरपेक्षत्व किसीमें नहीं मिल सकता। इस परिस्थितिमें कहीं भी प्रामाण्य नहीं हो सकता, अतः प्रमाणान्तर निरपेक्षत्व ही प्रामाण्यका प्रयोजक है, सो प्रकृतमें है ही ॥ २८८ ॥

'एवं ब्रह्मणि' इत्यादि। जैसे अग्निहोत्रविधायक कर्मकाण्डमें स्थित वैदिकवाक्य अर्थात् 'अग्निहोत्रं जुहुयात्' इत्यादि वाक्य मीमांसारूप विचारसे धर्मपरक हैं, अन्यपरक नहीं हैं, यह निर्णय होता है, वैसे ही 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म', 'नेह नानास्ति किञ्चन', 'आत्मैवेदं सर्वम्', 'तत्त्वमसि' इत्यादि औपनिषद वाक्योंको ब्रह्मस्वरूपका निर्णय करनेमें इतिकर्तव्यतारूपसे युक्त्यादिकी सहकारीरूपसे अपेक्षा है। अशुद्ध्याद्यनेकदोष-विशिष्ट जगत् शुद्ध बुद्ध ब्रह्मसे अभिन्न कैसे हो सकता है? इस प्रकार पुरुषबुद्धिमें असम्भावनादोषके निरासके लिए कार्यकारणका अभेद प्रतिपादन किया गया है। दृष्टान्त-विधया मृद्, लोह आदिका उपादान किया गया है—

'यथा सोम्य! एकेन मृत्पिण्डेन विज्ञातेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद् वाचारम्भणं विकारो०' इत्यादि। 'यथा वा एकेन लोहमणिना विज्ञातेन सर्वं लोहमयं विज्ञातं स्यात्' इत्यादि। श्वेतकेतुके प्रति यह प्रश्न था 'उत तमादेशम्' इत्यादि। श्वेतकेतु उत्तर न दे सके। फिर श्वेतकेतुको समझाया गया कि यह सब प्रपञ्च ब्रह्मसे उत्पन्न हुआ है, अतः ब्रह्मसे अभिन्न है। कार्यकारणका अभेद है अर्थात् कारणसे अतिरिक्त कार्य नहीं होता। इसमें दृष्टान्त मृत्तिकाका और लौहका दिया है। जैसे मिट्टीका तत्त्व ज्ञात होनेपर तद्विकार घट, शराव आदि ज्ञात हो जाते हैं, क्योंकि वाचारम्भणमात्र घटादि हैं, केवल नामरूपमात्रका भेद है, सो भी कल्पित है, तत्त्वान्तर नहीं। तथा लौहके जाननेसे तद्विकार नखनि-कृन्तनादि सब लौह-कार्य विज्ञात होते हैं, वैसे ही ब्रह्मकार्य जगत् ब्रह्मसे अभिन्न

नैतावतोपयोगेन युक्तेर्मानत्वसम्भवः ।
उपयुक्तोऽप्यर्थवादो विध्यर्थं न प्रमापयेत् ॥ २९० ॥
न वायोः क्षिप्रकारित्वाच्छ्केतालम्भो विभूतये ।
विध्युद्देशात्तु तत्सिद्धेः शैघ्र्यं तूक्तं प्रवर्तयेत् ॥२९१॥

है, अतः ब्रह्मके ज्ञात होनेपर सब जगत् ज्ञात हो जाता है। ब्रह्मसे अतिरिक्त जगत् नहीं है, जैसा कि तन्तुसे अतिरिक्त पट नहीं है। शब्द, बुद्धि, कार्य आदिका भेद होनेपर भी पदार्थका भेद नहीं होता, अन्यथा तन्तुका नाश होनेपर भी पटका उपलम्भ होना चाहिए तथा भिन्नपरिमाण होना चाहिए। द्रव्यका लक्षण है—परिमाणवत्त्व। तन्तुके परिमाणसे अतिरिक्त परिमाण पटमें नहीं है, इसलिए वह तन्तुसे भिन्न नहीं है—इत्यादि दृष्टान्त और तर्क द्वारा असम्भावनारूप दोष जब निवृत्त हो जाता है, तब 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यसे आत्मैक्यकी बुद्धि होती है। अतः दोषके निरासके लिए युक्त्यादिकी अपेक्षा होनेपर भी उक्त वाक्यमें निरपेक्षत्वलक्षण प्रामाण्यकी क्षति नहीं है ॥ २८९ ॥

नैतावतोपयोगेन' इत्यादि। असम्भावना आदि दोषके निरासके लिए शब्दको युक्तिकी अपेक्षा होनेपर भी श्रुतिमें स्वतःप्रामाण्यकी हानि नहीं है। यदि श्रुतिके अर्थके निश्चयके लिए युक्त्यादिकी अपेक्षा होती, तो अप्रामाण्यापत्ति हो सकती। परन्तु यहां तो श्रुतिजन्य वाक्यार्थज्ञानकी उत्पत्तिमें प्रतिबन्धक असम्भावना आदि दोषोंके निरासके लिए युक्तिकी अपेक्षा है, इससे कोई क्षति नहीं है अर्थात् यदि युक्ति अर्थनिश्चायक होती, तो वाक्यसे ही अर्थका निश्चय हुआ नहीं, युक्तिकी भी सहकारीरूपसे अपेक्षा हुई, इसलिए लौकिक वाक्यके सदृश वैदिक वाक्य भी सापेक्ष अर्थका बोधक हुआ, अतः उसीके समान स्वतः प्रामाण्यभङ्ग होता, सो प्रकृतमें नहीं है। इससे कहते हैं कि प्रतिबन्धकनिवृत्तिरूप उपयोगमात्रसे युक्ति प्रमाण नहीं है। जैसे पुरुषकी प्रवृत्तिमें उपयोगी अर्थवाद विध्यर्थमें प्रमाण नहीं होता, वैसे ही प्रकृतमें भी समझना चाहिए ॥ २९० ॥

'न वायोः' इत्यादि। 'वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः' इस श्रुतिसे विभूतिफलक वायव्य यागका विधान है। जो पुरुष आलस्यादिके कारण उक्त यागमें प्रवृत्त नहीं होता, उसकी प्रवृत्तिके लिए उक्त यागकी प्रशंसाके लिए 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता' इत्यादि अर्थवाद वाक्य है। चूँकि वायु शीघ्रगामिनी

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिभ्यो व्यतिरेकेण युक्तितः ।
दृश्यतां गोत्ववद्व्यक्तेर्ब्रह्मत्वेऽस्य किमागतम् ॥२९२॥

देवता है, अतः वह शीघ्र फलप्रद है, यह सुननेसे शीघ्र फलके लाभके लिए आलसी मनुष्यकी भी उक्त यागमें प्रवृत्ति होती है। यहांपर उक्त अर्थमें दृष्टान्त कहते हैं कि—श्वेत पशुका आलंभन विभूतिका हेतु है, यह 'वायव्यं श्वेतमालभेत' इस श्रुतिका ही अर्थ है, 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा' इत्यादि अर्थवादका नहीं। यद्यपि श्रुत्यर्थमें प्रवृत्तिका उपयोगी यह अर्थवाद है तथापि श्वेतालम्भमें विभूतिहेतुत्वका ज्ञापक नहीं है। उक्त अर्थका उक्त विधिवाक्य ही बोधक है, इसलिए स्वार्थके निर्णयके लिए मानान्तरकी अपेक्षा न होनेसे उक्त विधिवाक्यमें प्रामाण्यकी क्षति नहीं है। एवं 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यजन्य ज्ञानकी उत्पत्तिके लिए युक्तिका उपन्यास नहीं है। उत्पन्न ज्ञानके अर्थके निश्चयके लिए उसकी अपेक्षा है अर्थात् 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यको प्रतिबन्धक बुद्धिदोषकी निवृत्तिके लिए—वायव्ययागमें प्रवृत्तिके प्रतिबन्धक आलस्यादि दोषके निरासके लिए—'वायुर्वै क्षेपिष्ठा' इत्यादि अर्थवाद वाक्यकी अपेक्षा है। अतः दोनों स्थलोंमें स्वतःप्रामाण्यकी क्षति नहीं है ॥ २९१ ॥

युक्ति तत्त्वनिश्चायक नहीं होती, इसका उपपादन करते हैं—'जाग्रत्०' इत्यादिसे।

गोव्यक्तियोंकी परस्पर व्यावृत्ति है अर्थात् एक व्यक्ति दूसरी गोव्यक्ति नहीं है और दूसरी व्यक्ति तीसरी नहीं है, इस क्रमसे व्यक्तियोंकी परस्पर व्यावृत्ति है, परन्तु गोत्व सब व्यक्तियोंमें अनुगत एक ही है; अतः गोत्व गोव्यक्तिसे भिन्न है—यह व्याप्ति कुसमसूत्रदृष्टान्तसे निश्चित है। जिसकी व्यावृत्ति होनेपर जो अनुवृत्त होता है, वह व्यावर्तमानसे भिन्न है, जैसे फूलोंसे सूत्र। वैसे ही जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्तिकी व्यावृत्ति होनेपर तीनों अवस्थाओंका साक्षी आत्मा तीनोंमें अनुवृत्त होनेके कारण तीनोंसे भिन्न है, इस युक्तिसे शरीरादिसे भिन्न यदि आत्माका ज्ञान हुआ, तो हो, परन्तु तीनों अवस्थाओंमें अव्यभिचारी आत्मा ब्रह्म है, यह तो नहीं सिद्ध हुआ। यह तो 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यसे ही सिद्ध होता है, युक्तिसे नहीं; अतः युक्ति तत्त्व-निश्चायक नहीं है, यह सिद्ध हुआ।

ब्रह्मत्वं प्रतिपाद्याऽपि स्वत एव श्रुतिः पुनः ।
सम्भावयति युक्त्या तत्पुंधीदोषं निरस्यति ॥२९३॥

शङ्का—'तत्त्वमसि' आदि वाक्यका श्रवण होनेपर भी जीव और ब्रह्मके अभेदका निश्चय नहीं होता, अतः युक्तिसम्बद्ध वाक्य भी उक्त अर्थका निश्चायक नहीं हो सकता, इसलिए दोनोंकी आवृत्ति ही उक्त अर्थकी निर्णायिका है ।

उत्तर—यह ठीक नहीं है, कारण कि आवृत्ति तो प्रमाण नहीं है, अप्रमाणसे वस्तुकी सिद्धि नहीं मानी जाती । अच्छा, तो आवृत्ति वाक्यप्रामाण्यमें हेतु है, अतः वह वाक्य द्वारा वस्तुनिश्चायक हो, यह भी नहीं हो सकता, क्योंकि प्रत्यक्षादिके प्रामाण्यमें प्रत्यक्षादिकी आवृत्ति जैसे हेतु नहीं है, वैसे ही शब्दके प्रामाण्यमें शब्दकी आवृत्ति भी हेतु नहीं है । लौकिक प्रमाणमें कहीं भी आवृत्ति अर्थनिश्चायक नहीं है, अतः आगममें भी आवृत्ति अर्थनिर्णायक नहीं है । यदि लोकके अनुसार ही वेदमें प्रामाण्य मानियेगा, तो लोकमें वाक्य संसृष्टपरोक्ष अर्थके बोधके जनक होते हैं, अतः 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यको भी तथाविध बोधजनक मानिये ? नहीं, नहीं मान सकते, क्योंकि असंसृष्टापरोक्ष ब्रह्मात्मा ही 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यका विषय है, दूसरा नहीं । स्वविषयमें ही वाक्य प्रमाण होते हैं, अतः लौकिक वाक्यसे विपरीत 'तत्त्वमसि' आदि प्रमाण हैं ।

'ब्रह्मत्वम्' इत्यादि । जीवमें ब्रह्मभावका प्रतिपादन कर फिर स्वयं श्रुति असम्भावनाकी शङ्कासे पुरुषबुद्धिदोषका युक्तिसे निरास करती है अर्थात् 'तत्त्वमसि' यह श्रुति 'जीव ब्रह्मस्वरूप है, अतिरिक्त नहीं' यह कहकर शरीरादिसंघातविशिष्ट जीव नित्य, शुद्ध, बुद्ध और मुक्तस्वरूप ब्रह्म कैसे हो सकता है ? इस प्रकार असम्भावना दोषसे श्रोताको उक्त बोध नहीं होगा, इस शङ्काकी निवृत्ति करके जीवमें ब्रह्माभेदकी युक्ति द्वारा सम्भावना की है, क्योंकि जाग्रदादि अवस्थात्रयके उपन्यास द्वारा अर्थात् सुषुप्ति आदि अवस्थाओंके द्वारा शरीर आदिसे अतिरिक्त स्वयंप्रकाश चिदात्मा ब्रह्मस्वरूप हो सकता है, इस प्रकार श्रोताको उक्त बोधकी सम्भावना होती है; अतः युक्ति पुरुषबुद्धिके असम्भावनादि दोषोंको दूर कर उक्त अभेदबोधकी सम्भावना उत्पन्न करती है, यह निर्विवाद सिद्ध होता है ॥ २९३ ॥

महावाक्यात् पुरा युक्तिस्त्वम्पदार्थं विशोधयेत् ।
पश्चात्तु तत्पदार्थत्वं सम्भावयति तस्य हि ॥ २९४ ॥
वाक्ये पुंसोऽधिकारः स्याद्युक्त्या पूर्वप्रवृत्तया ।
पश्चात् प्रवृत्तया स्थैर्यं वाक्यार्थे वाक्यबोधिते ॥ २९५ ॥

उसी अर्थको पुनः स्पष्ट करते हैं—'महावाक्यात्' इत्यादिसे । देहादिसे विलक्षण जाग्रदादि अवस्थाओंका साक्षी प्रत्यगात्मा है, ऐसा जिसको पहले ज्ञान नहीं है, उसके हृदयमें 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यार्थका बोध ही नहीं हो सकता और जिसको उक्त आत्मस्वरूपका ज्ञान है, उसके हृदयमें उक्त वाक्यसे आत्मैक्यज्ञान तो होता है, किन्तु वह अनादि कालकी आत्मभेदवासनासे प्रतिबद्ध हो जाता है, अतः वह अविद्यानिवर्तक नहीं हो सकता; अप्रतिबद्ध ही उक्त ज्ञान अज्ञानका निवर्तक होता है, प्रतिबद्ध नहीं । अप्रतिबद्ध अपरोक्ष ज्ञानके लिए युक्तिरूप विचार सफल है ।

श्लोकार्थ—'तत्त्वमसि' आदि वाक्य महावाक्य हैं, इससे पूर्व युक्ति त्वंपदार्थका परिशोधन करती है, पश्चात् इस वाक्यसे होनेवाले ज्ञानकी उत्पत्तिके अनन्तर त्वंपदार्थमें तत्पदार्थके अभेदकी सम्भावना करती है अर्थात् अवस्थात्रयके उपन्यास द्वारा शरीरादिसे अतिरिक्त स्वयंप्रकाशस्वरूप जीव त्वंपदार्थ है, यह निश्चय होनेपर स्वयंप्रकाश ब्रह्मसे अभिन्न जीव है, इस प्रकारके बोधमें कोई अड़चन नहीं पड़ती । अतः अबाधित जीवब्रह्माभेदविषयक अपरोक्षबोधके लिए युक्त्याख्य विचार सार्थक है ॥ २९४ ॥

'वाक्ये' इत्यादि । 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यके श्रवणसे पूर्व जाग्रदादि अवस्थात्रयोपन्यासरूप युक्तिका परिशीलन करनेपर उक्त महावाक्यके श्रवणमें पुरुषका अधिकार होता है और उक्त महावाक्यके श्रवणके अनन्तर उक्त युक्तिके परिशीलनसे 'तत्त्वमसि' इस महावाक्यसे बोधित जीवब्रह्माभेदविषयक बुद्धि स्थिर होती है, अतः अवस्थात्रयका अनुसन्धान उक्त वाक्यार्थबोधसे तथा उक्त वाक्यार्थबोधके अनन्तर भी अवश्य करना चाहिए । पूर्वमें उक्त अनुसन्धानका फल है—वाक्यार्थके श्रवणमें अधिकार और अनन्तर अनुसन्धानका फल है—जीव और ब्रह्मकी अभेदबुद्धिका स्थिर होना । शरीरके अवस्थान कालमें जीवन्मुक्ति तथा प्रारब्ध कर्मके भोगके अनन्तर शरीरका पात होनेपर विदेह-कैवल्यकी प्राप्ति फल है ॥२९५॥

उक्तप्रयोजनं युक्त्या यया स्यात् सैव गृह्यताम् ।
वेदार्थस्याऽनुकूलत्वे स्याल्लौकिक्यपि वैदिकी ॥ २९६ ॥
आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना ।
यस्तर्केणाऽनुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः ॥ २९७ ॥

'उक्तप्रयोजनम्' इत्यादि । 'अहं गौरः', 'अहं कृशः' इत्यादि शरीर और आत्माके भेदका अवगाहन करनेवाली लौकिक युक्ति भी है, पर इसका अनुशीलन उक्त प्रयोजनके प्रतिकूल है, क्योंकि इससे जीव और ब्रह्मका अभेद-ज्ञान नहीं हो सकता, इसलिए इसका आश्रयण मुमुक्षु न करें, किन्तु उक्त प्रयोजन—जीव और ब्रह्मके अभेदका अबाधित अपरोक्षबोध—जिस युक्तिसे हो, उसीका आश्रयण करें, चाहे वह लौकिक हो या वैदिक, इसमें आग्रह नहीं है। वास्तवमें वेदार्थानुकूल युक्तिका आश्रयण करना चाहिए। उपादेयताका प्रयोजक वेदार्थानुकूलत्व है, लौकिकत्व या वैदिकत्व नहीं है। अतएव वेदार्थानुकूल भाषाग्रन्थ भी मुमुक्षुके उपादेय हैं। वेदके अविरुद्ध युक्ति उपादेय है, यह मनुजीने भी कहा है।

'आर्षं धर्मोपदेशम्' इत्यादि। श्रौत और स्मार्त धर्मोंके उपदेशका वेद और शास्त्रके अविरोधी तर्कसे जो अनुसन्धान करता है, वही वस्तुतः धर्म जानता है, दूसरा नहीं। [ऋषिः वेदः, ततः आगतः—ज्ञातः—अर्थः—आर्षः, वेदार्थ इति यावत्] वेदके अर्थोंको वेदके अविरोधी तर्कसे समझना चाहिए। वेदार्थ दो प्रकारका है—एक कर्मकाण्डमें यागादि धर्म, जिसका विचार पूर्वमीमांसामें किया गया है और दूसरा ब्रह्म है, जिसका विचार वेदान्तमें किया गया है। इन दोनों अर्थोंको वेदके अविरोधी तर्कसे समझना चाहिए। और स्मार्त्तधर्मोंका उपदेश स्मृतिके अविरोधी तर्कसे समझना चाहिए। यद्यपि स्मार्त्त धर्म भी श्रौत ही है, क्योंकि स्मृतियां साक्षात् धर्ममें प्रमाण नहीं हैं, बल्कि तादृश धर्मकी प्रतिपादक श्रुतियोंके अनुमान द्वारा हैं, तथापि उन धर्मोंको हम लोग स्मृतियोंमें देखते हैं। इसलिए वे स्मार्त्त कहलाते हैं। यदि आर्ष धर्मोपदेश अर्थात् वैदिक धर्मोपदेशको वेदरूपी शास्त्र और तदविरुद्ध तर्कसे समझना चाहिए, यह अर्थ मानें, तो चकार निरर्थक हो जायगा। इसलिए पूर्वोक्त अर्थ ही युक्त प्रतीत होता है ॥ २९७ ॥

इत्यङ्गीकुरुते तर्कं मनुर्वेदोपयोगिनम् ।
युक्तेर्मानात् पृथक्त्वेन त्वद्दोषोऽस्ति नो मम ॥ २९८ ॥
मानानुग्राहकस्तर्क इति नैयायिकोऽब्रवीत् ।
पक्षे विपक्षजिज्ञासाविच्छेदस्तदनुग्रहः ॥ २९९ ॥

'इत्यङ्गीकुरुते' इत्यादि । इस प्रकारसे मनुजी वेदानुकूल तर्कको मानते हैं, परन्तु युक्ति प्रमाणसे अतिरिक्त है, इसलिए आपका उक्त दोष, अर्थात् वेद स्वार्थ-बोधके लिए यदि युक्तिकी अपेक्षा करेगा, तो उसमें सापेक्षत्वलक्षण अप्रामाण्यकी प्रसक्ति हो जायगी, असङ्गत है, कारण कि युक्ति प्रमाण नहीं है, किन्तु तर्क है और तर्क प्रमाणका सहकारी है । सन्दिग्ध स्थलमें सन्देहकी निवृत्तिके लिए प्रमाण तर्ककी अपेक्षा करता है, अर्थकी सिद्धिके लिए नहीं; अतः प्रमाणान्तर-सापेक्ष अर्थका बोधक न होनेसे सापेक्षत्वलक्षण अप्रामाण्यकी प्रसक्ति प्रकृतमें नहीं है ॥ २९८ ॥

युक्ति मानाङ्ग है, यह गौतमादि मुनिके संमत है, यह कहते हैं—'मानानु-ग्राहकः' इत्यादिसे ।

तर्क प्रमाणका अनुग्राहक है, यह नैयायिक शिरोमणि महर्षि गौतमने कहा है । पक्षमें विपक्षकी जिज्ञासाका विच्छेद प्रमाणका अनुग्रह है । सन्दिग्ध-साध्यवान् पक्ष और निश्चितसाध्याभाववान् विपक्ष कहलाता है । जैसे 'पर्वतो वह्निमान्' इस अनुमानमें पर्वत पक्ष है और ह्रद विपक्ष है । 'पर्वतो वह्निमान्, धूमात्' इस न्यायप्रयोगके अनन्तर धूमादि हेतुमें अप्रयोजकत्वकी शङ्का होनेपर 'पर्वतो वह्निमान् न वा' यह संशय होता है, वह तर्कसे निवृत्त होता है । जैसे—'वह्निका धूम व्यभिचारी है' यदि ऐसा ज्ञान हो, तो वह तर्कसे अर्थात् 'यदि धूम वह्निका व्यभिचारी होगा, तो वह्निसे जन्य नहीं होगा, इस तर्कसे निवृत्त किया जाता है । वह्निजन्य धूम मत हो, इस प्रकार यदि शङ्का हो, तो इसपर यह तर्क होगा कि यदि धूम वह्निजन्य नहीं होगा, तो खपुष्पके समान कभी होगा ही नहीं अथवा गगनवत् सदा ही रहेगा, कादाचित्क नहीं होगा । इस परि-स्थितिमें धूमार्थीकी अग्निके आनयनमें नियमतः प्रवृत्ति ही नहीं होगी, और होती तो है एवं धूम कादाचित्क भी प्रत्यक्ष सिद्ध है—इत्यादि तर्कसे उसका निराकरण कर धूममें अप्रयोजकत्वकी शङ्काका भी निराकरण किया जाता है । उसके बाद 'पर्वतो वह्निमान् न वा' यह संशय निवृत्त होता है और 'पर्वतो वह्निमान्' यह अनुमिति होती है ।

आवृत्तिः सूत्रकृत्प्रोक्तेत्युक्तं यत्तत्तथैव हि ।
न वारयाम आवृत्तिं प्रकारस्तु विभिद्यते ॥ ३०० ॥
वाक्यार्थावगतेः पूर्वं पदार्थद्वयशुद्धये ।
आवृत्तिं सूत्रकृत् प्राह तच्छुद्धिरवधिर्मतः ॥ ३०१ ॥

'आवृत्तिः' इत्यादि । सूत्रकारने ज्ञानकी आवृत्ति कही है, यह जो आपने कहा, वह ठीक ही है, आवृत्तिका निवारण हम भी नहीं करते हैं, किन्तु आवृत्तिका प्रकार भिन्न है जो अग्रिम श्लोकमें स्पष्ट है ॥ ३०० ॥

'वाक्यार्थावगतेः' इत्यादि । तत्त्वमस्यादि महावाक्यार्थके बोधसे पहले 'तत्' और 'त्वम्' पदार्थकी शुद्धिके लिए सूत्रकारने ज्ञानकी आवृत्ति कही है, कबतक प्रत्ययकी आवृत्ति अपेक्षित है ? इसमें अन्तिम अवधि 'तत्' और 'त्वम्' पदार्थकी शुद्धि ही मानी गई है। उसके बाद सकृत् श्रुत 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यसे मोक्षके हेतु आत्मज्ञानकी उत्पत्ति हो जाती है । अतः आवृत्ति अनपेक्षित है । भाव यह है कि छान्दोग्य-उपनिषद्में बहुपुत्रताके लिए 'रश्मींस्त्वं पर्यावर्त्तयात्' इस वाक्यसे प्रत्ययकी आवृत्तिका विधान किया गया है । इसलिए फलाधिक्यके लिए प्रत्ययकी आवृत्ति करनी चाहिए, यह आपाततः प्रतीत होता है, किन्तु यह ठीक नहीं है, कारण कि साध्य फलमें प्रत्ययकी आवृत्ति करनेसे फलमें अतिशय हो सकता है। परन्तु जो परब्रह्मविषयक ज्ञान है, वह नित्यशुद्ध-बुद्धमुक्तस्वभाव परब्रह्मका समर्पक है । परब्रह्म नित्यसिद्ध तथा निरतिशय फल है, इसमें प्रत्ययकी आवृत्तिका कुछ फल नहीं है। एक बार सुननेसे ब्रह्मात्मत्वकी प्रतीति नहीं होती, इसलिए प्रत्ययकी आवृत्ति अपेक्षित है; यह कहना भी ठीक नहीं है, कारण कि आवृत्ति करनेपर भी ब्रह्मात्मत्वका निश्चय नहीं होता, क्योंकि 'तत्त्वमसि' आदि वाक्य एक बार श्रुत होकर यदि ब्रह्मात्मत्वविषयक प्रतीति नहीं उत्पन्न करा सकता, तो अनेक बार श्रुत होकर भी ब्रह्मात्मत्वज्ञानका उत्पादक कैसे होगा ? अर्थात् होगा ही नहीं। यदि यह कहिये कि केवल वाक्य किसी अर्थका साक्षात्कार नहीं करा सकता, किन्तु युक्तिसहकृत उक्त वाक्य ही ब्रह्मात्मत्वविषयक साक्षात्कार करा सकेगा ? तो वह भी ठीक नहीं है, कारण कि इस पक्षमें भी आवृत्ति अनर्थक है, क्योंकि युक्ति भी एक बार ही प्रयुक्त होकर अपने अर्थका अनुभव करा देगी । वाक्य तथा युक्तिसे सामान्य-

विषयक ही ज्ञान होता है, विशेषविषयक नहीं। जैसे 'मेरे हृदयमें शूल है' इस वाक्यसे तथा कम्पादिलिङ्गक युक्तिसे शूलका सामान्यज्ञान ही श्रोताको होता है, विशेष नहीं। अर्थात् जैसे शूलीको शूलकी व्यथाका पूरा अनुभव होता है, वैसे श्रोताको नहीं होता। परोक्ष और अपरोक्ष ज्ञानमें यही अन्तर है। सामान्य-विषयक परोक्ष है और विशेषविषयक अपरोक्ष है। प्रकृतमें अविद्याके निवर्तक विशेषका अनुभव अपेक्षित है, इसलिए आवृत्ति आवश्यक है; यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि यदि शास्त्र और युक्ति ये दोनों सामान्यज्ञानके जनक हैं, तो फिर इनकी आवृत्तिसे भी विशेष ज्ञान कैसे होगा ?

यदि शास्त्र और युक्ति दोनोंको विशेषज्ञानके जनक मानें, तो एक बारकी प्रवृत्तिसे भी अभीष्ट सिद्ध हो जायगा, फिर आवृत्ति व्यर्थ है। और इन्हें यदि सामान्यज्ञानके ही जनक मानें, तो सौ बार आवृत्ति करनेपर भी सामान्य ही ज्ञान होगा, विशेष नहीं होगा, अतः आवृत्ति उभयथा व्यर्थ है।

यह भी बात है कि अनेकांशविशिष्ट लौकिक पदार्थ सामान्य-विशेषवान् होता है। उसमें एक अवधानसे एक अंशका और दूसरे अवधानसे दूसरे अंशका इस प्रकारसे अनेक विशेषोंका ग्रहण करनेके लिए अनेक अवधानकी आवश्यकता हो सकती है, परन्तु सामान्य और विशेषसे रहित निर्विशेषब्रह्मविषयक प्रमाकी उत्पत्तिके लिए अभ्यासकी क्या अपेक्षा ? ठीक है, जो पुरुषधौरेय सकृत्श्रुत 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यसे ब्रह्मतत्त्वका अनुभव कर सकता है, उसके प्रति अभ्यास अनर्थक है, यह मानते हैं, किन्तु जिनको एक बारके श्रवणसे तत्त्वज्ञान नहीं होता, उनके लिए आवृत्ति सार्थक और आवश्यक है; अतएव छान्दोग्यमें 'तत्त्वमसि श्वेतकेतो' यह श्वेतकेतुके प्रति उपदेश होनेपर श्वेतकेतुने फिर कहा कि भगवन् ! मेरे प्रति पुनः कहिये, इस प्रकार तत्तत् शङ्काके कारणोंकी निवृत्तिके लिए नौ बार 'तत्त्वमसि' कहा गया है।

शङ्का—आपने पूर्वमें यह कहा है कि सकृत् श्रुत 'तत्त्वमसि' आदि वाक्य यदि स्वार्थका अनुभावक नहीं होगा, तो आवर्तमान भी उक्त वाक्य स्वार्थका अनुभावक नहीं होगा।

उत्तर—हाँ, कहा था, पर देखते हैं कि सकृत्श्रुत उक्त वाक्य मन्दमतिको स्वार्थका बोधन नहीं करा सकता, परन्तु आवर्त्यमान उक्त वाक्य प्रथम मन्दरूपसे प्रतीत

स्वार्थकी, आभासके निराकरण द्वारा, समीचीन प्रतिपत्ति कराता है। 'तत्त्वमसि' यह वाक्य त्वंपदार्थको तत्पदार्थका स्वरूप बतलाता है। तत्पदसे प्रकृत जगज्जन्म आदिका कारण सदीक्षणकर्ता ब्रह्म विवक्षित है। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म', 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म', 'अदृष्टं द्रष्टृ·········अविज्ञातं विज्ञातृ', 'अजमजरममरम्', 'अस्थूलमनण्वह्रस्वम-दीर्घम्' इत्यादि प्रसिद्ध ब्रह्म यहां तत्पदार्थ है। अज आदि शब्दोंसे जन्मादि भाव-विकारकी निवृत्ति कही गई है। अस्थूल आदि शब्दोंसे स्थौल्यादि द्रव्यधर्मकी निवृत्ति और विज्ञान आदि शब्दोंसे चैतन्य प्रकाशात्मक कहा गया है। जैसे ब्रह्म सकल संसारधर्मोंसे रहित अनुभवात्मक तत्पदार्थ वेदान्तमतमें प्रसिद्ध है वैसे ही त्वंपदार्थ प्रत्यगात्मा श्रोता भी देहसे लेकर प्रत्यगात्मरूपसे सम्भाव्यमान चैतन्य-तक निश्चित है।

अब जिन पुरुषोंको तत् और त्वं पदार्थमें अज्ञान, संशय और विपर्यय हैं, उनको 'तत्त्वमसि' वाक्यार्थकी प्रमा नहीं होती, क्योंकि पदार्थज्ञानपूर्वक वाक्यार्थज्ञान होता है, अतः पदार्थज्ञानके लिए शास्त्र तथा युक्तिका अभ्यास आवश्यक है। यद्यपि ज्ञातव्य आत्मा निरंश है, तथापि बहुत पदार्थ आरोपित हैं, जैसे देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, विषय, वेदन आदि, इसलिए एक-एकके अवधानसे एक-एक आरोपित अंशकी निवृत्ति की जाती है; इसलिए शास्त्र और युक्तिका अभ्यास अपेक्षित है, एवं आत्मानुभवसे पूर्वमें ही अपेक्षित है। जिन पुरुषरत्नोंमें अज्ञान आदि प्रतिबन्धक नहीं हैं, उन महात्माओंको 'तत्त्वमसि' आदि वाक्य एक-बार श्रवणसे ही स्वार्थका बोधन कराता है। अतएव उनके लिए आवृत्त्यादि निरर्थक ही हैं। एक बार उत्पन्न हुई ब्रह्मात्मप्रतिपत्ति अविद्याको निवृत्त करती ही है, अतः इसमें कोई क्रम नहीं है। यद्यपि यह ठीक है, तथापि ऐसी प्रतिपत्ति तो किसीको होती नहीं है, क्योंकि आत्मामें दुःखित्व आदिकी प्रतीति प्रबल है, अतः कोई भी आत्मामें दुःखाभावकी प्रतीति नहीं कर सकता; नहीं, ऐसा नहीं है, क्योंकि जैसे देहाभिमान मिथ्या है वैसे ही दुःखाभिमान भी मिथ्या है और इसका प्रत्यक्ष है—। देहके दाहसे 'अहं दग्धः' यह प्रतीति होती है, पर 'नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः' इत्यादि श्रीभगवद्वाक्यसे आत्मामें दाह आदि नहीं हो सकते, किन्तु देहके दाहका आत्मामें आरोप कर 'अहं दग्धः' यह मिथ्या प्रतीति होती है। फलितार्थ यह है कि जिस पुरुषको 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यसे ब्रह्मात्मा-नुभव शीघ्र न हो, उसके लिए आवृत्ति आवश्यक है और जिसको 'तत् और त्वम्'

भ्रान्तांशानां निवर्त्यानां बाहुल्येन पदार्थयोः ।
क्रमेण तन्निवृत्त्यर्थमावृत्तिस्तत्र युज्यते ॥ ३०२ ॥
पदार्थयोः शोधितयोरेकतां नेत्रवद्वचः ।
सकृदेवाऽवगमयेत्तत्राऽऽवृत्तिर्निरर्थिका ॥ ३०३ ॥

पदार्थोंका यथार्थ ज्ञान है, उसको उक्त वाक्यसे उक्त अर्थका बोध हो जाता है, इसलिए ऐसे पुरुषके लिए आवृत्ति निरर्थक है। सारांश यह है—तत् और त्वम् पदार्थके शोधनके लिए अभ्यासकी आवश्कता है, जिसको तत्त्वंपदार्थका परिशुद्ध ज्ञान है, उसके लिए शास्त्र तथा युक्तिके अभ्यासकी आवश्यकता नहीं है ॥३०१॥

'भ्रान्तांशानाम्' इत्यादि। यद्यपि आत्मा निरंश है, तथापि कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि अनेक कल्पित धर्म आत्मामें भ्रान्तिसे प्रतीत होते हैं, इसलिए एक-एक धर्मके निरासके लिए एक-एक अवधान आवश्यक है अर्थात् क्रमसे—एकावधानसे—एक धर्मका निराकरण किया, द्वितीयावधानसे द्वितीय धर्मका निराकरण किया, इस प्रकार जितने कल्पित धर्म तत्त्वंपदार्थमें प्रतीत होते हैं, उन सबके निराकरणके लिए उतने अभ्यास तो आवश्यक हैं, सब धर्मोंका निराकरण करनेपर शुद्धात्मा ज्ञात होता है ॥ ३०२ ॥

पदार्थशुद्धिके अनन्तर ब्रह्मात्मैक्यबोध एक बारके श्रवणसे होता है, इसमें दृष्टान्त कहते हैं—'पदार्थयोः' इत्यादिसे।

तत् और त्वम् पदार्थके परिशोधनके बाद सकृत् प्रयुक्त 'तत्त्वमसि' आदि वाक्य जीवब्रह्मकी एकताका बोध कराते हैं, अतः इस कार्यके लिए आवृत्ति निरर्थक (निष्प्रयोजन) है। एकताके ग्रहणमें दृष्टान्त देते हैं—'नेत्रवत्'। जैसे शुक्लत्व आदि गुण द्रव्यातिरिक्त हैं। इसके लिए उपपत्तिकी आवश्यकता है, क्योंकि सांख्यादि शास्त्रकार शुक्लादि गुणविशिष्टको ही द्रव्य मानते हैं, अतिरिक्तको नहीं और नैयायिक गुणोंको द्रव्यसे अतिरिक्त मानते हैं। इसके लिए स्वस्वमतानुसारी युक्तिकी अपेक्षा होती है। अभेदके साधनके लिए युक्तिकी अपेक्षा होनेपर भी 'शुक्लो घटः' इत्यादि शुक्ल और घटके अभेदकी प्रतीति नेत्रसे ही हो जाती है। फिर एकताके प्रत्यक्षके लिए युक्ति आदिकी अपेक्षा नहीं है, वैसे ही जीवब्रह्माभेदके प्रमाण आदि द्वारा ज्ञात होनेपर 'तत्त्वमसि'

रत्नतत्त्वपरीक्षायामपि सूक्ष्मार्थलक्षणे ।
नेत्रस्य प्रसरायैव स्यादावृत्तिर्न दृष्टये ॥ ३०४ ॥
प्रसृते तु क्षणेनैव चक्षुस्तत्त्वं प्रपश्यति ।
एवं जीवस्य वाक्येन मीयते ब्रह्मता क्षणात् ॥ ३०५ ॥
नित्यापरोक्ष्यं जीवस्य तदेव ब्रह्मतां वचः ।
अनुभावयते तत्र नाऽऽवृत्तिरनुभूयते ॥ ३०६ ॥

आदि वाक्यसे तत्क्षण ही उनके अभेदकी प्रतीति हो जाती हैं । एतदर्थ आवृत्तिकी आवश्यकता नहीं है ॥ ३०३ ॥

यहाँपर यह शङ्का होती है कि नेत्र भी सन्निकृष्ट रत्नादि वस्तुके परीक्षणके लिए दर्शनावृत्तिकी अपेक्षा रखता है । सकृद्दर्शनमात्रसे दुष्ट रत्नका परिज्ञान नहीं होता, किन्तु इसके लिए जौहरी लोग भी वार-वार रत्नको देखते हैं, इसलिए प्रकृतमें 'नेत्रवत्' यह दृष्टान्त असंगत है, इसके उत्तरके लिए कहते हैं—'रत्नतत्त्व०' इत्यादिसे ।

रत्नतत्त्वकी परीक्षामें भी सूक्ष्म सदसद्विशेषपर्यन्त दृष्टिके पहुँचनेके लिए आवृत्ति अपेक्षित होती है अर्थात् हेयोपादेयतासूचक मणिगत सूक्ष्म-विशेषके साथ प्रथम वार दृष्टिका सम्बन्ध नहीं होता । स्थूलका ग्रहण तो साधारण दृष्टिसे भी हो जाता है । किन्तु सूक्ष्मविशेष तो मनोवधानपूर्वक अनेक वार देखनेसे ही इन्द्रियसम्बद्ध होता है । इन्द्रियसम्बद्ध होनेपर अवगत हो जाता है । अवगतके लिए पुनः पुनः दर्शनकी अपेक्षा नहीं होती, इसलिए 'नेत्रवत्' यह दृष्टान्त प्रकृतमें पूर्णतया लागू है ॥ ३०४ ॥

इसी विषयको अतिस्पष्ट करनेके लिए कहते हैं—'प्रसृते' इत्यादिसे ।

दृष्टान्तसिद्ध अर्थको दार्ष्टान्तिकमें कहते हैं—रत्नगत विशेष धर्म तक चक्षुका प्रसर (गमन) होनेपर क्षणमात्रमें चक्षु रत्नतत्त्वका ग्रहण कर लेता है । एतदर्थ पुनः पुनः दर्शनावृत्तिकी जरूरत नहीं है । इसी तरह तत् और त्वम् पदार्थकी शुद्धिके बाद सकृत् श्रुत 'तत्त्वमसि' आदि वाक्य द्वारा क्षणभरमें ही जीवमें ब्रह्मस्वरूपताका समुद्बोध हो जाता है । अतः प्रत्ययावृत्ति अपेक्षित नहीं होती ॥ ३०५ ॥

'नित्यापरोक्ष्यम्' इत्यादि । चक्षु जैसे सन्निकृष्टका बोधक होता है, वैसे

व्याधम्मन्यो राजपुत्रो राजतामाप्तवाक्यतः ।
स्वस्याऽनुभवितुं नैव वाक्यावृत्तिमपेक्षते ॥ ३०७ ॥

ही वाक्य प्रमाणान्तरानपेक्ष होकर आत्मामें ब्रह्मत्वका बोधन करता है। यद्यपि यह ठीक ही है, तथापि अपरोक्षानुभवके लिए आवृत्तिकी अपेक्षा आवश्यक ही है, क्योंकि व्युत्पन्न पुरुषको शब्दका श्रवण होनेपर भी परोक्ष ज्ञान ही होता है, अतः अपरोक्षानुभवके लिए प्रत्ययावृत्तिरूप ध्यानकी आवश्यकता है। यद्विषयक निरन्तर ध्यान किया जाता है, तद्विषयक साक्षात्कार होता है, यह सर्वानुभव-सिद्ध है, अतः जीवमें ब्रह्मत्वकी अपरोक्षताके लिए प्रत्ययावृत्तिकी सर्वथा अपेक्षा है, यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि अपरोक्षवस्तुविषयक निश्चयके विना अपरोक्ष नहीं होता, यह पहले कह चुके हैं। 'यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म' इस श्रुतिके अनुसार ब्रह्म साक्षात् अपरोक्षानुभवस्वरूप है, अतः तद्विषयक वाक्यजन्य ज्ञान स्वतः अपरोक्ष-स्वरूप होता है। इसके लिए प्रत्ययावृत्तिकी कोई आवश्यकता नहीं है ॥ ३०६ ॥

उक्तार्थका ही उदाहरणपूर्वक उपपादन करते हैं—'व्याधम्मन्यो' इत्यादिसे। • प्रबल शत्रुसे पराभूत होकर कोई राजा वनमें चला गया। 'छिद्रेष्वनर्था बहुलीभवन्ति' इस न्यायसे कोई व्याध छोटे राजपुत्रको चुराकर अपने घर ले गया। व्याधोंके शिशुओंके साथ रहनेसे तथा खान, पान आदि आचरणोंसे वह राजपुत्र अपनेको व्याध मानने और कहने लगा। पूर्वपुण्यवश कोई महात्मा उस राजपुत्रको देखकर सोचने लगा कि यह व्याधाचारी बालक व्याध नहीं हो सकता, क्योंकि इसकी आकृति व्याधाकृतियोंसे विलक्षण है और इसके हस्त, मस्तक आदिकी रेखाओंसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि हो न हो यह राजपुत्र है। पुरातन दुरदृष्टवश यह व्याधोंके हस्तगत हुआ है और अज्ञानवश अपनेको व्याध समझता है। इसमें राजपुत्रोंके संस्कार हैं, किन्तु व्याध-संस्कारोंसे वे अभिभूत हो गये हैं, पर समझानेसे अभिभूत राजपुत्रसंस्कार समुद्बुद्ध होकर व्याधसंस्कारको समूल नष्ट कर देंगे और यह बालक फिर अपनेको राजपुत्र मानकर, व्याधके आचरणोंका त्यागकर स्वकुलपरम्परागत सदाचारोंका पालन करेगा, और अपनेको राजा समझ कर अपना उद्धार कर सकेगा। यह सोच-समझकर उक्त महापुरुषने कहा कि बच्चा, तुम कौन

जीवम्मन्यः परेशान ईशत्वं वेदवाक्यतः ।
स्वस्याऽनुभवितुं तद्वदावृत्तिं नह्यपेक्षते ॥ ३०८ ॥
पुरा वाक्यार्थसम्बोधाच्छास्त्रावृत्तिर्मयेष्यते ।
ऊर्ध्वं तु भवताऽतस्ते यो दोषः स न मेऽस्ति हि ॥ ३०९ ॥

हो ? बालक विनम्रभावसे बोला कि भगवन् ! मैं व्याध-पुत्र हूँ, महात्मा फिर बोले, बच्चा तुम व्याधपुत्र नहीं हो, किन्तु राजपुत्र हो, व्याधोंके संसर्गसे अपनेको भूल गए हो, मेरी बातोंमें विश्वास कर तुम स्वयं सोचो कि यह आकृति तुम्हारी व्याधोंकी आकृतियोंसे भिन्न है, इत्यादि आप्तवाक्योपदेशसे अपनेको व्याध माननेवाला राजपुत्र अपनेको राजा मानने लगता है। अपनेको राजा समझनेके लिए उपदेशावृत्तिकी अपेक्षा नहीं होती, वैसे ही प्रकृतमें भी समझना चाहिए ॥ ३०७ ॥

'जीवम्मन्यः' इत्यादि। परेश परब्रह्म अविद्यासे अपनेको जीव मानकर विविध सांसारिक दुखोंसे विकल रहता है। पुरातन पुण्यवश दयालु गुरु द्वारा 'तत्त्वमसि' आदि वेदवाक्यके सकृत् श्रवणसे पूर्ववत् अपनेको निश्चितरूपसे ब्रह्म मान लेता है। 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि बोधके लिए आवृत्तिकी आवश्यकता नहीं है, जैसे उक्त स्थलमें आप्तवाक्यावृत्तिकी आवश्यकता नहीं है, वैसे ही महावाक्यावृत्तिकी भी आवश्यकता नहीं है ॥ ३०८ ॥

'पुरा वाक्यार्थ०' इत्यादि। इस तरह पूर्ववादीका यह आक्षेप, 'तत्त्वमसि' आदि वाक्य स्वार्थबोधके लिए यदि प्रत्ययावृत्तिकी अपेक्षा करेगा, तो निरपेक्षत्वलक्षण प्रामाण्य उक्त वाक्यमें नहीं होगा, भी सर्वथा अज्ञानमूलक है। वास्तवमें बात यह है कि प्रत्ययावृत्ति हम भी मानते हैं, किन्तु वाक्यार्थबोधसे पूर्व पदार्थके संशोधनके लिए। अन्यथा जीवमें ब्रह्मके अभेदकी असम्भावनाशङ्कासे उक्त वाक्यार्थबोध ही नहीं होगा और अबोधकत्वलक्षण अप्रामाण्य उक्त वाक्यमें होगा, अतः प्रत्ययावृत्तिसे असम्भावनाकी शङ्का निवृत्त होती है। तदनन्तर सकृत्श्रुत 'तत्त्वमसि' आदि वाक्य उक्तार्थबोधक होता है और पूर्वपक्षी वाक्यार्थबोधके बाद प्रत्ययावृत्ति मानता है, सो ठीक नहीं है, अतएव आपने जो वेदाप्रामाण्यलक्षण दोष हमारे मतमें दिया था, वह हमारे मतमें नहीं है, आपके ही मतमें है ॥ ३०९ ॥

नतु विज्ञाय कुर्वीत प्रज्ञामित्यनुशासनात् ।
ऊर्ध्वं चाऽऽवृत्तिरिति चेत्तत्सत्यं नहि संशयः ॥ ३१० ॥
नैतावताऽवकाशोऽस्ति त्वन्मतस्याऽत्र कश्चन ।
नैवाऽनुभूतिसिद्ध्यर्थमिदं श्रौतानुशासनम् ॥ ३११ ॥

वाक्यार्थबोधके बाद श्रुतिसे ही प्रत्ययावृत्तिका विधान प्राप्त होता है, ऐसी शङ्का करते हैं—'ननु विज्ञाय' इत्यादिसे ।

पूर्वपक्षीका यह अभिप्राय है कि सकृत् ब्रह्मज्ञान मुक्तिका कारण नहीं है, किन्तु प्रत्ययावृत्तिरूप ध्यान मुक्तिके लिए श्रुतिमें विहित है, क्योंकि 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' इस श्रुतिमें उपासना-परपर्य्याय निदिध्यासनका विधान है। तथा 'विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत' इस श्रुतिसे वेदान्त वाक्य द्वारा ब्रह्मका ज्ञान होनेपर प्रज्ञा—उपासना—करनी चाहिए, यह प्रतीत होता है। 'अनुविद्य विजानाति' इस वेदान्तवाक्यमें 'ब्रह्म अनुविद्य' (ब्रह्मको जानकर) ब्रह्मवेद-नोत्तर 'विजानाति' से उपासनाका विधान है । उक्त शब्दका उपासना भी अर्थ है । 'ॐ इत्येवात्मानं ध्यायथ', 'निचाय्य तं मृत्युमुखात् प्रमुच्यते' दर्शनार्थक चायृ धातुसे निचाय्यशब्द बना है। 'आत्मानं लोकमुपासीत' इससे ज्ञान उपा-सनाशब्दवाच्य है, यह निश्चय होता है। 'निदिध्यासितव्यः' इसके साथ उक्त वाक्योंका एक अर्थ होनेके लिए पूर्वोक्त वाक्योंसे ध्यानका ही विधान है । यद्यपि वेदनादि ज्ञानसामान्यवाची शब्द हैं, ध्यानरूप ज्ञानविशेषके वाची नहीं हैं अनुक्त और आकांक्षित स्वीकारके लिए सर्वशाखाप्रत्ययन्याय प्रसिद्ध है, इसका अभिप्राय यह है कि सम्पूर्ण शाखाओंमें प्रतीत अर्थका ग्रहण करना चाहिये। एक शाखामात्रमें उक्त अर्थका नहीं। शाखान्तरमें 'ध्यायथ, उपासीत' इत्यादि ध्यानपर-पर्याय पद स्पष्ट ही उपासनाके विधायक हैं, इसलिए 'विज्ञाय प्रज्ञाम्' इत्यादिमें प्रज्ञाविज्ञानादिका अर्थ ज्ञानविशेष ध्यान ही मानना उचित है । अनुविद्य और विज्ञाय इन वाक्योंसे विज्ञानका अनुवाद कर प्रज्ञादिशब्दसे ध्यानका विधान विवक्षित है । ज्ञानके विना ध्यान नहीं हो सकता इसलिए ध्यानोपकारक ज्ञानका अनुवाद आवश्यक है । यदि सामान्यवाचक शब्द विशेषपरक मानते हैं, तो प्रज्ञादि-शब्द ध्यानरूप ज्ञानविशेषपरक ही हैं। श्रवणरूप ज्ञानविशेषपरक क्यों नहीं

विज्ञायेत्यनुभूतिं तां वाक्यजन्यामुपेत्य तु ।
विदधाति तदैकाग्र्यं बहिश्चित्तनिवृत्तये ॥ ३१२ ॥

मानते इसमें क्या विनिगमक है ? इसमें विनिगमक यह है कि जैसे 'विज्ञाय' और 'अनुविद्य' ये अनुवादक हैं वैसे ही 'श्रोतव्यः' यह वाक्य भी अनुवादक है विधायक नहीं है, क्योंकि वेदार्थज्ञानके लिए श्रवणमें स्वतः प्रवृत्ति होती है, अतः प्राप्त होनेसे तदंशमें अपूर्व विधि नहीं हो सकती और स्वतः पुस्तक-निरीक्षण आदिकी व्यावृत्तिके लिए नियमविधि भी नहीं है, क्योंकि 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस श्रुतिसे ही स्वतोनिरीक्षण आदिकी व्यावृत्ति सिद्ध है और 'गुरुमेवाभिगच्छेत्' इत्यादि वाक्यसे भी उसकी व्यावृत्ति सिद्ध है, अतः ध्यानमें ही विधि है । अतएव व्यास भगवान्‌ने अपवर्गोपयोगी ज्ञानके विधानकी इच्छासे 'आवृत्तिरसकृदुपदेशात्' इस सूत्रसे ध्यानका ही विधान किया है । इसीसे भाष्यकारने 'सकृत्प्रत्ययं कुर्याच्छब्दार्थस्य कृतत्वात् प्रयाजादिवत्' यह पूर्वपक्ष कर 'सिद्धन्तूपासनाशब्दात्' इत्यादि असकृत् आवृत्त ज्ञान मोक्षसाधन है यह निर्णय किया है, इत्यादि पूर्वपक्षका संक्षेप है ।

उत्तर—'विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत' इस वाक्यसे प्रत्ययावृत्तिरूप ध्यानका विधान है यह ब्रह्मज्ञानोत्तर ही है । यह भी ठीक है, इसमें संशय नहीं, क्योंकि विज्ञाय इस पदके स्वरससे ब्रह्मज्ञानोत्तर काल ही ध्यानमें प्रतीत होता है तो भी आपके मतका कोई यहां अवसर नहीं है । कारण ब्रह्मानुभूतिकी सिद्धिके लिए श्रौत-विधान नहीं है तो फिर किस प्रयोजनके लिए उक्त विधान है ॥३११॥

सो कहते हैं—'विज्ञायेत्यनुभूतिम्' तत्त्वमस्यादि वाक्यसे जन्य मोक्षोपयोगी आत्मज्ञान होनेपर भी प्रारब्ध कर्मके वश शरीरेन्द्रियादि रहते ही हैं, कदाचित् पूर्व-संस्कारवश फिर अनात्म बाह्यपदार्थविषयक चित्तवृत्ति न हो, इसलिए जीवन्मुक्ति दशामें प्रज्ञादिशब्दसे ध्यानका विधान है । जीवन्मुक्तिके और परममुक्तिके भेदसे मुक्ति दो प्रकारकी है । परममुक्ति उन महापुरुषोंको सकृत् जायमान तत्त्वमस्यादि-वाक्यार्थके ज्ञानसे होती है, जो प्रारब्ध कर्म सम्पूर्ण भोग चुके हैं 'तस्य तावदेवचिरं यावन्न विमोक्ष्ये' इत्यादि वाक्यसे तावत्पदके स्वारस्यसे प्रारब्धकर्माधीन शरीरपातके अतिरिक्त कोई ध्यानादि साधनान्तरकी अपेक्षा नहीं । 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' इत्यादि वाक्यसे यही अर्थ सिद्ध होता है । अतः उनके लिए आवृत्तिका विधान नहीं, किन्तु जो जीवन्मुक्त हैं उनको उक्त वाक्यसे तत्त्वज्ञान तो अवश्य

विवक्षितोपयोगोऽत्र वाक्यशेषेण वर्णितः ।
नाऽनुध्यायाद्बहूञ्छब्दान् वाचो विग्लापनं हि तत् ॥ ३१३ ॥
ननु मुक्ते प्रवृत्तायाः श्रुतेर्दृष्टार्थवर्णनम् ।
अयुक्तमिति चेन्नैवं जीवन्मुक्त्यर्थमीरणात् ॥ ३१४ ॥

हुआ पर अभी निःशेष कर्मोंका उपभोग नहीं हुआ। अतः प्राचीन कर्मादिवश चित्तविक्षेप होनेपर पुनः अनात्मपदार्थविषयक चित्तवृत्ति हो जायगी, इस शङ्कासे उन लोगोंके लिए प्रज्ञादि शब्दोदित ध्यानका विधान है ॥३१२॥

इसमें क्या विनिगमक है कि मुक्तिके लिए ध्यानका विधान नहीं बाह्य-विषयक चित्तवृत्तिके निरोधके लिए ही उक्त विधान है, इस शङ्काकी निवृत्तिके लिए उक्तार्थमें श्रौतार्थवादवाक्य विनिगमक हैं, ऐसा कहते हैं—'विवक्षितोप०'इत्यादिसे।

यदि अन्तर्मुख चित्तवृत्ति न होगी तो बाह्यशब्दादिविषयक ध्यान भी समय-समयपर हो जायगा। इससे इन्द्रियग्लानि—इन्द्रियादि-दुःख—भी होगा, अतः इन्द्रियादि-दुःखनिवृत्तिके लिए ध्यानकी विधि है। उदाहृत वाक्यशेपसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि बाह्यविषयक चित्तवृत्तिका फल है दुःख, उसकी निवृत्तिके लिए सदा अन्तर्मुख चित्त रहे, इसलिए उक्त विधि है। दुःखनिवृत्ति लौकिक फल है, क्योंकि पशु आदि भी दुःखनिवृत्ति-की चेष्टा करते हैं इसलिए कि दुःख होनेपर सुख न होगा। कारण सुख और दुःख छाया और आतपकी तरह विरुद्ध हैं दोनोंका एकत्र सहावस्थान नहीं होता। यदि दुःख न होगा तो सुख अवश्य होगा। अतः दुःखनिवृत्ति सुखविशेष है। दुःखनिवृत्ति स्वयं पुरुषार्थ नहीं है, किन्तु सुखके लिए दुःखनिवृत्ति एष्टव्य है। अतएव निःशेष दुःखनिवृत्त्युपलक्षित सुखात्मस्वरूप मोक्ष माना जाता है। अन्यथा नैयायिकोक्त अशेष दुःखकी निवृत्ति ही मोक्ष है। यह भी पुरुपार्थ हो सकता है, तो इसका निराकरण असंगत हो जायगा। इसलिए मुख्य पुरुषार्थ सुखप्राप्ति ही है दुःखनिवृत्ति तदुपसर्जन है। यही सिद्धान्त युक्तियुक्त है। इस प्रकार मुख्य पुरुषार्थपरक श्रुति हो सकती है। तो गौण पुरुषार्थपरक उक्त श्रुतिकी व्यवस्था ठीक नहीं है ॥ ३१३ ॥

यही शङ्का करते हैं—'ननु मुक्ते प्रवृत्तायाः' इत्यादिसे।

मुक्ति पशु आदिसाधारण दृष्ट फल नहीं है, किन्तु वेदैकगम्य होनेसे शास्त्रीय

अबुद्धब्रह्मतत्त्वेऽस्मिन् यद्वज्जन्म भविष्यति ।
तद्वद्बहिर्मुखे चित्ते स्यादेव ग्लानिरिन्द्रियैः ॥ ३१५ ॥

फल है, जिसने वेद आदि शास्त्रका अध्ययन नहीं किया है, ऐसा मनुष्य भी मुक्तिका स्वरूप नहीं जानता फिर पशु आदिकी बात ही क्या है ? अतः मोक्षके लिए प्रवृत्त श्रुतिका दुःखाभावपरक वर्णन करना अनुचित है, क्योंकि प्रकरणप्राप्त मुक्तिका त्यागकर अप्राकरणिक दुःखाभावका ग्रहण करना 'उपस्थितं परित्यज्य' इस न्यायसे प्रतिकूल है। ठीक है, यदि चित्तैकाग्रताका फल केवल दुःख-निवृत्ति ही कहते, तो आपका यह आक्षेप उचित होता, किन्तु ऐसा नहीं कहते हैं। कहते यह हैं कि चित्तस्थैर्यविधिके निरतिशयानन्दका समुद्बोध और लौकिक ऐन्द्रियक दुःखका अभाव ये दोनों फल हैं। जीवन्मुक्तके लिए फलकी विधि है, परममुक्तके लिए नहीं। जीवन्मुक्तको प्रारब्ध कर्मोंके अनुसार शरीर आदिका अध्यास है, अतः तत्त्वज्ञान होनेपर भी चित्तकी एकाग्रताके विना फिर उसमें विषयानुसन्धानप्रसक्तिकी सम्भावना रहती है, इसलिए निरतिशयानन्दात्मस्वरूपबोधनके द्वारा लौकिक ऐन्द्रियक दुःखके अभावके लिए चित्तस्थैर्यमें विधिका अङ्गीकार करते हैं। चित्तस्थैर्य सम्पूर्ण पुण्योंका फल है। श्रौत और स्मार्त कर्मोंके अनुष्ठानसे चित्तकी शुद्धि होती है। तत्त्व-ज्ञानकी उत्पत्तिमें प्रतिबन्धक दुरितका नाश होनेपर तत्त्वज्ञान होता है, क्योंकि 'ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात् पापस्य कर्मणः' यह वचन है। ज्ञान होनेपर भी यदि चित्तकी बहिर्मुख प्रवृत्ति होगी, तो फिर बाह्य विषयोंके अनुसन्धानकी प्रसक्ति होगी और उसके द्वारा सांसारिक दुःख होगा, अतः आनन्दस्वरूप आत्माके चिन्तनमें ही मुमुक्षुको सतत तैयार रहना चाहिए। अन्यथा ऐन्द्रियक दुःख होगा, अतः उसकी निवृत्तिके लिए चित्तैकाग्रताकी विधि है। आत्मामें तो वस्तुतः दुःखादि हैं ही नहीं। हां, परन्तु शरीरादिगत दुःखका अज्ञानवश आत्मामें आरोप होता है। जैसे अज्ञ पुरुष दर्पणादिगत मालिन्यका मुखमें आरोप कर मुखको मलिन समझता है, वैसे ही संसारी जीव आरोपित शरीरादिगत दुःखको आत्मगत दुःख समझते हैं ॥ ३१४ ॥

तत्त्वज्ञान अर्थात् आत्माका यथार्थज्ञान होनेपर जब आरोपित दुःख भी निवृत्त ही हो जाता है, तब फिर बहिर्मुख प्रवृत्तिके होनेपर भी दुःखकी अनुवृत्ति कैसे हो सकती है ? इस शङ्काकी निवृत्ति करते हैं—'अबुद्ध०' इत्यादिसे ।

जीव यद्यपि ब्रह्मस्वरूप है, तथापि ब्रह्मकी उत्पत्ति आदि विकृति नहीं होती और

अथाऽसङ्गस्य न ग्लानिरिति चेदिदमेव हि ।
पर्यालोचनमत्रोक्तं श्रुत्याऽक्षग्लानिवारकम् ॥ ३१६ ॥
बुद्धतत्त्वस्य यस्यैतत्स्वतःसिद्धं न तं प्रति ।
विधत्तेऽन्यं त्वनात्माभिमुखं प्रति विधीयते ॥ ३१७ ॥

जीवकी उत्पत्ति आदि विकृति देखते हैं, इसलिए यह मानना आवश्यक है कि ब्रह्मात्मबोध होनेपर ही उत्पत्ति आदि विकृति नहीं होती, अन्यथा उत्पत्ति आदि विकृति होती हैं । 'नहि दृष्टेऽनुपपन्नं नाम' इस न्यायसे यही कल्पना की जाती है और मानी भी जाती है । इसी तरह तत्त्वज्ञान होनेपर चित्तकी स्थिरताके विना दुःखानुवृत्ति दुष्परिहर है । श्लोकका भाव यह है कि अज्ञका जैसे जन्म होता है, वैसे ही चित्तके वहिर्मुख—वाह्यविषय—होनेसे इन्द्रियकी ग्लानि—दुःख—अवश्य होगी, इसलिए चित्तस्थैर्यकी विधि है ॥ ३१५ ॥

'अथाऽसङ्गस्य' इत्यादि । 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' इस श्रुतिसे यद्यपि पुरुषमें किसी भी पदार्थका सम्बन्ध नहीं है, यह स्पष्ट प्रतीत होता है । फिर भी ज्ञानी तो शुद्धात्म-स्वरूप ही अपनेको जानता है, इसलिए चित्तस्थैर्यविधि सर्वथा व्यर्थ ही है, यदि यह शङ्का हो, तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' इसीका सतत स्मरण करनेके लिए उक्त विधि है, अन्यथा दुःखकी अनुवृत्ति दुर्वार होगी, अतः इन्द्रियादिगत दुःखनिवृत्तिके लिए आत्मा असङ्ग है, इसका सतत पर्यालोचन (विचार) करना जीवन्मुक्तके लिए आवश्यक है । 'समाहितो भूत्वा' इत्यादि अनुशासनसे आत्मबोधके लिए जो पहले ही चित्त एकाग्र कर चुके हैं, उन पुरुषोंके लिए तत्त्वज्ञानोत्तर चित्तस्थैर्यका विधान अनावश्यक है ॥ ३१६ ॥

विधिके विना भी उनका चित्त स्वतः स्थिर है और सिद्धका विधान हो भी नहीं सकता, इस शङ्काकी निवृत्तिके लिए कहते हैं—'बुद्धितत्त्वस्य' इत्यादि ।

हाँ, ठीक है, जो चित्त एकाग्र कर चुके हैं, उनके प्रति यह विधि नहीं है, किन्तु जो चित्तकी एकाग्रताके सम्पादनके विना ही तत्त्वज्ञानी हुए हैं, उनके लिए एकाग्रताका विधान आवश्यक है, अन्यथा चित्तके वहिर्मुख होनेसे फिर दुःखकी अनुवृत्ति हो जायगी, इसलिए अधिकारीके भेदसे उक्त विधि अत्या-वश्यक है । यह नियम नहीं है कि चित्तके एकाग्र होनेपर ही तत्त्वज्ञानकी उत्पत्ति होती है, अन्यथा नहीं । यह मेरी निजी कपोलकल्पना नहीं है, किन्तु सूत्रकारने भी इसी प्रकारकी व्यवस्था की है ॥ ३१७ ॥

सूत्रकारोऽत एवाऽऽह निदिध्यासनरूपिणि ।
पाण्डित्यबाल्यवाक्यस्थे मौनेऽस्मिन् पाक्षिकं विधिम् ॥३१८॥

उक्त अर्थमें सूत्रकारकी सम्मति कहते हैं—'सूत्रकारोऽत' इत्यादिसे ।

'तस्माद् ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत् बाल्यं च पाण्डित्यं च निर्विद्य अथ मुनिरमौनं च मौनं च निर्विद्याथ ब्राह्मणः' यह बृहदारण्यकका वाक्य है, पाण्डित्यका अर्थ प्रकृतमें श्रवण है, बाल्यका तात्पर्य मननमें है, मौनसे निदिध्यासन विवक्षित है । इसका अर्थ यह है—जिस कारणसे पहलेके ब्राह्मण आत्माको जानकर संन्यासग्रहण कर भिक्षाचरण करते थे, अतः इस समयके ब्राह्मणोंको भी चाहिए कि वेद द्वारा आत्माका श्रवण कर बाल्येन—मननेन—मननसे स्थित होनेकी इच्छा करें अर्थात् श्रवणोत्तर मनन करें । प्रकृत-वाक्यमें श्रवण—आत्मविषयक निश्चयात्मज्ञान—और मनन द्वारा असम्भावनाका निरास करके 'अथ मुनिः' अर्थात् निदिध्यासन करे, यह प्रतीत होता है । यहाँपर यह संशय होता है कि मौनमें विधि है या नहीं ?

पूर्वपक्ष—मौनमें विधि नहीं है, कारण कि जिसमें विधि-विभक्तिका श्रवण होता है वही विधेय होता है, दूसरा नहीं । 'बाल्येन तिष्ठासेत्' इस वाक्यमें बाल्यमें—मननमें—विधिविभक्तिका श्रवण है, अतः वही विधेय है, मौन नहीं । विधिविभक्तिका मौनमें श्रवण नहीं है, जैसे ब्राह्मणमें विधिविभक्ति नहीं है, अतः वह विधेय नहीं है, वैसे ही मौन भी विधेय नहीं है । मौन भी पाण्डित्यसमानार्थक है, अतः 'पाण्डित्यं निर्विद्य' इस वाक्यसे पाण्डित्यका विधान होनेसे मौन सिद्ध ही है । अपि च 'अमौनं च मौनं च निर्विद्य अथ ब्राह्मणः' यहांपर पूर्वप्राप्त ब्राह्मणमें जैसे विधि नहीं है, किन्तु प्रशंसावाद है, वैसे ही 'अथ मुनिः' यहांपर भी मौनमें विधि नहीं है, किन्तु प्रशंसावाद ही है ।

सिद्धान्त—विद्यासहकारी मौनमें बाल्य और पाण्डित्यके समान विधि ही है । पाण्डित्य मौनसमानार्थक नहीं है, अतः पाण्डित्यसे मौनकी प्राप्ति नहीं हो सकती, इसलिए अपूर्व होनेसे मौनकी विधि ही है । 'मननात् मुनिः' इस व्युत्पत्तिसे ज्ञानातिशयवाची मुनिशब्द है, अतः बाल्य और पाण्डित्यकी अपेक्षासे तीसरे ज्ञानातिशयरूप मौनका विधान है । जो यह कहा गया है कि जिसमें विधिविभक्तिका श्रवण रहता है, वही विधेय होता है, सो ठीक है,

न विध्यर्हो बुद्धतत्त्व इति चेद्वासनाबलात् ।
अबुद्ध इव संक्लिश्यन्विधिं ध्याने तदाऽर्हति ॥ ३१९ ॥
अप्रमत्तो यदा योगी तदा माभूदयं विधिः ।
ज्योतिष्टोमो न विहितः स्वर्गस्थपुरुषं प्रति ॥ ३२० ॥

यहां भी विधिविभक्तिका सम्बन्ध किया जा सकता है, क्योंकि 'मुनिः स्यात्' ऐसा करनेसे विधिविभक्तिका यहां भी श्रवण हो सकता है। अतः पूर्वोक्त नियमका व्यभिचार नहीं है। यदि कहिए कि विद्वान् होनेसे अतिशय तो स्वतः प्राप्त है, अतः मौनमें विधि मानना निष्प्रयोजन है, तो यह भी ठीक नहीं है, कारण कि विद्वान् होनेपर अनेकजन्मप्राप्त भेददर्शनकी प्रबलतासे जिनको जीव और ब्रह्मका अभेदज्ञान नहीं होता, उनके लिए मौनविधि आवश्यक है। इससे निदिध्यासनापरपर्य्याय ध्यानका विधान अधिकारिविशेषकी अपेक्षासे पाक्षिक है, नियत नहीं है ॥ ३१८ ॥

विद्वान्के लिए विधि नहीं है, क्योंकि वह स्वयं कृतकृत्य है, ऐसी शङ्का करते हैं—'न विध्यर्हो' इत्यादिसे ।

विद्वान् विध्यर्ह नहीं है। यहांपर विद्वान् शब्दसे सवासन विद्वान् विवक्षित है अथवा निर्वासन? प्रथम पक्षमें वासनानिवृत्तिके लिए अज्ञकी तरह विद्वान्के लिए भी विधि आवश्यक है, इस अभिप्रायसे कहते हैं—सवासन विद्वान् वासनाके प्रभावसे अविद्वान्के सदृश क्लेशानुभव करता हुआ सर्वथा विधियोग्य है। ध्यानके विना वासनाकी निवृत्ति नहीं होती और वासनाकी निवृत्तिके विना क्लेशकी निवृत्ति नहीं होती, अतः क्लेशकी निवृत्तिके लिए विद्वान् तथा अविद्वान् सबके लिए ध्यानकी विधि आवश्यक है ॥ ३१९ ॥

निर्वासन विद्वान् विधियोग्य नहीं है, यह स्वीकार करते हैं—'अप्रमत्तो' इत्यादिसे ।

वासनाकी निवृत्तिके लिए ध्यानकी विधि है, किन्तु जिनकी वासना पूर्वजन्मार्जित ध्यानादि उपायसे निवृत्त हुई है, उनके लिए ध्यानकी विधि नहीं है। फलके सिद्ध होनेपर साधनका विधान नहीं होता, इसमें दृष्टान्त है—अप्राप्तस्वर्ग पुरुषके लिए ज्योतिष्टोम यागका विधान है, स्वर्गस्थ पुरुषके लिए ज्योतिष्टोमका विधान नहीं है। उक्त यागका अधिकारी स्वर्गस्थ पुरुष नहीं है 'अप्रमत्त' इस विशेषणसे योगीमें स्वयंबाह्यविषयपराङ्मुखत्व सूचन करते हैं। इससे तदीयचित्तवृत्ति बहिर्मुख नहीं हो सकती, जिससे निरोधोपाय ध्यानकी आवश्यकता हो ॥ ३२० ॥

वासनाभिः क्लिश्यतोऽस्य ध्यानवन्नैव कर्मसु ।
विधिः प्रसज्यते यस्मात् कर्म क्लेशं न वारयेत् ॥ ३२१ ॥
यदि सेवेत कर्माणि तृडार्त्तोऽग्निं च सेवते ।
तृड्वृद्धिरग्निदाहाच्चेत् क्लेशवृद्धिश्च कर्मतः ॥ ३२२ ॥
ध्यानं तु सावधानत्वमात्रत्वान्नहि दुःखकृत् ।
प्रत्युताऽऽनन्दमुद्बोध्य पूर्वदुःखं तु वारयेत् ॥ ३२३ ॥

यदि विद्वान्‌के लिए भी विधि मानते हैं, तो ध्यानके समान अग्निहोत्रादि कर्म भी उनके लिए विहित हैं, यह भी स्वीकार करना पड़ेगा, ऐसा माननेपर पुनः संसारित्वकी प्रसक्ति हो जायगी। ठीक है, यदि अग्निहोत्रादिका अधिकार होगा, तो संसारित्वकी प्रसक्ति अनिवार्य है, किन्तु अग्निहोत्रादि कर्म वासनावर्द्धक हैं। मुमुक्षु वासनाकी निवृत्ति चाहता है, इसलिए वह वासनावर्द्धक अग्निहोत्रादि कर्मका अधिकारी नहीं है, यही कहते हैं—'वासनाभिः' इत्यादिसे ।

वासनाओंसे क्लेश पाते हुए योगीके लिए ध्यानकी तरह कर्ममें विधि नहीं है, क्योंकि कर्म क्लेशका निवारक नहीं हो सकता, प्रत्युत वर्द्धक हो सकता है ॥ ३२१ ॥

'यदि सेवेत' इत्यादि। पिपासाकुल पुरुष यदि अग्निका सेवन करे, तो प्यास अधिक बढ़ेगी, इसलिए जैसे उक्त पुरुष, अग्निसेवन विपरीत फलप्रद है, यह समझकर उसका त्याग करता है, वैसे ही वासनानिवृत्तिकी कामना करनेवाला मुमुक्षु पुरुष भी वासनावर्द्धक कर्मको विपरीत समझ कर उसका त्याग ही करता है, ग्रहण नहीं करता ॥ ३२२ ॥

कर्मानुष्ठानमें जो दोष हैं, वे ध्यानमें नहीं हैं, यह स्पष्ट करते हैं—'ध्यानन्तु' इत्यादिसे ।

यहां ध्यान मानसी क्रिया विवक्षित नहीं है, किन्तु ब्रह्मविज्ञानमें सावधानत्वमात्र अभिप्रेत है, यह अग्रिम श्लोकमें स्पष्ट होगा। इसलिए ध्यानमें दुःखहेतुत्वकी शङ्का अयुक्त है, किन्तु वह ब्रह्मानन्दका समुद्बोधन कर पूर्व दुःखोंको निवृत्त करता है। ध्यान विज्ञानमें सावधानत्वमात्र है, मानसी क्रिया नहीं है। इसकी उपपत्ति करते हैं—यदि मानसीक्रिया ध्यानसे विवक्षित होती, तो प्रज्ञाशब्दका उपादान न होता। 'विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत' इस श्रुतिमें ध्यानका उपादान

विज्ञाने सावधानत्वमत्र ध्यानं तु न क्रिया ।
इत्यर्थस्य विवक्षायै प्रज्ञाशब्दः प्रयुज्यते ॥ ३२४ ॥
मैत्रेयीब्राह्मणेऽप्येवं निदिध्यासनशब्दतः ।
उपक्रमोपसंहारे विज्ञानमिति वर्णितम् ॥ ३२५ ॥
निदिध्यासस्वेति गिरा यदुक्तं श्रवणाय तत् ।
ऐकाग्र्यं याज्ञवल्क्येन विहितं साधनं तु तत् ॥ ३२६ ॥

न कर प्रज्ञाशब्दका उपादान यह स्फुट करता है कि प्रकृतमें मानसी-क्रियात्मक ध्यान विवक्षित नहीं है, किन्तु ज्ञानमें सावधानत्व ही अभिप्रेत है, अन्यथा स्पष्टप्रतिपत्तिके लिए 'विज्ञाय ध्यानं कुर्वीत' ऐसा पाठ होता । इसी तरह 'अनुविद्य विजाति' इस श्रुतिमें भी 'अनुविद्य ध्यानं कुर्वीत' ऐसा पाठ होता, किन्तु ऐसा पाठ नहीं है । इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि विज्ञानमें सावधानत्व ही प्रज्ञाशब्दार्थ है, उक्तस्वरूप ध्यान नहीं ॥ ३२४ ॥

'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' इस मैत्रेयीब्राह्मणमें मानसीक्रियात्मक निदिध्यासनके विधानके समान यहाँ भी प्रज्ञाशब्दसे उक्त ध्यानकी ही विधि अभिप्रेत है, इसका निराकरण करते हैं—'मैत्रेयी०' इत्यादिसे ।

याज्ञवल्क्य महर्षिने मैत्रेयीको मोक्षसाधन आत्मदर्शनका उपदेश दिया कि 'आत्मा द्रष्टव्यः' अर्थात् आत्मदर्शन ही मोक्षसाधन है । आत्मदर्शन कैसे होगा ? इसका उपाय बतलाया—'श्रोतव्यो मन्तव्यः' अर्थात् श्रवण और मनन । ब्रह्मज्ञ आचार्यसे वेद द्वारा आत्माका प्रथम श्रवण करना चाहिए । तदनन्तर श्रुत अर्थमें संशय, असम्भावना आदिकी निवृत्तिके लिए मनन करना चाहिए । तर्कसे श्रुत अर्थमें उक्त प्रतिबन्धकका निरास करना मनन है । और निदिध्यासन है—प्रत्ययान्तराव्यवहित निरन्तर निश्चयात्मक आत्मभावना । इस प्रकार ब्रह्मविषयक श्रवण, मनन और निदिध्यासन करनेसे ब्रह्मका दर्शन होता है । यद्यपि निदिध्यासनसे ध्यानका भी बोध हो सकता है, इससे श्रवणमननपूर्वक ब्रह्मध्यानसे आत्मदर्शन होता है, यह भी उक्त श्रुतिका अर्थ हो सकता है, तथापि महर्षि श्रीयाज्ञवल्क्यजीने आगे 'दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेन' इस वाक्यसे निदिध्यासन विज्ञानस्वरूप ही प्रकृतमें विवक्षित है, ध्यान नहीं, यह सुस्पष्ट कर दिया है । और उपसंहारके अनुरोधसे उपक्रममें निदिध्यासनका विज्ञान

साधनं फलरूपं च द्विविधं ध्यानमीरितम् ।
प्रज्ञां कुर्वीत वाक्येन फलाभिमुखतोच्यते ॥ ३२७ ॥
बहुनाऽत्र किमुक्तेन प्रसङ्ख्यानं त्वदीहितम् ।
नैवाऽत्र विहितं तद्वन्नाऽपि चाऽन्यत्र कुत्रचित् ॥ ३२८ ॥

ही अर्थ ठीक है । यद्यपि असंजातविरोधी न्यायसे उपक्रमके अनुसार ही उपसंहारमें भी अर्थ करना चाहिए, क्योंकि ज्ञानसामान्यवाची विज्ञानशब्दका ध्यान भी अर्थ हो सकता है तथापि 'विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत', 'अनुविद्य विजानाति' इत्यादि अनेक श्रुतियोंमें विज्ञानादि शब्दोंका ध्यान अर्थात् ज्ञानविशेष अर्थ माननेमें सामान्यवाची शब्दका विशेष अर्थमें लक्षणा करनेमें गौरव होगा । उसकी अपेक्षासे निदिध्यासन शब्दका ही उक्त अनेक श्रुतिके अनुरोधसे ज्ञानसामान्य ही अर्थ करना उचित है । यदि ध्यान मानसी क्रिया है, ज्ञान नहीं है, तो अत्यन्त विजातीयमें लक्षणा करनी पड़ेगी, अतः उपसंहारके अनुसार उपक्रममें निदिध्यासनशब्दसे ज्ञान ही विवक्षित है, ध्यान नहीं ॥ ६२६ ॥

यदि निदिध्यासनशब्दका ब्रह्मज्ञान अर्थ होगा, तो मैत्रेयीके प्रति 'एहि आस्व व्याख्यास्यामि ते व्याचक्षाणस्य तु मे निदिध्यासस्व' यह महर्षि याज्ञवल्क्यका वचन असङ्गत हो जायगा, क्योंकि उस समय मैत्रेयीको ब्रह्मज्ञान तो है नहीं । इस शङ्काका निराकरण करते हैं—'साधनम्' इत्यादिसे ।

निदिध्यासनशब्दके वाक्यार्थनिश्चय और निश्चय-फल ब्रह्मात्मैक्यज्ञान ये दोनों अर्थ हैं । प्रकृतमें ब्रह्मज्ञानसाधन वाक्यार्थविषयक निश्चयका ही योग्यता-वश ग्रहण करना चाहिए, फलाभिमुख्यका अर्थात् ब्रह्मात्मैक्यविज्ञानका नहीं, क्योंकि 'विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत' इत्यादि वाक्यमें ही फलाभिमुख्यका ग्रहण है, उसके साधनका नहीं । 'विज्ञाय' इस शब्दसे ही साधनका ग्रहण सिद्ध है, क्योंकि श्रवणादिके निष्पन्न होनेपर ही 'विज्ञाय' यह कथन ठीक होता है, अन्यथा नहीं ॥ ३२७ ॥

प्रसंख्यानविधिके निराकरणका उपसंहार करते हैं—'बहुनाऽत्र किमुक्तेन' इत्यादिसे ।

बहुत कहांतक कहें, आपका अभीष्ट प्रसंख्यान श्रुतिमें कहींपर भी विहित नहीं है । इसी तरह अध्यात्मशास्त्रोंमें भी मोक्षोपायरूपसे कहीं भी विहित नहीं है, अतएव अप्रामाणिक होनेसे मुमुक्षुओंको सर्वथा अनुपादेय है ॥ ३२८ ॥

दूषितं कार्यसामान्यं तद्विशेषाश्च दूषिताः ।
निरोधः प्रतिपत्तिश्च प्रसङ्ख्यानमिति त्रयः ॥ ३२९ ॥
अथ ते निखिलाः कार्यवादिनोऽखण्डवस्तुनि ।
वेदान्तानां प्रमाणत्वमाक्षिपन्त्यतिसम्भ्रमात् ॥ ३३० ॥
अलौकिकत्वात् संसृष्टसंसर्गनियतत्वतः ।
अपुमर्थेन वेदस्य मिथ्यात्वाच्च न मानता ॥ ३३१ ॥

उक्त अर्थको दृढ़ करनेके लिए वृत्तानुवादपुरःसर आक्षेपोंका अवतरण करते हैं—'दूषितम्' इत्यादिसे ।

कार्यार्थमें ही प्रथम व्युत्पत्तिग्रह होता है, इसलिए कार्यमें ही शब्द प्रमाण है सिद्धार्थ ब्रह्ममें नहीं, यह दूषित किया जा चुका है । 'पुत्रस्ते जातः' इत्यादि वाक्यसे सिद्धार्थमें भी शब्दका शक्तिग्रह होता है । कार्यविशेषरूप नियोगमें शब्द प्रमाण है । 'नियोगार्थैकरागिणः' इत्यादिसे अनुवाद कर 'वैदिकेन नियोगेन किं कार्यं वद बुद्धिमन्' इत्यादि वाक्योंसे कार्यविशेष नियोगशब्दार्थ है, इसका भी खण्डन हो चुका है । वासनाके निरोधमें वेदान्तका तात्पर्य है, अतः उसीमें वह प्रमाण हो सकता है, ब्रह्ममें नहीं, इसका भी 'तासां निरोधोऽसंभाव्यो जन्मन्येकत्र मानवैः' इत्यादिसे खण्डन हो चुका है । 'प्रतिपत्तिविधौ शास्त्रतात्पर्यं किञ्चिदूचिरे' इत्यादि वाक्योंसे प्रतिपत्ति-विधिपरक वेदान्त हैं, इसका भी निराकरण कर चुके हैं । 'अन्योऽप्यनुभवोपायो मननध्यानलक्षणः' इत्यादिसे प्रसंख्यानका अनुवाद कर पराक्रमपुरःसर इसका भी निराकरण कर चुके हैं । इससे कार्यादि दो और निरोधादि तीनकी सङ्कलनासे पाँचोंका निराकरण सयुक्तिक हो चुका ॥ ३२९ ॥

फिर भी सब कार्यवादी वेदान्तके प्रामाण्यका आक्षेप करते हैं—'अथ ते' इत्यादिसे ।

पूर्वोक्त कार्यवादी सब मिलकर अखण्ड ब्रह्मवस्तुमें वेदान्तके प्रामाण्यका अतिसाहससे आक्षेप करते हैं ॥ ३३० ॥

आक्षेपका प्रकार कहते हैं—'अलौकिकत्वाद्' इत्यादिसे ।

वेदके अप्रामाण्यमें पाँच हेतु देते हैं, जीव और ब्रह्म अलौकिक अर्थात् लौकिक प्रमाणके अगोचर हैं। अतः उनमें शब्दशक्तिग्रह नहीं हो सकता, क्योंकि अशक्य शब्दका अर्थ नहीं हो सकता । उसमें शब्दका प्रयोग होनेपर अबोधकत्वलक्षण अप्रामाण्य निश्चित है, मतभेदसे संसृष्ट पदार्थ अथवा पदार्थसंसर्ग शब्दका अर्थ होता है, अखण्ड ब्रह्म न

अलौकिकार्थवादित्वादात्मब्रह्माभिधानयोः ।
सम्बन्धाग्रहणादात्मा ब्रह्मेति कथमुच्यते ॥ ३३२ ॥
ज्ञातार्थसङ्गतिः शब्दो वाक्यार्थावगतिक्षमः ।
न चाऽत्र सङ्गतिर्ज्ञातुं शक्यतेऽर्थाप्रसिद्धितः ॥ ३३३ ॥
ब्रह्मात्मार्थौ प्रसिद्धौ चेल्लोकादेव तदा तयोः ।
मान्तरानुप्रवेशेन वाक्यं स्यादनुवादकम् ॥ ३३४ ॥

संसर्ग ही है और न संसृष्टार्थ ही है, अतः असंसृष्ट ब्रह्मरूप अर्थमें शब्द प्रमाण नहीं हो सकता। ब्रह्म पुरुषार्थ भी नहीं है, अतः निष्प्रयोजन होनेसे भी उक्त अर्थमें वेद प्रमाण नहीं हो सकता। ब्रह्मसे अतिरिक्त सभी पदार्थोंके मिथ्या होनेसे तदन्तर्गत वेद भी मिथ्या ही है, अतः उसमें प्रामाण्यकी सम्भावना ही कैसे हो सकती है ? ॥ ३३१ ॥

प्रथम पक्षमें अप्रामाण्यके आक्षेपके हेतुको स्फुट करते हैं—'अलौकिकार्थ०' इत्यादिसे ।

ब्रह्म और आत्मा प्रमाणान्तरसे ज्ञात हैं अथवा अज्ञात ? प्रथम पक्षमें प्रमाणके अगोचर अर्थमें शब्दका शक्तिग्रह हो ही नहीं सकता, क्योंकि प्रमाणसे उपस्थित अर्थमें ही शब्दका शक्तिग्रह होता है अर्थात् गृहीतशक्तिक पुरुषद्वयके व्यवहारसे समीपस्थ अव्युत्पन्नको प्रत्यक्षादि दृष्ट अर्थमें शब्दका शक्तिग्रह होता है, यह सर्वसम्मत मार्ग है। अलौकिक होनेसे उसमें व्यवहार द्वारा शक्तिग्रह न होनेपर अबोधकत्वलक्षण अप्रामाण्य वेदमें प्रसक्त होगा। अर्थके—ब्रह्म और आत्माके—वाचक शब्द यदि अलौकिकार्थक हैं, तो उनमें शक्तिग्रह होगा नहीं, फिर आत्मा और ब्रह्म शब्दका प्रयोग कैसे कर सकते हैं ? श्रोताको अर्थबोध हो, इसलिए शब्दका प्रयोग होता है, जो अर्थके बोधक नहीं हैं, उनका प्रयोग ही असङ्गत है ॥ ३३२ ॥

इसीको स्पष्ट करते हैं—'ज्ञातार्थ०' इत्यादिसे।

जिस पदमें शक्तिग्रह होता है, वही वाक्यार्थबोधनमें समर्थ है। आत्मा तथा ब्रह्मके अलौकिक होनेपर उन शब्दोंमें शब्दशक्तिग्रह तो हो नहीं सकता, फिर वे वाक्यार्थबोधक कैसे होंगे ? ॥ ३३३ ॥

द्वितीय पक्षके अभिप्रायसे कहते हैं—'ब्रह्मात्मार्थौ' इत्यादि ।

यदि आत्मा तथा ब्रह्म ये दोनों अर्थ प्रमाणान्तरके गोचर हैं, अतएव प्रसिद्ध

वाक्यं संसर्गबोध्येवाऽभिहितान्वयवादिनः ।
अन्वितार्थाभिधाने तु संसृष्टस्यैव मेयता ।। ३३५ ।।

हैं, तो लोकसे ही अर्थात् लौकिक प्रमाणसे ही इन दोनोंका बोध हो जायगा, फिर इन दोनों अर्थोंमें वेदका प्रयोग होनेसे वेद अनुवादक हो जायगा, अतः उसमें ज्ञातज्ञापकत्वलक्षण अप्रामाण्यकी प्रसक्ति निश्चित ही होगी, जैसे अनुभूतार्थ-बोधक स्मरण अप्रमाण होता है, वैसे ही प्रमाणान्तरसे प्रमित अर्थका बोधक वेद भी अप्रमाण ही होगा ।। ३३४ ।।

'वाक्यम्' इत्यादि । अभिहितान्वयवादी नैयायिक तथा भट्टपाद आदि हैं । अन्विताभिधानवादी प्राभाकर आदि हैं । अन्तिम पक्ष इस प्रकार है—पदोंकी शक्ति पदार्थमात्रमें नहीं होती है, किन्तु इतरपदार्थान्वित स्वार्थमें होती है । जैसे 'गामानय' इस वाक्यमें दो पद हैं—गाम् और आनय । यहांपर गोपदकी शक्ति केवल गोमें नहीं है, किन्तु आनयनान्वित गोमें है एवं 'आनय' पदकी शक्ति केवल आनयनमें नहीं है, किन्तु गवान्वित आनयनमें है ।

यद्यपि इस प्रकार शक्ति माननेपर 'गामानय', 'गां पश्य' इत्यादि अनेक वाक्योंमें शक्तिग्रह व्यवहारसे तो हो नहीं सकता और व्युत्पन्नको गोपदघटित अनेक वाक्योंसे शाब्दबोध होता ही है, इसलिए व्यभिचार होगा, अतः ऐसा शक्तिग्रह मानना ठीक नहीं है, तथापि आनयन, दर्शन आदि पदार्थोंका इतरत्वेन अनुगम करके इतरपदार्थान्वित गोपदार्थमें गोपदकी शक्ति माननेपर—गोपद इतरपदार्थान्वित गोपदार्थमें शक्त है, इस तरह शक्तिग्रह माननेपर—व्यभिचारका परिहार हो जाता है, अतः 'आनय' पद इतरपदार्थान्वित आनयनमें ही शक्त है । इसी प्रणालीसे निखिलशब्दोंमें शक्ति माननेमें कोई दोष नहीं है । यदि यह कहिए कि इस प्रकार शक्ति माननेमें गौरव है, अतः लाघवसे गोपद गोरूप अर्थमें ही शक्त है, ऐसा ही शक्तिग्रह क्यों नहीं मानते, तो इसका उत्तर यह है कि शाब्दबोधमें अपदार्थके भानका वारण करनेके लिए तद्विषयक शाब्द-बोधमें तत्पदनिष्ठशक्तिग्रहाधीन तद्विषयक उपस्थिति कारण है, ऐसा कार्यकारणभाव मानना आवश्यक है । किसी पदसे यदि संसर्गकी उपस्थिति न होगी, तो तद्विषयक शाब्दबोधमें उक्त कार्यकारणभावका व्यभिचार होगा, इसलिए संसर्गमें भी शक्ति मानना आवश्यक है ।

यदि यह कहिए कि वाक्यार्थबोधका विषय संसर्ग अपूर्व है, अतः वाक्यार्थबोधसे पहले तत्तत्संसर्गकी उपस्थिति नहीं हो सकती और संसर्गत्व अनुगत धर्म भी नहीं है, जिससे कि संसर्गत्वेन सकल संसर्गमें शक्ति मान सकें, तो इसका उत्तर यह है कि संसर्गतावच्छेदकत्वोपलक्षित संसर्गमें शक्ति माननेसे सकल संसर्गोंमें शक्ति माननेमें कोई बाधा नहीं है, अतएव बुद्धिविषयतावच्छेदकत्वेन घटत्व, पटत्व आदिका अनुगम करके घटत्वादिविशिष्टमें घटादि पदकी शक्ति मानी जाती है। अच्छा, तो यह कहिए कि इतरपदार्थान्वित घटमें घटपदकी शक्ति मानते हो, तो इतर पदार्थ पदान्तरसे अनभिहित अपेक्षित है या अभिहित? प्रथम पक्षमें आनयनादिसे अन्वित घटादि पदकी शक्तिसे ही आनयन आदि अर्थका बोध हो जायगा, फिर आनयन आदिमें शक्ति मानना व्यर्थ है।

द्वितीय पक्षमें परस्पराश्रय दोष है। जैसे 'गामानय' यहांपर 'आनय' पद जबतक गोपदसे अभिहित गवान्वित आनयनका अभिधायी न होगा, तबतक आनयनपदसे अभिहित आनयनान्वित गोमें गोपदकी शक्ति नहीं हो सकती एवं गोपद जबतक आनयनपदसे अभिहित आनयनान्वित गवाभिधायी न होगा, तबतक 'आनय' पद गोपदसे अभिहित गवान्वित आनयनका अभिधायी नहीं हो सकता, इस रीतिसे गोपदकी शक्ति आनयनपदकी शक्तिके अधीन है और आनयपदकी शक्ति गोपदकी शक्तिके अधीन है एवं गोपदके आनयनान्वित गवाभिधान करनेके बाद आनयपद आनयनाभिधायी होगा, और आनयपदके गवान्वित आनयनाभिधान करनेके बाद गोपद गवार्थाभिधायी होगा, इस प्रकार परस्पराश्रय दोष है। यदि परस्पराश्रय दोषके परिहारके लिए यह कहिए कि पहले निरपेक्ष दो पद असंसृष्ट स्वार्थके अभिधायक होते हैं, बाद परस्परान्वितके—गवान्वित आनयन और आनयनान्वित गोके—अभिधायक होते हैं, तो एक-एक पदको दो बार अभिधायक मानना पड़ेगा। एकबार केवल स्वार्थ और द्वितीय बार इतरान्वित स्वार्थ, यह प्रमाण और उपपत्तिशून्य कल्पना 'सकृदुच्चरितः शब्दः सकृदेवार्थं प्रत्याययति' इस अनुशासनके विरुद्ध है।

अच्छा तो पदोंको दो बार पदार्थाभिधायक न मानेंगे, किन्तु साहचर्यवश पहले स्वार्थका स्मारक और पीछे अन्विताभिधायक मानेंगे, यदि ऐसा कहें, तो वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि साहचर्यदर्शनकालमें अन्वितका ही अनुभव होता है, अतः अन्वितका ही स्मरण होगा, केवलका नहीं। पदार्थमात्रके ज्ञानके लिए शब्दका

प्रयोग नहीं होता, किन्तु व्यवहारके लिए होता है। व्यवहार अन्वितका ही होता है, इसलिए अन्वितका स्मरण होगा, अनन्वितका नहीं। एवञ्च 'गां पश्य' इस वाक्यसे गोपद पूर्वानुभूत आनयनान्वित गवार्थका स्मारक होगा और 'पश्य' पद अनाकाङ्क्षित तथा असङ्गत ही होगा इत्यादि अन्विताभिधानवादीके मतका संक्षेप है।

अभिहितान्वयवादी कहते हैं—गवादिपदकी गवादि अर्थमात्रमें शक्ति है, संसर्गका भान आकाङ्क्षासे हो जायगा। विशिष्टमें शक्ति माननेमें गौरव होगा। 'अनन्यलभ्यो हि शब्दार्थः' इस न्यायसे पदार्थमें ही शक्ति उचित है, 'तदर्थविषयक' इत्यादि पूर्वोक्त कार्यकारणभावमें व्यभिचारके वारणके लिए तद्धर्मप्रकारक शाब्दबोधमें तद्धर्मप्रकारकोपस्थिति कारण है, यह कार्यकारणभाव मानते हैं। संसर्गबोध किञ्चिद्धर्मप्रकारक नहीं होता, अतः पदानुपस्थित संसर्गका भान हो जायगा। संसर्गमें शक्ति न माननेसे संसर्गभानका कोई नियामक नहीं होगा, यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि आकाङ्क्षा ही नियामक है। किसी पदका किसी पदके साथ किसी सम्बन्धसे स्वार्थान्वयबोधकी आकाङ्क्षा होती है, जैसे 'नीलो घटः'। यहांपर नील और घट—इन दो पदोंमें अभेदसम्बन्धसे ही स्वार्थान्वयबोधनकी आकाङ्क्षा है, सम्बन्धान्तरसे नहीं, अतः अभेदसम्बन्ध ही यहांपर भासित होगा। जिन पदोंमें अनेक सम्बन्धसे स्वार्थान्वयबोधनकी आकाङ्क्षा है, ऐसे 'द्रव्यं घटवत्' इत्यादि स्थलोंमें संयोग और समवायसे आकाङ्क्षा है, अतः वहां सम्बन्धविशेषका शाब्दबोधमें भान माननेमें कोई क्षति नहीं है अन्यथा संसर्गमें शक्ति माननेपर भी किसी संसर्गका किसी स्थलमें भान होता है किसीका नहीं, इसमें क्या नियामक होगा? शक्यकोटिमें संसर्गसामान्यका ही प्रवेश हो सकता है। फिर उक्त स्थलमें संयोगका भान हो अथवा समवायका, इसका नियामक तात्पर्यके विना और क्या हो सकता है?

यदि शक्तिके बिना संसर्गविशेषकी उपस्थिति ही दुर्घट है और अनुपस्थित संसर्गमें तात्पर्यग्रह हो नहीं सकता, इसलिए संसर्गमें शक्ति आवश्यक है, ऐसा कहिए तो इसका उत्तर यह है कि उद्बोधकान्तरसे उपस्थित संसर्गमें तात्पर्यग्रह हो सकता है। उसके लिए अन्वयमें शक्ति माननेकी आवश्यकता नहीं है, अतः घटत्वादिविशिष्टमें ही घटादिपदकी शक्ति लाघवसे मानी जाती है, संसर्गविशिष्टमें नहीं यह अभिहितान्वयवादी नैयायिकोंके मतका संक्षेप है।

अभिहितान्वयवादी भट्टपादका मत यह है—पदसमुदायका श्रवण होनेपर भी

यदि विषयान्तरमें आसक्त मन रहता है, तो शाब्दबोध नहीं होता। पद द्वारा पदार्थका स्मरण होनेपर अवश्य शाब्दबोध होता है, इस अन्वय और व्यतिरेकसे पदार्थ-स्मृति वाक्यार्थके बोधकी हेतु है, यह निश्चय होता है। उद्बोधकान्तरसे पदार्थका स्मरण होनेसे भी शाब्दबोध नहीं देखते, इसलिए स्मरण शाब्दबोधका कारण है, यह मानना ठीक नहीं है, कारण कि स्मरणमात्रमें सामर्थ्य नहीं है, आकाङ्क्षादिसहकृत पदसमुदायसे जायमान पदार्थका स्मरण शाब्दबोधका हेतु है। आकाङ्क्षादि कारण-विशेषसे स्मरणमें अपूर्व सामर्थ्यविशेष उत्पन्न होता है, अतएव संस्कारसहकृत इन्द्रियसे प्रत्यभिज्ञामें पूर्वापरदेशकालसम्बद्ध एक अर्थका बोध होता है। पद पदार्थमात्रका प्रतिपादन कर विरत हो जाते हैं, पश्चात् पदार्थहेतुक वाक्यार्थबोध होता है। पदार्थसे यदि वाक्यार्थबोध मानें, तो पदार्थ सप्तम प्रमाण हो जायगा ?

इसका उत्तर यह है कि पदार्थप्रतिपादनमात्रसे वक्ताका तात्पर्य पर्यवसन्न नहीं होता, क्योंकि पदार्थ तो प्रमाणान्तरसे सिद्ध ही रहता है, इसलिए तात्पर्यकी अनुपपत्तिसे पश्चाद् वाक्यार्थमें लक्षणा मानी जाती है। कहा भी है—

'साक्षाद् यद्यपि कुर्वन्ति पदार्थप्रतिपादनम्।
वर्णास्तथापि नैतस्मिन् पर्य्यवस्यन्ति निष्फले ॥
वाक्यार्थमितये तेषां प्रवृत्तौ नान्तरीयकं।
पाके ज्वालेव काष्ठानां पदार्थप्रतिपादनम् ॥' इत्यादि

यदि पद पदार्थस्वरूपमात्रका प्रतिपादन करेंगे, तो वाक्यप्रामाण्यकी अनु-पपत्ति होगी, इसलिए लक्षणा आवश्यक है। लक्षणामें वाक्यप्रामाण्यकी अनुपपत्ति कहा गया ही बीज है।

न विमुञ्चन्ति सामर्थ्यं वाक्यार्थेऽपि पदानि नः।
वाक्यार्थो लक्ष्यमाणो हि सर्वत्रैवेति च स्थितिः ॥

इत्यादि अभिहितान्वयवादीके मतका संक्षेप है। वेदान्ती व्यवहारदशामें भट्टमतानुसारी हैं, यह प्रसिद्ध है, इसलिए वेदान्तमत इस विषयमें पृथक् नहीं है। भट्टमत ही वेदान्तमत है।

श्लोकार्थ—वाक्य अभिहितान्वयवादीके मतमें संसर्गका बोधक होता है और अन्विताभिधानवादीके मतमें संसृष्ट—संसर्गविशिष्ट—पदार्थका बोधक होता है ॥ ३३५ ॥

अखण्डैकरसार्थस्य मेयता न क्वचिन्मते ।
पुमर्थश्चाऽस्ति नाऽखण्डे हानोपादानवर्जनात् ॥ ३३६ ॥
अखण्डत्वाय जगतो मिथ्यात्वे सति वैदिकम् ।
वचोऽपि मिथ्याभूतं सत्कथं मानं भविष्यति ॥ ३३७ ॥
अतो वेदान्तमानेन यदखण्डार्थबोधनम् ।
तन्मनोराज्यमेवेति जल्पतामिदमुत्तरम् ॥ ३३८ ॥

'अखण्डैकरसा०' इत्यादि । किसीके मतमें वाक्य अखण्डैकरस अर्थका बोधक नहीं माना जाता, क्योंकि अखण्डमें हान और उपादान हो ही नहीं सकता, इसलिए उसमें पुरुषार्थ (सुखप्राप्ति या दुःखपरिहारस्वरूप कोई पुरुषार्थ) होनेकी सम्भावना ही नहीं है, और वेदान्त अपुरुषार्थपरक होनेसे उसमें किसीकी प्रवृत्ति नहीं होगी, अतः निष्प्रयोजनत्वलक्षण अप्रामाण्यकी प्रसक्ति हो जायगी ॥३३६॥

अपुमर्थप्रयुक्त यह तृतीय आक्षेप है, यह कहते हैं—'अखण्डत्वाय' इत्यादिसे ।

अखण्ड ब्रह्मकी सिद्धिके लिए जगत्को मिथ्या मानना आवश्यक है, जगत् ब्रह्मसे अतिरिक्त विवक्षित है, अतः वेद भी यदि ब्रह्मसे अतिरिक्त होनेके कारण मिथ्या ही माना जाय, तो मिथ्याभूत वेदवाक्य ब्रह्ममें कैसे प्रमाण होगा ? क्योंकि मिथ्या वाक्य तो अनृतार्थक हैं । जैसे नदीतीरमें पांच फल हैं, यह किसीने कहा, वहाँ जानेपर एक भी फलकी यदि उपलब्धि नहीं हुई तो वह वाक्य मिथ्या कहलाता है, वैसे ही यदि वेदवाक्य मिथ्या होगा, तो किसी भी अर्थकी सिद्धि नहीं होगी, इस परिस्थितिमें 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' इस श्रुतिके अनुसार ब्रह्ममें वेदैकवेद्यत्वकी सिद्धि कैसे होगी ॥ ३३७ ॥

'अतो वेदन्तमानेन' इत्यादि । पूर्वोक्त दूषणसे वेदान्तवाक्यसे अखण्ड-ब्रह्मबोधन मनोराज्यसम है, जैसे मनसे राज्यकी कल्पना कर उसका राजा अपनेको मानकर पुरुष कुछ काल्पनिक सुख कर लेता है, परन्तु कल्पनामात्रसे न तो राज्य ही सिद्ध होता है और न स्वयं पुरुष उसका राजा ही बनता है, वैसे ही अखण्ड ब्रह्मकी कल्पना भी है । यह आक्षेप करनेवालोंके प्रति वक्ष्यमाण उत्तर है । लौकिक अर्थ प्रमाणसे उपस्थित होता है और वृद्धव्यवहार द्वारा उसमें शक्तिका ग्रह होता है ॥ ३३८ ॥

प्रसिद्धात्मन्यात्मशब्दप्रयोगात् स हि लौकिकः ।
ब्रह्मार्थोऽपि महत्त्वेन प्रसिद्धो व्यवहारतः ॥ ३३९ ॥
एवं पदात् परिज्ञाते पदार्थे लोकमानतः ।
वाक्यार्थोऽतीन्द्रियो वेदवाक्यात् केन निवार्यते ॥ ३४० ॥
अपूर्वदेवतास्वर्गपदार्थाँल्लोकमानतः ।
व्युत्पाद्याऽलौकिकोऽप्यर्थो वाक्याद् बुद्धस्त्वया यथा ॥३४१॥

ब्रह्म लौकिक प्रमाणका गोचर नहीं है, अतएव उसका व्यवहार तो हो नहीं सकता, क्योंकि शक्तिग्रहोपायके न होनेसे उसमें शक्तिग्रह नहीं हो सकता। इस आक्षेपका परिहार करते हैं—'प्रसिद्धात्मन्यात्मशब्द०' इत्यादिसे ।

आत्मा अलौकिक है, यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि 'अहं घटं जानामि' इत्यादि प्रतीतिसे विषयका ग्राहक आत्मा सबके लौकिक मानस प्रत्यक्षसे सिद्ध है। अतः तदर्थबोधक आत्मशब्द लौकिक ही है, अलौकिक नहीं। ब्रह्मशब्द भी अवयवार्थ व्युत्पत्तिसे प्रसिद्ध ही है, 'बृहयति लोकमिति ब्रह्म 'बृह बृहि वृद्धौ' इन धातुओंसे ब्रह्मशब्द बनता है। बृहत्त्व अर्थात् महत्त्व सबसे बड़ा निरवधि महत्त्व ब्रह्ममें ही है अथवा लोकवर्द्धक ब्रह्म ही है। ब्रह्मकी सत्ता ही से लोककी वृद्धि होती है, आत्मा और ब्रह्म वस्तुतः एक ही हैं। सात्मक शरीरकी वृद्धि होती है, निरात्मककी नहीं, यह लोकमें प्रसिद्ध है। आत्मा और ब्रह्म दोनों प्रसिद्ध हैं, अतः व्यवहारसे उन दोनोंमें शक्तिग्रह हो सकता है। अतः शक्तिग्रहोपायके अभावका आक्षेप सर्वथा निर्मूल है ॥ ३३९ ॥

'एवम्' इत्यादि। पूर्वोक्त रीतिसे आत्मा और ब्रह्म इन दो पदोंसे आत्मा और ब्रह्म ये दोनों पदार्थ लोकव्यवहारसे ज्ञात यद्यपि हैं, तथापि अखण्डैकरसस्वरूप वाक्यार्थबोध प्रमाणान्तरागोचर होनेसे 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्य द्वारा होता है, अतः तदर्थमें उक्त वाक्य अनुवादक नहीं हो सकता। जिससे अप्रामाण्यकी शङ्काका सम्भव हो ॥ ३४० ॥

उक्त अर्थमें दृष्टान्त कहते हैं—'अपूर्व०' इत्यादिसे ।

कृतिसाध्य कृतिप्रधान कार्य अपूर्व है, वह मानान्तरसे भी वेद्य है, न्यायसे और लोकसे अधिगत है। इन्द्रादि देवता भी लोकसिद्ध है, क्योंकि इन्द्रकी वज्रहस्त और वरुणकी पाशहस्त प्रतिमा लोग लिखते हैं, यह प्रसिद्ध है। सुखविशेष

अथाऽर्थवादादिवलात् स्वर्गाद्यर्थोऽवगम्यते ।
तर्ह्यवान्तरवाक्येन ब्रह्मार्थोऽप्यवगम्यते ॥ ३४२ ॥

या लोकविशेष स्वर्ग भी लोकप्रसिद्ध है। स्वर्गापूर्वादि लोकसिद्ध पदार्थमें स्वर्गादि पदका शक्तिग्रह और गृहीतशक्तिक पदसमुदायात्मक वाक्यसे विशिष्टार्थविषयक वाक्यार्थबोध होता है, यह सर्वानुभव सिद्ध है। इसी प्रकार लोकसिद्ध आत्माद्यर्थमें आत्मादिका शक्तिग्रह होनेपर तद्घटित वाक्य द्वारा तदेकरस वाक्यार्थ सिद्ध होता है। यहांपर यह शङ्का होती है कि पदार्थसे अतिरिक्त वाक्यार्थ नहीं है, क्योंकि पदार्थका ज्ञान पदसे ही होता है फिर वाक्यकी क्या आवश्यकता है ? इसका उत्तर यह है कि मध्यम वृद्धका प्रवर्त्तक ज्ञान एक पदसे तथा अनाकाङ्क्षित गौरश्वः पुरुषः इत्याद्यनेक पदोंसे भी नहीं होता, किन्तु आकाङ्क्षादिसे युक्त गामानय इत्यादि पदके समुदायसे ही होता है, अतः पदार्थातिरिक्त तदीय संसर्गरूप वाक्यार्थबोधके लिए पदातिरिक्त वाक्य मानना अत्यावश्यक है ?

शङ्का—पदार्थकी प्रतीति पदसे होती है और सान्निध्यादिसे युक्त प्रतीत पदार्थसे वाक्यार्थबुद्धि होती है, वाक्यसे नहीं, ऐसा मानेंगे।

उत्तर—व्युत्पत्ति-अवस्था, शक्तिग्रहावस्था तथा शक्तिग्रहके अनन्तर ही वाक्य वाक्यार्थबोधके लिए प्रयुक्त होता है। पदार्थ वाक्यार्थका प्रत्यायक भी नहीं होता, कारण कि पदार्थ प्रमाण नहीं है और ऐसा माननेसे वाक्यार्थ अशाब्द भी हो जायगा। व्यवहारदशामें वाक्यार्थज्ञान होनेपर ही 'इस पदकी इस अर्थमें शक्ति है' यह ज्ञान होता है। शक्तिग्रह विशिष्टवाक्यार्थज्ञानमें ही उपयोगी होता है, इसलिए वाक्यार्थ बोधके लिए ही सर्वत्र पदका प्रयोग होता है। लोकप्रमाणसे स्वर्गापूर्वादि अर्थमें शक्तिका ग्रहण कर अलौकिक स्वर्गादि अर्थ जैसे वाक्यसे आपको ज्ञात होता है वैसे ही लोकप्रमाणसे आत्मादि अर्थमें शक्तिग्रहके बाद पूर्वोक्त एक वाक्यार्थका बोध हमारे मतमें भी होता है ॥ ३४१ ॥

स्वर्गादि अपूर्व पदार्थ वृद्धव्यवहारमात्रसे सिद्ध नहीं होते, किन्तु 'यन्न दुःखेन संभिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्' इत्यादि अर्थवादसे होते हैं, अतः यह दृष्टान्त प्रकृतमें ठीक नहीं है, यह शङ्का करते हैं—'अथाऽर्थवादादि०' इत्यादिसे।

यदि यह कहा जाय कि उक्त अर्थवादके बलसे अपूर्व स्वर्गादिका

अप्रसिद्धपदार्थोऽपि प्रसिद्धार्थपदैः सह ।
समभिव्याहृतो बोद्धुं शक्यो मधुकरादिवत् ॥ ३४३ ॥
अतो लोकानुसारिण्या व्युत्पत्त्याऽर्थोऽप्यलौकिकः ।
धर्मब्रह्मात्मकः सिद्ध्येत्तत्र कस्मादमानता ॥ ३४४ ॥
नृविवक्षाव्यवहिते लोके शङ्का भवेदपि ।
वेदे त्वपौरुषेयत्वात् साक्षात् स्वार्थे प्रमाणता ॥ ३४५ ॥

परिज्ञान होता है, वृद्धव्यवहारसे नहीं, तो प्रकृतमें 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' इत्यादिसे आरम्भ कर 'तत् सत्यं स आत्मा' इस तात्पर्य्यान्त ग्रन्थसे वाक्यार्थ-ज्ञानसे पूर्व ब्रह्मार्थका भी ज्ञान होता है, यह हम भी कह सकते हैं ॥३४२॥

'अप्रसिद्ध०' इत्यादि । 'इह प्रभिन्नकमलोदरे मधूनि मधुकरः पिवति' इत्यादि स्थलमें गृहीतशक्तिक प्रभिन्नकमलोदर आदि पदके समभिव्यवहारवलसे जैसे अप्रसिद्ध मधुकरशब्दमें शक्तिग्रह होता है, वैसे ही ब्रह्मशब्दका अपरिच्छन्न ब्रह्ममें शक्तिग्रह होता है, यह हमारे मतमें भी स्फुट है ॥३४३॥

व्युत्पत्तिग्रहके समर्थनका उपसंहार करते हैं—'अतो लोका०' इत्यादिसे ।

इस प्रकार लोकानुसारिणी व्युत्पत्तिसे अलौकिक आत्मादि अर्थ अर्थात् धर्म और ब्रह्म आदि पदार्थ सिद्ध होते हैं, क्योंकि जैसे आपके मतमें धर्ममें वेद प्रमाण है, वैसे ही ब्रह्ममें भी वेद प्रमाण है, उसमें अप्रमाण कैसे होगा ? वक्ताके तात्पर्य्यके अनुरोधसे लौकिक वाक्यमें अप्रामाण्यकी शङ्का हो सकती है, किन्तु अपौरुषेय वेदमें तो शङ्काका सम्भव ही नहीं है । और शब्दमें स्वतः दोषकी सम्भावना भी नहीं कर सकते, क्योंकि वक्तृदोषसे ही शब्द दुष्ट होता है, अतः दोषके बिना अप्रामाण्यकी शङ्का ठीक नहीं है ॥ ३४४ ॥

लौकिक वाक्यार्थके सदृश वैदिक वाक्यार्थ भी मानान्तरका विषय है, अतः लौकिक वाक्यके समान वैदिक वाक्यमें निरपेक्षत्वलक्षण प्रामाण्यकी क्षति होगी, इस शङ्काकी निवृत्तिके लिए कहते हैं—'नृविवक्षा०' इत्यादिसे ।

लौकिक वाक्यमें पुरुषकी विवक्षाका सम्बन्ध है । पुरुषकी विवक्षा अनियत है, अतः दृष्टार्थक शब्दमें अप्रामाण्यकी शङ्का हो भी सकती है । वेदमें तो विवक्षाका सम्बन्ध है नहीं, अतः उसके द्वारा दोषकी सम्भावना ही नहीं हो सकती, अतः स्वार्थके बोधनमें निरपेक्षत्वलक्षण प्रामाण्य वेदवाक्यमें अक्षुण्ण है ॥३४५॥

अर्थाऽवबोधकत्वेन दुष्टकारणवर्जनात् ।
अबाधाच्च प्रमाणत्वं वस्तुन्यक्षादिवच्छ्रुतेः ॥ ३४६ ॥
अन्यत्रेवाऽत्र वाक्यार्थो नैव संसृष्टलक्षणः ।
संसर्गलक्षणो वा स्यात्किंत्वखण्डार्थलक्षणः ॥ ३४७ ॥
ब्रह्मणो नाऽऽत्मतारूपमब्रह्मत्वं तथाऽऽत्मनः ।
अज्ञानजं द्वयं द्वाभ्यां पदाभ्यां विनिवार्यते ॥ ३४८ ॥

'अर्थाव०' इत्यादि। अवोधकत्व, सांशयिकत्व और विपर्ययहेतुत्व ये ही अप्रामाण्यके प्रयोजक दोष हैं। शक्तिग्रहोपायका निरूपण करनेसे अवोधकत्वलक्षण अप्रामाण्यकी शङ्काका निराकरण हुआ। दोषके निराकरणसे संशय और विपर्ययका निरास हुआ। इस तरह अप्रामाण्यके कारणका निराकरण करनेसे वेदान्तमें प्रामाण्य सुस्थिर रहा। जैसे घटादि वस्तुमें चक्षुरादि प्रमाण हैं, वैसे ही ब्रह्ममें 'सत्यज्ञानादि' शब्द प्रमाण हैं, और प्रमाणान्तरबाधकी तो शङ्का भी नहीं कर सकते हैं, क्योंकि वाक्यार्थ अपूर्व होता है, अतः वह प्रमाणान्तरका विषय नहीं हो सकता। संसर्ग या संसर्गान्वित पदार्थका ही सर्वत्र शब्दसे बोध होता है। अखण्डार्थबोध 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यसे मानना असङ्गत है, क्योंकि उक्त बोध वाक्य द्वारा होता है, यह लोकमें कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं है ॥ ३४६ ॥

'अन्यत्रेवाऽत्र' इत्यादि। 'गामानय' इत्यादि वाक्यसे जैसे संसृष्टार्थविषयक शाब्दबोध होता है, वैसे 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यसे नहीं होता। मतान्तरमें संसर्गविषयक शाब्दबोध जैसा उक्त वाक्यसे होता है, वैसा यहां भी अभीष्ट नहीं है, किन्तु अखण्डार्थविषयक शाब्दबोध ही 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यसे माना जाता है। यही वाक्यार्थबोध अविद्याका निवर्तक होनेसे मोक्षका साधन है, ज्ञानान्तर नहीं। यदि अखण्ड अर्थका उक्त वाक्यसे बोध मानते हो, तो एक ही पदसे उक्त अर्थका बोध हो जाता, फिर पदान्तरका उपादान व्यर्थ है ॥ ३४७ ॥

अर्थके बोधनके लिए शब्दका प्रयोग होता है, अदृष्टके लिए नहीं, इस शङ्काकी व्यावृत्तिके लिए कहते हैं—'ब्रह्मणो' इत्यादि।

यद्यपि शब्दद्वयसे एक अर्थका ही बोध होता है, दो अर्थका नहीं, तथापि दोनों शब्दोंका प्रयोजन है, अतः निष्प्रयोजनत्वप्रयुक्त वैयर्थ्य नहीं है। 'तत्' पद

नेहान्यत्राऽऽत्मनो ब्रह्म न चाऽऽत्मा ब्रह्मणोऽन्यतः ।
तादात्म्यमनयोस्तस्मान्नीलोत्पलविलक्षणम् ॥ ३४९ ॥
नीलत्वमुत्पलत्वं च ह्यन्योन्यव्यभिचारिणी ।
आत्मब्रह्मत्वयोर्नाऽस्ति व्यभिचारो मनागपि ॥ ३५० ॥
अब्रह्मानात्मते यद्वदत्राज्ञाननिबन्धने ।
आत्मताब्रह्मते नैवं कल्पिते किन्तु ते स्वतः ॥ ३५१ ॥

आत्मामें अज्ञानसे आरोपित अब्रह्मत्वकी निवृत्तिके लिए है और 'त्वम्' पद ब्रह्ममें अज्ञानसे आरोपित अनात्मत्वकी व्यावृत्तिके लिए है, इस प्रकार 'तत्' और 'त्वम्' ये दोनों पद सार्थक हैं, अर्थात् 'आत्मैव ब्रह्म ब्रह्मैवात्मा' यह निश्चय उक्त पदद्वयके विना नहीं हो सकता, इसलिए दोनों पदोंका उपादान आवश्यक है ॥ ३४८ ॥

'नेहान्यत्राऽऽत्मनो' इत्यादि । आत्मासे अतिरिक्त ब्रह्म नहीं है और ब्रह्मसे अतिरिक्त आत्मा नहीं है । आत्मा और ब्रह्मका तादात्म्य है, अतएव नीलोत्पलसे यह विलक्षण है । अग्रिम श्लोकसे वैलक्षण्यको ही स्पष्ट करते हैं ॥ ३४९ ॥

'नीलत्व०' इत्यादि । 'नीलोत्पलम्' यहांपर नील और उत्पलका जैसा तादात्म्य है, वैसा तादात्म्य आत्मा और ब्रह्मका नहीं है, किन्तु उनसे विलक्षण है । प्रकृतमें नीलत्वसे नीलगुण विवक्षित है, नीलगुणका उत्पलमें तादात्म्यसम्बन्धसे बोध उक्त वाक्यसे होता है, यह वेदान्ती तथा मीमांसकका मत है । नील उत्पलका व्यभिचारी है अर्थात् उत्पलसे अतिरिक्त वस्त्र आदि भी नील होता है एवं उत्पल भी नीलका व्यभिचारी है, क्योंकि सब कमल नीले नहीं होते; रक्त, श्वेत आदि भी कमल होते हैं । प्रकृतमें आत्मत्व और ब्रह्मत्व ये दोनों व्यभिचारी नहीं है, क्योंकि आत्मासे अतिरिक्तमें ब्रह्मत्व नहीं रहता है और ब्रह्मसे अन्यमें आत्मत्व नहीं रहता है । अतः इन दोनोंका तादात्म्य नीलोत्पलके तादात्म्यसे भिन्न है । अतएव नीलोत्पलकी तरह भेदाभेद नहीं है, किन्तु भेदासहिष्णु अभेद आत्मा और ब्रह्मका है ॥ ३५० ॥

ब्रह्ममें अनात्मत्व और आत्मामें अब्रह्मत्वको जैसे अविद्याकल्पित मानते हैं, वैसे ही आत्मामें ब्रह्मत्व और ब्रह्ममें आत्मत्वको अविद्याकल्पित ही क्यों नहीं मानते ? इस शङ्काकी निवृत्तिके लिए कहते हैं—'अब्रह्मानात्मते' इत्यादि ।

न चाऽत्र नाम्नोः सम्बन्धे षष्ठी प्राप्नोत्यभेदतः ।
नरस्य वस्त्रमित्यर्थभेदे षष्ठी प्रयुज्यते ॥ ३५२ ॥

अनात्मत्व तथा अब्रह्मत्व आत्मप्रतियोगिक भेद और ब्रह्मप्रतियोगिक भेद-स्वरूप हैं, भेद अविद्याकल्पित है, पारमार्थिक नहीं है, कारण कि भेद माननेमें अन्योन्याश्रय दोष है। देखिये—भेद अभिन्नमें रहता है अथवा भिन्नमें ? प्रथम पक्षमें व्याघात है। द्वितीय पक्षमें भेदवान्‌में भेद रहता है, ऐसा कहनेपर दोनों भेद यदि एक ही हैं, तो आत्माश्रय दोष होता है। जबतक प्रथम भेद नहीं रहेगा तबतक भेदवान् नहीं होगा और जबतक भेदवान् न होगा तबतक भेद नहीं रह सकता, कारण कि भेदवान्‌में आप भेद मानते हैं। अतः स्वस्थितिमें स्वापेक्षा होनेसे आत्माश्रय दोष दुष्परिहर है। यदि इस दोषका वारण करनेके लिए दो भेद मानें, तो दूसरे भेदको लेकर फिर प्रश्न होता है कि द्वितीयभेद भिन्नमें रहता है या अभिन्नमें। द्वितीय पक्षमें पूर्ववत् व्याघात है। यदि भेद है, तो अभिन्न कहां ? यदि अभिन्न है, तो भेद कैसे रहेगा ? प्रथम पक्षमें द्वितीय भेदको लेकर फिर प्रश्न होता है कि द्वितीय भेद भिन्नमें रहता है या अभिन्नमें ? आद्य पक्षमें यदि दो भेद मानकर यह कहें कि प्रथम भेद लेकर भेदवान्‌में द्वितीय भेद और द्वितीय भेदसे भेदवान् मानकर प्रथम भेद रहता है, तो अन्योन्याश्रय होगा। द्वितीय भेदसे भेदवान् होनेपर प्रथम भेद रहेगा और प्रथम भेदसे भेदवान् होनेपर द्वितीय भेद रहेगा, ऐसा माननेपर अन्योन्याश्रय दोष होता है। यदि अन्योन्याश्रय दोषके परिहारके लिए तीसरा भेद मानें, तो फिर तृतीय भेदको लेकर 'भिन्ने अभिन्ने वा' यह प्रश्न होगा। अभिन्न पक्षमें तो व्याघात ही रहेगा। भिन्न पक्षमें चक्रक और अनवस्था चलती रहेगी और उत्तरोत्तर भेदसे पूर्व-पूर्व भेद व्यर्थ होते जायँगे, कारण कि भिन्न इत्याकारक प्रतीति एक भेदसे भी उपपन्न हो सकती है, इस परिस्थितिमें अनेक भेदकी कल्पना निष्प्रामाणिक है। भेद विद्यमान वस्तुके विना नहीं हो सकता, अतः भेद पारमार्थिक नहीं है, किन्तु अविद्या-कल्पित है। अभेद स्वतःसिद्ध पारमार्थिक है। ब्रह्मत्व और आत्मत्व एवं ब्रह्म और आत्मा अभेदस्वरूप ही हैं, इसलिए उक्त दो धर्म काल्पनिक नहीं हैं ॥ ३५१ ॥

'न चाऽत्र नाम्नोः' इत्यादि। जैसे 'नरः वस्त्रम्' ये समानविभक्तिक दो पद हैं, पर इनका सम्बन्ध अभेद नहीं है, किन्तु 'नरस्य वस्त्रं' (मनुष्यका वस्त्र है) इस प्रकार षष्ठी

न चाऽत्र भेदः सम्भाव्य एकव्यक्त्युपलक्षणात् ।
ब्रह्मात्मार्थपरीक्षायां व्यक्तिरेकोपलक्ष्यते ॥ ३५३ ॥
प्रत्यक्त्वमात्मता तद्वद्ब्रह्मत्वं चाऽद्वितीयता ।
द्वौ प्रत्यञ्चावसम्भाव्यौ तत्रैकस्य पराक्त्वतः ॥ ३५४ ॥

द्वारा भेदघटित स्वस्वामिभाव सम्बन्धकी प्रतीति होती है, वैसे ही 'तत्, त्वम्' ये दोनों पद यद्यपि समानविभक्तिक हैं तो भी 'तस्य त्वं' यह मानकर स्वस्वामिभाव सम्बन्धकी ही प्रतीति मानना उचित है । ऐसा माननेसे अखण्डार्थबोध उक्त वाक्यसे नहीं हो सकता । इस आक्षेपका उत्तर देते हैं—'न चाऽत्र' इत्यादिसे । 'तत् और त्वम्' इन दो नामोंके सम्बन्धमें भेदार्थक षष्ठी विभक्तिका ही 'नरस्य वस्त्रम्' इत्यादि स्थलकी तरह प्रयोग ठीक नहीं है, कारण कि नरका वस्त्रके साथ भेद है । अतः भेदार्थक षष्ठीका प्रयोग वहां उचित है । 'तत्त्वमसि' आदि स्थलमें अभेदका ही बोध मानना उचित है । ब्रह्म और आत्माका सर्वथा अभेद ही है, भेद नहीं है ॥ ३५२ ॥

'न चाऽत्र भेदः' इत्यादि । यदि 'तत्' और 'त्वम्' पदसे अखण्ड एक व्यक्ति विवक्षित है, तो उसमें शब्दप्रवृत्तिनिमित्त धर्म भी नहीं है । स्वप्रवृत्तिनिमित्त धर्मसे रहित अर्थमें उक्त शब्दका प्रयोग ही कैसे होगा ? यद्यपि उक्त शङ्का ठीक है कि शक्तिसे उक्त अर्थमें शब्दप्रयोग नहीं हो सकता, तथापि लक्षणासे शब्दका प्रयोग कर सकते हैं । एक व्यक्तिमें लक्षणासे पदसम्बन्ध हो सकता है । आत्मा और ब्रह्म ये दोनों एक ही व्यक्ति हैं, इसमें कारण यह है कि जैसे ब्रह्मशब्द अपरिछिन्न वस्तुका बोधक है, वैसे ही आत्मशब्द भी अपरिच्छिन्न अर्थका बोधक है । दोनोंमें सार्वात्म्य नहीं हो सकता, इसलिए दोनों एक व्यक्ति हैं ॥ ३५२ ॥

'प्रत्यक्त्व०' इत्यादि । [अनिर्वचनीयेभ्यः शरीरेन्द्रियादिभ्यः प्रतीपं सत्त्वेन अञ्चति इति प्रत्यक् ।] शरीरेन्द्रियादि अनिर्वचनीय हैं । उनसे आत्मा प्रतिकूल है अर्थात् 'सत्त्वेन निर्वचनार्ह' है । [प्रत्यक् चासौ आत्मा च प्रत्यगात्मा ।] प्रत्यगात्माको जैसे प्रत्यक्त्व है वैसे ब्रह्मत्व और अद्वितीयत्व भी स्वतःसिद्ध है और यह भी कारण है कि यदि अद्वितीय ब्रह्म प्रत्यगभिन्न न होगा, तो पराक्त्वेन घटादिके सदृश अनित्य हो जायगा । यही स्पष्ट करते हैं—'द्वौ' इत्यादिसे । दो प्रत्यक्की सम्भावना

अतः प्रत्यक्त्वमेवैतदद्वयत्वं न चेतरत् ।
तथाप्यविद्याविभ्रान्तिव्यावृत्त्यर्थं पदद्वयम् ॥ ३५५ ॥
आत्माऽपि सदिदं ब्रह्म मोहात् पारोक्ष्यदूषितम् ।
ब्रह्माऽपि संस्तथैवात्मा सद्वितीयतयेक्ष्यते ॥ ३५६ ॥
आत्मा ब्रह्मेति पारोक्ष्यसद्वितीयत्वबाधनात् ।
अखण्डे निष्ठितं शास्त्रं पुरुषार्थे समीहिते ॥ ३५७ ॥

नहीं है, क्योंकि पूर्वोक्त सार्वात्म्य असम्भव हो जायगा । इसलिए एकको अवश्य पराक् मानना पड़ेगा । अतः उक्त दोषके परिहारके लिए प्रत्यक् और ब्रह्मका ऐक्य अवश्य स्वीकार करना चाहिए ॥ ३५४ ॥

उक्त अर्थको ही कहते हैं—'अतः प्रत्यक्त्व०' इत्यादिसे ।

यदि आत्मा और ब्रह्म दोनोंका एक ही अर्थ है, तो एक ही पदसे अर्थका बोध हो जायगा, फिर आत्मा और ब्रह्म इन दोनों पदोंका साथ उच्चारण करना व्यर्थ है, इस शङ्काकी निराकृति पूर्वमें कर चुके हैं, उसीका यहांपर स्मरण कराते हैं—अविद्याजनित भ्रातिनिराकरणके लिए ही पदद्वयका उपादान है ॥ ३५५ ॥

वेदान्तवाक्योंके अखण्डैकरस ब्रह्मात्मामें समन्वयका उपसंहार करते हैं—'आत्माऽपि' इत्यादिसे ।

यद्यपि आत्मा सत्स्वरूप ब्रह्म ही है, तदतिरिक्त नहीं है, तथापि ब्रह्म परोक्ष है, इस प्रकार अज्ञानसे दूषित धारणा हो गई है । एवं ब्रह्म भी सदात्मस्वरूप ही है, अतिरिक्त नहीं है, किन्तु अज्ञानसे सद्वितीय अर्थात् आत्मातिरिक्त ब्रह्म है, यह विपरीत धारणा हुई है । वेदान्तवाक्योंसे ब्रह्ममें आत्माभेदके बोधनसे पारोक्ष्यका निराकरण होता है और आत्मामें ब्रह्माभेदका बोधन करानेसे सद्वितीयत्वका निरास होता है । परमानन्द और परमपुरुषार्थस्वरूप ब्रह्मात्मैक्यमें तात्पर्य द्वारा सम्पूर्ण वेदान्त पर्यवसित होता है ॥ ३५६ ॥

'आत्मा ब्रह्मेति' इत्यादि । 'अयमात्मा ब्रह्म' इत्यादि वाक्यसे पारोक्ष्य और सद्वितीयत्वका बाध होनेसे अखण्ड प्रपञ्चाभावोपलक्षित अनवच्छिन्नचिदानन्दोदासीन ब्रह्मात्मस्वरूपमें परिनिष्ठित वेदान्त शास्त्र मोक्षप्रद है ॥ ३५७ ॥

दृष्टाऽखण्डार्थता वाक्ये प्रत्यभिज्ञापके यतः ।
तद्देतद्देशकालाभ्यां व्यक्तिरेकोपलक्ष्यते ॥ ३५८ ॥

'तत्त्वमसि' आदि वाक्यके 'सोऽयं देवदत्तः' इत्यादि वाक्यके समान अखण्डार्थत्वका जो निरूपण किया गया है, सो ठीक नहीं है, कारण कि 'सोऽयं देवदत्तः' इत्यादि वाक्य भी अखण्डार्थक नहीं है, इस प्रकार विप्रतिपन्न पुरुषके प्रति उक्त वाक्यमें अखण्डार्थत्वका स्पष्ट प्रतिपादन करते हैं—'दृष्टाऽखण्डार्थता' इत्यादिसे ।

देश और कालमें दृष्ट देवदत्तका देशान्तर और कालान्तरमें पुनः दर्शन होनेपर 'सोऽयं देवदत्तः' (जो देशान्तर और कालान्तरमें दृष्ट था वही देवदत्त इस देश और कालमें दृष्टिगोचर हो रहा है) ऐसी प्रत्यभिज्ञा होती है । यह प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष ज्ञानस्वरूप है । इससे देशान्तर और कालान्तरसे विशिष्ट तत्पदार्थका एतद्देश और कालसे विशिष्टके साथ अभेदबोध नहीं हो सकता । तद्देशकालका एतद्देशकालके साथ अभेद प्रत्यक्षादि प्रमाणसे बाधित है, अतः तद्देश और तत्कालका त्यागकर केवल देवदत्तका लक्षणासे बोधक तत्पद है । एवं एतद्देश और कालका त्याग कर केवल देवदत्तका उक्त रीतिसे बोधक 'अयम्' यह शब्द है । विरुद्धांशद्वयका पदद्वयमें त्याग होनेसे पदद्वयसे देवदत्त एक व्यक्ति लक्षित होती है । इस प्रकार दृष्टान्तका समर्थन होनेसे दार्ष्टान्तिकमें भी 'तत्त्वमसि' 'आत्मा ब्रह्म' इत्यादि वाक्यसे भी अखण्ड एक व्यक्ति उपलक्षित होती है ।

शङ्का—पदद्वयमें लक्षणाकी अपेक्षासे एतद्देशकालविशिष्ट पदार्थस्वरूप तद्देशकालोपलक्षित व्यक्तिमें एतत्पदकी लक्षणा करनेसे भी विरोधका परिहार हो सकता है । यदि तद्देशकालोपलक्षिताभिन्न एतद्देशकालविशिष्ट इत्याकारक बोध माननेसे भेदभ्रमका निराकरण हो सकता है, तो विशिष्टार्थ बोधका त्याग कर एक व्यक्तिमें पदद्वयकी लक्षणा क्यों मानते हो ?

उत्तर—उपलक्षण वह होता है जो कभी उपलक्ष्यमें रहता हो, जैसे 'काकवन्तो देवदत्तस्य गृहाः' । जो कभी उपलक्ष्यमें नहीं है, वह स्वसंबद्धेतरका व्यावर्त्तक न होनेसे उपलक्षण ही नहीं हो सकता । प्रकृतमें एतद्देशकालवृत्तित्व-विशिष्टमें पूर्वदेशकालवृत्तित्वका सम्भव ही नहीं है, कारण कि एक समयमें दोनोंकी एक व्यक्तिमें स्थिति ही नहीं रहती, अतः तद्देशकालवृत्तित्वविशिष्टका एतद्-

दृष्टस्य देवदत्तस्य दृश्यमानस्य चैकता ।
बुभुत्सिता सोऽयमिति वाक्येन प्रतिपाद्यते ॥ ३५९ ॥

देशकालवृत्तित्वविशिष्टके साथ अभेदप्रतिपादन असम्भव है, इसलिए पदद्वयकी लक्षणा आवश्यक है ।

शङ्का—अच्छा, तो पूर्वकालोपलक्षितमें एतद्देशकालवैशिष्ट्यका तो बोधन हो सकता है, अतः यही क्यों नहीं मानते, ऐसा माननेमें कोई दोष नहीं है और लाघव भी है ।

उत्तर—क्या पूर्वकालोपलक्षितमें एतद्देशकालविशिष्टके अभेदके प्रतिपादनमें आपका तात्पर्य है अथवा पूर्वकालोपलक्षितमें एतद्देशकालवैशिष्टयके प्रतिपादनमें तात्पर्य है ? प्रथम पक्षमें उपलक्षितका विशिष्टके साथ अभेद नहीं हो सकता, क्योंकि विशिष्ट और उपलक्षित—अविशिष्ट—का अभेद बाधित है, अन्यथा एतद्देशकालवृत्तित्वविशिष्टकी पूर्वकालमें भी स्थिति हो जायगी । उपलक्षित पूर्वकालमें तद्भिन्न ही विशिष्ट होता है । द्वितीय पक्षमें यदि साक्षात् अभेदका प्रतिपादन हो सकता है, तो परम्परया अभेदका प्रतिपादन अनुचित है । पदद्वयकी लक्षणासे परम्परया भेदका प्रतिपादन ही अच्छा है, क्योंकि उक्त लक्षणा माननेमें गौरव है । साक्षात् भेदके प्रतिपादनकी अपेक्षासे परम्परया अभेदप्रतिपादनमें भी तो बुद्धिगौरव समान ही है, तो भी पदद्वयकी लक्षणामें क्या विनिगमक है ? लाघव और गौरव पक्षद्वयमें समान हैं । साक्षात् विवक्षितार्थ अभेदप्रतिपादनका लाभ ही विनिगमक है, अतः 'सोऽयं देवदत्तः' इत्यादि स्थलमें पदद्वयकी लक्षणा ही युक्तियुक्त है ॥ ३५८ ॥

उक्त अर्थको स्पष्ट करते हैं—'दृष्टस्य' इत्यादिसे ।

पूर्व देश और कालमें दृष्ट एवं वर्तमान देश और कालमें दृश्यमान देवदत्तके भेद-भ्रमके निरासके लिए एकता बुभुत्सित—जिज्ञासित—है उसीका 'सोऽयं देवदत्तः' इस वाक्यसे प्रतिपादन किया जाता है । अतएव विभिन्नप्रकारकोपस्थितिजनक पदद्वयके समभिव्यवहारसे ही अभेदका बोध सर्वत्र माना जाता है, जैसे 'नीलो घटः' यहांपर नीलत्वप्रकारकोस्थितिजनक नीलपद और घटत्वप्रकारकोपस्थितिजनक घटपदके समभिव्याहारसे नीलका अभेद घटमें प्रतीत होता है, समानप्रकारको-

प्रतिपाद्यौ देशकालौ न तयोरबुभुत्सनात् ।
परस्परविरोधाच्च व्यक्त्यैकत्वं तु बोध्यते ॥ ३६० ॥
एवमत्रापरोक्षस्य प्रतीचोऽन्यनिवारणात् ।
ब्रह्मत्वलक्षणोऽखण्डो वाक्येनाऽर्थोऽवबुध्यते ॥ ३६१ ॥
हानोपादानराहित्येऽप्यपुमर्थो भवेन्नहि ।
इष्टप्राप्तेरनिष्टार्थनिवृत्तेश्चेह सम्भवात् ॥ ३६२ ॥

पस्थितिजनक पदद्वयसे 'घटो घटः' इत्यादि स्थलमें अभेदबोध नहीं होता, इसलिए प्रकृतमें तद्देशकालवृत्तित्वप्रकारकोपस्थापक और एतद्देशकालवृत्तित्वप्रकारकोपस्थापक 'सोऽयम्' इत्यादि पदद्वयसे अभेदबोध निर्बाध ही है, फिर पदद्वयमें लक्षणा मानना व्यर्थ है, यह आक्षेप भी निरस्त हुआ। अविशिष्ट व्यक्त्यैक्य प्रकृतमें विवक्षित और बुभुत्सित है। विशिष्ट व्यक्त्यैक्य बुभुत्सित नहीं है, अतः बुभुत्सितके अनुरोधसे पदद्वयकी अविशिष्ट एक व्यक्तिमें लक्षणा मानना आवश्यक है ॥३५९॥

लक्षणाका बीज कहते हुए 'सोऽयम्' इत्यादिका अखण्डार्थमें उपसंहार करते हैं—'प्रतिपाद्यौ' इत्यादिसे।

देश और कालमें बुभुत्सा (जिज्ञासा) न होनेसे ये दोनों प्रतिपाद्य नहीं हैं। परस्पर विरुद्ध दो धर्मोंका अभेद बाधित है, इसलिए विशिष्ट अभेद भी बाधित ही है, केवल व्यक्त्यैक्य ही भेदभ्रमके निरासके लिए जिज्ञासित है, इसलिए 'सोऽयम्' इत्यादि दो पदोंसे उपलक्षित एक व्यक्तिका बोध ही अभीष्ट है, अतः दोनों पद एक ही व्यक्तिके उपलक्षक हैं, यह सिद्ध हुआ ॥ ३६० ॥

'एवमत्रा०' इत्यादि। पूर्वोक्त रीतिसे साक्षात् अपरोक्षानुभवस्वरूप प्रत्यगात्मासे अतिरिक्त परोक्ष ब्रह्म नहीं है, ऐसा युक्तिपूर्वक समर्थन करनेके अनन्तर 'तत्त्वमसि', 'आत्मा ब्रह्म' इत्यादि वाक्यों द्वारा ब्रह्मत्वरूप अखण्ड अर्थ बोधित होता है ॥ ३६१ ॥

अखण्ड ब्रह्म पुरुषार्थ नहीं है, अतः उसके बोधक वाक्य अप्रमाण हैं, यह कहते हैं—'हानोपादान०' इत्यादिसे।

कर्तव्य अर्थ ही हानोपादानके योग्य होता है, सिद्ध अर्थ नहीं। फल-साधन यदि कृतिसाध्य न होगा, तो उसका अनुष्ठान ही नहीं हो सकेगा और अननुष्ठित साधन-

प्राप्तं चाऽप्राप्तमित्येवं द्विधेष्टं प्राप्तुमिष्यते ।
अनिष्टं द्विविधं त्यक्तमत्यक्तं च जिहासितम् ॥ ३६३ ॥
ग्रामादि किञ्चिदप्राप्तं प्राप्तुमिष्टमिहेच्छति ।
हेमादि विस्मृतं किञ्चित्करस्थमपि लिप्सते ॥ ३६४ ॥
अनिष्टं चापरित्यक्तं कण्टकादि जिहासति ।
रज्ज्वां सर्पादिकं किञ्चित्त्यक्तमेव जिहासति ॥ ३६५ ॥

फलदायक नहीं होता, अतः सिद्ध अर्थ इष्टसाधन तथा अनिष्टनिवृत्तिसाधन नहीं होता, ऐसी धारणासे जो भ्रान्त पुरुष हैं, उनके भ्रमकी निवृत्तिके लिए कहते हैं कि सिद्ध अर्थसे भी इष्टप्राप्ति और अनिष्टपरिहार होता है। प्रकृतमें हानोपादानसे रहित ही ब्रह्म है, यह यद्यपि सत्य है, तथापि ब्रह्मज्ञान होनेसे परमानन्दकी प्राप्ति और अशेष दुःखका परिहार ये दो फल होते हैं ॥ ३६२ ॥

यद्यपि हान आदिका विषय ब्रह्म नहीं है, तथापि पुरुषार्थ तो वह है ही, इसी अर्थको स्पष्ट करनेके लिए इष्ट और अनिष्ट दो प्रकारके होते हैं, यह स्पष्ट करते हैं—'प्राप्तं चाऽप्राप्त०' इत्यादिसे ।

इष्ट दो प्रकारका होता है—एक प्राप्त और दूसरा अप्राप्त । इन दो प्रकारके इष्टोंको पुरुष प्राप्त करना चाहता है । इसी प्रकार अनिष्ट भी दो प्रकारका है—एक त्यक्त और दूसरा अत्यक्त । पर इन दोनोंका पुरुष त्याग करना चाहता है ॥ ३६३ ॥

'ग्रामादि' इत्यादि । जैसे पुरुष अप्राप्त इष्टकी (ग्राम आदिकी) प्राप्तिकी इच्छा करता है, वैसे ही करस्थ सुवर्ण यदि विस्मृत हो, तो उसकी भी प्राप्तिकी इच्छा करता है । यद्यपि वह प्राप्त ही है, तथापि अज्ञानवश अप्राप्तकी तरह प्रतीत होता है, अतः उसकी प्राप्तिकी इच्छा उचित ही है ॥ ३६४ ॥

'अनिष्टं चाऽ०' इत्यादि । अनिष्ट—अनिष्टसाधन—एवं अपरित्यक्त—पुरःस्थित—कण्टक आदि जैसे जिहासाविषय होते हैं, अतएव उनका त्याग किया जाता है। वैसे ही पुरःस्थित रज्जुसर्प भी त्यागेच्छाका विषय होता है । यद्यपि पुरःस्थित सर्प नहीं है, अतएव वह त्यक्त ही है, तथापि भ्रान्तिवश पुरोवर्तित्वेन उसकी प्रतीति होती है, अतः कण्टक आदिकी तरह, बल्कि उससे भी अधिक, वह जिहासित होता है, इसलिए वहां त्यक्तकी ही जिहासा है ॥ ३६५ ॥

अप्राप्तं प्राप्तुमत्यक्तं त्यक्तुं कर्मैव साधनम् ।
लोके वेदेऽप्यतः कर्मविधीनां स्यात्तदर्थता ॥ ३६६ ॥
अज्ञानारोपितत्वेन सम्प्राप्तत्यक्तयोः पुनः ।
याथात्म्यज्ञानतो नाऽन्यत्पुरुपार्थाय कल्प्यते ॥ ३६७ ॥
त्वं ब्रह्मेति श्रुते वाक्ये सिद्ध्यत्येवाऽप्रयत्नतः ॥
अशेपानर्थविच्छेदो ब्रह्मानन्दोऽप्यनुत्तमः ॥ ३६८ ॥

इष्टप्राप्ति और अनिष्टपरिहारका विभाग करके अप्राप्तकी प्राप्ति और अत्यक्तके त्यागका उपाय कहते हैं—'अप्राप्तम्' इत्यादिसे ।

लोकमें अप्राप्त ग्राम आदिकी प्राप्ति और अत्यक्त कण्टक आदिके त्यागके साधन लौकिक क्रयण, वर्जन आदि कर्म ही हैं । वेदमें भी अलौकिक स्वर्गादि और लौकिक वृष्ट्यादि फलके साधन सोमादि एवं कारीर्यादि वैदिक कर्म ही हैं, यह शास्त्र तथा अन्वय-व्यतिरेकसे परिज्ञात होता है । इष्ट और अनिष्टकी प्राप्ति और परिहारके लिए ही लौकिक व शास्त्रीय विधि-निषेध हैं । इन्हीं उपायोंसे अन्वय-व्यतिरेक द्वारा भी साधनविशेषका ज्ञान होनेपर इष्टकी प्राप्ति और अनिष्टका परिहार होता है, अतः इष्टकी प्राप्ति और अनिष्टके परिहारके लिए कर्मविधि मानी जाती है ॥३६६॥

सम्प्राप्त और त्यक्तकी प्राप्ति और परिहारका उपाय कहते हैं—'अज्ञाना०' इत्यादिसे ।

अज्ञानसे आरोपित अप्राप्त और अत्यक्तकी प्राप्ति और त्याग प्राप्ति और त्यागके यथार्थज्ञानसे होते हैं, अतिरिक्तसे नहीं । इन दोनोंके स्वरूपका यथार्थज्ञान होनेपर ही पुरुपार्थप्राप्ति होती है । करकङ्कण और रज्जुसर्पके यथार्थ-ज्ञानमात्रसे ही पुरुषार्थ होता है ॥ ३६७ ॥

उक्त विभागका परिज्ञान होनेपर वेदान्तवेद्य ब्रह्म हान आदिके बिना पुरुषार्थ है, यही स्पष्ट करते हैं—'त्वं ब्रह्म' इत्यादिसे ।

'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्यके सुननेपर तुम ब्रह्म हो, ऐसा व्युत्पन्न मुमुक्षुको निश्चयात्मक बोध होता है । निश्चयात्मक ब्रह्मात्मैक्यबोध होनेपर प्रयत्नान्तरके बिना समस्त सांसारिक दुःखोंकी निवृत्ति और सर्वोत्तम ब्रह्मानन्दकी प्राप्ति भी होती है ॥ ३६८ ॥

पुरुषार्थोपदेष्टृत्वाद् यद्वत्कार्ये प्रमाणता ।
तथैकात्म्ये विशेषाद् वा पुमर्थातिशयत्वतः ॥ ३६९ ॥
न चैकात्म्याभ्युपायस्य मिथ्यात्वमिह चोद्यताम् ।
कदा वेदस्य मिथ्यात्वं भवता ज्ञायते वद ॥ ३७० ॥
ऐकात्म्यप्रतिपत्तेः प्राङ् न मिथ्यात्वमबाधनात् ।
पुमर्थस्य समाप्तत्वादूर्ध्वं वेदेन किं तव ॥ ३७१ ॥
अज्ञातमपि मिथ्यात्वं प्रागस्त्येवेति चेच्छृणु ।
मानसत्यत्वमिथ्यात्वे न मात्वामात्वकारणे ॥ ३७२ ॥

'पुरुषार्थो०' इत्यादि । जैसे कर्मबोधक वेद पुरुषार्थका बोधक है वैसे ही वेदान्त भी हैं, अतः कर्मविशेषमें पूर्ववेदके समान अकार्यस्वरूप ब्रह्ममें वेदान्त भी प्रमाण हैं । अपि च पूर्ववेदकी अपेक्षासे तत्त्वावेदकत्वरूप प्रामाण्यातिशय ब्रह्मात्मैक्यबोधक श्रुतिमें ही है, अर्थात् अज्ञात, निरतिशय और अबाधितस्वरूप पुरुषार्थके बोधक 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यमें तात्त्विक प्रामाण्य है, इस तात्पर्यसे— 'विशेषाद्वा' यह कहते हैं । पुरुषार्थमें निरतिशयत्वादिरूप विशेष है और प्रमाणान्तरकी अपेक्षासे उक्त वाक्यमें अबाधितार्थबोधकत्वरूपसे तात्त्विकत्वरूप प्रामाण्यातिशय है ॥ ३६९ ॥

प्रपञ्चके समान मिथ्याभूत वेद ऐक्यप्रमा-बोधका जनक नहीं हो सकता, जैसे मिथ्याव्याप्तिविशिष्ट बाष्प मिथ्या हेतु है, अतः अग्निविषयक प्रमानुमितिका जनक नहीं होता वैसे ही प्रकृतमें भी शङ्का होती है, उसके निराकरणके लिए कहते हैं—'न चैका०' इत्यादि ।

ऐकात्म्यबोधोपाय वेदमें आपका मिथ्यात्वाक्षेप उचित नहीं है, कारण कि कब वेदमिथ्यात्व आप कहते हैं, सो कहिए ॥ ३७० ॥

'ऐकात्म्य०' इत्यादि । ऐकात्म्यज्ञानसे पूर्व अबाधितार्थक होनेसे वेदमें मिथ्यात्व नहीं कह सकते । तत्त्वज्ञानोत्पत्तिके बाद आपको वेदसे क्या मतलब है ? अर्थात् उपेयार्थी तबतक उपायका अन्वेषण करता है, जबतक फल नहीं होता, फलसिद्धिके बाद तो उपायका समीक्षण व्यर्थ ही है ॥ ३७१ ॥

'अज्ञातमपि' इत्यादि । यद्यपि तत्त्वज्ञानोत्पत्तिसे पूर्व वेदमें मिथ्यात्व ज्ञात नहीं होता, किन्तु अज्ञात ही रहता है, तथापि मिथ्यात्व तो वस्तुतः वेदमें है ही फिर बाष्पवत् मिथ्याभूत वेदसे आत्मैक्यकी प्रमा कैसे होगी ?

सत्येनाऽप्यनुपायेन घटेनाऽग्निर्न मीयते ।
असत्येनाऽप्युपायेन प्रतिविम्बेन विम्बधीः ॥ ३७३ ॥
धूमाभासात्तु वाष्पादेर्यदग्निर्नाऽवगम्यते ।
हेतुस्तत्राऽनुपायत्वमविनाभाववर्जनात् ॥ ३७४ ॥
वेदान्तानामुपायत्वाद् धूमवत्परमार्थता ।
न शङ्क्यार्हा तदैकात्म्यश्रुतिवाधः स्फुटो भवेत् ॥ ३७५ ॥

इसका उत्तर यह है कि जो आप मानके सत्यत्व और असत्यत्वको मेयके प्रमात्व और अप्रमात्वका प्रयोजक मानते हैं, वस्तुतः उसे आप नहीं मान सकते ॥३७२॥

इसीको वतलाते हैं—'सत्येना०' इत्यादिसे ।

घट सत्य होता हुआ भी अग्निके साधनका उपाय नहीं है, इसलिए 'पर्वतो वह्निमान् , घटवत्त्वात्' इस अनुमिति द्वारा घटसे पर्वतादिमें अग्निकी सिद्धि नहीं हो सकती और यद्यपि प्रतिविम्ब असत्य है तो भी प्रतिविम्ब द्वारा विम्बका अनुमान होता है, क्योंकि विम्बके साधनमें प्रतिविम्ब उपाय है, अतः उपायसे उपेयकी सिद्धि होती है । उपाय चाहे सत्य हो या मिथ्या, इसमें आग्रह नहीं करना चाहिए, क्योंकि सत्यत्वादिकी अपेक्षा उपायत्व ही उपेयसिद्धिमें प्रयोजक है ॥३७३॥

यदि असत्य उपायसे भी वस्तुकी सिद्धि मानते हो, तो वाष्पसे भी पर्वतादिमें अग्निकी सिद्धि मानो, इस आक्षेपका परिहार करते हैं—'धूमाभासा०' इत्यादिसे ।

धूमसे विलक्षण वाष्प आदि द्वारा यदि पर्वत आदिमें अग्नि नहीं सिद्ध होती, तो उसमें हेतु है—अनुपायत्व । वाष्पमें अविनाभावरूप व्याप्ति न होनेसे वाष्प अग्निसाधनोपाय ही नहीं है, इसलिए वाष्पादिसे अग्निकी सिद्धि नहीं होती, न कि उपाय मिथ्या है, इस कारण अग्निकी सिद्धि नहीं होती ॥ ३७४ ॥

'वेदः सत्यः, उपायत्वात् , धूमवत्' इस अनुमानसे वेदको सत्य ही मानना उचित है, इस शङ्काका निराकरण करते हैं—'वेदान्ताना०' इत्यादिसे ।

यदि कहो कि धूम जैसे अग्निके ज्ञानमें उपाय है, अतः सत्य है, वैसे ही आत्मैक्यके वोधका उपाय वेद है, अतः वह भी सत्य है, तो यह नहीं कह सकते, क्योंकि ऐसा कहनेमें ऐकात्म्यबोधक श्रुतिका वाध हो जायगा । 'एकमेवाद्वितीयम्' इत्यादि श्रुतिसे ब्रह्मसे अतिरिक्त निखिल प्रपञ्च असत्य है, यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है । अतः दृष्टान्त धूम भी सत्य नहीं है, इससे उसकी सामर्थ्यसे वेद कैसे सत्य हो सकता है ? ॥ ३७५ ॥

वाष्पवन्नाऽपि मिथ्यात्वादनुपायत्वमुच्यताम् ।
ऐकात्म्याज्ञानबाधेन सिद्धैवोपायता भवेत् ॥ ३७६ ॥
उपेयबोधनं मुक्त्वा मितेर्नान्याऽस्ति सत्यता ।
उपेयैकात्म्यबोधस्तु वेदान्तेषूपलभ्यते ॥ ३७७ ॥
अतः स्वरूपमिथ्यात्वेऽप्युपायत्वादसत्यता ।
नास्तीत्युपायतो वेदादुपेयं ब्रह्म मीयताम् ॥ ३७८ ॥
सत्यामैकात्म्यसंवित्तौ चरितार्थत्वतः श्रुतेः ।
वृथोपायपरीक्षा स्यादुत्तीर्णस्य प्लवे यथा ॥ ३७९ ॥

'वाष्पवन्नाऽपि' इत्यादि । 'वेदो नोपायः, मिथ्यात्वात्, वाष्पवत्' इस अनुमानसे वेदमें वाष्पादिके दृष्टान्तसे मिथ्यात्वहेतुक अनुपायत्व सिद्ध करना चाहते हैं, तो प्रश्न यह उठता है कि मिथ्यात्वशब्दसे आपको अकार्यकरत्व विवक्षित है ? [क्योंकि मिथ्या वस्तु कार्यकारी नहीं होती, मिथ्या रजतसे आभूषण आदि कार्यकी उत्पत्ति कहीं भी नहीं देखी जाती] अथवा बाध्यत्व विवक्षित है ? [क्योंकि जो मिथ्या होता है, वह बाध्य होता है, जैसे शुक्तिरजत] प्रथम विकल्पमें हेत्वसिद्धि है, क्योंकि मिथ्या रजत भी मिथ्यात्वकी अज्ञानदशामें प्रवृत्त्यादिकार्यकारी होता ही है, प्रकृतमें वेद भी अज्ञाननिवृत्तिरूप-कार्यकारी ही है ॥३७६॥

'उपेयबोधनम्' इत्यादि । उपेयके बोधनको छोड़कर मितिमें (प्रमाणमें) अन्य कोई सत्यता नहीं है अर्थात् अव्यभिचारी ज्ञानत्व ही प्रमासत्यत्व है, दूसरा नहीं । सर्वत्र वेदान्तमें उपेय ऐक्यात्म्यबोध उपलब्ध होता है । वेदान्तवाक्यसे जो ब्रह्मात्मैक्यका बोध होता है, वह अबाधितार्थक होनेसे प्रमाण ही है ॥ ३७७ ॥

'अतः' इत्यादि । अतः वेदके स्वरूपके मिथ्या होनेपर भी उसमें ऐकात्म्यबोधोपायत्वरूपसे असत्यत्व नहीं है, इसलिए वेदान्तसे अद्वितीय ब्रह्म जानो । उपायप्रमासे उपेयप्रमा होती है, यह नियम नहीं है, क्योंकि वाष्पादिसे भी वस्तुतः वह्निमान् पर्वतमें वह्निबुद्धिप्रमा होती ही है ॥ ३७८ ॥

'सत्यामैकात्म्य०' इत्यादि । ब्रह्मात्मैक्यसम्पत्ति होनेपर श्रुति चरितार्थ हो जाती है, फिर उपायभूत श्रुति सत्य है अथवा मिथ्या, यह विचार करना व्यर्थ है, जैसे नदी तरनेके समय नौका पार जानेके लायक है या नहीं, यह विचार करना ठीक है, पर पार जानेके बाद उक्त विचार व्यर्थ है ॥ ३७९ ॥

बाह्येष्वर्थेष्वनात्मत्वात् काचिच्छङ्का भवेदपि ।
अत्राऽऽत्मत्वादुपेयस्य का शङ्का मानतां प्रति ॥ ३८० ॥
बोधकत्वेन मानत्वमखण्डार्थेऽप्यवस्थितम् ।
वेदान्तानामथैतेषां बाधः परिहरिष्यते ॥ ३८१ ॥
ननु भेदाश्रितैर्वाक्यैर्विधायकनिषेधकैः ।
अक्षादिभिश्च नैकात्म्यं बाधितत्वात्प्रमाणवत् ॥ ३८२ ॥
न चाऽस्यैकात्म्यशास्त्रस्य तैर्विकल्पसमुच्चयौ ।
यत एतावसम्भाव्यौ क्रियायामिव वस्तुनि ॥ ३८३ ॥

'बाह्येष्वर्थे०' इत्यादि । आत्मभिन्न बाह्य घटादिविषयक प्रमाणमें अप्रमाणत्व-की शङ्का हो भी सकती है, प्रकृतमें तो उपेय आत्मस्वरूप है, इसलिए एतद्विषयक प्रमाणमें आशङ्का ही क्या ? अर्थात् शङ्का सर्वथा अनुचित है। आत्माके बिना तो ज्ञान हो ही नहीं सकता, तो आत्मविषयक ज्ञानमें व्यभिचारकी शङ्काका क्या असर होगा ? अतः वेदान्तमें अबाधित प्रामाण्य है ॥ ३८० ॥

फलितार्थकथनपुरःसर शिष्योंके अवधानार्थ उत्तर ग्रन्थका प्रतिपाद्य विषय कहते हैं—'बोधकत्वेन' इत्यादिसे ।

ब्रह्मात्मैक्यरूप अखण्ड अर्थमें भी वेदान्तप्रामाण्य सुव्यवस्थित है; प्रकृत अर्थमें प्रमाणान्तरके बाधका परिहार करेंगे । निश्चितप्रामाण्यक प्रमाणान्तरसे बाध होता है, अन्यथा नहीं ॥ ३८१ ॥

प्रत्यक्ष आदिके विरोधका परिहार कर अखण्ड अर्थमें वेदान्तप्रामाण्यका दृढ़ीकरण करनेके लिए पूर्वपक्ष करते हैं—'ननु भेदा०' इत्यादिसे ।

कर्तृ, कर्म, साधन आदि भेदकी अपेक्षा रखनेवाले कर्मविधिबोधक 'अग्निहोत्रं जुहुयात्' इत्यादि वाक्यसे तथा घट, पट आदि भेदग्राही प्रत्यक्षादिसे भी विरोध होनेके कारण वेदान्तवाक्य अद्वितीय आत्मामें प्रमाण कैसे हो सकता है ? तथा 'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि' इत्यादि निषेधबोधक वाक्य भी भेदाश्रित ही हैं, यदि वास्तविक आत्मैक्य ही है, तो वध्यघातकभाव ही नहीं बन सकता, फिर अप्रसक्त हिंसानिषेध व्यर्थ ही हो जायगा ॥ ३८२ ॥

यदि पूर्वोत्तर वेदान्तमें प्रामाण्यके अविशिष्ट होनेसे तथा प्रत्यक्षादि प्रामाण्यानुरोधसे भी सब प्रमाणोंका समन्वय हो, इसलिए भेदाभेद मानना समुचित है, यह कहिए, तो भी ठीक नहीं है, ऐसा कहते हैं—'न चाऽस्यै०' इत्यादिसे ।

व्रीहिभिर्वा यवैर्वेति यथा यागो विकल्प्यते ।
नैवमेकमनेकं वेत्येतद्वस्तु विकल्प्यते ॥ ३८४ ॥
समुच्चित्यै यथा दर्शपौर्णमासौ तथा न तु ।
भिन्नाभिन्नात्मना वस्तु समुच्चेतुमिहार्हति ॥ ३८५ ॥

ऐकात्म्यबोधक वेदान्तवाक्यका कर्मविधिनिषेधबोधक वेदवाक्य तथा भेदग्राही प्रत्यक्षादि प्रमाणके साथ विकल्प या समुच्चय नहीं हो सकता, कारण कि ये दोनों क्रियामें ही होते हैं, सिद्ध वस्तुमें नहीं होते। यदि ब्रह्ममें क्रियाका संपर्क भी नहीं है, तो उसे क्रियात्मक कहना दूर ही रहा ॥ ३८३ ॥

विकल्प और समुच्चयका उदाहरण देते हुए सिद्ध वस्तुमें तदुभयका असम्भव स्फुट करते हैं—'व्रीहिभिर्वा' इत्यादिसे ।

'व्रीहिभिर्यजेत,' यवैर्वा यजेत'—इन दोनों श्रौत वाक्योंसे यागमें व्रीहि तथा यवका विधान है। एक समयमें दोनोंका विधान नहीं है, किन्तु इच्छानुसार चाहे, व्रीहिसे याग करे या यवसे, तथा 'अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' इत्यादि वाक्यसे अतिरात्ररूप सोमयागविशेषमें कर्ताके इच्छानुसार षोडशिग्रहणाग्रहणका विधान है। ये दोनों विकल्पके उदाहरण हैं। समुच्चयका उदाहरण है—दर्शपूर्णमासादि छः याग। आग्नेय, अग्नीषोम और उपांशु—ये तीन पूर्णमासीमें होते हैं, आग्नेय, ऐन्द्र दधि और ऐन्द्र पय—ये तीन अमावास्यामें होते हैं। इन छः यागोंका समुदाय दर्शपूर्णमास कहलाता है। स्वर्गसाधनभावसे षड्याग-समुच्चयका विधान है, सो ठीक है, क्योंकि ये क्रियात्मक हैं, इनका समुच्चय बाधित नहीं होता। इस प्रकारसे प्रकृतमें भेदाभेदका विकल्प अर्थात् कदाचिद् भिन्न भी है, अभिन्न भी है, ऐसा कहना नहीं बन सकता। घट अपनेसे भिन्न है और अभिन्न है, यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि परस्पर विरुद्ध भेदाभेदरूप दो धर्म एक धर्मीमें नहीं रह सकते एवं भिन्नाभिन्नका समुच्चय भी नहीं हो सकता ॥ ३८४ ॥

वस्तुमें विकल्प न होनेपर फलितार्थ कहते हैं—समुचित्यै' इत्यादिसे ।

अर्थ ऊपर कह चुके हैं। जैसे दर्शपूर्णमासका समुच्चय होता है वैसे भिन्नाभिन्नका समुच्चय नहीं हो सकता, वस्तुमें एक समयमें एकका ही भेदाभेद बाधित है। इसलिए समुच्चय करनेके लिए भेदाभेद मानना उचित नहीं है ॥३८५॥

अत ऐकात्म्यमानस्य भेदमानस्य वा द्वयोः ।
एकबाधस्य सम्प्राप्तावैक्यधीर्बाध्यतेऽन्यथा ॥ ३८६ ॥
नेह नानेति भेदानां निषेधो नाऽन्यबाधकः ।
वर्णादिग्रहणोपायप्रत्यक्षाद्युपजीवनात् ॥ ३८७ ॥
वर्णान् ग्रहीतुमर्थस्य व्युत्पत्त्यैवोपजीवति ।
श्रुतिरक्षानुमाने द्वे प्रबलत्वं तयोस्ततः ॥ ३८८ ॥

'अतः' इत्यादि । यदि दो प्रमाणोंका विकल्प और समुच्चय नहीं हो सकता, तो एक प्रमाणका बाध अवश्य ही प्राप्त है, ऐसी परिस्थितिमें ऐकात्म्यबोधक 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यका ही बाध करना ठीक है, भेदग्राही प्रमाणका बाध करना ठीक नहीं है; क्योंकि 'भूयसामनुग्रहो न्याय्यः' इस न्यायसे घटपटादिभेदग्राही अनेक प्रमाणोंके बाधकी कल्पनाकी अपेक्षा स्वल्पाद्वैतागमका ही बाध उचित है ॥३८६॥

'नेह नानेति' इत्यादि । अभिप्राय यह है कि प्रत्यक्ष और आगमका जहां विरोध हो, वहां प्रत्यक्ष ही प्रमाण माना जाता है अर्थात् प्रत्यक्षके अनुरोधसे आगमका अर्थ करना चाहिए । प्रत्यक्षकी बलवत्तामें दो कारण हैं—प्रथम प्रत्यक्ष सब प्रमाणोंमें ज्येष्ठ है और दूसरा वह उपजीव्य है । प्रत्यक्षके बिना आगमके पदोंमें शक्तिग्रह भी नहीं होता, क्योंकि शब्दका श्रावणप्रत्यक्ष शाब्दबोधमें कारण होता है, इसीलिए उपजीव्यबाध भी सर्वथा अनुचित है, क्योंकि 'आदित्यो यूपः', 'यजमानः प्रस्तरः' इत्यादि स्थलमें 'आदित्यसदृशो यूपः', 'यजमानसदृशः प्रस्तरः' इत्यादि अर्थ माना जाता है । अन्यथा आदित्ययूपभेदग्राही प्रत्यक्षका बाध कर आगम दोनोंके अभेदका बोधन करता, किन्तु ऐसा नहीं माना जाता; इस तात्पर्यसे कहते हैं—'नेह नाना' इत्यादि । द्वैतनिषेधबोधक आगम अन्यका अर्थात् प्रत्यक्षादिका बाधक नहीं है । बाधक क्यों नहीं है ? इसमें कारण कहते हैं कि उपजीव्य प्रत्यक्ष वर्णादिके (आदिपदसे पद, वाक्य आदिका परिग्रह है) ग्रहणका उपाय है । अतः शास्त्रसे प्रत्यक्षका बाध सर्वथा अनुचित है । अन्यथा उपायके अभावसे अद्वैतागमका बाध न होनेपर आत्मज्ञान ही नहीं हो सकेगा और आत्मज्ञानके विना मोक्ष भी नहीं हो सकेगा ॥३८७॥

उक्त अर्थका स्पष्टीकरण करते हुए 'आदि' शब्दग्राह्य अनुमानमें भी श्रुत्युपजीव्यत्व कहते हैं—'वर्णान्' इत्यादिसे ।

'घटमानय' इस प्रकार प्रयोजक वृद्धके वचनके श्रवणके अनन्तर प्रयोज्य वृद्धकी

घटानयनप्रवृत्तिको देखकर समीपस्थ बालक यह अनुमान करता है कि 'इयं घटानयनप्रवृत्तिः इष्टसाधनताज्ञानजन्या, प्रवृत्तित्वात्, मदीयस्तनपानप्रवृत्तिवत् । घटानयनज्ञानं च घटमानयेति वाक्यजन्यम्, एतद्वाक्यान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वात्, यो यदन्वयव्यतिरेकानुविधायी, स तज्जन्यः, यथा भोजनानन्तरं तृप्तिः । भवति चैतद्ज्ञानम् एतद्वाक्यान्वयव्यतिरेकानुविधायि, तस्मात् एतद्वाक्यजन्यमिति । एतद्वाक्यार्थबोधान्यथानुपपत्त्या एतद्वाक्यस्य एतस्मिन्नर्थे अस्ति कश्चन सम्बन्धः । असम्बद्धस्य प्रत्यायकत्वे अविशेषात् सर्वार्थभानं स्यात् । न चैकेन वाक्येन सर्वार्थप्रतीतिः, तस्मात् सम्बद्धार्थप्रत्यायकत्वं शब्दस्येत्यभिप्रायः। तात्पर्य यह है कि अगृहीतशक्तिक बालकको सर्वप्रथम वृद्धव्यवहारसे शक्तिका ग्रह होता है। उदाहरण—प्रयोजक वृद्धने प्रयोज्य वृद्धसे कहा कि 'घटमानय' (घट लाओ) । प्रयोज्य वृद्ध घट लाया, इसको देखकर बालक यह अनुमान करता है कि प्रयोज्य वृद्धने 'घटका लाना' अपना इष्टसाधन कर्तव्य समझा, इसलिए उसे लाया; परन्तु 'घटानयन' यह ज्ञान उसे कैसे हुआ ? यह सोचकर फिर अनुमान करता है कि उक्त शब्दके श्रवणसे पहले इस कर्ममें उसकी प्रवृत्ति नहीं हुई थी और उक्त शब्दके सुननेके बाद ही इस कार्यमें उसकी प्रवृत्ति हुई, इसलिए ज्ञात होता है कि घटानयनका ज्ञान 'घटमानय' इस वाक्यसे हुआ । यह वाक्य इसी अर्थका बोधक है, अर्थान्तरका नहीं, इससे मालूम होता है कि इस वाक्यका इस अर्थमें कोई सम्बन्ध अवश्य है । इस प्रकार प्रथम वाक्यमें वाक्यार्थका संसर्ग गृहीत होता है । वही संसर्ग शक्ति है । शब्द, अर्थ आदिका प्रत्यक्ष, वाक्यार्थज्ञानकी अनुमिति और अर्थका वाक्यमें अर्थापत्तिसे सम्बन्धज्ञान होता है। इस रीतिसे प्रत्यक्ष, अनुमान और अर्थापत्ति—इन तीन प्रमाणोंसे शक्तिग्रह होता है । इसलिए प्रत्यक्षादि उपजीव्य हैं । वाक्यमें वाक्यार्थनिरूपित शक्तिग्रहके बाद आवापोद्वापसे क्रमशः पदोंमें पदार्थनिरूपित शक्तिका ज्ञान होता है । अतः प्रत्यक्ष और अनुमान ये दोनों उपजीव्य हैं । इनके बिना शब्दमें शक्तिग्रह नहीं होता । इस कारण श्रुति भी स्वार्थमें स्वपदोंकी व्युत्पत्तिके लिए वर्णादिविषयक प्रत्यक्ष तथा उक्त रीतिसे अनुमान—इन दोनोंकी अपेक्षा करती है, अतः प्रत्यक्ष तथा अनुमान ये दोनों श्रुतिके उपजीव्य हैं । उपजीव्यका विरोध तथा बाध अनुचित है, इसलिए प्रत्यक्ष और अनुमान ही श्रुतिसे बलवान् हैं । प्रत्यक्ष असंजातविरोधी है । सामान्यतः द्वैतनिषेधक श्रुतिकी अपेक्षा घटादिसत्त्वग्राही प्रत्यक्ष विशेषविषयक है । विशेष शास्त्रसे सामान्य शास्त्रका संकोच

निषेधविध्योर्यच्छास्त्रं चित्तशुद्ध्युपकारि तत् ।
ऐक्यशास्त्रेणोपजीव्यं प्रबलं तेन तन्मतम् ॥ ३८९ ॥
तत्तु भेदाश्रयेणैव विधत्ते च निषेधति ।
तस्मादभेदशास्त्रस्य बाधो विध्यादिशास्त्रतः ॥ ३९० ॥

होता ही है। अतएव 'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि' इस सामान्य वचनका 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' इस विशेष शास्त्रसे अग्नीषोमीयसे अतिरिक्त पशुहिंसाके निषेधमें तात्पर्य माना जाता है। प्रत्यक्षके सदृश अनुमान भी उपजीव्य है। सो कह चुके हैं ॥३८८॥

अद्वैतशास्त्रसे कर्मकाण्डशास्त्रका बाध न होनेमें कारणान्तर कहते हैं— 'निषेधविध्यो०' इत्यादिसे ।

'मा हिंस्यात्' इत्यादि निषेधशास्त्र और 'यजेत', 'जुहुयात्' इत्यादि विधिशास्त्र जो निषेध तथा विधिके बोधक हैं, वे भी साक्षात् या परम्परया चित्तकी शुद्धिके लिए हैं, क्योंकि शुद्ध चित्तमें अद्वैतवाक्य द्वारा आत्मैक्यबुद्धि होती है, अतएव 'ज्ञानं संजायते पुंसां क्षयात् पापस्य कर्मणः' इत्यादि वचन उपपन्न होते हैं। अतः उक्त शास्त्र भी उपजीव्य हैं। उपजीव्य प्रबल माना जाता है, इसलिए अभेद-बोधक श्रुतिसे इनका बाध नहीं हो सकता। 'बलवता दुर्बलं बाध्यते' यह न्याय लोकमें भी प्रसिद्ध है, इसलिए प्रबल प्रत्यक्षादि प्रमाणोंके अनुरोधसे श्रुतिको उपचरितार्थ मानना ही समुचित है ॥३८९॥

'तत्तु भेदाश्रयेणैव' इत्यादि। परस्परविरोधी प्रमाणोंके अनुरोधसे ब्रह्ममें न तो विकल्प ही हो सकता है और न समुच्चय ही। किन्तु बाध्य-बाधकभाव होना आवश्यक है, अतः द्वैतके अनुसार ही अद्वैतागमका अर्थ करना ठीक है। विधि-निषेधबोधक वाक्यसे भेदाश्रित साध्य-साधन, इतिकर्तव्यता आदि भेदके विना किसी कर्मका विधान या निषेध नहीं हो सकता, अतः भेदावलम्बी ही विधि तथा निषेध शास्त्र हैं, इसलिए ऐक्यशास्त्रका उक्त शास्त्रोंसे बाध ही मानना समुचित प्रतीत होता है ॥३९०॥

यदि अद्वैतशास्त्रका बाध माननेसे उक्त शास्त्र ही व्यर्थ हो जायगा, ऐसी शङ्का हो, तो उसे औपचारिक मान सकते हैं, क्योंकि सर्वथा बाधकी अपेक्षा

औपचारिकमैकात्म्यशास्त्रं कर्त्रात्मसम्भवात् ।
सावकाशं भवेद् यद्वा जपार्थमुपयुज्यते ॥ ३९१ ॥
भेदसाधकमक्षादि भेदादन्यत्र कुत्र वा ।
सावकाशं ततस्तस्य बाधो नैकात्म्यशास्त्रतः ॥ ३९२ ॥

औपचारिक मानना ठीक है, ऐसा कहते हैं—'औपचारिक०' इत्यादिसे ।

जैसे इस ग्राममें यह अद्वितीय पुरुष है, इस लौकिक वाक्यका यह अर्थ नहीं है कि इस ग्राममें यही पुरुष है, दूसरा कोई है ही नहीं । किन्तु इसके सदृश चरित्रवान् दूसरा नहीं है अर्थात् सजातीय द्वितीयके निषेधमें ही उक्त वाक्यका तात्पर्य है । अन्यथा ग्रामका ही निर्देश असङ्गत हो जायगा, क्योंकि जनगृहसमुदायका ग्रामशब्दसे लोकमें व्यवहार होता है, वैसे ही प्रकृतमें ब्रह्मका सजातीय द्वितीय नहीं है, इस तात्पर्यसे ब्रह्मके विषयमें 'एकमेवाऽद्वितीयम्' कहा जाता है, ऐसा माननेपर द्वितीय वस्तुका निराकरण नहीं होता, अतएव भेदाश्रयविधि-निषेधबोधक शास्त्र भी संगत हो जाते हैं और आत्मा कर्ता-भोक्ता भी माना जा सकता है । अद्वैतबोधक आगम भी सजातीय द्वितीयके निषेधका बोधक होनेसे सावकाश भी होता है और कर्मविधिनिषेधशास्त्र भी स्वविषयमें सार्थक होते हैं, अतः प्रत्यक्षादि प्रमाणका विरोध भी शान्त हो जाता है । यह अभूतपूर्व कल्पना नहीं है, क्योंकि 'आदित्यो यूपः', 'यजमानः प्रस्तरः' इत्यादि वाक्योंका प्रत्यक्षादि प्रमाणके साथ विरोधके परिहारके लिए आदित्यादि-सदृश ही अर्थ है, यह सब विद्वानोंने स्वीकार किया है । अथवा अद्वैत-श्रुतियोंका अर्थ विवक्षित नहीं है । किन्तु हुं, फट् आदिके तुल्य केवल वे जपके लिए हैं, ऐसा माननेपर भी उक्त श्रुति चरितार्थ हो जाती है, अदृष्टार्थक वाक्योंकी सार्थकताका यह भी उपाय है । किसी अनुष्ठेय अर्थका तो विधान है नहीं, जिससे तदर्थज्ञानकी आवश्यकता हो । सावकाश और निरवकाशमें निरवकाश बलवान् होता है, इस न्यायसे द्वैतग्राही मान द्वैतके विना अनवकाश है; अतः द्वैतशास्त्रसे उक्त रीतिसे सावकाश अद्वैतशास्त्रका प्रकृतमें बाध होता है ॥३९१॥

वैपरीत्यशङ्काका निराकरण करते हैं—'भेदसाधक०' इत्यादिसे ।

द्वैतशास्त्र तथा प्रत्यक्षादि प्रमाण द्वैतके विना कहाँ सावकाश हैं ? कहीं नहीं, इसलिए भेदग्राही प्रमाणका ऐकात्म्यशास्त्रसे बाध नहीं हो सकता । बाध्यतासाधक सावकाशत्व भेदग्राही प्रत्यक्षादि प्रमाणोंमें है नहीं, अतः प्रत्यक्षादि बाधक ही हो सकते हैं, उक्त शास्त्रसे बाध्य नहीं हैं ॥३९२॥

ऐकात्म्यबोधकत्वेऽपि वेदान्ता बाधितत्वतः ।
अप्रामाण्यं भजन्तीति पूर्वपक्षो व्यवस्थितः ॥ ३९३ ॥
उच्यते लोकतः सिद्धं भेदमाश्रित्य चोदना ।
प्रवृत्ता पुरुषार्थाय न तु भेदविबुद्धये ॥ ३९४ ॥
भेदस्य चाऽपुमर्थत्वात्तादर्थ्ये स्यादमानता ।
पुमर्थत्वेन चाऽस्येष्टं प्रामाण्यं वेदवादिभिः ॥ ३९५ ॥

'ऐकात्म्य०' इत्यादि । निरवकाश प्रत्यक्षादि प्रमाणसे ऐकात्म्यबोधक आगम बाधित है, इसलिए वेदान्त स्वार्थमें प्रमाण नहीं है, यह पूर्वपक्ष है ॥३९३॥

उक्त पूर्वपक्षका समाधान करते हैं—'उच्यते लोकतः' इत्यादिसे ।

विधिनिषेधबोधक कर्मकाण्ड प्रत्यक्षादि लौकिक प्रमाणसे सिद्ध भेदका आश्रयण कर इष्टप्राप्ति तथा अनिष्टपरिहारके लिए प्रवृत्त होते हैं, भेदके प्रतिपादनके लिए नहीं, क्योंकि भेद प्रमाणान्तरसे अनवगत नहीं है, जिससे कि उसके प्रतिपादनमें भी उक्त शास्त्रोंका तात्पर्य माना जाय, कारण कि 'अविज्ञाते शास्त्रमर्थवत्' इस न्यायसे जो प्रमाणान्तरसे अज्ञात तथा पुरुषार्थ है, उसी अर्थमें शास्त्रका तात्पर्य माना जाता है । तात्पर्यगोचर अर्थमें ही शास्त्र प्रमाण होता है, इसलिए वही शब्दार्थ होता है । प्रकृतमें भेद प्रत्यक्षप्रमाणसे सिद्ध है, अतः उसके स्वरूपके प्रतिपादनमें न शास्त्रका तात्पर्य ही है और न वह शास्त्रार्थ ही है ॥३९४॥

भेदके बिना विधि और निषेध नहीं हो सकते, इसलिए भेदमें शास्त्रका तात्पर्य क्यों नहीं मानते ? इसका उत्तर देते हैं—'भेदस्य चा०' इत्यादिसे ।

भेद न पुरुषार्थ ही है और न पुरुषार्थसाधन ही, किन्तु दुःखसाधन है । 'द्वितीयाद् वै भयं भवति' (दूसरेसे भय होता है) यह श्रुति भी भेद अपुरुषार्थ है, इसका स्पष्ट निर्देश करती है । यदि भेदमें श्रुतिका तात्पर्य मानोगे, तो श्रुतिमें अप्रामाण्य हो जायगा । पुरुषार्थहेतु अपूर्वमें श्रुतिका तात्पर्य है, यह पूर्वाभ्युपगम भी विरुद्ध होगा । इसलिए भी भेदमें तात्पर्य नहीं है, ऐसा वेदवादी कहते हैं । भेद प्रत्यक्षादि लौकिक प्रमाणसे सिद्ध है, तथा अपुरुषार्थ है, इसलिए यद्यपि कर्मकाण्डका भेदमें तात्पर्य नहीं है, तो भी कर्तृ, कर्मादि भेदके बिना विधि और निषेधकी प्रवृत्ति और निवृत्ति नहीं हो सकती, इसलिए वह भेदाश्रित अवश्य है । इससे भेदको पारमार्थिक मानना चाहिए । इस शङ्काका उत्तर निम्न श्लोकसे दिया गया है ॥३९५॥

भेदाप्रमापिकाऽप्येषा चोदना भेदमाश्रयेत् ।
इति चेदल्पमेवोक्तमैक्यशास्त्रं च तादृशम् ॥ ३९६ ॥
गुरुशिष्यादिभेदेन विनैकात्म्यावबोधने ।
प्रवर्त्तेत कथं शास्त्रं तस्माद्भेदाश्रितं हि तत् ॥ ३९७ ॥
एवं तर्ह्युपजीव्येन विरोध इति मा वद ।
ऐक्यश्रुत्योपजीव्यस्य भेदस्याऽत्राऽनिराकृतेः ॥ ३९८ ॥

'भेदाप्रमापिका' इत्यादि। प्रत्यक्षादि प्रमाणसे सिद्ध आविद्यिक भेदका आश्रयण कर विधि और निषेध शास्त्रकी प्रवृत्ति और निवृत्ति होती है, ऐसा माननेमें यदि कोई दोष नहीं है, तो फिर पारमार्थिक भेद क्यों माना जाय ? और द्वैत-श्रुतियां भेदका आश्रयण करती हैं, यह बहुत थोड़ा कहा गया है, क्योंकि अद्वैतश्रुतियां भी परम्परया भेदका आश्रयण करती हैं। इसपर भी दृष्टि दीजिये कि ऐक्यज्ञानोत्पत्तिमें चित्तशुद्धिकी अपेक्षा है और चित्तशुद्धि विहितके अनुष्ठान एवं प्रतिषिद्धके वर्जनके विना नहीं होती। अनुष्ठान और परिवर्जन भेदके विना नहीं हो सकता। इस परम्परासे यद्यपि भेद अद्वैतश्रुतियोंका भी उपजीव्य है, तो भी पारमार्थिक भेद उपजीव्य नहीं हो सकता, अन्यथा अभेदबोधक श्रुतियां व्यर्थ हो जायँगी। इसलिए पारमार्थिक भेदनिराकरणपरक अद्वैतश्रुतियोंमें अपारमार्थिक भेद जैसे उपजीव्य है, वैसे ही द्वैत-श्रुतियोंमें भी अपेक्षित है, इस कारण भेदमें द्वैत-श्रुतियोंका तात्पर्य नहीं है, यह कहा गया है ॥ ३९६ ॥

उक्त अभिप्रायको स्फुट करनेके लिए कहते हैं—'गुरुशिष्यादि०' इत्यादि।

यदि ऐक्य-शास्त्रमें साक्षाद् भेदकी अपेक्षा है, तो फिर उक्त शास्त्रसे भेदका बाध कैसे हो सकता है ? स्वनिमित्तका बाध समुचित नहीं है। 'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्' इत्यादि श्रुतिसे गुरु द्वारा ब्रह्मज्ञानका विधान है, स्वतः नहीं। भेदके विना गुरु और शिष्यका अस्तित्व नहीं हो सकता। भेदनिबन्धन गुरुशिष्यभावके विना ऐकात्म्यबोधनके लिए शास्त्रकी प्रवृत्ति कैसे हो सकती है, अतः अद्वैतागम भी भेदाश्रित है ॥३९७॥

'एवं तर्ह्युप०' इत्यादि। यदि यह बात है, तो अद्वैतश्रुतिका उपजीव्यके साथ विरोध है, ऐसा न कहिये, कारण कि जो भेद श्रुतिका उपजीव्य है, उसका निराकरण श्रुति नहीं करती, जिसका निराकरण आवश्यक है। यदि वह श्रुतिका उपजीव्य नहीं है, तो फिर अद्वैतश्रुतिमें उपजीव्यविरोधका उद्भावन करना अज्ञानमूलक है ॥३९८॥

मायया कल्पितो भेद उपजीव्यो न वास्तवः ।
नेह नानेति शास्त्रेण वास्तवः प्रतिषिध्यते ॥ ३९९ ॥
दृश्यस्य मायिकत्वेन प्रसक्तिर्वास्तवे कुतः ।
इति चेत्तव विभ्रान्त्या प्रसक्तिरिति तुष्यताम् ॥ ४०० ॥
न भ्रमामीति चेत्तर्हि न त्वां प्रति निषिध्यते ।
यो भ्राम्यति विमूढोऽत्र तं प्रत्येव निषिध्यते ॥ ४०१ ॥

कौन भेद उपजीव्य है जिसका निराकरण श्रुति नहीं करती ? उसे निराकरणीय भेदके साथ कहते हैं—'मायया' इत्यादि ।

मायासे कल्पित भेद ही श्रुतिका उपजीव्य है, वास्तविक भेद नहीं । और 'नेह नानास्ति किञ्चन' इस श्रुतिसे वास्तविक भेद बाध्य है, कल्पित भेद नहीं ॥३९९॥

यहांपर यह शङ्का होती है कि वास्तविक भेद है या नहीं, यदि है तो उसका निषेध नहीं हो सकता । अन्यथा पारमार्थिक और अपारमार्थिकके बाधाबाधप्रयुक्त वैलक्षण्यका ही भङ्ग हो जायगा । पारमार्थिकका निषेध माननेपर आत्माका भी निषेध होनेसे शून्यवादकी आपत्ति आ जायगी और पारमार्थिकत्व परिभाषामात्र होगा । यदि भेद पारमार्थिक नहीं है, तो निषेध ही असंगत हो जायगा, क्योंकि वन्ध्यापुत्रका कोई निषेध नहीं करता । अतएव अप्रसिद्धप्रतियोगिक अभावको नैयायिकादि नहीं मानते हैं, इस शङ्काका परिहार करते हैं—'दृश्यस्य मायिकत्वेन' इत्यादिसे ।

दृश्यमात्र मायिक है । भेद भी दृश्य है, अतः मायिक ही भेद रह सकता है । मायिक भेदमें पारमार्थिकत्वकी प्रसक्ति नहीं है, अतः उसका निषेध नहीं हो सकता, क्योंकि अप्रसक्तका निषेध नहीं होता । इसपर कहते हैं—तुम्हारी भ्रान्तिसे ही भेदमें पारमार्थिकत्वकी प्रसक्ति हुई है, क्योंकि तुम्हीं कहते हो कि भेद पारमार्थिक है । अतः भ्रान्तिप्रसक्त पारमार्थिकत्वका श्रुतिसे निषेध किया जाता है, इस उत्तरसे सन्तुष्ट हो जाओ ॥४००॥

'न भ्रमामि' इत्यादि । यदि कहो कि हमको भेदमें पारमार्थिकत्वका भ्रम नहीं है, तो आपके प्रति निषेध भी नहीं है । जो कोई 'भेद पारमार्थिक है' यह मानते हैं, उन मूढ़ोंके प्रति निषेध करते हैं । अन्य जगहमें अनुभूत पदार्थका अन्यत्र भ्रम होता है । भेदके सत्यत्वका यदि कहीं अनुभव ही नहीं हुआ है, तो उसका भ्रम कैसा ? यह शङ्का है ॥४०१॥

अत्यन्तादृष्टविषयो भ्रमादपि न भासते ।
इति चेद्रज्जुसर्पोऽयं क्व वा दृष्टस्त्वया पुरा ॥ ४०२ ॥
सत्यः सर्पः पुरा दृष्ट इति चेन्मायिकी भिदा ।
किं न दृष्टा पुरा येन न भवेत् सत्यभेदधीः ॥ ४०३ ॥

'अत्यन्ता०' इत्यादि। अत्यन्त अदृष्टका अर्थात् जो कभी दृष्टिगोचर नहीं हुआ है, उसका कभी भ्रमसे भान नहीं होता, अन्यथा आकाशपुष्पका भी भान हो जायगा, पर ऐसा होता नहीं है। इसलिए ऐसा नियम माना जाता है कि जो कहीं पहले प्रमाणसे प्रमित है, उसीका दोषवश भ्रममें भान होता है। जैसे शुक्तिशकलमें यह रजत है, ऐसा भान होता है, रजत पहले अनुभूत है, शुक्तित्वका दोषवश भान नहीं होता। पुरःस्थित सितभास्वर द्रव्यका इदंसे भान होता है। तद्गत श्वैत्यदर्शनसे रजतसंस्कार समुद्बुद्ध होता है, उससे रजतविषयक स्मरण होता है। यहां भी दोषवश तत्ताका प्रमोष होता है। शुक्तिरजतके भेदाग्रहसे पुरोवर्ती शुक्तिमें रजतका आरोप 'इदं रजतम्' इस भ्रमसे होता है। अन्यथाख्यातिवादी नैयायिकके मतानुसार यह आक्षेप है। अपूर्व आविद्यक रजतादिविषयका भ्रममें भान होता है, इस वेदान्तिमतका आश्रयण कर उक्त आक्षेपका उत्तर देते हैं—प्रथम रज्जुसर्पको आपने कहां देखा है? कहीं भी नहीं। प्रत्यक्ष वर्तमान और संनिकृष्ट विषयका होता है। कालान्तर और देशान्तरमें स्थित सर्पविषयक भ्रम रज्जुमें नहीं हो सकता, किन्तु अविद्या स्वयं रजताकारसे परिणत होती है और तदाकार परिणत मायावृत्तिसे उसका भान होता है। समारोपित सर्पादि चाक्षुष नहीं हैं। वे प्रतिभामात्र-शरीर होनेसे भानसे पहले नहीं रहते, अतः इन्द्रियासंनिकृष्ट होनेसे इन्द्रियग्राह्य नहीं हैं, किन्तु साक्षिभास्य माने जाते हैं। और 'नाऽयं सर्पः' 'रज्जुरेषा' इस अधिष्ठानज्ञानसे कार्य सर्पके साथ तदुपादान अज्ञानकी निवृत्ति होती है। इस अभिप्रायसे प्रश्न करते हैं—पहले रज्जुसर्पको तुमने कहां देखा है ॥४०२॥

यदि पूर्वदृष्ट सजातीयका ही भ्रममें भान होता है, ऐसा कहो, तो प्रकृतमें भी वह है, ही ऐसा कहते हैं—'सत्यः सर्पः' इत्यादिसे।

रज्जुसर्पदर्शनसे पहले सत्य सर्प देखा है, इसलिए उसके संस्कारसे जन्य स्मृति द्वारा रज्जुसर्पका भ्रम होता है, तो क्या मायिक भेद पहले

सत्यं सर्पं पुरा दृष्ट्वा रज्जुसर्पं यथेक्षते ।
मिथ्याभेदं पुरा दृष्ट्वा सत्यं भेदं तथेक्षताम् ॥ ४०४ ॥
अत्यन्तादृष्टसत्त्वोऽपि सत्यो भेदो भ्रमान्नृणाम् ।
विभातीति स्थितं तस्मात् प्रसक्तं सन्निषिध्यते ॥ ४०५ ॥

भेद पहले नहीं देखा है ? नहीं; अवश्य देखा है, तो फिर भेदमें सत्यत्वबुद्धि क्यों न होनी चाहिए ? यदि यह कहिये कि भेद कहीं प्रमित न होगा, तो अन्यत्र उसका आरोप भी कैसे होगा ? प्रमितका ही आरोप होता है, ऐसा नियम नहीं है, किन्तु ज्ञातका आरोप होता है, अज्ञातका नहीं, ऐसा नियम है । ज्ञान भ्रम हो या प्रमा ? इसमें आग्रह नहीं है । यद्यपि पूर्वदृष्ट भेदमें मिथ्यात्वका अनुभव नहीं हुआ है तथापि वस्तुतः मिथ्यात्वविशिष्ट भेदका ज्ञान तो अवश्य हुआ है । तात्पर्य यह है कि जैसे पूर्वदृष्ट सत्य सर्पके सजातीय सर्पका ज्ञान रज्जुमें होता है, वैसे ही पूर्वदृष्ट मिथ्याभेदके सजातीय भेदमें सत्यत्वज्ञान भ्रमात्मक होता है । भ्रमप्रमासाधारण पूर्वज्ञान भ्रममें अपेक्षित है। प्रमोत्तर भ्रमके सदृश भ्रमोत्तर भी भ्रम होता है । लाघवसे पूर्वज्ञानमात्र आरोपमें कारण है, प्रमा नहीं, यह कह चुके हैं ॥ ४०३ ॥

अतिस्पष्ट करनेके लिए उक्त अर्थको ही फिर कहते हैं—'सत्यं सर्पम्' इत्यादिसे ।

जैसे पहले सत्य सर्पको देखकर रज्जुमें मिथ्या सर्प देखते हो, वैसे ही पहले मिथ्या भेद देखकर सत्य भेद देखो । यहांपर व्यावहारिकसत्यताके तात्पर्यसे सत्य-शब्दका प्रयोग किया गया है, वस्तुतः प्रपञ्चमात्रको मिथ्या माननेवाले वेदान्ती व्यावहारिक सर्पको भी नहीं मानते ॥ ४०४ ॥

'अत्यन्ता०' इत्यादि । यद्यपि भेद सत्यरूपसे प्रमित नहीं है, तथापि पूर्वानुभव-वासनासे सत्यरूपसे प्रतीत होता है । अतः प्रसक्त सत्यत्वमात्रका निषेध समुचित है । श्लोकार्थ यह है—अत्यन्तादृष्टसत्ताक सत्य भेद भ्रमसे मनुष्योंको प्रतीत होता है, अतः प्रसक्त है, इसलिए निषेध करते हैं । अतः अप्रसक्तप्रतिषेध दोष प्रकृतमें नहीं है । भेदके सत्यत्वमात्रका निषेध करते हैं, भेदका नहीं, ऐसा कहना ठीक नहीं है, कारण कि 'नेह नानास्ति किञ्चन' इत्यादि द्वैतमात्रका निषेध करनेवाली श्रुतिसे विरोध होगा, इसलिए भेदका भी निषेध होना चाहिए ॥ ४०५ ॥

आगमो मायिकं भेदं न निषेधति किन्त्विमम् ।
मायिको भेद इत्येव प्रत्युत प्रतिपादयेत् ॥ ४०६ ॥
यद्वदज्ञातमद्वैतं ब्रह्म ज्ञापयते तथा ।
भेदमायिकतां पुम्भिरज्ञातां ज्ञापयेच्छ्रुतिः ॥ ४०७ ॥

'आगमः०' इत्यादि । 'नेह नाना०' इत्यादि आगम मायिक भेदका निषेध नहीं करता, किन्तु भेद मायिक है, इसीका प्रतिपादन करता है, अन्यथा उपजीव्यके साथ विरोध प्राप्त होगा । पदपदार्थके भेदके विना वाक्यार्थका बोध ही नहीं होता । एक पदका तो वाक्य होता नहीं, किन्तु अनेक पदोंका वाक्य होता है । भेदका प्रतिषेध करनेपर पदमें एकत्वापत्ति हो जायगी एवं संसृष्टार्थबोध या संसर्गबोध मतभेदसे शाब्दबोध कहलाता है । एक पदार्थका दूसरे पदार्थमें अभिमत संसर्गबोध तब होगा, जब पदार्थ दो माने जायँगे । भेदके विना दो पदार्थ नहीं माने जा सकते, इसलिए वाक्यार्थ-बोधोत्पत्तिके लिए भेदका स्वीकार करना आवश्यक है । एवं आकाङ्क्षा, आसत्ति आदि शाब्दबोधके जनक कारणकलापके लिए भी भेद अपेक्षित है । कहां तक कहें ? भेदके विना सब व्यवहार ही लुप्त हो जायगा । अभेदमें तो कोई व्यवहार हो ही नहीं सकता । 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत्केन कं पश्येत्' इत्यादि श्रुतिसे आत्मैक्यदशामें सम्पूर्ण व्यवहारोंके अभावका ही परिज्ञान होता है । इसलिए ऐहिकामुष्मिक फल और उनके साधन आदिके व्यवहारके लिए आविद्यिक भेदका स्वीकार करना आवश्यक है । मोक्षके विरोधी पारमार्थिक भेदका श्रुति प्रतिषेध करती है। संसारदशामें व्यवहारके लिए मायिक भेदका श्रुति स्वयं प्रतिपादन करती है। 'यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति' यहां पर इवशब्दसे वस्तुतः द्वैताभाव सूचित होता है । 'पश्यति' यह क्रियामात्रका उपलक्षण है । ज्ञानपूर्वक ही व्यवहार होता है, इसलिए सब व्यवहारका निदान भेदज्ञान है एवं संसारानर्थका मूल भी भेद ही है, 'द्वितीयाद्वै भयं भवति' इत्यादि श्रुति यह स्पष्ट ही कहती है । अनर्थके मूलका निर्मूलन करनेसे ही संसारदुःखसे छुटकारा मिल सकता है, अन्यथा नहीं, इसलिए पारमार्थिक भेदका ही श्रुति निराकरण करती है, मायिकका नहीं । मायिक भेद तो स्वार्थबोधके अनुकूल होनेसे आदरणीय है ॥ ४०६ ॥

'यद्वदज्ञात०' इत्यादि । जिस प्रकार श्रुति अज्ञात अद्वैत ब्रह्मका ज्ञापन

न चाऽत्राऽपुरुषार्थत्वं ब्रह्मबोधाङ्गभावतः ।
न मायिकत्वमज्ञात्वा ब्रह्माऽद्वैतं विबुध्यते ॥ ४०८ ॥

करती है, उसी प्रकार पुरुषोंसे अज्ञात भेदमें मायिकताका भी बोधन करती है। भेदमें मायिकताका ज्ञान होनेपर भेद मिथ्या है, यह निश्चय होता है। तदनन्तर ब्रह्ममें अद्वैतत्वका निश्चय होता है। मायिक अज्ञान कल्पित है। ज्ञान अज्ञानका विरोधी है। ज्ञानसे अज्ञानकी निवृत्ति होनेपर अज्ञानसे कल्पित संसारकी निवृत्ति रूप अशेष दुःखकी निवृत्ति हो जाती है। अतः भेदपारमार्थिकत्वकी निवृत्ति भी पुरुषार्थ है और अज्ञात है, अतः अज्ञात पुरुषार्थकी ज्ञापक श्रुति उक्त अर्थमें प्रमाण है ॥४०७॥

भेदका निषेध पुरुषार्थ है, इसे स्पष्ट करनेके लिए कहते हैं—'न चाऽत्रा०' इत्यादि।

भेदका निषेध पुरुषार्थ नहीं है, अतः श्रुतिसे उसका बोधन करना व्यर्थ है, यह शङ्का नहीं कर सकते, कारण कि अद्वैत ब्रह्म परम पुरुषार्थ है। अद्वैतके ज्ञात होनेपर अद्वैत ब्रह्म ज्ञात होता है, अन्यथा नहीं। इसलिए अद्वैत-ब्रह्मज्ञानका अङ्ग है—भेदमें मायिकत्वज्ञान। भेदमें मायिकत्वके ज्ञानके बिना अद्वैत ब्रह्मको नहीं जान सकते, क्योंकि विशेषणज्ञानपूर्वक ही विशिष्ट बुद्धि हुआ करती है, अन्यथा नहीं। यद्यपि सकलधर्मशून्य ब्रह्म है, अतः उसमें अद्वैतत्व धर्म भी नहीं रह सकता है, अतः उक्त न्यायसे अद्वैतत्वज्ञान ब्रह्मज्ञानका अङ्ग कैसे हो सकता है? यह शङ्का हो सकती है, तथापि 'एक-मेवाऽद्वितीयं ब्रह्म' इत्यादि श्रुतियोंसे प्रथम द्वैताभावविशिष्ट ब्रह्मविषयक बोध होता है, इस विशिष्टबुद्धिमें द्वैताभावज्ञान अङ्ग है, पुनः द्वैताभावधर्म भी यदि ब्रह्ममें मानेंगे, तो अद्वितीयत्वकी उक्ति व्याहत हो जायगी, इसलिए अभावको अधिकरण-स्वरूप मानकर द्वितीयाभाव ब्रह्मस्वरूप ही है, यह कहा जाता है। लेकिन ऐसा कहनेमें अड़चन यह है कि द्वैताभाव साध्य है, ब्रह्म सिद्ध है। साध्य सिद्ध-स्वरूप कैसे हो सकता है? इसलिए द्वैताभावोपलक्षितब्रह्मविषयक निर्विकल्पक ज्ञान वस्तुतः परम पुरुषार्थ है, ऐसा सिद्धान्त माना जाता है। किन्तु इस सिद्धान्तके अनुसार द्वैताभावज्ञान अद्वैतब्रह्मज्ञानका अङ्ग नहीं हो सकता, क्योंकि अङ्गाङ्गिभाव विशिष्टज्ञानमें होता है, निर्विकल्पकमें नहीं। अद्वैतब्रह्मज्ञान विश्वका निवर्तक है, यह भी कहना नहीं बनता, क्योंकि विरोध होनेपर निवर्त्यनिवर्तकभाव होता है, अन्यथा

अद्वैते द्वैतविभ्रान्तिं द्वैते सत्यत्वविभ्रमम् ।
आपादयेदिदं माया रज्जुसर्पौ यथा तथा ॥ ४०९ ॥
रज्जौ सर्पत्वमारोप्य सर्पेऽस्मिन् रज्जुसत्यताम् ।
सम्बन्धयति, तेनाऽयं सत्यः सर्प इवेक्ष्यते ॥ ४१० ॥

नहीं । तद्वत्ताज्ञान और तदभाववत्ताज्ञानमें परस्पर विरोध होनेसे बाध्य-बाधकभाव होता है, किन्तु यह ज्ञान सविकल्पक है । निर्विकल्पक ज्ञान न किसीका बाधक ही होता है और न बाध्य ही होता है, यह कहना ठीक है । साक्षात् निर्विकल्पक ज्ञानमें बाध्यबाधकभाव नहीं होता है, किन्तु प्रथम द्वैताभावशिष्टब्रह्मज्ञान होता है, यह सप्रकारक है । इससे ब्रह्ममें द्वैतज्ञानका बाध होता है । तदनन्तर भी श्रुतितात्पर्यका पर्यवसान नहीं होता, इसलिए द्वैताभावोपलक्षित ब्रह्मका निर्विकल्पक ज्ञान मानना पड़ता है । विशिष्टज्ञानपूर्वक उक्त निर्विकल्पक ज्ञान माननेका तात्पर्य द्वैतनिवृत्तिमें है। प्रथम ही 'एकमेवाद्वितीयम्' इत्यादि वाक्यसे निर्विकल्पक बोध माननेपर अविरोधसे द्वैतनिवृत्ति न होगी और उक्त उपदेश अपुरुषार्थ हो जायगा, इस अभिप्रायसे सविकल्पक ब्रह्मज्ञानका अङ्ग होनेसे परमपुरुषार्थके हेतु निर्विकल्पकको भी अङ्ग कहनेमें कोई अनौचित्य नहीं है । अज्ञात और फलवत् ब्रह्मके तुल्य मायिक भेद भी अज्ञात और फलवत् है, इसलिए उसका श्रुति द्वारा प्रतिपादन किया जाता है । यद्यपि सामान्य अभेदमात्रका श्रुतिसे प्रतिषेध प्रतीत होता है, तथापि मायिक भेदके विना श्रुतिका वाक्यार्थबोध भी नहीं हो सकता, इसलिए सत्य भेदके निषेधमें ही श्रुतिका तात्पर्य निश्चित होता है । यदि भेद कल्पित है, यह श्रुति स्वयं ही प्रतिपादन करती है, तो इसीसे भेदमें सत्यत्वाभाव सिद्ध है, पुनः सत्यत्वका निषेध व्यर्थ है, इन शङ्काओंका परिहार करनेके लिए मायामें दो प्रकारके जो भ्रान्तिहेतुत्व हैं, उन दोनोंके निरासके लिए उन दोनों वचनोंकी आवश्यकता है ॥ ४०८ ॥

'अद्वैते' इत्यादि । अद्वैतमें द्वैतभ्रान्ति और द्वैतमें सत्यत्वभ्रान्ति मायाके प्रभावसे होती है । जैसा कि रज्जुमें सर्पभ्रान्ति और उसमें सत्यत्वभ्रान्ति दोषसे होती है । इन दोनों भ्रान्तियोंके विकासके लिए दो प्रकारकी माया मानी गई है ॥ ४०९ ॥

'रज्जौ सर्पत्व०' इत्यादि । रज्जुमें सर्पका आरोप कर उस आरोपित सर्पमें

तथैव ब्रह्मसत्यत्वं द्वैतसम्बद्धमीक्ष्यते ।
अतो द्वैतमिदं सत्यमिति मूढैर्विनिश्चितम् ॥ ४११ ॥
ब्रह्मैव सत्यं द्वैतं तु मायामयमिति श्रुतिः ।
प्रतिपादयितुं सत्यं द्वैतमत्र निषेधति ॥ ४१२ ॥
मायां तु प्रकृतिं विद्यादिति मायामयं जगत् ।
अभ्युपेत्य वियन्मुख्यां सृष्टिं ब्रूते प्रयत्नतः ॥ ४१३ ॥
श्रुत्या मायामयो भेदो य एषोऽभ्युपगम्यते ।
उपजीव्यः स एवातो नोपजीव्यविरोधिता ॥ ४१४ ॥

सत्यताका सम्बन्ध माया करती है, इससे भ्रमकालमें रज्जुसर्प सत्य प्रतीत होता है, वास्तविक सर्प तो है नहीं, अन्यथा 'इयं रज्जुः' इस ज्ञानसे उसकी निवृत्ति न होगी ॥ ४१० ॥

दार्ष्टान्तिकमें उक्त अर्थका समन्वय करते हैं—'तथैव' इत्यादिसे ।

उक्त रीतिसे माया द्वैतकी प्रतीति कराती है और द्वैतमें रज्जुसर्पके सत्यत्वके समान अधिष्ठान ब्रह्मके सत्यत्वका आरोप करती है, इस कारण मूढ लोग द्वैतको सत्य मानते हैं ॥ ४११ ॥

'ब्रह्मैव सत्यम्' इत्यादि । ब्रह्म ही सत्य है; द्वैत तो मायामय है, ऐसा श्रुति प्रतिपादन करती है, इस कारण वह ब्रह्ममें द्वैतका निषेध करती है। और द्वैतमें सत्यत्वके निषेधके विना मायामयत्वका प्रतिपादन नहीं हो सकता, इसलिए उक्त निषेध भी आवश्यक है ॥४१२॥

जिस वाक्यसे जगत्में मायिकत्वका बोध होता है, उसे कहते हैं—'मायां तु' इत्यादिसे ।

सत् और असत्से अनिर्वचनीय माया जगत्की उपादान है । उपादानका उपादेयके साथ अभेद है, इसलिए जगत् भी मायामय है; यह मानकर 'एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः' इत्यादि वाक्यसे मायामय जगत्को मानकर सृष्टिका प्रतिपादन प्रयत्नसे किया गया है ॥४१३॥

'श्रुत्या' इत्यादि । भेद मायामय है, यह जो मानते हैं, सो मायिक भेद ही श्रुतिका उपजीव्य है, पारमार्थिक भेद नहीं । अतः भेदके सत्यत्वका निराकरण करनेसे उपजीव्यविरोधकी शङ्का नहीं है । व्यवहारकालाबाध्यस्वरूप व्यावहारिक भेद ही प्रत्यक्षादि प्रमाणका उपजीव्य है, पारमार्थिक नहीं ॥४१४॥

निषेधविधिशास्त्रं च कल्पितं भेदमाश्रयेत् ।
तस्मान्न वास्तवाद्वैतशास्त्रं तेनाऽत्र बाध्यते ॥ ४१५ ॥
अक्षादीनां च मध्ये किं मानं भेदावबोधकम् ।
प्रत्यक्षमनुमानं वा मानाभावोऽथवेर्यताम् ॥ ४१६ ॥
प्रत्यक्षं वस्तुबोध्येव न तु भेदावबोधकम् ।
न च भेदस्य वस्तुत्वं वस्तुतत्त्वाश्रुतत्वतः ॥ ४१७ ॥

'निषेध०' इत्यादि। 'अग्निहोत्रं जुहुयात्' इत्यादि विधिशास्त्र और 'मा हिंस्यात्' इत्यादि निषेधशास्त्र कल्पित व्यावहारिक भेदका आश्रयण करते हैं; पारमार्थिकका नहीं, इस कारण वस्तुतः वे अद्वैतशास्त्रके बाधक नहीं हो सकते, विरोध होनेपर ही बाध्य-बाधकभाव होता है। यदि श्रुतिसे व्यावहारिक भेदका निषेध होता और प्रत्यक्षादिमें पारमार्थिक भेद ही निमित्त होता, तो विरोध होनेसे बाध्य-बाधकभावकी सम्भावना होती, सो प्रकृतमें नहीं है, क्योंकि विषयके भेदसे दोनों अपने-अपने विषयमें व्यवस्थित हैं। पारमार्थिक भेदका निषेध अद्वैत श्रुतिका विषय है और व्यावहारिक भेद प्रत्यक्षादि प्रमाणका निमित्त है, अतः अद्वैतागमका प्रत्यक्षादिसे बाध नहीं है॥४१५॥

'अक्षादीनां च' इत्यादि। प्रत्यक्षादि प्रमाणोंमें कौन-सा प्रमाण भेदबोधक है, प्रत्यक्ष अथवा अनुमान किंवा मानाभाव? यहाँपर अनुमान उपमान और अर्थापत्तिका उपलक्षण है। शब्द भेदबोधक नहीं है, यह निरूपण कर चुके हैं। उक्त प्रमाणोंमें से एक भी प्रमाण भेदबोधक नहीं हो सकता, इस अर्थको अति-स्पष्ट करनेके लिए ही उक्त विकल्प किये गये हैं॥३१६॥

'प्रत्यक्षम्' इत्यादि। प्रथम कल्पके अनुसार प्रत्यक्ष भेदबोधक है, यह कहिये, तो ठीक नहीं है, कारण कि घटादिके ज्ञानक्षणमें भेदज्ञान होता है या क्षणान्तरमें? प्रथम पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष वस्तुबोधक है, भेद भी वस्तु है, तो उसका बोधक क्यों नहीं होगा? भेद वस्तु नहीं है, क्योंकि भेदकी वस्तुत्वेन श्रुति नहीं है। जो घटादिकी तरह वस्तु है, वह निरपेक्षबुद्धिग्राह्य है। प्रतियोगी और अधिकरणके ज्ञानसे सापेक्ष बुद्धि द्वारा ग्राह्य भेद वस्तु नहीं है। यह भी विचार कीजिये कि भेद घटस्वरूप है या अतिरिक्त? यदि घटस्वरूप है, तो घटमें ही अन्तर्गत होनेसे उसे भावस्वरूप मानना चाहिए, अभावस्वरूप मानना उचित नहीं है। यदि घट निरपेक्षबुद्धिग्राह्य है; तो भेद सापेक्षबुद्धिग्राह्य कैसे हुआ? यदि अतिरिक्त मानें, तो भेदविशिष्टमें भेद रहता है कि भेदशून्यमें?

न सिद्ध्यति विना भेदो भिद्यमानेन वस्तुना ।
अतो भेदाश्रयत्वेन वस्तु सिद्ध्यति मानतः ॥ ४१८ ॥

भेदशून्यमें भेद माननेमें तो व्याघात स्पष्ट है। प्रथम कल्पमें स्वविशिष्टमें अपनी स्थिति, आत्माश्रय दोष होनेसे, नहीं हो सकती। यदि भेदद्वय मानें, तो द्वितीय भेदको लेकर प्रश्न होता है कि द्वितीय भेद भेदविशिष्टमें है या भेदशून्यमें? अन्त्यमें पूर्ववद् व्याघात है। आद्य पक्षमें परस्पर भेदविशिष्टमें परस्पर स्थिति माननेसे अन्योन्याश्रय होगा। तीन भेद माननेमें चक्रक दोष होगा। तीनसे अधिक भेद माननेमें पूर्वोक्त रीतिसे अनवस्था दोष स्पष्ट है। 'घटः पटभिन्नः' इत्यादि व्यवहार एक ही भेदसे उपपन्न हो जाता है, फिर अनेक भेदकी कल्पना व्यर्थ तथा प्रमाणशून्य है। अनेक भेदकी प्रतीति अनुभवसिद्ध नहीं है और पटभेद यदि घटका धर्म है, ऐसा माना जाय, तो पट भी घटका धर्म हो जायगा। पटसे उपलक्षित भेद घटका धर्म है, पर उपलक्षण पट घटका धर्म न हो, तो प्रतियोगीके विना भेदकी प्रतीति नहीं होगी, इसलिए भेदमें प्रतियोगी उपलक्षण नहीं हो सकता। इसी तरह वैधर्म्यलक्षण भेद माननेसे भी निस्तार नहीं है। घटमें पटवैधर्म्य घटत्व है, पटमें घटवैधर्म्य पटत्व है, यही परस्पर भेद है, यदि ऐसा मानें, तो घटत्व-पटत्वमें परस्पर क्या वैधर्म्य है? यदि उसमें कुछ भी वैधर्म्य कहें, तो उस वैधर्म्यमें क्या वैधर्म्य है? इत्यादि प्रश्नसे अनवस्था होगी। यदि घटत्व, पटत्वादिमें वैधर्म्यान्तर न मानें, तो घटत्व और पटत्वका ही अभेद हो जायगा। ऐसी परिस्थितिमें घटत्वका पटमें और पटत्वका घटमें निषेध करनेपर घटत्वका घटमें और पटत्वका पटमें निषेध सिद्ध हो जायगा। घटत्व-पटत्वशून्य घट और पटका भी अभेद हो जायगा। अभेदविरोधी वैधर्म्यलक्षण भेद तो घट और पटमें है नहीं। और घटादिवस्तुग्राहक प्रत्यक्ष यदि घटग्रहणकालमें ही घटादिनिष्ठ पटादिभेदका ग्राहक होगा, तो भ्रमज्ञानका उच्छेद हो जायगा। 'इदं रजतम्' इस ज्ञानसे शुक्तिशकलके ग्रहणसमयमें शुक्तिशकलनिष्ठ रजतका भी ग्रहण हो जायगा। भेदाग्रह भ्रममें कारण है। उक्त कारणके अभावसे भ्रमज्ञानकी उत्पत्ति ही न होगी, अतः वस्तुग्रहणकालमें वस्तुग्राहक ज्ञानसे भेदका ग्रहण होता है, यह कहना सर्वथा असङ्गत है ॥ ४१७ ॥

'न सिद्ध्यति' इत्यादि। प्रथम पक्षके निराकरणका उपसंहार करते हैं— 'अतः' इत्यादिसे।

मितिर्वस्तु प्रसाध्याथ न क्षमा भेदसाधने ।
विरम्य व्यापृतिर्नास्ति प्रमितेः क्षनिकत्वतः ॥ ४१९ ॥
वस्तुमात्र उपक्षीणात्प्रत्यक्षान्न तु भेदधीः ।
यथा तथाऽनुमानाच्च परस्परसमाश्रयात् ॥ ४२० ॥
विरुद्धकर्मधर्मत्वे धर्मिभेदोऽनुमीयते ।
एकस्मिन्ननवस्थानं विरोधो धर्मयोर्मतः ॥ ४२१ ॥

भिद्यमान घटादि वस्तुके विना पटादिमें घटादिभेदकी सिद्धि नहीं होती है, क्योंकि भेदग्रह भिद्यमानतन्त्र है अर्थात् भिद्यमान घटादिस्वरूप प्रतियोगीके ज्ञानके विना पटादिमें घटादिभेदका ज्ञान नहीं होता, अतः भेदाश्रय पटादि वस्तुमात्रकी सिद्धि पटादिज्ञानसे होती है, भेदकी नहीं ॥ ४१८ ॥

द्वितीय विकल्पके अनुसार घटादिग्राहक ज्ञान द्वितीय क्षणमें भेदका ग्रहण करता है, इसका निराकरण करते हैं—'मितिर्वस्तु' इत्यादिसे ।

ज्ञान वस्तुका ग्रहण करके पश्चात् द्वितीय क्षणमें भेदका ग्रहण करता है, यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि क्षणिकज्ञानमें विरम्य अर्थात् ठहर कर पुनः व्यापार नहीं होता, कारण कि 'शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावः' यह सब शास्त्रकारोंका सिद्धान्त है, इसलिए किसी भी पक्षसे वस्तुग्राहक ज्ञानसे भेदका ग्रहण बन नहीं सकता ॥ ४१९ ॥

प्रत्यक्षके सदृश अनुमान भी भेदबोधक नहीं है, यह कहते हैं—'वस्तुमात्र' इत्यादिसे ।

वस्तुस्वरूपमात्रके ग्रहणमें उपक्षीण प्रत्यक्षसे भेदका ज्ञान जैसे उक्त रीतिसे नहीं होता, वैसे ही परस्पराश्रय दोपसे अनुमान द्वारा भी भेदबुद्धि नहीं होती ॥ ४२० ॥

'विरुद्धकर्म०' इत्यादि। विरुद्ध कर्म (पूर्व-पश्चिममें युगपत् गत्यादि) एवं धर्म—घटत्वपटत्वादि—से धर्मिभेदका अनुमान होता है, कर्म तथा धर्ममें विरोध है, एक धर्मीमें साथ न रहना सहानवस्थान है। परस्पराश्रय इस प्रकार है—विमतौ घटपटौ भिन्नौ, विरुद्धधर्मवत्त्वात् , गवाश्ववत्; इस अनुमानमें हेतु है—विरुद्धधर्मवत्त्व। घटत्वपटत्वमें विरोधज्ञान कैसे होता है? इमौ विरुद्धौ, नियमेन धर्मिद्वयनिष्ठत्वात्—अर्थात् घटत्व और पटत्व ये दोनों धर्म विरुद्ध हैं, क्योंकि नियमसे सदा दो धर्मियोंमें

द्विधर्मिस्थत्वनियमाद्विरोधेऽनुमिते सति ।
अनुमेयो धर्मिभेद इत्यन्योन्यसमाश्रयः ॥ ४२२ ॥
अथाऽविरुद्धधर्माभ्यामपि धर्मी विभिद्यते ।
तर्हि दाहप्रकाशाभ्यामग्नेर्भेदः प्रसज्यते ॥ ४२३ ॥
अर्थापत्तिरनेनैव न्यायेनाऽत्र निराकृता ।
उपमानमनाशङ्क्यं तस्य सादृश्यसंक्षयात् ॥ ४२४ ॥

रहते हैं, इस अनुमानसे उक्त धर्ममें विरोधज्ञान होता है, धर्मिभेदज्ञान उक्त अनुमानके अधीन है, यह अन्योन्याश्रय स्पष्ट है ॥४२१॥

उक्त अर्थका ही स्पष्टीकरण करते हैं—'द्विधर्मि०' इत्यादिसे ।

घटत्व और पटत्व दो धर्मियोंमें ही—रहते हैं, इस नियमके ज्ञानसे उनके परस्पर विरोधका अनुमान होता है और उक्त विरोधके अनुमानसे धर्मिके भेदका अनुमान होता है, इस प्रकार अन्योन्याश्रय स्पष्ट ही है ॥४२२॥

'अनेकधर्मवत्त्वात्' इस द्वितीय कल्पके निराकरणके लिए कहते हैं—'अथाऽवि०' इत्यादि ।

यदि अविरुद्ध अनेक धर्मोंसे धर्मीका भेद माना जाय, तो दाह, प्रकाश आदि अनेक धर्मोंके रहनेसे अग्निमें भी स्वभेदकी प्रसक्ति हो जायगी, अतः अविरुद्ध अनेक धर्मोंकी स्थिति भेदसाधिका नहीं है, किन्तु विरुद्ध अनेक धर्मोंकी स्थिति ही भेदसाधिका है, ऐसा मानना होगा । लेकिन अन्योन्याश्रय दोष होनेसे वह भी भेदसाधक नहीं हो सकेगी, अतः भेदमें प्रमाण नहीं है, यह परम तात्पर्य है ॥४२३॥

अर्थापत्तिसे भी भेद सिद्ध नहीं हो सकता, यह कहते हैं—'अर्थापत्ति०' इत्यादिसे ।

अर्थापत्तिको नैयायिक अनुमानके अन्तर्गत मानते हैं, इसलिए अनुमानके ही दूषणोंसे अर्थापत्ति भी दूषित होगी । अर्थापत्ति अनुमानसे अतिरिक्त प्रमाण है, इस मतमें भी अर्थापत्तिमें अनुमानोक्त दूषण हैं ही, क्योंकि विरोधान्यथानुपपत्तिसे धर्मिभेदज्ञान और भिन्नधर्मिनिष्ठत्वज्ञानसे विरोधज्ञान, इस प्रकार अर्थापत्तिमें अन्योन्याश्रय दोष स्पष्ट है । उपमानमें तो भेदसाधकत्वकी शङ्का ही नहीं हो सकती, क्योंकि वह तो सादृशके ग्रहण करानेमें ही उपक्षीण हो जाता है ॥४२४॥

मानाभावोऽपि नैवाऽत्र भेदं बोधयितुं क्षमः ।
मेयाभावैकविषयो वादिभिः सोऽभ्युपेयते ॥ ४२५ ॥
नन्वन्योन्याभावमेव भेदमाहुर्विपश्चितः ।
मानाभावेन मेयोऽतो भेद इत्यप्यसङ्गतम् ॥ ४२६ ॥
मानाभावस्य मानत्वं मेयाभावस्य मेयता ।
न्यायं न सहतेऽतीव तल्लक्षणवियोगतः ॥ ४२७ ॥
अबुद्धबोधकं मानमिति मानस्य लक्षणम् ।
न च पञ्चप्रमाणानामभावो बोधकः क्वचित् ॥ ४२८ ॥

भेद अनुपलब्धि प्रमाणसे गम्य है, इसका निराकरण करते हैं—'मानाभावोऽपि' इत्यादिसे ।

प्रमाणाभाव भी भेदके बोधनमें समर्थ नहीं है, क्योंकि प्रमाणाभावरूप अनुपलम्भ मेयाभावैकविषय (मेयाभावका ही परिच्छेदक) है, ऐसा वादी लोग मानते हैं, अतः अनुपलब्धिसे अभावमात्रका ग्रहण होता है। वैधर्म्यलक्षण भेद तो अभावसे विलक्षण है, इसलिए अनुपलब्धि प्रमाणसे उक्त भेदका ग्रहण नहीं हो सकता ॥४२५॥

भेद अभावसे विलक्षण—वैधर्म्य-लक्षण—नहीं है, किन्तु वह अन्योन्याभाव-स्वरूप माना गया है, अतः उक्त प्रमाणका विषय है, यह कहते हैं—'नन्वन्यो०' इत्यादिसे ।

विद्वान् भेदको अन्योन्याभावस्वरूप मानते हैं, अतः वह अभावसे विलक्षण नहीं है, किन्तु अभावस्वरूप ही है, इसलिए वह अनुपलब्धि प्रमाणसे गम्य हो सकता है, यह कहना भी असङ्गत है ॥४२६॥

'मानाभावस्य' इत्यादि । प्रमाणाभाव प्रमाण है, प्रमेयाभाव प्रमेय है, यह कथन तो विचार करनेके योग्य भी नहीं है, कारण कि जो प्रमाणाभाव है, वह प्रमाण कैसे हो सकता है, क्योंकि प्रमाणाभाव प्रमाणका विरोधी होता है । यदि वह प्रमाणस्वरूप माना जाय, तो प्रमाणाभावका प्रमाणके साथ अत्यन्त अभेद हो जायगा एवं प्रमेयाभावको प्रमेय कहना भी नहीं बन सकता; क्योंकि इसमें भी उक्त विरोध है, अतः प्रमाणका लक्षण प्रमाणाभावमें और प्रमेयका लक्षण प्रमेयाभावमें नहीं जाता ॥४२७॥

प्रमाणाभावमें प्रमाणका लक्षण नहीं जाता, इस बातको स्पष्ट करनेके लिए प्रमाणका लक्षण कहते हैं—'अबुद्धबोधकम्' इत्यादिसे ।

अज्ञातज्ञापकत्व यह प्रमाणका लक्षण है। प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान,

निरस्तसर्वसामर्थ्याद्यद्यभावप्रमाणता ।
वन्ध्यापुत्रः प्रमाता स्यात्समत्वान्मातृमानयोः ॥ ४२९ ॥
योग्यस्याऽनुपलब्धिर्या मेयाभावस्य बोधने ।
तस्याः सामर्थ्यमिति चेन्न तत्सिद्धेरसम्भवात् ॥ ४३० ॥

शब्द और अर्थापत्ति—इन पांचों प्रमाणोंके अभाव कहीं भी किसी अर्थके बोधक नहीं माने जाते, कारण कि प्रमाण स्वसम्बद्ध प्रमेयके भासक होते हैं। सत्का सम्बन्ध सत्के साथ होता है, तुच्छ अभावके साथ तुच्छ अभावके संयोग आदि सम्बन्ध नहीं हो सकते। यदि असंबद्ध प्रमाणसे असंबद्ध प्रमेयका भान मानें, तो असंबद्धत्वाविशेषसे सम्पूर्ण जगत्का भान होने लगेगा। लेकिन ऐसा होता नहीं है, अतः प्रमाणसंबद्ध प्रमेयका ही भान मानना समुचित है। जैसे नीलका घटके साथ सम्बन्ध है, वैसे ही अभावका सम्बन्ध यदि भावके साथ होगा, तो भाव और अभावका विरोध ही शान्त हो जायगा ॥४२८॥

विरोध न रहनेसे अभावसे भावका अपह्नव नहीं हो सकेगा और निरस्त-समस्तसामर्थ्य अभाव यदि किसी प्रमितिका जनक होगा, तो बन्ध्यापुत्र भी किसीका प्रमापक होगा, यह दोष कहते हैं—'निरस्तसर्व०' इत्यादिसे।

सर्वसामर्थ्यहीन अभावमें यदि अन्यप्रमितिजनकत्व है, तो बन्ध्यापुत्रको भी प्रमाता—प्रमासमवायी—मान सकते हैं। प्रमाता और प्रमाणमें समता है। प्रमितिकरण प्रमाण है। यदि अत्यन्तासत्पदार्थ भी प्रमितिका करण होगा, तो प्रमितिका कारण प्रमाता भी अत्यन्त असत् हो सकता है, क्योंकि कारणत्वरूप सामान्य धर्म दोनोंमें समान है, कारणविशेष ही करण और कर्ता होते हैं, सामान्य धर्म कारणत्व दोनोंमें रहता है। अनुपलब्धि अभावके ज्ञानमें प्रमाण नहीं है, इसमें साधक कहते हैं—समस्तसामर्थ्य-राहित्य। सो ठीक नहीं है, क्योंकि योग्यानुपलब्धि अभावसाधक है, यह अनुभवसिद्ध है। जैसे किसीने पूछा कि घट है? तो उत्तरदाता स्पष्ट निरीक्षण करके कहता है—नास्ति घटः, अनुपलब्धेः, यदि स्यादुपलभ्येत अर्थात् घट नहीं है, क्योंकि देख नहीं पड़ता, यदि होता, तो पटादिके सदृश देख पड़ता। पटादि देखनेपर घट नहीं दीख पड़ता, इसलिए नहीं है, यह सर्वानुभवसिद्ध है ॥ ४२९ ॥

अनुभवका अपलाप करना समुचित नहीं है, यह शङ्का करते हैं—'योग्य-स्यानु०' इत्यादिसे।

मेयाभावः प्रमाणानां यद्यभावेन गम्यते ।
प्रमाणानामभावस्य गमकः को भविष्यति ॥ ४३१ ॥
किञ्चाऽयं सर्वमानानामभावः कीदृगुच्यताम् ।
स्तैमित्यमात्मनः स्याच्चेत्तद्ब्रह्मैवास्मदीहितम् ॥ ४३२ ॥
विकल्पमात्ररूपोऽयमभावोऽतो न वास्तवः ।
नहि मायातिरेकेण भाववत्सिद्धिमश्नुते ॥ ४३३ ॥

जो योग्यानुपलब्धि है, उसमें प्रमेयाभावबोधनकी सामर्थ्य है, यह उक्त सर्वानुभवसे सिद्ध है, उसका अपलाप करना अनुचित नहीं है, किन्तु समुचित है, कारण कि अनुपलब्धिसाधक प्रमाणाभाव है। अनुपलब्धिमें यदि कोई प्रमाण ही नहीं है, तो अनुपलब्धि स्वयंसिद्ध है, फिर सर्वानुभवसिद्ध वह कैसे हो सकती है ॥४३०॥

अनुपलब्धिमें प्रमाणाभावको स्पष्ट करते हैं—'मेयाभावः' इत्यादिसे।

यदि प्रमाणाभावसे प्रमेयाभावकी प्रमिति होती है यह कहते हो, तो यह बतलाओ कि प्रमाणाभावकी प्रमिति किससे होती है ? प्रत्यक्षादि प्रमाणसे अनुपलब्धिका ज्ञान होता है यह तो कह ही नहीं सकते, अन्यथा अनुपलब्धिकी तरह मेयाभावका भी ज्ञान उक्त प्रमाणोंसे ही हो सकता है फिर अतिरिक्त अनुपलब्धि प्रमाणकी आवश्यकता ही क्या है ? यदि अभाव तुच्छ है, उसके साथ इन्द्रियादिका सम्बन्ध नहीं है, इसलिए अनुपलब्धि प्रमाणकी आवश्यकता है, तो प्रमाणाभावकी भी उपलब्धि उक्त कारणसे इन्द्रियादिसे नहीं हो सकती, इसलिए उसकी उपलब्धि यदि अनुपलब्धिसे ही कहिए, तो मानमेयभाव भेदाश्रित है, अभेदमें मानमेयभाव नहीं होता, अतः उपलब्ध्यभावसे उपलब्ध्यभावका ग्रहण कैसे होगा ? इसपर भी ध्यान देना चाहिए। दूसरी बात यह है कि अभाव दुर्निरूप है, इसलिए भी वह प्रमाण नहीं हो सकता ॥४३१॥

'किञ्चाऽयम्' इत्यादि। यह सर्वप्रमाणाभाव कैसा है यह कहिए ? आत्माकी निर्व्यापारावस्थिति अभाव है अथवा भावान्तर, किंवा भावविलक्षण ? प्रथम पक्षके अभिप्रायसे कहते हैं कि निर्व्यापारात्मावस्थान तो ब्रह्म ही है, उससे अतिरिक्त अभाव नहीं है, यही कहिए ॥ ४३२ ॥

'विकल्पमात्र०' इत्यादि। 'शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः' इस योगसूत्रके अनुसार जैसे विषयके न होनेपर भी शब्दज्ञान होता है, इसलिए वस्तुशून्यविषयक ज्ञान

विश्वं सदेव यस्येष्टं तस्याऽभावो मितेः कुतः ।
तेनाऽभावद्वारतोऽपि भेद आपाद्यते कथम् ॥ ४३४ ॥
यावत्किञ्चिज्जगत्यस्मिन्भेदकं वस्तु लक्ष्यते ।
अनापन्नादिमध्यान्तं सदेव तदितीक्ष्यताम् ॥ ४३५ ॥

विकल्पज्ञान कहलाता है, वैसे ही अभावज्ञान भी विकल्पात्मक ही है। उसका विषय अभाव कुछ नहीं है, अतः खपुष्पादिज्ञानके समान अभावज्ञानको भी समझना चाहिए। 'भावान्तरमभावो हि कयाचित्तु व्यपेक्षया' इस प्राचीनोक्तिके अनुसार यदि भावमें अभावका अन्तर्भाव कीजिए तो भावाद्वैतकी प्रसक्ति होगी अर्थात् भावसे अतिरिक्त कोई पदार्थान्तर नहीं है। यदि च भावका अभावमें अन्तर्भाव मानिये, तो अभावाद्वैतकी प्रसक्ति होगी, अतः अभाव वास्तविक पदार्थ नहीं है, इस कारण भावके सदृश अभाव पदार्थके सिद्ध नहीं होनेसे वह मायिक माना जाता है ॥४२३॥

'विश्वम्' इत्यादि। जिसके मतसे सम्पूर्ण विश्व सदात्मक है, उसके मतमें मितिका (बुद्धिका) अभाव ही है। यदि वह भी विश्वके अन्तर्गत ही है, तो 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इस श्रुतिके अनुसार वह भी सद्रूप ही है, अतिरिक्त नहीं। यदि विश्वके अन्तर्गत नहीं है, तो है ही नहीं, फिर सदात्मक है या असदात्मक ? इसका विचार ही निरालम्ब है। और यदि प्रतियोगीको भी सत् मानते हैं और अनुपलब्धिकी भी सत्ता मानते हैं, तो सत्त्वेन दोनोंको एकरूप ही मानना आवश्यक है, फिर दोनोंमें वैलक्षण्य नहीं वन सकता। भावाभावमें आप वैलक्षण्य मानते हैं, सो असङ्गत हो जायगा; अतः भेदका अन्योन्याभावमें अन्तर्भाव करनेपर भी प्रमाणसे अन्योन्याभावकी सिद्धि नहीं हो सकती, इसका उपसंहार करते हैं—'तेन' इत्यादिसे। इस कारण अभाव द्वारा भी भेदका आपादन कैसे करते हैं ? ॥४३४॥

भावभूत घट और घटत्व अर्थात् धर्मी और धर्मका जैसे परस्पर सम्बन्ध है, वैसे ही भाव और अभावका भी सम्बन्ध हो सकता है, इस शङ्काका निराकरण करनेके लिए दृष्टान्तासिद्धिका प्रदर्शन करते हैं—'यावत्किञ्च' इत्यादिसे।

भेदकरूपसे अभिमत घटत्व आदि निखिल धर्म आदि, मध्य और अवसान रहित अपरिच्छिन्न सन्मात्रस्वरूप ब्रह्म ही हैं, उससे अतिरिक्त नहीं, अतः प्रकृतमें दृष्टान्त ही नहीं है। घटत्व आदिके भी सन्मात्रस्वरूप होनेसे यदि उनमें

सदेवेदमिति स्पष्टं सन्मूला इति चाऽपरम् ।
श्रुत्योदाहारि नः साक्षात्सदैकात्म्यावबुद्धये ॥ ४३६ ॥

वास्तविक धर्मधर्मिभाव ही नहीं है, तो तद्वत् भावाभावका भी सम्बन्ध हो सकता है, यह कहना भी दृष्टान्तशून्य है ॥ ४३५ ॥

सब सन्मात्रस्वरूप है, इसमें प्रमाण कहते हैं—'सदेवेमिति' इत्यादिसे ।

यह प्रत्यक्षरूपसे उपलक्षित सब जगत् सन्मात्र ही है, [एवकारसे तदतिरिक्तकी व्यावृत्ति विवक्षित है] इससे स्पष्ट जाना जाता है कि ब्रह्मसे अतिरिक्त कुछ भी वास्तविक नहीं है । 'सन्मूलाः सोम्य इमाः सर्वाः प्रजाः' इत्यादि श्रुतिसे श्रुतार्थापत्ति द्वारा ब्रह्ममय जगत् है, ब्रह्मातिरिक्त सब कल्पित हैं, वास्तविक नहीं हैं, यह अर्थापत्ति प्रमाण द्वारा ज्ञात होता है। साक्षात्-परम्परा प्रमाणोपन्यासके तात्पर्यसे दो वचनोंका प्रकृतमें उपादान किया गया है, इससे आत्मा ही एक परमार्थ सत्य है, दूसरा नहीं; यह बोध हम लोगोंको होता है ।

अच्छा तो घटादिभेद पटस्वरूप न सही, किन्तु पटका धर्म है, ऐसा यदि माना जाय, तो क्या दोष है ? इस शङ्का पर कहते हैं—भेद वस्तुका धर्म है वा अवस्तुका ? यदि वस्तुका धर्म है, तो धर्मी वस्तु है और धर्मको भी वस्तु मानते हैं, ऐसी दशामें वस्तुत्वेन धर्मी और भेदरूप धर्म दोनों एक ही हो जाते हैं, इसलिए धर्मधर्मिभाव ही नहीं हो सकेगा । भेदघटित ही धर्मधर्मिभाव सर्वत्र दृष्ट है । यदि च धर्मभूत भेद अवस्तु है, तो धर्म और धर्मीका भेद तो हो सकता है, किन्तु धर्मी और प्रतियोगी घट-पटका अभेद हो जायगा, कारण कि भेद अवस्तु है, ऐसा कहते हो । अभेद पारमार्थिक वस्तु है, यह स्वतःसिद्ध होता है । भेद अवस्तु धर्म है, इस द्वितीय कल्पका आश्रयण करते हो, तो अवस्तु धर्म कहनेसे वस्तुरूप घटादिका धर्म भेद नहीं हैं, यह सिद्ध होता है, फिर घट और पटका ऐक्य ही सिद्ध होता है। ऐक्यमें बाधक वास्तविक वस्तु धर्मभेद नहीं है, यह स्वयं स्वीकार करते हो ? अच्छा तो वस्तु भिन्न-भिन्न स्वरूप है, यह मानेंगे । 'सदैव सौम्येद-मग्रमासीत्' इत्यादि श्रुतिके अनुसार सत्त्वरूपसे घट पट, आदिमें अभेद और घटत्वादिरूपसे भेद, इस प्रकार माननेसे भेदाभेदकी एकत्र स्थितिमें विरोध नहीं, अतएव विश्व भेदाभेदोभयविषयक प्रमाणका विषय माना जाता है ।

समाधान—यदि वस्त्वात्मना अभेद मानते हैं, तो अभेद ही प्रमेय होगा, भेद नहीं; कारण कि परमार्थ सद्वस्तुका स्वभावतः भेद तो हो नहीं सकता। पुरुषबुद्धिसे कल्पित भेद परमार्थ सत् नहीं कहलाता। भेद मेय है, वस्तुस्वरूप होनेसे, घटकी तरह, इस अनुमानसे यदि भेदको वस्तुस्वरूप मानें, तो वह अभावात्मक नहीं होगा। यदि स्वका स्वमें भेद नहीं है, अतः स्वकी अपेक्षासे वस्तु है, अन्यकी अपेक्षासे अभावात्मक भेद है, तो जो सत्य वस्तु है, वह पुरुषकल्पित भेदसे वस्तुतः भिन्न कैसे हो सकती है ?

यदि भेद स्वकारणसे समुत्पन्न सत्य अतएव अनपेक्षस्वरूप वस्त्वात्मक है, तो सापेक्ष होकर वस्तुमें भेदव्यवहार नहीं करा सकता, क्योंकि सापेक्ष और निरपेक्ष ये दोनों भिन्न हैं। एक ही पदार्थ सापेक्ष और निरपेक्ष परस्पर विरुद्ध स्वभावका नहीं होता। अपेक्षा जो वस्तुतः पुरुषधर्म है, वह अचेतन शब्दमें कदापि नहीं रह सकती। यदि पुरुषमें रहनेवाली अपेक्षासे निर्मित भेद है, तो भेद सत्य नहीं, तादृश अपेक्षाकृत धर्म वस्तुमें रज्जुसर्पके समान कल्पित है।

शङ्का—जो पुरुषापेक्षाकृत धर्म है, वह कल्पित होता है, ऐसा नियम नहीं है, क्योंकि पुत्रादिमें पुरुषापेक्षाकृत ही पुत्रत्व है। पिताकी अपेक्षासे ही पुत्रत्व तथा पुत्रकी अपेक्षासे पितृत्व होता है। सब सबके न पुत्र ही कहे जा सकते हैं, और न पिता ही। फिर भी पुत्रत्वादि धर्म कल्पित नहीं कहे जाते।

समाधान—पुत्रके शरीरमें पितृजन्यत्व तथा पिताके शरीरमें पुत्रजनकत्व धर्म वस्तुतः कल्पित ही हैं। व्यवहारदशामें यद्यपि वे बाधित नहीं है, तथापि परमार्थ-दशामें शरीरात्मभ्रमके सदृश बाधित ही हैं, जिसके मतमें परमार्थ दशामें विश्व-मात्रका बाध इष्ट है, उसके मतमें पुत्रत्वादिके बाधमें शङ्का ही अनुचित है। व्यवहारदशामें भी शरीरका ज्ञान निरपेक्ष इन्द्रियादि द्वारा जैसे होता है वैसे ही पित्रादिज्ञानके बिना अमुकके पुत्र हैं, अमुकके पिता हैं यह ज्ञान नहीं होता, इसलिए पुत्रत्वादि धर्म कल्पित ही हैं, वास्तविक नहीं हैं। प्रत्यक्ष तथा अनुपलब्धि प्रमाण द्वारा भेदकी सिद्धिका निराकरण हो चुका। अब अनुमान तथा अर्थापत्ति प्रमाणसे भी भेद सिद्ध नहीं हो सकता, यह भी जानना आवश्यक है। किसीका मत है कि भेद अनुमानादिसे सिद्ध है। विमत भिन्न है, भिन्नका कार्य होनेसे, मृदादिवत्, इस अनुमानसे घट, पटादि कार्य तथा तत्कारणोंमें भेद सिद्ध होता है एवं कारण-भेदके बिना कार्यभेद अनुपपन्न है। अतः अनुपपन्न कार्यभेद स्वोपपादक कारण-

भेदका साधक होता है। विचार करनेपर यह भी ठीक नहीं प्रतीत होता, क्योंकि पूर्वोक्त अनुमानमें व्यभिचार है। भिन्न कार्य भिन्नहेतुक होता है, यह नियम नहीं है, क्योंकि एक ही अग्निसे दाह, पाक आदि अनेक कार्य होते हैं। दाह, पाक आदिमें भिन्नकार्यत्व है, किन्तु भिन्नकारणजन्यत्व नहीं है। एक ही अग्निसे उक्त कार्योंकी उत्पत्ति सर्वानुभवसे सिद्ध है। इसी तरह अर्थापत्तिमें दोष है, एवं अन्यथाप्युपपत्ति भी है, क्योंकि कारणभेदके बिना कार्यभेद अनुपपन्न नहीं है, प्रत्युत एक ही अग्निसे दाह, पाक आदि अनेक कार्य उपपन्न हैं। अतः उक्त दोषसे उक्त दो प्रमाण भी भेदसाधक नहीं हो सकते।

शङ्का—एक ही कारणसे अनेक कार्य होते हैं, यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि दाह, पाक, प्रकाश आदि अनेक कार्य एक अग्निसे ही नहीं होते, किन्तु अग्निगत तत्तत्कार्यानुकूल अनेक शक्तिसे होते हैं, इसलिए उक्त अनुमानमें उक्त व्यभिचार तथा अर्थापत्तिमें अन्यथोपपत्तिरूप पूर्वोक्त दोष नहीं हो सकते।

समाधान—शक्ति केवल उक्त कार्यकी कारण है, यह कहना उचित नहीं है, क्योंकि शक्तिमें कारणता कहीं दृष्ट नहीं है। शक्ति स्वयं प्रत्यक्ष नहीं है, जिससे अन्वयव्यतिरेक द्वारा वह कारण है यह निश्चय हो सके, किन्तु कार्यानुमेय है। अतः कार्यभेदके ज्ञानसे शक्तिभेदज्ञान और शक्तिभेदज्ञानसे कार्यभेद-ज्ञान माननेपर अन्योन्याश्रय दोष होता है। शक्तिका भेद कार्यभेदका हेतु है, यह माननेपर भी एक ही वह्नि अनेक कार्यानुकूल अनेक शक्तिका आश्रय है, यह जैसे मानते हैं, वैसे ही एक ही अनेक कार्योंका कारण है, ऐसा क्यों नहीं मानते ? ऐसा माननेपर उक्त दो प्रमाण उक्त दूषणसे दुःष्ट हैं, इसलिए भेदसाधक नहीं हो सकते। जैसे कारणमें भेद और अभावका निराकरण हुआ वैसे ही कार्यमें भी भेद तथा अभावका निराकरण होता है। घटाभाव पटस्वरूप है ? एवं पटाभाव घटस्वरूप है। यदि ऐसा मानते हैं, तो 'घटो न' इस प्रकार घटाभावतया निष्पन्न पटमें तदभावतया घटकी निष्पत्ति होगी एवं 'पटो न' इस प्रकार पटाभावरूपसे निष्पन्न घटमें घटाभावतया पटकी सिद्धि होगी। घट और पटको परस्पराभावात्मक माननेसे घटकी सिद्धि होनेपर पटकी सिद्धि होगी और पटकी सिद्धि होनेपर घटकी सिद्धि होगी,

इस अन्योन्याश्रयसे किसीकी सिद्धि नहीं हो सकती, अतः भेद और अभाव ये दोनों वस्तु नहीं हैं, इसलिए केवल भावाद्वैत ही परमार्थ सत् है, दूसरा नहीं, यह सिद्ध हुआ।

शङ्का—यदि भेद अभावस्वरूप माना जाय, तो वह अवस्तु हो जायगा, अतः प्रमाणका विषय नहीं हो सकेगा। अच्छा तो भेदको पृथक्त्वरूप गुण मान लो, ऐसी अवस्थामें भावस्वरूप होनेसे उसके प्रमाणविषय होनेमें भी कोई अड़चन नहीं होगी।

समाधान—यह पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि वैशेषिकका यह सिद्धान्त है कि गुणमें गुण नहीं रहता। नील पीतसे भिन्न है, इस प्रतीतिका विषय यदि पृथक्त्व गुण है, ऐसा मानो, तो नीलगुणमें पीतगुणका जो भेद प्रतीत होता है, वह कैसे होगा? क्योंकि आपके मतानुसार पृथक्त्वगुणात्मक पीतभेद नीलमें कैसे रहेगा। अतः उक्त प्रतीतिके विषय भेदको उक्त गुणसे अतिरिक्त ही मानना समुचित होगा। यदि गुणातिरिक्त अभावस्वरूप ही भेद कहा जाय, तो वह अवस्तु हो जायगा फिर किसी प्रमाणका विषय न होनेसे भेदकी सिद्धि ही नहीं होगी।

शङ्का—पृथक्त्वनामक भेद अवस्तु नहीं है, वस्तुमें विशेषण होनेसे, रूपादिकी तरह, इस अनुमानसे उसको वस्तु मानकर पूर्वोक्त प्रतीतिके समर्थनके लिए समवायसम्बन्धसे नीलमें पृथक्त्व नहीं भासता, किन्तु एकार्थसमवायित्व-सम्बन्धसे भासता है, ऐसा कहते हैं। अतएव 'समवायादिः सन्' इत्यादि प्रतीतिके समर्थनके लिए एकार्थसमवायित्वसम्बन्धसे सत्ताजाति समवायमें मानी गई है।

समाधान—तो 'शुक्लो गौः' यहांपर विशेषणविधया भासमान शुक्लादिप्रतीति जैसे शुक्ल गौमें ही प्रमाण है, वैसे ही 'भिन्नो घटः' इत्यादि प्रतीति भी घटादि वस्तुमें ही प्रमाण होगी, भेदमें नहीं। अतः यद्यपि भेद वस्तुका विशेषण है, तो भी अभावकी तरह वह अवस्तु ही है। जब भेद मुख्य हो सकता है तब उसे गौण मानना उचित नहीं है।

शङ्का—'शुक्लो गौः' यह प्रतीति गौमें प्रमाण होती हुई जैसे शुक्ल गुणमें भी प्रमाण होती है, वैसे ही 'भिन्नो घटः' यह प्रतीति घटके समान पृथक्त्वाख्य गुणरूप भेदमें प्रमाण होती है।

समाधान—इसपर भी प्रश्न यह होता है कि पृथक्त्वाख्य भेद वस्तुसे अभिन्न

धर्मभेदावभासेऽपि धर्म्यभेदो यथेष्यते।
तथा गवादेर्भेदेऽपि सन्मात्रं न हि भिद्यते ॥ ४३७ ॥

है अथवा भिन्न? प्रथम पक्षमें भावाद्वैत ही हो जायगा, अतः तदतिरिक्त पृथक्त्व ही सिद्ध नहीं हो सकेगा। पृथक्त्व यदि वस्तुसे भिन्न है, ऐसा मानिए, तो वस्तुसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं हो सकेगा। सम्बन्ध भी भेद और अभेदसे दुर्वच ही है। और यह भी शङ्का होती है कि भाव और अभावकी पृथक्ता है, या नहीं? द्वितीय विकल्पमें भाव और अभाव एक ही हो जायँगे। प्रथम विकल्पमें पृथक्त्वका भाव और अभावके साथ सम्बन्ध ही दुर्घट हो जायगा, क्योंकि धर्म और धर्मीका तादात्म्य ही सम्बन्ध माना जाता है। अत्यन्त भेदमें उक्त सम्बन्ध नहीं होता। यदि अत्यन्त भेदके होते हुए भी सम्बन्ध माना जाय, तो भाव और अभावमें अद्वैतकी प्रसक्ति होगी, अतः पृथक्त्वलक्षण भेद है ही नहीं। इसपर भी यदि पृथक्त्वलक्षण भेद मानो, तो फिर प्रश्न हो सकता है कि घटमें पृथक्त्व स्वकी अपेक्षासे है अथवा अन्यकी अपेक्षासे? प्रथम पक्ष तो असङ्गत है, क्योंकि घटकी ही शून्यता हो जायगी। द्वितीय कल्पमें घट तो स्वयं अभिन्न है।

यदि कहो कि घटमें अन्यकी अपेक्षासे पृथक्त्व है तो अन्यापेक्ष धर्म सर्पके समान कल्पित है, परमार्थ नहीं है। अतः कल्पित धर्मसे वस्तुभेद तात्त्विक नहीं माना जा सकता।

शङ्का—अच्छा तो घटमें पृथक्त्व और अपृथक्त्व दोनों धर्म मानेंगे। स्वकी अपेक्षासे अपृथक्त्वव्यवहार होगा और पदार्थान्तरकी अपेक्षासे पृथक्त्व-व्यवहार भी होगा। ऐसा माननेसे घटाद्वैतकी प्रसक्ति भी न होगी।

समाधान—पृथक्त्व और अपृथक्त्व ये दोनों धर्म घटसे भिन्न हैं अथवा अभिन्न? इन दोनों विकल्पोंमें सम्बन्ध नहीं हो सकता, यह पूर्वमें कह चुके हैं। जिस प्रकार कमलमें अनेक रूप, रस, गन्ध आदिके रहनेपर भी वह स्वयं अखण्ड एक वस्तु है उसी प्रकार घटमें पृथक्त्व आदि अनेक धर्मोंके माननेपर भी वह स्वयं अखण्ड ही कहा जा सकता है ॥ ४३६ ॥

'धर्मभेदा०' इत्यादि। गौ, घट आदिमें परस्पर पृथक्त्वाख्य भेद होनेसे विशिष्ट सन्मात्रका भी भेद आवश्यक है। सन्मात्र अखण्ड कैसे हो सकता है? इस शङ्काका परिहार करते हैं—पृथक्त्व, गोत्व, घटत्व आदि धर्मोंका भेद होनेपर

न गवादिभिदा मेया गवादेर्व्यभिचारतः ।
सदेव मेयं सर्वत्र सद्रूपस्याऽनपायतः ॥ ४३८ ॥

भी धर्मी भिन्न नहीं होता, किन्तु अखण्ड ही रहता है, अन्यथा दाह, पाक, प्रकाश आदि धर्मोंके भेदसे अग्निमें भी स्वतः भेदकी आपत्ति हो जायगी। इसलिए धर्मके भेदमात्रसे धर्मीका भेद नहीं होता, यह मानना आवश्यक है। अतएव घटादिके भेदमात्रसे सत्का भेद नहीं माना जाता। सन्मात्र ही प्रमाणका विषय है। व्यभिचार होनेसे गवादि प्रमेय नहीं हैं। 'सन् गौः' 'सन् घटः' इत्यादि प्रतीतिमें गौ, घट आदि परस्पर व्यावृत्त हो जाते हैं, पर सन्मात्र सब प्रतीतियोंमें अनुस्यूत रहता है, इसलिए सन्मात्र ही प्रमेय है। अथवा भेदका तो उक्त रीतिसे निराकरण हो चुका, इसलिए भेद प्रमेय नहीं है। अगर काल्पनिक भेद मानें, तो भी पूर्वोक्त अन्योन्याश्रय दोषसे उसके दूषित होनेके कारण वस्तुतः सन्मात्र ही प्रमेय है।

श्लोकार्थ—जैसे दाह, प्रकाश आदि धर्मोंका भेद होनेपर भी धर्मी अग्नि भिन्न नहीं है वैसे ही गौ, घट आदिके भिन्न होनेपर भी सन्मात्र धर्मी भी भिन्न नहीं है; किन्तु सर्वत्र अनुस्यूत होनेसे अभिन्न ही है ॥ ४३७ ॥

'सन् गौः', 'सन् घटः' इत्यादि प्रतीतियोंसे सन्मात्र ही मेय कैसे है ? गौ, घट आदि भी उक्त प्रतीतिके विषय होनेसे मेय क्यों नहीं हैं ? इसपर कहते हैं—'न गवादि०' इत्यादि।

'सन् गौः' इत्यादि प्रतीतिसे यदि गोत्व आदि मेय हैं, तो यह कहिए कि गोत्वादिमात्र मेय हैं अथवा सद्रूप भी ? प्रथम पक्ष तो ठीक नहीं है, क्योंकि 'घटः सन्' 'पटः सन्' इत्यादि सब प्रतीतियोंमें भासमान सद्रूपका त्याग कर गोत्वादि ही मेय हैं, यह कहना निष्कारण और अनुभवविरुद्ध है एवं सद्रूपसे अतिरिक्त गोत्व आदि हो भी नहीं सकते। द्वितीय पक्षमें सद्रूप ही मेय है, क्योंकि सद्रूप उभयसंमत है, गोत्व आदि नहीं हैं, क्योंकि वे सब प्रतीतियोंमें अनुस्यूत नहीं हैं, प्रत्युत व्यभिचारी हैं। जैसे शावलेयादि गोपदार्थ नहीं है, क्योंकि वह खण्ड, मुण्ड आदि गौमें व्यभिचारी है; इसलिए शावलेय, खण्ड आदि सम्पूर्ण गोव्यक्तियोंमें अनुस्यूत गोत्व ही गोशब्दार्थ है वैसे ही गोत्वादि भी निखिलव्यक्तिमें अनुस्यूत न होनेसे प्रमेय नहीं हैं, किन्तु सर्वत्र अनुस्यूत सद्रूप ही प्रमेय है ॥ ४३८ ॥

सद्रूपमपि सन्त्यज्य भ्रमाद्भेदनिबन्धनाः।
व्यवहाराः प्रतीयन्ते सत्तत्त्वं तेष्ववस्थितम् ॥ ४३९ ॥

शङ्का—यदि सर्वत्र अव्यभिचारी ही प्रमेय है व्यावृत्त गोत्व आदि प्रमेय नहीं है, तो सन्मात्र भी सर्वत्र अनुगत नहीं है, क्योंकि सामान्य, विशेष और समवायमें सत्ता जाति नहीं है। अतः सत्ता भी व्यावृत्त ही है, सर्वत्र अनुस्यूत नहीं है, इसलिए सत्ता भी प्रमेय नहीं है।

यदि कहो कि सामान्य आदिमें सत्ता जाति नहीं है, तो भी उनमें स्वरूपसत्त्व मानते हैं, इसलिए सामान्य आदिसे सद्रूप व्यावृत्त नहीं है, यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि सत्ता जाति द्रव्यादिमें है और सामान्यादिमें स्वरूपसत्त्व है, ऐसा माननेपर सत्ता भी व्यभिचारी होनेसे खण्ड, मुण्ड आदिकी तरह सच्छब्दवाच्य नहीं है, इस शङ्काके निराकरणके लिए कहते हैं—'सद्रूपमपि' इत्यादि।

घट, पट आदि अवान्तर पदार्थोंसे जो व्यवहार होते हैं वे सब सद्रूपके विना नहीं हो सकते, इसलिए घट, पट आदिमें सद्रूप स्थित है, यह मानना होगा। द्रव्य, गुण और कर्मसे अतिरिक्त सामान्य, विशेष और समवायमें कोई प्रमाण नहीं है, इसलिए ये पदार्थ ही नहीं हैं। अतः इनमें व्यभिचारकी आशङ्का व्यर्थ है, सन्मात्र ही तत्त्व है, उससे अतिरिक्त और सब सन्मात्रमें कल्पित हैं। सकल कल्पनाका आश्रय सन्मात्र ही मेय है।

शङ्का—सन्मात्रसे अतिरिक्त सकल पदार्थ सन्मात्रमें कल्पित हैं, यह कहना उचित नहीं है, कारण कि नैयायिक आदि द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय—इन छः पदार्थोंको पारमार्थिक मानते हैं।

समाधान—हाँ मानते हैं, पर विचार करनेपर वे सिद्ध नहीं होते। सामान्य और विशेष ये दो वस्तुएँ हैं अथवा विशेष ही वस्तु है किंवा सामान्य-विशेषात्मक एक ही वस्तु है? प्रथम पक्षमें द्रव्यत्व विशेष है सत्ता सामान्य है इन दोनोंका भेद नहीं हो सकता, कारण कि यदि विशेषोंको अनुवृत्त सत्सामान्यसे शून्य मानें, तो उनमें सत्ताके न होनेसे वे तुच्छ हो जायँगे, क्योंकि उनमें सत्ता ही नहीं है, तो वे अतिरिक्त पदार्थ कैसे? और भेद होनेपर उक्त छः पदार्थ परस्पर भिन्न हो सकते हैं, पर भेदका तो पहले ही निराकरण हो चुका, फिर भी उन्हें भिन्न मानना निष्प्रामाणिक

ही है। अतः सामान्य और विशेष ये दो वस्तुएँ हैं, यह कथन सर्वथा असंगत ही है। द्रव्यत्व और सत्ता परस्पर भिन्न नहीं हैं, किन्तु अभिन्न ही हैं। इसमें साधक एकाकार प्रतीति है। भिन्न प्रतीतिसे भिन्न विषयकी सिद्धि होती है। एकाकार प्रतीतिसे विभिन्न विषयकी सिद्धि कहीं नहीं देखी गई है।

विमतं सतो न भिद्यते, एकाकारधीविषयत्वात्, सद्वत्, इस अनुमानसे प्रत्युत विषयाभेद ही सिद्ध होता है। 'सद् द्रव्यम्', 'सन् गुणः' इत्यादि एकाकार प्रतीति स्पष्ट है।

शङ्का—सामान्य और विशेषकी एकाकारप्रतीति विषयैक्यप्रयुक्त नहीं है, किन्तु सम्बन्धैक्यप्रयुक्त है। सामान्य और विशेषका सम्बन्ध समवाय एक है, इसलिए एकाकारप्रतीति होती है।

समाधान—प्रमाणसे भेद सिद्ध होनेपर यह कह सकते हैं, अन्यथा नहीं। और सम्बन्धके एक होनेसे एकाकार प्रतीति भी नहीं होती, अन्यथा दण्ड और पुरुषका एक ही संयोग सम्बन्ध है, अतः वहां भी दण्डी और पुरुषकी एकाकार प्रतीति होनी चाहिए, किन्तु भिन्न विषय होनेसे एकाकारप्रतीति नहीं होती। अतः सम्बन्धैक्यसे प्रतीतिमें एकाकारताका समर्थन असंगत है।

शङ्का—संयोगसम्बन्धका स्वभाव यह न सही, किन्तु समवायसम्बन्धका स्वभाव ऐसा ही है।

समाधान—एकाकार प्रतीति विषयैक्यप्रयुक्त है? किंवा सम्बन्धैक्यप्रयुक्त? समवायैक्यप्रयुक्त एकाकार प्रतीति है, यह निश्चयात्मक बुद्धि तो नहीं हो सकती, कारण कि 'गोत्वमेकम्' इत्याकारक एकत्वबुद्धि गोत्वमें भी होती है, पर वह एकत्वबुद्धि समवायकृत नहीं है। गोत्वमें एकत्वसंख्या समवायसे नहीं रह सकती, क्योंकि द्रव्यसे अतिरिक्तमें गुणका समवाय नहीं माना जाता। एकत्वसंख्या गुण-स्वरूप है, अतः उक्त एकत्वबुद्धि स्वरूपैक्यप्रयुक्त है। एवं 'सद् द्रव्यम्' इत्याकारक प्रतीति स्वरूपैक्यप्रयुक्त है सम्बन्धैक्यप्रयुक्त नहीं है, यह निश्चय करते हैं। सामान्य और विशेषका समवाय मानकर यह कहा कि एकाकार प्रतीति विषयैक्य-प्रयुक्त है, सम्बन्धैक्यप्रयुक्त नहीं है।

वस्तुतः समवायसम्बन्ध ही नहीं हो सकता, अतः ऐक्यसे एकाकार प्रतीति सुतराम् असंगत है। सत्सामान्यसे अतिरिक्त समवायमें कोई प्रमाण नहीं है। और समवाय माननेमें यह भी दोष है कि समवाय स्वतन्त्र है या परतन्त्र?

न सत्तत्त्वं परित्यज्य भ्रान्तिदृष्ट्यादयः क्वचित् ।
एकाकारा हि संवित्तिः सद्द्रव्यं सद्गुणास्थितिः ॥ ४४० ॥

प्रथम पक्षमें 'द्रव्यगुणयोः समवायः' यहांपर षष्ठी विभक्ति नहीं हो सकती। द्वितीय विकल्पमें समवायका समवायीके साथ कौन सम्बन्ध है ? यह बतलाना पड़ेगा। सम्बन्धियोंमें रहनेवाला सम्बन्ध बुद्धिजनक सम्बन्ध माना जाता है। यदि सम्बन्ध स्वयं धर्मीमें न रहेगा, तो उसमें संसृष्टबुद्धिजनकत्व कैसे होगा ? असम्बद्ध संसर्ग यदि सम्बद्धबुद्धिजनक होगा, तो अन्यत्र भी धर्म्यन्तरमें सम्बद्धबुद्धिजनक हो जायगा, इसलिए धर्मीमें संसर्गका संसर्ग अवश्य मानना पड़ेगा। तो समवायका सम्बन्ध क्या है ? संयोग या समवाय ? प्रथम पक्षमें द्रव्यमें द्रव्यका ही संयोग होता है, यह नियम है। समवाय अद्रव्य है, इसलिए संयोग सम्बन्ध हो नहीं सकता। यदि समवाय स्वयं अपना सम्बन्ध होगा, तो आत्माश्रय दोष होगा। समवायान्तर माननेमें अन्योन्याश्रय, चक्रक, अनवस्था, आदि दोष होंगे। इसके अतिरिक्त समवाय और नित्य द्रव्य ये दोनों असमवेत हैं, यह जो स्वसिद्धान्त है, उसकी भी क्षति होगी।

समवायमें समवायितन्त्रस्वभाव स्वतःसिद्ध है। अतः उसे सम्बन्धान्तरकी अपेक्षा नहीं है, ऐसा यदि कहो, तो समवायकी कल्पना व्यर्थ है। सत्त्वेन ऐक्यधी-प्रयोजक समवायकी कल्पना सार्थक है, ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, कारण कि जैसे समवायमें पारतन्त्र्य स्वाभाविक है वैसे ही द्रव्यादिमें सत्त्वेन ऐक्य-बुद्धिको भी स्वाभाविक मान सकते हैं। इसीसे एकाकार बुद्धि हो जायगी, इसके लिए समवायकी कल्पना व्यर्थ ही है ॥ ४३९ ॥

'न सत्तत्त्वम्' इत्यादि। सत्तत्त्वका परित्याग करके कोई भ्रमप्रमासाधारण व्यवहार नहीं होता। 'सन् घटः', 'सन् पटः' इत्यादि व्यावहारिक प्रमाव्यवहारमें तथा शुक्ति-रूप्यभ्रमदशामें 'सदिदं रजतम्' इत्यादि भ्रमात्मक व्यवहारमें सन्मात्रका त्याग नहीं है, किन्तु व्यवहारमात्र सत्सामान्यको लेकर ही होता है, अतः सत्सामान्य ही प्रमेय है। 'सन् घटः' 'सन् पटः' इत्यादि एकाकार प्रतीति विषयैक्यके विना नहीं हो सकती, इसलिए सद्रूप विषय परमार्थ सत् होनेसे प्रमेय है। तदतिरिक्त घट, पट आदि अवान्तर भेद कल्पित हैं, वास्तविक नहीं हैं ॥ ४४० ॥

सत्तावगुण्ठितास्तेन सर्वे भावाः सदैव हि ।
व्यवहाराय कल्पन्ते भेदो भ्रान्त्याऽवभासते ॥ ४४१ ॥
प्रमाणैरखिलैश्चात्र सद्वस्त्वेव प्रतीयते ।
तस्माद्वस्त्वेकनिष्ठत्वान्न भेदोऽक्षादिगोचरः ॥ ४४२ ॥

सामान्य और विशेष दो वस्तुएँ हैं, इस मतका निराकरण करनेके अनन्तर वस्तुतः विशेषात्मक ही वस्तु है, सामान्य नहीं, इस मतका प्रतिक्षेप करते हैं—'सत्तावगुण्ठिता०' इत्यादिसे ।

व्यवहारकालमें सकल विशेष सदा सत्तासे व्याप्त होकर ही व्यवहारके योग्य होते हैं, सत्तासे शून्य विशेष असत् है, अतः वह व्यवहारयोग्य भी नहीं है, अतः सम्पूर्ण विशेष वस्तुतः सदात्मक ही है । भासमान घट, पट आदि भेद चन्द्रभेदके समान भ्रान्तिगोचर हैं । वस्तुतः चन्द्रमा एक ही है, किन्तु दृगन्तचिपिटीकरण आदि दोषसे दो चन्द्रोंकी प्रतीति होती है, किन्तु इस प्रतीतिके अनुसार दो चन्द्र नहीं माने जाते, चन्द्रभेद प्रमाणका अविषय होनेसे भ्रान्तिकल्पित (मिथ्या) है ।

शङ्का—यदि सत्त्व सर्वानुगत हो, तो सब व्यवहार सत्ताव्याप्त हैं, यह कह सकते हैं, किन्तु ऐसी सत्तामें प्रमाण ही क्या है ?

समाधान—प्रमाण है—'द्रव्यं सत्', 'गुणादिः सन्' इत्याकारक प्रतीति । यदि सर्वानुस्यूत ब्रह्मस्वरूप सत्त्व न होता, तो सर्वत्र एकाकारप्रतीति ही न होती । उक्त प्रतीति सर्वानुभवसिद्ध है, इसलिए विशेषातिरिक्त सामान्य पारमार्थिक है । सामान्य-विशेषोभयात्मक वस्तु है, यह मत भी समीचीन नहीं है । यदि सामान्य-विशेषात्मक वस्तु है, तो सामान्य और विशेष धर्मीस्वरूप वस्तुसे अभिन्न हैं, अतएव भेद नहीं है । भेदाभावसे दो वस्तु कहना अत्यन्त असंगत है, अतः सन्मात्र परमार्थ सत् है ॥ ४४१ ॥

'प्रमाणैरखिलै०' इत्यादि । सब प्रमाणोंसे सत् वस्तु ही प्रतीत होती है, अतः सब प्रमाण सद्वस्तुनिष्ठ हैं—सद्वस्तुमात्रके ग्राहक हैं, इसलिए भेद प्रत्यक्षादि प्रमाणगोचर नहीं है भेदके विना भिन्न वस्तुकी सिद्धि नहीं हो सकती ॥४४२॥

घटोऽयमिति संवित्त्या घट एव प्रमीयते ।
न व्यावृत्तिः पटादिभ्यस्त्वताद्रूप्येण संविदः ॥ ४४३ ॥

यदि घटादि स्वरूपकी प्रमिति नहीं है, तो घटार्थी पुरुषकी नियमसे घटमें प्रवृत्ति कैसे होगी ? क्योंकि ज्ञानके बिना चेतनकी प्रवृत्ति नहीं होती । इसलिए कहते हैं—'घटोऽयम्' इत्यादि ।

'अयं घटः' इत्यादि प्रतीतिसे घट भी प्रमित होता है, अगर यह मानें, तो भी घटादिनिष्ठ पटादिव्यावृत्ति (पटादिभेद) नहीं प्रतीत होती, क्योंकि 'पटादि-भिन्न' ऐसी प्रतीतिके बिना घटादिका भेद प्रतीत नहीं होता ।

यदि 'घटः' इत्यादि प्रतीतिसे घटस्वरूपमात्रका भान होता है, पटादि-भेदका नहीं, तो उक्त ज्ञान होनेपर भी 'पटभिन्नो न वा' इस संशयकी आपत्ति होगी । और पटादिव्यावृत्त घटादिस्वरूपभानके बिना घटार्थीकी असन्दिग्ध घटानयनमें प्रवृत्ति भी न होगी, इसलिए पटादिव्यावृत्त घटादिप्रतीति 'अयं घटः' इत्यादि प्रत्यक्षादि प्रमाणसे अवश्य होती है, यह स्वीकार करना उचित है ।

शङ्का—अच्छा तो घटादिका निर्विकल्पक ज्ञान पटादिव्यावृत्तिका भासक है ? अथवा सविकल्पक ? प्रथम पक्षमें निर्विकल्पक ज्ञान बाल, मूकादिके विज्ञानके सदृश वस्तुमात्रालोचनात्मक है, यह सिद्धान्त असंगत होगा, यदि पटादिव्यावृत्ति प्रकारविधया उक्त ज्ञानमें प्रतीत होगी, तो सप्रकारक होनेसे निर्विकल्पकत्वकी हानि होगी ।

द्वितीय पक्षमें 'अयं घटः' यह ज्ञान घटमात्रविषयक है, पटव्यावृत्तिकी प्रतीति अनुभवविरुद्ध है । पट आदिकी व्यावृत्ति घटत्व ही है, अतिरिक्त नहीं है, अतः घट आदि व्यावृत्तिका भान अनुभवविरुद्ध नहीं है, यह भी पक्ष असङ्गत है, क्योंकि पूर्वोक्त रीतिसे पटादिव्यावृत्ति घटस्वरूप नहीं हो सकती, इसका निरूपण कर चुके हैं । और प्रतियोगिज्ञानके बिना भेदज्ञान हो भी नहीं सकता । 'अभावज्ञाने प्रतियोगिज्ञानस्य कारणत्वम्' यह सर्वसम्मत है, अतः प्रत्यक्ष इतर-व्यावृत्तिका भासक नहीं है, क्योंकि घटादिप्रतियोगिज्ञानजनक सामग्री नहीं है । इसी प्रकार घटादिविषयक प्रत्यक्षको भी समझना चाहिए । भेदका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, यह सिद्ध होनेपर अभाव भी नहीं सिद्ध होता । भावभिन्नत्व ही अभावका लक्षण है । भेदका निरास होनेपर उक्तलक्षणलक्षित अभावका भी निरास स्वतः सिद्ध हो

जाता है। 'लक्षणप्रमाणाभ्यां वस्तुस्थितिः' यह सर्वसंमत सिद्धान्त है। और भी अभावनिरासक युक्तियां हैं। तथाहि—अभाव साश्रय है किंवा निराश्रय ? प्रथम पक्षमें फिर प्रश्न होता है—घटाश्रय है अथवा अर्थान्तराश्रय ? द्वितीय प्रश्नके प्रथम कल्पमें घटप्रागभाव घटाश्रित नहीं हो सकता, क्योंकि प्रागभावके समय घट नहीं है और घटके समय प्रागभाव नहीं है। भिन्नकालिकका विषयतासम्बन्धसे अतिरिक्त सम्बन्धसे आश्रयाश्रयिभाव नहीं होता। घटका भेद घटमें रहता नहीं और उक्त रीतिसे भेद है ही नहीं, अतः तद्विषयक विचार ही करना काकदन्त-परीक्षाके समान निष्फल है, अतएव तत्सापेक्ष अभाव भी असिद्ध ही है।

द्वितीय कल्पके द्वितीय पक्षमें अर्थान्तरसे अभाव विवक्षित है अथवा भाव ? प्रथम पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि अभावाधिकरणक अभाव अधिकरणरूपसे विवक्षित अभावस्वरूप ही है, अतिरिक्त नहीं, अतः भेदघटित आश्रयाश्रयिभाव अभेदमें कैसे होगा ? द्वितीय विकल्पमें भाव और अभावका सम्बन्ध ही नहीं हो सकता, क्योंकि सत्का सत्के साथ सम्बन्ध माना जाता है, इसलिए 'सदसतोः सम्बन्धानर्हत्वात्' यह अभियुक्तोक्तिके अनुसार भावाभावका सम्बन्धाभाव कह चुके हैं। तो 'घटो नास्ति', 'घटः पटो न भवति' इत्यादि प्रतीतिकी क्या गति होगी ? अभावप्रतीति विकल्पात्मक है, यही गति है, दूसरी नहीं, 'विकल्पोऽपि वस्तुविषयकः, प्रत्ययत्वात्, घटादिप्रत्ययवत्', इस अनुमानसे विकल्पविषय भी तो कोई वस्तु ही है ? नहीं, क्योंकि 'शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः' इस योगसूत्रके अनुसार विकल्पप्रत्यय वस्तुविषयक नहीं माना जाता। पुरुषचैतन्य, शशशृङ्ग आदि प्रत्ययकी तरह निर्विषयक ही प्रत्यय है, अतः उक्तानुमान भी असंगत है। प्रथम कल्पके द्वितीय पक्षको मानें, तो अभाव आकाशादिकी तरह स्वतन्त्र हो जायगा। इसे इष्टापत्ति नहीं मान सकते, क्योंकि 'इदमिह नास्ति', 'इदमिदं न भवति' इत्यादि प्रतीतिसे प्रतियोग्यधिकरणसापेक्ष ही अभाव माना जाता है, स्वतन्त्र नहीं।

यदि शङ्का हो कि 'अयं घटः' इत्यादि ज्ञानसे घटके समान भेद और अभावका भी भान होता है, इसलिए भेद और अभावकी बुद्धि विकल्प नहीं है, तो इसपर कहते हैं—'अयं घटः' इत्यादि बुद्धि जैसे घटविषयक है, यह सर्वानुभव-सिद्ध है वैसे भेद और अभाव न वस्तुस्वरूप ही हैं और न वस्तुधर्म ही हैं। एवं पटादिबुद्धि भी पटमात्रविषयक ही है, भेदाभावविषयक नहीं है। संशयादिकी

व्यावृत्तिरूपं चेद्भाति भासेत प्रतियोग्यपि ।
प्रतियोगि जगत्सर्वं नाऽसर्वज्ञेन गृह्यते ॥ ४४४ ॥
घटेतरत्वं सामान्यरूपेण यदि गृह्यते ।
तर्ह्यन्योन्याश्रयो दोषो न दण्डेन निवार्यते ॥ ४४५ ॥
व्यावृत्तेः प्रथमं सिद्धावितरत्वं प्रसिद्ध्यति ।
इतरत्वे च सिद्धेऽथ तद्व्यावृत्तिः प्रसिद्ध्यति ॥ ४४६ ॥

तरह घट, पट आदि विषय बुद्धिमें अध्यस्त हैं, अतएव बुद्धिभिन्न नहीं हैं, वास्तविक घटादिकी सत्ता नहीं है ॥ ४४३ ॥

यदि घटज्ञानमें घटादिके सदृश पटादिभेदका भान होगा, तो पटादि अनन्त पदार्थोंके अनन्तभेदोंके भानकी आपत्ति होगी। किसी एक भेदका भान होता है, ऐसा माननेमें कोई विनिगमक नहीं है, यदि कहो कि यद्यपि निखिल प्रतियोगियोंका प्रातिस्विकरूपसे प्रतियोगिज्ञान नहीं हो सकता, तथापि स्वेतरत्वरूपसे सब प्रतियोगियोंका अनुगम कर तदवच्छिन्न प्रतियोगिताक भेदका घटज्ञानमें भान हो सकता है ? तो इस शङ्काका निराकरण करते हैं—'व्यावृत्तिरूपम्' इत्यादिसे ।

यदि घटज्ञानमें स्वेतरव्यावृत्तिका भान मानें, तो भी तो स्वेतरत्वज्ञान निखिल प्रतियोगियोंमें होना आवश्यक है, परन्तु असर्वज्ञ पुरुषको ऐसा हो नहीं सकता । अगर हो, तो सब लोग सर्वज्ञ हो जायँगे ॥ ४४४ ॥

यदि शङ्का हो कि विशेषरूपसे ज्ञान होनेसे सर्वज्ञता होती है, अतः स्वेतरत्वसामान्यधर्मप्रकारक जगद्विशेष्यक ज्ञान होनेसे सर्वज्ञताकी आपत्ति नहीं हो सकती । प्रकृतमें स्वेतरत्वसामान्यधर्मसे प्रतियोगिज्ञान मान कर घटादिमें स्वेतरव्यावृत्तिका भान मानते हैं, अतः सर्वज्ञता दोषकी आपत्ति भी नहीं हो सकती, तो इसपर कहते हैं—'घटेतरत्वम्'इत्यादि ।

यदि घटेतरत्वसामान्यधर्मप्रकारक प्रतियोगिज्ञान द्वारा घटज्ञानमें घटेतरव्यावृत्तिका भान मानोगे, तो अन्योन्याश्रय दोषका दण्डसे भी निवारण नहीं होगा ॥ ४४५ ॥

अन्योन्याश्रय दोषको स्पष्टरूपसे कहते हैं—'व्यावृत्तेः' इत्यादिसे ।

यदि 'पट घटसे भिन्न है' यह ज्ञान प्रथम हो, तो पटादिमें घटेतरत्वज्ञान हो और यदि पटमें घटेतरत्वज्ञान हो, तो उसमें घटव्यावृत्तिका ज्ञान हो, इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोषसे पटादिमें घटादीतरत्वका ज्ञान ही नहीं हो सकता, तो

तस्माद् घटो निजाकारां जनयेत् बुद्धिसंविदम् ।
घट एव तया ग्राह्यो व्यावृत्तिर्भ्रमकल्पिता ॥ ४४७ ॥
संवेद्यभेदाभावेऽपि वेदनं तु विभिद्यते ।
इति चेत्, संविदो भेदः स्वतो वा परतोऽथवा ॥ ४४८ ॥
घटज्ञानं पटज्ञानमिति ज्ञेयपुरःसरम् ।
भेदभानादयं भेदः संविदो न स्वभावजः ॥ ४४९ ॥

फिर स्वेतरत्वसामान्यधर्म द्वारा भी स्वमें स्वेतरव्यावृत्तिका भान मानना असंगत ही है ॥ ४४६ ॥

अतः प्रमाणजन्य घटाकारविज्ञान घटमात्रविषयक ही है, भेद साक्षिमात्र-भास्य है, इस अभिप्रायसे कहते हैं—'तस्माद्' इत्यादि ।

पूर्वोक्त कारणसे घटादि विषय स्वाकार—स्वमात्रविषयक—बुद्धिके जनक हैं, इसलिए तादृश बुद्धिसे घटमात्रका ग्रहण होता है, उसमें इतरव्यावृत्ति भ्रम-कल्पित है, वास्तविक नहीं है ॥ ४४७ ॥

यद्यपि घटादि वेद्य पदार्थोंका भेद अप्रामाणिक होनेसे पटादिज्ञानमें भासमान नहीं हो सकता, तो भी ज्ञानभेद तो प्रामाणिक है, क्योंकि उसमें कोई बाधक नहीं है। अतः अद्वैतसिद्धि नहीं हो सकती, इस शङ्काके परिहारके लिए कहते हैं—'संवेद्यभेदा०' इत्यादिसे ।

संवेद्य (घट) का भेद न होनेपर भी बाधक न होनेसे ज्ञानका भेद है ही, ऐसा यदि कहो, तो यह भी अयुक्त है, क्योंकि संवेद्यभेदमें जैसे बाधक है वैसे ज्ञानभेदमें भी बाधक है, इस अभिप्रायसे ज्ञानभेदमें विकल्प करते हैं कि ज्ञान-भेद स्वतःसिद्ध है, या औपाधिक ? ॥४४८॥

आद्य पक्षका निराकरण करते हैं—घटज्ञानम्' इत्यादिसे ।

'अयं घटः', 'अयं पटः' इत्यादि ज्ञानोंमें जो भेद प्रतीत होता है, वह ज्ञानका स्वाभाविक भेद नहीं है, किन्तु स्वविषय घट, पटादि उपाधियोंके भेदसे स्वतः अभिन्न ज्ञानमें भेद प्रतीत होता है। जैसे 'घटाकाशः', 'मठाकाशः' इत्यादि स्थलमें आकाशमें भेदभान होता है, किन्तु घटाकाश मठाकाशमें स्वतःभेद नहीं माना जाता । अपि तु घटमठरूप उपाधिमें जो भेद है, वही उपधेय आकाशमें आरोपित प्रतीत होता है। घटादि उपाधिका नाश होनेपर वस्तुतः

घटादिभेदोपाधिश्चेत् सुतरां भ्रान्त एव सः ।
न पारमार्थिकं क्वाऽपि रज्जुसर्पविसर्पणम् ॥ ४५० ॥
सम्यक्संशयमिथ्याख्याः संविद्भेदाः स्वतो यदि ।
तन्न, धीवृत्तिधर्मत्वात्सम्यक्त्वाद्या न चिद्गताः ॥ ४५१ ॥

आकाशमें भेदभान नहीं होता। अतः अन्वय और व्यतिरेक द्वारा यह निश्चय होता है कि उक्त दोनों आकाशोंमें जो भेद प्रतीत होता है, वह औपाधिक ही है, एवं 'घटज्ञानम्' इत्यादि स्थलमें भी उपाधिभूत घटादिगत भेदका ज्ञानमें भान होता है, इसलिए यह संविद्भेद स्वाभाविक नहीं है ॥४४९॥

औपाधिक भेदके स्पष्टीकरणके लिए कहते हैं—'घटादि०' इत्यादि ।

संविद्भेद घटादिगतकल्पितभेदप्रयुक्त है, ऐसा माननेसे उक्त भेद कल्पित ही सिद्ध होता है, स्वाभाविक (परमार्थसत्) नहीं। जैसे रज्जुसर्पके कल्पित होनेके कारण उसका गमन भी कल्पित ही होता है, सत्य नहीं, वैसे ही घटादिमें कल्पित पटादिभेद भी कल्पित है, तो तन्मूलक संविद्भेद भी कल्पित ही है, सत्य नहीं। इसीको स्पष्ट समझानेके लिए रज्जुसर्पविसर्पणका दृष्टान्त दिया है ॥ ४५० ॥

प्रकारान्तरसे संविद्भेदकी आशङ्का करते हैं—'सम्यक्' इत्यादिसे ।

समीचीन ज्ञान, संशयज्ञान, मिथ्याज्ञान इत्यादि रूपसे ज्ञानोंमें भेद प्रतीत होता है। संशयज्ञान निश्चयादिज्ञानसे स्वरूपतः विषयतः भिन्न है। इस भेदको कल्पित नहीं कह सकते, कारण कि ज्ञान घटादिकी तरह कल्पित नहीं है, अन्यथा शून्यवादापत्ति हो जायगी। इसलिए ज्ञानको परमार्थ सत् मानते हैं। अतएव रज्जुसर्पसर्पणादि दृष्टान्त इसमें लागू नहीं हो सकता। आन्तरज्ञानगत भेद यदि पारमार्थिक होगा, तो अद्वैतव्याघातका परिहार न हो सकेगा, अतः फिर बाह्य भेदका निराकरण करनेसे क्या लाभ? इस आक्षेपका उत्तर देते हैं कि सम्यक् ज्ञान, मिथ्याज्ञान आदि भेद भी पारमार्थिक नहीं है, किन्तु कल्पित ही है, कारण कि यह सम्यक्-मिथ्याज्ञान अन्तःकरणवृत्त्यात्मक है, चैतन्यस्वरूप नहीं है, अतः अन्तःकरणवृत्तिके सम्यक्त्वादिसे भिन्न होनेपर भी चैतन्यमें अखण्डत्वकी क्षति नहीं है, क्योंकि अन्तःकरणादिके कल्पित होनेसे उक्त रज्जुसर्पविसर्पणन्यायसे तद्भेद भी कल्पित ही है। अतएव आन्तरिक भेद भी बाह्य भेदके समान कल्पित ही है, परमार्थ सत् नहीं

स्फुरणं रज्जुसर्पेति न मिथ्या बाधवर्जनात् ।
तद्बाधे रज्जुतत्त्वस्य पश्चात् स्फूर्तिः कथं भवेत् ॥ ४५२ ॥
रज्जुस्फूर्तिः पृथक्सर्पस्फूर्तेरिति मतं यदि ।
कथं तर्हि प्रयुज्येत स्फूर्तिरित्यर्थयोर्द्वयोः ॥ ४५३ ॥
स्फूर्त्तित्वजात्यनुगमादिति चेत् स्वस्ति ते यतः ।
व्यावृत्तमनुवृत्तं च द्वयमङ्गीकृतं त्वया ॥ ४५४ ॥

है। चित्‌में यदि स्वरूपतः भेद नहीं मानते, तो रज्जुसर्पस्फुरण भी सत्य हो जायगा, क्योंकि स्फुरण तो चैतन्यस्वरूप है, वृत्त्यात्मक नहीं ॥४५१॥

वृत्ति स्वयं जड़स्वरूप है और स्फुरण (प्रकाश) सत्य है, यह तो मानते ही हैं, अतः यह इष्टप्रसंजन ही है। अतएव कहते हैं—'स्फुरणम्' इत्यादि।

बाधक होनेसे रज्जुसर्पस्फुरण मिथ्या है, यह नहीं कह सकते, कारण कि 'रज्जुरियं न सर्पः' इत्यादि बाधक ज्ञानसे कल्पित सर्पमात्रका बाध होता है। स्फुरणका नहीं। भ्रमके निवृत्त होनेपर भी यह कोई नहीं कहता कि रज्जुमें सर्पका स्फुरण नहीं हुआ था। यदि वह भी कल्पित होता, तो उक्त सर्पनिषेधके सदृश स्फुरणका भी स्वरूपसे निषेध होता—स्फुरणं नाऽभूत्। प्रत्युत स्फुरणका स्वीकार किया जाता है—इतने काल तक रज्जुका सर्परूपसे स्फुरण हुआ ॥४५२॥

'रज्जुस्फूर्तिः' इत्यादि। अधिष्ठान रज्जुका स्फुरण आरोप्य सर्पस्फुरणसे भिन्न है, यदि ऐसा मानते हैं, तो पारमार्थिक भेद सिद्ध होनेसे अद्वैतका व्याघात तथा 'स्फुरणं स्फुरणम्' इस एकाकार प्रतीतिकी अनुपपत्ति भी होगी, विषयैक्यके विना एकाकार प्रतीति कहीं नहीं देखी गई है ॥५५३॥

अनुगत वुद्धि प्रकारान्तरसे होती है, यह शङ्का करते हैं—'स्फूर्तित्व-जात्य०' इत्यादिसे।

जैसे व्यक्तिभेद होनेपर भी सकल गवादि व्यक्तियोंमें अनुगत गोत्व एक ही है, इसलिए सकल गोव्यक्तियोंमें गौ इस प्रकार एकाकार प्रतीति होती है, वैसे ही स्फुरण व्यक्तियोंके भिन्न होनेपर भी स्फुरणत्वसामान्य सब स्फुरणव्यक्तियोंमें अनुगत एक ही है तन्निबन्धन एकाकार प्रतीति होती है, यदि ऐसा कहो, तो तुम्हारा कल्याण हो, क्योंकि तुम ज्ञातव्यको जान गये। केवल शब्दोंमें ही भेद हुआ

भाषाभेदेऽप्यर्थभेदो नाऽस्ति कश्चिदिहावयोः ।
जातिव्यक्ती त्वदीयाख्ये चिद्बुद्धिर्मम भाषया ॥ ४५५ ॥
गोत्वादिष्वप्ययं न्यायो योजनीयो विपश्चिता ।
सर्वत्राऽनुगतं ब्रह्म व्यावृत्तिर्मायिकी खलु ॥ ४५६ ॥
सम्यक्संशयमिथ्याख्या भिन्नाकाराः स्वतो धियः ।
मातृमानप्रमित्याद्या अपि तद्वत्समीरिताः ॥ ४५७ ॥
सम्यक्त्वादौ प्रमात्रादावपि भेदो घटादिवत् ।
कल्पितः,कल्पिताः सर्वे विशिंषन्ति स्वसंविदम् ॥ ४५८ ॥

अर्थ उभयसंमत एक ही है, कारण कि अनुवृत्त और व्यावृत्त दो प्रकारके पदार्थ आप भी मानते हैं, आप व्यावृत्तको व्यक्ति कहते हैं और अनुवृत्तको सामान्य। हम व्यावृत्तको कल्पित (मायिक) कहते हैं और अनुवृत्तको ब्रह्म कहते हैं, इस प्रकार केवल शब्दमें ही भेद है। अर्थ दोनोंका—आपका और हमारा—एक ही है ॥५५४॥५५५॥

उसीको स्पष्ट करते हैं—'गोत्वादिष्व०' इत्यादिसे।

नैयायिकादिसंमत गोत्वादि जातिमें भी इसी न्यायका संचार करना चाहिए। गवादि सकलव्यक्त्यनुगत गोत्वादि सामान्य सन्मात्र ब्रह्मस्वरूप है। गवादि व्यक्ति मायिक—मायाकल्पितमात्र—है, यही विद्वानोंको निश्चय करना चाहिए। हम लोग सामान्यको सद् ब्रह्मस्वरूप मानते हैं, वे लोग जाति कहते हैं। इस प्रकार केवल शब्दमात्रमें भेद है, अर्थमें नहीं है ॥४५६॥

'सम्यक्' इत्यादि। 'इदं समीचीनज्ञानम् , अयं संशयः, इदं मिथ्याज्ञानम्' इत्यादि स्थलमें भी संशयत्व, सम्यक्त्वादिके भेदसे बुद्धिमें भी औपाधिक भेदकी प्रतीति होती है। स्वतः बुद्धिमें भेद नहीं है। एवं 'अहं प्रमाता', 'इदं प्रमाणम्' इत्यादि प्रमातृ-प्रमाण-प्रमेय-विषयक ज्ञानमें वास्तविक भेद नहीं है, किन्तु घटादिभेदसे कल्पित भेद है ॥४५७॥

'सम्यक्त्वादौ' इत्यादि। सम्यक्त्व, मिथ्यात्व, प्रमातृत्व, प्रमाणत्व आदि भेद घटादिके समान कल्पित हैं, पारमार्थिक नहीं। सब कल्पित पदार्थ स्वविषयक बुद्धिके विशेषक होते हैं। अर्थात् 'घटज्ञानम्, पटज्ञानम्' इत्यादि स्थलमें ज्ञान स्वतः अभिन्न है, किन्तु घट-पटरूप कल्पित उपाधिके भेदसे घटज्ञान और पटज्ञानमें भेदप्रतीति होती है। सब कल्पनाओंका आश्रय चैतन्य स्वतः अभिन्न है ॥४५८॥

संविदेका स्वतःसिद्धा प्रत्यग्रूपैकलक्षणा ।
भावाभावादिरूपाय व्यवहाराय कल्पते ॥ ४५९ ॥
संवित्तत्त्व उपक्षीणं सर्वं मानं न भेदगम् ।
तत ऐकात्म्यशास्त्रस्य न बाध इति सुस्थितम् ॥ ४६० ॥

ज्ञानको सब कल्पनाओंका अधिष्ठान नहीं मानते, किन्तु वह भी रज्जुसर्पके समान सब कल्पनाओंके योग्य है, इस शङ्काका उत्तर देते हैं—'संविदेका' इत्यादिसे ।

ज्ञान एक और स्वतः सिद्ध है तथा सब कल्पनाओंका अधिष्ठान है । यदि संविद्‌को अधिष्ठान न मानियेगा, तो संविद्‌की कल्पनाके लिए अधिष्ठानान्तर मानना पड़ेगा; फिर वह भी यदि कल्पित होगा, तो उसकी कल्पनाके लिए अधिष्ठान स्वीकार करना पड़ेगा । एवं उसका भी अधिष्ठानान्तर मानें, तो अनवस्था होगी, अतः संवित्‌को परमार्थ सत् मानना आवश्यक है । निरधिष्ठान भ्रम नहीं होता और कल्पित पदार्थ अधिष्ठान नहीं होता, अतएव 'सत्यानृते मिथुनीकृत्य' इत्यादि अध्यासभाष्यमें भाष्यकारने कहा है । यदि संविद्‌को कल्पनाका अधिष्ठान मानते हों, तो सर्पकल्पनाकी अधिष्ठानाभूत रज्जुकी तरह जड़ हो जायगी, इस शङ्काकी निवृत्तिके लिए कहते हैं—'प्रत्यग्रूपैकलक्षणा' अर्थात् संवित् आत्मस्वरूप है, जडात्मक नहीं । वस्तुतः सर्पकल्पनाका अधिष्ठान जड़ रज्जु नहीं, किन्तु उक्त भाष्यानुसारसे रज्ज्ववच्छिन्न चैतन्य है । अतएव संवित् और आत्मा एक ही पदार्थ है दो नहीं, अन्यथा अपसिद्धान्त होगा, यह भी शङ्का नहीं हो सकती, क्योंकि भावात्मक जितने व्यवहार होते हैं, उन सब व्यवहारोंका मूल कारण संविद् ही है ॥ ४५९ ॥

'संवित्तत्त्वे' इत्यादि । सब प्रमाण संवित्तत्त्वमें उपक्षीण हैं, अतएव कोई भी भेदबोधक नहीं हैं । 'घटः पटः' इत्यादि प्रतीति घटपटके स्वरूपमात्रकी बोधक है । स्वरूपलक्षणभेद हो नहीं सकता । स्वरूप निरपेक्ष है और भेद धर्मिप्रतियोगिसापेक्ष है । एक ही पदार्थमें सापेक्षत्व और निरपेक्षत्वरूप विरुद्ध दो धर्म नहीं रह सकते । एवं अन्योन्याभाव या पृथक्त्वादिरूप भी भेद तात्त्विक नहीं हो सकता, इसका विशेषरूपसे निरूपण हो चुका है । 'घटभिन्नः पटः' इत्यादि प्रतीति काल्पनिक भेदका आश्रयण करती है, वास्तविकका नहीं, यह भी स्पष्ट कह चुके हैं,

बोधकत्वादबाधाच्च प्रामाण्ये निश्चिते सति ।
अनुवादत्वशङ्काऽथ वेदान्तानामपोद्यते ॥ ४६१ ॥
ननु वेदान्तसिद्धान्तमजानन्तोऽपि वादिनः ।
लौकिकाश्च निजात्मानं जानन्त्येव स्वमानतः ॥ ४६२ ॥
मानं प्रत्यक्षमन्यद्वा यद्योग्यं तद्धवेत्ततः ।
ज्ञातात्मकथनादेते वेदान्ता अनुवादिनः ॥ ४६३ ॥

अतएव 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' इत्यादि ऐकात्म्यबोधक शास्त्रका किसी प्रमाणसे बाध नहीं हो सकता, यह सिद्धान्त सुस्थिर हुआ ॥ ४६० ॥

'बोधकत्वादबाधाच्च' इत्यादि। अबोधक तथा बाधितार्थबोधक वाक्य अप्रमाण कहलाता है। वेदवाक्य न अर्थका अबोधक है और न प्रमाणान्तरसे बाधित अर्थका ही बोधक है, किन्तु अबाधित अर्थका अतिस्पष्टरूपसे बोधक है। अतः वेदान्तमें प्रामाण्य निश्चित है, इसलिए वेदान्तमें अनुवादकत्वकी शङ्काका निराकरण करते हैं—यद्यपि वेदान्तवाक्यमें अनुवादकत्वप्रयुक्त अप्रामाण्यकी आशङ्काका पहले पूर्ण निराकरण कर चुके हैं, फिर उसके निराकरणकी आवश्यकता नहीं है, तथापि प्रकारान्तरसे पुनः उसके निराकरणका अभिप्राय यह है कि 'स्थूणानिखनन' न्यायसे अप्रामाण्यकी शङ्काका लेश भी न हो। अतएव पिष्टपेषणदोषका अवकाश नहीं है ॥ ४६१ ॥

'ननु वेदान्त०' इत्यादि। वेदान्तसिद्धान्तका ज्ञान—अकर्तृभोक्तृचिदानन्दस्वरूप आत्मा है, यह ज्ञान—जिनको नहीं है वे वादी तथा पामर आदि साधारण मनुष्य भी आत्मसाधक प्रमाणसे आत्माको जानते ही हैं। किसी प्राणीको आत्मामें अज्ञान, संशय और विपर्यय नहीं है, किन्तु 'अहमस्मि' (मैं हूँ) यह निश्चय सबको है इस कारण आत्मविचारपरक वेदान्त ज्ञात आत्माका ज्ञापक होनेसे अनुवादक ही हो सकता है, प्रमाण नहीं।

प्रश्न—किस प्रमाणसे वेदान्तानभिज्ञ वादी तथा साधारण मनुष्य आत्माको जानते हैं ?

उत्तर—स्व-स्वाभिमत प्रत्यक्ष तथा अनुमानसे जो जिसके अभिमत है, उसीसे उसको आत्मा ज्ञात है, अतः ज्ञातज्ञापकत्वलक्षण अप्रामाण्य अनिवार्य है, यही कहते हैं—'मानं प्रत्यक्षमन्यद्वा' इत्यादिसे ।

नैवाऽऽत्मनोऽन्यद्वस्त्वेतैर्वेदान्तैः प्रतिपाद्यते ।
येनाऽपूर्वार्थलाभेन तेषामननुवादता ॥ ४६४ ॥

आत्मामें 'अहं सुखी' 'अहं दुःखी' इत्यादि प्रत्यक्ष प्रमाण है, यह नैयायिक आदि कहते हैं। बुद्धिमें चिच्छायापत्ति द्वारा अनुमान आत्मामें प्रमाण है, यह सांख्याचार्य मानते हैं। कूटस्थ नित्य आत्मामें व्यापार नहीं हो सकता, क्योंकि व्यापारी होनेसे आत्मामें विकारकी आपत्ति हो जायगी। आश्रयको विकृत किए विना व्यापार नहीं होता, यह सर्वत्र दृष्ट है, अतः व्यापारविशिष्ट बुद्धिमें ही कर्तृत्व आदि हैं। कर्तृत्वादिधर्मविशिष्ट बुद्धिमें चैतन्यकी छाया पड़ती है, अतः वस्तुतः अचेतन बुद्धि उक्त छायापत्तिसे चेतनके समान होती है।

'तस्मात् तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव भवति ।
गुणकर्तृत्वे च तथा कर्तेव भवत्युदासीनः ॥'

इस वचनके अनुसार वास्तविक संसारधर्म बुद्धिमें ही हैं। आत्मा सन्निधानसे बुद्धिगत धर्मको भेदाग्रहसे अपनेमें समझकर सुख, दुःख आदि संसारधर्मवान् जैसा होता है, इस विषयमें विशेष आगे कहेंगे। यहांपर यह स्पष्ट करते हैं कि वेदवाक्य ज्ञात आत्माके ज्ञापक होनेसे अनुवादक हैं, प्रमाण नहीं।

शङ्का—उक्त प्रमाणोंसे वादिगण तथा साधारण प्राणी जैसा आत्माको जानते हैं, क्या उससे विलक्षण आत्मा श्रुतिके तात्पर्यका विषय है?

समाधान—हां, विलक्षण है, आत्मा वस्तुतः कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि निखिल संसारधर्मोंसे रहित समस्त उपाधियोंसे अनवच्छिन्न उदासीन सच्चिदानन्दस्वरूप है, उक्त श्रुतियोंका यही तात्पर्य है, अतः अज्ञातज्ञापक श्रुति प्रमाण है, अनुवादक नहीं ॥ ४६३ ॥

'अहं कर्ता, भोक्ता' इत्यादि प्रत्यक्ष प्रमाणसे सिद्ध आत्मासे विलक्षण उक्तविध आत्माका बोधक वेदान्त प्रमाण नहीं है, कारण कि प्रमेयमें विरोधी दो प्रमाणोंका विकल्प अथवा समुच्चय नहीं हो सकता, किन्तु परस्परमें बाध्य-बाधकभाव ही होता है। वेदार्थबोधमें उपजीव्य तथा ज्येष्ठ होनेसे प्रत्यक्ष प्रमाण जात्या प्रबल है, इसलिए 'आदित्यो यूपः' इत्यादिके सदृश आत्म-स्वरूपके प्रतिपादक वेदको भी उपचरितार्थ अथवा 'हुं' फट्, आदिकी तरह अविवक्षितार्थया जपोपयोगिमात्रार्थ मानना चाहिए, आत्मस्वरूपका निर्णायक नहीं, यही कहते हैं—'नैवाऽऽत्मनो' इत्यादिसे।

उच्यते मान्तरात् सिद्धः किं देहात्माऽथवेतरः ।
नाऽऽद्ये स्यादनुवादत्वं देहात्माप्रतिपादनात् ॥ ४६५ ॥
न वेदान्ताः क्वचिद्देह आत्मेति प्रत्यपादयन् ।
यः कोशोऽन्नमयः प्रोक्तस्तत्राऽस्त्येवाऽनुवादता ॥ ४६६ ॥

प्रत्यक्षसिद्ध आत्मासे अतिरिक्त वस्तुका वेदान्त प्रतिपादन नहीं करते, जिससे कि अपूर्व अर्थका प्रतिपादन करनेसे उनमें अनुवादकत्वके अभावका लाभ हो, पर ऐसा है नहीं, किन्तु वे आत्मतत्त्वका ही निरूपण करते हैं, वह प्रत्यक्षसिद्ध ही है। अतः ज्ञातज्ञापक होनेसे वेदान्त अनुवादक ही हैं, यही सिद्ध होता है ॥४६४॥

वक्ष्यमाण प्रकारसे विकल्प करनेपर दोष दुष्परिहर होता है, इसलिए यह आक्षेप ठीक नहीं है, इस तात्पर्य्यसे शङ्काका परिहार करते हैं—'उच्यते मान्तरात् सिद्धः' इत्यादिसे।

वेद अनुवादक नहीं है, इसकी सिद्धिके लिए आत्मपदार्थका विकल्प करते हैं—'अहं गौरः' 'अहं श्यामः' इत्यादि प्रतीतिविषय शरीररूप आत्मा वेद द्वारा प्रतिपिपादयिषित है? अथवा देहातिरिक्त आत्मा? प्रथम पक्षमें वेद अनुवादक नहीं हो सकता, कारण कि 'शरीर आत्मा है' इसका प्रतिपादन वेद नहीं करता, किन्तु उससे विलक्षण चैतन्यानन्दघन आत्माका प्रतिपादन करता है।

शङ्का—वेद देहात्मप्रतिपादनपरक नहीं हैं, यह कहना मिथ्या है, क्योंकि 'स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः' इत्यादि वेदवाक्य देहात्माका स्पष्टरूपसे प्रतिपादन करते हैं। 'अन्नरसमय' शब्दसे शरीर ही प्रकृतमें विवक्षित है और पुरुषशब्दसे आत्मा। इसलिए उक्त वाक्यसे 'शरीर आत्मा है' यह स्पष्ट प्रतीत होता है।

समाधान—हाँ, इस वाक्यसे शरीरात्माकी प्रतीति अवश्य होती है, किन्तु यह वाक्य आत्मामें प्रमाण है, यह मेरा कथन नहीं है, क्योंकि इस वाक्यको हम भी प्रत्यक्ष सिद्ध शरीरात्माका अनुवादक ही मानते हैं। अतः 'एकमेवाद्वितीयम्', 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि उदासीन सच्चिदानन्दस्वरूप आत्माके प्रतिपादनपरक जो वेदान्त हैं, वे अनुवादक नहीं है आत्मस्वरूपमें प्रमाण माने जाते हैं ॥४६५॥

'देह आत्मा है' इसके प्रतिपादनमें वेदान्तोंका तात्पर्य नहीं है, ऐसा कहते हैं—'न वेदान्ताः' इत्यादिसे।

देहेतरोऽपि किं कर्त्ता ब्रह्म वोभयथाऽपि च ।
तयोर्मानान्तरावोधादाशङ्क्या नाऽनुवादता ॥ ४६७ ॥
वादिनो लौकिका वाऽत्र भविष्यद्देहयोगिनम् ।
कर्त्रात्मानं न जानन्ति वेदान्तवचसा विना ॥ ४६८ ॥
देहान्तराभिसम्बन्धो भावित्वान्नाऽक्षगोचरः ।
लिङ्गसादृश्यविरहान्नाऽनुमा नोपमा तथा ॥ ४६९ ॥

वेदान्तोंने 'देह आत्मा है' ऐसा कहीं भी प्रतिपादन नहीं किया है और 'स वा एष' इत्यादि जो वाक्य शरीरात्माका प्रतिपादन करते हैं, वे सबके मतसे अनुवादक ही हैं ॥४६६॥

द्वितीय विकल्पमें दोष देते हैं—'देहेतरोऽपि' इत्यादिसे ।

द्वितीय विकल्पके अनुसार फिर यह विकल्प होता है कि देहेतर आत्मा कर्ता है या ब्रह्मस्वरूप ? दोनों विकल्पोंमें वेद अनुवादक नहीं हो सकता, क्योंकि शरीरातिरिक्त कर्त्ता आत्मा है, यह भी प्रत्यक्षविषय नहीं है। तथा आत्मा ब्रह्मस्वरूप है, इसमें तो प्रत्यक्षकी शङ्का ही नहीं हो सकती, कारण कि ब्रह्म ऐन्द्रियक नहीं है। इस कारण यदि शरीरातिरिक्त आत्मा कर्ता है अथवा उक्त आत्मा ब्रह्मस्वरूप है, यह बोध जिन वेदान्तोंसे होता है, वे कभी भी अनुवादक नहीं कहे जा सकते। दोनों प्रकारसे आत्मा प्रत्यक्षका विषय नहीं है, किन्तु अपूर्व ही अर्थ है ॥४६७॥

शरीरातिरिक्त आत्मा कर्ता है, यह प्रत्यक्षगम्य नहीं है, यही कहते हैं—'वादिनो लौकिका वाऽत्र' इत्यादिसे ।

नैयायिकादि वादी एवं लौकिक साधारण मनुष्य—दोनों ही देहान्तरयोगी आत्माको स्वयं नहीं जान सकते। वे वेदान्त द्वारा ही आत्मा स्वकृत शुभाशुभसे जन्मान्तरमें शुभाशुभ योनिको प्राप्त होता है, तथा तदनुसार ही सुखदुःखरूप फलका भागी होता है, यह जानते हैं, अन्यथा नहीं जान सकते ॥४६८॥

'देहान्तरा०' इत्यादि। आत्मा शरीरातिरिक्त है, यह ज्ञान तब हो सकता है, जब यह ज्ञात हो कि वर्तमान देहपातके अनन्तर कर्मानुसार शरीरान्तरयोग अवश्यंभावी है। जिसकी अनुवृत्ति होनेपर जिसकी व्यावृत्ति होती है, वह उससे भिन्न होता है, जैसे सूतसे फूल भिन्न हैं, क्योंकि प्रत्येक पुष्पकी व्यावृत्ति

भावरूपात्मबोधाय नाऽभावोऽपि प्रवर्त्तते ।
अर्थापत्तिर्न सम्भाव्या दृष्टकल्पकवर्जनात् ॥ ४७० ॥
अन्यथाऽनुपपन्नोऽपि श्रुतस्वर्गो न कल्पकः ।
श्रुतार्थापत्तितोऽप्यत्र श्रुतिरेव बलीयसी ॥ ४७१ ॥

होनेपर भी सर्वत्र अनुगत सूत फूलोंसे भिन्न है, वैसे ही प्रत्येक जन्ममें शरीरोंकी व्यावृत्ति होनेपर भी सब जन्मोंके शरीरोंमें अनुगत आत्मा शरीरोंसे भिन्न है, यह जान सकते हैं, किन्तु भावी देहका योग ही जानना वेदान्तवाक्यके विना असंभव है, कारण कि प्रत्यक्ष वर्तमानमात्रका ही ग्रहण कराता है, अतः वर्तमान न होनेसे भाविदेहसंबन्ध प्रत्यक्षका विषय नहीं है । लिङ्गज्ञान तथा सादृश्यज्ञानके अभावसे अनुमान व उपमान भी अतिरिक्त आत्मामें प्रमाण नहीं हो सकते ॥ ४६९ ॥

अनुपलब्धि और अर्थापत्ति भी शरीरातिरिक्त आत्मामें प्रमाण नहीं हो सकतीं ऐसा विकल्प द्वारा कहते हैं—'भावरूपात्म०' इत्यादि ।

अनुपलब्धि प्रमाणसे भी आत्माको नहीं जान सकते क्योंकि अनुपलब्धिसे अभावका ग्रहण होता है, भावका नहीं । आत्मा भावस्वरूप है, अतः उक्त प्रमाणका विषय ही नहीं है । अर्थापत्ति दो प्रकारकी होती है—श्रुतार्थापत्ति तथा दृष्टार्थापत्ति । आत्मामें भाविदेहयोग न दृष्ट ही है, न श्रुत ही है । देहान्तरयोग भावी है, इसलिए दृष्ट नहीं है कि देहान्तरयोगान्यथानुपपत्तिसे शरीरातिरिक्त आत्माका उक्त प्रमाणसे ज्ञान हो जायगा । यद्यपि स्मृति, पुराणादिसे आत्मामें शरीरान्तरयोग श्रुत है, तथापि उक्त ग्रन्थ श्रुतिके अनन्तरके हैं, अतएव श्रुतिमूलक होनेसे प्रमाण माने जाते हैं—वेदवाक्यके विना उक्त वाक्योंका निर्माण ही नहीं हो सकता । अतः आत्मा वेदातिरिक्त प्रमाणोंका अविषय है । तद्बोधक वेद अज्ञातज्ञापक होनेसे प्रमाण ही है, अनुवादक नहीं है ॥ ४७० ॥

'अन्यथा' इत्यादि । स्मृति, पुराणादिमें श्रुत देहान्तरसम्बन्धकी अनुपपत्ति प्रमाण नहीं है, श्रुतिश्रुतस्वर्गान्यथानुपपत्तिरूप अर्थापत्तिसे उक्तस्वरूप आत्माका ज्ञान हो जायगा, यह भी आक्षेप ठीक नहीं है । श्रुतार्थापत्तिकी अपेक्षा श्रुति ही प्रबल है, दोनों समसमय हैं । साक्षादात्मप्रतिपादक श्रुतिको उक्तार्थमें प्रमाण

योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः ।
इति वेदान्तवचसा भविष्यद्देहयोगधीः ॥ ४७२ ॥
भविष्यद्देहसम्बन्धी वाक्यादात्मा न चेतनः ।
चार्वाक इव नो कुर्याददृष्टार्थाः क्रियाः सुधीः ॥ ४७३ ॥

न मानकर अर्थापत्तिमें श्रुति और आत्मस्वरूपमें अर्थापत्तिको प्रमाण माननेमें गौरवसे अतिरिक्त अन्य कुछ फल नहीं है। एक ही प्रमाणसे जो अर्थ सिद्ध हो सकता है, उसकी सिद्धिके लिए दो प्रमाणोंका उपन्यास करना अयुक्त भी है। आत्मा यदि शरीरातिरिक्त न होगा, तो स्वर्गफलभोगभागी न होगा। यदि आत्मा स्वर्गफलभोगभागी न माना जाय, तो 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि वाक्यमें प्रामाण्य नहीं होगा, और दोषादिकी संभावना न रहनेसे अपौरुषेय वेदवाक्यमें स्वतःप्रामाण्य सर्वसम्मत है। अतः आत्मा उक्त फलका भागी है, इसलिए शरीरातिरिक्त है, इस प्रकारकी अर्थापत्तिकी अपेक्षा आत्मा उक्तस्वरूप है, इसमें प्रमाणकी जिज्ञासा होनेपर साक्षात् श्रुति ही उक्तार्थमें प्रमाण है, यह कहना सर्वथा युक्तियुक्त है ॥ ४७१ ॥

आत्मा शरीरातिरिक्त तथा देहान्तरसम्बन्धी है, इसमें श्रुतिरूप प्रमाण कहते हैं—'योनिमन्ये' इत्यादि।

अन्ये—कर्मिणो देहिनः—अर्थात् कर्म करनेवाले जीव अपने-अपने कर्मके अनुसार विहित और निषिद्धके अनुष्ठान और परिवर्जनसे उत्पन्न पुण्यापुण्यके फलभूत सुखदुःखादिभोगके योग्य शरीर धारणके लिए शुभाशुभयोनि प्राप्त करते हैं। 'ये रमणीयचरणास्ते रमणीयां योनिमापद्यन्ते ब्राह्मणयोनिं क्षत्रिययोनिं वैश्ययोनिं वा ये कपूयचरणास्ते कपूयां योनिमापद्यन्ते श्वयोनिं सूकरयोनिं चाण्डालयोनिं वा' इत्यादि श्रुति भविष्यद्देहसम्बन्धमें प्रमाण है।

प्रश्न—भोक्ता भविष्यद्देहसम्बन्धी है इस ज्ञानके विना क्या हानि है?

उत्तर—उक्त ज्ञानके विना शरीरान्तरोपभोगयोग्य फलसाधन कर्ममें पुरुषकी प्रवृत्ति और निवृत्ति नहीं होगी। फलानुरागसे ही फलसाधनमें पुरुषकी प्रवृत्ति होती है, अन्यथा 'क्लिष्टं कर्म' इस न्यायसे अनेकविधद्रव्यव्ययायाससाध्य कर्ममें पुरुषकी प्रवृत्ति ही न होगी, प्रवृत्तिके अभावसे तत्-तत् फलोपायोपदेश व्यर्थ हो जायँगे ॥ ४७२ ॥

उक्त ज्ञानके बिना भी विधिवश प्रवृत्ति हो जायगी, इस शङ्काका निराकरण करते हैं—'भविष्यद्देह०' इत्यादिसे।

आगमेन विना साङ्ख्या आत्मानं स्वर्गमोक्षयोः ।
अनुगन्तारमवदन्ननु मानान्न तत्तथा ॥ ४७४ ॥

चेतन और भोक्ता आत्मा शरीरान्तरसम्बन्धी है; यह ज्ञान यदि वाक्य द्वारा न होगा, तो चार्वाकके सदृश कोई भी विद्वान् पारलौकिक फलके लिए कर्ममें प्रवृत्त न होगा, क्योंकि पारलौकिक तत्-तत् फलके लिए ही पुरुषकी तत्-तत् कर्ममें प्रवृत्ति होती है; इसलिए शरीरान्तरसम्बन्धी आत्मा है; ऐसा वेदवाक्यसे जानकर ही प्रामाणिकोंकी उक्त कर्ममें प्रवृत्ति होती है, ऐसा मानना पड़ेगा, अन्यथा तत्-तत् कर्ममें प्रेक्षावान्की प्रवृत्ति न होगी ॥४७३॥

'आगमेन' इत्यादि । सांख्याचार्य आगमके विना ही स्वर्ग-मोक्षके गन्ता आत्माको अनुमानसे ही मानते हैं, किन्तु यह मत ठीक नहीं है । अभिप्राय यह है कि अकारण, अकार्य, कूटस्थ और चैतन्य स्वरूप आत्मा है । अकारण होनेसे प्रकृतिसे भिन्न है; अकार्य होनेसे घटादिसे भिन्न है और कूटस्थ होनेसे अनित्य धर्मोंका आश्रय नहीं है ।

प्रश्न—यदि आत्मा कारण नहीं है, तो सृष्टि कैसे होगी ?

उत्तर—अचेतन प्रकृति आदिसे होगी ।

प्रकृतिसे महत्तत्त्व, महत्तत्त्वसे अहङ्कार, अहङ्कारसे पञ्च तन्मात्राएँ और एकादश इन्द्रियाँ पञ्च तन्मात्राओंसे पाँच आकाशादि महाभूत और उनसे घट, वृक्ष, गो आदि । महदादि सर्गके विना पुरुष स्वयं विषयका प्रकाशक नहीं है, क्योंकि निरपेक्ष पुरुष यदि विषयका प्रकाशक माना जायगा, तो सदा विषयका प्रकाश रहनेसे मोक्ष नहीं हो सकेगा । यदि इन्द्रिय आदि सापेक्ष विषयका प्रकाश मानते हैं, तो इन्द्रियादिके सद्भावमें संसार और इन्द्रियादिका लय होनेसे अपवर्ग सिद्ध होता है ।

शङ्का—अच्छा तो प्रकृति ही को विषयप्रकाशक मानिए, इन्द्रिय आदिका सर्ग उसके लिए व्यर्थ है ।

समाधान—प्रकृतिको यदि विषयप्रकाशक मानें, तो भी प्रकृति नित्य है, इसलिए सतत विषयप्रकाश होगा, तो उक्त अनिर्मोक्षापत्ति दोषका परिहार नहीं हो सकेगा ।

शङ्का—अच्छा तो चैतन्यसम्बन्धित्वको विषयका ही स्वभाव मानिये,

विषयका नाश होनेपर उक्त विषयस्वरूप भी नष्ट हो जायगा, इससे उक्त दोषका परिहार हो जाता है।

घटादि विषयका पुरुषके साथ साक्षात् सम्बन्ध तो हो नहीं सकता, किन्तु इन्द्रियादि द्वारा ही विषयका उक्त स्वभाव माना जायगा। साक्षात् सम्बन्ध माननेसे 'यह देखा, यह नहीं देखा' इत्यादि दृष्टादृष्टव्यवहार नहीं होगा। विषय जब तक व्यवहित भी रहेगा तबतक उसका भान होता रहेगा।

शङ्का—फिर भी बाह्येन्द्रिय द्वारा पुरुषका विषयके साथ सम्बन्ध मानिए, मनको माननेकी क्या आवश्यकता?

समाधान—यदि अनेक विषयोंके साथ एक कालमें अनेक इन्द्रियोंका सम्बन्ध होगा, तो युगपत् अनेकेन्द्रियजन्य ज्ञानकी आपत्ति होगी। यद्यपि इन्द्रिय द्वारा विषयोंका सम्बन्ध पुरुषके साथ है तथापि 'हमारा मन अन्यत्र था इसलिए हमने उक्त अर्थ नहीं समझा, फिर कहिए' इत्यादि व्यवहार देखनेसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि ज्ञान क्रमिक होते हैं। जहां कहीं युगपत्की प्रतीति होती है वहाँ सुसूक्ष्म क्षणके अनवधानसे उत्पलपत्रशतव्यतिभेदनकी तरह भ्रम है।

शङ्का—अच्छा तो व्यासङ्गके अनुरोधसे मनःसंयुक्तेन्द्रियसम्बद्ध विषयका उक्त स्वभाव माननेसे उक्त दोषोंका परिहार हो जाता है, अहङ्कार क्यों मानते हो?

समाधान—यदि इन्द्रिय और मनके द्वारा ही विषयका भान मानिएगा, तो सोये हुए मनुष्यको जैसे यह स्वप्न आता है कि हम देवस्वरूप हैं, वैसे ही हम नरस्वरूप हैं, यह भी ज्ञान होना चाहिए। नरत्व सन्निहित है और इन्द्रिय तथा मनका व्यापार है ही, इसलिए इन्द्रियमनोभिन्न अहङ्कार माननेकी भी आवश्यकता है। नियत विषयका अभिमानरूप व्यापार अहङ्कारका है।

प्रश्न—अच्छा तो अहङ्कारपर्य्यन्त मानिए, बुद्धि माननेकी क्या आवश्यकता है?

उत्तर—सुषुप्ति अवस्थामें जब इन्द्रिय, मन तथा अहङ्कारका कुछ भी व्यापार नहीं रहता, तब भी श्वास-प्रश्वासका व्यापार निरन्तर जारी रहता है। इससे

ज्ञात होता है कि उस समयमें कोई एक पदार्थ सव्यापार अनुवृत्त रहता है जिसमें ही अनुभव,वासना आदि रहते हैं वही बुद्धि या अन्तःकरणसे कहा जाता है। तदुपारूढ अर्थात् तत्तद्विषयाकार बुद्धिपरिणाम तत्तद्विषयाकार ज्ञान कहलाता है। तत्-तत् विषयाकार परिणाम द्वारा वे अर्थ पुरुषबुद्धिस्थ होते हैं। वे ही घटादि विषय स्वविषयकज्ञानरूप परिणाम द्वारा पुरुषके स्वरूपके व्यवधायक होते हैं। उक्त परिणामके रहनेसे संसारव्यवहार तथा उक्त परिणामके न रहनेसे अपवर्गव्यहार होता है।

प्रश्न—यदि बुद्धि कर्त्री है, तो 'चेतनः करोति' यह कृति और चैतन्यकी समानाधिकरण प्रतीति कैसे होगी ? क्योंकि चैतन्य पुरुषमें है और कृति बुद्धिमें है।

उत्तर—बुद्धि और पुरुषका विवेक न होनेसे पुरुषके धर्म बुद्धिमें और बुद्धिके धर्म पुरुषमें प्रतीत होते हैं। निष्क्रिय पुरुषमें कर्तृत्वाभिमान और अचेतन बुद्धि-तत्त्वमें चैतन्याभिमान होता है। बुद्धितत्त्व ही में कर्मवासना आदि रहते हैं। पुष्करपलाशके सदृश पुरुष निर्लेप है, क्योंकि पुण्य और पाप आदि पुरुषमें नहीं रहते, किन्तु उक्त बुद्धितत्त्वमें ही रहते हैं। आलोचन विषयका सामान्यदर्शन इन्द्रियोंका व्यापार है। विकल्प—'स्थाणुर्वा पुरुषो वा'—मनका असाधारण व्यापार है। 'अहं मनुष्यः' इत्यादि अभिमान अहङ्कारका एवं कृति तथा 'इदं इत्थमेव' (यह ऐसा ही है) यह निश्चय बुद्धिका असाधारण व्यापार है।

शङ्का—कृति और अध्यवसाय ये दोनों चेतनके धर्म हैं, अचेतन बुद्धिके धर्म कैसे हो सकते हैं ? घटादि विषयका बुद्धिके साथ संयोगादि सम्बन्ध नहीं हो सकता और सम्बन्धके बिना 'इदं करोमि' इत्यादि व्यवसाय नहीं हो सकता अन्यथा असन्निहित वस्तुके तात्पर्यसे भी उक्त प्रतीतिकी आपत्ति हो जायगी।

समाधान—चेतनका प्रतिबिम्ब पड़नेसे अचेतन भी बुद्धि चेतनके सदृश प्रतीत होती है और इन्द्रिय द्वारा बुद्धिका विषयाकार परिणाम ही विषयका ज्ञान है। उसीका कर्तव्य घट आदिके साथ सम्बन्ध होनेसे उक्त आपत्तिका परिहार होता है। बुद्धि और चेतनका भेदाग्रहसे एकत्वाभिमान होता है; अतएव 'चेतनोऽहं करोमि' इत्यादि प्रतीति भी उपपन्न होती है। यह एकत्वाभिमान पुरुषोपराग है। विषय और इन्द्रियके सन्निकर्षसे विषयाकार ज्ञानरूप परि-णामोत्पाद पारमार्थिक विषयका उपराग है। इन दोनों उपरागोंसे कर्तव्य घट आदि विषयका भान होनेसे 'करोमि' इस प्रकारका अध्यवसाय व्यापारावेश कहलाता

है। बुद्धि, उपलब्धि और ज्ञान— ये तीनों सांख्यमतमें भिन्न हैं, यह आगे स्पष्ट होगा। 'बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तरम्' इस न्यायसूत्रके अनुसार सांख्य उन्हें एक नहीं मानते। 'मया इदं कर्तव्यम्' इस अध्यवसायमें तीन अंश हैं। 'मया' यह चेतन पुरुषका उपराग है। और वह दर्पणमें मुखके उपरागके समान अतात्त्विक है। बिम्ब और प्रतिबिम्बका भेदग्रह नहीं होता, इसलिए प्रतिबिम्ब ही को अज्ञ मुख समझते हैं। वस्तुतः मुख दर्पणमें नहीं है, अतः दर्पणमें प्रतीयमान मुख अतात्त्विक है। प्रकृतमें भी दर्पणस्थानापन्न बुद्धिमें प्रतीयमान मुख-स्थानापन्न चैतन्य अतात्त्विक है। वस्तुतः बुद्धिमें चैतन्य नहीं है। 'इदम्' यह विषयका उपराग है; और वह इन्द्रिय द्वारा बुद्धिका विषयाकारपरिणामविशेष होनेसे निःश्वाससे दूषित दर्पणमालिन्यके सदृश तात्त्विक है। इन दोनों उपरागोंसे व्यापारावेशनामक तृतीय अंशकी प्रतीति बुद्धिमें होती है। बुद्धिसे ज्ञान और उपलब्धि भिन्न हैं। पूर्वोक्त व्यापारलक्षणा बुद्धि है। विषयेन्द्रियसम्बन्धसे बुद्धिका विषयोपरागस्वरूप विषयाकारपरिणामविशेष ज्ञान है, उस ज्ञानके द्वारा 'चेतनोऽहमिदं जानामि' इस आकारवाली बुद्धिमें आरोपित प्रतिबिम्ब चैतन्यका अतात्त्विक जो सम्बन्ध है, वही उपलब्धि अथवा पौरुषेय बोध कहलाता है।

शङ्का—बुद्धिसे अतिरिक्त पुरुष क्यों मानते हो। बुद्धिको ही चेतन माननेमें क्या आपत्ति है?

समाधान—आपत्ति यह है कि बुद्धितत्त्व परिणामी है, अतः वह अपरिणामशील चेतन नहीं हो सकता। इसलिए चेतनको बुद्धिसे अतिरिक्त मानते हैं। चेतनके बिना बुद्धिमें चैतन्यकी छाया नहीं पड़ सकती और चितिकी छायाके बिना अचेतन बुद्धितत्त्व चेतन प्रतीत नहीं हो सकता।

शङ्का—चैतन्य और कृति—इन दोनोंको एक ही अधिकरणमें 'चेतनोऽहं करोमि' इस प्रतीतिसे मानना चाहिए। कृतिको तो बुद्धि मानते ही हो, केवल चैतन्य माननेमें विवाद है। बुद्धिमें चैतन्यको भी मान लेनेमें क्या बाधक है?

समाधान—बुद्धिर्न चेतना, परिणामित्वाद्, घटादिवत्, यह अनुमान बाधक है।

प्रश्न—यदि अनुमान बाधक है, तो कृत्यंशको भी न मानिये, क्योंकि उसमें भी 'बुद्धिर्न कर्त्री, परिणामित्वात्, घटवत्' यह अनुमान बाधक है। इसलिए बुद्धिका स्वाभाविक धर्म कृति भी नहीं हो सकती।

उत्तर—वह्निरनुष्णः, कृतकत्वात्, घटवत्, इस अनुमानमें उष्णत्वका प्रत्यक्ष जैसे बाधक है, वैसे ही उक्त अनुमानमें कृतिका प्रत्यक्षज्ञान बाधक है, अतः उक्त अनुमान नहीं हो सकता।

प्रश्न—यह तो दोनोंमें समान है। उक्त प्रत्यक्षसे जैसे कृतिको बुद्धिमें मानते हो वैसे ही चैतन्यको भी मानो, क्योंकि 'चेतनोऽहं करोमि' यह प्रत्यक्ष कृति और चैतन्य—इन दोनों अंशोंमें समान है।

उत्तर—बुद्धि अचेतन प्रकृतिकी कार्य है। कार्य और कारणका तादात्म्य माना जाता है। बुद्धिमें यदि चैतन्य मानोगे, तो प्रकृतिका बुद्धिके साथ तादात्म्य नहीं बनेगा, क्योंकि चेतन और अचेतनका तादात्म्य अत्यन्त अनुपपन्न है।

प्रश्न—कर्ता प्रकृतिका कार्य है, यह कहना तो सर्वथा असंगत है, क्योंकि 'वीतरागजन्मादर्शनात्' इस न्यायसूत्रसे तथा उत्पन्न बालककी स्तनपानमें रागतः प्रवृत्तिके दर्शनसे भी कर्ता अनादि है, यही ज्ञात होता है। यदि सादि हो, तो प्रथम उत्पन्न बालककी स्तनपानमें प्रवृत्ति नहीं होगी, क्योंकि इष्टसाधनता ज्ञान चेतनप्रवृत्तिमें कारण है। वर्तमान जन्ममें अभी स्तनपान किया नहीं है, इसलिए जन्मान्तरानुभूत इष्टसाधनताका स्मरण कर 'इदं स्तनपानं मदिष्टसाधनम्, स्तनपानत्वात्, पूर्वानुभूतस्तनपानवत्' यह अनुमान जन्मान्तरीय अनुभूत स्तनपान-विषयक स्मरणके विना नहीं हो सकता। और विना इसके बालककी उक्त कार्यमें प्रवृत्ति नहीं हो सकती। प्रवृत्ति देखते हैं, इसलिए उक्त स्मरण पूर्वक प्रकृत अनुमान आवश्यक है। इससे यदि कर्ता अनादि है, सादि नहीं है, तो वह प्रकृतिका कार्य कैसे हो सकता है? और बुद्धिमें चैतन्य माननेमें यह भी बाधक है कि कार्यमें जो गुण पाये जाते हैं, वे सब कारणमें भी माने जाते हैं। बुद्धि प्रकृतिका कार्य है। यदि बुद्धिमें चैतन्य माना जाय, तो तत्कारण प्रकृतिमें उसे मानना पड़ेगा। यदि प्रकृति चेतन होगी, तो बुद्धि उसकी कार्य ही नहीं हो सकती, कारण कि वही पुरुष कहलायेगी। पुरुष न कारण है और न कार्य है, यह पूर्वमें कह चुके हैं। अच्छा तो जितने गुण कार्यमें देखे जाते हैं, वे सब कारणमें माने जाते हैं, यदि ऐसा सिद्धान्त आप मानते हों, तो बुद्धिमें राग, द्वेष और मोह ये गुण भी पाये जाते हैं; इसलिए ये सब गुण तत्कारण प्रकृतिमें भी माने जाँय? यदि ऐसा मानियेगा, तो रागादिगुणविशिष्ट प्रकृति

ही बुद्धिपदवाच्य होगी। उससे अतिरिक्त बुद्धि नामका पदार्थ ही नहीं हो सकेगा।

उत्तर—उक्त नियमके अनुसार प्रकृतिमें सूक्ष्मरूपसे रागादि मानते हैं और स्थूलरूपसे बुद्धिमें मानते हैं। स्थूलरूपसे रागादि जिसमें रहते हैं, वही बुद्धि कहलाती है, ऐसा माननेसे उक्त दोष नहीं आ सकता। ठीक है, इसी प्रकार सूक्ष्मरूपसे चैतन्यको भी प्रकृतिमें मान सकते हो। स्थूल चैतन्य बुद्धिमें ही रहता है, क्या ऐसा भी कह सकते हैं? हाँ, कह सकते हो, किन्तु अचेतनकार्य बुद्धि है। इसलिए उसमें चैतन्यको नहीं मानते। यह कहना भी तो असंगत ही है। बुद्धिमें अचेतनकार्य ही नहीं है, सूक्ष्मरूपसे भी चैतन्यको प्रकृतिमें माननेसे प्रकृति चेतन ही कही जायगी, अचेतन नहीं।

शङ्का—यदि बुद्धिमें चैतन्य मानेंगे, तो बुद्धिके कार्य घटादिमें भी चैतन्यकी प्रसक्ति हो जायगी।

समाधान—यह शङ्का तो राग आदि विषयमें भी कर सकते हैं।

शङ्का—आपके मतसे रागादि बुद्धिमें हैं, इसलिए तत्कार्य घटादिमें भी रागादिकी प्रसक्ति होनी चाहिए। रागादि घट आदिमें मानते हैं, किन्तु सूक्ष्म मानते हैं, स्थूल नहीं।

समाधान—यह तो चैतन्यांशमें भी कह सकते हैं। चेतन और अचेतनका विभाग भी स्थूल और सूक्ष्म चेतनके तात्पर्यसे हो सकता है। यह भी दोनोंमें समान समाधान है, इसलिए यज्जातीय कारणसे यज्जातीय कार्य देखते हैं, तज्जातीय कारणसे तज्जातीय कार्य होता है, ऐसा ही नियम मानना उचित है। जितने धर्मवाला कारण रहता है, उतने धर्मवाला कार्य होता है, ऐसा विशेषरूपसे नियम मानना समुचित नहीं।

तटस्थ—अच्छा तो अप्रस्तुत विषयका विचार रहने दीजिए, प्रस्तुत विषयमें कहिये?

वादी—बुद्धि नित्य है अथवा अनित्य? यदि नित्य है, तो बुद्ध्युपधान सतत रहेगा, अतः निरुपाध्यवस्थानात्मक मोक्ष नहीं हो सकेगा। यदि तन्नाश मानिये, तो अनुत्पन्न भावका नाश नहीं होता। इसलिए उसकी उत्पत्ति भी मानियेगा, ऐसी स्थितिमें उत्पत्तिसे प्रथम नियत बुद्धिकी उत्पत्तिका नियामक

कौन होगा ? प्रकृति तो सर्वसाधारण है अतः देव, मनुष्य आदि भेदसे भिन्न विविध सृष्टि कैसे होगी ?

उत्तर—पूर्व अध्यस्त बुद्धि विविध वासनावश विभिन्न सृष्टिकी नियामिका है।

शङ्का—बुद्धिरूप धर्मीका नाश होनेपर तद्धर्मवासना कैसे रहेगी ? क्योंकि आपके मतसे धर्म और धर्मीका तादात्म्य है। हमारे मतसे आश्रयका नाश कार्यका नाशक है; अतः उभय मतसे भी बुद्धिनाशोत्तर तद्धर्मवासना नहीं रह सकती। बुद्धिनाशोत्तर तद्धर्मवासनानुवृत्ति मानियेगा, तो आपका अप-सिद्धान्त होगा।

समाधान—यदि सर्वथा बुद्धिका नाश माना जाय, तो अपसिद्धान्त होगा। परन्तु सर्वथा बुद्धिनाश नहीं मानते, सूक्ष्मरूपसे बुद्धिकी अनुवृत्ति मानते हैं।

शङ्का—तब तो मुक्तिदशामें भी सूक्ष्मरूपसे बुद्धिकी अनुवृत्ति रहेगी। इसलिए उस समयमें भी संसारकी अनुवृत्ति अवश्य होगी, फिर मुक्ति कहां ?

समाधान—साधिकार बुद्धिकी अनुवृत्ति होनेसे संसारकी अनुवृत्ति होती है। निरधिकार बुद्धिकी अनुवृत्ति मोक्षदशामें होती है, इसलिए उस दशामें संसारा-पत्तिदोष नहीं हो सकता। बुद्धिमें जबतक संसार रहता है, तब तक विलीन भी बुद्धिमें वासनानुवृत्तिलक्षण अधिकार है। मुक्तिदशामें उक्त लक्षण अधिकार नहीं रहता, इसलिए फिर संसार कैसे हो सकता है ?

प्रश्न—यदि ऐसा मानते हो, तो संसारदशामें बुद्धि साधिकार है, अतः संसारका भान होता है। मुक्तिदशामें प्रसुप्तस्वभाव है, अतएव प्रवृत्त्यजनक बुद्धि ही ज्ञान आदिका आश्रय है। यही बुद्धि प्रकृतिपदका भी अर्थ है, ऐसा ही मानिये, बुद्धिसे अतिरिक्त प्रकृति आदिकी कल्पना व्यर्थ है। एक अर्थका भी निमित्तोपाधिवश अनेकशब्दसे व्यवहार होता है। जैसे एक ही वायुका ऊर्द्ध्वगत्यादि उपाधिभेदनिबन्धन प्राण, अपान आदि अनेकपदसे व्यवहार होता है, वैसे ही प्रकृतमें भी एक ही बुद्धिके प्रसुप्त आदि उपाधिसे प्रकृति, बुद्धि आदि शब्दसे व्यवहारमें क्षति नहीं है। इस प्रकार सांख्यमतखण्डनका संक्षेप है।

श्लोकार्थ—सांख्याचार्य वेदान्तवचनके विना 'स्वर्ग और मोक्षका गन्ता आत्मा है' यह कहते हैं। केवल अनुमानके बलसे तो उनका वैसा कहना

नैव साङ्ख्यानुमासिद्धमसङ्गमवगच्छतः ।
भाविदेहाद्यसम्बन्धे प्रवृत्तिः स्यात्क्रियास्विह ॥ ४७५ ॥
अहंबुद्ध्याऽनुमानाच्च कर्त्तारं तार्किका जगुः ।
मीमांसका अपि तथा न युक्तमुभयोर्मतम् ॥ ४७६ ॥

ठीक नहीं है । उनका आत्मानुमान यह है—अन्तःकरणमें जो चित्प्रतिबिम्ब है वह बिम्बस्वरूप चित्पुरस्सर है, प्रतिबिम्ब होनेके कारण, आदर्शमें मुख प्रतिबिम्बके समान । वे आत्मामें इसी अनुमानको प्रमाण मानते हैं । वेदको आत्मामें प्रमाण नहीं मानते, किन्तु उक्त अनुमान द्वारा ज्ञात आत्माके ज्ञापक वेदको अनुवादक मानते हैं ॥४७४॥

संक्षेपसे सांख्यमतका अनुवाद कर निराकरण करते हैं—'नैव सांख्या०' इत्यादिसे ।

सांख्यानुमानसिद्ध आत्मस्वरूप जाननेवालोंकी प्रवृत्ति अदृष्टफलार्थक क्रियामें नहीं हो सकती, कारण कि उनके अनुमानसे भाविदेहसम्बन्धका अभाव आत्मामें निश्चित होता है । यदि भविष्यद्देहसम्बन्ध आत्मामें हो ही नहीं सकता, तो देहान्तरोपभोगयोग्य फलके कर्मका अनुष्ठान ही क्यों करेंगे ? बड़े-बड़े विद्वान् भी कर्म करते हैं, अतः आत्मविषयक उक्त सांख्यानुमान ठीक नहीं है ॥४७५॥

तार्किकाद्यभिमत आत्मविषयक प्रमाणका संक्षेपानुवादपूर्वक निराकरण करते हैं—'अहं बुद्ध्या०' इत्यादिसे ।

नैयायिकादि स्वकीय आत्मामें 'अहं सुखी' इत्यादि प्रत्यक्ष प्रमाणको कहते हैं । परकीय आत्मामें अनुमानको प्रमाण कहते हैं । जैसे रथकी गति देखकर उसमें स्थित सारथीका अनुमान होता है, क्योंकि अचेतन रथमें चेतन अधिष्ठाताके विना गति दृष्टचर नहीं है, वैसे ही अचेतन शरीरमें चेतन अधिष्ठाताके विना गति नहीं हो सकती, अतः गतिमान् शरीरमें अधिष्ठाता आत्माका अनुमान होता है । देवदत्तशरीरं सात्मकम्, गतिमत्त्वात्, प्राणवत्त्वाद् वा, मच्छरीरवत् । गति तथा प्राणादिके सञ्चारसे परकीय शरीरमें आत्माका अनुमान होता है । यदि 'अहं सुखी' इत्यादि प्रत्यक्षको 'अहं श्यामः' इत्यादिकी तरह शरीरादि या अन्तःकरण-विषयक मानें, तो तदतिरिक्त आत्मामें यह अनुमान प्रमाण नहीं है । इस प्रकार विप्रतिपन्नके प्रति स्वात्मपरात्मसाधारण यह अनुमान प्रमाण है । इन्द्रिया-

नात्मनः कर्तृता युक्ता व्यापिनो निष्क्रियत्वतः ।
न चाकर्तुः फलं युक्तमायासो वादिनां वृथा ॥ ४७७ ॥

दिकं चेतनाधिष्ठितं सत् स्वकार्यकरम्, करणत्वात्, कुठारवत्, जैसे छिदादिकरण कुठार आदिसे चेतन अधिष्ठाताके बिना छेदनादि कार्य नहीं होता, वैसे अचेतन इन्द्रिय आदि अधिष्ठाता चेतन आत्माके बिना आलोचनादि कार्य नहीं करते। अतः इन्द्रियादिके अधिष्ठाता आत्माके दर्शनादि कार्यका अर्थ अवश्य मानना चाहिए। अथवा 'इच्छादयः अष्टद्रव्यातिरिक्तद्रव्यसमवेताः, गुणत्वात्, रूपादिवद्' इत्यादि अनुमान प्रमाण है। अन्य हेतुसे अष्टद्रव्यगुणत्व सिद्ध करके उक्त अनुमानसे परिशेषसे इच्छादिसमवायी आत्मा सिद्ध होता है। विस्तरभयसे द्रव्यान्तरगुणाभाव साधक अनुमानका निर्देश नहीं किया है। मीमांसकोंका भी यही मत है। परन्तु ये दोनोंके मत युक्तियुक्त नहीं हैं, कारण कि आत्मा विभु है। अतएव आकाशके समान निष्क्रिय है, इसलिए इतरकारकाप्रयोज्यत्वे सति कारकचक्रप्रयोक्तृत्वरूपकर्तृत्व आत्मामें नहीं बन सकता। आत्मा कूटस्थ नित्य है, अतः वह क्रियाश्रय नहीं हो सकता। व्यापारके बिना प्रयोजक नहीं हो सकता, इसलिए इनका अनुमान असंगत है ॥४७६॥

आत्मा कर्ता नहीं है, किन्तु भोक्ता अवश्य है, इस मतका निराकरण करते हैं—'नाऽऽत्मनः' इत्यादिसे।

यद्यपि आत्मा आकाशके समान व्यापक है अतएव उसके समान निष्क्रिय है, इसीसे कारण नहीं हो सकता, तो भी उसे भोक्ता माननेमें कोई अड़चन नहीं है। इसलिए उसे भोक्ता अवश्य मानना चाहिए। भोक्ताके बिना भोग्य सृष्टि नहीं बन सकती, अचेतन भोक्ता हो नहीं सकता। आत्मासे अतिरिक्त दूसरा कोई चेतन नहीं है, इस मतका निराकरण करते हैं—जिस कारणसे आत्मा कर्ता नहीं है, उसी कारणसे भोक्ता भी नहीं हो सकता। निर्व्यापारमें भोक्तृत्व भी नहीं बनता और यदि कर्तृत्वके बिना भी भोक्तृत्व मानेंगे तो अकृताभ्यागमकी प्रसक्ति होगी। यदि कर्ता ही भोक्ता होता है ऐसा नियम मानते हैं, तो जो पुरुष जैसा शुभ या अशुभ कर्म करता है, वह कृतकर्मानुरूप सुख, दुःख आदि फलभोगका भागी होता है। और यदि कर्तृत्वके बिना भी भोक्तृत्व मानेंगे तो कर्मके बिना भी तत्तत्फलभोक्तृत्वकी प्रसक्ति होगी। वैसा होनेपर नियामकके बिना

पारलौकिकवृत्तान्तमागमादेव वादिनः ।
ज्ञात्वा प्रच्छाद्य शास्त्रेषु स्वकीयेष्वन्यथावदन् ॥ ४७८ ॥
योगिप्रत्यक्षतो यद्वा जानन्त्येव महर्षयः ।
तथापि योगिता श्रौताऽनुष्ठानादेव नान्यथा ॥४७९॥

विहितके अनुष्ठानसे सुखप्राप्ति और निषिद्धके अनुष्ठानसे दुःखकी प्राप्ति होती है, यह नियम नहीं बनेगा और सुखार्थी विहितके अनुष्ठानमें नियमतः प्रवृत्त न होगा तथा दुःखपरिहारार्थी निषिद्धके अनुष्ठानसे नियमत निवृत्त न होगा, इस परिस्थितिमें विधि और निषेध शास्त्र व्यर्थ हो जायँगे, अतः कर्ता ही भोक्ता है, अन्य नहीं यह नियम सर्वमान्य है। अकर्ता भी आत्मा भोक्ता है, यह वादियोंका व्यवस्थापरक प्रयास व्यर्थ है ॥ ४७७ ॥

'पारलौकिक०' इत्यादि। निष्कर्ष कहते हैं—वस्तुतः वादिगण आगम ही से पारलौकिक वृत्तान्तको—स्वर्ग नरकादि समाचारको—जानकर आगमसे यह वृत्तान्त ज्ञात हुआ, इसको छिपाकर अर्थात् उन वाक्योंका उपन्यास हवाला न देकर केवल स्वपाण्डित्यप्रथाके लिए अर्थात् तदर्थमें साक्षात् आगम प्रमाण न बताकर अनुमानादि प्रमाणका उपन्यास करते हैं, यह आधुनिक विद्वानोंकी सिर्फ चालाकी है। स्वर्ग, नरकादि पारलौकिक पदार्थ ऐन्द्रियक नहीं हैं जिससे कि वे प्रत्यक्ष, अनुमान आदिसे जाने जायँ, केवल आगमैकवेद्य हैं। आगमसे अदृष्ट पदार्थोंका ज्ञान होनेके अनन्तर तदनुकूल तर्कसहकृत अनुमानसे विप्रतिपन्नको समझानेके लिए अनुमान आदिका योग है, यह परम तात्पर्य है ॥ ४७८ ॥

स्वर्ग आदि पारलौकिक पदार्थ आगमैकवेद्य हैं, यह व्यवस्था ठीक नहीं है, कारण कि योगी अतीन्द्रिय तथा विप्रकृष्ट एवं भावी भी पदार्थोंका साक्षात् करते हैं, अतएव योगीके प्रत्यक्षमें विषयेन्द्रियसन्निकर्ष कारण नहीं माना जाता। स्वर्गादि विप्रकृष्ट होनेपर भी योगियोंके प्रत्यक्षविषय हैं। अतः योगियोंने योगज साक्षात्कारसे उक्त इन्द्रियगोचर पदार्थोंको पूरा समझकर आगममें शिथिल श्रद्धाशीलोंको क्रियापुरःसर समझानेके लिए स्वतन्त्र अनुमानका प्रयोग किया है। एवं समाधि द्वारा शरीराद्यतिरिक्त आत्मस्वरूप भी योगीके साक्षात्कारका विषय है, अतः श्रुत्यैकवेद्य आत्मस्वरूप है, यह कहना अप्रामाणिक है, यही शङ्का करते हैं—'योगिप्रत्यक्ष०' इत्यादिसे।

महर्षिव्यवधानाद्वा साक्षाद्वा श्रुतिरेव हि ।
कर्त्रात्मनि प्रमाणं स्यात् स्वर्गादिफलभोक्तरि ॥ ४८० ॥
ब्रह्मात्मन्यप्यहंबुद्धिर्न मानं स्यात् कथञ्चन ।
बोधानुभवसंवित्तिशब्दैर्ब्रह्मात्मवर्णनात् ॥ ४८१ ॥

योगशब्दका प्रकृतमें निरुद्ध चित्तमें तात्पर्य है । 'मनसैवानुद्रष्टव्यम्' इत्यादि श्रुतियोंसे आत्माका दर्शन निरुद्ध चित्तसे होता है, यह विस्पष्ट है । ऐसे चित्तसे आत्माका देहान्तरसंयोग भी जानते हैं, तो भी चित्तनिरोध चित्त-वशीकारापरनामक श्रौत अनुष्ठानसे ही होता है । सारांश यह है कि आत्माका वास्तविक स्वरूप और तत्साक्षात्कारका उपाय तादृश योग प्रथम वेदवाक्य द्वारा ही ज्ञात होता है । तदनन्तर तादृश उपायके अनुष्ठानसे आत्मस्वरूपका साक्षा-त्कार होनेपर भी आत्मस्वरूप वेदैकवेद्य है, इस सिद्धान्तमें कोई अनुपपत्ति नहीं है । यदि वेदके बिना उपायान्तरसे आत्मस्वरूपका ज्ञान हो, तो वेदैकवेद्यत्वकी हानि होती, प्रकृतमें ऐसा है नहीं, इस अभिप्रायसे कहते हैं—'तथापि' इत्यादि । श्रौतानुष्ठानका फल आत्मज्ञान है । फलसे उपाय दूषित नहीं होता ॥४७९॥

उक्त अर्थका उपसंहार करते हैं—'महर्षिव्य०' इत्यादिसे ।

कर्ता तथा स्वर्गादि फलका भोक्ता आत्मा है, इस अर्थमें महर्षिव्यवधान या साक्षाद् श्रुति ही प्रमाण है । श्रुतिसे चित्तनिरोध, निरुद्ध चित्तसे आत्म-स्वरूपसाक्षात्कार, इस परम्परासे महर्षिव्यवहित आत्मसाक्षात्कार होता है । यदि श्रुति और तन्मूलक स्मृति द्वारा आत्मसाक्षात्कारोपाय तादृश योगका विधान न होता और योगीको स्वयं तादृश उपायका ज्ञान होता, तद्द्वारा आत्मस्वरूपका प्रत्यक्ष होता, तो उक्त सिद्धान्तका भङ्ग होता, किन्तु ऐसा है नहीं, इसलिए आत्मस्वरूप श्रुत्येकवेद्य है, यह सिद्धान्त व्यवस्थित रहा ॥४८०॥

कर्ता आत्मा जैसे श्रुत्येकवेद्य है, वैसे ही शुद्धात्मा भी श्रुत्येकवेद्य है, यह कहते हैं—'ब्रह्मात्म' इत्यादि ।

अहमित्याकारक बुद्धि जैसे कर्ता, भोक्ता आत्मा है, इसमें प्रमाण नहीं है, वैसे ही शुद्धात्मामें भी उक्त बुद्धि प्रमाण नहीं है, क्योंकि शुद्धात्मा स्वयंप्रकाश है । प्रकाशान्तरानपेक्ष प्रकाश ही स्वयंप्रकाश है । यदि आत्मप्रकाश अहमित्यादि-बुद्धिसापेक्ष हो, तो स्वयंप्रकाश नहीं कहा जा सकता ।

यस्याऽहंप्रत्ययस्याऽत्र सिद्धिः स्यादनुभूतितः ।
ततोऽहंप्रत्ययात्सिद्धिमश्नुतेऽनुभवः कथम् ॥ ४८२ ॥
आत्मनोऽहंधियः सिद्धिरात्मसिद्धिरहम्मतेः ।
अन्योन्याश्रयतैव स्यादहम्बुद्ध्यात्मनोर्ध्रुवम् ॥ ४८३ ॥

शङ्का—बोध स्वयंप्रकाश कहा जाता है ब्रह्म नहीं ।

समाधान—बोध, अनुभव और संवित्ति ये पर्य्यायवाची शब्द हैं । इन सबका अर्थ एक ही है, भिन्न नहीं । इन शब्दोंसे ब्रह्मका ही अभिधान होता है, अतः ये सब शब्द ब्रह्मबोधक हैं, यह फलित अर्थ है ।

किञ्च 'अहम्' बुद्धि आत्मग्राहक नहीं है, किन्तु आत्मग्राह्य है, जो आत्मग्राह्य है वह घटके समान आत्मग्राहक नहीं होता । घट जैसे आत्मग्राह्य है, अतएव आत्मग्राहक नहीं होता वैसे ही 'अहम्' इत्यादि बुद्धि भी आत्मग्राह्य है अतएव आत्मस्वरूपग्राहक नहीं हो सकती ॥४८१॥

'यस्याऽहं०' इत्यादि । जैसे 'अयं घटः' यह वृत्तिरूप ज्ञान जड़ है स्वतःसिद्ध नहीं है यह अनुभवरूप आत्मासे ही सिद्ध होता है वैसे ही अहमित्याकारक वृत्तिस्वरूपज्ञान जड़ ही है । उसकी भी सिद्धि अनुभवसे ही होती है, स्वतः नहीं । वह अनुभव स्वसिद्धिके लिए उक्त जडात्मक ज्ञानकी अपेक्षा क्यों करेगा ? क्योंकि वह तो स्वयंसिद्ध है, अतः अनुभवस्वरूप आत्माकी सिद्धि उक्त प्रत्ययापेक्ष नहीं है । और यदि आत्मा अहंबुद्धिग्राह्य है ऐसा मानोगे, तो घटके समान आत्मा भी जड़ हो जायगा । नैयायिक आत्माको जड़ मानते हैं, इसलिए वह अहंबुद्धिग्राह्य है, ऐसा कहते हैं । किन्तु अन्य लोग तो आत्माको जड़ नहीं मानते, इसलिए उनके मतमें आत्मा तादृशबुद्धिग्राह्य है, यह कैसे संगत हो सकता है ? अजड़ आत्मा चित्स्वरूप है, अतएव उसका स्फुरण प्रत्ययान्तरनिरपेक्ष है । आत्मा नाहंधीग्राह्यः, संविद्रूपत्वात्, संविदन्तरवत्, इस अनुमान द्वारा आत्मामें तदग्राह्यत्व ही सिद्ध होता है ॥ ४८२ ॥

अहंप्रत्ययग्राह्यत्वमें बाधकान्तर भी कहते हैं—'आत्मनोऽहं०' इत्यादिसे ।

अज्ञात आत्मा चक्षुरादिके सदृश ज्ञानका कारण नहीं है, अन्यथा सुषुप्तिकालिक आत्मामें ज्ञानोत्पादकत्वकी प्रसक्ति हो जायगी ।

शङ्का—इन्द्रियादिसहकृत आत्मा घटादिज्ञानका जनक है, ऐसा माननेपर सुषुप्तिकालमें इन्द्रियादि सहकारी कारणके विरहसे घटादिज्ञानोत्पत्तिका वारण कर सकते हैं। अहंप्रत्ययोत्पत्तिमें इन्द्रियादिको सहकारी कारण नहीं मानेंगे।

समाधान—यदि उक्त बुद्धिमें सहकारी कारण नहीं मानते, तो सुषुप्तिकालमें उक्त प्रत्ययोत्पत्ति हो जायगी। इसलिए ज्ञात ही आत्मा ज्ञानजनक है यदि ऐसा मानें, तो अहंप्रत्ययसे आत्मज्ञान और ज्ञात आत्मासे अहंप्रत्ययकी उत्पत्ति, इस प्रकार अहंबुद्धि और आत्मामें अन्योन्याश्रय स्पष्ट ही है। और भी बाधक सुनिए, अहंप्रत्ययो न आत्मग्राहकः, तत्कार्यत्वात्, रागादिवत्। आत्माका अहमित्याकारक ज्ञान कार्य है, अतः वह रागादिके सदृश आत्माका ग्राहक नहीं हो सकता। और भी दोष है,—आत्मा अहंधीग्राह्य नहीं है, किन्तु अहंधीका प्रकाशक है। जो जिसका प्रकाशक होता है वह उससे प्रकाश्य नहीं होता। जैसे घटका प्रकाशक प्रदीप घटका प्रकाश्य नहीं है, वैसे ही आत्मा भी अहंबुद्धिका प्रकाशक है, अतः वह उसका प्रकाश्य नहीं हो सकता। कार्य कारणका व्यापक नहीं, किन्तु व्याप्य होता है। अहंप्रत्यय आत्माका कार्य है, अतः वह आत्माका व्यापक नहीं है।

शङ्का—उक्त प्रत्यय आत्माका व्यापक न हो, फिर भी उसके प्रकाशक होनेमें क्या दोष है?

समाधान—तद्व्याप्तिके विना तन्मेयता कहीं भी दृष्टचर नहीं है। जब जब आत्मस्फुरण होता है तब तब तद्ग्राहक यदि अहंप्रत्यय नहीं है, तो उक्त प्रत्ययके विना भी आत्माका स्फुरण होता है, यह अवश्य मानना पड़ेगा। इसलिए व्यभिचारसे उक्त प्रत्यय उक्त अर्थमें कारण नहीं है, यह आगे अति स्पष्ट हो जायगा। और भी बाधक देखिए,—अहंप्रत्यय आत्मामात्रका ग्राहक है अथवा क्रियाकर्तृत्वविशिष्ट आत्माका? प्रथम पक्षमें मोक्षदशामें भी आत्मामें उक्त प्रत्ययग्राह्यत्वकी आपत्ति होगी। उक्त प्रत्यय यदि हो, तो मोक्ष ही नहीं बन सकता। मोक्षदशामें उक्त प्रत्ययके विना ही आत्माका प्रकाश होता है, ऐसा यदि मानिये, तो व्यवहारदशामें भी वैसे ही आत्माका प्रकाश होता है, ऐसा क्यों नहीं मानते? मोक्षदशामें आत्माका प्रकाश ही नहीं होता, यह कहना तो श्रुतिविरुद्ध तथा सर्वथा अनुचित है। 'नहि द्रष्टुः दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते' इत्यादि श्रुतिसे मोक्षदशामें भी आत्माका भान अत्यावश्यक है।

अथाऽहंधीः स्वप्रकाशा जड आत्मेति मन्यसे ।
तर्ह्यत्र भाषाभेदोऽयमावयोः परिशिष्यते ॥ ४८४ ॥

अज्ञात है आत्मस्वरूप जिसमें ऐसा मोक्ष अपुरुषार्थ हो जायगा, क्योंकि ज्ञात सुख आदि ही पुरुषार्थ माना जाता है, अज्ञात नहीं । द्वितीय पक्षमें अहंप्रत्ययक्रियाकर्तृत्वविशिष्ट आत्माका भान तादृशधीरूप क्रियाकालमें होता है या तादृशक्रियाके पूर्वकालमें? अथवा तदुत्तरकालमें? [ये तीन विकल्प सुखावबोधके लिए करते हैं ।] प्रथम पक्षमें अहंधीरूप क्रियाके प्रति आत्मा गुणभूत है और उक्त क्रिया प्रधान है । क्रियाकी सिद्धिके अनन्तर उक्त क्रियाके प्रति आत्मा कर्म नहीं हो सकता, कारण कि कर्म प्रधान होता है। एक ही पदार्थ एक क्रियाके प्रति एक ही समय गुण और प्रधान नहीं हो सकता । गुणत्व और प्रधानत्व एकनिरूपित एककालमें एक ही वस्तुमें नहीं रह सकते । द्वितीय तथा तृतीय विकल्पमें यदि उक्त क्रिया ही नहीं है, तो तादृश—क्रियाकर्तृत्वविशिष्ट—आत्मा भी नहीं है, फिर तादृश आत्मा अहमाकारबुद्धिवेद्य है, यह कहना तो सर्वथा असंगत है । और तादृशक्रियाकर्ता आत्माको यदि अहमाकारधीवेद्य मानियेगा, तो तादृशक्रियाकर्मत्वकी स्वमें भी आपत्ति होगी, क्योंकि विशिष्टका ग्राहक विशेषणका भी ग्राहक होता है, यह सर्वसंमत है ॥ ४८३ ॥

यदि पूर्वोक्त अन्योन्याश्रय दोषके परिहारके लिए आत्माको जड़ मानें और अहंप्रत्ययको स्वप्रकाश मानें, तो अहंकारसमवेत उक्त ज्ञानसे जड़स्वरूप आत्माकी सिद्धि होती है, ऐसा कहनेमें उक्त अन्योन्याश्रय दोष नहीं होता, यह शङ्का करते हैं—'अथाऽहंधीः' इत्यादिसे ।

उक्त प्रकार कहनेमें तो केवल शब्दमात्रका भेद है। हम आत्माको स्वप्रकाश कहते हैं, उक्त वृत्तिरूप ज्ञानको जड़, एवं आप आत्माको जड़ कहते हैं और उक्त ज्ञानको स्वयंप्रकाश । अर्थात् एक स्वयंप्रकाश और दूसरा जड़, यह आपको अभीष्ट है और हमको भी ।

प्रश्न—यदि मदुक्त प्रकार आपको भी अभीष्ट है, तो शब्दमात्रका विवाद त्याग कर मदुक्तप्रकार आत्माको आप भी मानिये?

उत्तर—आत्मा स्वयंप्रकाश है, एतदर्थप्रतिपादनपरक 'अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिः' इत्यादि श्रुतिविरोधसे भवदुक्त प्रकार ग्राह्य नहीं है । अच्छा तो

स्वप्रकाशाज्जडं सिद्ध्येदित्येतदुभयोः समम् ।
न जडं ब्रह्म तत्र स्यात् सत्यं ज्ञानमिति श्रुतेः ॥४८५॥
किञ्च संवित्प्रमेया चेत् संविदन्या फलं भवेत् ।
न च संविद्द्वयं भाति नाऽनुमेयं फलं क्वचित् ॥ ४८६ ॥

यह कैसे कहा कि जो आपको अभीष्ट है, सो हमको भी है। हमको तो 'आत्मा अहंधीग्राह्य है' यह अभिमत है, पर आपको यह अभिमत नहीं है, किन्तु स्वयंप्रकाश आत्मा है, यह अभिमत है। हां ठीक कहते हैं, हमारा अभिप्राय यह है कि स्वप्रकाशसे जड़की सिद्धि होती है, यह आपको अभीष्ट है और हमको भी ॥ ४८४ ॥

यही कहते हैं—'स्वप्रकाशा०' इत्यादिसे।

स्वप्रकाशसे जड़की सिद्धि होती है, यह हम और आप—दोनोंको अभिमत है। आप आत्माको जड़ कहते हैं, किन्तु यह पक्ष श्रुतिविरोधसे अश्रद्धेय है। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि श्रुतियोंसे आत्मा ज्ञानस्वरूप है, यह सिद्ध होता है। ज्ञानको आप स्वयंप्रकाश कहते ही हैं, फिर तदतिरिक्त आत्माको मानकर उसे जड़ कहना, यह अनुचित है। आत्माको स्वयंप्रकाश माननेसे उसीसे सकल व्यवहारकी सिद्धि होती है। अहमाकार-बुद्धि स्वयंप्रकाश है; इसकी आवश्यकता नहीं है ॥ ४८५ ॥

संवित्स्वरूपको अहंधीगम्य माननेमें दूषणान्तर भी कहते हैं—'किञ्च' इत्यादिसे।

यदि संवित् प्रमेय होगी, तो उसका फल संविदन्तर—ज्ञानान्तर—ही होगा। जैसे 'अयं घटः' इत्यादि स्थलमें घट प्रमेय है, उसका फल घटज्ञान है वैसे ही 'अहम्' इत्यादि स्थलमें भी यदि आत्माको अहमाकार-ज्ञानग्राह्य मानते हो, तो अहमाकारज्ञानका फल आत्मविषयक ज्ञानान्तर होना चाहिए। पर 'अहम्' इत्यादि आत्मग्राहक ज्ञानस्थलमें आत्माके दो ज्ञानोंकी प्रतीति नहीं होती। इसलिए संवित्स्वरूप आत्मा वेद्य नहीं है। वस्तुतः आत्मा असंवित्स्वरूप है अथवा संवित्स्वरूप ? प्रथम पक्षमें न्यायमतकी तरह आत्मा उक्त प्रत्ययसे वेद्य हो सकता है, परन्तु उक्त श्रुतिविरोधसे यह मत श्रद्धेय नहीं है। द्वितीय पक्षमें आत्मविषयक ज्ञानद्वयकी उपलब्धि उक्त प्रत्ययकालमें नहीं होती।

युगपद्व्यवसायानुव्यवसायवदात्मनि ।
अस्तु संविद्द्वयमिति प्रतीत्यैतत्पराहतम् ॥ ४८७ ॥
घटादिस्थितसंविद्वच्छुद्धायामपि संविदि ।
संविदन्या प्रतीयेत न चाऽसावात्मनीक्ष्यते ॥ ४८८ ॥

शङ्का—यद्यपि उक्त स्थलमें दो ज्ञान अनुभवसिद्ध नहीं हैं तथापि तद्विषयक व्यवहारमें तद्विषयक ज्ञान कारण है, यह नियम है। अन्यथा अज्ञात वस्तुके व्यवहारकी आपत्ति हो जायगी। उक्त स्थलमें आत्मव्यवहार होता है, अतः कार्यलिङ्गक अनुमानसे आत्मज्ञानका अनुमान कर सकते हैं।

समाधान—जो स्वयंप्रकाश नहीं है, उसके व्यवहारमें उक्त नियम है, स्वप्रकाशमें नहीं। प्रकाशान्तरनिरपेक्ष स्वव्यवहारहेतुत्व ही स्वप्रकाशत्व है। संवित्स्वरूप आत्मा स्वप्रकाश है, इसलिए उक्त अनुमान ही हो सकता है। अस्वप्रकाशघटादिविषयक स्थलमें ज्ञान स्वयंप्रकाश है। इसलिए उसके प्रकाशके लिए ज्ञानान्तरकी अपेक्षा नहीं है। अन्यथा वहां भी ज्ञानान्तरकी अपेक्षा होनेसे अन्योन्याश्रय और अनवस्था दोष होंगे। सब जगह संविद्व्यवहार संविदन्तरकी अपेक्षाके विना ही होता है; यही स्वप्रकाशका स्वभाव है ॥४८६॥

उक्त अर्थमें ही, अति स्फुट करनेके लिए, शङ्का करते हैं—'युगपद्' इत्यादिसे।

शङ्का—जैसे 'अयं घटः', 'घटज्ञानवानहम्' इस प्रकार व्यवसाय और अनुव्यवसायात्मक दो ज्ञान होते हैं, वैसे ही आत्मप्रमेय स्थलमें भी दो ज्ञान मानने चाहिएँ, दो ज्ञानोंको माननेमें क्या हानि है?

समाधान—घटादि प्रमेय स्थलमें उक्त दो ज्ञान अनुभवसिद्ध हैं। प्रकृतमें दो ज्ञानोंका अनुभव नहीं होता। फिर भी यदि दो ज्ञान मानेंगे, तो अनुभवविरोध होगा। अतः दो ज्ञानोंका कथन असंगत है ॥४८७॥

उक्त अर्थको ही स्पष्ट करनेके लिए पुनः कहते हैं—'घटादि०' इत्यादिसे।

घटादिविषयक संविद्की तरह शुद्ध संविद्में भी संविदन्तरकी प्रतीति होती, परन्तु संविदन्तरकी प्रतीति नहीं होती है, इसलिए घटादिजड़विषयक ज्ञानकी तरह आत्मातिरिक्त आत्मविषयक ज्ञान नहीं मान सकते। आत्मामें ज्ञानान्तरकी प्रतीति

नहीं होती है। जैसे ज्ञानान्तरके प्रभावसे आत्मामें वेद्यत्व नहीं है वैसे ही फलाभावप्रयुक्त भी वेद्यत्व नहीं है। यदि आत्मा प्रमेय होगा, तो फल प्रमातामें मानियेगा या प्रमेयमें? यह कहिए। प्रथम पक्षमें प्रमाता तो प्रमेय हो गया, तदतिरिक्त प्रमाता है नहीं, जिससे कि प्रमातृगत फल कहेंगे।

शङ्का—प्रमेय होनेपर प्रमाता भी तो है, अतः प्रमातृगत फल कह सकते हैं।

समाधान—प्रमेयगत फल नहीं होता, क्योंकि प्रमाता प्रमेय भी तो हो गया। इसलिए यदि प्रमातृगत फल कहेंगे, तो अर्थात् प्रमेयगत भी फल कहा जा सकता है। घटादि प्रमेय स्थलमें प्रकाशात्मक फल अप्रकाशात्मक घटादिमें कैसे रह सकता है?

यदि फलको अप्रकाशात्मक मानें, तो घटादि स्वयम् अप्रकाशात्मा हैं फलको भी अप्रकाशात्मा ही मानते हैं, तो ज्ञान होनेपर भी घटादिका प्रकाश न होगा। स्वतः या परतः घटादिका यदि प्रकाश न होगा, तो जगत् अन्धा हो जायगा। ज्ञान ही से जड़का प्रकाश माना जाता है। ज्ञान जड़ात्मक ही है, तो फिर प्रकाश कहांसे आवेगा?

शङ्का—घटादि प्रमेय जड़ है, इसलिए उसमें फल नहीं होता है। प्रकृतमें चेतन प्रमेय है, इसलिए प्रमेय होनेपर भी वह फलाश्रय हो सकता है।

समाधान—यदि घटादिकी तरह आत्मा भी प्रमेय है, तो घटादिके समान आत्मा भी जड़ ही हो जायगा। इसलिए घटादिके समान फलाश्रय भी नहीं हो सकेगा। यदि आत्मामें घटादिवैलक्षण्यकी सिद्धिके लिए संविद्रूपता मानें, तो आत्मामें प्रमाणजन्य ज्ञानान्तरकी कल्पना नहीं हो सकेगी। अनुभवविरोधसे ज्ञानद्वयका स्वीकार नहीं हो सकता, यह पूर्वमें ही कह चुके हैं। और भी सुनिए,—अहमाकारताज्ञान अनात्मधर्म है या आत्मधर्म है? प्रथम पक्ष तो आप भी नहीं मानते, अन्यथा चार्वाकादिमतके समान भूतचैतन्यवादकी आपत्ति हो जायगी। द्वितीय पक्षमें धर्मी धर्मसे अभिन्न है, अतएव भेदघटित धर्मिधर्मभाव नहीं बन सकता। यदि यह कहिए कि धर्म और धर्मीका भेद मानते हैं, तो भी गौ और अश्वके समान धर्म और धर्मिभाव नहीं हो सकता ॥४८८॥

किसीका मत है कि आत्मा द्रव्य और बोध—एतदुभयस्वरूप है। द्रव्यरूपसे मेयत्व और बोधरूपसे मातृत्व अवच्छेदकभेदसे एक हीमें दोनों धर्मोंके रहनेसे

द्रव्यबोधस्वरूपोऽयमात्मा यैरभ्युपेयते ।
तेषामपि मते युक्ता नाहंधीगम्यताऽऽत्मनः ॥ ४८९ ॥

आत्मा ग्राह्य और ग्राहक उभयस्वरूप कहा जाता है, अतः वह अहंबुद्धिग्राह्य है, इस मतका अनुवाद कर निराकरण करते हैं—'द्रव्यबोध०' इत्यादिसे ।

द्रव्य और बोध ये दोनों आत्माके स्वरूप हैं, अर्थात् उभयस्वरूप आत्मा है । उसमें द्रव्यांश अहंबुद्धि प्रमेय और बोधांश प्रमाता है, परन्तु यह मत ठीक नहीं है । [एतदात्मनिष्ठमहमिति ज्ञानं नैतदात्म्यविषयम्, एतदात्मनिष्ठसाक्षात्कारत्वात्, घट-साक्षात्कारवत्] जैसे घटका साक्षात्कार घटनिष्ठ नहीं होता, किन्तु तद्भिन्न आत्मनिष्ठ होता है वैसे ही 'अहम्' यह साक्षात्कार भी आत्मनिष्ठ नहीं हो सकता, किन्तु तद-तिरिक्तनिष्ठ ही हो सकता है । सारांश यह है कि 'अहम्' यह ज्ञान यदि आत्माका ग्राहक रहता, तो आत्मनिष्ठ नहीं हो सकता? यदि उसे आत्मनिष्ठ मानें, तो आत्म-विषयक नहीं हो सकता । और क्षणिक विज्ञान ही आत्मा है, इस बौद्धमतका जिस दोषसे निराकरण करते हो, वह दोष आपके मतमें भी है । क्षणिक विज्ञान ही यदि आत्मा है, तो उसमें ग्राह्यत्व और ग्राहकत्व ये दोनों विरुद्ध धर्म कैसे रहेंगे? आत्मा होनेसे वही ज्ञानग्राहक है और स्वयं ज्ञानग्राह्य है सो दोष आपके मतमें भी है । द्रव्य-बोध आत्मा है । बोध ग्राहक है, द्रव्य ग्राह्य है, इस प्रकार एक ही आत्मामें ग्राह्यत्व और ग्राहकत्व दोनों धर्मोंका समावेश समान है, फिर बौद्धमतकी अपेक्षा आपके मतमें क्या विशेष है? कुछ नहीं ।

यदि विशेष अभीष्ट है, तो आत्माको अहंधीग्राह्य न मानिए, इस कारणसे भी उक्त द्विरूप आत्मा अहंधीवेद्य नहीं हो सकता । आत्मांश बोधका ज्ञान स्फुरण है । उससे द्रव्यांशका स्फुरण नहीं होता, क्योंकि दोनों अंश मिथो भिन्न हैं । यदि बोधस्फुरणके विषय द्रव्यांशको भी मानिएगा, तो द्रव्य बोधसे अभिन्न हो जायगा । द्रव्यांश आत्माके स्फुरणसे यदि बोधांशका स्फुरण कहिएगा, तो बोध द्रव्यसे अभिन्न हो जायगा । अतः स्फुरणभेदसे प्रमाणभेद होता है । इसलिए उक्त द्विरूप आत्माकी सिद्धि एक ज्ञानसे नहीं हो सकती । द्रव्य और बोध एक ही आत्माका स्वरूप है, अतः अहंप्रत्ययकृत एक ही स्फुरण है, ऐसा माननेसे कोई अनुपपत्ति नहीं है । यह भी कहना ठीक नहीं है, कारण कि द्रव्य और बोध ये दोनों पदार्थ परस्पर व्यावृत्त विलक्षण हैं । एतदुभयस्वरूप आत्मा एक नहीं हो

सकता, क्योंकि द्रव्यादिभेदप्रयुक्त आत्मभेदकी प्रसक्ति हो जायगी। घटपटोभय प्रत्येकातिरिक्त अपूर्व कोई पदार्थ नहीं कहा जा सकता, वैसे ही प्रकृतमें भी समझना चाहिए। आत्मा आपके मतसे एकरस है, पर उसकी सिद्धि तो अहमाकारबुद्धिसे ही होगी, तो आपका भी मत बौद्धमतके समान ही है। आत्माकी सिद्धि परतः बौद्ध तथा आपके मतमें समान ही है। नहीं, नहीं, समान नहीं है, क्योंकि हमारे मतमें अनुभवस्वरूप आत्मा स्वयंप्रकाश अतएव स्वयंसिद्ध है। आत्मसिद्धिके लिए उक्त प्रत्यय आदिकी अपेक्षा नहीं है। आत्मा अहंधीगम्य नहीं है, इसमें यह भी कारण सुनिए, अहमित्याकारक बुद्धि आत्मामें प्रमाण नहीं है, कारण कि यह बुद्धि रागादिकी तरह प्रत्यक्ष है। प्रमाण अनुमेय होता है, प्रत्यक्ष नहीं, यह आपका मत है।

यदि कहिए कि अहङ्कार ही आत्मा है तदतिरिक्त नहीं, तो यह कहना नहीं बनता, क्योंकि अहङ्कार जड़ तथा परतन्त्र है, और आत्मा चेतन तथा स्वतन्त्र है। और भी अहंप्रत्ययवेद्यत्वके अभावमें कारण है। यदि अहंप्रत्ययको प्रमाण मानें, तो भी द्रव्य-बोधोभयांश आत्मा तत्प्रमेय नहीं हो सकता। तादृश आत्मज्ञानके बिना अहंबुद्धिज्ञान नहीं हो सकता और अहंबुद्धिज्ञानके बिना आत्म-ज्ञान नहीं हो सकता, इस तरह ज्ञानमें अन्योन्याश्रय है।

शङ्का—जैसे अज्ञात ही नेत्रादि घटादि प्रमितिके जनक हैं, वैसे ही यदि अज्ञात ही अहंधीको आत्मसाधक मानेंगे, तो अन्योन्याश्रय दोष नहीं होगा।

समाधान—आत्मज्ञानके बिना उक्त बुद्धि सिद्ध ही नहीं है जिससे कि अज्ञात उक्त बुद्धिको आत्मसाधक कह सकें, किन्तु अनुमेय मानते हैं। अनुमान तो आत्म-ज्ञानसे ही होगा, अन्यथा नहीं। अनुमानमें अन्योन्याश्रय दोष कह ही चुके हैं। बुद्धि प्रदीपके समान प्रकाशात्मक है। जैसे भासमान प्रदीप घटादिका साधक होता है वैसे ही भासमान ही बुद्धि आत्मसाधक होती है, अभासमान नहीं।

शङ्का—अच्छा तो आत्माके सत्तामात्रसे उक्त बुद्धिको साधक कहेंगे, तो अन्योन्याश्रय दोष भी नहीं होगा।

अहंबुद्धिकी अनुमिति आप मानते हैं। अनुमानमें आत्मसंवित् लिङ्ग है, लिङ्गज्ञानमें तद्विशिष्ट आत्माका भी ज्ञान आवश्यक है। आत्मज्ञान होनेपर अहंधीः, अहंधीसे आत्मज्ञान, इस तरह स्पष्ट अन्योन्याश्रय दोष है॥ ४८९॥

द्रव्यांशो यद्यहम्बुद्धिः स्यात्तदाऽन्योन्यसंश्रयः ।
बोधाद् द्रव्यांशसंसिद्धौ द्रव्याद्बोधः प्रसिध्यति ॥ ४९० ॥
बोधांशश्चेदहम्बुद्धिः किं द्रव्यांशेन ते वद ।
तत्त्यागे स्वप्रकाशोऽयं बोध आत्मेति शिष्यते ॥ ४९१ ॥
यदि बोधः स्वप्रकाशो वेदान्तैः क्रियतेऽत्र किम् ।
इति चेत्तमनूद्याऽस्य बोध्यते ब्रह्मरूपता ॥ ४९२ ॥

अन्योन्याश्रय कहते हैं—'द्रव्यांशो' इत्यादिसे ।

आत्मसाधकत्वरूपसे अभिमत अहंबुद्धि द्रव्यांश है, अथवा बोधांश ? प्रथम पक्षमें अन्योन्याश्रय है, क्योंकि अज्ञात बुद्धि आत्मसाधक नहीं होती, किन्तु 'प्रकाशो बुद्धिः' इस न्यायसे प्रदीपकी तरह ज्ञात बुद्धि ही आत्मसाधिका होती है और उसका भान अनुमानसे साकार ही होगा, क्योंकि बुद्धिका अनुमान करते हैं, ऐसा व्यवहार होता है, अहंबुद्धिके अनुमानमें ज्ञातता लिङ्ग है और उक्त लिङ्गज्ञानमें तद्विशिष्ट आत्मज्ञान हेतु है, इसलिए आत्माके ज्ञात होनेपर ही अहंबुद्धि होगी, इस अवस्थामें अन्योन्याश्रय स्पष्ट है ॥४९०॥

'बोधांश०' इत्यादि। यदि प्रकाशात्मक बोधको ही अहंकारावच्छिन्न अहंबुद्धि मानो, तो उसीसे सब व्यवहार सिद्ध हो जायगा, फिर तदतिरिक्त द्रव्यांश मानना व्यर्थ है । यदि द्रव्यांशको त्याग दो, तो हमारा ही मत सिद्ध होगा अर्थात् बोध ही आत्मा है, यही सिद्धान्त स्थिर रहा । 'एकमेवाद्वितीयम्', 'निष्कलम्' इत्यादि श्रुतियोंसे विरुद्ध दो अंशोंकी कल्पना आत्मामें अनुचित है। आत्मामें उक्त दो अंश न तो दृष्ट ही हैं, और न श्रुतिविरोधसे कल्पनाके योग्य ही हैं। और यह भी विकल्प होता है कि अहंप्रत्ययमें आत्मा ही केवल हेतु है या हेत्वन्तर भी है ? प्रथम पक्षमें आत्मा सदा रहता है और उक्त प्रत्ययोत्पत्तिकी सामग्री भी सदा रहती है, इसलिए सतत उक्त प्रत्ययोत्पत्तिका प्रसंग होनेसे स्वापादिकी असिद्धि होगी। आत्ममनःसंयोगादि अन्य कारणोंके माननेपर भी वे भी सदा रहते ही हैं, अतः उक्त आपत्तिका परिहार नहीं हो सकता ॥४९१॥

यदि आत्मा स्वप्रकाश है, तो वेदान्त अनुवादक ही होगा, इस शङ्काका परिहार करनेके लिए कहते हैं—'यदि बोधः' इत्यादि ।

यद्यपि आत्माके स्वप्रकाश होनेसे तदंशमें वेद अनुवादक हो सकता है, तथापि 'तत्त्वमसि' इत्यादि वेदान्तवाक्यसे परिशुद्ध जीवस्वरूपका अनुवाद कर वास्तविक

यतो मानानि सिध्यन्ति जाग्रदादित्रयं तथा ।
असन्त्यपि च सत्त्वेन तत्सद् ब्रह्मेति बोध्यते ॥ ४९३ ॥

परब्रह्मस्वरूपताका बोध होता है, अतः पदार्थांशके ज्ञात होनेपर भी अपूर्व वाक्यार्थका बोधक होनेसे अनुवादकत्वांश अयुक्त है ।

शङ्का—यदि ब्रह्म मानान्तरागोचर है, ऐसा मानते हैं, तो उसमें शब्दका शक्तिग्रह नहीं हो सकता, अतएव ब्रह्म बोधक वेदमें अबोधकत्वलक्षण अप्रामाण्यकी प्रसक्ति तदवस्थ है ।

समाधान—शुद्ध ब्रह्मके मानान्तरागोचर होनेपर भी उपहित ब्रह्म सब प्रमाणोंका विषय है, यह पूर्वमें कह चुके हैं, तदनुसार विशिष्टमें शक्ति है, अद्वितीय-परत्वान्यथानुपपत्ति आदि हेतुओंसे तद्बोधक शब्दोंकी शुद्ध ब्रह्ममें लक्षणा कर वेदान्त प्रमाण माने जाते हैं ।

इसलिए शुद्ध आत्मा वेदैकवेद्य है, यह मानकर कहते हैं—'यतो मानानि' इत्यादि ।

प्रत्यक्षादि प्रमाण जड़ हैं, स्वतः उनका प्रकाश नहीं होता, किन्तु आत्म-प्रकाशसे ही उनका प्रकाश होता है, अतः वे प्रमाण आत्माके प्रकाशक नहीं हो सकते, क्योंकि 'यो यत्प्रकाश्यः स तत्प्रकाशको न, यथा प्रदीपप्रकाश्यो रूपादिः न प्रदीपप्रकाशकः' एवं आत्मासे प्रकाशित होनेवाले प्रत्यक्षादि प्रमाण आत्मप्रकाशक नहीं हो सकते ।

शङ्का—आत्मा भले ही मानान्तरागोचर हो, किन्तु ब्रह्मस्वरूप नहीं हो सकता, कारण कि आत्माकी जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—ये तीन अवस्थाएँ हैं और ब्रह्म तीनों अवस्थाओंसे रहित है, अवस्थात्रयविशिष्टका अवस्थात्रयरहितके साथ ऐक्य नहीं हो सकता ।

समाधान—ठीक है, किन्तु प्रत्यगात्मा अवस्थात्रयविशिष्ट नहीं है, बल्कि अवस्थात्रयका साक्षीमात्र है ।

शङ्का—फिर भी सद्वय प्रत्यगात्माका अद्वय ब्रह्मके साथ ऐक्य अनुपपन्न है ।

समाधान—वस्तुतः प्रत्यगात्मा सद्वितीय नहीं है, किन्तु द्वैतमात्र उसमें कल्पित है, कल्पित धर्म ऐक्यमें बाधक नहीं होते, क्योंकि ऐक्यसमयमें कल्पित धर्मोंकी

अभातानि यतो भान्ति जडानि निखिलान्यपि ।
याऽनन्यदृक् स्वप्रकाशा सा चिद्ब्रह्मेति बोध्यते ॥ ४९४ ॥
योऽनन्यार्थो यदर्थं च सर्वं जगदिदं प्रियम् ।
सर्वं प्रियतमानन्दम् एप ब्रह्मेति बोध्यते ॥ ४९५ ॥
यमाश्रयति भेदोऽयं भावाभावात्मकोऽखिलः ।
न भावो नाऽप्यभावोऽसावभिन्नश्च निराश्रयः ॥ ४९६ ॥

निःशेष निवृत्ति हो जाती है, जब वे हैं नहीं, तब बाधक कैसे हो सकते हैं ? अतएव भावाभावविलक्षण तथा सुखलक्षण आत्माके लक्षित होनेसे शास्त्रोंमें वह सुखस्वरूपसे व्यवहृत होता है, अद्वितीय स्वमहिमप्रतिष्ठित कूटस्थ नित्य सच्चिदानन्दोदासीन चैतन्यमात्र आत्मा है, उसीमें भावात्मक प्रमात्रादित्रय, कर्तृत्वादित्रय तथा भोक्तृत्वादित्रय निखिल प्रपञ्च विवर्त्तरूपसे प्रतीत होता है; उस परमात्माके साथ साक्षीका ऐक्य वेदान्तवाक्योंसे बोधित होता है ॥ ४९२—४९३ ॥

स्वमर्थोक्ति द्वारा वाक्यार्थका निरूपण कर तदर्थोक्ति द्वारा फिर उसी वाक्यार्थका निरूपण करते हैं—'अभातानि' इत्यादिसे ।

घट, पटादि निखिल जड़ वस्तु जिससे भासित होती है और जिसमें रहती है और अनन्यदृक् अर्थात् जो प्रकाशान्तरसे निरपेक्ष भासमान है, वेदान्तवाक्य उस परमात्माके साथ साक्षीके अभेदका अर्थात् जीवब्रह्मैक्यका बोधन करते हैं ॥४९४॥

'योऽनन्यार्थो' इत्यादि । जो आत्मा अनन्यार्थ है और सब भोग्य प्रपञ्च जिस आत्माके लिए अर्थात् आत्मसुखप्राप्ति और दुःखनिवृत्तिके लिए है, वही ब्रह्म वेदान्तोंसे बोधित होता है। आत्मा अन्यार्थ नहीं है, अतः आत्माके प्रति प्रपञ्चमात्र गुणभूत है । आत्मा स्वयं प्रधान है, इसलिए वह किसीके प्रति गुणभूत नहीं है । 'न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति, आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति' इत्यादि महर्पि याज्ञवल्क्योक्ति द्वारा जाया, पति, पुत्र आदि सकल जगत् आत्मप्रीतिके लिए प्रिय माना जाता है । जगत्में अनौपाधिक प्रीति नहीं है । आत्मामें किसी दूसरेके लिए प्रीति नहीं होती, अतः वही प्रत्यगात्मा ब्रह्म कहा जाता है। अतिरिक्त नहीं । 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' इत्यादि श्रुतिवाक्योंसे अनेक चेतनवादका स्पष्टरूपसे प्रतिषेध कर एक चेतनवादका सिद्धान्त स्थिर किया गया है ॥४९५॥

'यमाश्रयति' इत्यादि । सम्पूर्ण भावाभावात्मक भेद अर्थात् घट, पट आदि

प्रमेयादित्रयं त्वेतत् परस्परविलक्षणम् ।
यस्मिन् विजृम्भते सोऽयमविकार्यविलक्षणः ॥ ४९७ ॥

भावरूप और घटाद्यभावात्मक अभावरूप परस्पर विलक्षण सारा जगत् जिसका आश्रित और जिसमें उत्पन्न है, वह ब्रह्म भाव तथा अभावसे विलक्षण एवं 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्', 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म', 'एतत्सर्वं यदयमात्मा' इत्यादि श्रुतियोंसे सबसे अभिन्न है तथा 'स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठितः' यह पूछनेपर 'स्वमहिम्नि प्रतिष्ठितः' इत्यादि श्रुतिसे स्वयं निराधार है, यह निश्चित होता है ॥ ४९६ ॥

'प्रमेयादि०' इत्यादि ।

शङ्का—उक्तलक्षण साक्षी है नहीं, फिर साक्षीके अभेदका ब्रह्ममें कैसे बोधन कर सकते हैं ।

समाधान—परस्पर विलक्षण प्रमात्रादित्रय, भोक्त्रादित्रय और कर्त्रादित्रय जिससे स्वात्मसत्ताका लाभ करते हैं, उसे अपनी सत्ताकी सिद्धिके लिए दूसरेकी अपेक्षा नहीं है, क्योंकि वह अबाधित कूटस्थ संवित्स्वरूप है । वही कूटस्थ बोध इस प्रमात्रादि साक्ष्यका साक्षी है । उसका निराकरण हो नहीं सकता, कारण कि उसका निराकरण करनेसे प्रमात्रादिका भावाभाव—सत्त्वासत्त्व—सिद्ध नहीं हो सकेगा । यद्यपि वह अविकारी, अविलक्षण और सर्वत्र एकरसरूपसे स्वयंसिद्ध है, तथापि विप्रतिपन्नके सन्तोषके लिए 'प्रमात्रादित्रयम् एतद्ग्राहकैन्द्रियकज्ञानातिरिक्तास्मदीयप्रत्यक्षग्राह्यम्, प्रत्यक्षत्वात्, कुम्भवत्, ऐसा अनुमान प्रयोग भी कर सकते हैं। प्रमात्रादिग्राहक ऐन्द्रियक ज्ञानसे अतिरिक्त प्रत्यक्ष अनुभवस्वरूप आत्मा 'यत्साक्षादपरोक्षात् ब्रह्म' इस श्रुतिसे निर्विवाद सिद्ध है, तद्ग्राह्यत्व पक्षमें है । दृष्टान्तमें 'अहं कर्ता' इत्यादि कर्तृत्वादिग्राहक मानस प्रत्यक्ष नैयायिकादिमतसे प्रसिद्ध है । तदतिरिक्त हुआ चाक्षुषप्रत्यक्ष, तद्ग्राह्यत्व कुम्भमें है । इस रीतिसे उक्त साक्षी अनुमानसे भी सिद्ध होता है ॥ ४९७ ॥

शङ्का—तो भी स्वापमें बोधमूर्ति साक्षीका अनुभव न होनेसे साक्षी नहीं है, यह शङ्का हो सकती है ।

असङ्कुचितचित्पद्मः सुप्तेऽपि स्वप्नबोधवत् ।
प्रज्ञानघन एवाऽयं सुप्तवत् स्वप्नबोधयोः ॥ ४९८ ॥
साक्ष्यसम्बन्धतः साक्षी न स्वतः साक्षिताऽऽत्मनः ।
प्रत्यङ्मात्रैकदृष्टित्वाद्धियां वाचामगोचरः ॥ ४९९ ॥

समाधान—जागरादि अवस्थामें साक्षीका अनुभव स्फुट है, इसलिए सुषुप्ति अवस्थामें भी वह है, यह अवश्य कहना होगा। 'नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते' इस श्रुतिसे अनुभव अविनश्वर है, सूर्यके सन्निधानसे जैसे कमल विकसित रहता है, वैसे ही आत्माके सन्निधानसे उक्तानुभव स्फुट रहता है, यही कहते हैं—'असंकुचित०' इत्यादिसे।

शङ्का—जैसे जागरादि अवस्थामें साक्षी सविशेष रहता है, वैसे ही सुषुप्तावस्थामें भी सविशेष होना चाहिए।

समाधान—जागरादि अवस्थामें आत्माके विषयस्थित होनेपर भी वस्तुतः सुषुप्तिके समान निर्विशेष ही है, क्योंकि 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' इत्यादि श्रुतिसे उक्त अवस्थाद्वयमें भी आत्मा विषयसङ्गी नहीं है, किन्तु सुषुप्तिके समान अविशिष्ट ही है, इसलिए उक्त दो अवस्थाओंके समान सुषुप्तावस्थामें भी आत्मामें सविषयत्वापादन असङ्गत है। इस अभिप्रायसे कहते हैं—'प्रज्ञानघन एवाऽयम्' अर्थात् अवस्थात्रयमें आत्मा प्रज्ञानघन एकरस ही है ॥ ४९८ ॥

'साक्ष्यसम्बन्धतः' इत्यादि।

शङ्का—बोध यदि साक्षी है, तो सविशेष होना चाहिए।

समाधान—साक्ष्यके सम्बन्धसे साक्षित्व है, साक्ष्य अविद्यासे कल्पित है, अतः उक्त साक्षित्व भी कल्पित ही है। कल्पित धर्म वास्तविक अविशेषत्वका विरोधी नहीं होता, क्योंकि कल्पित भुजङ्गत्व वास्तविक रज्जुत्वका विघातक नहीं होता है।

शङ्का—फिर भी बोध वागादिविषय है, इसलिए सविशेषत्वकी प्रसक्ति होती है, क्योंकि निर्विशेषका शब्दादि द्वारा बोध नहीं हो सकता।

समाधान—बोध प्रत्यङ्मात्र (चिन्मात्र) स्वरूप होनेसे वागादिविषय ही नहीं, अतः आपादककी असिद्धिसे आपाद्यका अपादान ही नहीं हो सकता। 'यतो वाचो

अस्मत्पक्षे तु कर्तृत्वमविद्यामात्रकल्पितम् ।
तदभावान्न संसारो भूतो भावी न वर्तते ॥ ५०० ॥

निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' इत्यादि श्रुतिसे जब प्रत्यङ्मात्र बोध किसीका विषय ही नहीं है, तो वाग्का विषय ही कहांसे होगा ? ॥ ४९९ ॥

शङ्का—अनुभवात्मा सविशेषः, कर्तृत्वात्, राजवत्, इस अनुमानसे फिर आत्मामें सविशेषत्वकी आशङ्का होती है, कर्तृत्वादि हेतु आत्मामें नहीं है, यह तो नहीं कह सकते, क्योंकि साक्ष्यके सम्बन्धसे उक्त बोधमें साक्षित्व है, ऐसा आप मानते हैं, अतः साक्ष्यसम्बन्धकर्तृत्व आप मानते ही हो ।

समाधान—'अस्मत्पक्षे तु' इत्यादिसे ।

हमारे पक्षमें कर्तृत्वादि निखिल धर्म केवल अविद्यासे कल्पित हैं, वास्तविक नहीं, अतः तत्त्वज्ञानसे सब कल्पनाओंके निदान अज्ञानका ध्वंस होनेपर अज्ञानहेतुक सब बन्धोंका ध्वंस हो जाता है, इसलिए भूत, भावी संसार कुछ नहीं रह जाता है ।

शङ्का—अज्ञान अनादि तथा अनुभवमात्रसे सिद्ध है, अतः आत्माकी तरह वह निवृत्त नहीं हो सकता ।

समाधान—यद्यपि अज्ञान अनादि तथा अनुभूतिसे प्रकाशित है, तो भी आत्माके समान अविनाशी नहीं है, कारण कि आत्मा भावस्वरूप है और अज्ञान भावसे विलक्षण है, अनादि भावस्वरूपकी निवृत्ति नहीं होती, ऐसा नियम है, अतः घट प्रागभावको नैयायिक अनादि मानकर घटोत्पत्तिसे उसका नाश भी मानते हैं, इसी तरह अज्ञानके भावविलक्षण और अनादि होनेपर भी ज्ञानसे वह नष्ट होता है, ऐसा माननेमें कोई आपत्ति नहीं है ।

शङ्का—घटप्रागभाव तो घटोत्पत्तिमात्रसे निवृत्त होता है और अज्ञान केवल तत्त्वज्ञानमात्रसे निवृत्त नहीं होता है, किन्तु आवृत्तिकी अपेक्षा करता है अर्थात् ध्यानसे निवृत्त होता है ।

समाधान—ध्यान भी तत्त्वज्ञानोत्पत्तिमें कारण है । ध्यानसे तत्त्वंपदार्थाभेदबोधमें प्रतिबन्धकीभूत अयोग्यताज्ञानकी निवृत्ति होती है । तदनन्तर केवल 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यसे उत्पन्न आत्मैक्यज्ञान तत्क्षणमें अज्ञानका नाशक होता है, यह अद्वैतवेदान्तका सिद्धान्त है, इस अर्थमें दृष्टान्त देते हैं—

स्वाभाविक्यप्यविद्येयमनुभूत्या विभासिता ।
तमः सूर्योदयेनेव ज्ञानेनोत्कृत्य नाश्यते ॥ ५०१ ॥
अनाद्यपि तदज्ञानं ज्ञानेनाऽऽदिमता क्षणात् ।
दृश्यते नाश्यमानं हि घटाद्यज्ञानबोधयोः ॥ ५०२ ॥
एवम्भूतः स्वयं प्रत्यक् सर्वाज्ञानादिसाक्ष्यपि ।
व्युत्पत्तेः प्रागविज्ञातः संस्तथैवाऽनुभूयते ॥ ५०३ ॥

जैसे सूर्यके उदयमात्रसे अन्धकारका नाश होता है, वैसे ही उक्त तत्त्वज्ञानसे अज्ञानका नाश होता है ।

शङ्का—यदि ऐसा है, तो जीवन्मुक्ति नहीं बन सकती, क्योंकि जीवन्मुक्ति-दशामें संस्कारात्मना अविद्यानुवृत्ति मानी जाती है, अन्यथा शरीरधारणोपयोगी व्यापार नहीं हो सकेगा ।

समाधान—उत्कृत्य—अवयवशः शिथिलीकृत्य—अर्थात् अरुणोदयवेलासे शनैः शनैः अन्धकार शिथिल होने लगता है और सूर्योदयके बाद निःशेष निवृत्त हो जाता है, वैसे ही तत्त्वज्ञान भी शनैः शनैः अविद्याको शिथिल करता हुआ संस्कारसहित अविद्यानाशप्रतिबन्धक प्रारब्धकर्मोंके क्षयके अनन्तर समूल अज्ञानका नाश करता है, इस व्यवस्थासे जीवन्मुक्तिकी भी अनुपपत्ति नहीं है ॥५००,५०१॥

'अनाद्यपि' इत्यादि । सादि ज्ञान अनादि आत्माके अज्ञानको क्षणमात्रमें नष्ट करता है, क्योंकि अनादि घटाज्ञानका सादि घटज्ञानसे नाश देखते हैं । घटज्ञानोत्पत्तिसे पहले घटका अज्ञान ही रहता है । घटका अज्ञान कबसे है, यह कोई कह नहीं सकता, किन्तु घटज्ञान साधनसापेक्ष होनेसे सादि है, इसमें किसीको विवाद नहीं है एवं आत्माका अज्ञान अनादिकालसे धाराप्रवाहन्यायसे अनुवर्तमान है, साधन-सम्पत्तिके अनन्तर तत्त्वज्ञान सादि है फिर भी अनादिनिबिडवासनावबद्ध मूल अज्ञान अचिरोत्पन्न तत्त्वज्ञानसे क्षणभरमें नष्ट हो जाता है । 'धियां तत्त्वे पक्षपातः' इस न्यायसे तत्त्वविषयकबुद्धि अतत्त्वबुद्धिसे प्रबल होती है, यह सर्वसम्मत पन्था है ॥

यदि शङ्का हो कि स्वयंप्रकाश आत्मामें अज्ञानका सम्भव नहीं है, कौन कह सकता है कि सूर्यमें अन्धकार रहता है, तो इसका समाधान करते हैं—'एवंभूतः' इत्यादिसे ।

तस्मात्तत्त्वमसीत्यादेरागमादेव नान्यतः ।
ऐकात्म्यवस्तुनः साक्षाद् व्युत्पत्तिरविचालिनी ॥ ५०४ ॥
कार्यं निरोधः प्रतिपत्प्रसङ्ख्यानमखण्डनम् ।
अत्राधानानुवादौ च प्रामाण्याय विचारिताः ॥ ५०५ ॥

* इति वार्त्तिकसारे प्रामाण्यपरीक्षाख्यं तृतीयंप्रकरणं समाप्तम् *

सर्व बुद्धि और तद्वृत्तियोंका साक्षी आत्मा स्वप्रकाश है; तो भी तत्त्वज्ञानकी उत्पत्तिसे पूर्व स्वानुभवसे अज्ञात ही सिद्ध है, इसलिए प्रमाणकी प्रवृत्ति इसमें भी होती है, यह मानना ठीक है, सूर्यमें तम नहीं रहता, इसका कारण यह है कि सूर्य स्वरूपसे तमका विरोधी तथा निवर्त्तक है । यद्यपि बोधस्वरूप आत्मा स्वरूपसे अज्ञानका विरोधी नहीं है, क्योंकि आत्मामें ही अज्ञान रहता है, तथापि प्रमाणवृत्त्युपारूढ आत्मा अज्ञानका विरोधी है । जैसे रुईका प्रकाशक सूर्यका प्रकाश है, उसका नाशक नहीं है, किन्तु सूर्यकान्तप्रतिविम्बित सूर्यालोक रुईका नाशक होता है । अतएव संक्षेपशारीरिकका वचन है— 'आश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विभागचितिरेव केवला' इत्यादि ॥ ५०३ ॥

यदि प्रमाणसे अज्ञान और तत्कार्यका ध्वंस मानते हैं, तो प्रत्यक्षादिको ही तद्ध्वंसक क्यों नहीं मानते ? तो इस शङ्काका समाधान करते हैं—'ऐकात्म्य०' इत्यादिसे ।

चूं कि 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्यार्थज्ञानसे पूर्व ('अहं ब्रह्म' इस ज्ञानसे पूर्व) आत्मतत्त्व अविज्ञात रहता है और तदनन्तर ही ज्ञात होता है, अतः 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यसे ही स्वब्रह्माभेदापरोक्षमें प्रमिति होती है । अनौपाधिकनिर्विकल्पोक्तापरोक्षमें प्रमाणान्तरकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती । प्रमाणान्तर सोपाधिविषयक है, यह पूर्वमें कह चुके हैं । उक्त प्रमिति सकारण सर्वबन्धविध्वंसक होनेसे अपुनरावृत्तिलक्षण मोक्षफलको देनेवाली है । अतएव अति दृढा है, एतदर्थ सब वेदान्तोंकी प्रवृत्ति है ॥ ५०४ ॥

'कार्यं निरोधः' इत्यादिसे । कार्य—अपूर्व, निरोध—चित्तवृत्तिनिरोध, प्रतिपत्—साक्षादात्मक प्रतिपत्ति, प्रसंख्यान—प्रत्ययावृत्तिस्वरूप ध्यान, प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे अबाध तथा अनुवाद—इनका वेदप्रामाण्यके लिए पूर्वमें पूरा विचार

किया गया। वेदान्त अखण्डार्थपरक हैं और अखण्डार्थ प्रमाणान्तरसे अप्राप्त है, अतः अपूर्वार्थबोधकत्वरूपसे वेदान्तमें प्रामाण्य व्यवस्थित किया गया है। परमपुरुषार्थमोक्षफलक अखण्डार्थज्ञानके लिए वेदान्तका आरम्भ है।

उपसंहार—यदि देहान्तरसम्बन्धी आत्माका अस्तित्वज्ञान न हो, तो जन्मान्तरीय इष्टप्राप्ति और अनिष्टपरिहारकी इच्छा ही न होगी, क्योंकि स्वभावादिवाद भी देखे जाते हैं। जन्मान्तरसम्बन्धी आत्मा है। तथा जन्मान्तरीय इष्ट और अनिष्ट विशेषके बोधनके लिए शास्त्र हैं—'येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये अस्तीत्येके नायमस्तीति चैके'। इस सन्देहका उपक्रम कर 'अस्तीत्येवोपलब्धव्यः' इत्यादि निर्णय देखा जाता है और मरणके अनन्तर—

'योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः।
स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम्॥'

तथा 'स्वयंज्योतिः' इसका उपक्रम कर 'तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते' 'पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति, पापः पापेन' इत्यादिका उपक्रम कर 'विज्ञानमयः' इत्यादिसे श्रुतिने शरीरादिसे अतिरिक्त आत्माका प्रतिपादन किया है।

शङ्का—आत्माका तो सबको प्रत्यक्ष ही है, इसलिए शास्त्रकी क्या आवश्यकता है?

समाधान—यदि आत्माका घटादिके समान सबको वास्तविक प्रत्यक्ष होता, तो इस विषयमें वादियोंका विवाद ही न होता। प्रत्यक्षसिद्ध घटमें अस्तित्वनास्तित्वके लिए कोई भी विवाद नहीं करता, परन्तु आत्मा देहान्तरसम्बन्धी है, इसमें चार्वाक तथा बौद्धोंका विवाद है, अतः देहान्तरसम्बन्धित्वका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। वर्तमानकालमें देहान्तरसम्बन्ध नहीं है, अतः प्रत्यक्षकी योग्यता भी नहीं है, असाधारण लिङ्ग न होनेसे अनुमान भी नहीं हो सकता।

प्रश्न—नैयायिक तथा मीमांसक आत्माको प्रत्यक्ष तथा अनुमेय कहते हैं।

उत्तर—हां कहते हैं, प्रथम वेदवाक्य या तन्मूलक स्मृत्यादि द्वारा प्रदर्शित लिङ्गविशेषसे स्वयं आत्माको समझकर वे अपनी विद्वत्ताकी प्रथाके लिए वेदवाक्योंका निर्देश न कर यह मद्विहित अनुमान है, ऐसा कहते हैं, अस्तु! देहान्तरसम्बन्धी आत्मा है, ऐसा जिसको दृढ विश्वास है, वह देहान्तरगत

इष्टप्राप्ति और अनिष्टपरिहारका अभिलाषी होता है। इष्ट तथा अनिष्ट विशेषके ज्ञापनके लिए कर्मकाण्डका आरम्भ हुआ है। परन्तु इष्टप्राप्ति और अनिष्टपरिहारकी इच्छाके कारणीभूत आत्मविषयक कर्तृत्वभोक्तृत्वस्वरूपाभिमानलक्षण अज्ञानका उसके विपरीत ब्रह्मात्मस्वरूपबोधन द्वारा निराकरण नहीं होगा, और जबतक इस अज्ञानका निराकरण ही नहीं होगा, तबतक कर्मफल रागादि स्वाभाविक दोषसे शास्त्रविहितादिका उल्लङ्घन कर मानसिक, वाचिक और कायिक कर्म द्वारा अधर्मसंज्ञक कर्मका संपादन करते रहेंगे। इससे स्थावरान्त अधोगति अनिवार्य है। किसी समय प्राचीन शोभन संस्कारके बलसे मानसिकादि-व्यापारसे धर्मका सम्पादन करता है।

धर्म दो प्रकारका होता है—एक ज्ञानपूर्वक और दूसरा केवल। केवलसे पित्रादिलोककी प्राप्ति होती है और ज्ञानपूर्वक कर्मसे देवलोकादि कार्यब्रह्मलोकान्तकी प्राप्ति होती है। स्मृतिमें लिखा है—'द्विविधं कर्म वैदिकम्' धर्म और अधर्म समान रहता है तो मनुष्य योनि मिलती है। धर्म अधिक रहता है, तो देवयोनि मिलती है। पापबाहुल्यसे नरकान्त गति होती है। धर्माधर्मसाधनकृत नामरूप कर्माश्रय संसारगति होती है, इस प्रकार बीजाङ्कुरके समान अनादि अविद्याकृत संसार आत्मामें अनर्थ है, इस संसारचक्रसे जो पुरुष विरक्त हैं, उनके अज्ञानकी निवृत्तिके लिए तद्विपरीत ब्रह्मविद्याकी प्राप्तिके लिए उपनिषदोंका आरम्भ है।

शङ्का—ज्ञान भी तो कर्मविषयक ही है।

समाधान—नहीं, क्योंकि 'योऽश्वमेधेन यजते य उ चैनमेवं वेद' इस प्रकार विकल्पका श्रवण है, अर्थात् जो फल अश्वमेध यागसे होता है, वह उसके ज्ञानसे भी होता है, प्रकृत फलमें दोनों स्वतन्त्र साधन कहे गये हैं, अतः कर्मनिर-पेक्ष केवल ज्ञानसे भी प्रकृत फल होता है, यह स्पष्ट है। विद्याप्रकरणमें कर्मका कथन सम्पूर्ण कर्म संसारविषयक हैं, यह दिखलानेके लिए है, आगे संसार-भोगमें मृत्यु-सत्तारूप फल स्पष्ट कहेंगे।

शङ्का—अच्छा तो कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्डका परस्पर क्या सम्बन्ध है? यह प्रकृत विषय कहिए।

समाधान—कर्म करनेसे बुद्धिकी शुद्धि होती है, बुद्धि शुद्ध होनेपर वैराग्य होता है, तदनन्तरः ज्ञानकी उत्पत्ति होती है, इससे परम्परा द्वारा कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्डका साध्यसाधनभाव सम्बन्ध है, यह स्पष्ट ज्ञात होता है।

शङ्का—यदि स्वर्गादि पुरुषार्थविशेषोपायार्थके प्रति कर्मकाण्डका आरम्भ है, तो कर्मकाण्डसे ही अभीष्ट सिद्ध हो जायगा, फिर ज्ञानकाण्डके उपदेशकी क्या आवश्यकता है ?

समाधान—उक्त उपाय द्वारा पूर्ण अभीष्ट सिद्ध नहीं होगा, अतः पूर्ण पुरुषार्थके प्रार्थियोंके लिए उपनिषद्का आरम्भ है।

शङ्का—कर्मोंसे पूर्ण पुरुषार्थ माननेमें क्या आपत्ति है ?

समाधान—आपत्ति यह है कि कर्मजन्य फल नित्य निरतिशय नहीं होता, किन्तु सातिशय तथा क्षयितालक्षणदुःखसे संयुक्त होता है। उद्विग्न पुरुष उससे भी विरक्त होकर नित्यनिरतिशय फलकी कामना करता है। उसके लिए ज्ञानकाण्डका आरम्भ है।

शङ्का—कर्मसे निःशेष दुःख निवृत्त नहीं होता और ज्ञानसे निःशेष दुःख निवृत्त होता है, इसमें क्या कारण है ?

समाधान—सुख सतत हो दुःख कभी भी न हो इस तरह सुखप्राप्ति और दुःखनिवृत्तिकी इच्छाका निदान आत्माका अज्ञान है। कर्मोंसे उक्त अज्ञानकी निवृत्ति नहीं होती, कर्मका अज्ञानसे कोई विरोध नहीं है बल्कि उपजीव्योपजीवकभाव है। ज्ञानका अज्ञानके साथ अन्धकार और प्रकाशके सामन विरोध है। इसलिए ज्ञानसे अज्ञानकी निवृत्ति होती है। अज्ञान ही दुःखका मूल है मूलके निवृत्त होनेपर शाखा पल्लवादि भी निवृत्त हो जाते हैं।

शङ्का—सुखादिकी प्राप्ति आदिकी इच्छाका मूल क्या है ? क्योंकि कारणके विना कार्य तो होता नहीं, यदि उक्त इच्छाका मूल अज्ञान है, यह कहो, तो कर्म क्यों नहीं हो सकता ?

समाधान—निःशेष दुःखनिवृत्ति तथा सम्पूर्ण फलप्राप्तिकी इच्छा अज्ञानसे प्राणियोंको होती है। कर्मसे नहीं ?

शङ्का—क्यों ?

समाधान—नित्य मोक्ष और अनित्य स्वर्गादि—ये दोनों फल अथवा सुख और दुःखध्वंस आत्मस्वरूप होनेसे चैतन्यके समान नित्य प्राप्त हैं। इच्छा अप्राप्तकी होती है, प्राप्तकी नहीं होती। विषयप्राप्ति प्रत्युत इच्छाकी निवर्तिका है, इसलिए प्राप्त भी फल अज्ञानसे अप्राप्तके सदृश प्रतीत होता है, ज्ञानसे

प्रासकी तरह प्रतीत होता है। यथा स्वग्रीवामें स्थित ग्रैवेयक (कण्ठी)। कर्म केवल निमित्तमात्र है।

शङ्का—अनित्य स्वर्गादि फल नित्य आत्मस्वरूप कैसे हो सकता है? स्वप्रकाश अद्वयस्वरूप जिस प्रत्यागात्माके स्वरूपका पूर्वमें निरूपण कर चुके हैं? वही स्वर्गशब्दवाच्य है।

शङ्का—स्वर्गशब्दका अनित्य स्वर्गादिसुखविशेषमें जैसे लोकमें प्रयोग प्रसिद्ध है, वैसे आत्मामें उसका प्रयोग प्रसिद्ध नहीं है, फिर आत्मा स्वर्गपदवाच्य है, यह कैसे कहते हो?

समाधान—'स्वर्गं लोकमित ऊर्ध्वं विमुक्ताः' 'अहरहर्वा एवंवित् स्वर्गं लोकमेति' 'अनन्ते स्वर्गे लोके ज्येये प्रतितिष्ठन्ति' इत्यादि वाक्योंसे वेदान्तमें आत्माका भी स्वर्गशब्दसे व्यवहार देखा जाता है। इसलिए सातिशयसुखविशेष स्वर्गके सदृश आत्मामें भी उसका प्रयोग दृष्ट है।

शङ्का—सब अधिकारियोंकी स्वर्गोद्देश्यसे त्रिविध प्रवृत्तियाँ होती हैं, प्रवृत्तिसाध्य अपूर्ववश उक्त फलकी सिद्धि हो जायगी, तदर्थ वेदान्तारम्भ व्यर्थ है।

समाधान—मोक्षहेतु ज्ञानके उपयोगी श्रवण आदि चेष्टासे मोक्षार्थ वेदान्तका आरम्भ आवश्यक है।

शङ्का—स्वर्गातिरिक्त मोक्षमें क्या युक्ति है?

समाधान—कूटस्थ नित्य निरतिशय आनन्दात्मस्वरूप मोक्षमें उत्पत्ति, प्राप्ति, विकृति और संस्कृति ये चार प्रकारके कर्मोंके हेतु कर्मव्यापार नहीं होते, इसलिए वेदान्त हैं।

शङ्का—मोक्षहेतु ब्रह्मज्ञानके लिए यदि उपनिषदोंका आरम्भ है, तो 'ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्' इत्यादि वाक्योंका आरम्भ समुचित है, क्योंकि इन्हीं वाक्योंसे ब्रह्मज्ञान बतलाया गया है। 'उषा वा अश्वस्य' इत्यादिसे उपनिषदारम्भ ठीक नहीं है, क्योंकि साक्षाद् ब्रह्मज्ञान इन वाक्योंसे नहीं होता।

समाधान—जिन ब्राह्मणादिका अश्वमेधयागमें अधिकार नहीं है, उन उक्त यागके फलार्थियोंको इस उपासनासे फल हो, यह ध्यानमें रखकर उसकी उपासना कही गई है।

शङ्का—अश्वमेधमें जो यह उपासना है, सो अश्वकी तरह उक्त यागकी

अङ्ग है। अङ्गका स्वतन्त्र फल नहीं होता, अन्यथा अङ्गाङ्गिभाव ही नहीं बनेगा। 'फलवत् सन्निधौ पठितमफलं तदङ्गं भवति' यह न्याय प्रसिद्ध है, अतः उक्त यागके अनधिकारियोंको प्रकृत उपासनासे फल कहना ठीक नहीं है।

समाधान—एतदुपासनाज्ञान पुमर्थ नहीं है, किन्तु क्रत्वर्थ है, क्योंकि 'अश्वमेधेन कर्मणा तदुपास्त्या वा फलम्' इस वाक्यमें विकल्पका श्रवण है। अतः परस्पर निरपेक्ष ये दोनों उक्त फलके हेतु हैं। केवल उपासनासे भी उक्त फल होता है। 'सर्वं पाप्मानं तरति' 'तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजते य उ चैनमेवं वेद' इस वाक्यसे उक्त सिद्धान्त स्फुट है।

शङ्का—उपासनाका फल अर्थवाद क्यों नहीं मानते?

समाधान—जैसे अश्वमेध कर्म है, वैसे ही उपासना भी कर्म ही है, दोनोंका विधान समान है, इसलिए अर्थवाद नहीं मानते।

शङ्का—अश्वमेध सबसे बड़ा कर्म है। कर्मान्तर मोक्षका साधन नहीं है, यह महान् कर्म है, इसमें मोक्षहेतुत्वका कर्मान्तरापेक्षासे महत्त्व है, अत एव इसको मोक्षहेतु माननेमें क्या आपत्ति है?

समाधान—'अशनाया हि मृत्युः स वै नैव रेमे सोऽबिभेद्' इति इस वाक्यसे भय, रत्यादि फलका श्रवण है, इसलिए उपासनायुक्त क्रतुफलके बन्धमध्यपाती होनेसे उपासनाविशिष्ट भी प्रकृत कर्म मोक्षके लिए पर्याप्त नहीं है। कर्मान्तरापेक्षासे विशिष्ट फलदातृत्वप्रयुक्त महत्त्व है।

शङ्का—तो भी बन्धफल कहनेका क्या मतलब?

समाधान—मुमुक्षुओंकी विद्यामें प्रवृत्तिके लिए।

शङ्का—स्वर्गादि फलमें स्वतः राग होता है; अतः उसके हेतु वैदिक कर्ममें स्पृहाराहित्यका संभव नहीं है।

समाधान—सकल कर्मोंका फल विद्याफलसे अति तुच्छ है, यह ज्ञात होनेपर विद्याफलके साधन आत्मज्ञानसे अतिरिक्त तुच्छफलके साधन कर्मान्तरमें स्पृहा नहीं होती, किन्तु प्रधानफलके साधन प्रत्यग् बोधमें ही स्वभावतः प्रवृत्ति होती है।

शङ्का—यदि वैदिक फलमें भी स्पृहा नहीं रहती, तो मोक्ष भी वैदिक फल है, अतः उसमें भी स्पृहा नहीं होनी चाहिए। अत एव विद्यामें भी प्रवृत्ति नहीं हो सकती।

समाधान—अशेष वैदिक कर्मोंका फल अति तुच्छ तथा अल्पीयान् है, यह दृढ़ निश्चय जिन विवेकियोंको अनुमान या आगमसे है, उनके लिए जब उपासना सहित प्रधान कर्म अश्वमेधका फल भी संसार ही है, तो अग्निहोत्रादि लघु कर्मोंके फलमें क्या कहना है ? अर्थात् इन कर्मोंका फल तो अति तुच्छ होना ही चाहिए। यह समझ कर बन्धहेतु सकल कर्मराशिमें स्पृहाशून्य साधनचतुष्टय-सम्पन्न ज्ञानकी अपेक्षासे ज्ञानोपाय श्रवणादिमें सकल कर्मके त्यागपूर्वक प्रवृत्ति कैसे हो ? इस अभिप्रायसे विद्यारम्भमें प्रकृतोपासनाका श्रुतिने विधान किया है।

शङ्का—कर्मके विधायक वाक्यमें जहां फलश्रुति है, वे कर्म बन्धफलक हो सकते हैं, किन्तु नित्य नैमित्तिक कर्म विधायक वाक्योंमें फलश्रुति नहीं है, अतः ये दोनों कर्म बन्धफलक नहीं हैं, किन्तु मोक्षफलक ही हैं, ऐसा क्यों नहीं मानते ?

समाधान—'एतवान् वै कामः' इत्यादि श्रुतिवाक्यसे सब कर्मोंका समानरूपसे फलश्रवण है। पश्वादि काम्य फलका भी श्रवण है। 'कर्मणा पितृलोकः' इत्यादि श्रुत फल नित्यनैमित्तिक कर्मोंका है। अतः ये भी दोनों प्रकारके कर्म मोक्ष-फलक नहीं हो सकते।

शङ्का—यदि नित्यादि कर्मोंका फल मानते हैं, तो वे भी काम्यके ही अन्तर्गत हो जाते हैं। फिर नित्य, नैमित्तिक और काम्य कर्मोंका विभाग ही असंगत हो जायगा। तथा चित्रादिकी तरह काम्य होनेसे उनके न करनेमें प्रत्यवाय नहीं होगा। काम्यकर्मानुष्ठान न करनेसे प्रत्यवाय नहीं होता और नित्य और नैमित्तिक कर्म न करनेसे प्रत्यवाय होता है, यह सिद्धान्त भी असंगत हो जायगा।

समाधान—फलवान् होनेपर भी प्रधान फल नित्यादि कर्मोंका पापक्षय है। और भोग काम्यकर्मोंका प्रधान फल है, इस प्रकार विभाग हो सकता है। और नित्यादि कर्मोंका अनुष्ठानाभाव पूर्वसंचित पापका द्योतक है। काम्यकर्मा-नुष्ठानाभाव नहीं, यह भी विशेष है।

प्रश्न—काम्य कर्मके अनुष्ठानसे क्या कुछ भी चित्तशुद्धि नहीं होती ?

उत्तर—होती है, किन्तु स्वल्प होती है, अतएव नित्यादि कर्मोंका चित्तशुद्धि प्रधान फल कहा गया है, इस कथनसे काम्यकर्मोंका आनुषङ्गिक फल चित्तशुद्धि भी है, यह स्वरसतः सिद्ध होता है।

शङ्का—क्या काम्य कर्मोंके अनुष्ठानसे जो आनुषङ्गिक चित्तशुद्धि होती है, वह भी विद्याकी उत्पत्तिमें उपकारक है ?

समाधान—नहीं, विद्योत्पत्तिकी हेतु नहीं है, किन्तु विशिष्ट फलभोगमें उपयोगी है, कारण कि विड्वराहादि देहमें बुद्धिशुद्धि नहीं रहती, अतः उन देहादिसे स्वर्गका उपभोग पुरुष नहीं कर सकता। विशिष्टशुद्धिसहित देवादि-देहसे स्वर्गादिभोग होता है अथवा सब कर्मोंका उपयोग विविदिषा की उत्पत्तिमें है, यह पूर्वमें कह चुके हैं, सो न भूलना चाहिए।

शङ्का—नित्यादि कर्मोंका पापक्षयसे अतिरिक्त फल यदि मानें, तो तत्फल-भोग शुद्धिप्रतिबन्धक होगा या ज्ञानोत्पत्तिका उपकारक ?

समाधान—पितृलोकादि फलभोग होनेपर भी उन कर्मोंका प्रधान फल चित्तशुद्धि ही है, इसलिए इस कार्यमें प्रतिबन्धक नहीं है, उक्त फलभोग आनुषङ्गिक फल है। जिन कर्मोंका प्रधान तत्फलोपभोग फल है, वे ही ज्ञानोत्पत्तिके प्रति-बन्धक होते हैं, दूसरे नहीं।

शङ्का—नित्यादि कर्मोंका शुद्धि और भोग ये दोनों फल समान ही क्यों नहीं मानते ? शुद्धि प्रधान है; इसमें कोई कारण नहीं देखते। तथा च शुद्धि भोगमें और भोग शुद्धिमें प्रतिबन्धक नहीं हो सकता।

समाधान—शुद्धि भोगमें वैराग्यकी उत्पादिका है, भोग उपकारक नहीं है, विवेकी पुरुषकी भोगमें तृष्णा नहीं हो सकती, इहामुत्रार्थ फलके भोगमें विराग ही वैतृष्ण्य कहलाता है।

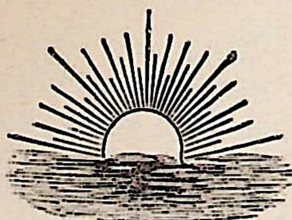
शङ्का—विरक्तोंकी स्वशरीरधारणमें भी स्पृहा नहीं रहती, तो श्रवणादि कार्यमें भी प्रवृत्ति नहीं हो सकती, इसलिए मोक्षार्थियोंके लिए वैराग्य अनुपयोगी होनेसे सर्वथा त्याज्य ही है, उपादेय नहीं है। विद्योत्पत्तिहेतु श्रवणादिमें इच्छाका अनुत्पादक होनेसे प्रतिबन्धक है।

समाधान—'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति' इत्यादि विविदिषा-वाक्यके तात्पर्यसे विहित वेदानुवचन आदि कर्म द्वारा शुद्ध बुद्धिको विवेक द्वारा सब ऐहिकामुष्मिक फलोंसे विरक्त अतएव स्वदेहधारणमें भी अत्यन्त निःस्पृह शम, दम आदि साधनसम्पत्तिसे विशिष्ट मुमुक्षु अतएव ब्रह्मजिज्ञासुओंको बाह्यार्थ वैमुख्यसम्पादन द्वारा श्रवणादिमें प्रवर्तक वैराग्य अवश्य उपादेय है।

शङ्का—यदि वैराग्यके सम्पादन द्वारा श्रुतिविहित सकल कर्मोंको पूर्वोक्त रीतिसे ब्रह्मविचारमें कारण मानते हैं, तो साक्षान्मुक्तिमें ही कारण क्यों नहीं मानते ?

समाधान—आत्माज्ञानविरोधी नित्यादि कर्मोंको आत्मज्ञानके सदृश मोक्ष-साधन नहीं कह सकते, क्योंकि उक्त कर्म अज्ञानके विरोधी नहीं हैं, अतः आत्मतत्त्वज्ञानके समान कर्म साक्षात् मोक्षसाधन नहीं हो सकते, किन्तु बुद्धिशुद्धि द्वारा उक्त परम्परासे कर्म मोक्षका उपाय है, ज्ञानकी तरह साक्षात् नहीं। इसलिए शुद्धबुद्धियोंका ससाधन निखिल कर्मका त्याग पुरःसर श्रवणादि कर्ममें अधिकार होता है, यह फलितार्थ है। कर्मत्यागका मुख्य कारण वैराग्य है। जो वैराग्यके विना आलस्यादिवश सदा कर्मोंका त्यागकर कर्मानुष्ठानसे विमुख हो ज्ञान अप्राप्त कर मध्यमें ही रह जाते हैं अर्थात् न कर्मी ही होते हैं और न ज्ञानी ही, वे सब पुरुषार्थोंसे शून्य शिष्टविगर्हित होते हैं। विरक्त संन्यासियोंका विद्योपाय श्रवणादिमें प्रयत्नातिशय करना उचित है, इसीसे वे समाधि-सम्पन्न होते हैं। उक्तलक्षणलक्षित मुमुक्षुओंका ही स्वमहिमप्रतिष्ठित कूटस्थ प्रत्यक्तत्त्वसाक्षात्कारमें अधिकार है, बहिर्मुख पुरुषोंका नहीं। कर्मनिरपेक्ष ज्ञान ही मोक्षहेतु है, अतः उसके लिए उपनिषदोंका आरम्भ है। उपदेशके विना वेदान्तार्थ अतिदुर्बोध है, इस तात्पर्यसे 'उपनिषत्' शब्दका प्रयोग किया गया है।

इति श्री म० म० पण्डितवर हरिहरकृपालुद्विवेदिविरचित वार्तिकसारके हिन्दी-भाषानुवादमें प्रामाण्यपरीक्षा नामका तृतीय प्रकरण समाप्त।



अथ प्रमेयपरीक्षा



प्रमाणं मेयसापेक्षं मेयता कस्य युज्यते ।
इत्याकाङ्क्षानिवृत्त्यर्थं मेयमत्र निरूप्यते ॥ १ ॥
अविज्ञातः प्रमाणानां विषयो वादिनां मतः ।
सोऽज्ञातोऽर्थः प्रमाणात् किं सिद्ध्येद्यद्वाऽनुभूतितः ॥ २ ॥
न तावन्मानतः सिद्धिर्मानेन तदपेक्षणात् ।
नह्यज्ञातमनुद्दिश्य क्वचिन्मानं प्रवर्तते ॥ ३ ॥

यद्यपि शुद्ध ब्रह्म वेदान्तवेद्य है और उपहित ब्रह्म सब प्रमाणोंसे वेद्य है, यह बार-बार कह चुके हैं, तथापि उपपत्ति द्वारा उसका उत्तर ग्रन्थसे निरूपण करते हैं—'प्रमाणम्' इत्यादिसे ।

प्रमाण प्रमेयसापेक्ष है, क्योंकि प्रमाण ससम्बन्धिक शब्द है, अतः एकके विना दूसरेकी सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि किस प्रमेयका यह प्रमाण है; यह अपेक्षा नियमसे होती है । यदि प्रमेय नहीं होगा, तो प्रमाण भी सिद्ध नहीं हो सकेगा, इसलिए कूर्मरोमादिका कोई प्रमाण नहीं है । अतः प्रमाणकी सिद्धिके लिए प्रथम प्रमेयकी सिद्धि अपेक्षित है । इसलिए यहां प्रमेयका निरूपण करते हैं ॥१॥

'अविज्ञातः' इत्यादि । वादी लोग जिस अविज्ञात अर्थको ही प्रमाणोंका विषय मानते हैं, वह अज्ञात अर्थ क्या प्रमाणसे सिद्ध होता है अथवा अनुभूतिसे ? ॥ २ ॥

'न तावत्' इत्यादि । विषयके अज्ञातत्वोपलक्षित न होनेपर प्रमाणकी प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती, इसलिए प्रमाणप्रवृत्तिके प्रति हेतुत्वरूपसे पूर्वसिद्ध अज्ञात अर्थकी सिद्धि प्रमाणसे नहीं हो सकती ।

अभिप्राय यह है कि प्रमाणसे जो अर्थ प्रमित अर्थात् प्रमाका विषय होता है, वह प्रमेय कहलाता है । उसमें चार विकल्प होते हैं—क्या ज्ञात अर्थ प्रमेय है ? अथवा अज्ञात ? किंवा उभय अर्थात् ज्ञात और अज्ञात ? आहोस्वित् अनुभय—ज्ञाताज्ञातविलक्षण ? प्रथम पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा माननेसे अज्ञात अर्थ प्रमेय ही नहीं होगा, क्योंकि अज्ञात अर्थ दोनोंके मतसे प्रकाशस्वरूप नहीं है, जिससे कि ज्ञानके बिना भी उक्त अर्थ सिद्ध हो जाय । यदि कहो कि

प्रमाणप्रवृत्तिके बिना भी अज्ञात अर्थ साक्षीसे सिद्ध हो सकता है, इसलिए उसकी असिद्धिको दोष नहीं कह सकते, तो यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि वह तो मेरा (अद्वैतवादीका) मत है, तुम्हारा नहीं। तथा च न्यायादिमतसे उक्त दोषापत्ति तदवस्थ ही है। द्वितीय पक्षमें जिस अज्ञात अर्थको मानका विषय मानते हो, वह स्वप्रकाश है अथवा सांख्यादि-मतकी तरह जड़? या तार्किक-मतके समान ज्ञान-ज्ञेयात्मक? या योगाचार-मतके समान वस्तुतः न ज्ञात न अज्ञात? अर्थात् अज्ञानसे अज्ञात ज्ञानसे ज्ञात, इस संभावनाका अविषय या कल्पान्तर, ये सब कल्प अयुक्त हैं, यह विचार कर निश्चय करते हैं कि प्रमाणसे अज्ञात अर्थका स्फुरण नहीं होता। इस विषयमें पहले वैशेषिक मतका आलोचन करते हैं—अज्ञात जड़ यदि मेय है, तो यह प्रमाण है, यह प्रमेय है, इस प्रकार परस्पर भेदमें कोई प्रमाण नहीं मिल सकता।

शङ्का—विषयविषयिभावसे दोनोंमें भेद सिद्ध होगा?

समाधान—क्या ज्ञातरूपसे भेद है किंवा अज्ञातरूपसे? प्रथम पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि मानके तादृशस्वप्रकाशस्वरूप होनेसे ज्ञात मेय भी जब स्वप्रकाश ही है, तब परस्पर भेद कहाँ रहा? प्रत्युत स्वप्रकाशत्वरूपसे दोनोंमें अभेद ही सिद्ध होगा। द्वितीय पक्षमें अज्ञात मेय प्रमाणप्रवृत्तिसे पूर्व स्वयम् असिद्ध है, अतः मानान्तरसे भी ज्ञात नहीं हो सकता, कारण कि मानान्तरसे तो उसकी निवृत्ति ही होती है, अतएव अज्ञातरूप मेयमें कोई प्रमाण नहीं है।

शङ्का—ज्ञातरूप मेय मानसे भिन्न नहीं है, यह कैसे कहते हो?

समाधान—व्यवहारदशामें व्यवह्रियमाण जितने पदार्थ हैं, वे सब स्वप्रकाशसे अव्यभिचारी हैं, जैसे बुद्धि स्वव्यवहारमें स्वसत्तासे अव्यभिचारिणी है, वैसे ही अर्थ भी स्वप्रकाश होनेसे स्वसत्तामें अव्यभिचारी है।

शङ्का—यदि बुद्धिका बुद्ध्यन्तरसे प्रकाश मानें, तो अनवस्थादि दोष होगा इसलिए वह स्वप्रकाश मानी जाती है। अर्थ तो प्रमाणसे ही ज्ञात होगा, अन्यथा प्रमाण ही विफल हो जायगा?

समाधान—ज्ञानके बिना अर्थ ज्ञात कैसे हो सकता है? और अज्ञात अर्थको प्रमेय नहीं मानते हैं, अतः प्रमेयके लिए ज्ञान अपेक्षित है। ज्ञान प्रमाणजन्य होता है, लेकिन यहाँ प्रमाण है नहीं। ज्ञातत्वानुपपत्ति प्रमाणसद्भावमें प्रमाण है, यह कहना भी ठीक नहीं है, कारण कि प्रमाण और प्रमेयमें भेद है नहीं, क्योंकि प्रमाणके समान प्रमेय भी स्वप्रकाश है, इसलिए ज्ञातत्वकी अनुपपत्ति नहीं है।

मानसिद्धं समुद्दिश्य यदि मानं प्रवर्तते ।
आत्माश्रयादिदोषः स्यान्नैष्फल्यं च मितेस्तथा ॥ ४ ॥

शङ्का—स्वप्रकाश भी प्रमाणसे ही सिद्ध होता है, स्वतः नहीं, क्योंकि प्रदीप भी प्रमाणान्तर चक्षुसे ही सिद्ध होता है।

समाधान—प्रदीप स्वप्रकाश नहीं है। यदि उसे स्वप्रकाश मानो, तो भी कोई हानि नहीं है, क्योंकि सजातीय अन्य प्रकाशके बिना प्रकाशित होनेवाला स्वयंप्रकाश कहलाता है; प्रदीपका प्रदीपान्तरनिरपेक्ष ही प्रकाश होता है। अर्थ ज्ञानात्मक होनेसे स्वयंप्रकाश है; उसमें प्रमाणकी अपेक्षा नहीं है, इस प्रकार विज्ञात अर्थ विज्ञानसे अतिरिक्त नहीं है, अतएव ज्ञात अर्थ मानका विषय नहीं हो सकता, इस प्रकार वैशेषिकादि अभिमत प्रमाणप्रमेय-भेदका निरास होता है। ज्ञात विषय मानसे भिन्न नहीं है, और अज्ञातकी सत्ता ही सिद्ध नहीं होती, अतः प्रमाणसे प्रमेय सिद्ध होता है, यह प्रतिज्ञा असंगत है ॥३॥

प्रमेयका साधक दूसरा कोई उपाय नहीं है, अतः स्वतः या परतः जड़की असिद्धि होनेसे अन्धकारमें नाचकी तरह सब व्यवहार अनुपपन्न होंगे, इस तात्पर्यसे कहते हैं—'मानसिद्धम्' इत्यादि।

यदि ज्ञात अर्थको प्रमाणका विषय मानते हो, तो अर्थमें विशेषणभूत ज्ञान स्वसे अभिन्न है अथवा भिन्न? प्रथम पक्षमें आत्माश्रय दोष है, क्योंकि जब प्रमाणजन्य ज्ञान होगा, तब तादृशज्ञानविषय घटादि प्रमेय होगा, और जब घटादि प्रमेय होगा तब प्रमाणसे घटादिज्ञान होगा, इस प्रकार घटादिज्ञानकी उत्पत्तिमें घटादिज्ञानकी अपेक्षा होनेसे आत्माश्रयदोष स्फुट है। द्वितीय पक्षमें दो ज्ञानोत्पत्तियोंमें अन्योन्याश्रय होगा, क्योंकि विषयविशेषण द्वितीयज्ञानको भी प्रमाणजन्य ही कहना होगा, प्रथमज्ञानके विषय घटादिको द्वितीयज्ञानजनक प्रमाणका विषय कहना होगा और द्वितीयप्रमाणजन्य ज्ञानके विषय घटादिको प्रथमप्रमाणका विषय मानना होगा, अतः द्वितीय ज्ञानकी उत्पत्तिमें प्रथम ज्ञान और प्रथम ज्ञानकी उत्पत्तिमें द्वितीय ज्ञानकी अपेक्षा होनेसे अन्योन्याश्रय स्पष्ट है। इस दोषके परिहारके लिए यदि तीन ज्ञान मानें, तो चक्रक और तीनसे अधिक माननेपर अनवस्थादोष होगा एवं पूर्व-पूर्वज्ञान निष्फल होते जायँगे। विषय-प्रकाश तथा उसके व्यवहारके लिए ज्ञानकी अपेक्षा होती है। अज्ञातघटादिका प्रकाश तथा उसका व्यवहार प्रथम ज्ञानसे ही उपपन्न हो जायगा, फिर

अज्ञातत्वक्षतिं कुर्वन्मानं मानत्वमश्नुते ।
सा चेदज्ञातता मानान्न कथं निष्फला मितिः ॥ ५ ॥
अथाऽज्ञातत्वसिद्ध्यर्थं तन्मितेः फलमिष्यते ।
तर्ह्यज्ञातत्वमेतत्ते केनाऽन्येन निवर्तते ॥ ६ ॥
न तन्निवर्त्तकं मेयं तस्य मेयैकसंश्रयात् ।
अज्ञातो घट इत्येवमज्ञातत्वं प्रमेयगम् ॥ ७ ॥

ज्ञानान्तरका क्या फल है ? एवं प्रमाण भी व्यर्थ ही हो जायँगे। ज्ञानोत्पत्तिके लिए ही प्रमाणकी अपेक्षा होती है । प्रमाणप्रवृत्तिसे पहले ही यदि अर्थज्ञान हो जाय तो फिर प्रमाणकी क्या आवश्यकता है ? और अर्थविशेषणज्ञान यदि प्रकृत प्रमाण-व्यापारसे पूर्वमें है, तो उसका साधनान्तर कहना होगा, या उसे नित्य मानना पड़ेगा, ये दोनों प्रकार अप्रामाणिक तथा निर्युक्तिक हैं, इत्यादि अनेक दूषणोंकी आपत्ति होगी ॥ ४ ॥

बुद्धिवैयर्थ्यका उपपादन करते हैं—'अज्ञातत्व०' इत्यादिसे ।

यदि अज्ञात घटादिको प्रमाणविषय मानकर अज्ञातत्व घटादिज्ञानसे ज्ञात होता है, यह कहें, तो ज्ञानवैफल्यका परिहार करना कठिन होगा, क्योंकि प्रमाण-जन्य ज्ञानसे पहले घटादि अज्ञात कहा जाता है । उसके ज्ञानके अनन्तर घटज्ञान है, ऐसा व्यवहार लोकमें प्रसिद्ध है, ज्ञानका फल अज्ञातत्वकी निवृत्ति है । यदि अज्ञातत्व॰ को ज्ञानगम्य मानिएगा, तो घटादिके समान अज्ञातत्वकी भी निवृत्ति नहीं होगी, क्योंकि जो जिससे गम्य होता है, उसकी निवृत्ति उससे नहीं होती, यथा घटज्ञान-गम्य घटादिकी घटादिज्ञानसे निवृत्ति नहीं होती, यह व्याप्ति प्रसिद्ध है, इस तरह अज्ञातत्वकी निवृत्तिके विना ज्ञानवैफल्यकी आपत्ति स्फुट है ॥ ५ ॥

प्रमाणज्ञानका फल अज्ञातत्वकी निवृत्ति नहीं है, किन्तु उसका व्यवहार ही फल है, अतः ज्ञान व्यर्थ नहीं है, यह शङ्का करते हैं—'अथाऽज्ञात०' इत्यादिसे।

प्रमितिका फल ज्ञातत्वसिद्धि मानिएगा, तो अज्ञातत्वकी निवृत्ति किससे होगी ? सो कहिए अर्थात् किसीसे नहीं, अज्ञातत्वनिवृत्तिके बिना ज्ञानदशामें भी अज्ञातत्वव्यवहारापत्ति तदवस्थ ही होगी ॥ ६ ॥

'न तन्निवर्तकम्' इत्यादि । यदि अज्ञातत्वको घटादिमेयगत मानें, तो वह मेयनिवर्त्तक नहीं होगा, क्योंकि 'अज्ञातो घटः' इत्यादि व्यवहारसे वस्तुतः अज्ञातत्व मेयगत ही प्रतीत होता है, और वस्तुतः मानमेयभाव भेदमें होता है ।

अज्ञातं मानमित्युक्तेर्मानगं चेति चेन्न तत् ।
मानेऽपि मेयताकार एवाऽज्ञातत्वसंश्रयः ॥ ८ ॥
यन्मानं पूर्वमज्ञातं तदन्येन प्रमित्सति ।
मानेऽतो मेयताकारो घटादाविव विद्यते ॥ ९ ॥
अज्ञातत्वं मेयगतं मानेनाऽतो निवर्त्यते ।
नाऽज्ञातत्वमतो मानात्सिद्ध्यतीति विनिश्चयः ॥ १० ॥
अज्ञातत्वमिदं मानादसिद्धं केन सिद्ध्यति ।
इति चेत्, नित्यचैतन्यानुभवेनाऽनुभूयते ॥ ११ ॥

दोनोंका भेद अभीतक सिद्ध नहीं हुआ, अतः मानमेयात्मक ही है, अतिरिक्त नहीं। इसलिए मेयके समान मानके साथ भी अज्ञातत्वका विरोध नहीं है। यदि विरोध होता, तो आश्रयाश्रयिभाव ही न होता, तथा मानमेयका भेद भी हो जाता। दूसरे किसीको अज्ञातत्वका निवर्त्तक मानते नहीं, अन्यथा मान ही विफल हो जायगा। अज्ञातत्वनिवृत्ति ही वस्तुतः मानका फल माना जाता है ॥ ७ ॥

'अज्ञातं मानम्' इत्यादि। इस व्यवहारसे अज्ञातत्व मानगत है, मेयगत नहीं, यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि मानमें जो मेयताका आकार है, उसी अंशमें अज्ञातत्वरहता है। 'घटः' इत्याकारक घटज्ञान कहा जाता है, घटाकार जो घटज्ञानरूप मानमें है उसी अंशमें अज्ञातत्व है अर्थात् अज्ञातत्वाश्रयताका अवच्छेदक मानत्व नहीं है, किन्तु तद्गत मेयत्व ही है, अतएव मेयाकारांशमें ही अज्ञातत्व है, यह स्पष्ट निर्देश किया है ॥ ८ ॥

उक्त अर्थमें प्रमाण कहते हैं—'यन्मानम्' इत्यादिसे।

जो मान पूर्वमें अज्ञात रहता है, उस मानकी प्रमित्सा—प्रमितिकी इच्छा—प्रमाणान्तरसे होती है, अतः जैसे घटादिमें मेयताकार मानते हैं वैसे ही मानमें भी मानते हैं ॥ ९ ॥

'अज्ञातत्वम्' इत्यादि। मेयगत अज्ञातत्व मानसे ही निवृत्त होता है, दूसरा उसका निवर्तक नहीं है, यह अनुभवसिद्ध है। इसलिए प्रमाणसे अज्ञातत्वकी सिद्धि नहीं होती, यह निश्चित है, क्योंकि जो जिसका निवर्त्तक होता है, वह उसका निश्चायक नहीं होता, यह पूर्वमें कह चुके हैं ॥ १० ॥

अज्ञातार्थकी सिद्धि साक्षीसे होती है, यही परिशेष है, ऐसा कहते हैं—'अज्ञातत्वमिदम्' इत्यादिसे।

नाऽज्ञासिषमिदं पूर्वमित्येवं प्रमिते पटे ।
पूर्वाज्ञातत्वविषयः परामर्शो ह्यतिस्फुटः ॥ १२ ॥
न तस्याऽननुभूतस्य परामर्शः कथञ्चन ।
अनुभूतिर्न प्रमाणाच्चैतन्यं तेन शिष्यते ॥ १३ ॥

मानसे असिद्ध यह अज्ञातत्व किसके द्वारा सिद्ध होता है? यह प्रश्न है, इसका उत्तर यह है कि ज्ञानोत्तर अज्ञातत्वका परामर्श—स्मरण—उसके अनुभवके विना नहीं हो सकता, इसलिए वह अपनी उपपत्तिके लिए अज्ञातत्वमें साक्षिवेद्यत्वकी कल्पना करता है। यद्यपि अज्ञातत्वके सत्त्वासत्त्वमें साक्षीसे भिन्न दूसरा प्रमाण नहीं है, तथापि अज्ञातत्वस्मरणकी अन्यथानुपपत्तिसे साक्षिस्वरूपानुभव ही उसमें प्रमाण है। घटादिविषयक ज्ञानके अनन्तर, 'इदं घटादि' इस प्रमोत्पत्तिसे पूर्व 'इदं न अज्ञासिषम्' इसको नहीं जानता था और तद्विषयक प्रमाके बाद ही 'मैंने इसे जाना है' इस प्रत्यभिज्ञासे स्पष्ट जाना जाता है कि अज्ञातत्वका साक्षात्कार होता है।

शङ्का—अज्ञातत्वकी प्रत्यभिज्ञाके अनुसार उसको प्रमेय क्यों नहीं मानते?

समाधान—अदृष्ट घटादिके देखनेपर यह प्रत्यभिज्ञा होती है, उस कालसे पूर्वमें प्रमात्रादिकी प्रवृत्ति है नहीं, अतः तज्जन्यसंस्कारके अभावसे उक्त प्रत्यभिज्ञा नहीं हो सकती।

शङ्का—यदि अज्ञातत्वका अनुभव नहीं है, तो प्रत्यभिज्ञाको कैसे मानते हो?

समाधान—भाव मान (प्रत्यक्षादि) और अभाव मान (अनुपलब्धि) से अज्ञातत्वका ज्ञान नहीं होता, किन्तु साक्षिरूपानुभवसे तन्मूलक उक्त प्रत्यभिज्ञाकी सिद्धि होती है ॥ ११-१२ ॥

घटादिबोधक मानसे जैसे घटादिगत ज्ञातताका बोध होता है, अतएव 'ज्ञातो घटः' इत्यादि व्यवहार होता है; वैसे ही प्राक्कालिक अज्ञातताका भी बोध हो जायगा, फिर साक्षिवेद्यत्वकी कल्पना क्यों करते हैं? इस शङ्काका समाधान कहते हैं—'न तस्याऽननु०' इत्यादिसे।

प्राक्कालीन अज्ञातत्वका अनुभव नहीं होता, अतएव तत्परामर्श नहीं हो सकता। अनुभूतका ही संस्कार द्वारा परामर्श होता है, प्रमासे अनुभव हो नहीं सकता। प्रमाणजन्य ज्ञान अज्ञानत्वका निवर्तक है, साधक नहीं। अतः प्रत्यभिज्ञान्यथानुपपत्तिसे संस्कार भी अनुभवके विना अनुपपन्न है, इसलिए साक्षिरूपानुभवको ही संस्कारका कारण मानते हैं। अतएव प्रत्यभिज्ञाकी सिद्धि

प्रवृत्तं विषये मानं बोधयेद्विषयाकृतिम् ।
ज्ञातताज्ञातते भातो न तेनाविऽपयत्वतः ॥ १४ ॥
रूपार्थे सम्प्रवृत्तेन नेत्रेण रसगन्धयोः ।
अगृहीतिर्यथा तद्वज्ज्ञाताज्ञातत्वयोर्भवेत् ॥ १५ ॥
नेत्रागृहीतयोरन्यद् ग्राहकं स्याद्यथा तथा ।
ज्ञातताज्ञातते ग्राह्ये मानामेये च ते चिता ॥ १६ ॥

होती है। स्वतन्त्र प्रत्यक्प्रमाणरूप साक्षीको अनुभवात्मक मानते हैं, उसीसे प्रमा और अज्ञातत्व आदिकी सिद्धि होती है ॥ १३ ॥

'प्रवृत्तम्' इत्यादि। घटादि विषयमें प्रवृत्त मान विषयाकारका बोधक है, ज्ञातत्व और अज्ञातत्व अविषय हैं अर्थात् प्रमाणज्ञानके विषय नहीं हैं, इसलिए वह उनका बोधक नहीं है, किन्तु साक्षी ही तद्बोधक है ॥ १४ ॥

उक्तार्थको दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हैं—'रूपार्थम्' इत्यादिसे।

जैसे रूपार्थ संप्रवृत्त नेत्रसे—रूपग्राहक चक्षुसे—रस और गन्धका ग्रहण नहीं होता वैसे घटादिग्रहणके लिए प्रवृत्त प्रमाणसे ज्ञातत्व और अज्ञातत्वका ग्रहण नहीं होता। रस और गन्ध जैसे नेत्रके विषय नहीं हैं, वैसे ही ज्ञातत्व और अज्ञातत्व प्रमाणके विषय नहीं हैं ॥ १५ ॥

'नेत्रागृहीत०' इत्यादि। नेत्रसे अग्राह्य रस और गन्धका ग्राहक जैसे मानान्तर—रसना और घ्राण—है, वैसे ही प्रमाणसे अग्राह्य ज्ञातता और अज्ञातताके ग्राहकान्तर चित्स्वरूप साक्षीको मानते हैं। उसीसे उनका ज्ञान होता है।

शङ्का—जैसे प्रमाणके ग्राहक प्रमाणान्तर साक्षीको मानते हैं, वैसे साक्षी भी प्रमाण है, अतः तद्ग्राहक अन्य प्रमाण भी मानना चाहिए। एवं तद्ग्राहक भी प्रमाणान्तर मानना चाहिए, इस प्रकार अनवस्थादोष होगा।

समाधान—प्रमाणादिका साधक होनेसे साक्षीको प्रमाण कहा है, वस्तुतः साक्षी प्रमाण नहीं है।

शङ्का—यदि प्रमाण नहीं है, तो प्रमेय उसे अवश्य मानना पड़ेगा। प्रमेय तो प्रमाणके बिना नहीं हो सकता। इसलिए फिर प्रमाणान्तरापेक्षा तदवस्थ है।

समाधान—साक्षी स्वयंसिद्ध है। जो जड़ात्मक वस्तु है, वह प्रमाणसे सिद्ध

घटोऽपि तर्हि गृह्येत चितैव ज्ञाततादिवत् ।
इति चेदिष्टमेवैतद् गृह्येत च घटश्चिता ॥ १७ ॥
ज्ञातत्वेन घटो भाति सोऽज्ञातत्वेन भासते ।
इत्युक्ते घट एवाऽत्र चिता द्वेधाऽवभास्यते ॥ १८ ॥
न चैवं मानवैयर्थ्यं ज्ञातृत्वायोपयोगतः ।
अज्ञातत्वायोपयुक्तं तत्राऽज्ञानं यथा तथा ॥ १९ ॥

होती है । अजड़ स्वयंसिद्ध है, अतः उसके लिए प्रमाणकी अपेक्षा नहीं है । इसलिए प्रकृतमें अनवस्था आदि दोष नहीं हो सकते ।

शङ्का—संविद् ही स्वयंसिद्ध मानी जाती है । साक्षी स्वयंसिद्ध कैसे ?

समाधान—साक्षी भी संवित्स्वरूप ही है, अतिरिक्त नहीं । भाव, अभाव और प्रमादि विश्व—ये सब साक्षीसे ही प्रसिद्ध होते हैं ॥१६॥

उक्त प्रकारसे घटादिका भी साक्षीसे ग्रहण हो सकता है, उसके लिए मान व्यर्थ है, यह शङ्का करते हैं—'घटोऽपि' इत्यादिसे ।

शङ्का—चित्से घटादिका भी ग्रहण हो जायगा, अतः उसके लिए प्रमाण मानना व्यर्थ है ।

समाधान—यह तो इष्ट ही है । चित्से घटादिका ज्ञातताके सदृश ग्रहण मानते हैं ॥१७॥

इसमें अनुभव प्रमाण कहते हैं—'ज्ञातत्वेन' इत्यादिसे ।

ज्ञातत्वेन तथा अज्ञातत्वेन 'घटो भाति' इस प्रयोगद्वयमें ज्ञातत्वप्रकारक घटविशेष्यक बोध प्रथम वाक्यसे और अज्ञातत्वप्रकारक घटविशेष्यक बोध द्वितीय वाक्यसे होता है । केवल घटका ही ज्ञातत्व और अज्ञातत्वरूपसे साक्षि-चैतन्यसे भान होता है ॥१८॥

पूर्वोक्त मानवैयर्थ्यकी शङ्काका निरास करते हैं—'न चैवम्' इत्यादिसे ।

ज्ञानसे पूर्वमें अज्ञातत्वविशिष्ट घटादि जैसे चिद्भास्य है, वैसे ही ज्ञानकालमें ज्ञातत्वविशिष्ट घट भी चिद्भास्य है । अतः घटमें विशेषणीभूत ज्ञातत्वकी सिद्धिके लिए मान है । इसमें दृष्टान्त देते हैं—जैसे अज्ञातत्वकी सिद्धिके लिए अज्ञानकी आवश्यकता है, वैसे ही ज्ञातत्वके लिए मान आवश्यक है ।

अज्ञातत्वेन घटभानके लिए अज्ञान और ज्ञातत्वेन घटभानके लिए मान आवश्यक है । फिर केवल घट किससे भासित होगा ? अर्थात् किसीसे भासित नहीं ॥ १९ ॥

मानाज्ञानविहीनस्य कालस्याऽसत्त्वतो घटः ।
ज्ञाताज्ञातत्वनिर्मुक्तः केवलो भाति न क्वचित् ॥ २० ॥
सर्वथापि चिता भास्यमज्ञातत्वं घटादिषु ।
प्रमाणनैरपेक्ष्येण तत्सिद्धेः सर्वसम्मतेः ॥ २१ ॥
स्वतोऽनुभवतः सिद्धां बालोऽप्यज्ञाततां हठात् ।
न किञ्चिज्ज्ञातमित्येवं वक्ति पृष्टः प्रमां विना ॥ २२ ॥
अथाऽनुभूतपूर्वत्वाद् घटादौ शङ्क्यते प्रमा ।
अत्यन्ताननुभूतोऽर्थ उदाहार्यस्तथा सति ॥ २३ ॥

'मानाज्ञान०' इत्यादि । मान और अज्ञानसे शून्य कोई काल ही नहीं है, जिससे यह कह सके कि अमुक समयमें उक्तोभयधर्मरहित केवल घटका भान कैसे होगा ? जब प्रमाण रहता है तब ज्ञातत्वरूपसे घटका भान होता है और जब प्रमाण नहीं होता, तब अज्ञातत्वरूपसे घटका भान होता है । मान और तदभावसे शून्य कोई काल ही नहीं है, जिससे कि उक्त आपत्ति हो सके । इस तात्पर्यसे कहते हैं कि कहीं भी केवलका भान नहीं होता ॥२०॥

अज्ञातत्व उक्तानुभवसिद्ध है, यही निगमन करते हैं—'सर्वथाऽपि' इत्यादिसे ।

घट चिद्भास्य अथवा मानभास्य होता है, परन्तु अज्ञातत्व सर्वथा चिद्भास्य ही है, क्योंकि प्रमाणकी प्रवृत्तिके बिना भी अज्ञातत्वादिकी सिद्धि सब लोगोंके सम्मत है; अतः 'अज्ञातो घटः' इत्यादि प्रतीतिमें किसीका विरोध नहीं है ।

अज्ञातत्व सर्वानुभवसिद्ध है, यह कहते हैं—'स्वतोऽनुभवतः' इत्यादिसे ।

प्रमाणवृत्तान्तमें अनभिज्ञ बालकसे जब कोई पूंछता है कि तुम गवयको जानते हो; तब वह स्वयं स्वानुभवसिद्ध अज्ञातत्वका प्रतिपादन करता है कि नहीं, मैं गवयको नहीं जानता हूँ, इसलिए सब बालक तथा प्राकृत मनुष्य अपने अपने अनुभवसे सिद्ध अज्ञातत्वको जानते हैं, अतएव अज्ञातत्वमें किसीको विप्रतिपत्ति नहीं हो सकती ॥ २२ ॥

'अथानु०' इत्यादि । यद्यपि प्रमित घटादि वस्तुमें प्रमाप्राक्कालमें अज्ञातत्व साक्षीसे अथवा प्रमाणसे सिद्ध होता है, ऐसी शङ्का हो सकती है,

अत्यन्ताननुभूतेषु हिमवत्पृष्ठवस्तुषु ।
अज्ञातत्वमशङ्कः सन् परामृशति मानवः ॥ २४ ॥
न चाऽत्राऽनुभवो लुप्तो न जानामीति तत्स्मृतेः ।
अदृष्टमपि तद् दृष्ट्वा स्मरेन्नाऽज्ञासिषं त्विति ॥ २५ ॥

तथापि अत्यन्त अननुभूत वस्तुविषयक प्रश्न यदि किया जाय, तो ऐसी शङ्का नहीं हो सकती है अर्थात् हिमवत्पृष्ठमें स्थित वस्तुओंको तुम जानते हो, पूछनेपर अज्ञातताका निश्चय कर उत्तर देता है कि नहीं कभी नहीं। यद्यपि तादृश अज्ञातताका अनुभव तो कभी हुआ नहीं फिर भी स्वानुभवसिद्ध ही अज्ञातता उन विषयोंमें मानी जाती है।

इसी बातको कहते हैं—'अत्यन्ताननु०' इत्यादिसे।

शङ्का—तथापि 'अशङ्कः' यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि जाग्रत्कालमें अज्ञातत्वका भान मानसे अथवा साक्षीसे होता है, यह शङ्का हो सकती है।

समाधान—इन्द्रियादिसम्बन्धसे पूर्व कालमें मानकारणके न होनेसे अज्ञातत्व प्रमेय ही नहीं हो सकता, फिर वह मानगम्य कैसे हो सकता है? सुषुप्तिकी तरह उक्त अवस्थामें भी अज्ञातत्वानुभवमें कुछ भी विशेष नहीं है, अतः दोनों अवस्थाओंमें उक्तानुभवके समान होनेसे उभयत्र अज्ञातत्व अनुभववेद्य ही है॥ २३-२४॥

शङ्का—अज्ञातत्व अनुभवसिद्ध है, यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि उस कालमें अनुभव तो है नहीं। अनुभवसामग्री इन्द्रियादिसम्बन्धस्वरूप ही है, सो स्वोत्पत्तिसे पहले है कहाँ?

समाधान—'न चाऽत्राऽनुभवो' इत्यादिसे।

जागरावस्थामें अनुभव नहीं है, यह कहते हो अथवा सुषुप्त्यवस्थामें? प्रथम पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि हिमालयके शिखरमें स्थित वस्तुको जानते हो? यह किसीके पूछनेपर मैत्र उत्तर देता है कि 'नहीं जानता हूँ'। इस तरह अज्ञातत्वका स्मरण करता है। पूर्वकालिक अनुभवके बिना स्मरण नहीं होता। परन्तु यहां स्मरण होता है, इसलिए अनुभवका अभाव नहीं है, किन्तु अनुभव है ही। और अनुभवसत्तामें यह भी हेतु है कि जो सर्वथा अदृष्ट वस्तु है, उसको देखकर कहता है कि इतने समय तक मैं इसको नहीं

अर्थेन्द्रियाणां सत्त्वेन कथञ्चिच्छङ्क्यते प्रमा ।
तर्हि लुप्तेन्द्रियावस्था स्यात्सुषुप्तिरुदाहृतिः ॥ २६ ॥
निःशेषकरणग्रामलयेऽप्यनुभवः स्वतः ।
अलुप्तदृक् सुषुप्तेऽस्ति जाग्रद्बोधाविशेषतः ॥ २७ ॥
पुमान् सुप्तोत्थितोऽतीतमज्ञातत्वं स्मरत्ययम् ।
अनुभूतमतः सुप्तो लुप्यतेऽनुभवो नहि ॥ २८ ॥

जानता था, इससे जागरावस्थामें अनुभव है, यह स्पष्ट प्रतीत होता है, अतः उसका अपलाप नहीं हो सकता ॥ २५ ॥

द्वितीय पक्षमें अनुभवकी सिद्धिके लिए सुषुप्तिका उदाहरण देते हैं—'अर्थेन्द्रियाणाम्' इत्यादिसे ।

प्रथम पक्षमें अनुभवजनक इन्द्रियादिके सद्भावसे किसी प्रकार प्रमाणकी संभावना हो भी सकती है; परन्तु द्वितीय पक्षमें इन्द्रियादिकोंका स्वस्वकारणमें लयरूप लोप होनेसे सुषुप्ति ही असंदिग्ध उदाहरण है। इस अवस्थामें अनुभवजनक सामग्री इन्द्रियादिघटित नहीं है। अतः प्रमाणसे अज्ञातताके अनुभवकी शङ्का भी नहीं हो सकती ॥२६॥

'निःशेष०' इत्यादि । करण—इन्द्रियादि, ग्राम—समूह, निःशेष—संपूर्ण, अर्थात् इन्द्रियादिसमूहका लय होनेपर भी अलुप्तदृक् अनुभव स्वतः सुषुप्तिकालमें रहता है। अतः सुषुप्ति और जाग्रत् कालके अनुभवोंमें कोई अन्तर नहीं है अर्थात् समान ही अनुभव दोनों अवस्थाओंमें रहता है। अन्यथा सुप्तोत्थित पुरुषको 'सुखपूर्वक सोया, लेशमात्र भी दुःखका ज्ञान नहीं हुआ' यह परामर्श नहीं हो सकेगा। यह तात्कालिक दुःखाज्ञानका स्मरण है। स्मरण अनुभवके बिना नहीं होता, यह अनेक वार कह चुके हैं; इसलिए जागरावस्थामें प्रमाणसामग्रीके रहनेपर भी स्वापकालिक अनुभवकी तरह यह भी अनुभव प्रमाणजन्य नहीं है, अन्यथा अवस्थाद्वयके अनुभवोंमें समानता न रह सकेगी। अतः स्वापकालमें प्रमाणसामग्रीके न रहनेपर भी स्वतःसिद्ध अनुभववेद्य ही अज्ञातता है, यही मानना ठीक है ॥ २७ ॥

'पुमान्' इत्यादि । यह सुप्तोत्थित पुरुष अतीत अज्ञातत्वका स्मरण करता है, अतः स्वापकालमें अज्ञातत्वका अनुभव अवश्य था, अन्यथा संस्कारके

नन्विदानीन्तनाद्बोधान्नाज्ञासिषमितीदृशात् ।
लिङ्गजन्याद् बुद्ध्यभावः सौषुप्तोऽत्रानुऽमीयते ॥ २९ ॥

अभावसे सुप्तोत्थित पुरुषको तद्विषयक स्मरण नहीं होगा। यदि स्वापकालमें अनुभवका लोप होता, तो तदाहित संस्कार द्वारा स्मरण भी नहीं होता। स्मरण होता है, इसलिए तत्कालमें अनुभव है, यह दृढ़ निश्चय होता है। यह अनुभव प्रमाणजन्य नहीं है, किन्तु साक्षीस्वरूप है ॥२८॥

सुप्तोत्थित पुरुषको 'नाऽवेदिषम्' इत्याकारक जो ज्ञान होता है, वह ज्ञानाभावविषयक अनुमिति है या स्मरण ? वह भावरूप अज्ञानविषयक स्मरण नहीं है, इस नैयायिक शङ्काका परिहार करते हैं—'नन्विदानीन्त०' इत्यादिसे।

इदानीन्तन सुप्तोत्थितकालिक 'नाऽज्ञासिषम्' इत्याकारक लिङ्गजन्यबोधसे सुषुप्तिकालीन ज्ञानाभावकी अनुमिति होती है। वह स्मरणात्मक ज्ञान नहीं है, जिससे कि उस कालमें अनुभवकी आवश्यकता हो। जैसे प्रातःकालमें चत्वरमें हाथीको नहीं देखा था। सायंकालमें घरमें बैठ कर 'प्रातःकालिकं चत्वरं गजाभाववत्, नियमेन अस्मर्य्यमाणगजवत्त्वात्, यन्नैवं तन्नैवम्, यथा गजवच्चत्वरम्; प्रातःकालमें चौतरेपर हाथी नहीं था, क्योंकि चौतरेका स्मरण होनेपर भी हाथीका स्मरण नहीं हो रहा है। यदि गज होता, तो उसका भी साथ-साथ स्मरण होता। जैसे गजके समान चौतरेका साथ ही स्मरण होता है; ऐसा अनुमान करता है, इसी प्रकार सुषुप्तिकालिकः आत्मा ज्ञानाभाववान्, ज्ञानजनकसामग्रीवैकल्यात्; यन्नैवं तन्नैवं, यथा जागरावस्थायामात्मा, इस प्रकार सुषुप्तिकालिक ज्ञानाभावका ही अनुमान 'नाऽज्ञासिषम्' यह है; स्मरण नहीं। तत्कालमें आत्मामें ज्ञानसामग्रीवैकल्यस्वरूप हेतुका ज्ञान कैसे हुआ ? यह प्रश्न नहीं हो सकता है, कारण कि तत्कालमें ज्ञानसामग्रीवैकल्य उभयमतसे सिद्ध है; अन्यथा वेदान्तियोंको भी तत्कालमें घटपटादिज्ञानके अभावका अनुमान ही होगा। यदि यह कहिए कि ज्ञानाभाव साक्षिवेद्य है, तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि प्रतियोग्यादिज्ञानसापेक्ष उक्ताभावज्ञान निर्विकल्पक साक्षीसे नहीं हो सकता। सुषुप्तिकालीन भावरूप अज्ञानके परामर्शकी सामर्थ्यसे सिद्ध अज्ञानके अनुभवसे अज्ञानविरोधी ज्ञानके अभावका अनुमान होगा। सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि नैयायिक आदिके मतमें भावरूप अज्ञानका परामर्श ही असिद्ध है।

ततः किञ्चिद्भावरूपमज्ञातत्वं न विद्यते ।
नाऽनुभूतिस्ततः सुप्तावित्यूचुस्तार्किका न तत् ॥ ३० ॥

सुषुप्तिकालिक आत्मा पक्ष है, उसका ज्ञान सुषुप्तिकालमें कैसे होगा ? उस समय आत्मामें कोई ज्ञान नहीं होता, क्योंकि ज्ञानजनक सामग्री उस कालमें नहीं रहती है; यह आप भी मानते ही हैं। पक्षज्ञानके विना अनुमिति नहीं हो सकती। अनुमानसे भी पक्षज्ञानकी आशा नहीं है, कारण कि तत्कालसम्बन्धके लिए अव्यभिचारी हेतुके ज्ञानकी आवश्यकता है। हेतु पक्षमें है, यह ज्ञान भी तो आत्मज्ञानके विना नहीं हो सकता है, क्योंकि तात्कालिक आत्मा सर्वथा अज्ञात है। सम्प्रतिपन्न प्रबुद्धावस्थामें जैसे उदयास्तमयकालके अन्तराल प्रहर, घटिकादि अवान्तरकाल अनुभवसिद्ध हैं, वैसे ही सुषुप्तिकालमें भी अवान्तरकालका अनुमान कर उसके संबन्धका अनुमान आत्मामें हो सकता है। यदि उसके अवान्तरकालमें आत्मा न रहता, तो पूर्वानुभूत कृत आदिका सुप्तोत्थित पुरुषको ज्ञान ही न होता; 'यह इतना किया' 'यह कहा था' इत्यादिका स्मरण होता है। इसलिए मध्यमें भी आत्माकी अविकल अनुवृत्ति है, यह ज्ञान सर्वानुभवसिद्ध है। अतः सुषुप्तिकालमें ज्ञानाभावका अनुमान उत्थित पुरुषको होता है, यह मत भी ठीक नहीं है, कारण कि अनुमापक हेतुका निश्चय नहीं है। सामग्र्यभाव ही हेतु है, हां हो सकता है, किन्तु उस समयमें सामग्रीका अभाव है, यह कैसे जाना जा सकता है, कारण कि तत्कालमें आत्मामें तो कोई ज्ञान मानते नहीं ॥२९॥

ज्ञानाभावसे तत्कालमें सामग्र्यभावका यदि अनुमान कीजियेगा, तो अन्योन्याश्रय होगा। सामग्र्यभावसे ज्ञानाभावका अनुमान और ज्ञानाभावसे सामग्र्यभावका अनुमान, इस तात्पर्यसे ज्ञानाभावानुमानका निराकरण करनेके लिए न्यायमतका अनुवाद करते हैं—'ततः किञ्चित्' इत्यादिसे।

'न किञ्चिदवेदिषम्' इत्यादि। सुप्तोत्थित पुरुषका ज्ञान तात्कालिकज्ञानाभावानुमित्यात्मक है, इसलिए ज्ञानाभावसे अतिरिक्त भावरूप अज्ञान नहीं है, अतएव सुषुप्तिकालमें अज्ञानका अनुभव भी नहीं होता, ऐसा नैयायिक कहते हैं, सो ठीक नहीं है, क्योंकि सुषुप्तिकालमें ज्ञानाभावका व्याप्य हेतु नहीं है, अतः उसका अनुमान असङ्गत है ॥ ३० ॥

नहि सुप्त्यविनाभूतं लिङ्गमद्य निरीक्ष्यते ।
येन सौषुप्तवृत्तान्त इदानीमनुमीयते ॥ ३१ ॥
सौषुप्तबुद्ध्यभावोऽद्य स्मार्यतेत्येतदप्यसत् ।
सुप्तावननुभूतस्य नेदानीं युज्यते स्मृतिः ॥ ३२ ॥
गृहीत्वा धर्मिणं स्मृत्वा निषेध्यं प्रतियोगिनम् ।
तदभावोऽनुभूयेत सुप्तौ तन्नहि सम्भवेत् ॥ ३३ ॥

'नहि सुप्त्य०' इत्यादि । सुषुप्तिकालमें ज्ञानाभावव्याप्य कोई लिङ्ग नहीं है, जिसके देखनेसे सुप्तोत्थित पुरुषको तत्कालीन ज्ञानाभावकी अनुमिति हो सके । उक्त सामग्र्यभावज्ञानमें अन्योन्याश्रय दोष कह ही चुके हैं । अस्मर्य्यमाणत्व नियमेन अस्मर्य्यमाणत्व आदि भी अव्यभिचारी लिङ्ग नहीं हैं, क्योंकि मार्गमें चलते समय अनेकविध तृणादि दिखाई देते हैं, जिनका कभी स्मरण नहीं होता, अपेक्षा-ज्ञानके विना संस्कार नहीं होता । अदृष्टकालादिवश संस्कारका लोप होनेपर अपेक्षाज्ञानविषयका भी स्मरण नहीं होता, अतः उक्त हेतु भी व्यभिचारी है; इसलिए ठीक ही कहा कि अव्यभिचारी लिङ्गको कोई नहीं देखते, जिससे उक्त कालमें अनुमिति हो ॥ ३१ ॥

अच्छा तो 'न किञ्चिदवेदिषम्' इस ज्ञानको सुषुप्तिकालीन अनुभूतज्ञानाभावका स्मरण ही कहिए, ऐसी शङ्का करते हैं—'सौषुप्त०' इत्यादिसे ।

सुप्तोत्थित पुरुष तत्कालीनज्ञानाभावका स्मरण करता है, यह कथन भी असंगत है, क्योंकि तत्कालमें यदि ज्ञानाभावका अनुभव ही नहीं है, तो स्मरण कैसे हो सकता है ॥ ३२ ॥

सुषुप्तिकालमें ज्ञानाभावका अनुभव क्यों नहीं हो सकता, इसका उत्तर कहते हैं—'गृहीत्वा' इत्यादिसे ।

अभावज्ञानमें प्रतियोगिज्ञान तथा अधिकरणज्ञान कारण है । सुषुप्तिकालमें यदि प्रतियोग्यादि ज्ञान मानें, तो सब ज्ञानाभावरूप सुषुप्ति ही नहीं हो सकती । यदि सुषुप्तिके अनुरोधसे उक्त ज्ञानाभाव कहें, तो अभावग्रहसामग्रीके अभावसे तत्कालमें अभावका अनुभव ही नहीं बन सकता, फिर संस्कारके अभावसे उक्त अर्थका स्मरण दुर्घट है ॥ ३३ ॥

ग्रहणस्मरणे सुप्तौ स्यातां चेज्जागृयात् पुमान् ।
अतोऽभावो नाऽनुभूत इदानीं स्मार्यते कथम् ॥ ३४ ॥
तस्मात्साक्ष्यनुभूतं यदज्ञानं भावरूपकम् ।
तत्प्रबुद्धः स्मरत्येषु पुमानित्यभ्युपेयताम् ॥ ३५ ॥

प्रतियोग्यादिज्ञान माननेपर सुषुप्त्यभावको स्पष्ट करते हैं—'ग्रहणस्मरणे' इत्यादिसे ।

धर्मी और प्रतियोगीका यदि ग्रहण और स्मरण उक्त दशामें मानेंगे, तो पुरुष जाग ही जायगा, फिर सुषुप्ति ही न सिद्ध होगी । अतः उक्त कालमें यदि अभावका अनुभव नहीं होता, तो फिर सुप्तोत्थित पुरुषको ज्ञानके अभावका स्मरण कैसे हो सकता है ? ॥ ३४ ॥

ज्ञानाभाव अनुमिति और स्मृतिका विषय नहीं है, ऐसा फलितार्थ कहते हैं—'तस्मात्' इत्यादिसे ।

इस कारणसे भावरूप जो अज्ञान सुषुप्तिकालमें साक्षीसे अनुभूत हुआ, प्रबुद्ध पुरुष उसी भावरूप अज्ञानका स्मरण करता है, यही स्वीकार कीजिए, कारण कि दूसरा मार्ग क्षोदक्षमयोग्य नहीं है ।

शङ्का—भावरूप अज्ञानमें क्या प्रमाण है ?

समाधान—'अहमज्ञः' इत्याकारक अनुभव ।

प्रश्न—'मयि ज्ञानं नास्ति' यह प्रतीति 'अहमज्ञः' इस प्रतीतिविशेष-विशेष्यके व्यत्यासको छोड़कर विषयभेदकी प्रतीति नहीं करा सकती, क्योंकि उक्त व्यत्यासमात्रसे विषयभेद नहीं माना जाता, अन्यथा 'भूतले घटो नास्ति', 'निर्घटं भूतलम्' इत्यादि स्थलमें प्रतीतिके भेदसे विषयभेदकी आपत्ति हो सकती है ।

उत्तर—ठीक है, किन्तु उक्त दशामें धर्मिप्रतियोगिज्ञान यदि है, तो ज्ञानके अधिकरणमें ज्ञानसामान्याभावज्ञान व्याहत है । यदि नहीं है, तो भी अभाव-ग्राहक सामग्रीके अन्तर्गत प्रतियोग्यादिज्ञान भी है, सो है नहीं, तो फिर ज्ञानसामा-न्याभावज्ञान व्याहत है, इसलिए 'मयि ज्ञानं नास्ति' इस प्रतीतिके विषय भाव-रूपाज्ञानको मानना उचित ही है । दूसरा कोई उपाय नहीं है ।

प्रश्न—ज्ञानध्वंस, ज्ञानप्रागभाव अथवा तत्तज्ज्ञानव्यक्त्यन्तरके अभावको उक्त प्रतीतिका विषय मानें, तो क्या आपत्ति है ? क्योंकि ज्ञानके अधिकरणमें ज्ञानव्यक्त्यन्तरका अभाव रहता ही है।

उत्तर—विशेषाभावातिरिक्त ज्ञानसामान्याभावावगाहिनी यह प्रतीति है, विशेषाभावका अवगाहन यह प्रतीति नहीं करती, तत्तद्विशेषधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक विशेषाभावसे अतिरिक्त सामान्यधर्मावच्छिन्न प्रतियोगिताकाभावावगाही प्रतीति भिन्न है, प्रतियोग्यंशमें भासमान प्रकारीभूत धर्म ही प्रतियोगितावच्छेदक माना जाता है। अतएव 'वायौ रूपं नास्ति' यह प्रतीति या यावद्रूपीय विशेषाभावसे अतिरिक्त रूप सामान्याभाव वायुमें सिद्ध होता है, तदनुसार उक्त प्रतीतिको उक्त कालमें आत्मगत ज्ञानसामान्याभावविषयक माननेमें धर्मिप्रतियोगीका ज्ञान रहने अथवा न रहनेपर उक्त रीतिसे व्याघातका परिहार करना कठिन है।

प्रश्न—विशेषाभाव यदि सामान्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक माना जाय, तो क्या दोष है ?

उत्तर—जहां भूतलमें घट है वहाँ भी 'भूतले घटो नास्ति' अर्थात् भूतलमें घट नहीं है इस प्रतीतिकी आपत्ति होगी, क्योंकि किसी घटके रहनेपर भी सकल घट तो वहाँ नहीं है। इसलिए घटान्तरका अभाव भी नहीं है, अतः तत्तद्घट विशेषाभाव अबाधित ही है, वही सामान्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक होनेसे उक्त प्रतीतिका विषय है; इसी तरह 'वायुमें रूप नहीं है' आप्त वाक्य द्वारा निर्णय होनेपर भी वायुमें रूपके संशयकी आपत्ति होगी, तद्रूपविशेषका अभाव निश्चित होनेपर भी रूपविशेषान्तरसत्ताप्रयुक्त संशय दुर्वार होगा, विशेषाभाव अर्थात् ज्ञान सामान्यरूपसे ज्ञानका विरोधी नहीं है।

प्रश्न—तत्तद्विशेषाभावमें तत्तद्विशेषधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व है, और तत्कूटमें विशेषाभाव समुदायमें है, सामान्यधर्मावच्छिन्न प्रतियोगिताकत्व व्यासज्यवृत्ति है किंवा विशेषाभावातिरिक्तसामान्याभावमें प्रत्येक विश्रान्त हैं ? उक्त धर्म मानें, तो दोनों प्रकारसे वायुमें रूप है, इत्याकारक प्रतीतिका उक्त आप्तवाक्यजन्य प्रतीतिके साथ विरोध है ? अतः उक्त संशयापत्तिदोष नहीं होगा।

उत्तर—हां, तो प्रकृतमें ज्ञानत्वसामान्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव-

ज्ञान यावज्ज्ञानविरोधी है; अतः धर्म्यादिज्ञानसद्भावदशामें उक्त प्रतीति क्यों न व्याहत होगी; इसलिए क्लृप्त अभावप्रतीतिवैलक्षण्यकल्पनाकी अपेक्षासे विषयवैलक्षण्यकल्पना ही समुचित है। विषयवैलक्षण्यके विना प्रतीतिवैलक्षण्य असम्भव है, और विषयके अज्ञानका अनुभव कर उसके निरासके लिए पुरुष उसके विचारमें प्रवृत्त होता है, यह सर्वानुभवसिद्ध है। यदि 'न जानामि' इस प्रतीतिका ज्ञानविशेषाभाव विषय होगा, तो ज्ञान होनेपर भी 'न जानामि' इस प्रतीतिकी आपत्ति होगी, क्योंकि ज्ञानविशेषाभाव तो रहेगा ही, अतः उसके विचारके लिए प्रवृत्तिकी भी आपत्ति होगी। सामान्याभावमें धर्म्यादिके ज्ञान तथा अज्ञानको बाधक कह चुके हैं, अतः अभावविलक्षण अज्ञान ही 'मयि ज्ञानं नास्ति' इस प्रतीतिका विषय है।

शङ्का—भावविलक्षण अज्ञान भी तो 'न जानामि' इस प्रतीति द्वारा ज्ञानविरोधित्वरूपसे ज्ञानाभावके समान प्रतीत होता है। सहानवस्थानलक्षण ही तो विरोध है। जैसे ज्ञानाधिकरणमें ज्ञानाभाव व्याहत है, वैसे ही अज्ञान भी ज्ञानाधिकरणमें व्याहत है अन्यथा 'ज्ञान अज्ञानका विरोधी है' यह सिद्धान्त ही असंगत हो जायगा, अतः जब दोनों मतोंमें व्याघात समान ही है, तब अभावविलक्षण भावस्वरूप अज्ञानके स्वीकारमें पक्षपात क्यों ? इसी प्रकार ज्ञानके समान अज्ञान भी निर्विषयक प्रतीत नहीं होता, अतः यदि विषयज्ञान है, तो अज्ञान कैसे ? और विषयका अभाव है, तो अज्ञान किंविषयक है ? इस रीतिसे दोनों मतोंमें व्याघात समान है, तो एक ही पक्षमें यह दोष नहीं दिया जा सकता क्योंकि—

'यत्रोभयोः समो दोषः परिहारस्तयोः समः।
नैकः पर्यनुयोक्तव्यस्तादृगर्थविचारणे ॥'

ऐसा पूर्वाचार्योंका आदेश है।

समाधान—प्रमाणजन्य वृत्तिरूप ज्ञानसे अज्ञाननिवृत्ति अवश्य होती है, फिर भी साक्षीसे उक्त अज्ञानका विरोध न होनेसे वह साक्षीसे वेद्य है, अतएव अज्ञानका साधक साक्षी है, यह अद्वैतवादी मानते हैं। अज्ञानके ग्रहणमें यदि विषयगोचर प्रमाकी अपेक्षा मानते तो व्याघात अवश्य होता, परन्तु उसे मानते ही नहीं हैं, इसलिए हमारे मतमें व्याघात नहीं है। अतः विवरणकारका वचन है—'सर्वं वस्तु ज्ञाततया अज्ञाततया वा साक्षिचैतन्यस्य विषय एव'।

शङ्का—ज्ञानाभावपक्षमें भी विषयज्ञानको साक्षीस्वरूप मानें और 'न जानामि' इस प्रतीतिको प्रमाणजन्य वृत्तिस्वरूप ज्ञानके अभावको विषय करनेवाली मानें, तो व्याघात कैसे होगा ?

समाधान—भावरूप अज्ञान साक्षात् साक्षिवेद्य है, इस कारण तदवच्छेदक अज्ञानविषय भी साक्षिवेद्य है, ऐसा कह सकते हैं, अज्ञानके समान ज्ञानाभाव तो अनुपलब्धिगम्य है, साक्षात् साक्षिवेद्य नहीं, अतः उसके द्वारा तदवच्छेदक विषय साक्षिवेद्य नहीं हो सकता ।

शङ्का—ज्ञान तो साक्षिवेद्य है, अतः ज्ञान द्वारा विषयको भी साक्षिवेद्य कह सकते हैं, लेकिन ज्ञानाभावको साक्षिवेद्य नहीं कह सकते, क्योंकि उसकी उपलब्धि नहीं है, ज्ञान उत्पन्न (विद्यमान) ही नहीं होता, तो उसकी उपलब्धि कैसे ? और अनुपलब्ध ज्ञान द्वारा तदवच्छेदक विषयकी भी उपलब्धि नहीं हो सकती, अगर ज्ञान उत्पन्न हो, तो वह साक्षिवेद्य अवश्य होगा और उसके द्वारा विषयकी भी उपलब्धि होगी, फिर ज्ञानाभाव कहां ? प्रत्युत ज्ञान ही आत्मामें रहेगा ।

समाधान—हमारे मतमें तो अनुत्पन्न भी ज्ञान अज्ञानविशेषणतया साक्षिवेद्य है, इसलिए दोनों मतोंमें समान दोष नहीं है, किन्तु आपके मतमें ही उक्त दोष है ।

शङ्का—अज्ञानमें विशेषणीभूत विषयका प्रथम ज्ञान यदि न होगा, तो विषयविशिष्ट अज्ञानका ज्ञान भी नहीं होगा, क्योंकि विशिष्ट बुद्धिमें विशेषणज्ञान कारण है, अतः रक्तज्ञान होनेपर ही रक्त दण्डका ज्ञान होता है, अन्यथा नहीं ।

समाधान—विशिष्ट बुद्धिमें विशेषणज्ञान कारण है, इस नियमको नहीं मानते, अतएव नैयायिक आदि भी पूर्वकालमें अनुपस्थित प्रतियोगित्व और अभावत्वका अभाव-बोधमें प्रकारविधया भान मानते हैं ।

शङ्का—विशेषणतावच्छेदकप्रकारक ज्ञानके विना विशिष्टवैशिष्ट्यबुद्धि कैसे होगी ?

समाधान—विशिष्टवैशिष्ट्यावगाहिबुद्धित्वेन और विशेषणतावच्छेदकप्रकारकज्ञानत्वेन कार्यकारणभावमें प्रमाण नहीं है, किन्तु प्रत्यक्षत्वादिरूपसे पृथक्-पृथक् कार्यकारणभाव ही मानते हैं और विशिष्टवैशिष्ट्यबुद्धि अर्थात् फ़लित होती है । सामग्रीके तुल्य होनेपर 'विशेष्ये विशेषणं तत्र च विशेषणा-

न्तरम्' इस रीतिसे विशिष्टवैशिष्ट्यज्ञानकी सिद्धि हो जाती है। अन्यथा तार्किकमतमें भी ईश्वरमें भ्रान्तिज्ञत्वकी उपपत्ति नहीं हो सकेगी, भ्रमविषय रजतादिका भान स्वतन्त्ररूपसे पुरोवर्ती वस्तुमें यदि उक्त न्यायसे माना जायगा, तो भ्रान्तत्वापत्ति हो जायगी, अतः भ्रमविशेषणतयैव रजतग्रहण मानना उचित है, इसलिए विशिष्ट बुद्धिसे पूर्व विशेषणज्ञानका नियम कहां रहा? ग्रहण-सामग्रीतुल्यता प्रकृतमें भी है ही।

शङ्का—'न जानामि' इस प्रतीतिको यदि ज्ञानाभावविषयक मानें, तो भी प्रतियोगी आदिके ज्ञान और अज्ञानसे व्याघातका भय नहीं हो सकता है, क्योंकि सामान्यतः विषयप्रतियोगिज्ञान होनेपर भी विशेषतः उसके ज्ञानका अभाव रहता है। अन्यथा प्रागभावज्ञान ही न होगा, क्योंकि उसके प्रतियोगी विशेषणका सामान्य धर्मके ज्ञानके बिना विशेषतः ज्ञान अशक्य है।

समाधान—विशेषज्ञानाभावमें विशेषज्ञानत्वावच्छिन्न प्रतियोगी है, अतः तादृशाभावका ज्ञान होनेपर विशेष भी ज्ञात ही हो जायगा, अतः प्रति-योगितावच्छेदकप्रकारक ज्ञानाभावसे प्रागभावबुद्धिकी सिद्धि नहीं हो सकती है। प्रतियोगितावच्छेदकप्रकारक ज्ञान अभावज्ञानमें कारण नहीं है, किन्तु अभावज्ञानमें भासमान प्रतियोगिवृत्तिधर्मप्रकारक ज्ञानको ही कारण मानेंगे।

शङ्का—प्रतियोगितानवच्छेदक धर्मसे प्रतियोगिताका ग्रहण कैसे होगा? यदि कहो कि विशेषावच्छिन्नव्याप्तिका जैसे सामान्यधर्मसे ग्रहण होता है वैसे ही प्रकृतमें भी होगा। यद्यपि सामान्यधर्म विशेष व्याप्तिका अवच्छेदक नहीं होता, तथापि सामान्यरूपसे विशेषव्याप्तिका ग्रहण होता है। उदाहरण—'इदम् अभिधेयम्, प्रमेयात्' इत्यादि स्थलमें 'यत्र प्रमेयं तत्र अभिधेयम्' इस व्याप्तिग्रहणके समयमें वृत्तिमत्प्रमेयत्वावच्छेदेन सामानाधिकरण्यरूप व्याप्तिके रहनेपर भी व्याप्तिग्रहण प्रमेयत्वेन होता है, वृत्तिमत्प्रमेयत्वेन नहीं, क्योंकि 'संभवति लघौ गुरोस्तदभावात्', इस अभियुक्तोक्त रीतिसे केवल प्रमेयत्वरूपसे व्याप्तिग्रहणमें कोई क्षति नहीं है। और विशिष्टगुरुधर्मविशिष्टमें व्याप्ति ग्रहणमें गौरवापत्तिः और व्यभिचारका वारक न होनेसे वृत्तिमत्त्व विशेषणमें वैयर्थ्यापत्ति दोष भी है; अवृत्ति गगनादिमें साध्यसामानाधिकरण्यरूप व्याप्ति ही नहीं है। और साध्याभावसामानाधिकरण्यरूप व्यभिचार भी नहीं है। व्यर्थविशेषणत्व-

शून्यत्व और व्यभिचारिव्यावृत्तरूपसे ही व्याप्यतावच्छेदकत्वका स्वीकार किया गया है। जैसे वृत्तिमत्प्रमेयगत व्याप्ति प्रमेयत्वेन गृहीत होती है; वैसे ही तत्तत्नीलत्वादिगत प्रतियोगिताका नीलत्वेन ग्रहण होता है, ऐसा माननेसे कोई हानि नहीं है। 'इहेदानीं घटो नास्ति' यह प्रतीति जैसे कपालनिष्ठ घटप्रागभावविषयक है; वैसे ही 'मयि ज्ञानं नास्ति' इस प्रतीतिको भी प्रमातृगत ज्ञानप्रागभावविषयके माननेपर कोई अनुपपत्ति नहीं है।

समाधान—अभावज्ञानमें प्रतियोग्यंशमें भासमान धर्मको यदि प्रतियोगितावच्छेदक मानें, तो यत्किंचिद्विशेषाभाव सामान्यधर्मावच्छिन्न प्रतियोगिताक भी माना जायगा, ऐसा माननेपर घटवान् देशमें भी 'घटो नास्ति' ऐसी प्रयोगापत्ति होगी। घटज्ञानवान् पुरुषमें भी 'घटज्ञानं नास्ति' ऐसी प्रयोगकी आपत्ति होगी। यत्किंचिद् घटज्ञान घटाभावज्ञानमें प्रतिबन्धक है, तो ज्ञानज्ञानमें भी तुल्य ही है। उक्त व्याप्तिके ग्रहणमें कोई बाधक नहीं है, इसलिए सामान्यरूपसे व्याप्तिग्रह माना जाता है; प्रकृतमें घटवान् देशमें घटाभावापत्ति बाधक है। इसलिए सामान्यरूपसे विशेषाभाव नहीं मान सकते।

शङ्का—यदि सामान्यरूपसे विशेषाभाव नहीं मानते; तो प्रागभावकी प्रतीति ही नहीं होगी।

समाधान—इष्टापत्ति है, क्योंकि 'घटो भविष्यति' इस प्रतीतिका विषय भविष्यद् घट है; उसका प्रागभाव नहीं; अन्यथा दिनान्तरमें जो घट उत्पस्यमान (भावी) है, उसका प्रागभाव आज भी है, अतः 'अद्य घटो भविष्यति' इसी समय घट होगा; ऐसी भी प्रतीति हो जायगी, क्योंकि भावी घटका प्रागभाव तो इस समयमें है ही और प्रागभावको ही उक्त प्रतीतिका विषय कहते हो। अतः जो प्रागभावको मानते हैं, उनके मतसे भी प्रागभावका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, जो प्रागभावको नहीं मानते उनके मतमें तो कोई हानि ही नहीं है।

शङ्का—सामान्यरूपसे विशेषाभाव माननेसे सामान्याभावकी सिद्धि नहीं होगी, प्रागभाव माननेपर भी सामान्याभावकी असिद्धि तुल्य ही है। प्रागभाव सामान्याभाव—ये दोनों सुन्दोपसुन्दकी तरह परस्पर पराहत हैं; देखिये—प्रागभावके सिद्ध होनेपर विशेषाभाव भी सामान्यधर्मावच्छिन्न प्रतियोगिताक

माना जायगा, अतः सामान्यधर्मावच्छिन्न प्रतियोगिताकत्वनिबन्धन सामान्याभावकी सिद्धि नहीं हो सकती। सामान्याभावकी सिद्धि होनेपर विशेषाभाव सामान्यधर्मावच्छिन्न प्रतियोगिताक नहीं होता; कादाचित्काभाव सामान्याभाव नहीं है, अतः सामान्यधर्मावच्छिन्न प्रतियोगिताक विशेषाभावविशेष प्रागभाव सिद्ध नहीं हो सकता।

शङ्का—वायुमें यावद्रूपविशेषाभावका निश्चय रहनेपर भी 'वायू रूपवान्न वा' इस प्रकार रूपाभावका सन्देह होता है, निश्चयके रहनेपर संशय नहीं होता, अतः यावद्विशेषाभावसे भिन्न सामान्याभावकी सिद्धि होती है। 'एतावन्त्येवरूपाणि' इत्याकारक निश्चयदशामें ऐसे संशयका अनुभव नहीं होता, किन्तु उसकी अनिश्चयदशामें ही उक्त संशय माना जाता है। तथा च 'रूपत्वं पार्थिवाप्यतैजसरूपत्रितयातिरिक्त रूपवृत्ति भविष्यति' इस प्रकार अधिक रूपकी शङ्कासे निश्चितमें ही संशय होता है; इसलिए उक्त संभावनाविरहसहकृत निश्चय ही तादृश संशयका प्रतिबन्धक माना जाता है।

समाधान—इस प्रकार प्रतिबन्धककी कल्पनामें प्रमाण नहीं है, उक्त संभावना-विरहदशामें भी उक्त संशय अनुभवसिद्ध है।

शङ्का—जैसे यावद्विशेषाभावसे अतिरिक्त रूपसामान्याभावरूप संशयकोटि मानते हो; वैसे ही रूपसामान्य भी यावद्रूपविशेषोंसे अतिरिक्त संशयकोटिमें नहीं मान सकते, तो रूपसंशयकोटि कैसे होगी? सब रूपोंके अभावका वायुमें निश्चय है, उससे अतिरिक्त रूपसामान्यका स्वीकार नहीं है। यदि कहो कि नील, पीत आदिके अभावका निश्चय है सही; किन्तु रूपाभावत्वेन निश्चय नहीं है, अतः संशय होता है; तो सामान्याभाव माननेसे क्या प्रयोजन? क्योंकि रूपत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावत्वेन संशय हो सकता है, धर्मिकल्पनाकी अपेक्षासे धर्मकल्पनामें लाघव होता है; इसलिए क्लृप्त यावद्विशेषाभावमें ही सामान्य धर्मावच्छिन्न प्रतियोगिताकत्वकल्पनासे यत्किञ्चित् अभावको लेकर 'घटो नीरूपः' इस प्रतीतिकी आपत्ति नहीं हो सकती।

समाधान—अच्छा तो जैसे यावद्विशेषाभावमें जिस सामान्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वको मानते हो, वह प्रत्येकमें विश्रान्त है? अथवा व्यासज्यवृत्ति? प्रथम पक्षमें यत्किञ्चित् अभावको लेकर 'घटो नीरूपः' यह प्रतीति

हो जायगी। द्वितीय पक्षमें तत्तद्रूपत्वावच्छिन्न प्रतियोगिताकत्व अव्यासज्यवृत्ति-स्वभाव है, अतः तद्व्यतिरिक्तरूपत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वरूप व्यासज्यवृत्तिकी कल्पना करनी पड़ेगी, उसकी अपेक्षासे रूपत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभावकी ही कल्पना करना ठीक है, क्योंकि हमारे मतमें एक अभाव और सामान्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व—इन दो वस्तुओंकी ही कल्पना करनी पड़ती है और आपके मतमें सामान्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व और वह व्यासज्यवृत्ति है, इसलिए अनेक अभावोंमें अलग-अलग सम्बन्ध इस तरह बहुत कल्पनाएँ करनी पड़ेंगी, धर्मिकल्पनासे धर्मकल्पना अच्छी है, यह न्याय वहीं प्रवृत्त होता है जहांपर धर्मि-कल्पनामें अधिक विषयोंकी कल्पना करनी पड़ती है, और भी कारण है कि व्यासज्यवृत्तिधर्मके ज्ञानमें यावदाश्रयज्ञान और आश्रयभेदज्ञान कारण हैं, अज्ञात तथा भिन्नतया अज्ञातमें द्वित्वादिबुद्धि नहीं होती, अतः सब अभाव तथा प्रत्येकोंके भेदका ग्रहण न होनेपर पहले रूपाभाव ज्ञान नहीं होगा, कारण कि व्यासज्यवृत्तिसामान्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वका ग्रहण ही नहीं होता, अतः सामान्याभाव प्रामाणिक है, उसका निरास कैसे हो सकता है? अतएव सामान्यरूपसे विशेषाभावको नहीं मानना चाहिए। इसलिए 'न जानामि' यह प्रतीति ज्ञानप्रागभावविषयक अर्थात् ज्ञानत्वावच्छिन्न-प्रतियोगिताक प्रागभावविषयक नहीं हो सकती, किन्तु तदतिरिक्त अज्ञान ही उक्त प्रतीतिका विषय है, इस प्रकार मेरा ही अभीष्ट सिद्ध होता है। प्राग-भाव तो सामान्याभाव है नहीं, जिससे तत्प्रतियोगिता सामान्यधर्मसे अवच्छिन्न-मानी जाय, विशेषाभावप्रतियोगिता तत्तद्विशेषधर्मसे अवच्छिन्न होती है, तत्तद्घटत्वादिरूपविशेषधर्मसे भविष्यद्घटका ज्ञान दुर्घट है। तद्घटादिकी उत्पत्तिके अनन्तर तत्तद् विशेषधर्मोंका ज्ञान हो सकता है, किन्तु उस समय तत्प्रागभाव ही नहीं है, इसलिए प्रतियोगितावच्छेदकप्रकारक प्रतियोगिज्ञानदशामें प्रागभाव नहीं रहता। इसीलिए प्रागभावका प्रत्यक्ष नहीं होता, विद्यमान वस्तुका ही प्रत्यक्ष होता है, सामान्यप्रकारकज्ञानविशेषाभावज्ञानमें हेतु नहीं है, यह कह चुके हैं। प्रतियोगितावच्छेदकप्रकारक प्रतियोगिज्ञान ही अभा-वत्वप्रकारक अभावज्ञानमें हेतु है। अव्यभिचारी लिङ्गके अभावसे भी ज्ञानके अभावकी अनुमिति नहीं हो सकती, और 'न जानामि' यह बुद्धि प्रत्यक्षात्मक है, अतएव अनुमानात्मक 'न जानामि' यह बुद्धि है, यह मत निरस्त ही है।

शङ्का—'इदं (दुःखादि) मा भूत्' इत्याकारक इच्छाका विषय होनेसे प्रागभावकी सिद्धि होती है।

समाधान—प्रागभाव अनादि होनेसे साध्य नहीं है, किन्तु प्रतियोगिजनकसामग्रीविघटन द्वारा प्रागभावके सम्बन्धकी तरह अत्यन्ताभावका सम्बन्ध भी साध्य हो सकता है, अतः उस अभिप्रायसे भी उक्त इच्छा हो सकती है, इसलिए प्रागभावकी आवश्यकता नहीं है।

शङ्का—उत्पन्न घटादिकी फिर उत्पत्ति नहीं देखते, इसलिए उत्पत्तिसमयमें तत्सामग्री नहीं है, यह कहना होगा, परन्तु ऐसे स्थलमें अन्य चक्र, चीवरादि सामग्री है ही, किन्तु तत्प्रागभाव नहीं है, यही कहना होगा, क्योंकि सामग्री प्रागभावघटित है, इसलिए प्रागभाव आवश्यक है।

समाधान—सामयिक अत्यन्ताभावसे भी उक्त प्रयोजनकी सिद्धि हो सकती है, अतः उसके लिए प्रागभावकी अत्यावश्यकता है नहीं और उत्पन्न ही स्वोत्पत्तिका विरोधी है, ऐसा माननेपर भी उक्त दोषका परिहार हो सकता है।

शङ्का—अग्निसंयोगादि कारण समान है, तो भी पाकजरूपमें भेद पाया जाता है, कारण कि भेदके विना कार्यभेद नहीं होता, इसलिए प्रागभाव माना जाता है, माननेपर उसीके भेदसे रूपभेदकी उपपत्ति होती है।

समाधान—अग्निसंयोगके भेदसे कार्यभेदकी अन्यथासिद्धि हो सकती है, अतः प्रागभाव माननेकी आवश्यकता नहीं। पूर्वरूपादिध्वंसविशेषसे भी रूपभेदकी उपपत्ति हो सकती है, प्रतियोगीके भेदके बिना प्रागभावका भेद हो भी नहीं सकता।

शङ्का—उपादानोपादेयभावकी सिद्धिके लिए प्रागभाव मानना चाहिए। घटप्रागभावका अधिकरण कपाल घटका उपादान माना जाता है, अन्यथा उपादानोपादेयभावका समर्थन ही नहीं हो सकेगा।

समाधान—घटत्वरूपसे और कपालत्वरूपसे कार्यकारणभावका समर्थन हो सकता है, इसलिए एतदर्थ भी प्रागभावका स्वीकार व्यर्थ है।

शङ्का—प्रागभाव न माना जायगा, तो कपालादिमें घटात्यन्ताभाव अवश्य रहेगा, तदत्यन्ताभाववान् तदुपादान नहीं हो सकता। प्रागभाव माननेपर

प्रागभावके अधिकरणमें तदत्यन्ताभाव नहीं रहता, ऐसा प्राचीनोंका सिद्धान्त है, इसलिए उपादानोपादेयभावमें उक्त शङ्का नहीं होती।

समाधान—सम्बन्धान्तरसे उपादानमें उपादेयका अभाव तो आप भी मानते ही हैं, इत्यादि विशेष देखना हो, तो अद्वैतसिद्धिमें देखिए। इसी प्रकार 'एतावन्तं कालं न किञ्चिद्वेदिषम्' इतने समय तक कुछ नहीं जाना, इस परामर्शसे सुषुप्तिकालमें भावरूप अज्ञानविषयक प्रत्यक्ष सिद्ध होता है। उक्तानुभवके विना उक्त स्मरण सर्वथा अनुपपन्न है, इसलिए तत्कालमें उक्त प्रत्यक्ष मानना ठीक है।

शङ्का—परामर्श अनुमान है या स्मरण ? प्रथम पक्षमें ज्ञानाभावका ही अनुमान क्यों नहीं करते ? तदतिरिक्त भावरूप अज्ञानको माननेसे क्या लाभ ?

और अनुमानका पूर्वोक्त रीतिसे निराकरण हो चुका है। द्वितीय पक्षमें विनश्वर ज्ञान संस्कारका कारण होता है, कालान्तरमें विषयस्मरण संस्कारके विना नहीं हो सकता, पूर्वानुभवको क्षणिक मानते हो, वह कालान्तरमें रहता नहीं, प्रकृतमें साक्षीस्वरूप अनुभव अविनश्वर होनेसे संस्कारोत्पादक नहीं है, अतः उक्त स्मरण हो नहीं सकता।

समाधान—अज्ञानवृत्तिप्रतिबिम्बित चैतन्य ही साक्षी है, उसमें विशेषणीभूत वृत्तिके नाशसे उक्त चैतन्य भी नहीं रहता, इसलिए संस्कारका उत्पादक उक्त साक्षी है।

शङ्का—जागरावस्थामें भी 'अहमज्ञः' इत्यादि वृत्तिसे अज्ञानको यदि वेद्य मानोगे, तो वृत्त्यभावदशामें संशयापत्ति हो जायगी।

समाधान—अज्ञानविषयक अज्ञान नहीं है, इसलिए अज्ञानके संशयकी आपत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि संशयविपर्ययादिमें अज्ञान ही कारण है। भावत्वादिप्रकारक संशय इष्ट ही है। अज्ञान स्वरूपतः साक्षिवेद्य है, भावत्वादि नहीं, अन्यथा तदंशमें भी संशय नहीं हो सकेगा।

शङ्का—ज्ञानाभावको भी स्वरूपतः साक्षिवेद्य मानिये! सप्रतियोगिकत्वेन अभावज्ञानमें ही प्रतियोगिज्ञान कारण है, स्वरूपसे अभावज्ञानमें उक्त कारण नहीं है, अन्यथा 'प्रमेयम्' इत्याकारक ज्ञानमें भी अभावका भान नहीं होगा।

समाधान—स्वरूपसे साक्षी ज्ञानके अभावका अवगाहन नहीं करता है, क्योंकि अभाव साक्षात् साक्षीसे वेद्य नहीं है। एवं शब्दादिसे भी उसका ज्ञान नहीं होता, क्योंकि उस समयमें शब्दादि हैं ही नहीं। अनुपलब्धिसे भी ज्ञानाभावका ग्रहण नहीं कर सकते, क्योंकि प्रतियोगिज्ञानके ज्ञानके बिना अनुपलब्धि अभावग्राहक नहीं होती।

शङ्का—घटाद्यभावसे ज्ञानाभाव विलक्षण है इससे प्रतियोगिज्ञानके बिना भी प्रकृत अभावका अनुपलब्धिसे ग्रहण हो जायगा, अन्यत्र वह प्रतियोगिज्ञानसे सहकृत अनुपलब्धिसे ग्राह्य होगा, अन्य अभावोंसे ज्ञानाभावमें वैलक्षण्य यह है कि वह निर्विकल्पबुद्धिसे ग्राह्य है।

समाधान—अभाव निर्विकल्पकबुद्धिवेद्य नहीं माना जाता; क्योंकि कहां किसका अभाव है? यह आकांक्षा नियमसे होती है, इसीसे अभावज्ञानमें धर्मी और प्रतियोगीका ज्ञान कारण माना जाता है; केवल भाव ही निर्विकल्पक बुद्धिसे वेद्य है, यह बात अनुभवसिद्ध है। यदि ज्ञानाभावको भी निर्विकल्पकबुद्धिसे ग्राह्य कहो, तो शब्दमात्रका भेद होगा; कारण कि हम उसे अज्ञान कहते हैं और आप उसे ज्ञानाभाव मानकर अभावान्तरसे विलक्षण कहते हैं।

शङ्का—उक्त दशामें अज्ञानका अनुभव स्वरूपसे मानते हैं, ज्ञानविरोधित्वरूपसे नहीं, अन्यथा निर्विकल्पकबुद्धिवेद्यत्वकी अनुपपत्ति हो जायगी। तथा च स्वरूपसे स्मरण होना चाहिए, अननुभूतज्ञानविरोधित्वरूपसे क्यों स्मरण होता है?

समाधान—जैसे सुषुप्तिकालमें अहंकारतादात्म्याध्यस्त साक्षीका अनुभव नहीं होता; किन्तु स्वरूपतः होता है। फिर भी परामर्शदशामें उक्त तादात्म्याध्यस्त साक्षीका भान होता है, वैसे ही उक्त दशामें ज्ञानविरोधित्वांशका अनुभव न होनेपर भी परामर्शदशामें ज्ञानविरोधित्वांश है, इसलिए वह स्मृतिगोचर होता है। उक्त तादात्म्यांशकी तरह ज्ञानविरोधित्वांशमें संशय नहीं मानते, क्योंकि अहंकारोल्लेखके समान उसका उल्लेख अनुभवसे होता है अर्थात् सुषुप्तिकालिक द्रष्टाका ही परामर्श होता है जाग्रत्कालीन द्रष्टाका नहीं।

शङ्का—अज्ञानवृत्तिप्रतिबिम्बित चैतन्यरूप अज्ञानका अनुभव जागरावस्थामें विद्यमान नहीं है, तो उसका स्मरण कैसे? क्योंकि स्मरण तो अविद्यमान पदार्थका ही होता है, अतएव धारावाहिक ज्ञानमें स्मरणव्यवहार नहीं होता। प्रकृतमें धारावाहिक अज्ञानका अनुभव ही कहना चाहिए, स्मरण नहीं।

समाधान—ठीक है, सुषुप्तिकालीन तामसी अज्ञानवृत्तिका जागरावस्थामें नाश होनेसे साक्षी तादृशवृत्तिविशिष्ट अज्ञानका अनुभव नहीं कर सकता, इसलिए संस्कारजन्य अविद्यावृत्तिसे सुषुप्तिविशिष्ट अज्ञानका भान होनेसे वह परामर्श कहा जाता है। केवल अज्ञानांशमें धारावाहिक ही ज्ञान है, अतएव प्रलयोपम अज्ञानमात्र सुषुप्ति है; इस तात्पर्यसे वार्तिककार श्रीसुरेश्वराचार्यने कहा है—

'न सुषुप्तिगविज्ञानं नाऽज्ञासिषमिति स्मृतिः।
कालाद्यव्यवधानत्वात् नह्यात्मस्थमतीतभाक्॥
न भूतकालस्पृक् प्रत्यक् न चाऽऽगामिस्पृगीक्ष्यते।
स्वार्थदेशः परार्थोऽर्थः विकल्पस्तेन स स्मृतः॥' इत्यादि

अर्थ यह है—'नाऽज्ञासिषम्' इत्याकारक ज्ञान स्मरण नहीं है, कारण कि आत्मा और तन्निष्ठ अज्ञान—ये दोनों अतीत नहीं हैं, किन्तु जागरावस्थामें भी विद्यमान हैं; अतएव कालव्यवधान नहीं है। यदि वे उक्त अवस्थामें रहकर वर्त्तमान अवस्थामें न रहते, तो अनुभव और स्मरणमें कालव्यवधान होता, किन्तु ऐसा है नहीं। अज्ञान और साक्षी दोनों अवस्थाओंमें अनुवृत्त हैं। अतएव साक्षी संस्कारजनक नहीं होता है, किन्तु अनित्य ज्ञान ही संस्काराधायक होता है, यह पूर्वमें कह चुके हैं; स्वापकालिक अज्ञानविषयक कादाचित्क अनुभवका उपनायक उक्त परामर्श नहीं हो सकता। अज्ञान और पूर्वकाल—ये दोनों साक्षीमें अध्यस्त हैं, अतएव इसीसे ज्ञात होते हैं। आत्मस्थ अज्ञान अतीत नहीं है, किन्तु विद्यमान है।

शङ्का—आत्मामें भूतकालका सम्बन्ध क्यों नहीं है?

समाधान—'अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्पश्यसि तद्वद' इत्यादि श्रुतिप्रमाणसे आत्मामें भूतकालके सम्बन्धका अभाव स्पष्ट है, एवं आगामी भविष्यत्कालके सम्बन्धका अभाव भी उक्त प्रमाणसे सिद्ध ही है। देश स्वयं प्रत्यक्स्वरूप ही है, अतः उसका सम्बन्ध भी नहीं है। सम्बन्ध भेदमें होता है, अतः स्वमें स्वका सम्बन्ध नहीं हो सकता। सम्बन्धके विना देश और कालकी स्थिति माननेसे अद्वैतकी हानि नहीं होती है। रज्जुमें भुजङ्गकी तरह जड़मात्र स्वयंप्रकाश आत्मामें अध्यस्त है। स्वस्य—न अविदिषम् इति प्रत्ययस्य—अर्थः, देशः—अधिकरणम्—यस्य ज्ञानविरोधित्वादेः स ज्ञानविरोधित्वादिः अर्थः, तेन—असत्त्वेन, विकल्पः—'शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः' इस लक्षणसे लक्षित विकल्पमात्र ज्ञानविरोधित्वांश

बोधस्य लिङ्गजन्यत्वं यत्त्वयोक्तं तदप्यसत् ।
सर्वत्र जन्या धीवृत्तिर्नित्यो बोधो न जन्यते ॥ ३६ ॥

है, यह श्लोकार्थ है । 'अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा' इस योगसूत्रके अनुसार तमोगुणात्मक आवरणमात्रालम्बनवृत्ति सुषुप्ति है, इस अभिप्रायसे तादृश वृत्तिनाशसे नाश मानकर तत्कालीनज्ञानानुभवजनित संस्कारसे 'न किञ्चिदवेदिषम्' यह स्मरण कहा गया है; मतभेदसे दोनों पक्ष ठीक हैं । सारांश यह है कि प्रत्यक्ष वर्तमान वस्तुमात्रका ग्राही होता है, अतीतत्वका नहीं । अनुमानसे भी अतीतत्वका ज्ञान नहीं होता, क्योंकि वर्तमान अवर्तमानका ग्राहक नहीं होता । किन्तु समानकालमें रहनेवाले प्रमाण-प्रमेयोंमें विषयविषयिभाव होता है, अतः अतीतत्वादि कल्पित हैं ।

शङ्का—कल्पितको अकल्पित अधिष्ठानसे भिन्न माननेपर भी अद्वैतकी हानि होती है ।

समाधान—कल्पितका अधिष्ठान ही तत्त्व है, जो अतात्त्विक वस्तु होती है, वह वस्तुका अतिक्रम नहीं करती, जैसे रज्जुसर्प । यहां रज्जु तात्त्विक है, अतः रज्जुसर्प रज्जुका अतिक्रम नहीं करता ।

शङ्का—अच्छा कल्पितका अधिष्ठानके साथ ऐक्य माननेपर अधिष्ठानमें भी कल्पितत्वकी प्रसक्ति हो जायगी; इससे तुच्छत्वकी आपत्ति होगी ।

समाधान—आरोप्यकी अधिष्ठानसत्तासे अतिरिक्त सत्ता न होनेपर भी अधिष्ठान स्वतन्त्ररूपसे रहता है; इसलिए तुच्छत्वापत्तिकी शङ्का नहीं है, इत्यादि विस्तर वार्त्तिकमें देखिये ॥ ३५ ॥

जागर अवस्थामें 'न किञ्चिदवेदिषम्' इस बोधरूप हेतुसे सुषुप्तिकालीन ज्ञानाभावका अनुमान जो आप करते हैं, वह ठीक नहीं है, ऐसा कहते हैं— 'बोधस्य' इत्यादिसे ।

'घटज्ञान उत्पन्न हुआ, नष्ट हुआ' इत्यादि प्रतीतिसे अन्तःकरणवृत्तिरूप घटादि-ज्ञान ही जन्य माना जाता है । सुषुप्तिकालमें अन्तःकरणका लय होनेसे तत्परिणाम-स्वरूप वृत्तिज्ञानका संभव ही नहीं है, अतः उस अवस्थामें उससे अतिरिक्त चैतन्यात्मक अनुभव माना जाता है । वह ज्ञान जन्य नहीं है, किन्तु नित्य है । एवं देश और कालके भेदसे भिन्न भी नहीं है, किन्तु सब देश और कालमें एकरस ही है; अतः आपका कहना असंगत है ॥ ३६ ॥

इदानीन्तनबोधोऽयं तदानीन्तन इत्यपि ।
भेदोऽयं नित्यबोधस्य कालेन क्रियते कथम् ॥ ३७ ॥
बोधादेव प्रसिध्यन्ति कालावस्थादयोऽखिलाः ।
मातृमानादयश्चैव कुतस्तैरस्य विक्रिया ॥ ३८ ॥
प्रमातृमानतन्मेयेष्वागमापायिषु त्रिषु ।
अलुप्तानुदितो बोधः प्रथते प्रत्यगेकलः ॥ ३९ ॥

'इदानीन्तन' इत्यादि । जागरावस्थाके बोधको इदानीन्तन बोध कहते हो और सुषुप्तावस्थाके बोधके तात्पर्यसे 'तदानीन्तन' शब्दका प्रयोग करते हो ? इस प्रकार नित्यबोधमें कालिक भेद कैसे ? अर्थात् नित्य बोधमें कालिकभेद असंगत ही है । यदि कालभेदसे वस्तु भिन्न होती, तो यह प्रयोग उचित होता, परन्तु एकरस नित्यचैतन्यानुभव तो कालभेदसे भिन्न नहीं हो सकता, फिर उसमें 'इदानीन्तन' और 'तदानीन्तन' इत्यादि व्यवहार असंगत हैं ॥३७॥

क्षीरादिके समान अनुभव भी कालवशसे परिणामी हो सकता है, इस शङ्काका परिहार करते हैं—'बोधादेव' इत्यादिसे ।

जड़ होनेसे कालादि स्वयंसिद्ध नहीं हैं, किन्तु नित्य चैतन्यानुभव द्वारा ही सिद्ध होते हैं, इसलिए प्रथम ही जड़का साधक उक्त अविकारिस्वरूप अनुभव स्वयंसिद्ध है । विकारी कालादिसे पूर्वमें अविकारिस्वभाव अनुभव पश्चाद् विकारी होता है, यह कहना ठीक नहीं है, कारण कि अविकारी स्वभावका ही लोप हो जायगा । किसी भी पदार्थके स्वभावका लोप नहीं होता; क्योंकि स्वभावका लोप होनेपर पदार्थ भी लुप्त हो जायगा । औष्ण्यप्रकाशरहित अग्निके स्वरूपका अवस्थान कहीं दृष्ट नहीं है ॥३८॥

अनुभवस्वरूप आत्मा अपरिणामी है, इसमें हेत्वन्तर भी कहते हैं—'प्रमातृ' इत्यादिसे ।

प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय—ये तीनों उत्पत्ति-विनाशशील हैं । इन पदार्थोंकी उत्पत्ति और विनाशका साधक अनुभव ही है । अतएव आगमापायशून्य प्रत्यगैकस्वभाव अनुभव स्वयंप्रकाश है । यदि अनुभवका भी आगमापाय माना जाय, तो उसका साधक कौन है, यह

अभितोऽनुभवाक्रान्ता ज्ञाताज्ञातत्वभूमिषु ।
घटादयोऽर्थाः सिद्ध्यन्ति लीयन्तेऽनुभवे पुनः ॥ ४० ॥

प्रश्न अवश्य होगा । स्वयं तो स्वागमापायका साधक हो नहीं सकता, साधकान्तर माननेमें अन्योन्याश्रयका प्रसंग हो जायगा और पूर्वपूर्वमें असाधकत्वापत्ति भी होगी, क्योंकि आगमपायी पदार्थ घटादिके समान असाधक ही होंगे, साधक नहीं । अतः स्वयंप्रकाश अद्वितीय अनुभव अलुप्त और अनुदित—उत्पत्तिविनाशशून्य—ही भासता है । प्रमातृ इत्यादि श्लोकमें 'मेयेषु' यहांपर सप्तमीका प्रयोग है । सप्तमी आधारमें होती है । 'बोधः' यहांपर प्रथमा विभक्ति है, वह आधेयमें होती है । प्रमात्रादिमें बोध रहता है, यह वाक्यार्थ होता है ॥ ३९ ॥

आधाराधेयभाव भेदमें होता है, अभेदमें नहीं, फिर आप कैसे कहते हैं कि प्रत्यगात्मा एकत्र एकाकी अद्वितीय है, इस शङ्काका परिहार करते हैं—'अभितो' इत्यादिसे ।

अनुभवसे अतिरिक्त जितने घटादि पदार्थ हैं, वे सब ज्ञातत्वरूपसे या अज्ञातत्वरूपसे अनुभवव्याप्त होकर ही स्वसत्ताका लाभ करते हैं, अन्यथा नहीं । भूमिके व्यवहारकालमें मनुष्य घटको जानते हैं या नहीं भी जानते हैं, अतः कदाचित् घट ज्ञातत्वरूपसे साक्षी चैतन्यका विषय होता है, और कदाचित् अज्ञातत्वरूपसे साक्षी चैतन्यका विषय होता है । उभयथा साक्षी चैतन्यके अविषय पदार्थकी सत्ता नहीं मानी जाती । अनुभवसे अतिरिक्त स्थलमें किसीसे घटादि पदार्थकी स्थिति नहीं है, तथा उत्पत्ति भी अनुभवसे होती है एवं सब पदार्थोंका लय भी उक्तानुभवस्वरूपमें ही होता है, अतः प्रमात्रादि सब अनुभवसे उत्पन्न होते हैं, अनुभवमें ही रहते हैं, तथा उसीमें लीन होते हैं । इसलिए अनुभवसे अतिरिक्त सत्ता प्रमात्रादिमें नहीं है, अतएव व्यतिरेकसे असत् कहे जाते हैं । प्रमात्रादि वस्तुतः अनुभवात्मक ही हैं, किन्तु काल्पनिक भेद मानकर आधाराधेयभावकी उपपत्ति की जाती है । अनुभवसे अतिरिक्त पदार्थ न होनेसे एकत्र अद्वितीय अर्थात् सिद्ध होता है ॥ ४० ॥

ज्ञातत्व और अज्ञातत्वके आक्रमणके समयमें अनुभवसे अतिरिक्त विषय नहीं है,

सर्वं वस्तु ज्ञाततया ह्यज्ञातत्वेन वा सदा ।
साक्षिचैतन्यविषय एवेति ज्ञानडिण्डिमः ॥ ४१ ॥
एवमज्ञाततासिद्धावज्ञातो यः प्रमीयते ।
सर्वैर्मानैरतश्चिन्त्यं कस्याऽज्ञातत्वमीदृशम् ॥ ४२ ॥
चेतनोऽचेतनो वाऽयमज्ञातो यद्यचेतनः ।
तत्राऽज्ञातार्थकार्यस्य जडस्याऽज्ञातता कुतः ॥ ४३ ॥

किन्तु अनुभवस्वरूप ही है। इतरकालमें तो विषय अनुभवसे अतिरिक्त होंगे, इस शङ्काका परिहार करते हैं—'सर्वं वस्तु' इत्यादिसे ।

जिस समय वस्तुका ज्ञान है, उस समय वह ज्ञातत्वेन साक्षी चैतन्यकी विषय है और जिस समय वस्तुका ज्ञान नहीं है, उस समय मेय वस्तु अज्ञातत्वेन साक्षीकी विषय है । ज्ञाताज्ञातकालसे अतिरिक्त काल ही नहीं है, फिर कालान्तरमें अनुभवातिरिक्त विषयमें प्रश्न ही नहीं हो सकता । सदा अनुभव व्याप्त ही रहता है, केवल प्रकारमें भेद है, यही तत्त्वज्ञानका डिण्डिम (डंका) है ॥४१॥

'एवमज्ञातता०' इत्यादि । पूर्वोक्त प्रमाण आदिसे अज्ञातताके सिद्ध होनेपर सब प्रमाणोंसे अज्ञात अर्थ प्रमित--प्रमाविषय—होता है, अतः अज्ञातत्व किसका धर्म है, इसका विचार करते हैं अर्थात् साक्षीसे सिद्ध अज्ञातत्वसे विशिष्ट विषय ही प्रमाणोंसे प्रमेय है । अतः अज्ञातत्व किसमें है, इसीका विचार करते हैं ॥ ४२ ॥

'चेतनो' इत्यादि । अज्ञात चेतन है अथवा अचेतन ? यदि कहो कि अचेतन है, क्योंकि 'घटमहं जानामि' यह प्रतीति होती है और घटज्ञानसे पहले 'घटमहं न जानामि' यह प्रतीति होती है । अतः ज्ञात या अज्ञातरूपसे धर्मितया घट ही प्रतीत होता है । इसलिए अज्ञातत्वादिको अचेतन घटादिगत ही मानना उचित है, तो यह यद्यपि आपाततः सत्यसा प्रतीत होता है, तथापि विचारविरुद्ध है । क्योकि अज्ञातार्थ ब्रह्म तथा तत्कार्य घटादि जड़में अज्ञातता कैसे हो सकती है अर्थात् घटादि जड़ ब्रह्ममें अध्यस्त हैं । अधिष्ठानके ज्ञानके बिना अध्यास नहीं होता । रज्जुज्ञानके बिना रज्जुमें सर्पाध्यास नहीं होता किन्तु रज्जुका ज्ञान होनेपर ही उक्त अध्यास होता है, अतएव अज्ञात

अज्ञातरज्जुकार्यस्य सर्पस्य ज्ञातता नहि ।
अज्ञातब्रह्मकार्यस्य जडस्य ज्ञातता कथम् ॥ ४४ ॥
रज्जुसर्पं न जानामि बोद्धुमिच्छामि मानतः ।
इति व्यवहृतिं प्राज्ञा नाऽङ्गीकुर्वन्ति केऽपि च ॥ ४५ ॥
किञ्चाऽज्ञातत्वतो लभ्यं तिरोधानं न चेतरत् ।
स्वयमेव तिरोभूते जडे काऽन्या तिरोहितिः ॥ ४६ ॥

रज्जुकार्य सर्पमें ज्ञातता नहीं हो सकती, अतः ज्ञातत्व और अज्ञातत्व अधिष्ठानगत ही हैं, किन्तु अध्यस्तमें प्रतीत होते हैं ॥ ४३ ॥

स्वतः जड़में ज्ञातत्व आदि धर्म नहीं रहता, इस अभिप्रायसे कहते हैं— 'अज्ञात०' इत्यादि ।

अज्ञात रज्जुकार्य सर्पमें ज्ञातता नहीं है, तो अज्ञात ब्रह्मकार्य घटादि जड़में ज्ञातता कैसे ? ॥ ४४ ॥

'रज्जुसर्पं' इत्यादि । मैं रज्जुसर्पको नहीं जानता, किन्तु प्रमाण द्वारा जाननेकी इच्छा करता हूँ, इस प्रकारके व्यवहारको कोई विद्वान् लोग नहीं मानते, इसलिए रज्जुसर्प कल्पित पदार्थमें साक्षात् ज्ञातत्वादि नहीं रहता है, यह मानना तो ठीक ही है ।

घट आदि में तो 'घटं न जानामि' (मैं घटको नहीं जानता, प्रमाण द्वारा जाननेका इच्छुक हूँ) इस प्रतीतिसे ज्ञातत्वादि मानना चाहिये, यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि उक्त रज्जुसर्पके दृष्टान्तसे कल्पितमें अज्ञातत्वका निश्चय होनेपर उक्त व्यवहारकी उपपत्ति घटावच्छिन्न चैतन्याज्ञानसे भी हो सकती है, इसलिए तादृश व्यवहारकी अन्यथानुपपत्तिसे घटादिमें ज्ञातत्वादिके साधक प्रमाण नहीं हैं ।

उक्त रीतिसे घटादि जड़में अज्ञातताके साधक प्रमाणके अभावसे घटादि अज्ञातत्वादिके आश्रय नहीं हैं, इसका समर्थन कर प्रयोजनके अभावसे भी उक्त अर्थकी सिद्धि होती है ॥ ४५ ॥

'किञ्चा०' इत्यादि । अज्ञातत्वका फल प्रकाशका तिरोधान ही कह सकते हैं दूसरा नहीं, जड़में प्रकाशतिरोधान स्वतःसिद्ध है । यदि जड़में प्रकाशकी प्रसक्ति होती, तो किसी समय उसके तिरोधानकी आवश्यकता पड़ती । जड़ तो स्वयम् अनभिव्यक्त्यात्मक है । अतः उसे अज्ञानप्रयुक्त अनभिव्यक्तिकी आवश्यकता

आविर्भूतस्वरूपे तु चेतनेऽन्येन निर्मितात् ।
तिरोधानाद्विशेषोऽस्ति शुभ्रवस्त्रे मषी यथा ॥ ४७ ॥

ही नहीं है। स्वतः तिरोहित होनेपर भी अज्ञानप्रयुक्त तिरोधान मानिये, यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि फलाभावसे. स्वतः तिरोहितका पुनः तिरोधान मानना अनुचित है ॥ ४६ ॥

स्वयंप्रकाश आत्मामें अज्ञान माननेका फल कहते हैं—'आविर्भूत०' इत्यादिसे।

स्वयंप्रकाशमान आत्मामें अन्यसे (अज्ञानसे) निर्मित—जनित—तिरोधानसे अतिरोधानकी अपेक्षा तिरोधानमें विशेष यह है कि संसारका भान होता है। जैसे अधिष्ठानशुक्तिका तात्त्विक साक्षात्कार न होनेसे उसमें रजतकी प्रतीति होती है और शुक्तित्वादिका साक्षात्कार होनेसे कल्पित रजतकी निवृत्ति हो जाती है, वैसे ही आत्मामें अज्ञानसे तिरोधान होनेपर आत्माका तात्त्विक भान नहीं होता, इसलिए अज्ञानप्रयुक्त संसारका भान होता है। 'तत्त्वमसि' आदि वाक्य द्वारा आत्माका यथार्थज्ञान होनेपर अर्थात् तिरोधायक अज्ञानके निवृत्त होनेपर उससे कल्पित संसारकी भी निवृत्ति हो जाती है, क्योंकि कारणकी निवृत्तिसे कार्यकी निवृत्ति होती है, यह लोकमें प्रसिद्ध ही है। अतिरोधानावस्थासे तिरोधानदशामें जो विशेष होता है उसमें दृष्टान्त देते हैं—शुभ्रवस्त्रमें काली स्याहीका भान जैसे स्फुट होता है। अज्ञान मषीके सदृश है। प्रकाशका आवरक होनेसे अज्ञानको मषीकी उपमा दी गई है।

अन्धकार भी काला होता है। अज्ञान भी तमोगुणात्मक होनेसे काला ही माना जाता है। इससे अज्ञानको ज्ञानाभावात्मक नहीं कह सकते। अभाव न तो आवरक ही होता है, और न उसमें काला रूप ही रहता है। मषीसे श्वेतरूपका नाश नहीं होता, किन्तु उससे वस्त्रका श्वेतरूप आवृत हो जाता है। अतएव श्वेतरूपका भान न होकर आवरकका जो काला रूप है, उसके दृष्टिगोचर होनेसे 'नील वस्त्र है' ऐसा लोकमें व्यवहार होता है। परन्तु क्षारादि द्रव्यविशेषके प्रयोगसे जब चतुर शोधक मषीको हटा देता है तब वस्त्रका अपना स्वाभाविक अतएव सत्य जो शुक्ल रूप है, वही प्रतीत होता है।

यदि मषी तिरोधायक न होती, किन्तु उक्त रूपका नाशक होती, तो उक्त प्रयोगसे मषीकी निवृत्ति होनेपर श्वेतरूपकी प्राप्ति कैसे होती? मषी निवर्तक होनेसे

चन्द्रं मलिनयेद्राहुर्नीलमेघं न तु क्वचित् ।
एवं चेतनमज्ञानं जडं त्वज्ञानदेहकम् ॥ ४८ ॥

तन्नाशमात्रकी हेतु है, रूपान्तरकी उत्पत्तिकी नहीं । अन्यथा विनिगमनाविरहसे रूपान्तरकी उत्पत्ति हो जायगी, और होती है नहीं, अतः तिरोधायकके अपसरणसे स्वाभाविक पूर्वरूपकी प्रतीति होती है । एवं प्रकृत भी नित्यशुद्धबुद्धमुक्त-स्वभाव आत्मा स्वयंप्रकाश है, किन्तु संसारदशामें अज्ञानकृत तिरोधानसे वह उक्त स्वरूपके विपरीत प्रतीत होता है । शमदमादिसाधनसंपन्न विवेकी मुमुक्षु श्रवण, मनन आदि द्वारा ब्रह्मस्वरूपके तिरोधायक अज्ञानकी जब निवृत्ति कर लेता है; तब स्वाभाविक उक्तस्वरूप आत्मा अभिव्यक्त हो जाता है ॥ ४७ ॥

उक्त अर्थमें फिर अनुरूप दृष्टान्त देते हैं—'चन्द्रम्' इत्यादिसे ।

राहु जैसे प्रकाशमान चन्द्रमाका तिरोधायक होता है, नीलमेघका नहीं, वैसे ही अज्ञान आत्माका तिरोधायक होता है, जड़का नहीं । नीलमेघ जैसे अप्रकाशात्मक है वैसे ही जड़ भी स्वयं अप्रकाशात्मक है । उसका तिरोधान क्या होगा ? तिरोधान वास्तविक प्रकाशका आवरण है, जिसमें प्रकाश न हो उसका आवरण क्या होगा ? अर्थात् कुछ नहीं । पूर्व दृष्टान्तमें जड़से जड़का आवरण कहा गया है, उसका तात्पर्य यह है कि तिरोधानका अर्थ स्वरूपावरण है; इससे मषीसे शुक्ल रूपका तिरोधान बतलाया गया है । आवरणका मुख्य अर्थ है—प्रकाशका तिरोधान; इस अभिप्रायसे चन्द्र और राहुका दृष्टान्त दिया गया है । अथवा मषी वस्त्रगत शुक्लरूपका तिरोधान करनेवाली है; यह अनुभवसिद्ध है, परन्तु सूर्यादिका भी जो प्रकाशक है वह ब्रह्म कोटि सूर्यसमप्रभ है । उसका तिरोधायक अज्ञान कैसे हो सकता है, क्योंकि वह तो स्वयं अज्ञानका निवर्तक है । निविड नैश तमसे भी सूर्यका आवरण कभी नहीं देखा गया है, इस शङ्काकी निवृत्तिके लिए दूसरा दृष्टान्त है—जैसे चन्द्रमा प्रकाशस्वरूप होनेपर भी राहुसे तिरोहित हो जाता है, वैसे ही आत्मस्वरूप प्रकाश अज्ञानसे आवृत्त होता है, इसमें अनुपपत्ति नहीं है । चन्द्रमा उपलक्षण है, राहुसे सूर्य भी आवृत होता ही है । फिर भी सूर्यका उल्लेख न कर चन्द्रमाके उल्लेखमें क्या तात्पर्य है ? जैसे चन्द्रमा सुधामय होनेसे सबके अन्तरात्माका आप्यायन

करता है, अत एव सबका प्रेमपात्र है वैसे ही आत्मा भी नित्यसुखस्वरूप होनेसे परमप्रेमास्पद है, इस अभिप्रायसे चन्द्रमाका उदाहरण दिया गया है।

शङ्का—अच्छा तो अमुख्य तिरोधानके तात्पर्यसे शुक्ल, नील आदिकी तरह अज्ञान जड़का ही आवरण करता है, ऐसा माननेमें क्या दोष है ?

समाधान—'जडं त्वज्ञानदेहकम्' संपूर्ण जड़ अज्ञानका कार्य है। कार्य और कारणका अभेद होता है। आश्रयाश्रयिभाव भेदमें होता है, अभेदमें नहीं; इसलिए भी अज्ञान जड़में नहीं रह सकता।

शङ्का—कार्यकारणभाव भी तो भिन्न में ही होता है, अभिन्नमें नहीं। यदि भेदसहिष्णु अभेद मानें, तो कार्यकारणभावके तुल्य आश्रयाश्रयिभाव भी हो सकता है, फिर अज्ञान जड़का आवरण क्यों नहीं करता ?

समाधान—कारणमें कार्य रहता है, कार्यमें कारण नहीं रहता, क्योंकि कार्यकी उत्पत्तिसे पूर्वकालमें जो रहता है, वही कारण माना जाता है। कार्योत्पत्तिसे पहले तो कार्य है नहीं और कारण उस समयमें है, तो वह किमाश्रित है ? इस प्रकारकी जिज्ञासा होनेपर क्या कहा जायगा, निराश्रित अथवा किंचिदाश्रित ? निराश्रित ब्रह्मसे अतिरिक्त किसी भी पदार्थको अद्वैतवादी नहीं मानते, इसलिए किञ्चिदाश्रित ही कहेंगे। किमाश्रित है ? इस निर्णयके लिए जड़ जो स्वकार्य, तदाश्रित है, यह तो उक्त दोषसे कह नहीं सकते और न मान ही सकते हैं। इसलिए चेतन आत्मामें अज्ञान रहता है, यही कहना और मानना होगा।

शङ्का—अच्छा तो ज्ञान और अज्ञानका परस्पर विरोध है। अतएव ज्ञानसे अज्ञानकी निवृत्ति मानते हैं। फिर कहिए, प्रकाशस्वरूप आत्मामें अज्ञान कैसे रहेगा ? अन्धकार सूर्यमें रहता है, ऐसा तो कोई नहीं कहता, कारण कि सूर्य अन्धकारका निवर्तक है। अत एव वह उसका आश्रय नहीं हो सकता।

समाधान—यद्यपि ज्ञान और अज्ञानका तम और प्रकाशके समान विरोध है तथापि आत्मस्वरूप प्रकाशसे अज्ञानका विरोध नहीं है, अन्यथा अज्ञानकी सिद्धि तथा स्थिति नहीं हो सकेगी। किन्तु वृत्तिप्रतिबिम्बित चैतन्यरूप प्रकाशसे अज्ञानका विरोध है, इसलिए उससे उसकी निवृत्ति होती है।

कार्यकारणरूपं यन्निखिलं जडमीक्ष्यते ।
तेन सर्वेण चिद्रूपः स्वप्रकाशस्तिरोहितः ॥ ४९ ॥
तिरोहितेनोभयं यद्भासते चन्द्रराहुवत् ।
लोपः प्रकाशनाशो वा नास्ति चन्द्रवदेव हि ॥ ५० ॥

शङ्का—यदि चैतन्य स्वयम् अज्ञानका निवर्तक नहीं होता तो, वृत्तिप्रतिबिम्बित होकर अज्ञानका निवर्तक कैसे होगा ?

समाधान—सूर्यका आलोक स्वयं तूलका दाहक नहीं है, किन्तु प्रकाशक है। परन्तु सूर्यकान्तोपलमें प्रतिविम्बित होकर जैसे तूलका दाहक होता है वैसे ही प्रकृतमें भी समझिये ॥४८॥

यदि अज्ञान ब्रह्मस्वरूप प्रकाशका तिरोधायक है, तो चित्प्रकाशका लोप होनेसे जगत् अन्धा हो जायगा, क्योंकि उसके प्रकाशसे ही सारे जगत्का प्रकाश होता है, ऐसा श्रुति कहती है—'तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्' इत्यादि। इस शङ्काकी दो श्लोकोंमें निवृत्ति करते हैं—'कार्यकारण०' इत्यादिसे।

कारण अज्ञान और कार्य प्रपञ्च यह जो निखिल जड़वर्ग देखा जाता है इस सबसे स्वयंप्रकाश चिद्रूप आत्मा तिरोहित होता है ॥४९॥

जगदान्ध्यशङ्काका परिहार करते हैं—'तिरोहितेनो०' इत्यादिसे।

शङ्का—अज्ञानसे आत्मप्रकाशका तिरोधान क्या है, प्रकाशका लोप अथवा विद्यमान प्रकाशका विषयसे असम्बन्ध ? अर्थात् प्रकाश रहता है, किन्तु विषयके साथ प्रकाशका सम्बन्ध नहीं होता। जैसे कुड्यसे व्यवहित घटके साथ प्रदीपके प्रकाशका सम्बन्ध नहीं होता। प्रदीपके प्रकाशका कुड्यसे नाश नहीं होता, किन्तु केवल घटादिके साथ सम्बन्धकी व्यावृत्ति होती है। प्रथम पक्षका संभव नहीं है, क्योंकि प्रकाशका स्वरूप नित्य है, इसलिए उसका लोप नहीं हो सकता। द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि ज्ञान विषयसम्बन्धस्वभाव माना जाता है, अर्थात् विषयसम्बन्धके बिना ज्ञान नहीं होता। निर्विषयक ज्ञानमें प्रमाण नहीं है, क्योंकि ज्ञान विषयका प्रकाशक होता है। यदि विषयके साथ संबन्ध नहीं है, तो असंबद्धका वह भासक नहीं है, फिर वह ज्ञान है, इसमें कुछ प्रमाण नहीं है। और आपके मतसे वह प्रकाश ज्ञानस्वरूप है, यह सिद्धान्त असंगत हो जायगा।

समाधान—सत्य कहते हैं, तिरोधान उक्तोभयस्वरूप नहीं है, किन्तु 'नास्ति, न प्रकाशते' इस व्यवहारके अभावकी योग्यता आवरण है। तादृश व्यवहाराभाव उसका कृत्य है। यह सुषुप्तिकालसाधारण अज्ञानसम्बन्धस्वरूप आवरण है। मोक्ष तक यह आवरण रहता है, मोक्ष होनेपर अज्ञानका सर्वात्मना नाश हो जाता है, अतः उक्त सम्बन्धरूप आवरण भी नष्ट हो जाता है।

शङ्का—अज्ञानसम्बन्धस्वरूप आवरण भी तो आरोपित ही है, पारमार्थिक नहीं। आरोपितमात्रमें अज्ञानका सम्बन्ध अपेक्षित है। अज्ञानसंबन्धके बिना किसीका आरोप नहीं होता। अन्यथा अज्ञानकी निवृत्तिसे तन्निवृत्ति नहीं होगी। उसकी अनिवृत्तिसे अद्वैततत्वका व्याघात हो जायगा। यदि अज्ञानका सम्बन्ध ही स्वारोपमें हेतु है, यह कहें, तो आत्माश्रय होगा। अज्ञानके सम्बन्धसे आरोप और उसके आरोपसे अज्ञानका सम्बन्ध। अज्ञानान्तर संबन्धान्तर माननेमें अन्योन्याश्रय, चक्रक, अनवस्था आदि दोष होंगे।

समाधान—अज्ञानसम्बन्धस्वरूप आवरण अनादि है तथा चित्प्रकाश्य है, इसलिए उक्त दोषकी आपत्ति नहीं है। न्यायमतमें भी घटादिकी उत्पत्तिमें प्रागभावको कारण मानते हैं, किन्तु उसके प्रागभावको अनादि मानकर उसकी उत्पत्ति और उसमें प्रागभावको कारण नहीं मानते, पर नाश मानते हैं। उसी तरह अज्ञानका सम्बन्ध भी समझना चाहिए, भाववैलक्षण्य भी उभयमतसाधारण है।

शङ्का—प्रदीपावरक कुड्यादिके सदृश चैतन्यप्रकाशकी आवरक अविद्या अन्यके साथ चैतन्यस्वरूपप्रकाशके संबन्धकी प्रतिबन्धिका हो सकती है। अर्थात् अन्यके प्रति चैतन्यकी आच्छादक हो सकती है, किन्तु चैतन्यके प्रति नहीं। कुड्यावृत प्रदीप स्वयं तो प्रकाशमान ही रहता है, अर्थात् व्यवधायक कुड्यादि घटके प्रति प्रदीपका आवरक है। इसलिए उससे व्यवहित प्रदीप घटका प्रकाशक नहीं होता, किन्तु प्रदीपके प्रति वह व्यवधायक नहीं है। अतः प्रदीप अपने प्रति प्रकाशमान ही रहता है। एवम् अज्ञानसम्बन्ध प्रपञ्चके प्रति व्यवधायक होनेसे प्रपञ्चका प्रकाशक नहीं है, किन्तु चैतन्यके प्रति व्यवधायक तो है नहीं, इसलिए चैतन्यका प्रकाश क्यों नहीं होगा? आवरणके बिना जीवेश्वरादिविभाग चैतन्यमें हो ही नहीं सकता। अतः जीवचैतन्यके प्रति शुद्ध चैतन्यका

राहुग्रस्तत्वमिन्दौ चेदस्मद्दृष्ट्यैव भासते ।
अज्ञातत्वं चितस्तद्वन्मूढदृष्ट्यैव भासताम् ॥ ५१ ॥

आवरण अज्ञान करता है, यह नहीं कह सकते । मोक्षदशामें भावी जो चैतन्यके प्रति चैतन्यका प्रकाश है, उसी प्रकाशका संसारदशामें अभाव विवक्षित है ।

समाधान—कल्पितभेद जीवचैतन्यके प्रति शुद्ध चैतन्य आवृत होता है, यही प्रकृतमें विवक्षित है । इसमें आवरणके बिना उक्त चैतन्यका विभाग नहीं बनता और बिना उक्त विभागके आवरण नहीं बनता, यह दोष जो आपने कहा सो ठीक नहीं है, कारण कि ये दोनों अनादि हैं । इसलिए इन दोनोंमें आनन्तर्य्य नहीं है अर्थात् भेदकल्पनाके बाद आवरण और आवरणके बाद भेदकी कल्पना, ये दो कल्पनाएँ अनादि वस्तुमें नहीं कर सकते, किन्तु सादिमें ही कर सकते हैं, इस प्रकारके प्रश्न हो सकते हैं । अतएव मोक्षदशामें भावी जो चैतन्यका प्रकाश है उसका अभाव ही संसारदशामें अज्ञानसाध्य है, यह भी आक्षेप अयुक्त है, क्योंकि चैतन्यका प्रकाश नित्य है । अतः वह भावी नहीं है । कल्पित भेदकी निवृत्तिके अनन्तर शुद्ध चैतन्यके प्रति जो प्रकाश है वही जीवके प्रति भी प्रकाश है, यह कह सकते हैं; वस्तुतः मोक्षकालमें, तो जीवभाव ही नहीं है । भूतपूर्वगतिन्यायसे कथंचित् जीवके प्रति प्रकाश है, यह कह सकते हैं इत्यादि अन्यत्र विशेष देखिये । 'लोपः प्रकाशनाशो वा' यहांपर वा विकल्पार्थ नहीं है, किन्तु 'निपातानामनेकार्थत्वम्' इस न्यायसे यहां एवकारार्थक है । लोपशब्दके अर्थका निर्देश नाशशब्दसे किया गया है । लोप और नाशका विकल्प नहीं है । प्रकाशका लोप—नाश—नहीं होता, जैसे राहुग्रस्त चन्द्रमाका प्रकाश लुप्त नहीं होता, वैसे ही अज्ञानावृत आत्माके प्रकाशका लोप नहीं होता, क्योंकि प्रकाश नित्य है । निर्मल चन्द्रमाके राहुसे ग्रस्त होनेपर प्रकाशमय स्वरूपका दर्शन नहीं होता '। उपरागनिवृत्तिके बाद फिर पूर्ववत् प्रकाश देखते हैं । इसलिए निश्चय होता है कि चन्द्रप्रकाशका लोप नहीं होता । अपि तु उपरागसे तादृश प्रकाशका आवरणमात्र होता है, अन्यथा प्रकाशान्तरका उत्पादक न देखनेसे चन्द्रमामें प्रकाशाभावकी आपत्ति होगी ॥ ५० ॥

चैतन्यमें अज्ञानके आवरणसे प्रकाशका लोप क्यों नहीं होता, यह शङ्का करते हैं—'राहुग्रस्त०' इत्यादिसे ।

अतोऽनुभव एवैको विषयोऽज्ञातलक्षणः ।
अक्षादीनां स्वतःसिद्धो यत्र तेषां प्रमाणता ॥ ५२ ॥

जैसे हम लोगोंकी दृष्टिसे चन्द्रमामें राहुग्रास—उपराग—प्रतीत होता है, वैसे ही चैतन्यमें आवरणरूप अज्ञान मूढ अनात्मज्ञकी दृष्टिसे जाना जाता है। विशेष यह है कि चन्द्रमामें उपरागका अभाव भी कतिपय क्षणानन्तर हम लोगोंकी दृष्टिसे प्रतीत होता है। चैतन्यमें आवरक अज्ञानका अभाव आत्मज्ञको ही ज्ञात होता है, दूसरेको नहीं। प्रमाण, प्रमेय आदि निखिल जड़ पदार्थ अनुभवस्वरूप आत्मामें अज्ञानसे कल्पित हैं। अनुभवातिरिक्त किसी पदार्थकी सत्ता नहीं है, किन्तु आत्मामें ही उत्पत्ति, स्थिति और लय भी है, इसलिए अनुभवसे अतिरिक्त कुछ नहीं है ॥५१॥

घटादिग्राहक मान वस्तुतः अनुभवविषयक ही है, इसीका उपसंहार करते हैं—'अतोऽनुभवः' इत्यादिसे।

घटादि जड़का अनुभवस्वरूप आत्मासे अतिरिक्त सत्त्वसे, असत्त्वसे, तथा उभयात्मरूपसे निर्वचन नहीं किया जा सकता। अर्थात् घटादि जड़मात्रको सत् कहें, तो वह आत्माकी तरह अविनाशी होगा। खपुष्पादिकी तरह असत् कहें, तो उसका प्रत्यक्षसे भान नहीं होगा। सत्से भिन्न असत् कहालाता है और असत्से भिन्न सत् कहलाता है। अतः सत्त्व और असत्त्व ये दोनों परस्परविरुद्ध धर्म हैं। वे एक समयमें एक धर्मीमें नहीं रह सकते। इसलिए इन्हें उभयात्मक भी नहीं कह सकते। सदसत्से भिन्न कोटि ही अप्रसिद्ध है। इसलिए वे शुक्तिरजतकी तरह अनिर्वचनीय माने जाते हैं। अनिर्वचनीय प्रतीतिमात्रशरीर होते हैं। यावत्प्रतीति उनका भान होता है। अधिष्ठानतत्त्वसाक्षात्कारके बाद प्रतीयमानाधिकरणमें ही 'नासीत्, नास्ति, न भविष्यति' इस प्रकार त्रैकालिक निषेध होता है। इस अभिप्रायसे अनुभव एक है। अनुभव ही परमार्थ सत् है, दूसरा नहीं। वही प्रत्यक्षादि सब प्रमाणोंका विषय—प्रमेय—है। उसके प्रमेयत्वमें युक्ति कहते हैं—'अज्ञातलक्षणः' इत्यादि। अज्ञातके ज्ञापकको प्रमाण माना जाता है। घटादि भी अज्ञान है, इसमें कुछ साधक नहीं है। और वह स्वयंप्रकाश है नहीं, जिससे कि प्रमाणज्ञानके विना भी उनकी सत्ता मानी जाय। शुक्तिरजतज्ञानसे पूर्व शुक्तिरजतकी सत्ता जैसे नहीं मानी जाती वैसे ही घटादिसत्ता भी तत्प्रतीतिसे पूर्व नहीं मानी जा सकती। अतः अज्ञात घटादि नहीं हो सकता।

अज्ञान चेतनका धर्म है, अचेतनका नहीं। आत्मा अज्ञानका आश्रय और विषय दोनों है। अतः अज्ञात आत्माके ज्ञापक प्रत्यक्षादि प्रमाण कहे जाते हैं।

शङ्का—आत्मा यदि प्रमेय है, तो स्वतः प्रकाश नहीं हो सकेगा, क्योंकि पकाशान्तरानधीन प्रकाश ही स्वप्रकाश होता है।

समाधान—स्वतःसिद्ध प्रकाश होनेसे स्वप्रकाश कहा जाता है। जिस अनुभवमें अर्थात् अज्ञातत्वनिवर्तक प्रमाणमें प्रमाणत्व है, वह आत्मा स्वयंप्रकाश है अर्थात् तत्स्फुरण अन्याधीन नहीं है। स्वप्रकाश होनेपर भी आत्मा अपने आवरक अज्ञान-निवर्तक प्रत्यक्षादि प्रमाणोंका विषय भी होता है; स्वयंप्रकाशत्व और प्रमेयत्वका परस्परविरोध नहीं है, आत्मा यद्यपि स्वयं ज्ञानस्वरूप है, तो भी अज्ञानावृत होनेसे स्वगत अज्ञानकी निवृत्तिके लिए प्रमाणोंकी अपेक्षा करता है, अत एव प्रमाणजन्य विषयाकार वृत्तिके बिना विषयका भान नहीं होता। इस अभिप्रायसे कहते हैं—'स्वतःसिद्धः' जिस आत्मामें अक्षादि—इन्द्रियादि—प्रमाण हैं—वह अज्ञातलक्षण अनुभव एक ही है, और सब कल्पित होनेसे मिथ्या हैं।

शङ्का—नेत्रादि घटमें प्रमाण है, इस लौकिक व्यवहारसे घटादिविषय-कत्वेन प्रमाणव्यवहार कैसे होता है? नेत्रादि आत्मामें प्रमाण हैं, ऐसा व्यवहार होना चाहिये।

समाधान—अज्ञातानुभवमें घटादिका अध्यास होनेसे घटादिमें भी अज्ञा-तत्वकी प्रसक्ति होती है। विषयाकारप्रमाणवृत्त्यवच्छेदेन विषयावरक चैतन्य-गत अज्ञानका निवर्तक उक्त प्रमाण विषयमें व्यावहारिक कहलाता है। घटज्ञानसे पूर्व घटेन्द्रियसन्निकर्षके लिए अज्ञात घटकी स्थिति आवश्यक है। अज्ञानका कार्य घट है। इसलिए घटमें अज्ञान नहीं रहता। आत्मगत अज्ञान आत्मामें अध्यस्त घटमें रहता है और तन्निवर्तक अक्षादिमें व्यावहारिक प्रामाण्य माना जाता है, यह निष्कर्ष है। घटादि जड़ है, तद्गत अज्ञानकी निवृत्तिके लिए प्रमाणकी प्रकाशकी अपेक्षा हो सकती है। आत्मा तो स्वयंप्रकाश है, इसलिए तद्गत् अज्ञाननिवृत्तिके लिए प्रमाणकी अपेक्षा क्यों?

समाधान—जैसे घटादि प्रमाणके बिना स्वगत अज्ञानका त्याग नहीं करते, वैसे आत्मा भी स्वगत अज्ञानका त्याग प्रमाणके बिना नहीं करता, यह वस्तुका

अनुभूतिग्रहायैव प्रवृत्तान्यपि दुष्टया ।
सामग्र्याऽखिलमानानि गृह्णते जडसंयुतम् ॥ ५३ ॥
शुक्तिकाग्रहणायैव प्रवृत्तमपि लोचनम् ।
गृह्णाति रजतोपेतं शुक्त्यंशं दोषयोगतः ॥ ५४ ॥
वेदान्तेतरसामग्री दुष्टैषा चक्षुरादिका ।
तज्जधीरत्र गृह्णाति स्फूर्तिं रूपादिसंयुताम् ॥ ५५ ॥

स्वभाव है । स्वभाव प्रश्नयोग्य नहीं होता, अन्यथा अग्नि उष्ण क्यों, जल शीत क्यों ? यह भी प्रश्न हो सकेगा ।

आत्मस्वरूपप्रकाश अज्ञानका साधक है, निवर्तक नहीं है, क्योंकि प्रमाणजन्य वृत्त्यात्मक ही ज्ञान अज्ञानका निवर्तक है, यह कह चुके हैं ॥ ५२ ॥

यदि प्रमाण अनुभवविषयक ही होते हैं, तो सभी प्रमाण चिन्मात्रका ही ग्रहण क्यों नहीं करते, घटादिका ग्रहण क्यों करते हैं ? इस शङ्कापर कहते हैं—'अनुभूति०' इत्यादि ।

अनुभूतिस्वरूप आत्माका ग्रहण करनेके लिए ही सब प्रमाण प्रवृत्त होते हैं, परन्तु दुष्ट सामग्रीके संबन्धसे निखिल प्रमाण जड़संयुक्त अनुभूतिका ग्रहण करते हैं, केवलका नहीं ॥ ५३ ॥

अन्यके ग्रहणके उद्देश्यसे प्रवृत्त प्रमाण दोषवश अन्यका ग्रहण करता है यह कहते हैं—'शुक्तिका०' इत्यादिसे ।

शुक्तिशकलका ग्रहण करनेके लिए प्रवृत्त शुक्तिशकलसंबद्ध लोचन नेत्रदोषके प्रभावसे रजतयुक्त शुक्तिशकलका ग्रहण करता है ॥५४॥

'वेदान्तेतर०' इत्यादि । घटादिग्राहक प्रमाणमें दोषसामग्रीके प्रतिपादनके लिए वेदान्तेतरसामग्रीका निर्देश है । शुक्तिशकलमें रजतग्राहक दोष—चाकचिक्य आदि—जैसे प्रसिद्ध है वैसे घटादिप्रपञ्चग्राहक दोष वेदान्तेतरसामग्री है । 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म', 'नेह नानास्ति किञ्चन' इत्यादि श्रुतियोंसे ब्रह्मसे अतिरिक्त पदार्थका अभाव बोधित होता है । अतः तदतिरिक्तार्थबोध बाधितार्थक होनेसे दुष्ट सामग्रीसे जन्य है, यह निश्चित होता है । क्योंकि दोषके विना बाधित अर्थका प्रमाणसे भान नहीं होता । जैसे शुक्तिशकलमें रजतका बाध है फिर भी चाकचिक्यादि दोषसे युक्त चक्षु आदिसे रजतका शुक्तिशकलमें प्रत्यक्षप्रमाणसे भान

एवं च सति विभ्रान्तः कल्पिते रजते धियम् ।
प्रमाणं मनुते यद्वद्रूपादौ मनुजास्तथा ॥ ५६ ॥
धर्मिण्यभ्रान्तमखिलं ज्ञानमिच्छन्ति वादिनः ।
सर्वधर्मिणि सद्रूपे प्रमा धीवृत्तयोऽखिलाः ॥ ५७ ॥

होता है वैसे ही 'नेह' इत्यादि श्रुतिसे ब्रह्मसे अतिरिक्त घटादिका बाध निश्चित होनेपर भी वेदान्तेतरसामग्री प्रत्यक्ष, अनुमान आदिसे अतिरिक्त घटादि प्रपञ्चका भान होता है। स्वप्नावस्थामें असदर्थका भान अनुभवसिद्ध है। उसमें दोष निद्रादि हैं। निद्रादिसहकृत मन ही स्वाप्निक पदार्थका भासक है, इस कारण दोषमें स्वाभाविकशक्तिनाशकत्व है, अपूर्वशक्त्युत्पादकत्व नहीं है, इस शङ्काका भी समाधान हो जाता है। यदि दोषमें अपूर्व शक्ति न होती तो स्वाप्निक पदार्थोंका तथा एक चन्द्रमामें दो चन्द्रमाओंकी प्रतीति कैसे होती एवं भस्मक दोषसे दुष्ट औदर्याग्निसे प्रचुर अन्नका पाचन कैसे होता? यह चक्षुरादि वेदान्तेतरसामग्री है। अतः दुष्टा—दोषसहित—है तज्जन्वी—तज्जन्यज्ञान—रूपादिसंयुक्त स्फूर्त्तिका—अनुभवका—ग्रहण करती है ॥५५॥

यदि रूपादिज्ञान दुष्टसामग्रीसे जन्य है, तो उसमें प्रमाव्यवहार क्यों होता है? इसपर कहते हैं—'एवं च' इत्यादिसे।

नेत्र आदि दुष्ट सामग्री होनेके कारण तज्जन्य ज्ञान भ्रम है, तो भी भ्रान्त पुरुष शुक्तिरजतज्ञानको प्रमाण ही मानता है जबतक कि उसे 'नेदं रजतं' (यह रजत नहीं है) इत्याकारक बाधज्ञान नहीं होता। एवं रूपादिज्ञान भी उक्त सामग्रीसे जन्य होनेके कारण प्रमाण नहीं है, किन्तु सर्वकल्पनाधिष्ठानभूत आत्माका यथार्थ ज्ञान वेदान्तवाक्य द्वारा जबतक नहीं होता, तबतक ज्ञानको प्रमाण ही मानता है। 'नेह नानास्ति' इत्यादि वाक्यसे बाधज्ञान होनेपर आत्मामें द्वैत कल्पित है, यह तत्त्वज्ञानी मानता है। अतः रूपादिज्ञानमें, व्यवहारदशामें, प्रमाणत्वकी प्रसिद्धि भ्रान्त पुरुषकी अपेक्षासे है ॥५६॥

भ्रान्तिज्ञान बाध्यविषयक होता है, उक्त ज्ञान रूपादिविशिष्ट चिद्-विषयक होनेसे भ्रम है, अतद्विषय रूपादिके समान चितिमें भी बाध्यत्वप्रसक्ति अनिवार्य है। इस शङ्काका परिहार करते हैं—'धर्मिण्य०' इत्यादिसे।

विपर्ययं प्रकारे तु वदन्ति रजतादिके ।
तथा रूपादिके बुद्धिः स्याद्विपर्ययरूपिणी ॥ ५८ ॥
एवं न्यायेन संसिद्धा प्रमाणानां प्रमाणता ।
ब्रह्मण्येव तथाऽप्यज्ञा रूपादावेव तां विदुः ॥ ५९ ॥

नैयायिक आदि सब वादी भ्रमोंको प्रकारांश ही में भ्रम मानते हैं विशेष्यांशमें प्रमा ही मानते हैं । 'इदं रजतम्' इस भ्रममें दो अंश हैं । रजतांश प्रकारांश है और इदमंश विशेष्यांश है। प्रकारांशमें रजतत्वाभाववति रजतत्वप्रकारक होनेसे भ्रम है । 'इदं' यह विशेष्य अंश है । इदंत्ववति इदंत्वत्वप्रकारक होनेसे एत- दंशमें प्रमाण है । प्रमात्व और अप्रमात्व यद्यपि परस्पर विरुद्धधर्म हैं तथापि संयोग और उसके अभावके अवच्छेदकभेदसे एक ही ज्ञानमें रहते हैं । इस रीतिसे 'अयं घटः' इत्यादि ज्ञान घटांशमें मिथ्या है, इदमंशमें नहीं । इदमंश अनुभव- स्वरूप है, इस तात्पर्य्यसे कहते हैं—सब जड़ पदार्थोंका धर्मी आश्रय आत्मानुभवस्वरूपमें संपूर्णप्रमाणजन्य ज्ञान प्रमाण ही है ॥५७॥

जैसे शुक्तिशकलमें 'इदं रजतम्' यह जो ज्ञान होता है वह प्रकारीभूतरज- तांशमें भ्रम है, यह नैयायिक आदि वादी कहते हैं । 'इदं रूपम्' इत्यादि ज्ञान भी प्रकारीभूतरूपांशमें भ्रम है । विपर्य्यय और भ्रम ये दोनों पर्य्यायवाची शब्द हैं ॥ ५८ ॥

'एवं न्यायेन' इत्यादि । उक्त न्यायसे ब्रह्ममें ही प्रमाणोंकी प्रमाणता सिद्ध है, फिर भी अनभिज्ञ जन 'इदं रूपम्' इस ज्ञानको रूपांशमें प्रमाण मानते हैं । यद्यपि प्रमाणरहस्यानभिज्ञ रूपादिको घटादिमें देखकर रूपादिको सत्य मानकर तद्वति तत्प्रकारक कहकर उक्त ज्ञानको प्रमा कहते हैं, प्रमाणज्ञानसे पूर्व रूपादि अज्ञात ही हैं, अतएव अज्ञातज्ञापकत्वरूप प्रामाण्यका उक्त ज्ञानमें समर्थन करते हैं तथापि सूक्ष्मदृष्टिसे विचार करनेपर रूपादि 'नेह नानास्ति किञ्चन' इत्यादि श्रुतिसे बाधित हैं, अतएव बाधितार्थक होनेसे शुक्तिरूप्यज्ञानके सदृश ही हैं । तद्वदेव रजतांशमें उक्त ज्ञानकी तरह रूप्यांशमें 'इदं रूप्यम्' इत्यादि ज्ञान भी विपर्य्ययात्मक है । इदंशमें उक्त ज्ञानके समान रूप्यज्ञान भी प्रमा है ।

शङ्का—यदि उक्त दोनों ज्ञान समान ही हैं, तो शुक्तिरजतज्ञानसे विसंवादिप्रवृत्ति और रूपादिज्ञानसे संवादिप्रवृत्ति क्यों होती है ?

धर्मिण्येव प्रमाणं सदपि ज्ञानविमूढधीः ।
रजतग्राहकं मानमिति विद्याद्यथा तथा ॥ ६० ॥
ब्रह्मण्यक्षादिमानत्वमिति न्यायविदां मतम् ।
रूपादावेव तन्मात्वमिति मूढधियो जगुः ॥ ६१ ॥

समाधान—उक्त दोनों स्थलोंमें बाधज्ञानसे पूर्व भ्रान्तपुरुष भ्रमप्रयुक्तस्वप्रवृत्तिको संवादिप्रवृत्ति ही मानता है, बाधकज्ञानोत्तर उक्त प्रवृत्तिको विसंवादिनी मानता है। विशेष यह है कि शुक्तिमें रजतज्ञान संसारदशामें ही बाधितार्थक कहा जाता है और रूप्यमें रूप्यज्ञान आत्मतत्त्वज्ञानोत्तरकालमें बाधकज्ञान होनेसे बाधितार्थक कहा जाता है। चिर और अचिरकालमें बाधकज्ञानोत्पत्तिनिबन्धन प्रवृत्तिद्वयमें वैलक्षण्य है। जैसे शरीरात्मज्ञान व्यवहारदशामें अबाधित होनेपर भी वस्तुतः शुक्तिरजतज्ञानके समान ही है, विलक्षण नहीं है, वैसे ही रूपादिज्ञानको भी समझना चाहिए ॥५९॥

'धर्मिण्येव' इत्यादि। शुक्तिमें 'इदं रजतम्' इत्याकारक ज्ञान वस्तुतः धर्मी इदमंशमें प्रमाण होनेपर भी रजतांशमें अप्रमाण है, फिर भी विमूढधी पुरुष रजतांशमें भी उसे प्रमाण मानता है ॥ ६० ॥

यद्यपि नेत्रादि इन्द्रियाँ ब्रह्म ही में वस्तुतः प्रमाण हैं, यह प्रमाणतत्त्वविवेकी वेदान्तियोंका मत है। तथापि वेदान्तसिद्धान्तानभिज्ञ लोग रूपादिमें ही नेत्रादिको प्रमाण मानते हैं। यद्यपि नेत्रादि रूपादिविषयमें, व्यवरहादशामें, प्रामाण्य है तथापि वे व्यावहारिकको तात्त्विक मानते हैं इसीसे उनमें विमूढधीत्वका व्यवहार किया जाता है। वेदान्तसिद्धान्तको तत्त्वतः न जानना ही विमूढता है। स्मृतिमें प्रामाण्यकी अप्रसक्तिके लिए अज्ञातज्ञापकत्वलक्षण प्रामाण्यको ही अन्य लोग भी मानते हैं। अज्ञान किसमें रहता है और क्या है? इसका पूर्ण विचार न कर घटादि विषयमें रहता है और ज्ञानाभावस्वरूप है, यह आपाततः मान लिया। यदि इस विषयमें पूर्ण विचार करते, तो यह मालूम हो जाता कि घटादिमें आवरणकार्य नहीं है, इसलिए घटादिमें अज्ञान मानना व्यर्थ है, तथा ज्ञानाभाव नहीं है, किन्तु उससे विलक्षण आत्मगत है। 'अज्ञातो घटः' यह व्यवहार घटादिमें औपाधिक अज्ञानको लेकर ही उपपन्न होता है, अतएव 'ज्ञातो घटः' इस व्यवहारके लिए घटादिको वास्तविक ज्ञानका अधिकरण नहीं मानते। ज्ञानको आत्मधर्म मानकर भी उक्त व्यवहारको आत्मगत ज्ञानोपधिसे ही मानते हैं।

पराञ्चि खानि व्यतृणदिति श्रुत्यैव दर्शितम् ।
रूपादौ मात्वमक्षादेरिति चेत्तदसङ्गतम् ॥ ६२ ॥
बुद्धिवृत्तिं विहायाऽन्यन्न किञ्चिन्मानमिष्यते ।
नेत्रादीनि तु सामग्री दुष्टा तस्य इतीरितम् ॥ ६३ ॥
श्रुतिश्च दुष्टसामग्रीं लोकसिद्धामनूद्य ताम् ।
निषेधति न नेत्रादेर्मानत्वाय प्रवर्तते ॥ ६४ ॥

सृष्टिकर्ता ब्रह्माने चक्षुरादि प्रमाणको पराक्—ब्रह्मातिरिक्त—जड़ पदार्थ विषय देकर उनकी हिंसा की, इसलिए इन्द्रियां बाह्य विषयको देखती हैं, प्रत्यग्विषयक नहीं होती अर्थात् उनकी अन्तर्मुख प्रवृत्ति नहीं होती, किन्तु स्वभावतः विषयग्रहणप्रवण होनेसे बहिर्मुख ही प्रवृत्ति प्रसिद्ध है। यदि इन्द्रियोंका रूपादि प्रमेय नहीं है, किन्तु प्रत्यगात्मा ही उनका विषय है, यह वेदान्तसिद्धान्त कहते हैं, तो इस अर्थमें उक्त श्रुतिका विरोध अवश्य प्रतीत होता है। उदाहृत श्रुतिके अनुसार अक्षादिका प्रमेय रूपादि है, आपके कथनानुसार आत्मा है, अतः श्रुतिविरुद्ध आपका सिद्धान्त वैदिक विद्वानोंको अभिमत नहीं हो सकता, इस आक्षेपका निराकरण करते हैं—'तदसंगतम्' इत्यादिसे अर्थात् आपका यह आक्षेप असंगत है ॥ ६२ ॥

'बुद्धिवृत्तिम्' इत्यादि। उक्त आक्षेपके निरासका सुखसे ज्ञान हो, इसलिए प्रमाणत्वेन आपको क्या अभिमत है अर्थात् प्रमाण किसको कहते हैं, यह विकल्प द्वारा पूछते हैं—अन्तःकरणवृत्तिरूप ज्ञान प्रमाण है अथवा अन्य कोई? अन्त्य पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि बुद्धिवृत्तिको छोड़कर दूसरा कोई प्रमाणरूपसे इष्ट नहीं है। प्रथम पक्षमें दोष यह है कि दोषसहित नेत्रादिसामग्रीसे जन्य उक्त वृत्तिरूप ज्ञान यदि प्रमाण नहीं है, तो रूपादि विषयमें प्रमाण कैसे हो सकता है? क्योंकि दोषासहकृत सामग्रीसे जन्य जो वृत्तिरूप ज्ञान है, वही प्रमाण माना जाता है। प्रकृतमें दुष्ट सामग्रीके सद्भावका स्पष्ट निर्देश करते हैं—'नेत्रादि०' इत्यादिसे ॥ ६३ ॥

शङ्का—अच्छा तो उक्त श्रुतिका क्या अर्थ है?

समाधान—'श्रुतिश्च' इत्यादिसे। 'पराञ्चि खानि' इत्यादि श्रुति लोकसिद्ध वृत्तिज्ञानजनक सामग्रीका अनुवाद कर उसीका निषेध करती है। मानत्व-

मृत्योः स मृत्युमाप्नोति योऽत्र नानेव पश्यति ।
इति नेत्रादिजन्यं यद् दर्शनं तन्निषेधति ॥ ६५ ॥
अतो मूढप्रसिद्धैव नेत्रादीनां प्रमाणता ।
तत्प्रसिद्धैव रूपादेर्ज्ञातताज्ञातते अपि ॥ ६६ ॥
ननु पूर्वं चितोऽप्येतन्मूढदृष्ट्यैव वर्णितम् ।
अज्ञातत्वं सत्यमेवमस्ति भेदोऽत्र मूढयोः ॥ ६७ ॥

बोधनमें उक्त श्रुतिका तात्पर्य नहीं है। नेत्रादिजन्य परागर्थविषयक ज्ञान संसारानर्थका मूल है, यह बोधन करती हुई श्रुति फलतः उसमें यथार्थविषयत्वका निरास करती है ॥ ६४ ॥

कुछ शब्दोंका परिवर्तन कर श्रुतिका अर्थतः निर्देश करते हैं—'मृत्योः' इत्यादिसे ।

जो भेददर्शी है उसको मृत्युरूप फलकी प्राप्ति होती है, इसलिए भेददर्शनका श्रुति निषेध करती है। अन्वय और व्यतिरेकसे अविद्यासे उत्पन्न द्वैतदर्शन ही भयका कारण है। तत्त्वज्ञान होनेपर द्वैतभानहेतु अविद्याकी निवृत्ति होनेपर द्वैतका भान नहीं होता। 'नानेव' इवशब्दके प्रयोगसे पारमार्थिक द्वैत नहीं है, किन्तु एक चन्द्रमें चन्द्रद्वयकी प्रतीतिके समान सद्वस्तुमें कल्पित है। द्वैतभान अज्ञानसे होता है।

नेत्र आदि रूपाद्यंशमें प्रमाण नहीं है, किन्तु आभासमात्र है, तो भी वेदान्तसिद्धान्तानभिज्ञ मूढ पुरुषकी अपेक्षासे लोकमें प्रमाणशब्दसे व्यवहृत होते हैं और उनकी प्रसिद्धिसे ही रूपादि विषय ज्ञात तथा अज्ञात कहे जाते हैं। वस्तुतः उक्त रीतिसे नेत्रादि प्रमाण एवं तद्विषयत्वेन अभिमत रूपादि यथार्थ नहीं हैं। विचारसे दोनों अज्ञानकल्पित ही सिद्ध होते हैं ॥ ६६ ॥

'ननु पूर्वम्' इत्यादि। चैतन्यमें भी अज्ञातत्व मूढदृष्टि पुरुषसे कल्पित है, यह पूर्वमें आप कह चुके हैं और यहांपर कहते हैं कि रूपादिमें मूढ़से कल्पित अज्ञातत्व है, तो दोनोंमें अविशेषकी आपत्ति होगी, इस शङ्काका परिहार करनेके लिए मूढका दो राशिमें विभाग करते हैं—दोनोंमें अज्ञातत्व मूढसे कल्पित है, यह सत्य है, किन्तु दोनों मूढोंमें अवान्तर विशेष है ॥ ६७ ॥

अप्रबुद्धो बुध्यमानः प्रबुद्धश्च त्रयो नराः ।
प्रबुद्धं प्रति मूढौ द्वावाद्यो मूढस्तयोर्मतः ॥ ६८ ॥
अज्ञातत्वं प्रबुद्धस्य न कदाचिच्चिदात्मनि ।
ज्ञातताज्ञातते तस्मिन् ध्यायमानोऽभिमन्यते ॥ ६९ ॥
न्यायेन बुद्धचमानोऽसावप्रबुद्धस्य विभ्रमम् ।
परीक्षमाणो मूढत्वमापादयति तं प्रति ॥ ७० ॥

मूढद्वयमें भेदके प्रदर्शनके लिए पुरुप तीन प्रकारके होते हैं, यह दिखलाते हैं—'अप्रबुद्धो' इत्यादिसे ।

अप्रबुद्ध वे कहलाते हैं जिनको ब्रह्मतत्त्वका ज्ञान नहीं है, केवल ब्रह्मतत्त्वका शाब्दज्ञानमात्र जिनको है, वे पुरुप बुध्यमान कहे जाते हैं और जिन पुरुप-रत्नोंको ब्रह्मतत्त्वका साक्षात्कार है वे प्रबुद्ध कहे जाते हैं। प्रबुद्धके प्रति अप्रबुद्ध और बुद्धयमान ये दोनों मूढ हैं ॥ ६८ ॥

'अज्ञातत्वम्' इत्यादि । जिन पुरुपोंको ब्रह्मतत्त्वका साक्षात्कार है, उन प्रबुद्ध पुरुपोंका चिदात्मामें अज्ञातत्व कभी भी नहीं रहता ।

ध्यायमान—श्रुतब्रह्मतत्त्व अर्थात् तत्त्वबुभुत्सु—पुरुप चिदात्मामें ज्ञातता और अज्ञातताका अभिमान करता है, विपयमें चित्तके अवधान करनेसे अर्थात् विपयमें मनोयोगसे ज्ञातता प्रतीत होती है अन्यत्र अज्ञातता रहती है, परन्तु श्रुतब्रह्मतत्त्व पुरुप—अज्ञान विपयधर्म है अथवा चैतन्यधर्म? इस जिज्ञासाके उदय होनेपर विचार करनेसे—जड़ स्वयं अप्रकाशात्मा है, अतः आवरणका उसमें कुछ प्रयोजन नहीं है अर्थात् आवृतकी पुनः आवरणकल्पना भी निष्प्रयोजन है, इसलिए प्रसक्तप्रकाश अज्ञानरूप आवरण सप्रयोजन है, इत्यादि रीतिसे विचार करनेसे—चिदात्मामें ज्ञातता तथा अज्ञातताकी कल्पना कर पश्चाद् रूपादिमें भी उसकी—कल्पना करता है, इस कल्पनासे प्रयुक्त ही मूढत्वका व्यपदेश है ।

'न्यायेन' इत्यादि । बुद्धयमान—श्रुतब्रह्मतत्व—उक्त रीतिसे अज्ञा-तत्वादिकी पूरी परीक्षा करता हुआ आत्मामें अज्ञान रहता है, विपयमें नहीं, एवं निश्चयशील पुरुपकी अपेक्षा अज्ञातब्रह्मतत्त्व पुरुप मूढ़ कहलाता है, ऐसा निश्चय करता है, क्योंकि अश्रुतब्रह्मतत्त्व विपयमें ही ज्ञातता आदि धर्म मानता है, श्रुतब्रह्मतत्व आत्मगत ज्ञातत्वादिका विपयमें आरोप मानता

अज्ञाते ब्रह्मचैतन्ये रूपमज्ञातमित्ययम् ।
भ्रान्त्या रूपविबोधाय नेत्रं मानमपेक्षते ॥ ७१ ॥
दोषस्थानीयनेत्रेण जन्या धीर्ब्रह्मवस्तुनि ।
आरोप्यरूपं ब्रह्मैव गृह्णात्यर्थात्तु रूपधीः ॥ ७२ ॥
ज्ञाते ब्रह्मणि तद्रूपं ज्ञातमित्यभिमन्यते ।
धिया भाते ब्रह्मतत्त्वे घटः क्लृप्तोऽवतिष्ठते ॥ ७३ ॥

है । इसलिए उसकी अपेक्षासे पहिला मूढ है । ध्यायमान पुरुष भी तत्त्वज्ञ पुरुषकी अपेक्षासे मूढ इसलिए कहलाता है कि वह आत्मामें भी उक्त धर्मोंको वास्तविक नहीं मानता, किन्तु दोनोंमें कल्पित ही मानता है । अतएव तत्त्वज्ञानी होनेसे प्रबुद्ध कहलाता है । प्रबुद्ध पुरुषके निकट अप्रबुद्ध और बुद्धयमान ये दोनों ही मूढ है । अज्ञातत्व आदि विषयमें नहीं है । और विषयमें जानता है । इसलिए उनका तत्त्वज्ञान विभ्रम है ॥ ७० ॥

मूढत्वापादनप्रकारके व्याजसे ब्रह्मविचार सर्वस्वका स्पष्टरूपसे प्रदर्शन करते हैं—'अज्ञाते' इत्यादि ।

रूपादिमें अज्ञातत्वकी कल्पना कर रूपादिज्ञानके लिए प्रमाणव्यापार लोग करते हैं । प्रमाणव्यापारसे वस्तुतः ब्रह्मविषयक ज्ञान होता है । उसी ज्ञानसे दोषवश आरोपित रूपमें भी ज्ञान मानकर रूपादिमें अज्ञातत्वकी कल्पना करते हैं । और भ्रान्तिसे नेत्रादिको रूपादिमें प्रमाण मानते हैं ॥७१॥

'दोषस्थानीयनेत्रेण' इत्यादि । दोषस्थानापन्न नेत्रसे उत्पन्न ब्रह्मवस्तुविषयक बुद्धि आरोप्यरूपसे विशिष्ट ब्रह्मका ही ग्रहण करती है । इससे रूपादि ज्ञानका विषय कहलाता है । जैसे शुक्तिशकलमें 'यह रजत है' ऐसा ज्ञान होता है, रजतके साथ नेत्रसंबन्ध नहीं है, केवल शुक्तिशकलके साथ ही उसका सन्निकर्ष है, दोषसहकृत नेत्रसे आरोपित रजतविशिष्ट शुक्तिशकलका भान होता है, वैसे ही अज्ञानसहकृत नेत्रसे 'यह रूप है' ऐसा ज्ञान होता है । उक्त नेत्रसे उक्त ज्ञान होनेपर रूपके आवरक अज्ञानकी निवृत्ति द्वारा तदवच्छिन्न चैतन्यप्रकाशसे कल्पित रूपादिका भान होता है । अतः उक्त ज्ञान आरोपित रूपादिविशिष्ट ब्रह्मविषयक होता है, भ्रान्त पुरुष उक्त ज्ञानको रूपांशमें प्रमाण मानते हैं ॥७२॥

'ज्ञाते ब्रह्मणि' इत्यादि । ब्रह्मके ज्ञात होनेपर रूपादि भी ज्ञात होता है,

यथा लोके लोचनेन भासिते शुक्तिखण्डकम् ।
दोषेणाऽऽपादितं तत्र रजतं केवलं स्थितम् ॥ ७४ ॥
नाऽज्ञातं रजतं पूर्वं क्लप्तेः प्राक् तदसत्त्वतः ।
ज्ञाताज्ञातत्वचिन्तेयं नह्यस्ति नरशृङ्गके ॥ ७५ ॥
अज्ञातत्वं विना चक्षुर्न तद्बोधं प्रवर्तते ।
किन्त्वज्ञानं शुक्तिखण्डमेव ज्ञापयति स्वतः ॥ ७६ ॥

यह अभिमान प्रायः लौकिक पुरुष करते हैं । ब्रह्मका तत्त्वज्ञान होनेसे ज्ञातता-शून्य केवल घटमात्रका अवस्थान होता है, संस्कारात्मना अविद्याकी अनुवृत्ति होनेसे घटादिका भान होता है, उक्त न्यायसे ज्ञातता आदिका विचार करनेसे घटादिमें ज्ञातता कल्पित होनेसे निवृत्त हो जाती है, अतः कल्पित उक्तधर्मरहित केवल घटमात्रका स्फुरण होता है ॥७३॥

इसी अर्थमें अनुरूप दृष्टान्त देते हैं—'यथा लोके' इत्यादिसे ।

लोकमें जैसे नेत्र द्वारा शुक्तिखण्डका भान होता है । दोष द्वारा उस रजतका आरोप होता है । उक्त रजत केवल ज्ञातताशून्य अव-शिष्ट रहता है ।

'नाऽज्ञातम्' इत्यादिसे । शुक्तिशकलमें रजतकी कल्पनासे पूर्व काल्पनिक रजत नहीं है, इसलिए उसमें ज्ञातत्व या अज्ञातत्वादि कोई धर्म नहीं रहता । धर्मी जब है ही नहीं—नरशृङ्गतुल्य है, अनुपाख्य है, तब उसमें धर्मकी स्थितिकी सम्भावना ही कहां है ? क्योंकि वस्तुतः अत्यन्त असत् निधर्मक और निरूपाख्य है ॥ ७५ ॥

काल्पनिक रजतादिमें अज्ञातत्व नहीं रहता, यह ठीक है, क्योंकि अध्यस्त पदार्थ प्रतिभामात्रशरीर माना जाता है । यदि वह ज्ञानसे पूर्व स्वयं नहीं है, तो उसमें अज्ञातत्व कैसे रहेगा ? परन्तु काल्पनिक धर्म मानजन्य ज्ञानका विषय होता है, इसलिए ज्ञातत्व धर्म रहनेमें कोई अनुपपत्ति नहीं है, इस शङ्काकी निवृत्ति करनेके लिए कहते हैं—'अज्ञातत्वम्' इत्यादि ।

चक्षुरिन्द्रिय अज्ञातत्वके विना रजतका बोध नहीं कर सकती। रजत पूर्वमें है नहीं, अतः अज्ञानविशिष्ट रजतकी सम्भावना ही नहीं है, इसलिए

चक्षुर्दृष्टे शुक्तिखण्डे दोषाद्रूप्येऽवकल्पिते ।
नान्तरीयकभानत्वाद्रूप्यं ज्ञातमिति भ्रमः ॥ ७७ ॥
अश्वारूढे राजपुत्रे तन्मूर्धस्थितमक्षिकाम् ।
दृष्ट्वा मूढो वदत्येषा यात्यारुह्य तुरङ्गमम् ॥ ७८ ॥

चक्षु रजतका अवगाहन नहीं करता, किन्तु अज्ञानविशिष्ट शुक्तिखण्ड—शुक्तिशकल—मात्रका भासक है, अविद्यानिवृत्तिके बिना दोषप्रयुक्त रजताकारपरिणत अविद्या और तद्वृत्तिसहित चक्षुरादिसे 'यह रजत है' इत्यादि भ्रम होता है। केवल चक्षुरादिसे शुक्तिशकलादिमात्रका भान होता है।

उक्त अर्थका आक्षेपपूर्वक स्पष्टीकरण करते हैं—'चक्षुर्दृष्टे' इत्यादिसे।

चक्षुसे शुक्तिशकलके देखनेपर दोषवश रूप्यकी कल्पना हुई अर्थात् दोषसे शुक्तित्वका भान नहीं हुआ, केवल पुरःस्थित श्वेतद्रव्यमात्रका भान हुआ। श्वैत्यके सादृश्यसे रजतविषयक स्मरण हुआ, स्मृत रजतका पुरःस्थित शुक्तिमें आरोप कर 'इदं रजतम्' (यह रजत है) ऐसा भ्रान्त पुरुष जानता है, रूप्य अविद्याका परिणाम है, यह रजताकार अविद्याका परिणाम चाक्षुष नहीं है, क्योंकि चाक्षुष ज्ञानसे पूर्व प्रतिभामात्रशरीर रजतके साथ चक्षुका सम्बन्ध है ही नहीं। अतः चक्षुसे शुक्तिमात्रका ज्ञान होता है और उक्त रजतका अविद्यावृत्तिसे भान होता है। शुक्त्यंशमें चाक्षुषत्व है, और रजतांशमें साक्षिभास्यत्व है। भ्रान्तपुरुष दोनों अंशोंमें चाक्षुषत्व समझता है। इदमाकार अन्तःकरणवृत्ति और रजताकारा अविद्यावृत्ति—ये दोनों वस्तुतः ज्ञान नहीं हैं, किन्तु जड़परिणाम होनेसे जडात्मक हैं। परस्परतादात्म्यापन्न रजताकार अविद्यावृत्ति और इदमाकार अन्तःकरणवृत्ति—एतद्द्वयावच्छिन्न चैतन्य ही ज्ञान है। तदवच्छेदक वृत्तिमें ज्ञानव्यवहार गौण है, यह परमार्थ है। प्रकृतमें यद्यपि रूपभानके नान्तरीयक होनेसे तदंशमें प्रत्यक्षत्वव्यवहार गौण है, तथापि भ्रान्त पुरुष उसमें प्रत्यक्षत्वव्यवहारको मुख्य मानते हैं ॥७७॥

भ्रमसे गौणमें भी मुख्यव्यवहार होता है, इसमें दृष्टान्त देते हैं—'अश्वारूढे' इत्यादिसे।

राजाका पुत्र घोड़ेपर चढ़कर जा रहा है और उसके शिरपर स्थित मक्खीको देखकर मूढ़ पुरुष कहता है कि यह मक्खी घोड़ेपर चढ़कर जा रही है। वस्तुतः मक्खी बैठी है, चलती नहीं है। चलता है घोड़ा, उसके

अतो न रूप्यमज्ञातं नाऽपि ज्ञातं यथा तथा ।
न ज्ञातो नाऽप्यविज्ञातः केवलं कल्पितो घटः ॥ ७९ ॥
ज्ञानाज्ञाने भावरूपे धीमाये ब्रह्म तद्युतम् ।
ज्ञाताज्ञातत्वरूपस्य व्यवहारस्य गोचरः ॥ ८० ॥

चलनेसे पुरुष चलता है, पुरुषके चलनेसे उसके सिरपर स्थित मक्खीमें भी चलनेका व्यवहार होता है। एवं प्रकृतमें अज्ञातत्व आत्मामें है, क्योंकि अज्ञातत्व आत्मामें ही रहता है। अतः उसका निवर्तक ज्ञातत्व भी आत्मधर्म ही है। आत्मामें अध्यस्त शुक्ति है, शुक्तिमें प्रतीयमान रूप्य है, इसलिए शुक्तिरूप्यमें ज्ञातत्वप्रतीति होती है। इसी प्रकार जैसे अश्वारूढ पुरुषके तात्पर्यसे 'घोड़ेपर चढ़कर देवदत्त जाता है' यहांपर देवदत्तमें वस्तुतः चलनक्रिया नहीं है, किन्तु अश्वमें ही है; अश्वगति उक्त पुरुषमें आरोपित होकर 'पुरुष जाता है' इस व्यवहारमें निमित्त होती है, वैसे ही 'घटो ज्ञातः' इस व्यवहारसे आत्मगत ज्ञातत्वका घटमें आरोप कर 'घटो ज्ञातः' यह व्यवहार होता है, ज्ञातत्व और अज्ञातत्व वस्तुतः आत्मधर्म ही हैं ॥ ७८ ॥

प्रदर्शित दृष्टान्तका अनुवाद करते हुए दार्ष्टान्तिकको कहते हैं—'अतो न रूप्य०' इत्यादि।

चूँकि ज्ञातत्व और अज्ञातत्व आत्मधर्म हैं, अतः रूप्यमें न ज्ञातत्व और न अज्ञातत्व ही है; किन्तु उक्त दो धर्मोंसे शून्य जैसे रूप्य है, वैसे ही घट भी न वस्तुतः ज्ञात है और न अज्ञात ही है; किन्तु उसको उक्त दो धर्मोंसे रहित केवल कल्पित ही समझना चाहिए ॥ ७९ ॥

'ज्ञानाज्ञाने' इत्यादि। उक्त रीतिसे अनात्म जड़ पदार्थमें अज्ञातत्वादिका निराकरण होनेपर आत्मगत ही अज्ञातत्वादि है, यह फलित अर्थ हुआ। प्रसङ्गसे माया और अविद्या ये—दोनों पदार्थ भिन्न हैं, इस भ्रमका निराकरण करते हैं। ज्ञान और अज्ञान—ये दोनों भावरूप हैं, वस्तुतः अज्ञानमें विवाद है; अज्ञान ज्ञानाभावस्वरूप है; अतिरिक्त नहीं, यह तार्किकोंका मत है। अतएव 'अहमज्ञः' इत्यादि प्रतीति ज्ञानाभावविषयक है। वेदान्तियोंका कहना है कि अज्ञान भाव और अभावसे विलक्षण, अनादि और अनिर्वचनीय है; उक्त स्वरूप माननेपर प्रतियोगी और अधिकरण ज्ञानके विना अभावज्ञान नहीं होता; इस नियमके अनुसार उक्त दो पदार्थोंका

ब्रह्मैव विषयो मायाधियोरिति सुनिश्चितम् ।
धीवृत्तिरूपमानानां सर्वेषां ब्रह्म गोचरः ॥ ८१ ॥

ज्ञान होनेपर ज्ञानाभाव ही व्याहत होगा; प्रतियोगीके अधिकरणमें उसका अभाव नहीं माना जाता है, अन्यथा भाव और अभावका विरोध ही भग्न हो जायगा। उक्त ज्ञानके न रहनेपर उक्त ज्ञानाभावका प्रत्यक्ष ही नहीं हो सकता। अभावज्ञानमें प्रतियोगीका ज्ञान कारण है, यह सर्वमान्य नियम है; अतः उक्त प्रतीतिके लिए ज्ञानाभावसे अतिरिक्त भावाभावविलक्षण अज्ञान पदार्थ अवश्य मानना चाहिए। अज्ञान पदार्थ भावस्वरूप है; इसमें दृष्टान्त देनेके लिए ज्ञानका ग्रहण है। ज्ञानसे प्रकृतमें अन्तःकरणवृत्ति विवक्षित है, आत्मा नहीं। इसलिए धीपदका उपादान किया गया है; उक्त पदार्थद्वयविशिष्ट ब्रह्म ज्ञाताज्ञातरूप धर्मोंसे विशिष्ट व्यवहारका विषय है। घटादिमें उक्त धर्मका व्यवहार मुख्य नहीं है, किन्तु गौण है, ज्ञान जैसे भाव पदार्थ है; वैसे ही अज्ञान भी भाव पदार्थ है। ज्ञान भाव पदार्थ है, इसमें किसीको विप्रतिपत्ति नहीं है, इसलिए उसका उपादान दृष्टान्तके लिए किया है। वादी और प्रतिवादी दोनोंका अभिमत ही दृष्टान्त होता है। ज्ञानके समान अज्ञान भी भावरूप ही है। नञर्थ यहां विरोध है, अभाव नहीं, जैसे धर्म और अधर्म, यहाँपर धर्माभाव अधर्म नहीं है, किन्तु धर्मविरोधी अधर्म है। विहितानुष्ठानसे धर्म, मतभेदसे, आत्मा या मनमें होता है; एवं निषिद्धानुष्ठानसे अधर्म होता है, दोनों भावस्वरूप ही हैं; विनिगमनाविरहसे परस्पराभावस्वरूप नहीं हैं, इसीप्रकार प्रकृतमें भी समझना चाहिए ॥८०॥

उक्त अर्थका ही विवरण करते हैं—'ब्रह्मैव' इत्यादिसे।

माया और अज्ञान--ये दोनों समानार्थक हैं; धीवृत्तिमें धीशब्दसे अन्तः-करण अभिप्रेत है; तद्वृत्ति--विषयाकार मनःपरिणाम; इन दोनोंका विषय ब्रह्म ही है। यद्यपि पूर्व श्लोकसे भी यह अर्थ कह चुके हैं, तथापि यहां पुनः कहनेका तात्पर्य है—धीविषयत्वयोग्यता ब्रह्ममें ही है, इसलिए पुनरुक्ति दोष नहीं है। यद्यपि अज्ञानदशामें ब्रह्ममें धीविषयत्वका ज्ञान नहीं होता, तथापि उक्त योग्यता ब्रह्ममें अबाधित है। मायाका विषय ब्रह्म है, यह तो पूर्वमें सिद्ध ही कर चुके हैं। इस कारण माया एवं अन्यान्य सब प्रमाणोंका विषय ब्रह्म ही है ॥८१॥

सामग्रीभेदतस्तत्र बन्धमोक्षौ व्यवस्थितौ ।
नेत्राद्युपनिषद्रूपे धीसामग्र्यौ धियो जने ॥ ८२ ॥
स्वत एवाऽज्ञानहान्यै प्रवृत्तामपि तां धियम् ।
नेत्राद्याः प्रतिबन्ध्याशु रूपाद्यारोपयन्ति हि ॥ ८३ ॥
रूपाद्याकुलिता बुद्धिरज्ञानं हन्तुमक्षमा ।
अभिभूयैतदज्ञानं क्षणं पश्चान्निवर्तते ॥ ८४ ॥

'सामग्री' इत्यादि ।

शङ्का—यदि सब प्रमाणोंका विषय ब्रह्म ही है, तो घटादिके चाक्षुप ज्ञानका विषय भी ब्रह्म ही होगा, इस परिस्थितिमें घटादि ज्ञानसे भी मुक्ति होनी चाहिए, अन्यथा वेदान्तज्ञानसे भी मुक्ति न होगी, ब्रह्मज्ञान तो समान ही है ।

समाधान—दोनों ज्ञान समान नहीं हैं, नेत्रादि सामग्रीसे जन्य ब्रह्मज्ञान अविद्याकार्यविषयक होनेसे प्रमात्मक और शुद्ध नहीं है । उपनिषत्सामग्री-जन्य वेदान्तज्ञान तत्त्वावेदक पारमार्थिक प्रमाणसे जन्य होनेसे शुद्ध ब्रह्मज्ञान है । अतएव अविद्यातत्कार्याविषयक होनेसे वास्तविक ब्रह्मज्ञान कहा जाता है, वही अविद्याविरोधी है । नेत्रादिसामग्रीजन्य ज्ञान बन्धहेतु है और उपनिषद्-जन्य ज्ञान मोक्षहेतु है, इस प्रकार वेदान्तशास्त्रमें व्यवस्था है ॥८२॥

नेत्रादिसामग्रीजन्य ज्ञानमें बन्धहेतुत्वका स्पष्टीकरण करते हैं—'स्वत एवा०' इत्यादिसे ।

यद्यपि अज्ञानकी निवृत्तिके लिए बुद्धि प्रवृत्त होती है; तथापि तत्प्रतिकूल नेत्रादि सामग्री उस बुद्धिमें रूपादिविषयका शीघ्र आरोप कर देती है; इसलिए अविद्या स्वयं कार्यविषयक हो जाती है । अतएव उक्त बुद्धि बन्धहेतु हो जाती है । यदि वैराग्याभ्यास आदि साधन द्वारा बुद्धि स्वच्छ हो, तो रूपादिका आरोप न होनेसे अपवर्गके अनुकूल हो सकती है; अन्यथा बन्धको ही दृढ़ करती है ॥८३॥

'रूपाद्या०' इत्यादि । रूपादिविषयविशिष्ट बुद्धि सर्वथा अज्ञानकी निवृत्ति करनेमें असमर्थ होती हुई क्षणभर अज्ञानका अभिभव कर पश्चात् स्वयं निवृत्त हो जाती है । अज्ञानावच्छिन्न चैतन्यमें रूपादिका अध्यास होनेसे रूपादि अज्ञावावस्थामें भी रहते हैं, रूपादिके साथ नेत्रादिका संबन्ध होनेपर रूपाद्याकार मनःपरिणाम होता है, उसीको रूपादि वृत्ति कहते हैं, तादृश वृत्तिमें जो चैतन्यका प्रतिबिम्ब पड़ता है । उसीसे रूपाद्यावरक अज्ञानकी निवृत्ति होती है ।

स्वत एवाऽप्रमाणत्वाद्रूपाद्याकुलनादपि ।
व्यावहारिकमानत्वं भजते बुद्धिरीदृशी ॥ ८५ ॥
अतो मूढा एवमाहुरज्ञातत्वविघाततः ।
मात्वमक्षादयो यान्तीत्येवं तीर्थकरा अपि ॥ ८६ ॥

अज्ञानके निवृत्त होनेपर अनावृत चित्में रूपादिका अध्यास होनेसे रूपादिका प्रकाश होता है। वही वास्तविक ज्ञान है। परन्तु मन चञ्चल है, इसलिए पूर्व विषयका त्याग कर जब विषयान्तरमें प्रवृत्त होता है, तो उक्त वृत्ति भी नष्ट हो जाती है। वृत्तिका नाश होनेपर वृत्तिप्रतिविम्बित चैतन्य भी नहीं रहता। अतः विषयावारक अज्ञानसे पुनः चैतन्य आवृत हो जाता है। इस तात्पर्यसे कहते हैं—वृत्ति अज्ञानको क्षण भरके लिए निवृत्त कर फिर स्वयं नष्ट हो जाती है। वृत्तिके नाशसे वृत्तिविशिष्ट चैतन्यमें नाशका व्यवहार होता है। वस्तुतः चैतन्यरूप ज्ञान नित्य है ॥८४॥

'स्वत एवा०' इत्यादि। नेत्रादिदुष्टसामग्रीजन्य होनेसे तथा कल्पित रूपादि विषयकी भासक होनेसे उक्त बुद्धि अप्रमात्मक ही है, फिर भी व्यवहारदशामें रूपादिबुद्धिमें व्यावहारिक प्रामाण्य है, वास्तविक नहीं है ॥ ८५ ॥

'अतो मूढा' इत्यादि। नेत्रादि द्वारा घटादिका ज्ञान होनेपर घटादिके ज्ञानकी निवृत्ति देखकर मूढ लोग कहते हैं कि घटादिज्ञानमें नेत्रादि प्रमाण हैं। वस्तुतः ऐसी बात है नहीं, उक्त रीतिसे ज्ञातत्व और अज्ञातत्व चैतन्यमें ही माना जाता है; घटादि जड़ पदार्थमें नहीं; अतः जिन पुरुषोंको वेदान्त द्वारा यह ज्ञान है, वे लोग घटादिविषयक ज्ञानमें नेत्रादिको प्रमाण माननेवालोंको मूढ कहते हैं, 'आकृतितः घटो ज्ञातः अज्ञातः' इत्यादि व्यवहारके दर्शनमात्रसे उक्त विषयमें ज्ञातत्वादिको वास्तविक मान लेते हैं, विचार करनेपर यह निश्चित होता है कि ज्ञातत्वादि वस्तुतः घटादिमें आरोपित हैं, तन्निवर्तक ज्ञान भी घटादिमें वास्तविक प्रमाण नहीं है, यह भ्रम केवल लौकिक पुरुषमें ही पाया जाता है, सो नहीं, शास्त्रकार भी इस भ्रमसे मुक्त नहीं हैं, वे भी लोकानुसार ही मानते हैं ॥ ८६ ॥

मानयोगात् पुरा सिद्धिर्लौकिकस्याऽपि वस्तुनः ।
संवित्त्वबलादेव तत्तमोव्यवधानतः ॥ ९० ॥
किमु वक्तव्यमासन्नं तमः सिद्धयति चिद्बलात् ।
तस्मात् प्रमाणमेवाऽस्य तमसो घातकं न चित् ॥ ९१ ॥

'मानयोगा' इत्यादि । संयोगसे पूर्व कालमें अज्ञानव्यवहितघटादिकी सिद्धि अनुभवसे होती है, इसका भी निरूपण कर चुके हैं। यदि अज्ञातत्वविशिष्ट घटादिका साधक अनुभव है, तो अज्ञानका साधक अवश्य ही कहना पड़ेगा। विशेषणकी सिद्धिके विना विशिष्टकी सिद्धि नहीं हो सकती, अतः विशिष्टसाधक कैमुतिकन्यायसे विशेषणका साधक होता है ।

शङ्का—यदि आत्माका प्रकाश प्रमाणसे मानते हो, तो घटादिके समान आत्मा भी स्वयंप्रकाश नहीं हो सकता ।

समाधान—समस्त प्रपञ्चका प्रकाशक आत्मा प्रमाणके बिना ही स्वप्रकाश है। सारांश यह है कि 'अहं ब्रह्मास्मि' इस ज्ञानसे पूर्वकालमें अज्ञानव्यवहित समस्त प्रमाण, प्रमेयादि प्रपञ्चका भासक चैतन्यात्मा स्वयंप्रकाश तथा स्वयं-सिद्ध है; किन्तु व्यवहारदशामें अज्ञानावृत्त होनेसे वस्तुतः स्वस्वरूपसे प्रतीत नहीं होता, वेदान्तवाक्य द्वारा प्रमाणज्ञान होनेसे तद्गत अज्ञानकी निवृत्ति होती है; तदनन्तर मुक्तिफलक आत्मैकत्वविज्ञान होता है; प्रमाणज्ञानके विना ब्रह्मस्वरूपज्ञान अज्ञानका साधक होनेसे बाधक नहीं है, यह पूर्वमें कह चुके हैं ॥ ९० ॥

'किमु वक्तव्य०' इत्यादि। अज्ञानव्यवहित प्रमेयजातका साधक यदि चित् है, तो अज्ञानका भी साधक चित् ही है, इसमें कहना ही क्या ? अज्ञान-साधक अगर चित् न हो, तो अज्ञानव्यवहित घटादिप्रपञ्चका भी साधक उक्त चित् न हो सकेगा। यदि अज्ञात घटकी सिद्धि न मानी जाय, तो घट-ज्ञानसे पूर्वमें घटकी सिद्धि न होनेसे चक्षु और घटका संयोग न होनेसे घटका साक्षात्कार भी न हो सकेगा, अतः चक्षुरादिका अन्वय-व्यतिरेक घट साक्षात्कारमें इष्ट है, इसलिए अज्ञान और तद्व्यवहित घटादिका साधक चित् है, यह अवश्य, स्वीकार करनेके योग्य है, इसलिए प्रमाण ही अज्ञानका घातक (निवर्तक) है, स्वरूपभूत ज्ञान नहीं ॥ ९१ ॥

मानं च नेत्राद्युत्थं चेदभिभावकमीरितम् ।
न दोषदुष्टबुद्धया हि तमस्तत्कार्यनिह्नुतिः ॥ ९२ ॥
कृत्स्नमात्राद्युपादानतमोबाधस्तु बोधतः ।
तत्त्वमस्यादिवाक्योत्थात् पूर्णैकात्म्यस्वलक्षणात् ॥ ९३ ॥
ननु वाक्यजबुद्धयाऽपि युज्यते न तमोह्नुतिः ।
नेत्रादिदोषजातस्य तदवस्थत्वदर्शनात् ॥ ९४ ॥

'मानं च' इत्यादि ।

शङ्का—यदि प्रमाणको ही—ज्ञानको ही—अविद्याका निवर्तक मानते हो, तो नेत्रादिजन्य ज्ञानसे भी अविद्याकी निवृत्ति होनी चाहिए । ऐसा होनेपर घटादिविषयक उक्त ज्ञानसे भी अविद्याकी निवृत्ति द्वारा मोक्षरूप फल हो जायगा, फिर वेदान्तज्ञानकी क्या आवश्यकता है ?

समाधान—नेत्रादिजन्य ज्ञान प्रमात्मक नहीं है, किन्तु 'नेह नानास्ति किञ्चन' इत्यादि श्रुतिसे बाधितघटादिविषयक होनेसे मिथ्या है । मिथ्या ज्ञानसे अज्ञानकी निवृत्ति नहीं हो सकती, किन्तु तत्त्वज्ञानसे ही हो सकती है । तत्त्वज्ञानके साथ अतत्त्वज्ञानका विरोध है तथा उक्त ज्ञान दोषजन्य है; यह पूर्वमें सिद्ध कर चुके हैं, इसलिए कहते हैं—'दोष०' इत्यादि । उक्त दुष्ट ज्ञानसे तम (अज्ञान) और उसके कार्यकी—प्रपञ्चकी—निवृत्ति नहीं हो सकती ॥ ९२ ॥

'कृत्स्नमात्रा०' इत्यादि । सम्पूर्ण प्रमातृ, प्रमाण, प्रमेय आदि प्रपञ्च अर्थात् गगनादिका उपादान (असाधारण कारण) जो तम—अज्ञान—है उसका बाध (निवृत्ति) 'तत्त्वमसि' इत्यादि वेदान्तवाक्यजन्य पूर्णानन्दात्मक आत्मैकत्वलक्षण बोधसे ही होता है; दूसरेसे नहीं ॥ ९३ ॥

'ननु वाक्यज०' इत्यादि ।

शङ्का—'तत्त्वमसि' आदि वेदान्तवाक्यजन्य उक्त बोधसे भी अज्ञान और उसके कार्यकी निवृत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि उक्त ज्ञानके अनन्तर भी द्वैतग्राहक मान—नेत्रादि—पूर्ववत् व्यवस्थित ही देखे जाते हैं । जीवन्मुक्तिदशामें भी ज्ञानीका व्यवहार देखा जाता है, अन्यथा तत्त्वोपदेश आदिमें प्रवृत्ति भी न हो सकेगी, अतः उक्त बोधसे प्रपञ्च और उसके उपादान अज्ञानकी निवृत्ति होती है; यह कथन श्रद्धेय नहीं है ॥ ९४ ॥

नैष दोषो यतो भिन्नां सामग्री वैदिकं वचः ।
नह्यन्धत्वापराधेन शब्दं न श्रृणुयात् पुमान् ॥ ९५ ॥
अथैकविषये भिन्नसामग्र्यप्येकदा कथम् ।
विरुद्धबुद्धिमेकस्य जनयेदिति चेच्छृणु ॥ ९६ ॥
किं भिन्नविषयेऽप्यस्ति त्वेकदा धीद्वयं तव ।
नेति चेदेकशब्देन विशेषयसि किं वृथा ॥ ९७ ॥

समाधान—'नैष दोषो' इत्यादिसे । लौकिक सामग्रीमात्रसे जन्य प्रमाणज्ञान उक्त अज्ञानका निवर्त्तक नहीं है, किन्तु वेदान्तवाक्यसे जन्य ज्ञान, अदुष्ट सामग्रीसे जन्य होनेके कारण, उक्त अज्ञानका निवर्तक है । सामग्रीके भेदसे प्रमाणज्ञान भी भिन्न है, अतः उक्त बोध अज्ञान और उसके कार्यका निवर्तक है; ऐसा कहनेमें कोई आपत्ति नहीं है । दुष्ट सामग्री अपने कार्यकी जनक नहीं होती, किन्तु अदुष्ट सामग्री ही स्वकार्यजनक होती है, इसमें दृष्टान्त कहते हैं—'नह्यन्धत्वा०' इत्यादिसे । अन्धत्व दोषसे दुष्ट नेत्र अपने कार्यका—साक्षात्कारका—जनक नहीं होता, इसलिए क्या उसके अपराधसे श्रोत्र भी शब्दसाक्षात्कारका जनक नहीं होता ? अर्थात् होता ही है । एकके दोषसे दूसरेके कार्यमें बाधा नहीं होती । इसी प्रकार दुष्ट होनेसे लौकिक सामग्री स्वकार्यकी जनक नहीं है, किन्तु तद्भिन्न अदुष्ट वेदान्तवाक्यघटित सामग्री स्वकार्यजनक क्यों न होगी ॥ ९५ ॥

'अथैकविषये' इत्यादि । एक विषयमें एक ही कालमें एक पुरुषको परस्परविरुद्ध सविशेष और निर्विशेष विषयक विरुद्ध दो बुद्धियाँ नहीं हो सकतीं । विरुद्ध दो सामग्रियोंसे उक्त दो बुद्धियाँ तब हो सकती हैं, जब कि दोनों विरुद्ध सामग्रियाँ एक कालमें हों । लेकिन वे एक कालमें हो नहीं सकतीं; अन्यथा सामग्रियोंमें विरोध ही भग्न हो जायगा, इस अभिप्रायसे कहते हैं—विरुद्ध दो सामग्रियाँ एक कालमें एक पुरुषमें सविशेष और निर्विशेष बुद्धिको कैसे उत्पन्न करेंगी ॥ ९६ ॥

उक्त शङ्काका उत्तर देते हैं—'किं भिन्न०' इत्यादिसे ।

एक कालमें एक विषयमें दो बुद्धियाँ नहीं होतीं, ऐसा कहनेवालोंका अभिप्राय क्या है ? क्या वे लोग भिन्न विषयमें युगपत् दो बुद्धियाँ मानते हैं अथवा नहीं ? प्रथम पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि एक कारण एक समयमें एक ही क्रियाका जनक होता है, यह सर्वमान्य न्याय है । द्वितीय पक्षमें विषयमें एकत्वविशेषण व्यर्थ

क्रमेण विषये भिन्न एकस्मिन्नपि धीद्वयम् ।
स्वसामग्र्यनुसारेण भवन्नहि विरुद्ध्यते ॥ ९८ ॥
ततः सत्येव नेत्रादावद्वैतं बोधयेद्वचः ।
अविज्ञातत्वमद्वैते तद्बोधेन निवर्त्यते ॥ ९९ ॥
तदैव ज्ञातमित्येव व्यवहारस्ततो भवेत् ।
अज्ञातत्ववदद्वैते ज्ञातत्वं न विरुद्ध्यते ॥ १०० ॥
अज्ञातत्वं मायिकं चेज्ज्ञातत्वमपि तत्तथा ।
विद्यया को विशेषश्चेज्ज्ञाततैवेति निश्चिनु ॥ १०१ ॥

है, एक समयमें दो बुद्धियां नहीं होतीं, इतना ही कहना उचित है। एक विषय तथा अनेक विषयमें दो बुद्धियाँ एक कालमें इष्ट नहीं हैं ॥९७॥

'क्रमेण विषये' इत्यादि। विभिन्न विषयमें जैसे क्रमशः दो बुद्धियाँ पुरुषमें होती हैं, यह सर्वानुभवसिद्ध है, वैसे ही एक विषयमें भी क्रमशः स्वसामग्री द्वारा दो बुद्धियोंकी उत्पत्तिमें कोई विरोध नहीं है। यद्यपि 'अयौगपद्याज्ज्ञानानाम्' इत्यादि न्यायसे ज्ञानयौगपद्य माननेमें विरोध है, तथापि क्रमशः अनेक बुद्धियोंकी उत्पत्तिमें किसी मतसे कोई विरोध नहीं है ॥९८॥

'ततः सत्येव' इत्यादि। चूँकि एक विषयमें क्रमशः अनेक बुद्धियोंकी उत्पत्ति अविरुद्ध है, अतः द्वैतभासक नेत्रादि सामग्रीके रहते-रहते 'एकमेवाद्वितीयम्' इत्यादि अद्वैतबोधक वाक्यसे समुत्पन्न अद्वैतज्ञानसे अद्वितीय आत्मामें द्वैतकी निवृत्ति होती है ॥९९॥

'तदैव ज्ञातम्' इत्यादि। उक्त वेदान्तवाक्यजन्य ज्ञानसे अज्ञानकी निवृत्ति होनेपर तदनन्तर 'अद्वैतं ज्ञातम्' (अद्वैत जाना) यह व्यवहार होता है ॥१००॥

शङ्का—आत्मा तो अद्वैत है, यदि द्वैतमात्रकी निवृत्ति मानते हो, तो उसमें ज्ञातत्व भी धर्म नहीं है, फिर ज्ञातत्वका व्यवहार कैसे होता है ?

समाधान—जैसे अविद्यासे कल्पित अज्ञातत्व माना जाता है, वैसे ही ज्ञातत्वको भी अविद्यासे कल्पित मान कर उक्त व्यवहार होता है, यही कहते हैं—'अज्ञातत्वम्' इत्यादिसे।

अज्ञातत्व मायिक—मायाकल्पित—है, यदि ऐसा मानते हो, तो ज्ञातत्वको भी वैसा ही मान लो।

पुरुषार्थः क इति चेन्मोक्ष एव न चेतरः ।
श्रुतिं प्रतिश्रुवं विद्धि ज्ञानमात्रेण मुक्तये ॥ १०२ ॥

शङ्का—अज्ञानदशामें कल्पित अज्ञातत्व तो हो सकता है, परन्तु तत्त्वज्ञानसे अज्ञानकी निवृत्ति होनेपर तत्कल्पित ज्ञातत्व नहीं रह सकता; क्योंकि तत्त्वज्ञान सकार्य अज्ञानका निवर्तक माना जाता है, अन्यथा तत्कल्पित द्वैतकी अनुवृत्ति होनेसे अद्वैतात्मसाक्षात्कार ही नहीं हो सकता। साक्षात्कारात्मक तत्त्वज्ञान वस्तु-तन्त्र है, पुरुषतन्त्र नहीं।

समाधान—तत्त्वज्ञान प्रारब्ध कर्मसे प्रतिबद्ध अज्ञानलेशसे अतिरिक्त अज्ञान और उसके कार्यका निवर्तक माना जाता है। अतएव

'नाऽभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि।'

इत्यादि शास्त्र भी संगत होता है।

'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।'
'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन॥'

इत्यादि श्रीभगवद्वाक्य प्रारब्धकर्मेतर कर्म विषयक हैं, इस प्रकार भिन्नविषयक व्यवस्था मानकर पूर्वाचार्योंने उक्त वचनोंके परस्पर विरोधका परिहार किया है।

शङ्का—अच्छा ज्ञातत्वव्यवहारके लिए यदि अद्वैत आत्मामें अज्ञानकल्पित ज्ञातत्व धर्म मानते हैं, तो विद्यासे—तत्त्वज्ञानसे—आत्मामें क्या विशेष हुआ ?

समाधान—ज्ञातत्व ही विशेष हुआ, क्योंकि तत्त्वज्ञानोत्पत्तिसे पूर्व 'आत्मा ज्ञात है' यह व्यवहार नहीं होता। तदनन्तर 'ज्ञात है' यह व्यवहार होता है; यही विशेष समझिये ॥१०१॥

ज्ञातत्वविशेष माननेपर भी वह तो स्वयं पुरुषार्थ नहीं है; इसलिए पुरुषार्थाभावसे विद्या विफल ही रही, इसपर कहते हैं—'पुरुषार्थः क इति चेत्' इत्यादिसे।

शङ्का—पुरुषार्थ वास्तवमें क्या है ?

उत्तर—मोक्ष ही है, दूसरा नहीं। ज्ञानसे मुक्ति होती है, इस अर्थका बोध करानेवाली 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' इत्यादि श्रुतियाँ उक्त अर्थमें प्रमाण हैं अर्थात् साक्षी हैं ॥ १०२ ॥

आगामिजन्माभावेऽपि साम्प्रतं लभ्यतेऽत्र किम् ।
इति चेत्कृतकृत्यत्वधिया विश्रान्तिरुत्तमा ॥ १०३ ॥
आस्तां फलविचारोऽयं रूपशब्दादिकल्पकम् ।
नेत्रादिकं स्याद्विद्यायां लब्धायामिति चेच्छृणु ॥१०४॥
कल्पयत्येव रूपादि यथापूर्वं न संशयः ।
ऋजुत्वं कः श्वपुच्छस्य कामयेतेह बुद्धिमान् ॥१०५॥

'आगामिजन्माभावेऽपि' इत्यादि ।

शङ्का—यदि तत्त्वज्ञानसे प्रारब्धकर्मसे भिन्न कर्मोंका नाश हो जाता है, इस लिए भावीजन्मसे पिण्ड तो छूट जायगा, अतः भावी दुःखोंका भय नहीं है। पर वर्तमान जन्ममें क्या लाभ ?

समाधान—कर्तव्य कर्म कर चुके, अब कोई कर्तव्य शेष है नहीं, इस बुद्धिसे उत्तम विश्रामका—शान्तियुक्त आरामका—लाभ होता है ॥ १०३ ॥

'आस्तां फलविचारोऽयम्' इत्यादि ।

शङ्का—विद्याका जो कुछ फल होता है, सो हो, पर यह कहिए कि तत्त्वज्ञानीको अनात्म पदार्थका नेत्रादि द्वारा आत्मामें आरोप होता है या नहीं ॥१०४॥

समाधान—'कल्पयत्येव' इत्यादि । रूप, शब्द आदि विषयोंकी कल्पना करनेवाली इन्द्रियां विद्याका लाभ होनेपर भी रूपादि विषयोंकी पूर्ववत् कल्पना करती ही हैं।

तत्त्वज्ञानसे पूर्व इन्द्रियां जैसे रूपादि विषयोंकी कल्पनाएँ करती हैं, वैसे ही तत्त्वज्ञानोत्तर भी वे विषयोंकी कल्पनाएँ करती ही हैं। जब तक पदार्थ रहता है तब तक वह अपने स्वभावका परित्याग नहीं करता। जैसे कुत्तेकी पूँछ कभी सीधी नहीं रहती, उसमें टेढ़े रहनेका स्वभाव है। इसलिए बुद्धिमानोंको स्वभावसे विपरीत पदार्थोंकी कामना भी नहीं करनी चाहिए। स्वभाव अमिट होता है, जैसे कुत्तेकी पूँछको सीधी रखनेका यत्न करना निष्फल है ॥ १०५ ॥

शङ्का—यदि तत्त्वज्ञानोत्तर भी इन्द्रिय आदि द्वारा रूप आदिकी कल्पना होती रहेगी, तो मुक्ति कैसे होगी ? द्वैतज्ञानकी निवृत्तिके विना निष्प्रपञ्च आत्माका सुखावस्थान नहीं हो सकता।

रूपाद्यकल्पनान्मोक्षः श्रूयते न क्वचिच्छ्रुतौ ।
कल्प्यतामत्र रूपादि का ते हानिः प्रकल्पने ॥१०६॥
मृत्योः स मृत्युमित्येव द्वैतदृष्टिरपोद्यते ।
यदि तर्हि न पश्यामि द्वैतं तस्य प्रमापणात् ॥१०७॥
निषेधति श्रुतिर्द्वैतदृष्टिमेव न कल्पनम् ।
प्रत्युतैतस्य यत्नेन कल्पितत्वं वदत्यसौ ॥१०८॥
कल्पितत्वावबोधेन कल्पितं न निवर्तते ।
मनुष्यत्वावबोधेन मनुष्यस्याऽनिवर्तनात् ॥१०९॥

समाधान—'रूपाद्य०' इत्यादि। रूप आदिकी कल्पना न करनेसे ही मुक्ति होती है, ऐसा किसी श्रुतिमें श्रुत नहीं है, इसलिए तत्त्वज्ञानी सुखसे रूप आदिकी कल्पना करे, कोई क्षति नहीं है अर्थात् मुक्तिकी प्राप्तिमें तत्प्रयुक्त कोई बाधा नहीं है।

शङ्का—'मृत्योः' इत्यादि श्रुतिसे तत्त्वज्ञानकालमें द्वैतदर्शनका बाध बतलाया गया है, इसलिए द्वैतदर्शनकी अनुमति कैसे देते हैं ?

समाधान—द्वैतका सत्यरूपसे दर्शन निषिद्ध है। संस्कारानुवृत्तिवश जीवन्मुक्तिदशामें कल्पित द्वैतदर्शनके विषयमें अनुमति है, अन्यथा जीवन्मुक्तकी शरीरयात्रा भी नहीं हो सकेगी। इसलिए काल्पनिक द्वैतदर्शन मोक्षमें बाधक नहीं है ॥ १०६,७ ॥

'निषेधति' इत्यादि। द्वैतनिषेधबोधक 'नेह नानास्ति किञ्चन' 'मृत्योः स मृत्युम्' इत्यादि श्रुतियाँ द्वैतके पारमार्थिकत्वरूपसे दर्शनका निषेध करती हैं, कल्पित द्वैतदर्शनका नहीं। मोक्षविरोधी द्वैतदर्शन त्याज्य है, अविरोधी नहीं। अतः अविरोधी कल्पित द्वैतका उक्त श्रुतियाँ समर्थन करती हैं, अन्यथा तत्त्वोपदेश ही नहीं बन सकेगा और सद्यः विदेह—कैवल्य—प्राप्तिका भी प्रसंग हो जायगा। अतएव 'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये अथ संपत्स्ये' इत्यादि श्रुतिके बलसे जीवन्मुक्तिदशामें कल्पित द्वैतका यत्नसे समर्थन होता है ॥ १०८ ॥

कल्पितत्वका बोध होनेसे कल्पित पदार्थकी निवृत्ति नहीं होती, इसमें अनुरूप दृष्टान्त देते हैं—'कल्पितत्वाव०' इत्यादि।

मनुष्यत्वके बोधसे मनुष्यकी निवृत्ति नहीं होती; बल्कि मनुष्यकी अनुवृत्ति ही होती है। विशिष्टज्ञानमें विशेषणज्ञान साधक है; बाधक नहीं ॥ १०९ ॥

कल्पितं न निवृत्तं चेद्वाचैवाऽद्वैतमीर्यते ।
इति चेत्ते किमद्वैतं कर्त्तव्यं पाणिना वद ॥११०॥
न कर्त्तव्यं किन्तु बुद्ध्या बोद्धव्यमिति चेत्प्रभो ! ।
बुध्यस्वाऽखिलवेदान्तैः किमुपालम्भसे वृथा ॥१११॥
परोक्षमेव वेदान्ता बोधयन्तीति चेन्न तत् ।
धोद्‌धुरात्मानमुल्लिख्य त्वं ब्रह्मेत्यवबोधनात् ॥११२॥

'कल्पितं न' इत्यादि ।

शङ्का—यदि तत्त्वज्ञानोत्तर भी द्वैतकी निवृत्ति होती नहीं है; तो केवल शब्दमात्रसे ही आप अद्वैत कहते हैं । इस परिपस्थितिमें वास्तव अद्वैत तो रहा नहीं, किन्तु सदा द्वैत ही रहा । और यही मानना समुचित है तथा आपके शब्दोंसे भी यही सिद्ध होता है ।

समाधान—अद्वैत तो वाणीसे ही कहा जा सकता है; वह हाथसे करनेकी वस्तु नहीं है; क्या आपने उसे हाथसे करनेकी चीज समझ रखा है ? यदि आपका ऐसा ध्यान है, तो अवश्य आप भूल करते हैं ।

'न कर्तव्यम्' इत्यादि ।

शङ्का—कर्तव्य नहीं है, यह तो हम भी मानते हैं, फिर भी वह बुद्धिसे तो बोधव्य होना चाहिए । सो भी तो आप नहीं कह सकते, कारण कि तत्त्वज्ञान होनेपर भी यदि पूर्ववत् द्वैतका भान होता ही रहा; तो वस्तुतः अद्वैतका भान कहां हुआ ? इसलिए यह कहते हैं कि अद्वैतवाद केवल वाचिक ही है, प्रातीतिक नहीं ।

समाधान—अद्वैतकी प्रतीति यदि आप चाहते हैं, तो हे प्रभो ! सम्पूर्ण वेदान्तोंसे अद्वैत जानो अर्थात् श्रवण आदि उपायों द्वारा अद्वैतका साक्षात्कार कर आप स्वयं कह सकते हैं कि अद्वैत वस्तुतः बोधका विषय है, अतएव एतद्विषयमें उपालम्भ (आक्षेपविशेष) वृथा है ॥ १११ ॥

'परोक्षमेव' इत्यादि ।

शङ्का—वेदान्तसे अद्वैतका परोक्षात्मक ही ज्ञान होता है, क्योंकि शब्दका परोक्ष ज्ञान उत्पन्न करना स्वभाव है, अपरोक्षज्ञान तो इन्द्रियोंसे ही होता है ।

समाधान—परोक्षत्व और अपरोक्षत्वका नियामक करण—इन्द्रियादि—नहीं है;

स्वयं स्वस्य परोक्षश्चेत्कोऽपराधोऽन्य ईर्यताम् ।
ब्रह्मत्वं च स्वतो नाऽन्यत्कस्याऽत्र स्यात् परोक्षता ॥११३॥
अद्वैतत्वं परोक्षं चेन्नाऽस्य ब्रह्मत्वमात्रतः ।
नहि ब्रह्मातिरेकेण किञ्चिदद्वैतमिष्यते ॥११४॥
एवमप्यापरोक्ष्यं ते मनो नाऽङ्गीकरोति चेत् ।
तर्हि वैश्यपिशाच्या त्वं गृहीतस्त्वद्बिभेम्यहम् ॥११५॥

किन्तु विषय है। यदि विषय परोक्ष है, तो परोक्षज्ञान होगा और यदि विषय अपरोक्ष है, तो किसी भी करणसे अपरोक्षात्मक ही ज्ञान होता है। बोद्धाके आत्माको उद्देश्य कर ब्रह्मत्वका बोधन आगम करता है, क्योंकि 'तत्त्वमसि' इत्यादि शास्त्र श्रोताके आत्माको ही ब्रह्म कहता है ॥ ११२ ॥

'स्वयं स्वस्य' इत्यादि। अपना ही स्वरूप अपनेको परोक्ष है; यदि ऐसा कहिये, तो यह आपका ही अपराध है; इसमें शब्दका क्या अपराध? शब्द तो अपरोक्षको अपरोक्ष ही बोधन कराता है, किन्तु आप अपरोक्षको परोक्ष समझ कर शब्दजन्य ज्ञानको परोक्ष कह रहे हैं। बोद्धाका आत्मा बोद्धाके प्रति अपरोक्ष है, किन्तु उसमें ब्रह्मत्व तो अपरोक्ष नहीं है, अतः तद्भेदबोधक आगम अपरोक्षज्ञानजनक नहीं हो सकता, यह भी शङ्का समुचित नहीं है, क्योंकि ब्रह्मत्वमात्रप्रयुक्त आत्मगत अद्वैत परोक्ष नहीं है, किन्तु वह अज्ञानप्रयुक्त है। कहीं तो अद्वैत है, तदतिरिक्त वस्त्वन्तर नहीं है। अद्वैतत्व कोई धर्मविशेष नहीं है। वास्तवमें ब्रह्म निधर्मक स्वयंप्रकाश है, किन्तु अविद्यावृत होनेसे तत्कल्पित नाना वस्तुओंका भान होता है। अविद्याके निवृत्त होनेपर वास्तविक अद्वैत अपरोक्षानुभवरूप परिशिष्ट रहता है ॥ ११४ ॥

शङ्का—हां, ऐसा तो अनेक बार आप कह चुके हैं, किन्तु मेरा मन इस बातको मानता नहीं है। मनमें तो आपकी ये बातें ही कल्पित मालूम होती हैं, अद्वैत ही सत्य प्रतीत होता है।

समाधान—तब तो आप वैश्य पिशाचीसे ग्रस्त प्रतीत होते हैं। इसलिए आपसे मैं डरता हूँ। शायद आपके साथ बात करनेसे उक्त पिशाचीका धावा मेरे ऊपर भी हो जाय। बहुधा यह भी बात सुनी गई है कि बड़े पिशाचको छुड़ानेवालोंपर भी धावा हो जाता है ॥११५॥

भूयो भूयो बलिं वैश्याः पिशाच्यै ददतेऽनिशम् ।
अथापि सा पिशाची तान् बाधतेऽनपराधिनः ॥११६॥
एवं बहुश्रुतिन्यायबोधितं सन्मनः पुनः ।
विसंवदत एवेति का तत्र स्यात् प्रतिक्रिया ॥११७॥
कल्पितं चेत् समुच्छिन्द्यास्तुष्याम्येतावतेति चेत् ।
उच्छेत्स्यामि यदा रज्जुसर्पं मारयसे तदा ॥११८॥

'भूयो भूयो' इत्यादि। साधुस्वभाव भीरु वैश्य बार-बार पिशाचीको सन्तुष्ट करनेके लिए बलि देते हैं, तो भी पिशाची निरपराध उन बलि देनेवाले वैश्योंको सतत क्लेश देती ही है। तात्पर्य यह है कि लोकमें यह प्रसिद्ध है कि लातके देवता बातसे नहीं मानते। दुःशील पिशाच बलि देनेसे सन्तुष्ट नहीं होते, किन्तु तन्त्र-मन्त्र या उनसे भी प्रबल ब्रह्मपिशाचोंसे निगृहीत होनेपर ही पिण्ड छोड़ते हैं। उसी प्रकार मनको सन्तुष्ट करनेके लिए कितने ही विषयोंका अर्पण नित्य किया जाता है, फिर भी सन्तोषके बदले असन्तोष बढ़ता ही जाता है। प्राप्त विषयको छोड़कर अप्राप्त विषयकी कामना सदा करता है। अगर अप्राप्त विषयकी प्राप्ति हो भी जाय, तो फिर आगे दूसरे विषयकी कामना करने लगता है, इसीसे महर्षियोंने कहा है कि—

'न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाऽभिवर्द्धते ॥'

कामोंके भोगनेसे कामनाकी शान्ति नहीं होती, प्रत्युत घृतसे अग्निज्वालाके सदृश और भी अधिकाधिक बढ़ती ही है। वैराग्य और अभ्याससे ही मन शान्त होता है, अतः मनःपिशाची बलि देनेसे सन्तुष्ट न होगी; किन्तु बराबर क्लेश देनेके लिए तत्पर ही रहेगी ॥ ११७ ॥

'कल्पितम्' इत्यादि। कर्तृत्व आदिके समुच्छेदमात्रसे ही सन्तुष्ट हो जायँगे, यह कहना तो रज्जुसर्पकी निवृत्तिके अनन्तर 'उसको मारेंगे' इस कथनके समान है। रज्जुसर्पकी निवृत्तिके अनन्तर विषयके अभावसे तद्विषयक कोई क्रिया हो ही नहीं सकती, फिर मारना ही कैसे होगा? जबतक मनकी निवृत्ति न होगी, तबतक कल्पित कर्तृत्वकी निवृत्ति सर्वथा असम्भव है। सकल कल्पनाओंके मूल मनकी निवृत्ति होनेपर कल्पित वस्तुओंकी, कारणकी निवृत्तिसे ही,

मा भूत्तर्हि समुच्छेदः कल्पनं विनिवारय ।
इति चेदिन्द्रियाणि त्वं त्यज यास्यति कल्पनम् ॥११९॥
जीवनायेन्द्रियापेक्षा यदि तर्हि क्षमस्व तत् ।
कल्पनं तावता हानिः का तेऽसङ्गचिदात्मनः ॥१२०॥
जातायां रज्जुविद्यायां सर्पक्लृप्तिर्न दृश्यते ।
इति चेद् दृश्यतेऽस्माभिर्मन्दे तमसि पूर्ववत् ॥१२१॥

निवृत्ति हो जायगी। सन्तोष भी मनोधर्म ही है, इसलिए रज्जुसर्पकी निवृत्तिके अनन्तर उसके मारणके समान सन्तोष भी मनकी निवृत्तिके अन्तर असम्भव ही है ॥ ११८ ॥

'मा भूत्तर्हि' इत्यादि ।

शङ्का—मनके समुच्छेदके विना मनसे कल्पित वस्तुका यदि समुच्छेद नहीं हो सकता, तो उसका समुच्छेद मत हो, किन्तु मन द्वारा कल्पनाकी निवृत्तिसे ही सन्तोष मानेंगे ।

समाधान—यदि कल्पनानिवृत्तिसे ही सन्तोष मानते हो, तो इन्द्रियोंका भी त्याग करो, क्योंकि इन्द्रियोंके रहनेसे बाह्य रूपादि विषयोंकी कल्पना अवश्य होती रहेगी और कल्पनानिवृत्ति ही आपको अभीष्ट है ॥ ११९ ॥

'जीवनाये०' इत्यादि। यदि कहो कि इन्द्रियोंके विना जीवन नहीं हो सकता, अतः उसके लिए इन्द्रियोंका त्याग नहीं कर सकते, तो कल्पनापर भी क्षमा करो, क्योंकि वह भी असङ्ग चिदात्माका क्या अपकार कर सकती है ? कुछ भी नहीं अर्थात् 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः', 'नहि सज्जते' इत्यादि श्रुतियोंसे कल्पना आदि आत्मधर्म नहीं हैं, किन्तु कल्पना वस्तुतः मनोधर्म है, यह दृढ़ निश्चय यदि आपको है, तो वह आत्मामें क्या हानि कर सकेगी ? कुछ भी नहीं। मनोधर्मसे आत्मामें हानि तबतक होगी, जबतक विवेक नहीं होगा। विवेकके अनन्तर मनकी कल्पनासे आत्मामें कुछ हानि नहीं है ।

'जातायाम्' इत्यादि ।

शङ्का—आत्मैकत्वज्ञान होनेपर अविद्याकी निवृत्ति अवश्य होती है, क्योंकि अज्ञान और ज्ञानका तम और प्रकाशके समान विरोध है; अन्यथा ज्ञानसे मुक्ति होती है, यह पक्ष ही असंगत हो जायगा; अतः उक्त ज्ञान होनेके अनन्तर अनात्मपदार्थकी अनुवृत्ति नहीं बनती; अतएव 'यह शुक्ति है' ऐसा यथार्थज्ञान होनेपर भ्रमकालके समान तदनन्तर रजतकी अनुवृत्ति नहीं होती ।

न तत्र मृत्युभीतिश्चेन्नाऽत्र जन्मभयं पुनः ।
यदि तत्र तमोदोषः कर्मदोषोऽत्र तत्समः ॥१२२॥
किञ्चाऽनुसृत्य तत्बुद्धिसाम्यमेवमुदीर्यते ।
सर्वसाम्यं न दृष्टान्ते प्रार्थ्यते केनचित् क्वचित् ॥१२३॥
विवक्षितं तु सादृश्यमधिष्ठानं न कल्पितम् ।
अवस्त्वारोप्यमित्येतत्कण्ठं शोषय मा वृथा ॥१२४॥

समाधान—जैसे मन्द अन्धकारमें बाधज्ञानके बाद भी रज्जुसर्पकी प्रतीति होती है, यह अनुभवसिद्ध है, वैसे ही तत्त्वज्ञानके बाद भी प्रारब्धकर्मवश संस्काररूपसे शरीर आदि अनात्म पदार्थोंकी अनुवृत्ति मानी जाती है ॥ १२१ ॥

'न तत्र' इत्यादि । उक्त स्थलमें रज्जुसर्पकी प्रतीति तो होती है; किन्तु उससे मृत्युका भय नहीं होता, तो यहां भी तादृश कल्पनासे पुनर्जन्मका भय नहीं है । किसी वस्तुमें मिथ्यात्वका भान होनेपर उसपर आसक्ति नहीं होती और अनासक्त कर्मादि द्वारा जन्मादिका सम्भव नहीं है । यदि उक्त स्थलमें तमोदोषसे उक्त प्रतीति होती है, तो प्रलयमें भी उसके समान कर्मदोष विद्यमान है अर्थात् प्रारब्धकर्मका शेष रहनेसे बाधित अनात्म पदार्थोंकी भी अनुवृत्ति जीवन्मुक्ति-दशामें होती है, किन्तु मिथ्या प्रतीयमान होनेसे रज्जुसर्प जैसे भयङ्कर नहीं होते, वैसे ही कल्पितकी अनुवृत्ति जन्मान्तरारम्भक नहीं है, अतः ऐसा भान उपेक्ष्य है ॥ १२२ ॥

'किञ्चाऽनुसृत्य' इत्यादि । बाधज्ञानके बाद भी अध्यस्तकी बुद्धि मानकर मन्द अन्धकारमें रज्जुसर्पका दृष्टान्त दिया गया है; वस्तुतः बुद्धियोंमें साम्य विवक्षित नहीं है । तात्पर्य यह है कि भ्रमाधिष्ठान सत्य होता है, कल्पित नहीं । जैसे रज्जुसर्प कल्पित है, किन्तु रज्जुरूप अधिष्ठानमें लौकिक सत्यत्व है, वैसे ही कल्पित अनात्म पदार्थमें कल्पित सत्यत्व है, आत्मामें परमार्थ सत्यत्व है ।

'विवक्षितम्' इत्यादि । दोनों स्थलोंमें अधिष्ठान अकल्पित है और आरोप्य अवस्तु—मिथ्या—है, यह असकृत् कह चुके हैं । इस विषयमें प्रश्नोत्तर द्वारा कण्ठशोषण करना व्यर्थ है, अतः इस विषयमें अधिक पूछना व कहना निष्फल है ॥ १२४ ॥

कल्पितस्याऽनुवृत्त्यर्थं दृष्टान्ताश्चेदपेक्षिताः ।
प्रतिबिम्बादिदृष्टान्ताः शतशोऽथ सहस्रशः ॥१२५॥
स्वानुभूत्यैकसंवेद्या विद्या सर्वेषु वस्तुषु ।
यदि तेऽनुभवो नास्ति तर्हि जन्मास्ति ते ध्रुवम् ॥१२६॥

'कल्पितस्याऽ०' इत्यादि। बाधज्ञानोत्तर कल्पित पदार्थकी अनुवृत्ति होती है, इसमें दृष्टान्त यदि चाहते हैं, तो इसमें सैकड़ों तथा हजारों प्रतिबिम्ब आदि दृष्टान्त हैं। पूर्वाभिमुख पुरुष जब दर्पणमें मुख देखता है, तब उसे अपने मुखका प्रतिबिम्ब पश्चिमाभिमुख तथा ग्रीवास्थ प्रतीत होता है। वहाँ वस्तुतः मुख नहीं हैं, किन्तु दर्पणतलमें ज्ञात होता है। उसमें उत्पादकसामग्रीके न होनेसे प्रतिबिम्ब वास्तविक नहीं है, किन्तु मिथ्या है, ऐसा ज्ञान होनेपर भी सम्मुख दर्पण रहनेपर पूर्ववत् वह प्रतीत होता ही रहता है। असलमें दर्पणोपाधिनिबन्धन प्रतिबिम्ब है, अतः उपाधिकी निवृत्ति होनेसे ही उसकी निवृत्ति होती है, बाधसे नहीं। एवं 'पीतः शङ्खः' यह भ्रम पित्तपीतिमद्रव्यनिमित्तक होनेसे 'शङ्ख श्वेत होता है, पीत नहीं' इस ज्ञानसे निवृत्त नहीं होता, किन्तु निमित्तभूत उक्त द्रव्यके अभावसे होता है। एवं मण्डूकवसाञ्जन आदिके द्वारा ज्ञायमान वंशोरगभ्रम भी वंशज्ञानसे निवृत्त नहीं होता, किन्तु उक्त अञ्जनके अभावसे ही निवृत्त होता है; एवं अलातचक्रादि, चन्द्रादिप्रादेशिकत्वज्ञानादि, शकटस्थ पुरुषको वृक्षादिमें गतिकी प्रतीति तथा शरीराद्यात्म प्रतीति आदि सैकड़ों हजारों भ्रम ऐसे हैं, जिनकी अनुवृत्ति बाधनिश्चयोत्तर भी होती है। वस्तुतः औपाधिक भ्रमकी निवृत्ति उपाधिकी निवृत्तिसे ही होती है, तदन्य अपरोक्ष भ्रमकी निवृत्ति अपरोक्ष तत्त्वसाक्षात्कारसे ही होती है, परोक्षभ्रम परोक्ष यथार्थज्ञानसे निवृत्त होता है, इत्यादि माना जाता है ॥ १२५ ॥

'स्वानुभूत्येक०' इत्यादि। सर्ववस्तुविषयक विद्या स्वानुभूत्यैकसंवेद्य है अर्थात् सम्पूर्ण वस्तु अपरोक्षात्मक स्वानुभवात्मामें ही अध्यस्त है। अतः यथार्थापरोक्षानुभवरूप स्वात्मा ही उनका अधिष्ठान है, उनकी अधिष्ठानतत्त्वसाक्षात्कार ही विद्या है; इसीसे उनकी निवृत्ति होती है, अन्यथा नहीं। यदि आपमें उक्त अनुभव नहीं है, तो आपका भावी जन्म अवश्य होगा। उक्त अनुभवके बिना संसारचक्रसे छुटकारा नहीं हो सकता। संसारकी आत्यन्तिक निवृत्ति उक्त अनुभवात्मक विद्यासे मानी जाती है, उपायान्तरसे नहीं, यह अद्वैतसिद्धान्त है ॥ १२६ ॥

किं बहूक्त्या प्रमेयः स्यादज्ञातत्वेन चेतनः ।
सर्वेषामपि मानानामज्ञातत्वाभिभाविनाम् ॥१२७॥
वेदान्तानां विशेषेण निःशेषाज्ञानघातिनाम् ।
अज्ञातश्चेतनो मेयो नाऽज्ञातोऽन्योऽस्ति कश्चन ॥१२८॥
किञ्चाऽऽनन्दाप्तिरूपस्य पुरुषार्थस्य हेतवः ।
वेदान्तास्तेन तन्मेय आनन्दात्मा परः पुमान् ॥१२९॥

'किं बहूक्त्या' इत्यादि । अज्ञानके निवर्तक संपूर्ण प्रमाणोंका प्रमेय अज्ञातत्व-रूपसे चेतन ही है, दूसरा नहीं है, यही संक्षेपसे कहना प्रमेयके निर्णयके लिए पर्य्याप्त है; अधिक कहना व्यर्थ है । अज्ञान आत्मगत है, अज्ञातज्ञापक प्रमाण कहलाता है । जिसका अज्ञान प्रमाणोंसे निवृत्त होता है, वही वस्तुतः प्रमेय है । विषय स्वयं अप्रकाशात्मक है, अतः उसमें प्रकाशतिरोधान व्यर्थ है, इसलिए प्रमाणोंका विषय साक्षात् प्रमेय नहीं है ॥ १२७ ॥

'वेदान्तानाम्' इत्यादि । घटादि तत्-तत् विषयावच्छिन्न चैतन्यगत अज्ञानकी निवृत्ति चक्षुरादि तत्-तत् प्रमाणों द्वारा होती है, इसलिए व्यवहारदशामें चक्षुरादि प्रमाणोंके प्रमेय घटादि विषय भी कहे जाते हैं, वेदान्त तो निःशेष अज्ञानका—अनवच्छिन्न अज्ञानका—निवर्तक है। वेदान्त द्वारा आत्मज्ञान होनेपर मूल अज्ञानकी निवृत्ति होती है । चेतन अज्ञानावृत होनेसे प्रमाणान्तरसे ज्ञात नहीं होता, किन्तु वेदान्तसे ही ज्ञात होता है, अतः अज्ञात चेतन ही वेदान्त प्रमाणका प्रमेय है, दूसरा नहीं । यद्यपि आत्मा स्वयंप्रकाश है, तथापि स्वगत अज्ञानकी निवृत्तिके लिए वेदान्तप्रमाणकी अपेक्षा करता है । स्वरूपभूत ज्ञान अज्ञानका साधक होनेसे बाधक नहीं हो सकता, इसका निर्णय पूर्वमें हो चुका है ॥१२८॥

ब्रह्मात्मा ही वेदान्तका प्रमेय है, इसमें हेत्वन्तर भी कहते हैं—'किञ्चाऽऽनन्दा०' इत्यादिसे ।

आनन्दप्राप्तिरूप परम पुरुषार्थ जो मोक्ष है, उसका हेतु वेदान्त ही है, इस कारण वेन्दान्तका प्रमेय आनन्दात्मस्वरूप पर ब्रह्म ही है, अन्य नहीं । जिस प्रमाणका जो असाधारण विषय है, उसी प्रमाणसे उस प्रमेयके वास्तविक स्वरूपका निर्णय करना चाहिए है, अतएव गीतामें भगवान्ने स्वयं कहा है—'वेदैरशेषैरहमेव वेद्यः' अर्थात् सब वेदान्तोंसे वेद्य हम ही हैं,

नतु दुर्वारसंसारदुःखसन्दर्भहानतः ।
किमन्यत्सुखमिष्टं स्याद्यस्याऽऽप्तेः पुरुषार्थता ॥१३०॥
नहि भावः सुखं किन्तु स्याद् दुःखाभाव एव तत् ।
लोके हि व्याधिसन्तापविच्छित्तौ सुखतेष्यते ॥१३१॥

दूसरा नहीं । यहाँपर एवकारसे अपनेको ही स्पष्टरूपसे वेदान्तप्रमाणका असाधारण प्रमेय बतलाते हैं, इसलिए प्रमाणान्तर द्वारा भगवत्स्वरूपका निर्णय नहीं हो सकता, 'तन्त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' इस श्रुति द्वारा 'औपनिषद' इस विशेषणसे उपनिषदैकगम्यत्वका आत्मामें स्पष्ट बोधन किया गया है, इसलिए भी वेदका प्रमेय आत्मा ही है, यह अनायास सिद्ध होता है ॥ १२९ ॥

'नतु दुर्वार०' इत्यादि । ब्रह्मात्मसुखस्वरूप मोक्ष पुरुषार्थ है, यह आपने जो कहा, सो ठीक नहीं है, कारण कि दुःखकी निवृत्तिसे अतिरिक्त भावस्वरूप सुख नहीं है। परस्परविरोधिस्वभाव भाव और अभावका ऐक्य हो भी नहीं सकता, इस मतसे शङ्का है । यदि दुर्वार—अवश्य भोक्तव्य—सांसारिक दुःख-समुदायकी हानिसे अतिरिक्त कोई भावात्मक स्वतन्त्र सुखपदार्थ ही नहीं है, तो पुरुषार्थ कैसे हो सकता है ? अतः उसके लिए पुरुषकी प्रवृत्ति भी असम्भव है ॥ १३० ॥

'नहि भावः' इत्यादि । लोकमें भावस्वरूप सुख प्रसिद्ध नहीं है, किन्तु दुःखाभावस्वरूप दृष्ट है । लोकमें व्याधिजन्य सन्तापको देखकर लोग कहते हैं कि अमुक पुरुष बहुत दुःखी हैं, व्याधिकी निवृत्तिके अनन्तर लोग कहते हैं—बड़ी खुशी है कि ईश्वरकी कृपासे अब वह पूर्ण सुखी है, इत्यादि । संसारसे विरक्त पुरुषोंकी प्रवृत्ति भी देखते हैं। वह उनकी प्रवृत्ति सांसारिक दुःखकी निवृत्तिसे अतिरिक्त दुःखनिवृत्तिरूप सुखकी प्राप्तिके उद्देश्यसे ही होती है। सांसारिक दुःखोंका तो वे परिहार करते ही नहीं, किन्तु सहिष्णुतापूर्वक उन्हें सहते हैं । संसारसे विमुख होनेके कारण बहुत सांसारिक दुःख उनको हैं भी नहीं, जिससे कि उनकी निवृत्तिकी इच्छा करें । मुमुक्षुओंकी प्रवृत्ति तो मोक्षके लिए ही होती है, मोक्ष बन्धनिवृत्तिस्वरूप ही है । बन्ध अनर्थकारी होनेसे अनर्थ ही है अर्थात् दुःख ही है, इससे यह सिद्ध हुआ कि दुःखकी निवृत्तिके लिए ही उनकी भी प्रवृत्ति है, अतिरिक्त सुखके लिए नहीं ॥ १३१ ॥

यदि भावः सुखं तर्हि न प्रवृत्तिर्विरागिणाम् ।
तदासक्त्या प्रवृत्तिश्चेद्भवेत्संसार एव सः ॥१३२॥
स्वरूपं चेत्सुखं तच्च नाऽवेद्यं पुम्भिरर्थ्यते ।
वेद्यत्वे कर्मकर्तृत्वमेकस्यैव प्रसज्यते ॥१३३॥
तस्मान्न भाव आनन्दो मोक्षे यः प्राप्यते नृभिः ।
अतो वेदान्तमेयत्वे आनन्दत्वमसाधकम् ॥१३४॥

विरक्तोंकी भावात्मक सुखविशेषके लिए यदि प्रवृत्ति हो, तो उसमें दोष भी होगा, उसे कहते हैं—'यदि भावः' इत्यादिसे ।

यदि सुख भावस्वरूप है, तो मोक्षसुखके उद्देश्यसे विरक्तोंकी प्रवृत्ति न होगी, क्योंकि भावस्वरूप सुखसे वे पूर्ण विरक्त हैं । यदि मोक्षके लिए प्रवृत्ति न होगी, तो संसार होगा ही ॥ १३२ ॥

'स्वरूपं चेत्सुखम्' इत्यादि । भावस्वरूप सुखमें और भी शङ्का है—उक्त सुख असंवेद्यस्वरूपसे वर्तमान होकर पुरुषार्थ होता है अथवा ज्ञातत्व-रूपसे ? प्रथम पक्षमें अविज्ञात सुवर्णादिनिधिके समान वह पुरुषार्थ हो ही नहीं सकता । द्वितीय पक्षमें अद्वितीय ब्रह्मस्वरूप होनेसे पुरुष द्वारा अर्थ्यमान न होनेके कारण वह पुरुषार्थ नहीं हो सकता । एक ही में एक क्रियानिरूपित कर्तृत्व और कर्मत्व परस्पर विरुद्ध होनेके कारण वे एकत्र समाविष्ट नहीं हो सकते । परसमवेतक्रियाजन्य फलवान् ही कर्म माना जाता है, अतएव स्वग्रामसंयोग यद्यपि स्व और ग्राम दोनोंमें है, तथापि ग्राम ही कर्म कहलाता है, स्व नहीं । ग्राम-संयोगके आश्रयमें ही तज्जनक क्रिया समवायसे रहती है, दूसरेमें नहीं । इसीसे कितना भी निपुण कारीगर क्यों न हो, लेकिन स्वयं वह स्वस्कन्धारोहण नहीं कर सकता । इस प्रकार ब्रह्मात्मस्वरूप मोक्षको आत्मा कैसे प्राप्त कर सकेगा ? क्योंकि एक तो वह आत्मस्वरूप होनेसे नित्य प्राप्त है । दूसरा बाधक यह है कि प्राप्तिक्रियाका कर्म और कर्ता एक ही आत्मा कैसे होगा ? तथा मोक्ष-सुखवेद्य ही पुरुषार्थ होता है, अवेद्य नहीं । मोक्षके आत्म-स्वरूप होनेसे वेदन-क्रियाका कर्तृत्व-कर्मत्व एक ही में प्रसक्त होता है, जो सर्वथा असम्भव है, इसलिए आत्मस्वरूप मोक्षको पुरुषार्थ मानना युक्तियुक्त नहीं है ॥ १३३ ॥

'तस्मान्न' इत्यादि । मोक्षदशामें उक्त युक्तिसे भावरूप आनन्द पुरुषार्थ नहीं है, जो मनुष्योंको प्राप्त हो, इस कारण वेदान्तमेयत्वमें आनन्दत्व साधक

उच्यते सुखदुःखे द्वे भावरूपे गवाश्ववत् ।
स्पष्टमेवाऽनुभूयेते सुखस्याऽभावता कुतः ॥१३५॥
नदीमग्नार्द्धकायस्य युगपत्सुखदुःखयोः ।
शैत्यौष्ण्यजन्ययोर्ग्रीष्मेऽनुभूतिः केन वार्यते ॥१३६॥

नहीं है, अद्वितीयात्मामें वेदान्त प्रमाण है, यह आप मानते हैं, पर विचार करनेपर यह सिद्ध नहीं होता, कारण कि प्रमाण वह कहलाता है जो सप्रयोजन अनधिगत अर्थका ज्ञापक हो। आत्माको आनन्दस्वरूप माननेसे प्रयोजन तो कह सकते हैं, किन्तु नित्य प्राप्त तथा स्वस्वरूप होनेसे उसे प्राप्तियोग्य नहीं कह सकते, इसलिए अपुरुषार्थ उक्त आनन्द सप्रयोजन नहीं है, अतः उसका ज्ञापक वेदान्त प्रमाण नहीं है और उक्त स्वरूप आत्मा उसका प्रमेय नहीं है, इस अभिप्रायसे कहते हैं—प्रमेयत्वमें आनन्दत्व साधक नहीं है ॥ १३४ ॥

दुःखका ध्वंस ही सुख है, तदतिरिक्त भावस्वरूप नहीं, इस मतका खण्डन करते हैं—'उच्यते सुखदुःखे' इत्यादिसे ।

जैसे गाय और अश्व—ये दोनों परस्पर अभावात्मक नहीं हैं, किन्तु स्वतन्त्र दोनों भाव पदार्थ हैं, वैसे ही सुख और दुःख—ये भी दोनों परस्पर अभावात्मक नहीं हैं, किन्तु स्वतन्त्र दोनों भावात्मक अनुभूत हैं । अतः सुख और दुःख अभावस्वरूप नहीं हैं, किन्तु स्वतन्त्र भाव पदार्थ हैं, यह व्यवस्था सर्वानुभवसिद्ध है । अनुभवसिद्ध पदार्थोंकी अननुभूतरूपसे व्यवस्था करनेपर शिष्योंको अविश्वास होनेसे उपायमें श्रद्धापूर्वक किसीकी प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती, ऐसी अवस्थामें उपायका उपदेश ही व्यर्थ हो जायगा ।

'नदीमग्नार्द्ध०' इत्यादि । यदि दुःखाभावस्वरूप सुख होता, तो एक पुरुषमें युगपत् सुख और दुःखका अनुभव न होता, क्योंकि भाव और अभावका युगपत् एकत्र सहावस्थान कहीं नहीं देखा गया है । आधे डूबे हुए पुरुषको ग्रीष्म-कालमें जलमग्नार्द्धकायावच्छेदेन शैत्यजन्य सुखोपलब्धि और ग्रीष्मातपसंयुक्त कायावच्छेदेन आतपजन्य दुःखोपलब्धि युगपत् होती है, इसलिए ये दोनों स्वतन्त्र भावस्वरूप हैं ।

शङ्का—यद्यपि दुःखाभावस्वरूप ही सुख है, तथापि एक पुरुषमें युगपत् दोनोंकी प्रतीति अवच्छेदकभेदसे मानी जाती है । जैसे संयोग और उसके अभावकी

मनसः क्रमबोधित्वाद् यौगपद्यं न यद्यपि ।
न तावताऽपराधेन दुःखभावत्वमापतेत् ॥१३७॥

एक ही समयमें एक ही अधिकरणमें मूल, शाखा आदि अवच्छेदकके भेदसे प्रतीति होती है, वैसे ही प्रकृतमें भी माननेसे कोई आपत्ति नहीं है ।

समाधान—वृक्षमें आरम्भक अवयवरूप प्रदेश हैं, इसलिए प्रदेशके भेदसे संयोगादिमें उक्त व्यवस्था बन सकती है । आत्मा तो निष्प्रदेश है, अतः प्रकृतमें प्रदेशके भेदसे उक्त व्यवस्था नहीं हो सकती । यद्यपि देहमें प्रदेश हैं, तथापि वह अचेतन है, इस कारण उसमें सुख और दुःख नहीं माने जा सकते । देहावयवावच्छिन्न आत्मामें दोनोंकी स्थिति माननेमें अवच्छेदक देहावयव ही भिन्न है, तदवच्छिन्न आत्मा नहीं, अतः एक ही जगह एक समयमें प्रतीयमान सुख और दुःख स्वतन्त्ररूपसे भावस्वरूप ही हैं । इसलिए सुख अभावस्वरूप और दुःख भावस्वरूप है, यह व्यवस्था ठीक नहीं है । एवं यह भी तर्क हो सकता है कि सुख ही भावस्वरूप है और दुःख सुखाभावस्वरूप है । इसमें क्या विनिगमक है कि आपकी ही व्यवस्था ठीक है, दूसरेकी नहीं ॥ १३६ ॥

'मनसः क्रम०' इत्यादि । यदि एक कालमें एक आत्मामें सुख और दुःखकी प्रतीति वस्तुतः भ्रमात्मक होती, तो दुःखाभावात्मक सुख है, यह कथन युक्त होता, किन्तु ऐसा है नहीं ।

शङ्का—युगपत् दो ज्ञानोंकी उत्पत्तिके वारणके लिए मनको अणु मानते हैं । तथापि अनेक इन्द्रियजन्य अनेक ज्ञानोंकी उत्पत्तिका वारण नहीं होता है । यदि कहो कि मनका संयोग एक कालमें एक ही इन्द्रियके साथ होता है । मनःसंयुक्त इन्द्रिय ही ज्ञानजनक है, तदसंयुक्त नहीं । अतः जहाँ कहीं दीर्घशष्कुलीके भक्षण आदिमें अनेक ज्ञानकी उपलब्धि होती है, वहां यौगपद्यांशमें भ्रम माना जाता है । क्षण अतिसूक्ष्म है, इसलिए अतिसूक्ष्म क्षणोंका अवधारण नहीं होता, किन्तु स्थूल क्षणोंका ही अवधारण होता है । उत्पलशतपत्रव्यतिभेद अयुगपत् क्षणोंमें होता है, फिर भी उसमें यौगपद्यकी प्रतीति भ्रमात्मक है, तो भी प्रकृतमें सुख और दुःखका संवेदन मनसे होता है, इन्द्रियान्तरसे नहीं, इसलिए मनके अणु होनेपर भी मनःसंयुक्त आत्मामें दोनोंकी युगपत् उपलब्धिमें कोई बाधक नहीं है ।

समाधान—आत्मामें सुख और दुःखकी उत्पत्ति होनेपर ही उनका अनुभव

कालभेदेन शङ्का चेद्वैपरीत्यं कुतो न ते ।
आनन्दाभाव एवेदं दुःखमित्यपि शङ्क्यताम् ॥१३८॥
अश्रुपातादिहेतुत्वात् दुःखं भावो यदा तदा ।
दृग्विकासादिहेतुत्वात्सुखं भावः कुतो न ते ॥१३९॥
आहारादिज आनन्दो बुभुक्षादिपुरःसरः ।
नियतस्तेन दुःखस्य ध्वंस आनन्द इत्यसत् ॥१४०॥

होता है, अन्यथा नहीं, सुखदुःखकी उत्पत्ति मनःसंयुक्त त्वगिन्द्रियसंयुक्त जलादिसे होती है, इसलिए क्रमशः उनकी उत्पत्ति होनेसे वे क्रमशः प्रतीत होते हैं। यौगपद्यांशमें भ्रम है । यदि त्वगिन्द्रिय सर्वशरीरव्यापी एक ही है, तो उसके साथ क्रमशः मनः-संयोग कहना अयुक्त ही है, फिर एक कालमें उन दोनोंकी प्रतीति क्यों नहीं होगी ? इसका उत्तर यह है कि एक कारणसे एक कालमें दो क्रियाएँ नहीं होतीं, यह सर्वमान्य नियम है । इसलिए एकात्ममनःसंयोगसे एक समयमें सुखोपलब्धि तथा दुःखोपलब्धि—ये दोनों नहीं होतीं, किन्तु कालभेदसे ही होती हैं। यौगपद्यांशमें भ्रम मानना ही ठीक है, इस अभिप्रायसे कहते हैं कि एक कालमें उन दोनोंकी प्रतीति नहीं होती, इस अपराधसे सुख दुःखाभावस्वरूप नहीं है, किन्तु तदतिरिक्त ही है ॥ १३७ ॥

'कालभेदेन' इत्यादि । दुःखके बाद ही सुखकी उत्पत्ति देखी जाती है, इसलिए यदि दुःखाभावको सुख मानते हो, तो विपरीत ही क्यों न माना जाय अर्थात् सुखके अनन्तर दुःखोत्पत्ति देखनेसे सुख भावस्वरूप है, दुःख सुखाभावस्वरूप है, ऐसा ही क्यों न माना जाय ॥ १३८ ॥

'अश्रुपातादि०' इत्यादि । दुःखसे अश्रुपात आदि कार्य दिखाई पड़ते हैं, इस लिए यदि दुःखको भावस्वरूप मानते हैं, तो सुखसे भी दृग्विकास—नेत्रोत्फुल्लता—आदिके दिखाई देनेसे सुखको भी भावस्वरूप ही मानना चाहिए, क्योंकि दुःख भावस्वरूप है और सुख दुःखाभावस्वरूप है, इसमें कुछ विनिगमक नहीं है । इसलिए आपकी व्यवस्था, युक्तिशून्य होनेसे, अश्रद्धेय है ॥ १३९ ॥

'आहारादिज' इत्यादि । बुभुक्षाजन्य दुःखके अनन्तर आहारजन्य आनन्द देखते हैं, इसलिए दुःखके अनन्तर सुख होता है, यह नियम मानकर यदि सुखको दुःखाभावस्वरूप कहते हैं, तो यह भी कहना ठीक नहीं है ॥ १४० ॥

तृप्ता अपि च दाक्षिण्याद् भुञ्जानाः सुखमाप्नुयुः ।
अनातुरोऽपि चाऽभ्यङ्गे मर्दनात् सुखमश्नुते ॥१४१॥
सुखोपायविहीनानां क्वाप्यानन्दमपश्यताम् ।
मर्दनादेः पुरा दुःखं कल्प्यमित्येतदप्यसत् ॥१४२॥

'तृप्ता' इत्यादि। दुःखके अनन्तर सुखोत्पत्ति अवश्य होती है, यह भी आपका कथन ठीक नहीं है, क्योंकि जो तृप्त हैं अर्थात् जिन्हें बुभुक्षाजन्य दुःख नहीं है वे भी प्रेमाग्रहवश भोजन करते हैं। वे भी भोजनजन्य सुखके भागी होते हैं। तथा जो अनातुर हैं—वातादिरोगजन्य शरीरपीड़ा जिनको नहीं हैं—अर्थात् पूर्वमें कोई दुःख नहीं है, उनको भी शरीरमर्दनजन्य सुख होता है। थके हुए या वातादि रोगग्रस्तको जो शरीरमर्दनजन्य सुख होता है, सो दुःखपूर्वक है, किन्तु उक्त दुःखशून्यको भी उक्त कारणसे उक्त कार्य होते हैं, इसलिए दुःखपुरःसर ही सुख होता है, ऐसा नियम नहीं है, सुख तथा दुःखकी उत्पत्तिमें उक्त आनन्तर्यका नियम नहीं है।

शरीरपीड़ाके विना भी मर्दनजन्य सुख देखकर मेरे कहे हुए नियमका भङ्ग जो आप करते हैं, वह ठीक नहीं है, कारण कि वहाँ भी मर्दनाभावप्रयुक्त दुःख पूर्वमें अवश्य रहता है। मर्दनसे उस दुःखकी निवृत्तिसे सुखव्यवहार होता है, इसलिए मेरे द्वारा कहे गये नियमका भङ्ग नहीं है ॥ १४१ ॥

शङ्काकी निवृत्ति करते हैं—'सुखोपाय०' इत्यादिसे।

सुखोपायशून्य अतएव कहीं भी आनन्दानुभव जिनको नहीं है, उनमें भी मर्दनसे पूर्व दुःखकी कल्पना करना असत् है। तात्पर्य यह है कि जिन्हें सुख और दुःख क्रमशः प्रतीत होते हैं, उनमें सुखसे पूर्व दुःखकी कल्पना हो सकती है, किन्तु जिनमें सुखोपायाभावप्रयुक्त दुःख निश्चित है, उनमें दुःखकी कल्पना समीचीन नहीं है, क्योंकि अक्लृप्तकी कल्पना होती है, क्लृप्तकी नहीं। तत्-तत् दुःखकी निवृत्ति तत्-तत् सुखरूप पुरुषार्थ है, ऐसा माननेसे भी मर्दनाभावप्रयुक्त दुःख यदि अनुभूयमान नहीं है, तो जिहासित न होनेसे पुरुषार्थ भी नहीं है। और जो सर्वथा दुःखसे रहित राजा आदि हैं, वे भी सुखहेतु नृत्य, गीत, वाद्य आदिमें प्रवृत्त देखे जाते हैं। नृत्यादिका दर्शन दुःखध्वंस सुखमें कारण

चन्दनादिसुखोपायसम्पन्नाः सुखिनोऽप्यलम् ।
पुत्रजन्मादिवार्ताभिः प्राप्नुवन्ति सुखान्तरम् ॥१४३॥
पुत्राद्यप्राप्तिरूपं च दुःखं तत्र न कल्प्यते ।
अप्रतीतेरवेद्यं तु न दुःखं वैरिदुःखवत् ॥१४४॥

नहीं हो सकता, कारण कि अननुभूयमान दुःखध्वंसके अपुरुषार्थ होनेसे उसके लिए प्रवृत्ति नहीं हो सकती ॥ १४२ ॥

'चन्दनादि०' इत्यादि । चन्दनादि सुखके साधनोंसे समुत्पन्न अतएव सुखी मनुष्य भी पुत्रजन्मादि शुभ संवादका श्रवण कर अनिर्वचनीय सुखातिशय पाते हैं, इसलिए भी दुःखध्वंससे अतिरिक्त सुखको मानना चाहिए, अन्यथा पूर्ण सुखियोंमें यदि दुःख हुआ ही नहीं, तो दुःखध्वंस सुख क्यों कहलायेगा ?

शङ्का—यदि उपायसम्पत्तिसे सम्पूर्ण सुख प्राप्त है, तो फिर उस सुखकी इच्छासे तदुपायमें प्रवृत्ति क्यों होती है, अप्राप्त अर्थविषयक इच्छासे ही तदधीन प्रवृत्त्यादि होते हैं, इष्टकी प्राप्ति इच्छाकी निवर्त्तिका है, इच्छाके विना प्रवृत्ति ही असम्भव है ।

समाधान—ठीक है, इसीलिए तो सुखान्तर कहा गया है अर्थात् प्राप्त सुखसे अतिरिक्त अप्राप्त पुत्रोत्पत्ति आदिसे जन्य सुख प्राप्त होता है ॥ १४३ ॥

'पुत्राद्य०' इत्यादि । जिस सुखान्तरपरिपूर्ण पुरुषमें पुत्रोत्पत्तिश्रवणजन्य सुखान्तरकी प्राप्ति होती है, उस पुरुषमें पुत्राप्राप्तिजन्य दुःखध्वंस ही सुख है, इसका निराकरण करते हैं—पुत्राप्राप्तिसे दुःखकी कल्पना नहीं कर सकते, कारण कि वह प्रतीयमान नहीं है ।

शङ्का—अननुभूयमान भी दुःख वहांपर है, ऐसा कहनेमें क्या दोष है ? अवेद्यमान दुःख वैरीके दुःखके समान दुःख नहीं है, इसीसे आत्मीय दुःखसे श्रोता पुरुषको भी दुःख होता है, इसलिए 'वैरिदुःख' कहा । वैरीका दुःख सुनकर लोग दुःखी नहीं होते, प्रत्युत अधिक प्रसन्न होते हैं, अतः यही कामना करते हैं कि उन्हें और भी अधिक दुःख हो । यदि उसे भी दुःख माना जाता, तो लोग शत्रुके दुःखकी इच्छा न करते, निर्दुःख पुरुषमें पुत्रप्राप्तिजन्य सुख होता है, अतः दुःखध्वंससे अतिरिक्त सुख है, यह सिद्ध हुआ ॥ १४४ ॥

अपुत्रा दुःखिनः केचिद् दृश्यन्ते मनुजा यदि ।
तथाप्यज्ञानतो दुःखं तिरश्चां नैव विद्यते ॥१४५॥
तिर्यञ्चोऽपि स्ववत्सानां लाभे प्रीतिं व्रजन्ति हि ।
प्रीताः पृथग्जिहासन्ति वेदनां ताडनादिजाम् ॥१४६॥
दुःखाभावो यदि प्रीतिर्जिहासाप्रेप्सयोर्भिदा ।
लुप्येताऽतः प्रेप्सितैषा प्रीतिर्दुःखं जिहासिता ॥१४७॥

'अपुत्रा' इत्यादि । पुत्ररहित पुरुषमें पुत्राप्राप्तिजन्य दुःखके देखनेसे पूर्ण सुखी पुरुषमें भी पुत्राप्राप्तिजन्य दुःखकी कल्पना होती है, अतएव उक्त नियमका भङ्ग नहीं है, इसलिए दुःखध्वंस ही सुख है, अतिरिक्त नहीं, इसका भी खण्डन करते हैं—पशु-पक्षियोंको भी अपत्यकी उत्पत्तिसे सुख होता है, किन्तु उनको अपत्यकी अनुत्पत्तिसे दुःख होता है, यह नहीं कह सकते, कारण कि उन्हें उसका अज्ञान है । अज्ञात दुःख नहीं माना जाता ॥ १४५ ॥

'तिर्यञ्चोऽपि' इत्यादि ।

शङ्का—पशु-पक्षियोंको अज्ञानवश यदि दुःख नहीं है, तो उनमें वत्सोत्पत्ति-प्रयुक्त सुख भी नहीं मानना चाहिए, क्योंकि दुःखकी तरह सुख भी अज्ञातसत्ताक नहीं माना जाता, अज्ञान दोनोंमें समान ही कह सकते हैं ।

समाधान—पशु आदिको सन्तानसे सुख होता है, इसके ज्ञापक कायचेष्टा आदि लिङ्ग स्पष्ट ही हैं । वे वत्सप्रतिकूल प्राणियोंसे सर्वतोभावेन वत्सादिकी रक्षा करते हैं। यदि उनमें प्रेम न होता, तो उनकी रक्षाके लिए अपनेको भी संकटमें न डालते । यह तो अति स्पष्ट है, अतः इसमें अधिक कहनेकी आवश्यकता ही नहीं है । सुख-प्राप्ति और दुःखध्वंस—ये दोनों प्राणिमात्रको इष्ट हैं। 'सुखं प्राप्नुयाम्' सुखप्राप्ति-की इच्छा और 'दुःखं मा भूत्' यह दुःखकी जिहासा सम्पूर्ण प्राणियोंको होती है । इसलिए प्रेप्सा और जिहासाके भेदसे दोनों पृथक् पृथक् पदार्थ हैं, यह स्पष्ट ज्ञात होता है । वत्स आदि जन्य सुखमें प्रेप्सा और ताडन आदिसे जन्य दुःखमें जिहासा होती है, अतः स्पष्ट ही दोनोंमें भेद है ॥ १४६ ॥

'दुःखाभावो' इत्यादि । दुःखका अभाव ही यदि प्रीति—सुख—है, तो प्रेप्सा और जिहासाका भेद ही लुप्त हो जायगा, कारण कि प्रेप्सित ही सुख है, और

लौकिकस्य सुखस्यैवं भावत्वे सुस्थिते सति ।
वैदिकस्याऽपि भावत्वमैकार्थ्याल्लोकवेदयोः ॥१४८॥
वेदोऽपि शुद्धमात्मानं सुखं मुख्यं प्रदर्शयन् ।
अनात्मानं तथा दुःखं तयोर्भावत्वमिच्छति ॥१४९॥
तदेतत्प्रेय इत्यादिवाक्येभ्योऽनेकधा श्रुतम् ।
तथाऽऽत्मनस्तु कामायेत्यतो भावः सुखं भवेत् ॥१५०॥

जिहासित ही दुःख है अर्थात् प्रकृष्ट इच्छाका विषय सुख और जिहासाका विषय दुःख—यह इनका विविक्तस्वभाव है ॥ १४७ ॥

'लौकिकस्य' इत्यादि। उक्त रीतिसे लौकिक सुख भावस्वरूप है, यह निश्चय होनेपर वैदिक सुख भी भावस्वरूप है, यह अनायास सिद्ध हो जाता है, क्योंकि लौकिक पदपदार्थोंके विषयमें 'य एव लौकिकाः त एव वैदिकाः' अर्थात् जो लौकिक हैं वे ही वैदिक हैं—उनमें भेद नहीं है, यही आचार्योंका सिद्धान्त है, इसलिए मोक्षरूप वैदिक सुख भी भावस्वरूप ही है, यह सिद्ध हुआ ॥ १४८ ॥

'वेदोऽपि' इत्यादि। आत्मसुख भावस्वरूप है, यह केवल न्यायसे ही सिद्ध नहीं है, किन्तु वेदसे भी यही सिद्ध होता है, क्योंकि अशनायादि विशेषधर्म-शून्य अलौकिकसुखात्मक सकलविविधदुःखशून्य आत्मस्वरूप मोक्ष ही परम-पुरुषार्थ है, यह वेद भी कहता है ॥ १४९ ॥

कौन वेद ऐसा कहता है ? इस अपेक्षासे उक्त अर्थमें वैदिक वाक्य उद्धृत करते हैं—'तदेतत्प्रेयः' इत्यादिसे।

'तदेतत्प्रेयः पुत्रात् प्रेयो वित्तात् प्रेयोऽन्यस्मात् सर्वस्मादन्तरतरं यदयमात्मा' लोकमें पुत्रप्रिय होता है, यह प्रसिद्ध है, इससे भी प्रियतर आत्मा है, एवं वित्त-हिरण्यादि—प्रिय हैं तथा अन्य भी जो लोकमें प्रियत्वेन प्रसिद्ध हैं, उन सबसे प्रियतर आत्मा है, क्योंकि आत्मा ही सबसे प्रियतर है, प्राण आदि नहीं ।

उत्तर देते हैं—'अन्तरतरम्' बाह्य पुत्र, वित्त आदिसे प्राणपिण्डसमुदाय अभ्यन्तर है, अर्थात् आत्माके अति सन्निकृष्ट है। प्राणपिण्डोंसे भी अन्तरतर यह आत्मा है। जो जिसकी अपेक्षासे सन्निकृष्ट है, वह उसकी अपेक्षासे प्रियतर है। आत्मासे अतिरिक्त आत्माके कोई अतिसन्निकृष्ट है नहीं, इस कारणसे आत्मा निरतिशय प्रेमास्पद है।

यदुक्तं भावरूपत्वे रागात्तत्र प्रवृत्तितः ।
मोक्षः संसार एवेति त्वत्पक्षेऽपि समं हि तत् ॥१५१॥
संसारदुःखद्वेषेण दुःखोच्छेदाख्यमोक्षके ।
प्रवृत्तेः संसृतित्वं ते मुक्तेः केन निवार्यते ॥१५२॥
पुरुषार्थाभिसम्बन्धात् द्वेषस्यापि विरागिता ।
यदि तर्ह्येव रागोऽपि सिद्ध्यै चात्रेति तुष्यताम् ॥१५३॥

जो निरतिशय प्रेमास्पद है, वह प्रयत्नसे लब्धव्य है । आत्मा सब लौकिक प्रियसे प्रियतम है, यह उक्त श्रुतिका अर्थ है । एवं 'न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति' पतिके प्रयोजनके लिए स्त्रीको पति-प्रिय नहीं होता, किन्तु आत्मप्रयोजनके लिए स्त्रीको पति प्रिय होता है । सारांश यह है कि सबकी निरुपाधि प्रीति आत्मामें ही होती है, अन्यमें आत्माके उपकारकरूप प्रीति होती है, अतः लोक और वेदसे परमप्रेमास्पद आत्मा ही है, वही मोक्षसुख है, तदन्य सब अनात्म पदार्थ कल्पित तथा विनाशी असुखस्वभाव हैं । अज्ञानवश मूढको सुखस्वभाव प्रतीत होते हैं, यह अद्वैतवेदान्तका निष्कर्ष है ॥ १५० ॥

'यदुक्तं भावरूपत्वे' इत्यादि । यदि आत्मा भावसुखस्वरूप है, तो मुमुक्षुकी प्रवृत्ति मोक्षरागसे ही मानोगे, रागमूलक प्रवृत्तिका फल तो संसार ही है, उसकी निवृत्ति नहीं, यह शङ्का आपके मतसे भी है, क्योंकि आप दुःखध्वंसको मोक्ष मानते हैं, इसलिए दुःखद्वेषसे ही तदुच्छेदात्मक मोक्षमें मुमुक्षुकी प्रवृत्ति मानियेगा, द्वेषमूलक प्रवृत्तिका फल भी संसार ही है, अतएव 'प्रवर्तनालक्षणा दोषाः' इस न्यायसूत्रमें राग द्वेष और मोह—इन तीनोंको दोष कहा गया है, और इन्हीं तीनोंसे प्रवृत्तिका फल संसार ही बतलाया है ॥ १५१ ॥

'संसारदुःख०' इत्यादि । संसारदुःखमें द्वेष होनेसे मोक्षमें मुमुक्षुकी प्रवृत्ति होती है, इस मतमें भी उक्त प्रवृत्ति द्वेषाधीन होनेसे आपके मतमें संसार ही उक्त प्रवृत्तिका फल होगा, तन्निवृत्ति नहीं अर्थात् मुक्तिमें संसारत्वप्रसक्तिका परिहार किस उपायसे कीजियेगा ? किसीसे नहीं हो सकता ॥ १५२ ॥

'पुरुषार्थाभि०' इत्यादि । हमारे मतमें मिथ्याज्ञाननिमित्तक द्वेषसे मुमुक्षुकी प्रवृत्ति मोक्षार्थ नहीं है, किन्तु विवेकपूर्वक उक्त प्रवृत्ति होती है । मिथ्याज्ञान-

दुःखद्वेषो द्वयोस्तुल्यो रागिता तेऽधिकेति चेत् ।
तत्राऽपि गुरुशास्त्रादाविच्छायां किं न रागिता ॥१५४॥

निमित्तक दोषाधीन प्रवृत्तिका फल संसार है, तो हमारे मतमें भी मिथ्याज्ञान-निमित्तक रागाधीन प्रवृत्तिका फल संसार है। विवेकनिमित्तक रागाधीन प्रवृत्तिका फल अपवर्ग है। यह समाधान तुल्य ही है। इसीसे सन्तोष कीजिये। वस्तुतस्तु संसारद्वेषसे अपवर्गमें मुमुक्षुकी प्रवृत्ति नहीं, किन्तु संसारोद्वेगसे। द्वेष और उद्वेग एक नहीं हैं, किन्तु परस्पर भिन्न हैं। द्वेषका कारण मिथ्याज्ञान है और उद्वेगका कारण संसारासारतातत्त्वदर्शन। इससे हमारे मतमें भी रागसे मोक्षमें प्रवृत्ति नहीं होती, किन्तु निरतिशयानन्द श्रद्धासे होगी। राग और श्रद्धा एक नहीं है, क्योंकि राग मिथ्याज्ञानसे होता है और श्रद्धा विवेकसे होती है। कारणभेदसे उक्त पदार्थ परस्पर भिन्न है। यदि इच्छामात्रको राग कहिये, तो विविक्त—एकान्त—देश, गुरु आदिके श्रयणादिकी इच्छा भी राग कह सकते हो। यदि ऐसा मानें, तो तत्त्वज्ञानोपाय ही लुप्त हो जायगा। यदि कहो कि तत्त्वज्ञानोपायरूपसे विहित है, इसलिए यह राग बन्धनहेतु नहीं है, तो मोक्षेच्छा—मुमुक्षुत्व—भी शास्त्रज्ञानाङ्ग होनेसे दूषित नहीं है, किन्तु उक्त फलार्थीके लिए उपादेय ही है, इस तात्पर्यसे कहते हैं—'सिद्ध्यै' इत्यादि। यह राग मोक्षसिद्धिके लिए है ॥१५३॥

'दुःखद्वेषो' इत्यादि। दुःखध्वंस मोक्ष है, आत्मसुख मोक्ष है—इन दोनों मतोंमें दुःखद्वेष समान ही है। क्योंकि संसारके दुःखोंसे संतप्त होकर मुमुक्षु संसारसे पराङ्मुख होकर मोक्षमार्गमें निरतिशय नित्य सुखके लिए प्रवृत्त होता है। यह आपका मत है, सांसारिक दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्तिके लिए उक्त अधिकारी प्रवृत्त होता है। यह मेरा मत है, दुःखद्वेषसे ही तज्जिहासा होती है। यह हम दोनोंके मतसे समान है, फिर आप सुखको भावस्वरूप मान कर उसमें रागाधीन प्रवृत्ति मानते हैं, यह अंश अधिक है। द्वेष और राग दोनों आपके मतमें प्रवृत्तिके कारण होते हैं। और मेरे मतमें केवल द्वेष ही प्रवृत्ति कारण माना जाता है। इसलिए आपके मतकी अपेक्षासे मेरा मत न्याय्य है, यह कथन भी ठीक नहीं है, कारण कि उक्त कारणमात्रसे प्रवृत्ति नहीं हो सकती। प्रवृत्तिमात्रमें इष्टसाधनताज्ञान कारण है। इसलिए दुःखद्वेषसे तदुच्छेदोपायतत्त्वज्ञानार्जनके लिए गरुके समीपमें गमन वेदान्तशास्त्रमें श्रवण

तस्मादानन्दभावत्वे मोक्षे किञ्चिन्न दुष्यति ।
तस्याऽनतिशयत्वेन पुरुषार्थः परो मतः ॥१५५॥
अथ ये शतमित्यादिवाक्याच्छतगुणोत्तरः ।
उत्कर्षोऽवसितो यत्र मोक्षानन्दः स उच्यते ॥१५६॥

मनन आदिमें उसकी इच्छाके विना प्रवृत्ति कैसे हो सकेगी ? अतः प्रवृत्तिके लिए उसमें राग मानना आपको भी अनिवार्य है। यदि कहो कि उसके उच्छेदके उपायकी इच्छा—राग—होनेपर भी वह बन्धनकी हेतु न होनेसे त्याज्य नहीं है, तो मेरे मतमें भी मोक्षेच्छा—राग—होनेपर भी वह मोक्षमें कारण है, इसलिए अनुपादेय नहीं, यह समाधान भी तुल्य ही है ॥ १५४ ॥

अतएव मोक्ष भावस्वरूप है, तो भी कोई दोष नहीं है, यही उपसंहार करते हैं—'तस्मादा०' इत्यादिसे ।

चूँकि मोक्षेच्छारूप राग दोष नहीं है, किन्तु मोक्षरूप अभीष्टमें कारण है, अतः मोक्षको भावस्वरूप माननेपर भी कोई दोष नहीं है, मोक्षरूप सुख इतर सुखोंकी अपेक्षा विलक्षण, नित्य और निरतिशयात्मक है, अतः वह परम पुरुषार्थ माना जाता है। लौकिक—वैषयिक—सुख भी पुरुषार्थ अर्थात् पुरुषों द्वारा प्रार्थ्यमान है, इसलिए वह पुरुषार्थ तो है, परन्तु विषयाधीन होने तथा सातिशय होनेसे नित्य सुखार्थियोंके लिए पुरुषार्थ नहीं है। किन्तु सांसारिक पुरुषोंके लिए पुरुषार्थ है। संसारसे पराङ्मुख मुमुक्षुओंके लिए मोक्ष ही नित्य निरतिशयात्मक होनेसे परम पुरुषार्थ है। मोक्षरूप पुरुषार्थमें नित्यत्व और निरतिशयत्व प्रयुक्त ही परमत्व है। अनतिशयत्व उपलक्षण है अर्थात् उससे नित्यत्व भी विवक्षित है ॥ १५५ ॥

'अथ ये' इत्यादि। आनन्दवल्लीमें 'अथ ये शतम्' इत्यादि प्रबन्धसे मनुष्यके आनन्दसे लेकर इन्द्र आदि पर्यन्त शतगुण अधिक आनन्दका वर्णन कर सर्वोत्कृष्ट अर्थात् जिससे परे आनन्द नहीं है ऐसे आनन्दकी परा काष्ठा आत्मस्वरूप ही है ऐसा कहा गया है, वही नित्य तथा निरतिशय है। जो आनन्द क्रियाजन्य है, वह अधिकारी कर्ताके तारतम्यसे उत्कृष्ट और अपकृष्ट होता है और जो आनन्द अकार्य अर्थात् नित्य है, वह तारतम्यसे शून्य होता है ॥ १५६ ॥

एष ह्येवानन्दयाति जीवान् सर्वानिति श्रुतिः ।
लौकिकानन्दलिङ्गेन ब्रह्मानन्दं व्यनक्ति हि ॥१५७॥
न चाऽत्यन्तपरोक्षोऽयमानन्दः प्राणिनां यतः ।
स्वकीयः परमानन्दः सुषुप्तावनुभूयते ॥१५८॥

ब्रह्म सुखस्वरूप है, इसमें श्रुतिरूप प्रमाण देते हैं—'एष ह्येवा०' इत्यादि ।

'को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात् एष ह्येवानन्दयाति' 'लेटोऽडाटौ' इस सूत्रसे छन्दमें अट्का आगम होनेसे 'आनन्दयाति' यह रूप हुआ है । लोकमें तो 'आनन्दयति' ऐसा रूप होता है, तैत्तिरेय श्रुतिका यह वचन है । 'आकाशस्तल्लिङ्गात्' इस वेदान्तसूत्रसे 'आकाश' शब्दका प्रयोग ब्रह्ममें होता है, यह सिद्धान्त किया गया है । यह आकाशरूप ब्रह्म यदि आनन्द न होता और साक्षीका प्रेरक न होता, तो कौन जीव चलता और कौन विशेषरूपसे जीता ? कोई भी नहीं, ब्रह्मसे अतिरिक्त सब जड़ हैं । जीव ब्रह्मस्वरूप होनेसे ही चलता तथा श्वास-प्रश्वास लेता है । और आनन्दस्वरूप ब्रह्म ही सम्पूर्ण प्राणियोंको अपने-अपने अभीष्टकी प्राप्ति करा कर आनन्दित करता है । 'सैपानन्दस्य मीमांसा' इत्यादि वाक्योंसे ब्रह्म आनन्दस्वरूप है, यह सिद्धान्त सर्वसम्मत है । ब्रह्म ही मोक्ष है, इसलिए मोक्ष भावात्मक सुखस्वरूप है, अतः उक्त श्रुतियां लौकिक आनन्द द्वारा ब्रह्मानन्दकी बोधक हैं । ब्रह्मानन्द लोकमें अप्रसिद्ध है, अतः साक्षात् उसका बोधन कराना असंभव है, इसलिए सबको स्वात्मप्रत्यक्षसिद्ध लौकिक सुख द्वारा ब्रह्मानन्दके बोधनमें श्रुतिका स्वारस्य है । ब्रह्म स्वप्रतिबिम्बभूत जीवको यदि आनन्दित करता है, तो स्वयं आनन्दस्वरूप है । जो अपने अनुयायियोंको धनिक बनाता है वह स्वयं धनी है, इसमें किसी को कभी भी सन्देह नहीं हो सकता ॥१५७॥

आत्मा सुखस्वरूप है, यह प्रत्यक्षसिद्ध है, अतः इस विषयमें विवादका अवसर नहीं है, ऐसा कहते हैं—'न चाऽत्यन्त०' इत्यादिसे ।

आनन्दस्वरूप आत्मा किसीको अत्यन्त परोक्ष नहीं है, किन्तु प्राणिमात्रको प्रतिदिन उसका प्रत्यक्ष होता है, सुषुप्तिकालमें परमानन्दस्वरूप आत्मा सबको अपरोक्ष होता है । यद्यपि उस समयमें उक्तस्वरूप आत्माका अनुभव करते हैं, ऐसा भान नहीं होता, परन्तु जागनेपर सुखसे सोया कुछ भी नहीं जाना, ऐसा स्मरण

स्वानन्दाभिमुखः स्वापे बोध्यमानोऽत एव च ।
पीड्यते स्त्र्यादिसम्पर्कसुखविच्छेदतो यथा ॥१५९॥
यदुक्तं कर्मकर्तृत्वं वेद्यत्वेऽथापुमर्थता ।
अवेद्यत्व इतीदं तु नाऽत्र दोषद्वयं भवेत् ॥१६०॥

अवश्य होता है । स्मरण अनुभव और संस्कारके बिना नहीं होता । इसलिए उस समयमें सुखानुभव अवश्य हुआ, यह माना जाता है । इन्द्रियोंका लय होनेसे बाह्य सुखके अनुभवकी सम्भावना ही नहीं होती, इसलिए उस समयमें आत्मस्वरूप सुखका ही अनुभव मानना पड़ेगा । अन्यथा उक्त स्मरणकी अनुपपत्ति होगी । यद्यपि 'दुःखमस्वाप्सम्' अर्थात् मैं दुःखसे सोया यह भी सुप्तोत्थितको परामर्श होता है । इसलिए आत्माको दुःखस्वरूप भी मानना चाहिए, यह शङ्का ठीक नहीं है, कारण कि सुषुप्तिसे पूर्व जायमान दुःखका अनुसंधान कर वैसा कहता है । दुःखपूर्वक सुषुप्ति हुई यह सारांश है । निद्रा राजस, तामस और सात्त्विक भेदसे तीन प्रकारकी होती है, यह योगशास्त्रमें प्रसिद्ध है, यहां विस्तार भयसे तथा प्रकृतमें उपयोगी न होनेसे इस विषयका संक्षेप ही ठीक है ॥ १५८ ॥

'स्वानन्दा०' इत्यादि । आत्मा सुखस्वरूप है, इसमें सुषुप्तिकालका अनुभव भी प्रमाण है । गाढ़ निद्रामें सोये हुए मनुष्यको, जगानेसे, दुःख होता है, कारण कि उस समय वह सुखका अनुभव करता रहता है, उससे उसका विच्छेद हो जाता है, इसीमें दृष्टान्त देते हैं—विषयासक्त पुरुष यदि कामिनी क्रीडामें प्रसक्त है और उस समय कोई उसको बाहर आनेके लिए बाध्य करता है, तो उसको उस समय स्त्रीसंपर्कजनित सुखसे विच्छेदके कारण दुःख होता है, अतएव धर्मशास्त्रमें कहा है—'शयानं न प्रबोधयेत्' । अर्थात् सोये हुए पुरुषको अनावश्यक न जगाना चाहिए ॥ १५९ ॥

'यदुक्तं कर्म' इत्यादि ।

शङ्का—यद्यपि ब्रह्मानन्द मोक्ष है सही, पर वह वेद्य है या अवेद्य ? प्रथम पक्षमें द्वैतकी आपत्ति है, क्योंकि वेद्य और वेत्ता—इन दोनोंके बिना वेद्यत्व नहीं बन सकता, अभेदमें कर्मकर्तृविरोध होनेसे वेद्यवेदकभाव ही नहीं बन सकता । द्वितीय पक्षमें अपुरुषार्थत्वप्रसक्ति दोष है ।

आनन्दस्य स्वरूपत्वाद्वेद्यता तत्र नाऽर्थ्यते ।
निःसम्बोधेऽर्थ्यते सा हि न तु बोधैकलक्षणे ॥१६१॥
अतः प्रकाशमानत्वात् पुमर्थत्वमपि स्थितम् ।
पुमर्थत्वेन वेदान्तैस्तात्पर्येण प्रमीयते ॥१६२॥

समाधान—आत्मा स्वयं आनन्दस्वरूप है, इसलिए वेद्यत्वकी उसमें अपेक्षा नहीं हैं, जड़में वेद्यत्वकी नियमसे अपेक्षा होती है, क्योंकि उसमें स्वतः प्रकाशकी प्रसक्ति नहीं है। ज्ञान द्वारा ही उसका प्रकाश होता है, आत्मा तो स्वयंप्रकाश है, अतएव उसका स्वरूप मोक्ष भी स्वयंप्रकाश ही है, इसलिए उसके प्रकाशनके लिए ज्ञानकी अपेक्षा नहीं है। अतएव परमानन्द संवेदनस्वरूप ब्रह्ममें वेदान्त प्रमाण है ॥ १६० ॥

उक्त अर्थका समर्थन करते हैं—'आनन्दस्य' इत्यादि। तात्पर्य यह है कि प्रकाशमान पुरुषार्थ कहलाता है, अप्रकाशमान नहीं। धर्म, अर्थ और काम ये तीनों बोधसे भिन्न हैं, अतएव वे स्वयंप्रकाश नहीं हैं, इनका ज्ञान द्वारा जब प्रकाश होता है, तब वे पुरुषार्थ कहलाते हैं, अन्यथा नहीं, मोक्ष आत्मस्वरूप होनेसे स्वयं प्रकाशमान है। अतः उसके ज्ञानकी अपेक्षा नहीं है, इसलिए कहते हैं कि वेद्यत्वको कर्मकी अपेक्षा नहीं, अज्ञानस्वरूप पुरुषार्थमें वेद्यत्व अपेक्षित है बोधस्वरूप पुरुषार्थमें वेद्यत्वकी अपेक्षा नहीं है ॥ १६१ ॥

'अतः' इत्यादि। चूँकि अनुभवात्मस्वरूप मोक्ष है, अतः स्वयंप्रकाश होनेसे मोक्ष पुरुषार्थ है। वेदान्तोंसे मोक्ष पुरुषार्थ है, यह तात्पर्यवृत्तिसे प्रमित होता है अर्थात् शक्ति या लक्षणावृत्तिसे मोक्षका बोधक वेदान्त नहीं हो सकता, कारण कि शब्द किसी धर्मसे विशिष्टका ही बोधक होता है, केवल धर्मिमात्रका बोधक नहीं है। ब्रह्मस्वरूप मोक्ष सकलधर्मातीत है, इसलिए उक्त वृत्ति द्वारा वेद उसका बोधक नहीं हो सकता।

यद्यपि धर्मिमात्रमें लक्षणाकर कथञ्चित् शब्द द्वारा भी बोध मान सकते हैं, तथापि किंचित् पदवाच्य ही सर्वत्र लक्ष्य देखा गया है, प्रकृतमें निर्विकल्पानुभवस्वरूप मोक्ष किसी पदका वाच्य नहीं है। इसलिए लक्ष्य भी नहीं हो सकता।

'तन्त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि'

'फलव्याप्यत्वमेवाऽस्य शास्त्रकृद्भिर्निराकृतम्।
ब्रह्मण्यज्ञाननाशाय वृत्तिव्याप्यत्वमिष्यते ॥'

सुखस्य लौकिकत्वेन कथं वेदान्तमेयता ।
इत्यचोद्यं यतोऽखण्डरूपं लोकान्न सिद्ध्यति ॥१६३॥
नेति नेत्यादिवाक्येभ्यो योऽर्थोऽनन्यानुभूतिगः ।
लौकिकत्वं कथं तस्य सर्वमेयातिलङ्घिनः ॥१६४॥

इत्यादि श्रुति, स्मृति आदि सगुणब्रह्मविषयक हैं, अतएव निर्गुण ब्रह्मके तात्पर्यसे यतो 'वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह', 'क इत्था वेद यत्र सः' इत्यादि श्रुतिवाक्यसंगत होते हैं, अतः तात्पर्यवृत्तिसे ही शास्त्र मोक्षका बोधक है इसलिए उक्तार्थमें प्रमाण भी है ॥ १६२ ॥

'सुखस्य' इत्यादि ।

शङ्का—मोक्ष यदि सुखस्वरूप है, तो 'अहं सुखी' इत्यादि मानस प्रत्यक्षसे सिद्ध है, अतः उसका बोधक वेद ज्ञातज्ञापक होनेसे उक्त अर्थमें प्रमाण नहीं हो सकता ।

समाधान—लौकिक विषयसे जन्य सातिशय सुख ही मानस प्रत्यक्षका विषय है, अलौकिक निरतिशय नित्य मोक्षस्वरूप सुख लौकिक प्रत्यक्षका विषय नहीं है, अतः उसका बोधक वेदवाक्य अज्ञातज्ञापक होनेसे अवश्य उक्त अर्थमें प्रमाण है, उक्त अर्थका स्पष्टीकरणके करनेके लिए पुनः कहते हैं—'नेति नेत्यादि०' इत्यादि ।

ब्रह्म अन्य प्रमाणोंका गोचर नहीं है, अतः उसमें किसी भी पदका शक्तिग्रह नहीं हो सकता, जब वह पदार्थ ही नहीं हो सकता तब वाक्यार्थ होनेकी सम्भावना ही क्या ? इस शङ्काकी निवृत्तिके लिए श्रुति कहती है—'नेति नेति' । इति शब्दका इदं अर्थ है—'इदं न इदं न' । 'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चामूर्तं च' इत्यादि श्रुतिसे ब्रह्मके दो स्वरूप—मूर्त और अमूर्त—बतलाये गये हैं, दोनों स्वरूपोंके निषेधके लिए दो नञ् हैं, एकसे मूर्तका निषेध और दूसरेसे अमूर्तका निषेध किया है । केवल प्रकाशस्वरूपके अवशेषके लिए आत्मशब्दका उपादान किया गया है । आत्माका निषेध नहीं हो सकता, वह स्वयंप्रकाश और नित्य है, उसके निषेधमें कोई साक्षी नहीं हो सकता । अन्यके निषेधका साक्षी तो आत्मा है, और यदि आत्माका भी निषेध है, तो उसका अन्य कोई साक्षी नहीं कह सकते, असाक्षिक निषेधमें कोई प्रमाण नहीं है, अप्रामाणिक पदार्थ स्वीकारके योग्य नहीं

है, अतः आत्मा ही सकल अद्वैतके बाधका अधिकरण तथा साक्षी है। अथवा 'नेति नेति' श्रुतिमें वीप्सा विवक्षित है; वीप्सासे ब्रह्मसे अतिरिक्त सकल—प्रत्यक्ष और परोक्ष—द्वैतमात्रका प्रतिषेध विवक्षित है।

शङ्का—ब्रह्ममें सङ्गतिग्रहका उपाय यह है—यद्यपि ब्रह्म अन्य प्रमाणोंका विषय नहीं है, तथापि प्रकाशात्मा होनेसे उसका प्रकाश स्वतः अपरोक्ष है। उपाधियोंका निषेध करनेपर केवल प्रकाशात्मा अवशिष्ट रहता है। वह सबको अपरोक्ष है। कटक, कुण्डल आदिका प्रतिषेध करनेपर भी सुवर्ण अवशिष्ट रहता है। स्वसंवेद्यस्वरूप प्रकाश नहीं भासता है, ऐसा कोई नहीं कह सकता, क्योंकि उसके अवच्छेदक शरीर, इन्द्रिय आदि भी संसारदशामें प्रतीत होते ही हैं, इस कारण 'नेति नेति' वाक्यसे अवच्छेदक शरीरादिका परित्याग करनेपर बृहत्त्व तथा व्यापकत्व द्वारा स्वयंप्रकाश ब्रह्म आत्माका इस वाक्य द्वारा निरूपण कर सकते हैं, उपाधिके निरासकी तरह उपहितका निरास क्यों नहीं करते ?

समाधान—इसका उत्तर यह है कि उसका निराकरण असम्भव है, सकल प्रपञ्चविभ्रमका वही अधिष्ठान है, रज्जुके रहनेपर सर्पविभ्रमक होगा, इसलिए अधिष्ठानकी सत्ता पारमार्थिक है। पारमार्थिक वही माना जाता है, जिसकी सत्ताका कभी निषेध न हो, वस्तुतः रज्जुमें सर्पका अध्यास नहीं माना जाता है, किन्तु रज्ज्ववच्छिन्न चैतन्यमें। अन्यथा रज्जुकी भी पारमार्थिक सत्ताका स्वीकार करना पड़ेगा। और दूसरा यह भी कारण है कि आत्मप्रकाशसे ही प्रपञ्चका प्रकाश होता है।

'तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।'

इस श्रुतिसे यह अर्थ स्पष्ट है।

यदि आत्माका ही प्रतिषेध किया जाय, तो संसारकी प्रथा ही न हो सकेगी, इसलिए आत्माका प्रतिषेध तो कर नहीं सकते, किन्तु उसके अतिरिक्त शरीर, इन्द्रिय आदि निखिल प्रपञ्चका ही 'नेति नेति' से निषेध किया जाता है, इस तरह वेदान्तसे प्रमाणान्तरागोचर सर्वोपाधिरहित आत्माकी अवगति होती है।

शङ्का—'अहं गौरः', 'अहं सुखी' इत्यादि सर्वानुभवसिद्ध कर्तृत्व, भोक्तृत्व, सुख आदिसे विशिष्ट आत्मा है, ऐसा ही क्यों नहीं मानते, एवंभूत आत्मामें ही लौकिक तथा परीक्षकोंका आत्मशब्दप्रयोग होता है, 'य एव लौकिकास्त एव

यद्यप्यलौकिकानन्दः स्वर्गो जायेत कर्मभिः ।
तथापि तदनित्यत्वात्पुरुषार्थो न तावता ॥१६५॥

वैदिकास्तथा त एव तेषामर्थाः' जो लौकिक हैं, वे ही वैदिक हैं, लौकिक ही अर्थ वैदिक भी है, इसके अनुसार लोकप्रसिद्ध आत्मामें ही औपनिषद आत्मशब्दका भी प्रयोग उचित है, विलक्षण आत्मामें नहीं ।

समाधान—'अहं' प्रत्ययविषय औपनिषद पुरुष नहीं हो सकता, कारण अहं प्रत्ययविषय कर्ता भोक्ता जो जीवात्मा है, उसका साक्षी औपनिषद आत्मा है ।

शङ्का—आपके मतमें तो जीवात्मा परमात्मा दो पदार्थ नहीं हैं, किन्तु परमात्मा ही अविद्यावश जीवभावापन्न जीव है, अतएव 'अनेन जीवेनाऽऽत्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' इस श्रुतिमें 'जीवेनात्मना' यह समानाधिकरण्य संगत होता है—'आत्माभिन्नेन जीवेन' यह अर्थ भी सुसङ्गत होता है ।

यदि आत्मा और परमात्माका भेद मानियेगा, तो उक्त सामानाधिकरण्य तथा तदनुसार उक्त बोध असङ्गत हो जायगा ।

समाधान—ठीक है, वास्तविक अभेद ही है, किन्तु औपाधिक भेद भी व्यवहारदशामें मानते हैं । औपाधिकभेदविशिष्ट आत्मा कर्तृत्वादिविशिष्ट 'अहं-प्रत्ययगोचर है, यही अलौकिक प्रमाणका विषय है, सकल उपाधिसे शून्य चिदात्मा औपनिषद है, यह वेदान्तका निष्कर्ष है । इस तात्पर्यसे कहते हैं—'नेति नेति' इत्यादि वाक्यसे प्रमाणान्तरका अविषय अतएव निखिल प्रमेयसे विलक्षण किसीका विषय नहीं है, प्रत्युत विषयी है । अतएव यह लौकिक कैसे हो सकता है ? यह अलौकिक अतएव औपनिषद है ॥ १६४ ॥

'यद्यप्यलौकिका०' इत्यादि ।

शङ्का—यदि अलौकिक आनन्द ही वेदान्तका फल है अर्थात् उक्त अर्थकी प्राप्तिके उपायका प्रतिपादन वेद करता है, तो स्वर्ग भी तो अलौकिक सुख है; उसे भी वेदान्तमेय क्यों नहीं मानते ।

समाधान—वेदान्तका फल नित्य सुख पुरुषार्थ है ? स्वर्ग तो 'तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते' इस श्रुति तथा 'स्वर्गो विनाशी, जन्यत्वात्' घटादिवत्' इत्यादि अनुमानसे भी अनित्य है । अतः उससे भिन्न नित्य मोक्षस्वरूप पुरुषार्थके लाभके लिए वेदान्त आवश्यक हैं ॥१६५॥

निःशेषाह्लादसम्प्राप्तिः सर्वानर्थह्रुतिस्तथा ।
सर्वेषां प्राणिनामेतत्स्वत इष्टं प्रयोजनम् ॥१६६॥
यथोक्तपुरुषार्थस्य यद्यप्यात्मस्वरूपता ।
तथाप्यज्ञानमूढेन तदप्राप्तमिवेक्ष्यते ॥१६७॥

'निश्शेषा०' इत्यादि । सम्पूर्ण सुखोंकी प्राप्ति और निखिल दुःखोंकी निवृत्ति—ये दोनों सब प्राणियोंके स्वतः इष्ट प्रयोजन हैं, मुख्य-गौण भेदसे प्रयोजन दो प्रकारका होता है । सुखप्राप्ति और दुःखनिवृत्ति मुख्य प्रयोजन है और इन दोनोंके साधन गौण प्रयोजन कहलाते हैं । स्वतः इष्ट कहनेसे मुख्य प्रयोजनका लाभ होता है, यह भूतात्मा—अकार्य नित्य आत्मा—ही वेदान्तका मेय है ॥ १६६ ॥

'यथोक्त०' इत्यादिसे ।

शङ्का—नित्य निरतिशय सुखस्वरूप आत्मा ही यदि वेदान्तरूप उपायका पुरुषार्थ है, तो यह पुरुषार्थ आत्मस्वरूप होनेसे नित्य प्राप्त ही है, अतएव इसके कारणकी अपेक्षा है ही नहीं, अतः वेदान्तका आरम्भ क्यों किया जाता है ?

समाधान—ठीक कहते हैं—किन्तु जो लोग अज्ञानसे विमूढ़ हैं, वे मोक्षको अप्राप्तके सदृश समझते हैं—इसलिए वे उस उपायकी कामना सतत करते हैं, उनके लिए वेदान्तका आरम्भ आवश्यक है । एवं दुःखकी निवृत्ति भी सदा आत्मामें सिद्ध ही है फिर भी अज्ञानवश आत्मामें दुःख मानकर उसकी आत्यन्तिक निवृत्तिके लिए उसके निवर्तक उपायकी सतत खोज करते हैं । दृष्ट उपायसे कदाचित् कुछ कालके लिए कुछ क्लेश निवृत्त भी हो जाते हैं, परन्तु सदाके लिए सकल दुःखकी निवृत्ति दृष्ट उपायसे न देखकर आत्यन्तिक और अव्यभिचारी दुःखनिवृत्तिके उपायकी जो लोग इच्छा करते हैं, उनके लिए वेदान्त ही केवल शरण है ।

प्राप्तिकर्म दो प्रकारका होता है, एक अप्राप्त ग्रामादि और दूसरा प्राप्त ही अज्ञानवश अप्राप्तके सदृश प्रतीत होता है, जैसे स्वग्रीवास्थ ग्रैवेयक । एवं जिहासितके भी दो भेद हैं, एक अत्यक्तका त्याग जैसे पैरमें लपटा हुआ

अतः सुखेच्छा दुःखस्य जिहासा चाऽनिवर्तिता ।
तन्मूलस्याऽनिषिद्धत्वात्तन्निषेधाय तत्त्वधीः ॥१६८॥

सर्प । दूसरा त्यक्त ही अज्ञानसे अत्यक्तके सदृश होनेसे त्यागेच्छाका विषय होता है । जैसे पैरमें लपटी हुई रस्सीमें सर्पभ्रम होनेपर भ्रमविषय सर्प त्यागेच्छाका विषय होता है । पुरुषकी प्रवृत्ति दोनोंमें समान है; वैसे ही प्रकृतमें सुख-प्राप्ति और दुःखनिवृत्ति—ये दोनों यद्यपि आत्मामें स्वतःसिद्ध हैं, तो भी अज्ञानवश मूढको अप्राप्तके सदृश ही भासते हैं, अतः उनकी प्राप्तिके लिए वेदान्तो-पदेश आवश्यक है । वेदान्तसे यह दृढतासे हृदयङ्गम होता है कि वास्तविक सुखकी प्राप्ति और दुःखकी निवृत्ति—ये दोनों आत्मामें स्वतःसिद्ध हैं, इनकी प्राप्ति उपाय द्वारा नहीं होगी, किन्तु अज्ञानावृत होनेसे इनका प्रकाश नहीं होता, इसलिए आगन्तुकके सदृश ये अभिलाषाके विषय होते हैं, इनके प्रकाशके लिए केवल आवरक अज्ञानकी निवृत्ति आवश्यक है । जैसे आवृत कूपमें जल न देखनेसे उसमें जल नहीं है, यह निर्णय करना अनुचित है, आवरणके हटानेसे जल स्पष्टरूपसे दृष्टिगोचर होता है, वैसे ही प्रकृतमें उक्त फलके प्रकाशके लिए केवल आवरणका निराकरण अपेक्षित है । अतएव भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजीने गीतामें प्राणिमात्रकी अनुकम्पासे स्पष्ट ही कहा है कि 'अज्ञानेनाऽऽवृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः' अर्थात् अज्ञान—मूलाज्ञानसे—ज्ञानस्वरूप आत्मा आवृत है, इसलिए प्राणी भटकते हैं, प्रकाशके आवृत होनेपर पथिकोंका भटकना स्वाभाविक ही है ॥ १६७ ॥

'अतः सुखेच्छा' इत्यादि । आत्माके अविद्यावृत होनेसे ही प्राणी नित्य प्राप्त सुखकी प्राप्तिकी इच्छा तथा नित्य निवृत्त दुःखकी निवृत्तिकी इच्छा करते हैं ।

यद्यपि इच्छा आगन्तुक पदार्थोंकी होती है, विद्यमानकी नहीं । विषयसिद्धि ही इच्छाकी उत्पत्तिमें प्रतिबन्धक है, यह सब शास्त्रकारोंका सिद्धान्त है तथा लोका-नुभवसे सिद्ध है, क्योंकि बुभुक्षु भोजनकी इच्छा करता है, तृप्त नहीं करता, तथापि उसके प्रकाशकी प्रतिबन्धक अविद्याके रहनेसे आगन्तुकके समान इनकी भी इच्छा मूढ पुरुषोंको होती है, ज्ञानियोंको नहीं होती, कारण कि उनकी अविद्याकी निवृत्ति हो चुकी है । अविद्याके निर्वर्तक तत्त्वज्ञानमें शास्त्रकारोंके अनेक मत हैं—षोडश पदार्थोंका यथार्थ ज्ञान तत्त्वज्ञान है, यह गौतम महर्षिका मत है, 'सत् सत्' इस रूपसे गृह्यमाण यथाभूत और अविपरीत तत्त्व होता है, 'असत्'

अविद्याव्यवधानस्य नात्मज्ञानातिरेकतः ।
प्रध्वस्तिः कर्मभिः कर्तुं शक्या तेषाममानतः ॥१६९॥

इस रूपसे गृह्यमाण अयथाभूत विपरीत तत्त्व होता है, यह वात्स्यायन मुनिका मत है, जीव और अजीव नामक तत्त्व है, ऐसा आर्हत कहते हैं, द्रव्य और अद्रव्य इस नामके तत्त्व हैं, ऐसा रामानुजीय कहते हैं, महदादि पञ्चविंशति तत्त्व हैं, ऐसा सांख्य कहते हैं, ईश्वरसहित वे ही महदादि षड्विंशतितत्त्व हैं, ऐसा पातञ्जल कहते हैं, अशेषविशेषप्रत्यनीक चिन्मात्र ब्रह्मैक्य ही तत्त्व है, इस प्रकार शाङ्कर मत है, विलम्बित नृत्य, वाद्यादि ही तत्त्व है, ऐसा नाट्य-शास्त्रज्ञ कहते हैं—इत्यादि विप्रतिपत्तियोंसे तत्त्वके विषयमें सब शास्त्रकारोंका ऐकमत्य नहीं है, पर वेदान्तमें ब्रह्म ही एक तत्त्व है, यही वस्तु लोगोंकी अधिक उपादेय है और प्रकृत ग्रन्थ इसीके आधारपर ही चलता है, इसलिए प्रकृतमें ब्रह्मैकत्वज्ञान ही तत्त्वज्ञानसे विवक्षित है, अतः आत्माको आवृत करनेवाली अविद्याकी निवृत्तिके लिए तत्त्वज्ञानकी अपेक्षा है। तत्त्वज्ञानका उपदेश वेदान्तसे ही होता है, इसलिए वेदान्तका आरम्भ आवश्यक है। वेदान्तमें उपदिष्ट तत्त्वज्ञान द्वारा निखिल दुःखकी मूल अविद्याकी निश्शेष निवृत्ति होती है। इसीसे नित्यनिरतिशय मोक्षकी अभिव्यक्ति होती है, अतः मुमुक्षुओंको वेदान्तका अवश्य आश्रयण करना चाहिए ॥ १६८ ॥

'अविद्याव्यवधानस्य' इत्यादि ।

शङ्का—मोक्ष नित्यसिद्ध है, पर अज्ञानसे आवृत रहता है, अतः प्रकाश-मान न होनेसे पुरुषार्थ नहीं है। यदि आवरक अज्ञानकी निवृत्तिके लिए तत्त्व-ज्ञानकी अपेक्षा मानते हो, तो कर्मसे ही अज्ञानकी निवृत्ति क्यों नहीं मान लेते ?

समाधान—कर्मका अज्ञानके साथ विरोध नहीं है, प्रत्युत अज्ञान कर्मका उपकारक है, अज्ञानकी निवृत्ति प्रमाणज्ञानसे होती है, कर्म प्रमाण नहीं है, इसलिए अज्ञानकी निवृत्तिके लिए वेदान्तप्रमाणकी अपेक्षा अवश्य है, इस तात्पर्यसे कहते हैं—कर्म अप्रमाण है, इससे अज्ञानका ध्वंस उससे नहीं हो सकता, अतः वेदान्तकी अपेक्षा है ॥ १६९ ॥

शङ्का—आलोक जैसे घटका व्यञ्जक होता है, वैसे ही कर्मको भी मोक्षका व्यञ्जक मान लीजिए, वेदान्तकी क्या आवश्यकता है ?

व्यञ्जकं विरहय्याऽन्यत्साधनं कारकात्मकम् ।
आत्माभिव्यक्तये नाऽलं तन्मोहस्याऽप्रदाहतः ॥१७०॥

समाधान—'व्यञ्जकम्' इत्यादि । व्यञ्जक तत्त्वज्ञानको छोड़कर कारक कर्म आत्माभिव्यक्तिके लिए पर्याप्त साधन नहीं है, कारण कि मूलभूत वह उसके मोहका नाशक नहीं है । अज्ञानका मूल मोह जबतक नष्ट न होगा, तब तक अज्ञान नष्ट नहीं हो सकता । कारणके रहनेपर कार्यकी निश्शेष निवृत्ति नहीं होती, अतः उसके फलके साधन कर्ममें व्यञ्जकत्व ही असिद्ध है । यदि कर्म व्यञ्जक ही नहीं है, तो मोक्षाभिव्यञ्जक कैसे हो सकता है ?

शङ्का—अच्छा, कर्म कारक है, इसलिए भले ही वह व्यञ्जक न हो, पर नेत्रादि जैसे सिद्ध घट आदिके व्यञ्जक हैं, वैसे ही उसे सिद्ध मोक्षका व्यञ्जक मानिए, फिर भी वेदान्तारम्भ व्यर्थ ही है ।

समाधान—इन्द्रियाँ आत्मस्वरूप मोक्षकी व्यञ्जक नहीं हो सकतीं, क्योंकि आत्मा स्वयंसिद्ध तथा स्वप्रकाश है । आत्मप्रकाशसे ही इन्द्रियादि द्वारा घटादिका प्रकाश होता है, इसलिए इन्द्रियाँ आत्माकी अभिव्यञ्जक नहीं हो सकतीं, आत्मा तथा इन्द्रियोंके व्यञ्जक न होनेसे वे अज्ञानके निवर्तक नहीं हो सकते, यह फलित हुआ । कर्म तो प्रमाण है ही नहीं । इन्द्रियां प्रमाण हैं, तथापि आत्मा इनका विषय ही नहीं है, 'पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूः' इत्यादि श्रुतिसे इन्द्रियां पराग्विषयक अनात्मविषयक ही हैं, प्रत्यग्विषयक नहीं ।

शङ्का—अज्ञानके रहनेपर भी स्वर्गादिके समान मोक्ष भी कर्मसे मान लें, तो क्या आपत्ति है ?

समाधान—अज्ञानकी निश्शेषनिवृत्ति और नित्य सुखकी प्राप्ति ही तो मोक्ष है, फिर अज्ञानके रहनेपर मोक्ष कैसे हो सकता है; क्योंकि अज्ञाननिवृत्तिस्वरूप ही मोक्ष है ।

शङ्का—यदि कर्म मोक्षका उपयोगी नहीं है; तो मुमुक्षुको सर्वथा कर्मका त्याग ही करना चाहिए ।

समाधान—नहीं, कर्म साक्षात् मोक्षके साधन नहीं हैं, किन्तु अपने-अपने आश्रमविहित सकल कर्मोंके निष्काम अनुष्ठानसे चित्तकी शुद्धि होती है; उसके द्वारा

यावच्च सम्यग्विज्ञानवह्निनाऽसौ न दह्यते ।
न तावत्किञ्चिदप्याप्तं सुखं दुःखेन वर्जितम् ॥१७१॥

कर्म मोक्षोपयोगी होता है। ज्ञानकी उत्पत्ति जबतक न हो, तबतक कर्मका अनुष्ठान अवश्य करना चाहिए, उसके बाद तो कर्माधिकार ही नहीं रहता और अनधिकारी द्वारा किये गये कर्मका कुछ फल ही नहीं है, अतः कर्मके अनुष्ठानका अभाव स्वतःसिद्ध होता है; अतएव गीतामें भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने स्वयं कहा है—

'आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥'

शङ्का—तत्-तत् फलके उद्देश्यसे विहित तत्-तत् कर्मोंके विधिबोधित तत्-तत् फलोंको छोड़कर चित्तशुद्धिरूप फल कैसे होगा ?

समाधान—जैसे निषिद्ध—हनन, सुरापानादि—कर्म श्वा, सूकर आदि निकृष्ट योनियोंसे भोगनेके योग्य विविध दुःखफलक होते हैं, अतः पुरुष उससे विरक्त होता है; वैसे ही काम्य कर्म भी गर्भवासादि अनेक दुःसह दुःखफलक होते हैं, अतः उनसे भी पुरुष विरक्त होता है और 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन' इत्यादि श्रुति तथा—

'कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
तस्मात् त्वं कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय ॥'

इत्यादि भगद्गीताके वचनके अनुसार निष्काम कर्मोंके अनुष्ठानका फल चित्तकी शुद्धि द्वारा मोक्ष ही मानकर कर्मोंका यथाविधि अनुष्ठान करता है। तबतक कर्म करना आवश्यक है; जबतक आत्मतत्त्वज्ञानरूप अग्निसे संसारका कारण अज्ञान भस्म न हो; सम्यक् ज्ञान होनेपर द्वैतकी अनुवृत्ति होनेपर भी उसमें मिथ्या प्रतीति होनेसे श्रद्धा ही न होगी और श्रद्धाहीन पुरुष कर्म करनेका अधिकारी ही नहीं माना जाता ॥ १७० ॥

अतएव 'अश्रद्धया हुतं दत्तम्' इत्यादि स्मृतियोंसे श्रद्धाहीन पुरुष द्वारा किया गया कर्म निष्फल बतलाया गया है, यह कहते हैं—'यावच्च' इत्यादिसे।

जबतक मोक्षहेतु उक्त ज्ञानसे अज्ञान नष्ट नहीं होता, तबतक दुःखसे अमिश्रित मोक्षरूप सुख नहीं मिलता ॥ १७१ ॥

दक्षिणोदगधोगत्या प्रत्यगज्ञानमूढधीः ।
बम्भ्रमीत्यनिशं दुःखी पुमान् कर्मपुरःसरः ॥१७२॥

कर्मकाण्डका वैराग्यके उत्पादन द्वारा मोक्षमें उपयोग बतलाकर वैराग्योत्पादनोपयोगी विविध कर्मफल कहते हैं—'दक्षिणोदग०' इत्यादिसे।

अज्ञानसे मूढ़बुद्धि जीव अपने किये हुए कर्मोंके फलोंके उपयोगके लिए तीन प्रकारके मार्गोंके द्वारा सदा संतप्तमन होकर स्वर्ग, नरक और मृत्युलोकमें क्रमशः भ्रमण करता है। कहीं भी निश्चिन्त होकर नहीं रहता। यद्यपि स्वर्गसुख अधिक है; फिर भी पुण्यके क्षीण होनेपर पूर्व अवशिष्ट कर्मानुसार उत्तम और निकृष्ट योनिकी प्राप्तिसे युक्त तत्-तत् दुःखादि चिन्तासे स्वर्गभोगदशामें भी निश्चिन्त नहीं रह सकता। और उत्तम स्वर्गभोगीको देखकर वहां भी ईर्ष्याप्रयुक्त दुःख अनिवार्य ही है; अतएव आचार्योंने कहा है—दक्षिणायन, उत्तरायण और अधोगति—ये तीन मार्ग हैं। स्वर्गके साधन श्रौत-स्मार्त कर्मोंके अनुष्ठानियोंकी गति दक्षिणायन मार्गसे होती है। इसको धूम मार्ग भी कहते हैं। इस मार्गसे जानेवालोंको फिर वहाँसे मृत्युलोकमें आना पड़ता है। दूसरा उत्तरायण मार्ग है, जो देवयान तथा अर्चिरादि मार्ग कहलाता है। इस मार्गसे मुमुक्षु तत्त्वज्ञानियोंकी गति होती है। जिनको पूर्ण ब्रह्मज्ञान इसी लोकमें हो जाता है, उनकी इसी मार्गसे गति होती है। 'ब्रह्म समश्नुते' 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति' इत्यादि श्रुतिसे शरीरपातके अनन्तर ब्रह्मैक्य हो जाता है। 'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्ये' तथ 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' इत्यादि श्रुतिसे प्रतिबन्धक न रहनेसे ब्रह्मज्ञान और ब्रह्मभाव फलमें किसी प्रकारका विलम्ब नहीं है, यह ज्ञात होता है, किन्तु जो सगुणोपासक हैं, उनको तत्-तत् लोकमें अवश्य जाना पड़ता है, क्योंकि तत्-तत् सगुणोपासनाविधायक वाक्योंमें तत्-तत् लोककी प्राप्ति ही फलरूपसे निर्दिष्ट है।

यद्यपि मुक्ति फल भी उक्त वाक्योंमें निर्दिष्ट है, तथापि सद्योमुक्ति फल निर्दिष्ट नहीं है, किन्तु क्रमसे मुक्तिके प्रतिपादनमें उन वचनोंका तात्पर्य है, अतएव—

'ब्रह्मणा सह ते सर्वे सम्प्राप्ते प्रतिसञ्चरे।
परस्याऽन्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम् ॥'

कार्यब्रह्मकी अर्थात् हिरण्यगर्भादि सगुण ब्रह्मकी उपासना करनेवाले पुरुष हिरण्यगर्भादि लोकमें प्राप्त होकर वहीं ब्रह्मज्ञानसे सम्पन्न होकर लोकाधिपतिके

काम्यैर्दक्षिणमन्वेति ज्ञानयुक्तैस्तथोत्तरम् ।
निषिद्धैश्चाऽप्यधो जन्म कर्मसम्भारसम्भृतः ॥१७२॥

साथ सर्गान्तके अवसरमें परम पदको—निर्वाण पदको—प्राप्त होते हैं। जो श्रुति और स्मृतिसे विहित कर्मोंकी उपासनासे बहिर्मुख तथा अनधिकारी हैं और केवल स्वार्थकी सिद्धिके लिए ही यथाभिमत कर्मोंके अनुष्ठानमें ही सदा तत्पर रहते हैं, उनके लिए कष्ट वा अधोगति नामक तृतीय स्थान है। इस मार्गसे आने और जानेवालोंसे यह मार्ग परिपूर्ण रहता है, कभी खाली नहीं रहता, क्योंकि इनकी संख्या अत्यधिक है, जायस्व, म्रियस्व, यह कोलाहल इस मार्गमें सदा रहता है ॥ १७२ ॥

किन कर्मोंसे कौन मार्ग जानेके लिए मिलता है, उसे कहते हैं—'काम्यैर्दक्षिण०' इत्यादिसे।

कर्म तीन प्रकारके होते हैं—काम्य, नित्य और नैमित्तिक। काम्य वे हैं—जो ऐहिक पुत्र, वित्त आदि एवं पारलौकिक स्वर्गादि फलकी कामनाओंसे किये जाते हैं। नित्य वे हैं—जो कि फलविशेष कि कामनासे नहीं किये जाते, किन्तु शास्त्रविहित होनेसे कर्तव्य हैं, अन्यथा प्रत्यवाय होगा, इस बुद्धिसे किए जाते हैं। जैसे—सन्ध्यावन्दन आदि। नैमित्तिक वे हैं—जो कि किसी निमित्तके होनेपर किए जाते हैं, जैसे 'यस्य आहिताग्नेरग्निः गृहं दहति सोऽग्नये क्षामवते अष्टाकपालं कुर्यात्' (जिस अग्निहोत्रीका घर अग्नि भस्म करे, वह अग्निहोत्री अग्निको बुझावे नहीं, किन्तु दुर्बल अग्निकी पुष्टिके लिए अष्टाकपाल करे)। अष्टाकपाल यज्ञसे कोई ऐहिक या पारलौकिक फल नहीं होता, यदि हो भी, तो उसकी कामनाके विना ही उक्त याग करनेका विधान है। इसमें निमित्त केवल गृहदाह ही है। नित्य और नैमित्तिक कर्मोंका तो फल ही नहीं है। काम्य कर्म जिनके फल आमुष्मिक स्वर्गादि हैं, उनके भोगनेके लिए कर्मी दक्षिण मार्गसे जाते हैं। और जो चित्तशुद्धिके लिए निष्काम कर्मके साथ सगुण ब्रह्मकी उपासना करते हैं, उनकी गति उत्तरायणसे तत्–तत् लोकमें होती है। वहांपर यद्यपि उनको कर्मोंका फल भोगना नहीं है, तथापि पूर्ण ब्रह्मज्ञानी होनेके लिए तथा तत्तल्लोकपतिके साथ प्रलयमें ब्रह्म-भावापत्तिके लिए वहां जाना आवश्यक है। तृतीय कष्टदायक स्थान है, उससे निषिद्ध कर्म–हिंसा, अभक्ष्यभक्षण आदि कर्म–करनेवाले जाते हैं। उनको वहां निषिद्ध

धर्माधर्मांशसाम्ये च मनुष्यत्वं प्रपद्यते।
धर्मादिसाधना पुंसामज्ञानां नश्वरी गतिः ॥१७४॥

योनि—निकृष्ट नारकीय शरीरादि—द्वारा दुःसह दुःख भोगना पड़ता है, तथा भोगनेके बाद इस लोकमें श्व-सूकर आदि निकृष्टयोनिका लाभ होता है। इन सब फलोंकी प्राप्तिमें सामग्रीका निर्देश करते हैं। कर्मसम्भारसम्भृत—तत्-तत् फलके प्रापक कर्मसहित—जीव तत्-तत् फल पाता है, इसलिए कर्मफलसे विरक्ति होती है, कर्मोंमें वैराग्य होनेपर नित्यनिरतिशय सुखकी कामनासे आत्मश्रवण आदिमें प्रवृत्ति होती है, इस प्रणालीसे पूर्वकाण्डका उत्तरकाण्डमें हेतुहेतुमद्भावसंगति सिद्ध होती है ॥ १७३ ॥

'धर्माधर्मांश' इत्यादि। पूर्वोक्त तीनों प्रकारके कर्मोंका फल वैराग्यकी उत्पत्ति है, यह संक्षेपसे निश्चित हो चुका। सारांश यह निकला कि अन्ततः संसारकी गति ही कर्मोंका फल है। संसारनिवृत्ति कर्मोंसे नहीं हो सकती। इस संसार-गतिका ऊंचासे ऊंचा फल ब्रह्मान्त है, इससे अधिक नहीं तथा नीचसे नीच स्थावरान्त है, यह सम्पूर्ण गति अपने-अपने अज्ञानसे होती है। 'योनिमन्ये प्रपद्यन्ते यथाकर्म यथाश्रुतम्' यह वचन भी इस अर्थका साधक है। धर्म और अधर्म—ये दोनों यदि समान हैं, तो उनसे मनुष्ययोनि मिलती है। यद्यपि यह नियम सार्वत्रिक नहीं है, क्योंकि सुख और दुःखका तारतम्य धर्म और अधर्मके तारतम्यसे होता है, इसलिए राजा और रङ्कके मनुष्यशरीर समान पुण्य और पापसे नहीं बने हैं। राजाके शरीरमें सुखके आधिक्यसे पुण्यका आधिक्य तथा रङ्कके शरीरमें पुण्यकी अपेक्षा पापका अधिक अंश है, यह अवश्य माना जाता है। यदि पुण्य और पापका समभाग होनेसे मनुष्यका शरीर मिलता है, यह नियम कहो, तो देवशरीरकी प्राप्ति अधिक पुण्यसे होती है और पश्वादिके शरीरकी प्राप्ति पापाधिक्यसे होती है तथा पुण्याधिक्याभाव पापाधिक्याभावरूप साम्यसे मनुष्यका शरीर मिलता है ऐसा कहेंगे, पुण्यपापा-धिक्याभावरूप ही साम्य है अर्थात् देवशरीर और पश्वादि शरीरारम्भक पुण्यपापा-धिक्याभावसे ही मनुष्ययोनिकी प्राप्ति होती है।

शङ्का—यदि संसारगति अपने अज्ञानसे ही होती है, तो गन्धर्वनगरके समान वह स्वयं ही नष्ट हो सकती है, फिर इसके लिए प्रयत्नकी क्या आवश्यकता है ?

ब्रह्माद्या स्थावरान्तैषा प्रत्यगज्ञानहेतुजा ।
नामरूपादिचित्राढ्या स्वप्नमायेन्द्रजालवत् ॥१७५॥

समाधान—यद्यपि अज्ञान कल्पित है, तो भी अज्ञाननिवृत्तिके बिना उससे कल्पित पदार्थोंकी निवृत्ति नहीं हो सकती। जैसे स्वाप्निक तथा इन्द्रजालकृत पदार्थोंका भान उनके निमित्त निद्रादि दोष और इन्द्रजालकृत मायाकी निवृत्तिके बिना निवृत्त नहीं होता, वैसे ही प्रकृतमें अज्ञाननिमित्तक त्रिविध कर्मफलकी अज्ञानकी निवृत्तिके बिना तथा धर्माधर्मकी निवृत्तिके बिना निवृत्ति नहीं हो सकती, अतः सकल अनर्थके मूल अज्ञानकी निवृत्ति आवश्यक है। अज्ञ जन इस विनश्वर संसारगतिका साधन धर्माधर्म मानते हैं।

शङ्का—संसारगति अविद्याकृत है। यह कहना ठीक नहीं है, प्रत्यक्ष प्रमाणसे तथा 'नामरूपाभ्यां व्याक्रियत' इत्यादि श्रुतिरूप प्रमाणसे भी जगत् सिद्ध होता है। प्रमाणसिद्ध पदार्थको आविद्यिक कहना साहसमात्र है।

उत्तर—यद्यपि उक्त प्रमाणोंसे जगत् सिद्ध होता है, फिर भी विचार करनेसे वह अज्ञानकल्पित ही सिद्ध होता है। कारणसे अतिरिक्त कार्य वास्तविक नहीं होता, किन्तु कारणात्मक ही कार्य सिद्ध होता है। जैसे मिट्टीका बना घट मिट्टीसे अतिरिक्त नहीं है, तन्तुसे बना पट तन्तुसे अतिरिक्त नहीं है, वैसे ही आत्मासे उत्पन्न जगत् आत्मासे अतिरिक्त नहीं है। अतएव 'मृत्तिकेत्येव सत्यं सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इत्यादि श्रुतिवाक्य समस्त संसारको ब्रह्मात्मक ही कहते हैं, तदतिरिक्त नहीं। फिर भी तदतिरिक्त अर्थात् अनेकात्मक विचित्ररूपसे प्रतीयमान जगत् अज्ञानकल्पित ही कहा जा सकता है। आत्मामें जगत् अध्यस्त है, अधिकरण आत्मतत्त्वके अनभिव्यक्त होनेसे प्रत्यक्षादि तथा उक्त श्रुतिसे व्यक्तकी तरह प्रतीयमान भी जगत् वस्तुतः अव्यक्त ही है, इसलिए अविद्याकल्पित ही कहना ठीक है। जबतक शुक्तितत्त्वका साक्षात्कार नहीं होता तबतक कल्पित रजतकी प्रतीति होती है, शुक्तितत्त्वकी अभिव्यक्ति होनेपर फिर उसमें रजतकी प्रतीति नहीं होती है, इसी तरह प्रकृतमें समझना चाहिए, अतएव 'एकमेवाद्वितीयम्' 'नेह नानास्ति किञ्चन' इत्यादि श्रुतियां संगत होती हैं॥ १७४ ॥

इसी अभिप्रायसे स्पष्ट अर्थ कहते हैं—'ब्रह्माद्या' इत्यादिसे।

केवल कर्मफल अनित्य है, यही नहीं, किन्तु वह सकल अनर्थका मूल भी है,

अविद्यातिमिरोच्छित्तौ नानानिष्कृतमण्वपि ।
कार्यकारणवद्वस्तु नानपास्तं तमोऽप्यतः ॥१७६॥
यत एवमतः प्रत्यग्याथात्म्यप्रतिपत्तये ।
प्रारब्धेयं प्रयत्नेन वेदान्तोपनिषत्परा ॥१७७॥

ब्रह्मादिसे लेकर स्थावर पर्य्यन्त उत्कृष्ट और अपकृष्ट योनियां तत्-तत् कर्मोंके फल उपभोगके लिए मिलती हैं, अज्ञानके उच्छेदके बिना उनका उच्छेद नहीं हो सकता ॥ १७५ ॥

आत्माकी अव्यक्तिसे किसीकी व्यक्ति नहीं होती, यह बतला कर आत्म-व्यक्तिसे ही सबकी अभिव्यक्ति होती है, यह कहते हैं—'अविद्याति०' इत्यादिसे ।

आत्मतत्त्वज्ञानसे अविद्यारूपी तिमिरका उच्छेद होनेपर सूक्ष्मातिसूक्ष्म कोई भी वस्तु अनभिव्यक्त नहीं रह सकती, किन्तु निखिल वस्तु अभिव्यक्त हो जाती है ।

शङ्का—आत्माकी अभिव्यक्ति होनेपर भी कार्यकारणरूप सम्पूर्ण वस्तुओंकी अभिव्यक्ति नहीं हो सकती, क्योंकि उनका आवरक अज्ञान बना ही रहेगा ।

समाधान—अज्ञान ही तो आवरक है, अतः तत्त्वज्ञानसे अज्ञानकी निवृत्ति होनेपर फिर आवरणसत्ताकी क्या संभावना ? कार्यकारणात्मक तम (अज्ञान) भी अनपास्त नहीं है, किन्तु अपास्त ही हो जाता है ॥ १७६ ॥

आत्माके ज्ञात होनेपर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चारों पुरुषार्थोंकी समाप्ति हो जाती है और अज्ञात रहनेपर सकल अनर्थकी प्राप्ति रहती है अतएव 'इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदवेदीदथ महती विनष्टिः' यह श्रुति भी आत्म-ज्ञान होनेपर सम्पूर्ण पुरुषार्थोंकी प्राप्ति और अज्ञान होनेपर सम्पूर्ण अनर्थोंकी प्राप्ति कहती है, इसलिए साधनचतुष्टयसम्पन्न अधिकारीके उद्देश्यसे वेदान्तका आरम्भ सार्थक तथा अत्यावश्यक है, इस तात्पर्यसे कहते हैं—'यत एव०' इत्यादि ।

उपर्युक्त अधिकारीके प्रति वेदान्त आवश्यक है, इसलिए आत्माका यथार्थ ज्ञान होनेके लिए 'प्रयत्नपूर्वक ब्रह्मविद्याफलक वेदान्तका—उपनिषत्का—प्रारम्भ किया गया है । 'परा यया तदक्षरमधिगम्यते' इस श्रुतिसे अक्षर ब्रह्मका यथार्थ ज्ञान जिस विद्यासे होता है, वह विद्या परा कहलाती है। प्रकृत ग्रन्थसे ब्रह्मका

यथार्थ ज्ञान होता है, यह अर्थ सूचित करनेके लिए 'परा' यह विशेषण उपनिषत्में दिया गया है। द्वैत और अद्वैत ब्रह्मकी आपाततः उपनिषत्से प्रतीति होती है। आपाततः जायमान ज्ञान भ्रमप्रमासाधारण होता है, इसलिए विचार द्वारा प्रामाणिक ज्ञानकी प्राप्ति करके उसके अनुसार प्रवृत्तिसे अभीष्ट अर्थका लाभ होता है। यदि विचारके विना साधारण ज्ञानमात्रसे प्रवृत्ति होगी तो अभीष्ट अर्थका लाभ तो दूर रहा, प्रत्युत अनर्थकी प्राप्ति हो जायगी। द्वैत और अद्वैतरूपसे ब्रह्म दो प्रकारका नहीं हो सकता, वस्तुमें विकल्प नहीं होता, इसलिए परब्रह्म उभयात्मक नहीं है, अन्यतरात्मक ही है। किमात्मक परमार्थ सत् है और किमात्मक भ्रमात्मकज्ञानविषय है, इस निर्णयके लिए वेदान्तोनिषद्का विचार प्रयत्नसे किया गया है। प्रयत्नपदके उपादानसे विचारमें तत्त्वनिर्णयकी योग्यताका सूचन किया गया है। इस निर्णयके अनुसार जो पुरुष मोक्षके उद्देश्यसे श्रवण आदि और उसके साधनमें प्रवृत्त होंगे उन पुरुषोंको अवश्य मोक्षरूप फल प्राप्त होगा।

शङ्का—यदि ब्रह्मका यथार्थ ज्ञान होनेके लिए उपनिषत्का आरम्भ करते हो, तो 'ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्' यहींसे आरम्भ करना चाहिए, क्योंकि यहींसे ब्रह्मका प्रतिपादन है। 'उषा वा अश्वस्य' इत्यादिसे क्यों आरम्भ हुआ ? क्योंकि इसमें तो अश्वमेधयज्ञके अङ्गभूत अश्वका निरूपण किया गया है, अतः उसमें ब्रह्मका प्रतिपादन न होनेसे उसको ब्रह्मविद्या नहीं कह सकते।

समाधान—ठीक है, जिन ब्राह्मण आदिका अश्वमेधमें अधिकार नहीं है और उसके फलके अभिलाषी हैं, उनके लिए इस उपासनामात्रसे उसका फल होता है, यह बोधन करनेके लिए यह लिखा है।

शङ्का—यह अश्वज्ञान भी लोकमार्ग होनेसे उक्त यज्ञाधिकारियोंके लिए है, अनधिकारियोंके लिए नहीं।

समाधान—'सर्वं पाप्मानं तरति तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजते', 'य उ चैनमेवं वेद' इस श्रुतिसे जो अश्वमेधयज्ञ करता है और जो इस यज्ञको उक्त प्रकारसे जानता है अर्थात् कर्मी और विद्वान् दोनोंको समान ही फल मिलता है, यह स्पष्ट ज्ञात होता है, इसलिए यह उपासना कर्माङ्ग नहीं है, किन्तु स्वतन्त्र पुरुषार्थ है।

अधिकारश्च सम्बन्धः प्रामाण्यं मेयनिर्णयः ।
चातुर्विध्यं विचार्येदं वेदान्तोऽत्रावतारितः ॥१७८॥

इति वार्तिकसारे प्रमेयपरीक्षा समाप्ता ।

इत्युपोद्घातः समाप्तः ।

शङ्का—स्वतन्त्र ही सही, किन्तु सम्पूर्ण कर्मोंके फलोंसे विरक्त तथा उनसे उपरत अधिकारियोंके लिए यदि वेदान्तका आरम्भ है, यह कहते हैं, तो फिर कर्मके फलका प्रदर्शन करनेकी क्या आवश्यकता है? अश्वमेधका फल जैसे बन्धन है, वैसे ही अश्वोपासनाका भी बन्धन फल ही हो सकता है। बन्धफलक कर्मका निरूपण विद्या प्रकरणमें कैसे उपयोगी है?

समाधान—निखिल कर्मोंका फल उच्चावच संसारगति ही है। संसारचक्रसे उबे हुए पुरुषरत्नोंको संसारकी निवृत्ति अपेक्षित है। संसारनिवृत्ति आत्मतत्त्वज्ञानसे ही होती है, अन्य उपायसे नहीं। इसलिए वैराग्यके संम्पादनके लिए ब्रह्मविद्यारम्भमें प्रकृत उपासनाका उल्लेख किया गया है। अश्वमेधयाग सब यागोंसे उत्कृष्ट अतएव सम्राट् कहलाता है, फिर भी उसका फल संसारगति ही है, तो यागान्तरके विषयमें क्या कहना है? यदि उसमें अश्वादिकी हिंसा होनेसे वह शुक्ल कर्म नहीं है, किन्तु शुक्लाशुक्ल है। शुक्ल कर्मका फल मोक्ष हो सकता है, ऐसी संभावना हो तो उसका भी इसीसे निराकरण हो जाता है, 'य उ चैनमेवं वेद' इस वाक्यसे हिंसादिशून्य उपासनात्मक शुक्ल कर्मका ही विधान किया गया है, फिर भी फल वही है जो उक्त यागका है। अतः आत्मविद्यासे अतिरिक्त कोई कर्म निःश्रेयसका उपयोगी नहीं है, इसलिए मुमुक्षुओंको ब्रह्मविद्याका ही आश्रयण करना चाहिए ॥१७७॥

'अधिकार०' इत्यादि। संसारसे विरक्त और साधनचतुष्टयसे सम्पन्न मुमुक्षु वेदान्तके अधिकारी हैं इसका निर्णय अधिकारिपरीक्षासे अर्थात् प्रथमप्रकरणान्त २५६ श्लोकोंसे किया गया है, पूर्वोत्तरमीमांसाका साध्यसाधनभाव सम्बन्ध है, यह निर्णय सम्बन्धपरीक्षाप्रकरणान्त १०६ श्लोकोंसे किया गया है, अद्वितीय ब्रह्मके बोधक तत्त्वमस्यादि वाक्य प्रमाण हैं, यह निरूपण प्रामाण्यपरीक्षाके ५०५ श्लोकोंसे किया गया है और अद्वितीय आत्मा प्रमेय है यह निर्णय प्रमेयपरीक्षाप्रकरणके १७८

श्लोकोंसे हो चुका अर्थात् सम्बन्धचतुष्टयका निरूपण कर वेदान्तके विचारका आरम्भ किया जाता है। वास्तवमें अब उपनिषत्का विचार होगा, अभी तक तो केवल उपोद्घातमात्र हुआ है।

'ज्ञातार्थं ज्ञातसम्बन्धं श्रोतुं श्रोता प्रवर्तते ।
शास्त्रादौ तेन वक्तव्यः सम्बन्धः सप्रयोजनः ॥'

इस अभियुक्तके वाक्यसे उपोद्घातके अनन्तर ग्रन्थका आरम्भ करना चाहिए, यही सिद्धान्त किया गया है।

महामहोपाध्याय पण्डितप्रवरहरिहरकृपालुद्विवेदरचित वार्तिकसार-
भाषाटीकामें प्रमेयपरीक्षा समाप्त ।



